सम्पूर्ण जीवन दर्शन

मानव मात्र को "एक-मत" करनेवाली "एक-मात्र" अकाट्य सन्त वाणी

भाग – ९
(जीवन विवेचन)

स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज

जो मजहब, संप्रदाय से भी ज्यादा हमारा अपना है ।

प्रथम संस्करण – २०१९
1000 प्रतियाँ

मूल्य : कुल 10 पुस्तकों के लिए ₹2500/- (10 X ₹250/-)

प्रकाशक

करनाल मानव सेवा संघ

निकट बस स्टैण्ड़, जी टी रोड़,
करनाल, हरियाणा – 132 001
दूरभाष : 0184-2254415

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दु:खी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दु:ख के बन्धन से
मुक्त हो,
आपके पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर
कृतकृत्य हो जायें ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम् ।

सर्वहितकरी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।

हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरिः, पीर हरो हरिः, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धांत

(१) आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

(२) की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

(३) विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

(४) जितेन्द्रियता, सेवा, भगवचिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

(५) दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

(६) पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

(७) निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

(८) शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कायों में स्वावलम्बन।

(९) शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

(१०) सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

(११) व्यर्थ चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना !

जीवन विवेचन परिचय

ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी शरणानन्द जी महाराज का मैं एक प्रिय बालक हूँ। वे ज्ञान और प्रेम के सागर हैं। मैं उस सागर का किनारा भी छू सकने की सामर्थ्य नहीं रखता। केवल उनके मातृत्वपूर्ण हृदय का वात्सल्य-रस मुझे मिलता रहा है और उसमें मैं पला-पनपा हूँ।

उन्हीं की यह विशेष कृपा है कि मानव-जीवन के लिए सर्व हितकारी एवं क्रान्तिकारी विचारधारा को उन्हीं की वाणी में संकलित करने में सहयोग का सुअवसर मुझे मिला है। आत्मीय श्रोता भाई-बहिनों की सेवा में संत वाणी के तीन सैट्स प्रस्तुत किए जा चुके हैं। उनकी सर्वप्रियता एवं उपादेयता आप सभी को विदित है।

बड़े ही हर्ष का विषय है कि आज दिव्य ज्योति देवकी माँ के प्रवचनों का प्रथम संकलन आपकी सेवा में प्रस्तुत हो रहा है। परम पूज्य श्री स्वामी जी महाराजा के अतिगहन दार्शनिक रहस्यों की सूत्रात्मक अभिव्यक्तियों की सरल व्याख्या पूज्या देवकी माँ ने की है जो साधक-समाज के लिए उपयोगी सिऋ हुई है। इसी आधार पर मानव-सेवा-संघ की विचारधारा के प्रेमियों के आग्रह से प्रस्तुत संकलन 'जीवन-विवेचन' तैयार किया गया है, यद्यपि पूज्या देवकी माँ ने इन प्रवचनों को टेप अंकित कराना पसन्द नहीं किया– कारण साधक की भाषा में अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं। उन त्रुटियों को कहीं विचारधारा की त्रुटि मान लेने की भूल न हो जाय, उनकी यह आशंका थी। फिर भी हम मानव-सेवा-संघ के प्रियजनों के आग्रह से उन्होंने बड़े ही संकोच के साथ इस कार्य की स्वीकृति दी है।

इन प्रवचनों में एक विशेष बात यह है कि पूज्या देवकी माँ ने साधक होकर साधना-पथ की विविध कठिनाइयों से गुजरने का अनुभव किया है, परम पूज्य श्री स्वामी जी महाराज के परामर्श से उन कठिनाइयों को पार करने के उपायों को उन्होंने जाना है, जिनकी व्याख्या वे बड़े ही स्पष्ट शब्दों में करती हैं। इस विशिष्टता के कारण ये प्रवचन साधकों के लिए बड़े ही हृदयग्राही होते हैं। जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में इनसे बड़ी मदद मिलती है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों के द्वारा व्यक्तित्व के Complexes (जटिलता) को समझने तथा दूर करने के लिए साधकों को अपने में अन्तर्दृष्टि अर्थात् Insight into Self प्राप्त होती है, प्रगतिशील साधक बहुत ही लाभान्वित होते हैं तथा अपनी साधना में स्वयं दिशा निर्देशक होकर अपनी आँखों देखने व अपने पैरों चलने में समर्थ हो जाते हैं। ये प्रवचन साधक-समाज के पथ-प्रदीप हैं, जिनसे सभी का जीवन प्रकाशमय हो सकता है, ऐसा हमारा विश्वास है। अब आप पूज्या देवकी माँ की ही वाणी सुनें।

विनीत,
विष्णु माथुर
सदस्य, संतवाणी संकलन समिति,
मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन (मथुरा)
(उत्तर प्रदेश)

मानवका जीवन बड़े ऊँचे उद्देश्य से रचा गया है और 'उसकी' बड़ी अच्छी योजना है।

सत्संग-प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों,

हम सब लोग मानव हैं। मानव का एक नाम साधक है। साधक होने का अर्थ यह है कि हम अपने जीवन की आवश्यकताओं को जानते हैं, अपनी त्रुटियों को जानते हैं, वर्तमान में अपनी भूलों को मिटाना चाहते

साधक होने का अर्थ तब सार्थक होता है जब हम अपनी जानी हुई भूलों को मिटाने के लिए तत्पर रहें और जीवन की जो मौलिक माँग है। उसकी पूर्ति के लिए तत्पर रहें तो अपने को जानना, अपनी वर्तमान दशा को जानना, भूल-जनित असाधनों का नाश करने के लिए तत्पर रहना और जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना, यह साधक की परिभाषा है। इस दृष्टि से हम सभी साधक हैं और साधक होने के नाते हम सभी. भाई-बहनों को सिद्धि मिलनी चाहिए और इसी वर्तमान में मिलनी चाहिये।

पता नहीं, कब की सुनी हुई बातें हमारे ध्यान में रहती हैं जो रूढ़ि के रूप में प्रगति के रास्ते में बाधक बनकर खड़ी हो जाती हैं। क्या सुनी हुई बातें हैं?

बहुत-बहुत दिनों तक प्रयास करते रहो, जन्म-जन्मांतर कोशिश करते रहो, तक कहीं जाकर जीवन-मुक्ति मिले, तब कहीं जाकर जीवन सार्थक हो। ऐसी बातें हमारी सुनी हुई हैं। परन्तु इन सुनी हुई बातों के प्रभाव में हम स्वयं अपने को अपने वर्तमान में आगे बढ़ाने की चेष्टा न करें, शिथिलता से जहाँ के तहाँ अटके रहें, तो बहुत बड़ा घाटा होगा। जिन महापुरुष की वाणी अभी आप सुन रहे थे, उन्होंने बड़े ही दुःख से अपने को निकाला। बहुत ही विकट और प्रतिकूल परिस्थितियों में से स्वाधीन जीवन की राह उन्होंने निकाली। उनको अध्ययन मानव-जीवन के सम्बन्ध में यह है कि मनुष्य स्वयं अपने द्वारा जीवन के सत्य को स्वीकार करने में स्वाधीन है। सत्य की स्वीकृति से जीवन बदलता है। अपने जाने हुए असत्य का त्याग करने में मनुष्य स्वाधीन है। अपने जाने हुए असत्य के संग का त्याग करने से असाधनों का नाश होता है। असाधनों का नाश होने से साधन का निर्माण होता है और एक बार साधक के जीवन में साधन का निर्माण हो जाता है, तो फिर साधना करनी नहीं पड़ती, स्वत: उसका सम्पूर्ण जीवन साधनमय हो जाता है। फिर वह अपने साधनतत्त्व से अभिन्न होकर सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाता है। यह मानव-जीवन का सत्य है। यह संत का अनुभूत सत्य है।।

बहुत छोटी उम्र में उनकी आँखें चली गई थीं। ग्रंथों का अध्ययन तो उन्हें मिल ही नहीं सकता था, शारीरिक असमर्थता थी। तो बाहर से किसी प्रकार की सहायता न पाने की दशा में भी, केवल जीवन के अनुभव का आदर करके, सत्य को स्वीकार करके उन्होंने अपने को योग, बोध और प्रेम से अभिन्न किया।

एक बार की चर्चा है-वे स्वयं हम लोगों को बता रहे थे कि वे गुरु महाराज के पास बैठे थे, जिन्होंने सन्यास दिया, जिन्होंने इनको इस रास्ते पर आगे बढ़ाया। वे महापुरुष थे। वे उनके पास बैठे हुए थे और जी में ऐसा आया कि उपनिषद् पढ़ने से बड़ा लाभ होता है। आँखें तो थी नहीं, पढ़ना-लिखना कुछ हुआ ही नहीं था। पढ़ेंगे कैसे उपनिषद् ? सम्भावना ही नहीं थी। तो भीतर-भीतर चुप हो गए। पढ़ने का अवसर नहीं है, तो उपनिषद् पढ़ने से बहुत लाभ होता, जल्दी

सफलता मिलती-ऐसा सोच करके वे रह गये। उनके गुरु महापुरुष थे, साधक के जी की बात जानने वाले थे। उन्होंने स्वयं अपने आप यह कहना आरम्भ किया कि अरे भाई, सुनो, शास्त्रों के अध्ययन का बहुत ही अच्छा तरीका है। उसकी पाठशाला है-एकांत और पाठ है-मौन। उस एकान्त पाठशाला में मौन होकर अर्थात् चुप होकर शान्त रह कर मूक सत्संग में जो साधक ठहरी हुई बुद्धि में शान्ति पूर्वक रहता है उसकी उस बुद्धि में शास्त्रों का सब ज्ञान स्वत: प्रकाशित होता है।

सुन लिया उन्होंने और जैसा सुना वैसा किया। बिना ही किसी बाहरी अध्ययन के सब शास्त्रों का ज्ञान अर्थात् मानव-जीवन का रहस्य, सृष्टि का रहस्य, जीवन का सत्य स्वत: ही उनमें प्रकट हो गया। जो परिचित भाई-बहिन यहाँ बैठे हैं, जिन्होंने दर्शन किया है, वाणी को सुना है, वे सभी इस बात को जानते हैं कि किस तरह वे शास्त्र की युक्ति-युक्त बातों को कितनी सहज भाषा में, बोल कर प्रकाशित करते रहते थे। यह एक उदाहरण अपने लोगों के सामने है।

अपने अनुभव के आधार पर उन्होंने हमें यह बताया कि मनुष्य को जो चाहिए-किस बात के लिए? जीवन के लक्ष्य से अभिन्न होने के लिए। उसको जो चाहिए वह जीवन-दाता ने प्रारम्भ से ही उसे दे दिया। अर्थात् जो अविनाशी जीवन है, जो जीवन का सत्य है, जो आनन्दमय अपना अस्तित्व है और जो आनन्द स्वरूप अपने परम प्रेमास्पद हैं, वे अपने ही भीतर विद्यमान हैं और उनसे अभिन्न होने के लिए बाहरी किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है। यह एक विशेष बात है, जो आप सत्संगी भाई-बहिनों की सेवा में मैं निवेदन करना चाहती हूँ। बहुत कुछ सुना है आपने, बहुत कुछ सुनते रहे हैं। आपकी पृष्ठभूमि बहुत अच्छी है। उस आधार पर मैं यह निवेदन कर रही हूँ-बहुत जल्दी इस बात को आप grasp कर सकते हैं, पकड़ सकते हैं कि वस्तुत: मनुष्य के जीवन में अपना जो लक्ष्य है वह है संयोग-वियोग से रहित नित्य योग, जन्म और मृत्यु से रहित अमरत्व और क्षतिपूर्ति से रहित अनन्त रस की प्राप्ति।

यह जो हमारी-आपकी अपनी मौलिक माँग है, इस माँग की पूर्ति में जीवन-दाता ने हम सभी को पूरा स्वाधीन बनाया है। यह एक विशेष बात है। इसको आप अपने विचार करने के लिए सामने रखें कि सचमुच जो मौलिक माँग है, जिसकी पूर्ति के बाद जीवन कृत-कृत्य हो जाता है। और कुछ पाना और कुछ करना शेष नहीं रहता, उस जीवन की अभिव्यक्ति में, उस लक्ष्य की पूर्ति में, उस सत्य से अभिन्न होने में हम सभी लोग स्वाधीन हैं। पूर्ण स्वाधीन हैं। क्यों ? इसलिए कि उससे अभिन्नता किसी वस्तु के आधार पर नहीं होती, शरीरों के आधार पर नहीं होती, संगी-साथियों के आधार पर नहीं होती। उससे अभिन्नता होती है सबसे असंग होने पर। यह तो आप लोगों को पहले का सुना हुआ है न? जो अविनाशी जीवन है, जो आनन्दमय अस्तित्व है, जो परम प्रेमास्पद प्रभु हैं, उनसे मिलने के लिए जो दृश्य जगत् के दृश्य हम लोगों को दिखाई देते हैं, जो हमारी इन्द्रियों का विषय बन सकते हैं, उनसे असंग होने पर वह अविनाशी जीवन मिलता है। यह भी आपने पहले सुना होगा। अब उसमें से अर्थ निकालिए अपने लिए। यह बात आपको बिल्कुल सही मालूम होगी कि जब सबसे असंग होने पर ही सबसे तादात्म्य तोड़ने पर ही वह अविनाशी जीवन मिलता है तो उसको पाने के लिए फिर बाहरी कोई सहारा नहीं चाहिये।

शारीरिक स्वास्थ्य अविनाशी जीवन को देने में कारण नहीं बन सकता। शारीरिक स्वास्थ्य संसार की सेवा करने में सामग्री के रूप में सहायक हो सकता है। परन्तु ऐसा आप नहीं कह सकते कि शरीर स्वस्थ होगा तो हम जीवन-मुक्ति के अधिकारी बनेंगे, भगवत् भक्ति के अधिकारी बनेंगे-ऐसा नहीं कह सकते। बहुत से स्वस्थ शरीर वाले सज्जन हैं जिनको शरीर की आसक्ति से छुट्टी नहीं मिली है, शरीर के स्वस्थ होने के अभिमान में फंसे हुए हैं। तो शरीर स्वस्थ होने पर भी हम सत्य से दूर रहते हैं। इसलिए यह एक अनिवार्य तथ्य नहीं है। अनिवार्य तथ्य क्या है कि प्रकृति के विधान से हम लोगों को शरीर स्वस्थ मिला है तो भला, और अपनी ही भूल से, विवेक का आदर नहीं करने से, बल का सदुपयोग नहीं करने से प्रकृति के विधान से उसमें अनेक प्रकार के रोग आ गये हैं, तो भला। यदि शरीरों से आप अपना मूल्य अधिक बढ़ा लेते हैं, शरीरों से अपने को असंग कर लेते हैं तो उस असंगता में अविनाशी जीवन से अभिन्न होने का आनन्द आ जाता है। तो जिसने शरीरों से तादात्म्य तोड़ लिया, जिसने शरीरों से अपने को असंग कर लिया अथवा जिसने अपने सहित सर्वस्व उस परम प्रेमास्पद प्रभु को समर्पित कर दिया, उसने जन्म-मरण के पार अमरत्व से, अनन्त आनन्द से अपने को अभिन्न कर लिया। तो ऐसा जो कर सकता है, उसके लिए शरीर का स्वस्थ होना अथवा बीमार होना, न लाभदायक है, न हानिकारक है।। यह एक बात केवल शारीरिक स्वास्थ्य की चर्चा करके मैं छोड़े दे रही हूँ। धन-सम्पत्ति और विद्या-अध्ययन, पढ़ने-लिखने का भी ऐसा ही महत्त्व है। बहुत पढ़ना-लिखना किया है, बहुत अध्ययन किया है, तो अध्ययन का भी आधार है-शरीर (सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर)। बुद्धि की सहायता लेकर के हम सब यह करते हैं। शरीरों की सहायता से जो कुछ हम कर सकते हैं, शरीरों की सहायता से जो कुछ जानकारी हमने प्राप्त की है उससे लाभ उठाकर, उसके प्रकाश में अपने को शरीरों से आगे बढ़ाकर जब हम अविनाशी से अभिन्न होना पसन्द करेंगे, तो सारे अध्ययन के फलस्वरूप सब जानकारी के संग्रह सहित स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर से अपने को ऊपर उठाना ही पड़ेगा। तो पढ़-लिखकर के सब छोड़ दिया तो क्या और बिना पढ़े-लिखे छोड़ दिया तो क्या। छोड़ देने के बाद सबका मूल्य बराबर हो गया। इसका अर्थ यह नहीं है कि अध्ययन निरर्थक है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी भाई-बहिन ऐसा न सोचे कि मुझे शास्त्रों के अध्ययन करने का अवसर नहीं मिला, परिस्थिति नहीं मिली, तो मुझे अविनाशी जीवन नहीं मिलेगा ऐसा नहीं सोचना चाहिए।

स्वामी जी हाराज ने मानव-जीवन के सम्बन्ध में जो अनुभव किया, जो खोज की, उसकी पहली बात आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदित है कि शरीर सम्बन्धी जो भी कुछ सामर्थ्य है, जो योग्यता है, बल है, जों भी कुछ है वह सब साधन-सामग्री के रूप में है। और जिसको जितना मिला है, उसके लिए उतना ही पर्याप्त है। इसलिए आप किसी क्षण में अपने को योग, बोध ओर प्रेम के सम्बन्ध में अनधिकारी मत मानियेगा। ऐसा मत सोचियेगा कि मुझे योग, बोध और प्रेम नहीं मिल सकता है। अर्थात् मैं सुख-दुःख के पार अनन्त आनन्द से अभिन्न नहीं हो सकता हूँ, मैं जगन्नियन्ता, प्रेमस्वरूप, रस-स्वरूप, परम प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता हूँ-ऐसा कभी मत सोचियेगा।।

अब दूसरी बात। देखिए, विचार करने के लिए अभी थोड़े दिन पहले बहुत ही अच्छे-अच्छे और हम सब भाई-बहिनों के लिए आवश्यक तथ्य

मेरे सामने आये। अनुभवी सन्त के सम्पर्क में बैठ कर कुछ सुना, कुछ सोचा, कुछ अनुभव किया। उसी के आधार पर मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि अगर आप शारीरिक जरूरतों को पूरा करने के पीछे पड़ जाओ कि अमुक प्रकार का भोजन मिलना ही चाहिए, अमुक प्रकार का रहन-सहन होना ही चाहिए, अमुक प्रकार की सुविधा मिलनी ही चाहिए-अगर ऐसा सोच लो, भीतर भीतर, तो क्या हो गया? सबसे पहिले शरीर की दासता आ गयी। फिर परिवार के कुटुम्बीजनों की दासता आ गयी। फिर क्या हुआ? अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति के चिन्तन ने आप को शान्ति से दूर कर दिया। ठीक है न? जैसा मिला है वह पसन्द नहीं आता है, तो इतना-इतना बढ़िया मकान चाहिए, ऐसा अच्छा परिवार होना चाहिए, ऐसा अच्छा भोजन होना चाहिए, ऐसा अच्छा वस्त्र होना चाहिए। तो चाहिए सब कुछ, लेकिन सृष्टि-कर्ता के विधान में तुम्हारे लिए प्रावधान होगा तब न मिलेगा। तो अब जो मिला है वह सन्तोष नहीं दे रहा है, और जो नहीं मिला है उसको सोच-सोच करके जो मिल गया है, सामने है, उसकी भी सुख, उसकी भी सुविधा तुम्हें कुछ लग नहीं रही है, तो रहो परेशान। आज किसी ने कटु वचन कह दिये तो कलेजा फट गया। कल किसी ने मन की बात पूरी नहीं की तो पराधीनता से दुःखी हो गए। तो खातिर करते रहो शरीर की, खुशामद करते रहो संसार की। अपना कोई मूल्य नहीं रहे जाता। मिट्टी के मोल जीवन हो जाता है।

आप मनुष्य हैं। आपको जीवनदाता ने यह प्रकाश दिया है जिसमें आप अपनी दुर्दशा को स्वयं देख सकते हैं। दूसरे लोग क्या कहेंगे-जाने दो। दूसरों की दृष्टि में आप कैसे दिख रहे हैं, छोड़ दो। उसकी परवाह मत करो। उनकी दी हुई शक्ति में जब अपनी दुर्दशा को देखा तो देख करके भीतर में बड़ी ग्लानि पैदा हुई कि अरे ! आज मेरी यह दशा हो गयी कि इतनी छोटी-छोटी बातों के लिए जिसको ढंग से बोलना नहीं आता है, मेरी तुलना में जिसकी कोई हैसियत नहीं है, उसकी खुशामद मुझे करनी पड़ रही है। अगर यह दुर्दशा आपके दिल में चुभ गयी तो आपका कल्याण हो जायेगा। आपके भीतर एक चेतना जग जायेगी।

पराधीनता अपने को पसन्द नहीं है, तो स्वाधीनता कहाँ है? अगर यह शरीर और संसार की गुलामी अपने को पसन्द नहीं है तो स्वाधीनता को आनन्द कहां है? मैंने ऐसा अनुभव करके देखा है कि जिन भाई-बहिनों के जीवन में यह प्रश्न पैदा हो जाता है, उन्हें बड़े ही चमत्कारपूर्ण ढंग से अपने में ही विद्यमान आनन्द स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, प्रेम-स्वरूप जो अपने से अधिक अपना हितकारी है वह प्रकाश देने लगता है, मार्गदर्शन देने लगता है, आगे बढ़ने की शक्ति देने लगता है, विरक्त होने की सामर्थ्य देने लगता है और बिना किसी बाहरी सहायता के व्यक्ति को सूझने लगता है कि मुझे क्या करना चाहिए। तो बदल गयी बात।

अब मानव-जीवन का सुन्दर चित्र देखिए। क्या है कि जिन साथियों ने एक दिन के लिए भी अपनी प्रसन्नता की सब बातें पूरी नहीं की उन साथियों की ओर से अपने को हटा लो। फिर अनेक बार इन्द्रिय-लोलुपता में पड़कर के अनेकों प्रकार के सुखों का भोग किया। सुख-भोगों के आधार पर शान्ति नहीं मिली, अविनाशी जीवन नहीं मिला, तो इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लो। छोड़ दो सब। बहुत हो चुका है, अनेकों बार यह सब देख चुके। आज से एक नया जीवन आरम्भ करें। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। बहुत ही सामान्य स्तर की बात है कि जब व्यक्ति अपने द्वारा अपने जीवन के सत्य को स्वीकार करता है,

तो मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर सब उसके अनुगामी होते हैं। तो इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लेने से जब आपके भीतरे शरीर की सहायता से देखे हुए दृश्य का सुख लेने की बात खत्म हुई कि फिर मन में किसी संकल्प-विकल्प के उठने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। तो मन निर्विकल्प हो जाता है और अगर मन में कोई संकल्प-विकल्प ही नहीं है, तो बुद्धि भगवती फैसला किस पर देगी? तो बुद्धि सम हो गयी, शान्त हो गयी। उसके लिए कोई काम नहीं रहा।

जैसे ही व्यक्ति साथियों और सामानों से थोड़ी देर के लिए अपने को अलग करता है, तुरन्त उसके भीतर शान्ति की अभिव्यक्ति होती है, तुरन्त उसके भीतर योग की सामर्थ्य आती है। बल इतना जल्दी बढ़ता है, शान्ति इतनी जल्दी भीतर छा जाती है कि उसे शान्ति में, मैंने अनुभव करके देखा है, अनेक जन्मों की थकान पाँच-दस मिनट के भीतर खत्म हो सकती है।

थकान शब्द तो समझते हैं न? रात-दिन की दशा अपनी देखो। कामनायें उपज रही हैं। उनको पूरी करने के लिए आप अपने आस-पास इधर-उधर देख रहे हैं। कहाँ वस्तु मिले ? कहाँ सहायक मिले? कौन-कौन आदमी मिले जो मेरी यह बात पूरी करें ? अनुकूलता नहीं दिखाई देती है। मन मार कर भीतर-भीतर अपने को रोक कर रखते हैं। तो मन मारकर अतृप्त वासनाओं को भीतर-भीतर रोकने में जितना आदमी थकता है, काम करने में उतना नहीं थकता। एक जन्म की कौन कहे, कितने जन्मों से हम लोग अतृप्त वासनाओं को भीतर-भीतर रोक कर रखने का श्रम कर रहे हैं। इस श्रम का कभी अनुभव किया है ? हर एक को करना पड़ता है। रोज दिन सामने आती है यह बात। भीतर से संसार के सहयोग से मिलने वाले सुख की वासना उठी और बाहर में उसकी पूर्ति का संयोग नहीं बन रहा है, तो उसको अन्दर-अन्दर रोक कर रखने में कितनी सूक्ष्म शक्तियों का ह्रास होता है ! उसी के कारण ये शरीरिक और मानसिक रोग पैदा होते हैं। इस विषय को पढ़ने-पढ़ाने में इकत्तीस वर्ष का समय खराब किया मैंने। अब कहूँगी। उस समय तो खराब करने जैसा नहीं लगता था। लेकिन अब मैं कह सकती हैं। तो वह सारी थकान आपकी थोड़ी देर की शान्ति में मिट जाती है। कब? जब अपने निज-विवेक के प्रकाश में अपनी दुर्दशा को देखा और उस दुर्दशा से निकलने के लिए प्राप्त सामर्थ्य के अनुसार पुरुषार्थ आरम्भ किया। प्राप्त सामर्थ्य के अनुसार जितनी सी सामर्थ्य आपके भीतर बची है, उतनी ही लेकर के आपने आरम्भ किया। विवेकी जब सब साथी व सामान से अपने को असंग करके बिल्कुल अंकले हो जाते हैं तो उस शान्ति की भूमि में योग की सामर्थ्य आती है। फिर उस योग में से बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है और जीवन पूर्ण होता है।

एक दिन मैं बैठी थी और इस तरह के चिन्तन में अकेले में थी। जीवन को सामने रख कर सोच रही थी, इतना समय लगाया मैंने। एक ओर संसार का लगाव है, जिसको कि तोड़ना है। दूसरी ओर अविनाशी जीवन नित्य विद्यमान है। उसको पकड़ने के लिए कोई प्रयास नहीं करना है। केवल इनी सी बात है कि अगर इसके लगाव को तुम नापसन्द कर दो, इस ओर जो प्राण-शक्ति बह रही है, इसके दरवाजे को बन्द करके जरा सी देर के लिए विराम ले लो, तो देखो फिर क्या होता है? क्या होता है? अपने ही में विद्यमान शान्ति अभिव्यक्त होकर रोम-रोम को भरपूर कर देती है। फिर उसके बाद और अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। वह जो वास्तविक जीवन है, वह जो अपना परम सत्य है, उसमें इतना घना आकर्षण

है और इतनी असीम मधुरता है कि केवल उस शान्ति में एक मिनट की तो कौन कहे इससे भी कम समय के लिए आप ठहर गए तो फिर क्या है ? प्रकाश ही प्रकाश है। असीम अनन्त आनन्द है। दिव्य जीवन है। आपका जो वह नित्य-जीवन है उसमें जन्म-मरण नहीं है। जिसमें सुख-दुःख नहीं है, जो आनन्द स्वरूप ही है, जो प्रेम रस से भरपूर है, उसमें आप अपने को पा करके ऐसा अनुभव करेंगे जैसे कि सृष्टि कभी थी ही नहीं। उसका कोई चिह्न (Trace) कहीं नहीं मिलेगा, उससे कभी कोई सम्पर्क की बात भी याद नहीं आवेगी। क्यों ? क्योंकि जिस भ्रम से वह पैदा हुआ है उस भ्रम का नाश हो गया। तो जो सत्य है, प्रत्यक्ष है, वास्तविक है, यथार्थ है, वह आपके भीतर ही प्रकट हो गया। उसकी अभिव्यक्ति हो गयी। अथवा मैं यह कहूँ कि वह तो जहाँ का तहाँ, वैसे का वैसा था ही, उससे विमुख होने का दोष मैंने अपना मिटा दिया। हमारे लिए वह इतना प्रत्यक्ष है, इतना सत्य है, इतना ठोस है, इतना जोरदार है कि एक बार एक क्षण के लिए भी उसकी अनुभूति अपने में आ जाए तो पुराने संस्कारों का नाश करने के लिए पुनः पुनः शरीर से संग करके सेवा, त्याग इत्यादि करता रहा है व्यक्ति, परन्तु अपने उस सत्य स्वरूप को कभी भूलता नहीं। बड़ा अद्‌भुत लगता है। एकदम से स्वप्न देखने की तरह लगता है। अभी स्वप्न में देख रहे थे कि बड़ी भारी आपत्ति-विपत्ति में फंस गए हैं। अभी देख रहे थे कुछ और हो रहा है और अभी आँख खुली तो क्या देखा कि कहीं कुछ नहीं है।

कभी मत सोचना कि बहुत दिनों तक हम सत्संग सुनते रहेंगे, बहुत दिनों तक ग्रन्थ को पढ़ते रहेंगे, साधना, जप, तप ध्यान करते रहेंगे तब न जाने कब क्या होगा-ऐसी बात नहीं है। परम प्रेमास्पद प्रभु ने अपनी ही महिमा से अभिभूत होकर अपने ही प्रेम रस के विस्तार के लिए अपने ही तत्त्वों से हम लोगों की रचना की है और हमारे लिए उस सत्य का, उस नित्य-जीवन का, उस परम प्रेम का मार्ग बिल्कुल प्रशस्त करके रखा है। बस, जरा सी बात है। एक बार हिम्मत करने की बात है। उसके बाद तो फिर कुछ अपने को करना नहीं होता। करने की बात यहीं समाप्त हो जाती है। सोचो कि अच्छा ! संसार से नाता-रिश्ता जोड़ करके उसके सुख-दुःख का खट्टा-मीठा स्वाद देख लिया। पर कुछ मिला नहीं। तो अब थोड़ी देर के लिए बाहर से भीतर हो जाओ। यदि आपका संकल्प है कि मैं बाहर से भीतर हो जाऊँ तो सच मानिए अपनी समर्थ मुट्ठी में आपको पकड़ कर बाहर से भीतर करने वाला आपसे अधिक तैयार है।

मैं बचपन में परमात्मा से इतनी नाराज रहती थी कि कभी उनकी कोई महिमा की बात सुन करके मुझको प्रसन्नता नहीं होती थी। कभी नहीं होती थी। लेकिन जब किसी भी प्रकार से उन्होंने मुझ को चैन लेने ही नहीं दिया ऐसा जैसे कि मुझ से अधिक मेरी दुर्दशा से उनको तकलीफ हो रही हो तो सब जगह से असन्तुष्ट हो कर सन्त के पास आकर बैठने के बाद ये सब बातें सामने आने लगीं। सन्देहात्मक दृष्टि से मैं सन्त-वाणी को सुनती थी। भीतर-भीतर विकल्प रख कर के उनकी बातों का प्रयोग करती थी—अब वे कह रहे हैं। अब करके देखो। जब तुम्हारे लिए सत्य हो तब जानो। नहीं तो क्या पता क्या है? कैसा है? इतना विकल्प लेकर के मैंने सन्त की वाणी का अनुसरण करना आरम्भ किया। तो क्या किया? मैं क्या कहूँ? कुछ नहीं किया। जितना उन्होंने कहा उतना मैंने सुना नहीं, जितना सुना उतना समझा नहीं, जितना समझा उतना माना नहीं, जितना माना उतना किया नहीं। मैं अपनी बात कर रही हैं और हो

सकता है मेरी तरह और भी बहुत से भाई-बहिन करते हों।

उस परम प्रेमास्पद के स्वरूप ही आप सबको देखते हुए मैं किसी को गैर नहीं मानती हैं। उनके अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है। वे स्वयं ही श्रोता के रूप में दर्शन दे रहे हैं। इस नाते मैं यह बात आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि एक बार कदम उठा कर देखो। एक बार साहस करके देखो। भीतर ही भीतर अपने में ही वह नित्य-जीवन विद्यमान है। उसकी विद्यमानता की मिठास आपके अनुभव में न आ जाय तब फिर कोई दूसरी बात सोचना। प्रत्यक्ष किस-किस रूप में, यह तो वे जानें। जिसमें मेरा हित है, जिसमें मेरी प्रगति होगी, जिससे मेरा कल्याण होगा—इसकी पूरी जानकारी उनको है। और जब से उन्होंने अपनी हितैषिता का परिचय मुझ को दिया, उसके बाद से उनके बारे में सोचना मैंने छोड़ दिया। अब क्या सोचें ? सोचने की आवश्यकता नहीं रह गयी।

मानव का जो जीवन है वह बड़े ऊँचे उद्देश्य से रचा गया है और बड़ी अच्छी योजना है उसकी। कैसे वह सर्व दुःखों का अन्त कर सकता है, कैसे वह जन्म-मरण की बाध्यता से छूट सकता हैं, कैसे वह अपने नित्य-जीवन से अभिन्न हो सकता है, कैसे वह परम प्रेमास्पद के प्रेम रस से भरपूर होकर जन्म जन्मान्तर की सारी अतृप्ति को मिटा कर स्वयं ऐसा रस स्वरूप हो सकता है और उसके हृदय में प्रेम भाव का रस लेने के लिए वह अनन्त परमात्मा, वह रस स्वरूप परमात्मा, आकर उसके सामने प्रस्तुत हो सकता है, प्रकट हो सकता है, खेल सकता है, बातें कर सकता है, उसको रस दे सकता है और उसके दिए हुए रस को ग्रहण करके अपने को प्रसन्न कर सकता है। ऐसा हो सकता है और इसी जन्म में हो सकता है। इसके लिए भविष्य के आधार पर हम लोगों को और अपना समय खराब नहीं करना चाहिए। हम सभी अपने ही द्वारा अपना उद्धार कर सकते हैं।

जिन संकल्पों को पूरा नहीं कर सकता उसे छोड़े ।

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों !

हम सब लोग मानव-जीवन के तथ्यों पर विचार कर रहे हैं। किसलिए? इसलिए कि हम सब लोग मानव हैं और इस बात में सजग हैं कि हमारी समस्याओं का समाधान इसी जीवन में होना चाहिए, इसी वर्तमान में होना चाहिए। इस दृष्टि से हम सब लोग जीवन पर विचार कर रहे हैं। | विचारणीय विषय यह है कि हम सब सुनते हैं जबकि अनुभवी जनों ने इसे अनुभव किया है। ऋषियों-मनीषियों ने इस सत्य को ग्रन्थों में लिख कर रखा है और हम सब लोग अपने भीतर से आवश्यकता भी अनुभव करते रहते हैं। किस बात की ? कि जन्म-मरण की बाध्यता मिट जाय तो अच्छा है। हम जन्म लेने के लिए भी बाध्य होते हैं और मरने के लिए भी बाध्य होते हैं। किसी-किसी समय कोई-कोई व्यक्ति जीना चाहता है। और उसे मरना पड़ता है और किसी-किसी समय शरीर इतना दुःख देने वाला हो जाता है रोग से बेबसी में कि आदमी मरना चाहता है और जीना पड़ता है। इसको मैं बेबसी कहती हूँ। जीना चाहे और जी न सके, मरना चाहे और मर न सके। ऐसी दशा किसी भाई-बहिन को पसन्द होगी ?

हम सभी सचेत होने के कारण अपनी इन दशाओं से परिचित हैं। हर भाई-बहिन के भीतर यह बात उठती रहती है कि किसी प्रकार से अपनी यह बेबसी खत्म हो जाय तो अच्छा है। जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो जानी चाहिए अर्थात् बेबसी और पराधीनता मिट जानी चाहिए, ऐसा मैने सन्तवाणी में सुना है और अपने द्वारा

विचार करके देखा, तो इस बात का पता चला कि मृत्यु जो होती है उसमें केवल स्थूल शरीर का नाश होता है जबकि सूक्ष्म शरीर साथ में रह जाता है और कारण शरीर भी साथ में रह जाता है। आप जिस धातु से बने हुए हैं उसका नाश मृत्यु नहीं कर सकती। शरीर बना है बनने-बिगड़ने वाली धातुओं से, अर्थात् भौतिक तत्त्वों से शरीरों की रचना होती है, इसलिए इनमें निर्माण और विनाश को क्रम चलता है और आप बने हैं अलौकिक तत्वों से, इसलिए आपका नाश नहीं हुआ है और न कभी होगा।

स्वामी जी महाराज से कभी किसी ने पूछा कि महाराज ! आपकी उम्र क्या है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'आदि सृष्टि उपजाई जब ते' यह मेरी उम्र है। सबसे पहले पहल जब सृष्टि बनी होगी तब से मैं बना हूँ और भैया वर्षों की तो मुझे मालूम नहीं है तुम गिन लेना कि कितने दिन की पुरानी सृष्टि हुई। तुम उम्र का हिसाब लगा लेना।

ऐसे ही आप विचार करके देखेंगे तो आपको भी ऐसा लगेगा कि मैंपन की रचना जो है जिसको हम लोग 'मैं कह कर सम्बोधित करते हैं उसकी रचना किसी भौतिक तत्त्व से नहीं हुई है, इसलिए उसमें

आदि-अन्त का प्रश्न नहीं है। भौतिक तत्त्वों से जिन शरीरों की रचना होती है उनके लिए जन्म और मरण की सीमा है। वे एक प्राकृतिक विधान से बनाए जाते हैं—अणु-परमाणुओं के गठन से बन जाते हैं और काल व्यवधान से अणु-परमाणुओं का गठन बिखर जाता है तो हम लोग उसको मृत्यु कहते हैं। वस्तुत: हमारी आपकी मृत्यु नहीं है। यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है। बहुत ही बल देने वाली है और मृत्यु के भय से छुड़ाने वाली है। यदि आपको अपने स्वरूप पर विचार करने का अवसर मिले

और इसको आप पसन्द करें, इन तथ्यों पर विचार करके अपने ही विवेक के प्रकाश में इस सत्य को स्वीकार करें, तो बड़ा ही उपकार हो जायेगा। अपनी मृत्यु के भय से मुक्त हो जायेंगे। महाराज जी की प्रणाली में इसको जीवन कहते हैं, योगी लोग उसे परम तत्त्व कहते हैं, ज्ञानी लोग उसे निज स्वरूप कहते हैं, भक्तजन उसको निज प्रभु कहते हैं। उसमें दु:ख का लेश नहीं है। तो आज प्रात: की इस बैठक में हम लोग इस विषय पर विचार करें। चूंकि इस 'मैं' की रचना अविनाशी तत्त्वों से हुई है इसलिए इसका नाश नहीं होगा और शरीर की रचना भौतिक तत्त्वों से हुई है इसलिए उसका नाश अवश्य होगा। तो यह जानकारी हम लोगों को सचेत करने वाली होनी चाहिए। इस बात की जानकारी कि शरीरों का नाश अवश्य होगा, क्योंकि नाशवान इसका स्वरूप ही है। हमने अपनी आँखों से अनेक शरीरों का नाश होते हुए देखा है। इतना ही नहीं, इस एक ही शरीर में कितने परिवर्तन होते जा रहे हैं। तो नाश के कितने लक्षण हमने देखे हैं।

सन्त की वाणी में मैंने सुना। वे कह रहे थे कि भाई, वहाँ से चिट्ठियाँ तो आती हैं। तुम पढ़ते नहीं हो, तो क्या किया जाए? अच्छे-अच्छे दाँत खाने का बहुत सुख दे रहे थे। तो उन्होंने तुमसे विदाई ले ली। बिना सूचना दिए, बिना तिथि निश्चित किए एक दाँत टूट करके गिर गया। एक पत्र तो आ गया कि नाश होना आरम्भ हो गया। तुम चिट्ठी पढ़ते नहीं हो, तो क्या किया जाय? वहाँ से समाचार तो आता ही रहता है कि नाश हो रहा है, प्रतिदिन हो रहा है। हर श्वास के साथ प्राणशक्ति का ह्रास हो रहा है। तो अपनी जो यह जानकारी है, हमारी इस जानकारी का प्रभाव अपने पर होना

चाहिए। क्या प्रभाव होना चाहिए कि जिस शरीर का स्वरूप ही निर्माण और विनाश है उस शरीर का सहारा लेकर हम लोगों को नहीं जीना चाहिए। वह जीवन ही क्या जो मरणशील शरीर के आश्रित हो। जो नाशवान शरीर के आश्रित हो जायेगा वह जीवन कहलायेगा? नहीं कहलायेगा। इसलिए यह हमारा अपना जाना हुआ तथ्य है, तो इसका प्रभाव अपने पर होना चाहिए। क्या प्रभाव हो ? कि स्वयं अपने लिए अपने अस्तित्व के लिए, अपने निज स्वरूप के लिए शरीरों का सहारा मत लो। एक लाभ तो यह तत्काल हो गया। ग्रन्थों में पढ़िये और सन्तों की वाणी में सुनिये और अनुभवी सन्तों के जीवन के सम्पर्क में अपने को रखिये। तो इन सारी बातों से यह बल आपको मिलेगा कि भाई, जो स्वयं नाशवान है उसका सहारा हमको नहीं लेना चाहिए। तो सहारा नहीं लेंगे। शरीर को जीवन नहीं मानेंगे, शरीर को अपना नहीं मानेंगे, शरीर को अपने लिए नहीं मानेंगे। तो इतने ही सत्य की स्वीकृति में आपकी समस्याओं का समाधान हो जायेगा।

मृत्यु का भय क्यों है? अपने अनुभव के आधार पर स्वामी जी महाराज ने हम लोगों को बताया कि भाई, मृत्यु भय देने वाला तथ्य नहीं है। मृत्यु स्वयं दुःख देने वाला तथ्य नहीं है। दुःख क्यों होता है ? भय क्यों होता है? दुःख और भय तो इसलिए होता है कि चूंकि हम शरीर को रखना पसन्द करते हैं, उस पर अपने को आश्रित रखते हैं, इसलिए उसके नाश का भय होता है। अन्यथा जिन्होंने प्राप्त शरीर का सदुपयोग कर लिया और स्वयं आश्रय को छोड़ कर निज स्वरूप में स्थित हो गए अथवा निज प्यारे प्रभु के प्रेम में मस्त हो गए, उनको तो पता भी नहीं चलता है कि कब शरीर है और कब नहीं है। मृत्यु का भय प्राकृतिक बात नहीं है। मृत्यु का भय हमारी भूल का परिणाम है। तो, जो अपनी भूल का परिणाम है उसको हम लोग मिटा सकते हैं।

एक जगह सत्संग में बहुत सी महिलायें मुझे मिलीं। वे लोग बड़ा बढ़िया भजन गा रही थीं- 'अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ। मैंने सोचा कि बात तो बिल्कुल सही है और बहुत बढ़िया है। लेकिन जो बैठकर गा रही हैं कि अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ, उनको यह भी देखना चाहिए कि उनके अन्दर मृत्यु का भय है कि नहीं। अगर वे मरने से डरती हैं तो दोनों बातें एक साथ कैसे बनेंगी ? अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ, यह बात भी सही है और इस बात को कहने वाला यदि मृत्यु के भय से भयभीत है, तो सच्चिदानन्द कहने का कोई अर्थ नहीं निकला। तो आज हम सभी सत्संगियों के सामने, सभी भाई-बहिनों के सामने एक बड़ा जोरदार प्रश्न है। वह क्या है कि शरीर नाशवान है और मैं अविनाशी तत्त्वों से बना हुआ है, इसलिए उसका नाश नहीं होगा। इस सत्य को हम सब लोग अपने द्वारा अपने में अनुभव करके मृत्यु के भय से मुक्त हो जाएँ और अविनाशी तत्त्व से मिल कर सदा-सदा के लिए अमरत्व के आनन्द का अनुभव करें। यही प्रश्न है।

सच पूछिये तो मानव-जीवन का यही मुख्य प्रोग्राम है और दूसरे सारे कार्यक्रम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। हम लोगों ने बड़ी-बड़ी योजनायें बनाई, बहुत सा प्रोग्राम बनाया और बहुत को पूरा किया और बहुत से अभी बाकी भी हैं। अगर यही क्रम चलायेंगे तो मरने की घड़ी तक नये-नये प्रोग्राम बनते ही रहेंगे और जो बाकी रह जायेंगे उनको पूरा करने के लिए शरीर के नाश के बाद फिर से शरीर धारण करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। तो फिर मानव जीवन में वर्तमान का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम क्या होना चाहिए कि जो नाशवान है उसके नाश के भय से हम लोग मुक्त

हो जायें और जो अविनाशी है उस तत्त्व से अभिन्न हो कर आनन्दमय हो जायें। यह कार्यक्रम, यह प्रोग्राम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है-Essential है और इसी वर्तमान में पूरा करने का है। और, इस जीवन की सार्थकता इसी प्रोग्राम के पूरा होने में है अन्यथा और कोई बात पूरी होने वाली नहीं है। यह प्रोग्राम पूरा कैसे होगा? तो, जीवन का एक सत्य हम लोगों के सामने आया। अब उसकी पूर्ति के लिए साधन की चर्चा होगी, उपायों की चर्चा होगी कि किस उपाय से हम लोग इस प्रोग्राम को पूरा कर सकते हैं।

पहली बात, आज सन्तवाणी में आपने सुना कि महाराज जी कहते हैं कि भैया, जिन संकल्पों को लेकर तुम अनेक जन्मों से भटक रहे हो, जिन संकल्पों को लेकर इतनी अशान्ति तुम सह रहे हो, उन संकल्पों को जीवन में मत रखो। यह पहला एक उपाय हम लोगों के सामने आया। ऐसा नहीं कि इतने दिन उपवास करना, इतने दिन नंगे रहना, इतने दिन प्यासे रहना, इतने दिन एक स्थान पर बैठे रहना-यह नहीं। तो कौन सी बात क्या उपाय है अपने लोगों के लिए कि, जिन संकल्पों को रख कर हम अनेक जन्मों से भटक रहे हैं, अशान्ति का दुःख भोग रहे हैं, उन संकल्पों को जीवन में से निकाल दो, खत्म कर दो और निःसंकल्प हो जाओ।|एक उपाय आया हम लोगों के सामने। मैंने एक बड़े पुराने दार्शनिक खलील जिब्रान का साहित्य पढ़ा। वे उस परम्परा में हुए जहाँ पुनर्जन्म नहीं माना जाता। अपने संगी साथियों के साथ सत्संग के क्रम में अपने अनुभव बताते हुए उन्होंने यों लिखा कि देखो भाई, हम सब लोग इस दुनिया में आये और बड़े प्रेम से परस्पर एक-दूसरे के साथ रह कर जीवन के सत्य की खोज की। अब आखिरी बात मैं आप लोगों की सेवा में निवेदन कर रहा हूँ कि जीवन काल में अगर हमारा काम पूरा हो गया तो बड़े आनन्द की बात होगी और हमारा काम पूरा नहीं हुआ तो हम कुछ दिन हवा में डोलेंगे और फिर हमारी इच्छा शक्ति मिट्टी-पानी इकट्ठा करेगी

और उसके बाद हमें तुरन्त ही किसी माता के द्वारा इस दुनिया में आना पड़ेगा। यह उसने लिखा भूल क्या है ? तो भूल यह है कि शरीर को धारण करके इसकी सहायता से दृश्य जगत् के संयोग का सुख हम पसन्द करते हैं। उस पसन्दगी के कारण अनेक प्रकार के संकल्प उदित होते हैं। उन संकल्पों के कारण अपनी शान्ति भंग हो जाती है। शान्त नहीं रह सकते, तो निश्चिन्त नहीं रह सकते। इसक पीछे अगर कारण की खोज करो तो कारण है, शरीर और संसार के संयोग से सुख लेने की इच्छा। इसमें घोर अशान्ति है।

शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान, ये तो शरीर से सम्बन्ध रखने वाले अध्ययन हैं। तो इन दोनों के अध्ययन से मैंने पाया कि मनुष्य के व्यक्तित्व में एक सन्तुलित अवस्था है। एक Homeostasis है जिसमें कि स्वभाव से ही अपना जीवन अपने को अच्छा लगता है। लेकिन जिस समय मनुष्य के भीतर किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा पैदा हो जाती है तो उसके व्यक्तित्व का Equilibrium disturbed हो जाता है, उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है। वह अपनी शान्ति से बिछुड़ जाता है ! मस्तिष्क में एक तनाव की दशा पैदा हो जाती है। एक Mental tension उत्पन्न हो जाता है। वह मेंटल टेन्शन व्यक्ति को शान्त नहीं रहने देता। अनेक प्रकार के विचार उदित होने लगते हैं-यहाँ जायेंगे, वहाँ जायेंगे, इससे कहेंगे, उससे कहेंगे, ऐसा उपाय करेंगे कि वह वस्तु मुझको मिल जाए। मेरी यह इच्छा पूरी हो जाए। तो इच्छाओं की उत्पत्ति मात्र से व्यक्ति

अपना सन्तुलन खो देता है, इस बात का आपने अनुभव किया होगा अपने द्वारा। और, सामान्य दशा में भले न अनुभव में आता हो लेकिन आप भाई-बहिन सत्संगी हैं।

और सत्संग को पसन्द करते हैं। मैं आशा करती हूँ कि किसी-न-किसी रूप में सभी भाई-बहिन कुछ-न-कुछ साधना जरूर करते होंगे। थोड़ी-थोड़ी देर के लिए शान्त रहने की साधना, प्यार करने की साधना, भगवत-चिन्तन की साधना—यह सब आप लोगों के जीवन में विविध रूप में कुछ न कुछ चलती होगी जरूर। जिसके जीवन में किसी न किसी प्रकार की साधना चलती है उन भाई-बहिनों को First hand knowledge है, इस बात का पक्का अपने द्वारा अनुभव है कि जब शान्त होना पसन्द करो तो कितना अच्छा लगता है। अगर भीतर से बाहर से सब प्रकार की गति रुक जाए कुछ देर के लिए यह तो स्थूल भाषा हुई और कुछ देर के लिए किसी प्रकार की गति उत्पन्न न हो, तो उस दशा में व्यक्ति को बहुत अच्छा लगता है और उसी समय अगर कोई दुनियाँ की बात याद आ गयी कि अमुक काम बाकी रह गया, इनसे मिलना बाकी रह गया, यह वस्तु लाना बाकी रह गया, इस बीमारी के इलाज का काम बाकी रह गया, यह पेमेंट बाकी रह गया, यह सब अगर याद आ गया उसी समय, तो शान्ति-काल में जो आपको भीतर से अच्छा-अच्छा लग रहा था वह बना रहता है कि बिगड़ जाता है ? बिगड़ जाता है। तो देखो उसको भूलना नहीं। यह जानकारी हम लोगों की, जो अपनी जानी हुई बात है, इस बात का अपने स्तर पर प्रभाव होना चाहिए। क्या प्रभाव होना चाहिए?

अनुभवी सन्त कह रहे हैं कि अपने संकल्पों के फेर में ही तो अनेक जन्म बर्बाद किए। इन संकल्पों की उत्पत्ति से ही तो हम शान्ति से वंचित हो जाते हैं। अपने संकल्प की पूर्ति का सुख हमें चाहिए। संकल्प-पूर्ति के सुख के फेर में पड़ा हुआ आदमी कर्तव्य को भूल जाता है, माता-पिता को भूल जाता है, धर्म को भूल जाता है, परमात्मा को भूल जाता है और मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि आदमी आदमी नहीं रह जाता। जब हमारे भीतर संकल्प-पूर्ति का वेग उठता है तो हम संसार में किसी काम के लायक नहीं रह जाते। संसार के बन्धन से मुक्त होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है और परमात्मा को तो रहने दो गोलोक में, साकेत में आराम करने दो, अपने लिए तो कुछ मतलब ही नहीं रह जायेगा। इसलिए भाई मेरा तो ऐसा निवेदन है कि हम सब लोग सत्संग करते ही हैं। सत्संग सुनना पसन्द करते हैं। सच्ची बात को कहना पसन्द करते हैं। सच्ची बातों को पुस्तकों में से पढ़ना पसन्द करते हैं तो एक कदम और आगे भी हमारी पसन्दगी बढ़नी चाहिए और वह क्या है कि इस जीवन को प्रयोग में डालना भी पसन्द करो।

प्रयोग (Experiment) के लिए सबसे बढ़िया विषय-वस्तु (Subject Matter) है अपना जीवन जैसा कि यह आज है। आज मैं ब्रह्मस्वरूप की चर्चा नहीं कर रही हूँ। मैं प्रेमस्वरूप की बात नहीं कर रही हूँ। ब्रह्मस्वरूप, प्रेमस्वरूप, ज्ञान स्वरूप और शान्ति स्वरूप तो हम लोग भविष्य में होंगे। आज मैं किस की चर्चा कर रही हूँ? अपनी इस दशा की कि जिस दशा में हम सब लोग बैठे हैं कि भीतर में सुख-दुःख का द्वन्द्व भी चल रहा है कामनाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख का प्रभाव भी अंकित हो रहा है और साथ-साथ में सत्य की जिज्ञासा भी है। वास्तविक जीवन की खोज भी है, शान्ति की माँग भी है और प्रभु-प्रेम के मधुर रस की प्यास भी है। तो यह जो हमारी मिली-जुली दशा चल रही है, इस दशा में मैं कह

रही हूँ कि फिर भी हम लोग जीवित व्यक्ति हैं। हमारे भीतर जीवन है और मेरे भीतर वह सत्य भी विद्यमान है कि जिसके आधार पर हम अस्तित्ववान हैं। हमारे भीतर वह ज्ञान का प्रकाश भी विद्यमान है। कि जिस प्रकाश में नाशवान संसार को हम लोग नाशवान कहते हैं। हमारे भीतर वह परम प्रेमास्पद भी विद्यमान है कि जिसके मधुर प्रेम रस की प्यास हम सब लोग आज इस वर्तमान क्षण में अपने द्वारा अनुभव कर रहे हैं। दोनों ही बातें हो रही हैं। शरीर को लेकर कामनाएँ भी हमारे भीतर हैं और परमात्मा को लेकर उसके मधुर प्रेम रस की प्यास भी है। सत्य को लेकर उस सत्य की जिज्ञासा भी है। तो, ऐसी विलक्षण रचना है मनुष्य की कि जिसमें बड़ी सामर्थ्य है।

अब हम लोगों को करना क्या चाहिए? तो एक-एक प्रश्न अपने सामने रखो। पसन्दगी अपनी। एक कदम और आगे बढ़ाओ कि आज हम जैसे हैं ऐसे ही अपने को प्रयोग में डालें। अपने ऊपर प्रयोग करें। जीवन पर प्रयोग करने की सबसे बढ़िया विषय वस्तु (Subject Matter) है आपका स्वयं (self)। कौन सा Self ? कौन सा अहं ? जो आज असत्य की आसक्ति से--असत्य भी क्या कहें, असत्य तो नहीं कहना चाहिए—संसार की आसक्ति से दुःख-द्वन्द्व में फँसा हुआ है और सत्य की जिज्ञासा से ज्ञान और प्रेम की साधना में लगा हुआ है-ऐसा जो आपका अहं है, ऐसा जो मेरा व्यक्तित्व है। ऐसा जो हमारा-आपका अपना एक Self है, इसको प्रयोग (Experiment) में डालने की बात है। स्वामी जी महाराज के मुख से मैंने सुना था। कहने लगे एक बार कि देवकी जी, अगर सब प्रकार से दुःख से भरा हुआ कोई साधक मुझे मिल जाए, कोई व्यक्ति मुझे मिल जाय, तो उस व्यक्ति के जीवन को लेकर के उस पर सत्य का प्रयोग करने में मुझे बड़ा आनन्द आता है। बड़ा आनन्द आता है। और एक उदाहरण है

वृन्दावन में एक आश्रम है। उस आश्रम की अधिष्ठात्री माता, पहले-पहले जिनके लिए आश्रम बनाया गया और जिन्होंने अपनी साधना का प्रयोग किया, तो उन माताजी का हाल स्वामी जी महाराज बताते थे कि बाल विधवा स्त्री थी। देखने में कुरूप थी। पढ़ी-लिखी कुछ नहीं और पास में एक पैसा नहीं। दुनिया में कोई मदद करने वाला नहीं। लेकिन उनके भीतर सत्य की जिज्ञासा, प्रभु प्रेम की प्यास थी। पैसा नहीं, अच्छा स्वास्थ्य नहीं, पति, पुत्र, संतान नहीं। कोई दुनिया में देखभाल करने वाला नहीं। यह बाहर की परिस्थिति। तो महाराज जी बताते हैं कि देवकी जी, हमको तो ऐसा जीवन लेकर के बड़ा आनन्द आता है। क्या आनन्द आता है कि सब प्रकार के दुःख से भरा हुआ जीवन, उस पर मैं सत्य का प्रयोग करूँ और मेरे देखते-देखते उसके दुःख का नाश हो जाय, तो बड़ा आनन्द आता है। इसका प्रमाण क्या है कि उन माताजी का शरीर जब नष्ट होने को आया, बहुत कमजोर हो गया, तो महाराज जी ने उनसे पूछा। कि माताजी ! तुम्हारा शरीर अब नहीं रहेगा, तो तुमको इस बात का ख्याल नहीं आता है कि तुम्हारे स्नेह से पलने वाले इन बच्चों को, साधकों को कष्ट होगा? तो कहने लगीं-नहीं महाराज मुझे तो नहीं ख्याल आता है। तो, स्वामी जी ने कहा कि माताजी, मुझे तो ख्याल आता है कि तुम्हारे शरीर के न रहने से आश्रमवासी साधकों को कष्ट होगा। तो माताजी हँसकर कहती हैं कि महाराज जी ! आपने अपने चेले-चपाटी बनाये होंगे तो आपको ख्याल आता होगा, मुझे तो कोई ख्याल नहीं है। तो महाराज जी बड़े प्रसन्न हो गये। कहने लगे, मेरा प्रयोग तो सिऋ हो गया। मैं तो यही देखना चाहता था कि संसार के दुखों से

घिरा हुआ जीवन ! शरीर के नाश होने के पहले उसके भीतर का सब दुःख नाश हो गया। बड़ा आनन्द आ गया। उसके बाद उन्होंने कहा कि माताजी ! जब तुम्हारा शरीर नाश हो जायेगा तो कुछ तो बता के जाओ कि इसका क्या किया जावेगा। एक प्रकार से यह परीक्षा ही थी और क्या था? महाराज उनसे पूछते जा रहे थे। मैं मौजूद थी वहाँ। बता के तो जाओ, क्या किया जायेगा? तुम्हारा क्या संकल्प है? तो कहने लगी कि जिसको बदबू लगेगी उठाकर फेंक देगा। मेरा क्या है? मेरा कोई संकल्प नहीं है। तो महाराज जी बहुत आनन्दित हो गये। मिल कर के हम लोग चलने लगे। जब स्वामीजी महाराज कुछ दूर चले गये, दो चार कदम तो उन्होंने फिर पुकारा--स्वामी जी महाराज ! कृपा करिये। एक बार वापिस आइये तो सही। तो महाराज जी वापिस आ गये। पीछे-पीछे मैं भी आ गयी। तो कहने लगीं कि देखिये, आप जा रहे हैं, जाइये जिस तरह से मिले हुए हैं उसी तरह से मिले रहियेगा। उसके बाद किसी तरह से कठिनाई से सिर उठाने लगीं कि अच्छा महाराज एक बार चरण वन्दना तो कर लेने दो ! गुरु मानती थीं स्वामी जी महाराज को वे। उनको शुऋ बोध कराया था। उनका नाम रख दिया था शुऋबोध। कहने लगीं कि एक बार चरणवन्दना तो कर लेने दो। शरीर इतना दुर्बल हो गया है कि उठा नहीं जाता। स्वामी जी महाराज ने अपना चरण उठाकर उनके सिर पर रख दिया। कहा कि लो माता जी तुम्हारा ही है, कर लो वन्दना। ऐसे गुरु और शिष्य ! ऐसे वीतराग पुरुष का प्रयोग, ऐसी वीतराग के शिष्य का आनन्द देख मुझे तो आनन्द आ गया। वे कहती हैं—जा रहे हो। जाओ, लेकिन जैसे मिले हो, मिले रहना।

और कौन सा तत्त्वज्ञान बाकी रहा, बताओ? पूरा हो गया न। उसके बाद बुलाकर कहती हैं—महाराज चरण वन्दना कर लेने दो। तो महाराज पाँव उठाकर उनके सिर पर रख देते हैं। उठ नहीं सकती थीं। कैसे उठेगीं? कैसे चरण स्पर्श करेंगीं? महाराज जी ने ही पाँव उठाकर उनके सिर पर रख दिया और कहा कि लो माताजी तुम्हारा ही है। हमारा नहीं है। तो ऐसे देहातीत जीवन का आनन्द पाना हमारे-आपके लिए इसी वर्तमान में सम्भव है।

ऐसा कैसे हुआ ? जैसे स्वामी जी महाराज ने बताया कि जीवन पर प्रयोग करो। किस का प्रयोग करें ? सत्य का प्रयोग करो। सत्य क्या है ? सत्य तो वह है कि जिसकी अपने लोगों को माँग है। माँग किस बात की है ? तो, अपने को परम शान्ति चाहिये। अपने को अमरत्व चाहिए। अपने को परम प्रेम चाहिए। तो, शान्ति की माँग है, अमरत्व की माँग है, परम प्रेम रस की माँग है। शान्ति अमरत्व और प्रेम यह तो सत्य है। यह अस्तित्व है। इसकी सत्ता है। इसमें नाश होने का दोष नहीं है। हम लोग जो इस समय झेल रहे हैं कभी हँसी, कभी खुशी, कभी हर्ष, कभी विषाद-यह हमारी भूल का परिणाम है। तो अपनी भूल को मिटा करके इन दशाओं से मुक्त हो जाना और जो सत्य है उससे अभिन्न हो जाना यही अपना प्रोग्राम है। इस प्रोग्राम के लिए अपने को पुरुषार्थ करना है। क्या पुरुषार्थ करना है?

अब इस पर भी थोड़ा विचार कर लें। क्या पुरुषार्थ करेंगे ? तो एक पुरुषार्थ करें—जिसकी सलाह स्वामी जी महाराज ने दी–(आज एक की चर्चा हो पायेगी)। कहते हैं कि जिन संकल्पों के शेष रह जाने के कारण तुम्हें जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा उन संकल्पों को छोड़ दो। ऐसे मैंने साधना के क्रम में अनुभव करके देखा है, जिसके आधार पर आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ। क्या अनुभव करके देखा है

कि जिस समय आपको कर्म को छोड़कर स्थूल शरीर से Free होना है और चिन्तन को छोड़कर सूक्ष्म शरीर से असंग होना है और कारण शरीर की स्थिरता से भी आगे अपने को जाना है, ऐसा लक्ष्य सामने रख कर थोड़ी देर के लिए आप चुप हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं, बिल्कुल अकेले में तो उस अकेलेपन की घड़ी में बड़ा आनन्द मालूम होता है। जीवन-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जिसके सम्बन्ध में हम सब लोगों के भीतर अनेक प्रकार का कौतूहल भरा हुआ रहता है। वह जीवन आपके भीतर प्रकट होता है।

उस शान्ति-काल में शान्ति से आगे जाने का अनुभव उस समय तक मुझे नहीं था। लेकिन केवल उस शान्ति-काल में मैंने ऐसा देखा कि पुराने संस्कार के प्रभाव से एक दम संसार की कोई बात याद आ गई तो संसार भासित होने लगा। जब तक संसार के सम्बन्ध की याद नहीं थी तब तक न शरीर था, न संसार था। यह मैं कल्पना नहीं सुना रही हूँ। यह मनुष्य के जीवन का ठोस सत्य सेवा में प्रस्तुत कर रही हूँ। स्थूल प्रवृत्तियों को छोड़ दी तो शरीर से सम्बन्ध टूट गया। चिन्तन की आसक्ति छोड़ दी तो चिन्तन से सम्बन्ध टूट गया। सम्बन्ध टूटता जाता है तो संसार लुप्त हो जाता है। न शरीर रहता है, न संसार। एक शान्तिमय अस्तित्व में आप अपने को अनुभव करते हैं। उस शान्ति-काल में मैंने अनुभव किया कि जब तक संसार के सम्बन्ध की कोई बात दिमाग में आई नहीं, प्रकट नहीं हुई, अहं में उसका स्फुरण नहीं हुआ, तब तक विलक्षण जीवन था, विलक्षण शान्ति थी, आनन्द था। कैसे संकल्प को स्फुरण हुआ? मैं कह नहीं सकती। लेकिन जैसे ही संकल्प स्फुरित होता है और अहं में से स्फुरित होकर मन के स्तर पर आकर प्रकट होता है, प्रकट हुआ नहीं कि एक दम से जादू-मन्तर लग जाने की तरह शरीर का भी भास होने लगता है, संसार भी दिखाई देने लगता है। विविध रूप-आकृतियाँ भी दिखाई देने लगती हैं। ऐसा चमत्कार है कि एकदम पलक मारते ऐसा लगता है। कि यह तो है संसार की हलचल वाली जिन्दगी। और एक बार आपने अपनी ओर से शान्ति को पसन्द किया नहीं कि इसके पार की अलौकिक जिन्दगी !

संतों के मुख से पहले मैंने सुना था कि फूल के तोड़ने में देर लगती है, पर सत्य से अभिन्न होने में देर नहीं लगती। संत की वाणी में विश्वास है, मेरी आस्था है कि अनुभव के आधार पर जो वे कहते हैं वह सत्य है। लेकिन उस सत्य को हम अपना सत्य कहकर जान सकें, अपने द्वारा अनुभव कर सकें, यह बात तो तभी सिऋ होती है जब जीवन पर प्रयोग करें। तब न परिणाम निकले ! केवल एक ही उपाय आज की चर्चा में आया कि संकल्पों के फेर में मत पड़े रहो।।

अब मैं आपके साथ मिलकर आपकी कठिनाइयों की चर्चा कर लें। आप कहेंगे और आप जैसे अन्य भाई-बहिन मुझसे कहते हैं, मैं भी इसमें शामिल हूँ, कि भाई हम तो घर-गृहस्थी वाले लोग हैं। सब कारोबार में फंसे हुए हैं। यदि सोचेंगे नहीं, योजना नहीं बनायेंगे, संकल्प नहीं रखेंगे, तो काम कैसे चलेगा। तो स्वामी जी महाराज की प्रणाली की एक विशेषता मुझे मालूम होती है। वे साधक की कठिन से कठिन परिस्थिति के स्तर पर आकर वहाँ से उपाय बताते हैं। यह नहीं कहते कि तुमसे नहीं होगा। वे कहते हैं कि जब तुम्हारे भीतर संकल्प आवे, तो थोड़ी देर के लिए तुम शान्ति से उस पर विचार कर लो। क्या विचार कर लें ? कि यदि अपने व्यक्तिगत सुख से सम्बन्ध रखने वाले संकल्प उठे, तो उनका तत्काल त्याग कर दो। अगर परिवार के लिए हितकारी संकल्प आ रहा है, समाज के लिए हितकारी संकल्प उठ

रहा है, तो उसका समर्थन करो और प्राप्त सामर्थ्य लगाकर उसे पूरा करके फ्री (Free) हो जाओ।

बड़ी सच्ची बात है कि अगर पर-हित की भावना का संकल्प उठा और उसको पूरा करने में आपने अपनी पूरी शक्ति लगा दी, तो आपका प्रयास सफल हो चाहे विफल। यह बिल्कुल जानी हुई बात है कि आप संकल्परहित हो जायेंगे। करके देखिए। प्रयोग करने की बात मैं कह रही हूँ। अगर ऐसा न निकले, तो मत मानियेगा। लेकिन यह अनुभवीजनों का अनुभवसिऋ सत्य है कि ऐसा ही निकलेगा।

जिसको अविनाशी चाहिए उसको नाशवान द्रश्यों में से अपनी पसन्दगी हटा लेनी चाहिए ।

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों !

हम सब लोग मनुष्य हैं। शरीरधारी होकर संसार में रह रहे हैं। संसार के प्रभाव से प्रभावित हो रहे हैं। सर्दी-गर्मी का प्रभाव हो रहा है, अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रभाव हो रहा है और इस तरह हम सभी भाई-बहिन संसार के प्रभाव से प्रभावित हो रहे हैं। अब विचार यह करना है कि जीवन की माँग क्या है? यह बनने-बिगड़ने वाला संसार जो है, जन्मने और मरने वाला शरीर जो है, यह तो नित्य है नहीं। यह निरन्तर परिवर्तनशील है। तो, इसका प्रभाव मुझ पर से उतर जाता और जो नित्य तत्त्व है, जो आनन्दमय है, जो प्रेममय है, जो सदा-सदा से सर्वत्र सदैव सभी में विद्यमान है, उसका प्रभाव हमको प्रभावित कर देता, तो हम सभी अपने को आनन्दस्वरूप में पाते, प्रेम-रस से छके हुए पाते। जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त अपने को पाते, तो बहुत अच्छा होता।

एक प्रभाव को हम हटा देना चाहते हैं। जो निरन्तर परिवर्तनशील दशाएँ बीत रही हैं इनको, इनके प्रभाव को, हम अपने पर से हटा देना चाहते हैं। तो जो बनने-बिगड़ने वाला है, उसके प्रभाव से हम मुक्त हो जायें और जो सदा-सदा के लिए रहने वाला है, सदा ही विद्यमान है, उसकी विद्यमानता से हम स्वयं आनन्दित हो जायें यही मानव-जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम है, जिसको कि इसी वर्तमान में हम लोगों को पूरा करना है। इसके लिए उपाय क्या करें ? तो आज एक दूसरे ढंग से उपाय पर विचार करिए।

. कल की बैठक में हम लोगों ने इस विषय पर विचार किया कि जिसको शान्ति चाहिए, जिसको अमर जीवन चाहिए, जिसको परम प्रेम से भरा हुआ जीवन चाहिए, उसको अपना व्यक्तिगत संकल्प नहीं रखना चाहिए। तो संकल्प-रहित जीवन में शान्ति आती है। शान्ति ही वह भूमि है जिसमें हम अपने को संसार के लगाव से हटा लेते हैं। उसके आगे वह जीवन है जिसमें आनन्दस्वरूप की, प्रेम स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है। कल इस विषय पर थोड़ी सी चर्चा हुई थी।

अब आज इस ढंग से विचार करें कि आपको स्वयं अपने द्वारा इस बात का पता चल जायेगा कि अभी हम सभी शरीर को लेकर के बैठे हैं। बातचीत करने के लिए। तो बातचीत हो रही है-सत्य की चर्चा हो रही है, अविनाशी जीवन की, लेकिन किसी की सहायता से चर्चा हो रही है ? नाशवान शरीर की सहायता से। ठीक है। यह स्वर-यन्त्र जो काम कर रहा है यह यन्त्र नाशवान है कि अविनाशी है ? नाशवान है। आप बैठे हैं सुनने के लिए। सुन रहे हैं अविनाशी जीवन की चर्चा, सहायता ले रहे हैं नाशवान ध्वनि-यन्त्रों की।

नाशवान की सहायता से हम लोग अविनाशी की चर्चा कर रहे हैं। तो चर्चा में रहस्य क्या है? इस चर्चा में रहस्य यह है कि भाई ! जब तक तुम स्वर-यन्त्र को अपने लिए आवश्यक मानोगे, जब तक तुम नाशवान को अपने लिए आवश्यक मानोगे और उस नाशवान को पकड़ के रखोगे, तब तक तुम्हारे ही भीतर में जो अविनाशी तत्त्व विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का तुम्हें बोध नहीं होगा।

सत्संग का अर्थ क्या निकला ? कि यह बोलना और सुनना जो है। यह तैयारी हो रही है। किस बात की ? कि न बोलने और न सुनने के जीवन में शान्त होने की। तो महाराज जी कहते हैं कि भाई, प्राप्त वही होता है जो नित्य प्राप्त है और त्याग उसी का होता है जो सदा से छूटा हुआ है। बिल्कुल सच्ची बात है। जो सदा से छूटा हुआ है उसी के बारे में अपने को समझना है कि हमने इसको छोड़ दिया और जो नित्य-प्राप्त है, अपने में विद्यमान है, उसी का अनुभव कर लेना है कि हाँ, यह ठीक है। विद्यमान है। तो खोज नहीं करनी है उसकी प्राप्ति के लिए, कुछ नहीं करना है। उसको बनाना नहीं है। उसको उपजाना नहीं है। वह तो सदा से आप में विद्यमान ही है। तो अब क्या होता है कि आँखें बन्द करके बैठी। सहज है आँखों को बन्द करना, तो हम लोग बन्द कर लेते हैं। आँखें बन्द करके बैठी तो बन्द आँखों से बाहर का स्थूल दृश्य तो नहीं दिखाई देता, लेकिन कितने जन्मों से हमने बाहर के दृश्यों को देख-देख करके उनका चित्र जो मानस-पटल पर अंकित कर लिया है वे चित्र बाहर से आँखें बन्द कर लेने पर मन के स्तर पर दिखाई देते रहते हैं। व्यक्ति परेशान हो जाता है। क्या बताएँ–संसार का चिन्तन छूटता ही नहीं है, मन शान्त होता ही नहीं है। निर्विकल्पता आती ही नहीं है। भगवान् का ध्यान बनता ही नहीं है। निश्चिन्तता, निर्विकारिता आती ही नहीं है।

इस तरह की तकलीफ साधकों को होती रहती है और एक बनी-बनाई परिपाटी के अनुसार दुनिया में रहते हुए सब काम करते हुए असत्य के संग का सुख लेने की इच्छा रखते हुए हम सब लोग समाधि का आनन्द लेने की चेष्टा करते रहते हैं। हारते रहते हैं, असफल होते रहते हैं, दुखड़ा रोते रहते हैं। यह होता रहता है। तो अब क्या करें? तो एक काम करें।

बहुत ही वैज्ञानिक कदम है। साधक-समाज के लिए बहुत उपयोगी है। वह क्या है ? कि जिस विधि से तुम्हें सफलता नहीं मिल रही है, उस विधि को छोड़ दो। यह वैज्ञानिक सत्य है मानव-जीवन का कि जिसको आप पसन्द करते हैं उसमें आपका मन लग जाता है। जिसको पसन्द नहीं करते हैं, उससे मन हट जाता है। तो मन का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मन एक समष्टि शक्ति का अंश है और चूँकि हम लोग शरीरधारी होकर दुनियाँ में रहते हैं, तो शरीर के साथ बाह्य वातावरण का अभियोजन (Adjustment) चाहिये। मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ—ये सब साथी हम लोगों को मिले हैं शरीरों को लेकर के संसार में निर्वाह करने के लिए। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। ये अपने आप में दोषी नहीं होते।

इनका अपना अलग कुछ नहीं होता। ये समष्टि शक्तियाँ हैं। हमको मिली है काम करने के लिए। तो अब क्या करना चाहिये। तो इस वैज्ञानिक सत्य को, मनोवैज्ञानिक सत्य को-अपने सामने रखो कि भाई जिसको हम पसन्द करेंगे उसमें हमारा मन लगेगा। तो हम लोग चाहते क्या हैं? चाहते हैं कि संसार में से अपने मन को हटा दें।

किसलिए चाहते हैं ? इसलिए कि मन बेचारा तो एक ही है। अगर हम उसको संसार में फंसा कर रखेंगे तो परमात्मा में लगेगा नहीं। तो साधक-जन जो होते हैं, वे क्या चाहते हैं, कि मन

को संसार में से हटा दें। उपाय क्या होगा? कि मन को कुछ मत कहो। उस बिचारे को छोड़ दो जैसा है। अपने भीतर इस सत्य को स्वीकार करो कि जहाँ मेरी पसन्दगी होती है वहाँ मन लगता है। तो संसार से अगर मन को हटाना है तो अपने भीतर से संसार की पसन्दगी निकाल देनी चाहिये।

आँख बन्द करके बैठना चाहिये, कि कान बन्द करके बैठना चाहिए, कि श्वांस रोक करके बैठना चाहिए कि इस भवन में बैठना चाहिए, कि जंगल में पेड़ के नीचे बैठना चाहिये—इससे कोई अन्तर नहीं आता है। शरीर सदैव संसार में रहता है। और दोष न शरीर का है, न संसार का और न ही परमात्मा का है। अगर मेरे भीतर हलचल है, अशान्ति है, पराधीनता की पीड़ा है, मृत्यु का भय है, तो इसमें केवल मेरा दोष है, न संसार का है, न संसार के मालिक का है। इस बात को मानिएगा कि नहीं ? जी ? संसार का दोष इसलिए नहीं है कि संसार पर-प्रकाश्य है। वह आप जैसे चेतन पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। आप स्वीकार करते हैं तो प्रभावित करता है। आप अस्वीकार कर देते हैं तो निरस्त हो जाता हैं। एक आनन्द की बात याद आ गई।

स्वामी जी महाराज एक बार अपने मित्र के साथ घूमने गए बाग-बगीचे में नगर के बाहर। जल की जरूरत पड़ी तो साथी से कहा.....? कि देखो भई, कहीं आसपास में जल है? तो एक बगीचे में जल का नल दिखाई दिया तो उन्होंने कहा-हाँ महाराज है। स्वामी जी ने कहा-ले चलो मुझको ! तो गये। वहाँ बैठकर नल को खोलकर महाराज जी ने हाथ-पाँव धोना, कुल्ला करना, मुँह धोना शुरु किया। बगीचे का मालिक जो था वह बिगड़ता हुआ आया, खूब गाली देने लगा—कौन है ? कैसे घुस आया बिना पूछे? तो बेचारे सज्जन दौड़े-दौड़े आये स्वामी जी के पास, कहने लगे, महाराज जी ! महाराज जी !! माली तो बहुत गाली दे रहा है। तो महाराज जी ने हँस कर कहा कि भैया, जाओ, माली से कहो कि हम गाली नहीं लेते हैं। वह दे ही तो रहा है। देना उसके अधिकार में है तो वह दे रहा है, लेकिन तुमको तकलीफ तब होगी जब लोगे। तो जाओ भैया, उसको कह दो कि गाली नहीं लेते हैं। हम नहीं लेते, बात खत्म हो गई। अब तुम देते रहो। हम पर प्रभाव तो तब पड़ेगा जब लें उसको। तो मैं नहीं लेता हूँ। बात खत्म हो गई।

तो इस तरह से आप देखेंगे कि यह जड़ जगत् जो है यह आपको बाँध नहीं सकता, आपको प्रभावित नहीं कर सकता, आपको पराधीन नहीं बना सकता, आपको दुखी नहीं बना सकता। यह तो कुछ नहीं कर सकता है। आप मनुष्य हैं, सचेत हैं, आप अपनी तरफ से सोच करके देखिए, तो आपको पता चलेगा कि मेरे दुःख का कारण कोई और नहीं हो सकता है। मैं ही हूँ। और उपाय क्या है ? कि जहाँ से मन को हटाना है उसे पसन्द करना बन्द कर दो। तो अब एकदम हट जायेगा मन वहाँ से और जिसमें तुम अपने को लगाना चाहते हो, उसको पसन्द करो। जो लोग उस अविनाशी जीवन के आनन्द को जानने के लिए परिवर्तनशील नाशवान संसार को अपने लिए नापसन्द कर देते हैं, वे पार पा जाते हैं। तो जिसमें से मन को हटाना है उसको नापसन्द कर देना—यह मूल उपाय है। इससे न संसार की कोई क्षति होगी, न आपको कुछ होगा। उसकी नापसन्द करने की बात है।

अब दूसरा प्रश्न लीजिये कि हम नापसन्द कैसे कर दें ? हमको तो उसमें बहुत काम करना है और हमारे परिवार में बहुत से सदस्य हैं, उनका पालन करना है और मुझे तो संसार से बहुत कुछ लेना है, तो हम कैसे नापसन्द कर दें? तो जरा-सी

बात है लेकिन बहुत सूक्ष्म है। वह क्या? कि मैं कह रही हूँ आपको कि जिस संसार से आप अपने मन को हटाना, चाहते हैं, उस संसार को अपने लिए नापसन्द कर दो। अपने लिए नापसन्द कर दो। इस वाक्य पर ध्यान देना। तो अपने लिए नापसन्द कर देंगे। बाकी ?

कभी-कभी मैं आनन्द में आती हूँ तो कहती हूँ कि हे भगवान् ! हे मेरे प्यारे ! आपकी प्यारी-प्यारी सृष्टि आबाद रहे। मैं इस सृष्टि में से अपने लिए कोई बात पसन्द नहीं करती हूँ। और बाकी तो मेरे प्यारे की सृष्टि है। जब वे मुझे प्यारे लगते हैं तो उनकी सृष्टि क्यों नहीं प्यारी लगेगी ? उनका प्रेम मुझको अभीष्ट है, तो सृष्टि की सेवा क्यों नहीं अच्छी लगेगी ? तो बाल-बच्चों को ठीक तरह से शिक्षा देना है, पोषण देना है, सम्हाल करके माँ-बाप बनने के राग से मुक्त होना है, तो बाल-बच्चों की सेवा के लिए क्यों नहीं संसार में प्रवृत्त होंगे? वृऋ माता-पिता की सेवा के लिए

क्यों नहीं संसार में प्रवृत्ति होगी? तो जो लोग सेवा के लिए संसार के प्रभाव से मुक्त हो जाते हैं। जो लोग अपने सुख के लिए संसार की ओर देखते हैं वे संसार के बन्धन में फंस जाते हैं। तो उपाय क्या निकाला कि संसार को अपने लिए नापसन्द कर दें। क्यों नापसन्द कर दें? तो इसलिए नापसन्द कर दें कि जो बनने-बिगड़ने वाला है वह मुझको नहीं चाहिये क्योंकि मुझे अजर-अमर अविनाशी, आनन्दमय, ज्ञानमय, प्रेममय, शान्तिमय जीवन चाहिए। तो जिसको अविनाशी चाहिए उसको नाशवान दृश्यों में से अपनी पसंन्दगी हटा लेनी चाहिए। आपकी पसन्दगी उसमें से हट जायेगी, तो उसका प्रभाव आप पर से चला जावेगा।

एक मनुष्य के व्यक्तित्व में थोड़ी शक्ति होती है, थोड़ी सी योग्यता होती है, छोटा-सा काम करने का क्षेत्र होता है। आपने देखा होगा कि जब आप अकेले बैठते हैं तो आपका एक छोटा-सा परिवार एक छोटा-सा कारोबार-दुनियाँ का एक छोटा-सा रूप-आपके चिन्तन में आता है। सारा संसार आपके चिन्तन में नहीं आता है। सारे संसार की याद आपको नहीं आती है। जब कोई भी मौका होता है अकेले होने का तब आपके भीतर चिन्तन का उदय होता है, तो किसका होता है ? अगर आप सोचकर देखेंगे तो लगेगा कि जिन व्यक्तियों से कुछ लेना है, उनकी याद आती है। जिन व्यक्तियों को कुछ देना है, उनकी याद आती है। जिन व्यक्तियों से अपनी ममता है उनकी याद आती है, सबकी तो नहीं आती है। तो इसका मतलब यह है कि जहाँ-जहाँ मैंने अपनी ममता की स्टैम्प लगा दी है बस वही सब मेरे भीतर भरा रहता है। तो महाराज जी ने तीन बातें कहीं

उन्होंने कहा कि देखो, तुम संसार में रहते हो तो जगत् के नाते सभी को अपना मानो। आत्मा के नाते सभी को अपना मानो। परमात्मा के नाते सभी को अपना मानो। अगर ऐसा करोगे तो संसार तुम्हारे भीतर भरेगा नहीं, प्रत्युत् उसका उल्टा होगा। क्या होगा कि अपने लिए मुझको संसार। चाहिये नहीं और संसार का दिया हुआ अपने पास जो कुछ है वह सब। संसार को वापिस कर दो। तो नया लेना बन्द कर दो और पहले का लिया है वो सब वापिस कर दो, तो संसार तुम्हारे भीतर से निकल जावेगा।

तो हम लोग आँख-कान बन्द करके मन में उठने वाली गति को रोक करके, समाधि का आनन्द लेना पसन्द करते हैं और जो असली उपाय है कि संसार से लेना बन्द कर दो, और देने के लिए जो सामग्री तुम्हारे पास बचीखुची है सब दे डालो तो संसार का चिन्तन तुम्हारे भीतर से निकल जायेगा। असली उपाय तो यह है। तो

असली उपाय को पसन्द कहा- न करो, असली उपाय करने के लिए हिम्मत न करो और जबरदस्ती मन में उठने वाले चिन्तन को रोकने की चेष्टा करो, तो इससे आज तक न किसी को सफलता मिली है, न मिलेगी। पकड़ में आती है यह बात?

अब देखिये--कितने आश्चर्य की बात है। कभी-कभी तो अपनी गरीबी पर बहुत ही दया आती है मुझे। आदमी कितना गरीब है। देखो। संसार तो हमेशा ही तुम्हारे से छूटा हुआ है। 'मैंपन' जो है हम लोगों का, "मैं" करके जिसको हम सम्बोधित करते हैं, उसमें यह शरीर भी कभी घुसता नहीं है। शरीर भी हमेशा बाहर ही बाहर है। वह 'मैं' बना है अविनाशी तत्त्वों से, शरीर बना है भौतिक तत्वों से। तो उन अविनाशी तत्त्वों से बना हुआ जो अहम् रूपी अणु है, मैंपन है उसमें वह शरीर ही नहीं घुसता है, तो मकान कहाँ तक घुसेगा ? सामान कहाँ तक घुसेगा? दुकान कहाँ तक घुसेगी? तो ये सारी चीजें तो बाहर हैं। भीतर नहीं हैं। भीतर क्या है? शरीर की आसक्ति है, धन का लोभ है, पद का लोभ है, सुख की वासना है, दु:ख का भय है।

वासना का कभी स्थूल आधार (Concrete form) आपने देखा है ? ऐसे कि इसमें से कुछ निकाल के रख सकते हैं बाहर, कि यह वासना है? नहीं ना। अच्छा धन को आप निकाल कर रख सकते हैं कि यह हमारी सम्पत्ति है। लेकिन उसका लोभ जो आपको सता रहा है उस लोभ का कोई स्थूल रूप (Concrete form) बना सकते हैं? नहीं बना सकते। हमने मान लिया तो वह पैदा हो गया और ज्ञान के प्रकाश में उसको त्याग दिया, तो वह मिट गया। कितनी अस्तित्व-विहीन ये बातें हैं और कितना बेचैन करने वाली हैं कि एक जन्म की तो कौन कहे, न जाने कितने जन्म हमारे बर्बाद होंगे ! धन से बर्बाद नहीं होता है कोई व्यक्ति- धन के लोभ से होता है। शरीर से कोई बर्बाद नहीं होता है--शरीर की आसक्ति से बर्बादी होती है। सम्मान मिला है, पद मिला है, अधिकार मिला है–समाज की सेवा करने के लिए। परिवार का दिया हुआ, समाज का दिया हुआ, राष्ट्र का दिया हुआ, सरकार का दिया हुआ, वह सब कुछ अपने को मिला है पद के रूप में, अधिकार के रूप में, तो सेवा के लिए मिला है। इससे किसी का कोई नुकसान नहीं होता। लेकिन इसका लोभ हम अपने भीतर रख लें, तो जब कभी प्रातः काल, संध्या काल, रात्रि में हम सोचेंगे कि यह तो मेरा अपना फ्री टाइम है, अभी मैं अपनी साधना में रह सकता हूँ तो अभी शान्ति-सम्पादन हो सकता है, अभी समाधि का आनन्द लिया जा सकता है, अभी अपने भीतर जो अविनाशी तत्त्व विद्यमान है। उसकी अभिव्यक्ति का आनन्द लिया जा सकता है—ऐसा सोचकर के अगर थोड़ी देर के लिए चुप होना चाहेंगे, अकेले होना चाहेंगे, तो नहीं हो पायेंगे।

क्या होगा? कि दुकान में तो ताला बन्द करके आये, एकाउन्ट तो सब बैंक में है, परिवार के सब लोगों को कह दिया कि यह तो मेरे एकान्त का समय है, मेरे पास कोई मत आना। तो सब लोग हट गये। आपको छोड़ दिया कि आपका एकान्त का समय है। तो संसार को तो छोड़ दिया? लेकिन दुकान कहाँ है? मकान कहाँ है? एकाउन्ट कहाँ है ? परिवार कहाँ है ? तो अकेले आप हो नहीं पाए। क्या हो गया ? वस्तुएँ सब बाहर-बाहर हैं और वस्तुओं के लगाव से अपने में चिन्तन पैदा हुआ, उसने आपको परेशान कर दिया। ऐसा होता है। तो संसार का नाश करना है? कि वस्तुओं को समुद्र में डालना है? कि बाल-बच्चों का पालन बन्द करना है? कि कारोबार बन्द करना है, कि अपने

भीतर का दोष मिटाना है ? कैसे होगा भाई? घर छोड़ करके वन में जाओगे, तो शरीर को लेकर के ही जाओगे। और उसी व्यक्ति में संसार का लोभ, मोह, भय, राग द्वेष भरा हुआ है, तो शरीर को लेकर बैठोगे वन में और सारा संसार बैठा रहेगा तुम्हारे मन में। तो क्या करोगे फिर ? कोई फायदा नहीं होगा। इसलिए क्या करना चाहिए?

समाज में रहने का अवसर मिला है, तो यह प्रकृति के विधान से मिला है और इसकी विशेष उपयोगिता है। माता-पिता बनने का अवसर मिला है, तो प्रकृति के विधान से मिला है और इसकी विशेष उपयोगिता है। क्या उपयोगिता है ? कि जब तक समाज में रहने को मिला है, उसी अवसर के भीतर समाज से जितना लिया है हमने वह सब सद्भावनापूर्वक सधन्यवाद वापिस करने का अवसर मिला है। माता-पिता बनने का अवसर जो मिला है वह इसलिए मिला कि अब तक हम बाल-बच्चे पैदा करने के राग से अपने को ऊपर नहीं उठा सके, तो उदार विधान ने, मंगलकारी विधान ने मुझको माँ-बाप बनने का एक अवसर दे दिया। तो उसकी उपयोगिता क्या है कि इस बार इस वर्तमान में, इस जीवन में माता-पिता बनने का अवसर जो मिला है तो बच्चों के प्रति इतनी सेवा, इतनी हितकारिता, अपनी सब सुख-सुविधा छोड़ करके उनके विकसित जीवन के लिए पालन-पोषण में इतनी सेवा कर दो कि सदा-सदा के लिए माँ-बाप बनने का राग खत्म हो जाय। और नहीं तो महाराज जी कहते कि क्या होता है कि बाल-बच्चों का राग भीतर रह गया और प्रतिकूलता से घबरा करके उनको छोड़ कर भाग गए तो वही राग आगे चल करके चेले-चेलियों के साथ लग जाता है। महल छोड़ करके भाग गए तो वही आसक्ति जाकर कुटिया में, आश्रम में चिपक जाती है। तो बाहर से देखने में परिस्थिति परिवर्तित हो गई लेकिन अन्दर से दशा में परिवर्तन नहीं हुआ। इसलिए यह मत सोचो कि जब मुझको नगर छोड़ने का मौका आवेगा तब मैं साधक बनूंगा, कि रिटायरमेंट के बाद जीवन की चर्चा करने का मौका आवेगा, तब करूंगी। ऐसा मत सोचो। तैयारी की घड़ी आज है।।

आज से ही तैयारी करना आरम्भ कर दें। 'क्षणदेव चिन्तनिका' की एक बात मुझे याद आ गई। बड़ी बढ़िया बात लिखी है। क्षणदेव महाराज ने यह लिखा है कि 'छुड़ाने की बातें सब मेरे भीतर ही थीं, उनको मैंने छोड़ दिया। और सब छोड़ने की कल्पना भी छूट गई, अर्थात् छोड़ने की बातें तो सब भीतर ही होती हैं। उनको छोड़ दें तो फिर छोड़ने की कल्पना भी छूट जाती है।

यह तो हम लोगों के लिए, सबके लिए लागू होने वाली है कि भाई, त्याग की बात तो भीतर ही होती है और सब छोड़ने के बाद फिर त्याग का अभिमान भी छूट जाता है, रहता नहीं है। इसकी जरूरत नहीं रह जाती है। इसलिए आज अपने सभी आत्मीय सत्संगी प्रेमी भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हैं कि उस जीवन की तैयारी के लिए आज ही शुभ घड़ी है। यह वर्तमान ही हमारे हाथ में है, इसलिए आज से आरम्भ कर दें। जिज्ञासा की जागृति समस्त स्वीकृतियों का अन्त कर सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से विमुख कर देती है और फिर स्वतः 'स्व' में ही विचार का उदय होता है, जो जिज्ञासा पूर्ति में समर्थ है।

स्थूल दृश्य से असंगता मानव बुद्धि-दृष्टि से भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु सूक्ष्म तथा कारण दृश्य से असंगता तभी होती है, जब बुद्धि-दृष्टि सम हो जाए और निर्विकल्प-स्थिति में रमण न हो।

प्रवचन 4

सत्संग-प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों!

जीवन के सत्य पर विचार करने से ऐसा स्पष्ट होता है कि जो वास्तविक जीवन है उसमें अभाव नहीं है, नीरसता नहीं है, दुःख नहीं है। हमारी जो अपनी दशा है वह इसके विपरीत है। अपने में नीरसता भी हम पाते हैं, दुःखी भी होते हैं, अभाव भी सताता है।

जीवन की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता और आस्तिकता, तीनों ही दृष्टिकोणों से विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि जो दिव्य चिन्मय जीवन है, वह सब समय हमारे भीतर-बाहर भरपूर है और हमारा साथ उसने कभी छोड़ा नहीं। ऐसा किस आधार पर हम मानते हैं? ऐसा इस आधार पर मानते हैं कि हम लोग इसी वर्तमान क्षण में अपनी सत्ता का अनुभव करते हैं जैसे आप दरवाजा खटखटायें और मैं पूँछु कौन है? तो आप कहेंगे कि 'मैं हूँ। मैं हूँ इस बात की पक्की जानकारी अपने लोगों को रहती है, कि नहीं? रहती है। मैं-पन का जिसको आभास हो रहा है, अर्थात् जो अपने अस्तित्व को अपने द्वारा अनुभव कर रहा है, वही व्यक्ति उस सत्ता को कैसे इन्कार करेगा, जिसमें से यह मैं-पन बना है? तो मेरी सत्ता अगर है, मैं अपने अस्तित्व का अनुभव करती हूँ, तो उस परम सत्ता को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिसमें से उस 'मैं' की रचना हुई है। इस तरह से उस परम सत्ता को विचारकों ने भी माना और विश्वासियों ने भी माना। और दोनों ही दृष्टियों से मैं निवेदन कर रही हूँ कि वह परम वह मौलिक अस्तित्व, वह स्वयं प्रकाश ज्ञानस्वरूप, प्रेमस्वरूप सब समय सब जगह पर समान रूप में विद्यमान है। तो सभी भाई-बहनों को उसकी विद्यमानता का पता चलना चाहिये, कि नहीं चलना चाहिए? जी ? चाहिए।

केवल ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से थोड़ी देर के लिए अपनी दशा पर विचार करें, तो पायेंगे कि प्रायः हम लोग ईश्वर को अन्तर्यामी घट-घट वासी कहते ही हैं। तो जो घट-घट वासी है, जो अन्तर्यामी है, जो सब समय उपस्थित है, उसकी उपस्थिति का अगर अपने को आभास होता, तो हम किसी भी परिस्थिति से भयभीत अथवा चिन्तित नहीं होते। यदि पतित पावन परमात्मा की विद्यमानता को हम सब लोग मानते, तो अपने भीतर अपराधी-भाव से पीड़ित नहीं होते। अगर दीनबन्धु, दुःखों के नाश करने वाले, दुःखहारी हरि की उपस्थिति को हम लोग मानते, तो किसी भी दुःख की घड़ी में अधीर नहीं होते। अतः पहली बात तो हम लोग यह सीखें कि ईश्वर को मानने वाले हम हैं, कि नहीं हैं। तो यही कहना होगा कि हम लोग ईश्वर को मानते हैं और उनको सर्वसमर्थ मानते हैं।

फिर भी अपने असमर्थता-काल में घबराते क्यों हैं? सामर्थ्यवान अपना, बनाने वाला वह मेरा निर्माता भी है, जन्मदाता, जीवनदाता भी है। उसको हम अपना रक्षक भी मानते हैं। उसको अपना प्रेमी और हितकारी भी मानते हैं और उसकी उपस्थिति भी सब समय, सभी जगह समान रूप से है। इतना मानने का फल अपने लोगों को होना चाहिए था। क्या होना चाहिए था ? कि किसी काल में हम भयभीत नहीं होते, किसी काल में हम चिन्तित नहीं होते, किसी काल में अपने को उनसे बिछुड़ा हुआ अनुभव नहीं करते। कहीं-न-कहीं कुछ तो गलती है। दुःखहारी हरि भी मौजूद हैं,

और हम उनको मानने वाले भी मौजूद हैं, फिर भी दुःख का भार अपने सिर पर ले रहे हैं।

सूरदास जी ने अपने पदों में गा करके सुनाया हम लोगों को सुने री मैंने निर्बल के बल राम'। तो निर्बल के बल हैं वे। अधमों का उद्धार करने वाले हैं, पतितों को पवित्र करने वाले हैं, भक्तों को आनन्द देने वाले हैं। ज्ञानियों से ज्ञानस्वरूप होकर मिलते हैं। योगियों से परम तत्त्व होकर मिलते हैं। प्रेमियों से परम प्रेमास्पद होकर मिलते हैं। इन बातों को हम लोगों ने सुन भी रखा है और मानते भी हैं। तो मानने का फल यह होना चाहिए था कि हमारे भीतर से भय और चिन्ता निकल जाती। अब अपना-अपना जीवन, वर्तमान क्षण में अपने दिल को टटोल करके देखो कि हम सब ईश्वर के मानने वाले भय और चिन्ता से मुक्त हो गए कि अभी भी भयभीत और चिन्तित हैं? अगर हैं तो इसका अर्थ यह है कि हम ईश्वरवादी नहीं हैं। ऐसा कहना भी अपने को अच्छा नहीं लगेगा कि हम ईश्वरवादी नहीं हैं, क्योंकि हम सब लोग किसी-न-किसी रूप में उनका नाम लेते ही रहते हैं। तो यह एक अपने जीवन की दुविधा, मनुष्य के जीवन का यह एक द्वन्द्व है, जिसको सामने रखकर मैं सत्संग प्रेमी भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन करना चाहती हैं कि हमारा-आपका आज का पुरुषार्थ यह है कि यह दुविधा मिट जाये। अब इसको मिटाने के लिए हम क्या करें ?

स्वामी जी महाराज की सलाह मानें। उन्होंने अपनी दुविधा को मिटा लिया था। बड़ी असमर्थता की घड़ी में ईश्वर की शरणागति को स्वीकार किया था। छोटी उम्र थी, दस-ग्यारह वर्ष की और दोनों आँखें चली गई। तो पढ़ना-लिखना नहीं हो सकता था, धन-उपार्जन नहीं हो सकता था, सुखपूर्वक दुनियाँ में रहना नहीं हो सकता था। ऐसी दुःख की घड़ी में किसी संत ने उनको सलाह दी कि कोई चिन्ता की बात नहीं है, आँखें चली गई तो क्या हुआ? तुम सर्व समर्थ प्रभु की शरणागति स्वीकार करो। और उन्होंने स्वीकार कर ली और प्रभु की शरणागति स्वीकार करने के बाद कभी भी उनको किसी प्रकार से असमर्थता, दुःख, चिंता और भय का भार सहन करना नहीं पड़ा। इसी आधार पर मैं ईश्वर-विश्वास के पंथियों को उनके वचन सुना रही हूँ। | हमसे गलती क्या हुई ? हमसे गलती यह हुई कि हमने ईश्वर की सत्ता को तो माना और उनको अपने जीवन का आधार बनाना भी पसन्द किया। लेकिन जहाँ-जहाँ हमें जरूरत पड़ी, वहाँ-वहाँ तो हमने ईश्वर को अपने जीवन का आधार मानी और जहाँ-जहाँ उन्हीं का दिया हुआ बल हमारे काम आया, तो वहाँ-वहाँ हम अपने अहं का पोषण करते रहे। यह भूल हो गई।

दुनियाँ में काम करने चले। अगर बुद्धि काम कर गई तो वाह ! मेरी बुद्धि बहुत अच्छी है। देखो, मैंने कैसे यह काम निकाल लिया। अगर शरीर को बल काम आ गया तो देह का अभिमान थोड़ा पुष्ट हो गया। बड़ा बलवान है शरीर मेरो। कामं मैंने कर लिया तो बुद्धि काम आ गई, तो मेरा बले काम आ गया, तो चालाकी-चतुराई काम आ गई, तो मेरे नाते-रिश्ते, कुटुम्बी काम आ गए, तो यह सब मेरी। यह बड़ी भारी भूल हमसे होती है कि जहाँ हम असमर्थता अनुभव करते हैं, वहाँ कहते हैं हे प्रभु ! मैं सब तरह से तुम्हारी शरण में हूँ। और जब वह काम अपना निकल गया, तो भीतर से ऐसी प्रतिक्रिया होती हैं-मैंने अनुभव करके देखा है। अपने सम्बन्ध में तो पक्की जानकारी है मुझे और आप सभी भाई-बहन चाहें तो अपनी जानकारी का लाभ ले सकते हैं।

मैं दुनियाँ के काम की बात नहीं कह रही हूँ कि धन घटा था और धन की चिन्ता थी और मिट गई कि संतान के न होने की दुःख थी और संतान मिल गई, कि कोई मान में बाधा पड़ रही थी, मान,

बढ़ाई प्रशंसा, सम्मान घट रहा था और ईश्वर को पुकारा तो इज्जत रह गई और सम्मान की रक्षा हो गई। यह मैं नहीं कहती हैं। यह तो बहुत छोटी बात है। मैं साधने सम्बन्धी बात कहती हैं कि जहाँ जहाँ पर मन और चित्त की विकृति से मैं स्वयं बहुत दुःखी होती तो स्वामी जी महाराज की सलाह लेती कि क्या करूं?

महाराज जी कहते हैं कि देखो देवकी जी, गाय का एक नया बच्चा जो पैदा होता है, तुमने देखा होगा? हाँ, महाराज मैंने देखा है---बचपन में घर में गाय रहती थी, देखा है मैंने। तो उन्होंने कहा कि गाय का बच्चा जब पैदा होता है तो कितना असमर्थ और कितना गंदा होता है। गंदी धातुओं से लिपटा होता है, लेकिन वह करुणामयी गऊमाता जीभ से चाट चाट कर उसको साफ कर देती है। देखा है तुमने ? हाँ, स्वामी जी महाराज मैंने देखा है। तो लाली, गाय के तुरन्त जन्मे हुए बच्चे की तरह कितनी भी असमर्थ और गंदी क्यों न हो, तुम अपनी सारी गन्दगी सहित उस जगज्जननी, उस जगत्पिता की शरण में अपने को छोड़ दो। तुम छोड़ दो अपने को। तुम चित्त की विकृतियों से संघर्ष मत करो। तुम तो प्रभु की शरण में अपने को डाल करके छोड़ दो। तो वे करुणा सागर, वे जगत्-जननी करुणामयी माँ तुम्हें अपनी कृपा से अपनी अहैतुकी कृपा से साफ सुथरी बना देंगे। अपनी भक्ति के लायक बना लेगी। अपने प्रेम का पात्र बना लेंगी। तुम चिन्ता मत करो।। | सलाह मिल गई। भाई, तो एक कहावत ऐसे कहते हैं कि "मरता क्या न करता।" तो ऐसी दशा होती कि अपने भीतर की परेशानियों से परेशान। क्रोध नहीं मिट रहा है, लोभ नहीं मिट रहा है, सुख की दासता भी जीवन में से नहीं निकलती। कुटुम्बियों का चिंतन भी नहीं निकलता है, तो साधक के लिए यह महारोग है। यह सब निकले नहीं तो आगे बढ़े कैसे आदमी ? ऐसे रोग से पीड़ित होकर भगवत्-भक्त, संत की सलाह लेकर थोड़ी-थोड़ी देर के लिए मैं उन महामहिम की शरण में, उन करुणासागर की शरण में अपने को डाल देती और अपनी हार स्वीकार करके डाल देती, बहुत ईमानदारी से। अपनी ईमानदारी के गीत गाऊँ मैं आपके सामने। ईमानदारी किस बात में ? कि मैं उनसे कहती, कि मैं क्या बताऊँ ? आपने बहुत साफ सुथरा बढ़िया-बढ़िया सामान मुझको दिया था। इस दुनियाँ में आ करके सुख के लालच में पड़ करके सुख-भोग की तृष्णाओं से प्रेरित होकर के मन को, चित्त को सबको मैंने गंदा कर लिया है। अब हे कृपालु। हे करुणासागर। मैं बहुत ही सच्चाई के साथ कोशिश करके हार गई हूँ, अब मेरे द्वारा इस जीवन की अशुद्धि का नाश नहीं हो रहा है। आपके परम मित्र मेरे सदगुरु ने मुझको सलाह दी है कि मैं आपसे प्रार्थना करूं, अपने को छोड़ दें। अब हे कृपालु, आप अपनी कृपा से सम्हालें। प्रयोग करती हुए मैं आई थी न विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला से। तो प्रयोग का ही दृष्टिकोण रहता था। बड़े विश्वास के साथ और बड़ी श्रद्धा के साथ नहीं। एक हारा हुआ व्यक्ति, जिसका अपना कोई वश नहीं चलता है क्या करेगा? तो झख मारकर यह सोचकर कि भाई अपने से कोई काम बना ही नहीं तो संत जैसा कहते हैं वैसा करके देखो, क्या होता है। तो जब-जब मेरे दिल का भार उतर जाता, जब-जब वर्तमान क्षण की अशुद्धियों के हट जाने से बड़ा आराम मिलता भीतर से तो मैं अपनी नादानी क्या बताऊँ आपको, चित्त की शान्ति, मन की शान्ति, भार का हल्कापन और शुद्धि का आराम जब मुझे मिलने लग जाता तो मैं उन कृपालु को भूल जाती और यह बात मेरे सामने आ जाती कि मैं बहुत बढ़िया साधक हूँ। मुझको शान्ति मिल गई।

एक बार नहीं, अनेक बार ऐसा हुआ और बिल्कुल सही-सही चित्र आपके सामने रखकर यह सत्य निवेदन कर रही हूँ कि जब-जब साधक के भीतर अपनी साधना के फल का आभास आ जाता है, वह सत्य से दूर हो जाता है। समझ में आया? यह आभास आ गया कि मैं बहुत बढ़िया साधक हूँ, स्वामी जी महाराज ने जो कहा था सो मैंने किया। निर्बल के बल राम की दुहाई कहाँ गई ? अपने बल का अभिमान आ गया। अपने अच्छेपन का एक आभास आ गया। तो ज्ञानपंथ की साधना की दृष्टि से

और प्रेमपंथ की साधना की दृष्टि से यह बिल्कुल सच्ची बात है कि इस लिमिटेड पर्सनेल्टी (Limited Personality) सीमित अहंभाव का पोषण ही तो मुझको उस सत्य से वंचित करके रखता है। संत कबीर अपने ज्ञान

की मस्ती में कहते हैं--'पानी बिच मीन प्यासी, मोहि सुन-सुन आवै हाँसी।' संत कबीर को हँसी आती हैं किस बात के लिए?

आनन्दस्वरूप में रहने वाला मनुष्य, आनन्दस्वरूप की धातु से रचा गया मनुष्य और रोनी-रोनी सूरत बना के गमगीन चेहरा लेके दुनियाँ में घूमता है-मैं बड़ा दुःखी हूँ ! मैं बड़ा दुःखी हूँ !! अरे आनन्द-स्वरूप में तुम वास करते हो। आनन्द स्वरूप तुम्हारे भीतर-बाहर भरपूर है। आनन्दस्वरूप की धातु से बनाए गए हो और कहते हो मैं बड़ा दुःखी हूँ। तो ऐसा हम लोगों को क्यों लगता है ? ऐसा इसलिए लगता है कि उस सीमित व्यक्तित्व के अहं को हम मिटने नहीं देना चाहते। पहले हीरा-मोती से श्रृंगार करते थे, अब शान्ति से श्रृंगार करने लग गए। पहले अच्छे-अच्छे कपड़े-गहने पहन कर दूसरों की अपेक्षा अपने को कुछ विशेष समझते थे, अब साधना के फल का श्रृंगार हो गया—हम बड़े शान्त रहते हैं, हमारा चिन्तन शुऋ हो गया, हमारा मन बड़ा शान्त हो गया। तो फिर हम सबके निकट पहुँचे कि दूर हो गए? दूर हो गये। • अनुभवी संत की वाणी में मैंने यह सुना कि अपनी दुर्बलताओं से व्यक्ति, सर्व समर्थ की महिमा का आधार लेने वाला दुर्बल से दुर्बल, पतित-से-पतित साधक आगे निकल जाता है और गुणों का अभिमान रखने वाला बड़े-से-बड़ा पंडित पीछे रह जाता है। यह मैंने सुना है।

तो हम ईश्वर विश्वासियों को और ज्ञानपंथी साधकों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि मुझ में ही विद्यमान वह अनन्त जीवन, अनन्त आनन्द का सागर लहरा रहा है, अनन्त प्रेम का रस लहरा रहा है-यही उसका स्वरूप है। उसकी विद्यमानता का अपने को पता क्यों नहीं चलता ?

तो एक-एक छोटी-छोटी गलती का विवेचन मैं कहाँ तक करूंगी? एक-एक गलती, एक-एक भूल, एक-एक दोष की लिस्ट बनाने लग जाएँ हम लोग, तो उसका कहीं अन्त नहीं मिलेगा। लेकिन मूल भूल क्या है? तो मूल भूल के रूप में यह अहं को अभिमान है। यह मैं हूँ, यह मेरी बुद्धि, यह मेरा बल, यह मेरा जप, यह मेरा तप। तो इसके अभिमान से हम उस सत्य से दूर हो जाते हैं। इस सीमित अहं के अभिमान का घेरा हम लोगों को सत्य से बिछुड़ा देता है। यह सीमित अहं न रहे, यह गल जाय तो हमारे और उससे बीच में कोई अन्तर ही नहीं रहता है।

इस दृष्टि से ईश्वर-विश्वासी साधकों के लिए स्वामी जी महाराज ने दो-चार सलाह दी हैं। अगर आप ईश्वर-विश्वास की साधना को पसन्द करें, तो अपने लिए ग्रहण करने की चेष्टा करें। तो वे पहली बात क्या कहते हैं। भाई ! अगर ईश्वर-विश्वास का सहारा ले कर तुम जीवन को पूर्ण बनाना पसन्द करते हो तो पहली बात स्वीकार

करो-परमात्मा है। इसमें कोई असमर्थता है ? नहीं। परमात्मा है और उसी से, केवल उसी से मेरा नित्य सम्बन्ध हैं और सब कुछ उसी का है। अब देखिये, कितना रहस्य है इसमें। केवल उसी से मेरा नित्य सम्बन्ध है तो बाकी सब सम्बन्ध • उस सम्बन्ध में लय हो गए। सब कुछ परमात्मा का है, तो जो सब कुछ

परमात्मा का मान लेगा वह अपने पर, अथवा अपने पास जो शरीर है उस पर अथवा अपने पास जो मकान है उस पर अपना अधिकार मानेगा? नहीं मानेगा। तो हम लोग जगत्पति अपने को कहते हैं कि परमात्मा को कहते हैं? परमात्मा को कहते हैं न? जब जगत्पति परमात्मा हो गया तो ईंट-पत्थर जोड़ करके जो एक मकान बनवाया उसके पति आप कैसे हो गए? कितनी सच्ची बात है? सोचो। इसलिए घण्टों का किया हुआ, बड़े-बड़े अभ्यास से किया हुआ ध्यान सफल नहीं होता है। बनता और बिगड़ता है। लगता है और टूटता है। महाराज जी ने क्या कहा कि चित्त जब तक लगे और हटे ऐसी दशा दिखाई दे तो समझो कि भगवान में लगा ही नहीं। क्यों ? क्योंकि वह तो इतना मधुर आकर्षण वाला है।

परमात्मा, इतना जबरदस्त आकर्षण है उसमें, कि जिन्होंने उस आकर्षण का अनुभव किया है वे कहते हैं कि एक बार आपने स्वयं अपने द्वारा उससे जुड़ जाने का संकल्प किया नहीं कि वह इतनी जबरदस्ती, इतने जोर शोर से पकड़ लेता है कि मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ जायेंगी कहाँ?

कृष्ण प्रेम की पगी हुई गोपियाँ सन्ध्याकाल में, गोधूलि के समय सब घर बार का काम छोड़-छोड़ करके दरवाजे-दरवाजे लग-लग कर खड़ी हो जातीं। किस लिए? कि गएँ चराकर बन से लौट रहे होंगे तो धूलि धूसरित बदन होगा, मुख पर धूलिकण पड़े होंगे और बंशी बजाते हुए अपनी चटकीली-मटकीली चाल से चलते हुए इस रास्ते से निकलेंगे तो हम उनका दर्शन करेंगी। तो आकृति तो आयेगी बाहर, और प्रेम के कारण से एकता हो गयी भीतर। श्यामसुन्दर आए भी और बंशी बजाते हुए निकल भी गये और सखियाँ पूछ रही हैं कि अरे अभी तक आए नहीं ? कितनी देर हो गयी ? क्या हो गया? रात हो गयी ? तो दूसरी कहती है। कि कैसी बात करती हो, तुम तो टकटकी लगा कर देख रही थीं। अभी तो इधर से निकले हैं। क्या सोच रही हो? तो कहती है कि 'अरे हम तो देख ही नहीं सके।' तो देखेंगी कैसे ? देखे हुए का भास कैसे होगा ? जब आप द्रष्टा बनते हैं, बाहर दृश्य होता है तो आप में और उसमें जब तक भेद होता है तब तक दिखाई देता है। तब तक पता चलता है कि मैंने देखा और दृष्टि कहती है कि 'हे सखी, क्या बतायें, जब से इन आँखों ने उस भुवन-मोहन रूप को देखा, मुझको छोड़ कर चली गई।' तो इन्द्रियाँ तो सदा के लिए छोड़ करके उस मधुर आकर्षण में लीन हो गई, अपने पास आँखें हो तो कुछ दिखाई दे। है कहाँ ? वहाँ से लौटकर आवे तब न। वह तो उनका मूल आधार है। वह तो उनके समस्त आकर्षण का स्रोत है। उसमें जा करके मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ जब लग जाती हैं तो लौट कर आती नहीं है। इसलिए महाराज जी ने क्या कहा कि भैया, जब परमात्मा, इतना जबरदस्त आकर्षण है उसमें, कि जिन्होंने उस आकर्षण का अनुभव किया है वे कहते हैं कि एक बार आपने स्वयं अपने द्वारा उससे जुड़ जाने का संकल्प किया नहीं कि वह इतनी जबरदस्ती, इतने जोर शोर से पकड़ लेता है कि मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ जायेंगी कहाँ ?

कृष्ण प्रेम की पगी हुई गोपियाँ सन्ध्याकाल में, गोधूलि के समय सब घर बार का काम छोड़-छोड़ करके दरवाजे-दरवाजे लग-लग

कर खड़ी हो जातीं। किस लिए? कि गएँ चराकर बन से लौट रहे होंगे तो धूलि धूसरित बदन होगा, मुख पर धूलिकण पड़े होंगे और बंशी बजाते हुए अपनी चटकीली-मटकीली चाल से चलते हुए इस रास्ते से निकलेंगे तो हम उनका दर्शन करेंगी। तो आकृति तो आयेगी बाहर, और प्रेम के कारण से एकता हो गयी भीतर। श्यामसुन्दर आए भी और बंशी बजाते हुए निकल भी गये और सखियाँ पूछ रही हैं कि अरे अभी तक आए नहीं ? कितनी देर हो गयी ? क्या हो गया? रात हो गयी ? तो दूसरी कहती है। कि कैसी बात करती हो, तुम तो टकटकी लगा कर देख रही थीं। अभी तो इधर से निकले हैं। क्या सोच रही हो? तो कहती है कि 'अरे हम तो देख ही नहीं सके।' तो देखेंगी कैसे ? देखे हुए का भास कैसे होगा ? जब आप द्रष्टा बनते हैं, बाहर दृश्य होता है तो आप में और उसमें जब तक भेद होता है तब तक दिखाई देता है। तब तक पता चलता है कि मैंने देखा और दृष्टि कहती है कि 'हे सखी, क्या बतायें, जब से इन आँखों ने उस भुवन-मोहन रूप को देखा, मुझको छोड़ कर चली गई।' तो इन्द्रियाँ तो सदा के लिए छोड़ करके उस मधुर आकर्षण में लीन हो गई, अपने पास आँखें हो तो कुछ दिखाई दे। है कहाँ ? वहाँ से लौटकर आवे तब न। वह तो उनका मूल आधार है। वह तो उनके समस्त आकर्षण का स्रोत है। उसमें जा करके मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ जब लग जाती हैं तो लौट कर आती नहीं है। इसलिए महाराज जी ने क्या कहा कि भैया, जब कोई मनुष्य, किसी क्षण में, इस माँग का अनुभव करता है, उसकी ओर से थोड़ी सी, चेष्टा होती है तो उस परम प्रेमास्पद प्रभु की ओर से बहुत सामर्थ्य उसको मिलती है। वे सामर्थ्य देते हैं।

हम सब लोग अभाव की पीड़ा से मुक्त हो जॉय, जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाँय और अपने क्रोध से दूसरों को जलायें नहीं। अपने ताप से शान्त वातावरण को गरम न करें। अपनी तृष्णा से सब जगह वायुमण्डल को दूषित न करें-ऐसी जरूरत केवल मुझे ही थोड़े ही है। मैंने अपने द्वारा अपने जीवन में दोनों ही चित्र देखे हैं। मैंने अनुभव किया है कि आदमी जब अभाव से पीड़ित होकर, सुख-भोग की वासना से प्रेरित होकर संसार की ओर देखता है, वस्तु-व्यक्तियों की ओर देखता है तो उसकी सुख-भोग की वासना से हवा गन्दी होती है। धरती जैसे कि नीचे धेस जाती हो। और जब वही मनुष्य सत्य की जिज्ञासा से जाग्रत होकर प्रभु-प्रेम की लालसा से प्रेरित होकर धरती पर खड़ा होता है--सिक्र नहीं बना है अभी, अभी उसके भीतर केवल जिज्ञासा जगी है, अभी उसके भीतर केवल प्रेमस्वरूप प्रेमास्पद के साथ प्रेम के आदान-प्रदान की अभिलाषा जगी है तो भी धरती माता ऊँची हो जाती है। हवा बहुत ही उन्मुक्त होकर . बहने लगती है। एक मनुष्य यदि भीतर से निष्काम हो जाता है यह सोचकर कि मैंने देख लिया संसार का खट्टा-मीठा स्वाद, सब मुझको मालूम हो गया। अब हे प्रभु ! अब तो आपके प्रेम-रस की प्यास है, इसलिए मुझे अब इस संसार से कुछ नहीं चाहिये। तो, जहाँ उसके भीतर प्रेम-रस की प्यास लगी और जहाँ उसने संसार की कामनाओं का त्याग किया, तो उस निष्काम चित्त वाले व्यक्ति से, उस निष्काम जीवन वाले भक्त की उपस्थिति से हवा बिल्कुल फ्री (Free) होकर बहने लगती है। हल्की-हल्की लगने लगती है। सरस-सरस लगने लगती है।

प्रेमस्वरूप परमात्मा हैं और भक्त प्रेमस्वरूप होना चाहता है। इस रस का सागर लहरा रहा है, इधर रस की प्यास है तो आयेगा जी भरकर पीने के लिए वह जिसमें से प्रेम-रस उमड़ता रहता है। वह तत्त्व ऐसा अदृश्य है और

ऐसा अलौकिक है कि इन स्थूल आँखों से आप उसको देख तो नहीं पायेंगे, लेकिन चूंकि आपका अस्तित्व भी अलौकिक है तो वह आप ही की जाति का है, इसलिए दोनों का मेल जब हो जाता है तो वह प्रकट हो जाता है, पता चल जाता है।

मुझे अपनी पुरानी बात याद करके बड़ी लज्जा लगती थी। बड़ा छोटा-पन लगता था भीतर-भीतर। मैंने कहा हे भगवान अगर मैंने जल्दी से जल्दी प्रेम और भक्ति का बंधन स्वीकार कर लिया होता, अगर मैंने जन्दी से जल्दी सुख-भोग की वासनाओं को छोड़कर अपने को साधक स्वीकार कर लिया होता, तो आनन्द के आदान-प्रदान का कितना मौका मिलता। हाय अब क्या करूं? अब तो जिन्दगी का बहुत बड़ा भाग निकल गया। किसमें निकल गया ? कि सुख, सम्मान, सुविधा के लिए लड़ने झगड़ने और खींचतान में निकल गया। ऐसी सुविधा तुमको है, हम को क्यों नहीं है? तुमने उनके साथ ऐसा किया, मेरे साथ क्यों नहीं किया ? तुमने उसको इतना आराम दिया, मुझको क्यों नहीं दिया ? हाय रे, हृदय की तुच्छता। यह दिल में क्यों नहीं आता कि जो आराम मुझे नहीं मिला था वह उसको मिल रहा है तो बड़े आनन्द की बात है।

कितने आनन्द की बात है कि वही मनुष्य कामनाओं से प्रेरित हो कर धरती पर पाँव रखता है तो धरती धंस जाती है और वही मनुष्य निष्काम होकर प्रभु-प्रेम की लालसा लेकर खड़ा होता है तो प्रेम का सागर लहराता है। क्यों ? क्योंकि वह प्रेम स्वरूप विद्यमान है। उस आनन्द की लहर को आप अनुभव कर सकते हैं। किस काल में ? साधन-काल में। सिद्धि-काल की चर्चा मैं नहीं कर रही हूँ। सिद्धि-काल की बात तो सिऋ पुरुष जानें। हम और आप तो साधक बन कर बैठे हैं। तो मैं साधन-काल की चर्चा करती हूँ कि आप भी उस आनन्द की लहर अनुभव कर सकते हैं। वह लहर आपको छूती है तो आपको मस्ती आती है। सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। यदि दो-चार क्षणों के लिए भी अहंशून्य हो करके उस प्रेम और ज्ञान के प्रकाश का स्पर्श आपने अपने द्वारा अनुभव कर लिया, तो उस अनुभव में अनेकों वर्षों के विकार धुल जाते हैं। यह साधन-काल का अनुभव है। अपने में मिलाने की कृपा जब वे करेंगे और उसके बाद बोलने का अवसर मिला तो बताऊंगी कैसा लगता है। आज इतना ही रहने दिया जाय।

सन्त-वाणी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त वस्तुओं के द्वारा अपने को अविनाशी, स्वाधीन तथा चिन्मय जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। इस वास्तविकता में आस्था हो जाने पर मानव समस्त दृश्य से विमुख होकर अपने में संतुष्ट होने के लिए विवश होता है। विश्राम काल में होने वाले चिन्तन से साधक को अपनी रुचि का अनुभव करना चाहिए। किन्तु उसका समर्थन या विरोध अथवा उससे तादत्म्य रखना भारी भूल है। उसका समर्थन कर्म को जन्म देता है उससे असहयोग करना साधन-रूप सिऋ होता है।

प्रवचन 5

उपस्थित महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयों !

मनुष्य के जीवन में उसके पूर्ण विकास के लिए जो आवश्यक तत्त्व हैं, वे हम लोगों को जन्मजात प्राप्त हैं। कर्म करने की सामर्थ्य मिली है, विचार करने की सामर्थ्य मिली है और प्रेम पूवर्क, भाव पूर्वक, विश्वास करने की सामर्थ्य मिली है। कर्म, ज्ञान और प्रेम क्रियाशक्ति, विचारशक्ति और भावशक्ति तीनों ही प्रकार की शक्तियाँ सभी भाई-बहिनों को जन्मजात प्राप्त रहती हैं।

जीवनदाता, जन्म-दाता ने साधन-सामग्री से सम्पन्न करके हम लोगों को संसार में भेजा है। कार्य-क्षमता का सही उपयोग हो गया होता तो हमारे भीतर से 'करने का राग मिट गया होता। 'करने का राग मिट गया होता तो जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो गई होती।

आज जिस दशा में हम लोग अपने को पाते हैं उस दशा का अध्ययन करें, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अनेक बार हम लोगों को शरीर धारण करके संसार में रहने का मौका तो मिला, लेकिन शारीरिक बल के द्वारा जो कार्यक्षमता मिली, उस कार्यक्षमता का हमने सही उपयोग नहीं किया। अगर हमने उसका ठीक उपयोग किया होता तो राग मिट गया होता। फिर जन्म लेकर इस धरती पर आने की आवश्यकता शेष नहीं। रहती। तब हम सब लोग सशरीर यहाँ बैठे हैं। इसका मतलब है कि अभी तक हमने कार्य-क्षमता का पूरा उपयोग नहीं किया है, इसलिए कुछ करना शेष रह गया है। पूरा उपयोग करने का अर्थ क्या है? शरीर को लेकर संसार में रहते हुए, मनुष्य होने के नाते, साधक होने के नाते, शान्ति, स्वाधीनता और प्रेम पाने या जिज्ञासु होने के नाते, अपने को क्या करना चाहिए?

महाराज जी ने सलाह दी कि दुनियाँ में रहते हुए ममता के सम्बन्ध से ऊपर उठ जाओ। जगत् के नाते, आत्मा के नाते, परमात्मा के नाते सभी को अपना मानो। सभी को अपना मानने का यह बहुत ही सहज, स्वाभाविक परिणाम निकलेगा कि किसी भी दुःखी को देखकर तुम्हारा हृदय द्रवित होगा, करुणा उपजेगी, और किसी भी सुखी को देखकर तुम्हें प्रसन्नता होगी। दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना और सुखी मात्र के सुख से प्रसन्न होना—यह मनुष्यता का पहला लक्षण बताया महाराज जी ने। इस दुनियाँ में रहने का यह पहला नियम है, कि भाई, दुःखी मात्र के दुःख से द्रवित होना चाहिए, हृदय को करुणित होना चाहिए और सुखीमात्र के सुख से प्रसन्न होना चाहिए। दुःख देख कर दुःखी होना और सुख देखकर प्रसन्न होना हम लोगों को आता है कि नहीं? जी ? आता है। लेकिन हमसे गलती क्या होती है कि जगत् के नाते सभी को हम अपना नहीं मानते, आत्मा के नाते सभी निजस्वरूप हैं, यह भी हम नहीं मानते और परमात्मा के नाते सभी मेरे प्यारे के प्यारे हैं, यह भी नहीं मानते। तब क्या मानते हैं ?

अब देखिए, अपनी भूल अपने को दिखाई देगी। जीवन का जो दार्शनिक सत्य है (Philosophical Truth) उस पर से दृष्टि हट गई। सारा जगत् एक इकाई है, एक समष्टि शक्ति के द्वारा संचालित है तो सारा जगत् शरीर की दृष्टि से एक है। इस बात को हम लोग भूल गए कि सभी .। निज स्वरूप हैं, सभी अपनी आत्मा के स्वरूप ही हैं तो निज स्वरूप होने के नाते, आत्मस्वरूप होने के नाते सभी अपने हैं। इस बात को भी हम भूल गए कि सारी दृष्टि के बनाने वाले एक अकेले परमात्मा हैं। सभी प्राणी उनको प्रिय हैं, सभी प्राणी उनके अपने हैं। तो प्यारे प्रभु के नाते सभी अपने हैं, यह भी हम भूल गए। भौतिकवाद के सत्य को भुला दिया हमने, अध्यात्मवाद के सत्य को भुला दिया हमने, ईश्वरवाद के सत्य को सामने से हटा दिया हमने। और सामने किसको रख दिया? देहवाद को।

देहवाद सामने आ गया, तो क्या हो गया ? कि यह तो इस शरीर से पैदा किए हुए बच्चे हैं इसलिए इनके दुःख से दुःखी होते रहो, इनके सुख से प्रसन्न होते रहो और इनको सुखी करने के लिए अन्य बच्चों को, अन्य शरीरों को दुःख देने में भी न हिचको। तो विकास होगा कि हास होगा? ह्रास

होगा। विकास हो नहीं सकता, क्योंकि यह सत्य नहीं है। शरीर से माना हुआ सम्बन्ध सत्य नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि जिन शरीरों के कारण से मैंने सम्बन्ध माना, क्या वे माने हुए शरीर के सम्बन्धी सदा के लिए अपने साथ हैं? नहीं हैं। जिन शरीरों के सम्बन्ध से कभी मैंने किसी को माता-पिता करके माना था, क्या वे माता-पिता अपने साथ सदा के लिए हैं? नहीं हैं। जिन बच्चों को शरीर से पैदा करने के कारण अपना बेटा-बेटी करके हमने माना था, उनके साथ सदा के लिए संयोग निभ गया? नहीं निभा। तो आँखों से दिखाई देता है, बुद्धि से समझ में

आता है कि शरीर के माध्यम से माना हुआ सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध नहीं हैं। फिर भी इसको प्रधानता दे दी, तो असत् को प्रधानता दे दी। | देह के सम्बन्ध से जिनको अपना माना, उनके प्रति आसक्ति पैदा हो गई और उनकी आसक्ति के कारण दूसरों से द्वेष पैदा हो गया। जब भीतर में ममता का दोष पैदा हो जाय और राग-द्वेष का विकार पैदा हो जाय, तो सत्य का दर्शन होगा? नहीं होगा। क्या होता है कि जिनको अपना माना, उनका दुःख तो हम को व्याकुल कर देता है और जिनको अपना नहीं माना उनका दुःख देखते हुए भी हम आराम से खा लेते हैं। और सो जाते हैं। जिनको हमने अपना माना, उनके सुख को देखकर तो प्रसन्नता हो जाती है और जिनको अपना नहीं माना उनकी सुख-सुविधा को देख कर भीतर में ईर्ष्या पैदा हो जाती है। यह मनुष्यता का लक्षण है? नहीं है। और ये दोष जीवन में बनाए रखेंगे, तो किसी भी जप-तप के द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। सोचना यह है कि जप-तप का आरम्भ करना जरूरी है कि जो मनुष्यता का लक्षण नहीं है, जो दोषों, विकारों के रूप में, मुझ को मेरे सत्य से दूर करने वाली बातें हैं, उनको अपने में से निकालना ज्यादा जरूरी है? पहला कदम क्या है? स्वामी जी महाराज कहते हैं कि काम करने की शक्ति जो मिली है, कर्म का महत्त्व जो मनुष्य के जीवन में है, उस कर्म को ज्ञान से प्रकाशित करके, प्रेम के भाव से कोमल करके ऐसे कर्म करो कि तुम्हारा ही किया हुआ कर्म तुमको 'करने के राग से मुक्त कर दे। यह एक खास बात हो गई। यह पहली बात हो गई।

दूसरी बात, महाराज जी ने कहा कि देखो भैया ! यह जो बिल्ली है-यह जिन बच्चों को पैदा करती है, उनको अपने दाँतों से बड़ी कोमलता से उठाकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। ऐसा हम लोगों ने सुना है, कि सात बार जगह बदलती है, तब उसके बच्चों की आँखें खुलती हैं। तो उन्हीं दाँतों से, जो बड़े ही हिंसक और तीखे होते हैं, उन्हीं दाँतों से अपने पैदा किए हुए बच्चों को तो बड़ी कोमलता से पकड़ कर एक जगह से दूसरी जगह ले जाती है। और वही बिल्ली चूहा दिख जाय तो उन्हीं तीखे दाँतों को उसके गले में ऐसे गड़ा देती है कि उसकी हिंसा हो जाती है और उसको चबा कर खा करके अपना पेट भरती है। हिंसक जन्तु है।। उसके बड़े तीखे दाँत हैं, लेकिन जिन बच्चों के प्रति उसकी ममता है, उनको तो बड़ी कोमलता से छूती है और जिन चूहों को मारकर खा जाना चाहती है, उन चूहों पर उन्हीं दाँतों से बड़े तीखे आक्रमण करती है। तो जिसको अपना मानोगे उसके प्रति कोमलता रखोगे। जिसको पराया मानोगे उसके प्रति कठोरता रखोगे। तो यह लक्षण तो पशु का है, बिल्ली का है। यह लक्षण मनुष्य का तो नहीं होना चाहिए।

अब देखो। हम लोग भी साधक होकर, सचेत होकर, विचारक होकर, सत्संगी होकर, ईश्वर-विश्वासी होकर के अगर अपने-पराये का

भेद रखेंगे, राग और द्वेष के दोष में बँधे रहेंगे तो सत्य का दर्शन कैसे होगा?

पहले आँख बन्द करके, ध्यान लगी करके, इष्ट के विग्रह पर दृष्टि गड़ाने की चेष्टा करने की जरूरत नहीं है। पहले दार्शनिक सत्य को अपना करके अपने भीतर से राग-द्वेष मिटाने की जरूरत है, क्योंकि इस राग-द्वेष के रहते हुए सत्य का दर्शन नहीं होता है, चित्त की शुद्धि नहीं होती है। इसलिए स्वामी जी महाराज ने बताया कि भाई ! दुःखी मात्र को देखकर करुणित होना और सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना मनुष्यता का पहला लक्षण मानो और ऐसा अपना स्वभाव बनाओ। गलत बात को हम पकड़े रहेंगे, तो सही बात का अनुभव हो नहीं सकता। गलत बात को छोड़ना चाहेंगे, तो गलत बात का कोई अपना मौलिक आधार नहीं होता। जो बात गलत है, सही नहीं है, उसको त्यागने में अपने लोगों को कोई कठिनाई नहीं होगी, देर नहीं लगेगी। और जो भौतिकवाद का सत्य हैं, जो अध्यात्मवाद का सत्य है, जो ईश्वरवाद का सत्य है उसको अपनाने में अपने को किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है। इस दृष्टि से अगर आप अपनी साधना को सफल करना चाहते हैं, तो कर्म के क्षेत्र में अपने को शुक्र बनाइए।

इसमें बड़ा भारी वैज्ञानिक सत्य यह है कि व्यक्ति के जीवन में जब करुणा का रस आता है, तो उसके भीतर से सुख-भोग की रुचि खत्म हो जाती है। सुख अलग बात है। वह तो भाग्य के विधान से कितना मिलगा, कौन कह सकता है? लेकिन सुख-भोग की रुचि को रखना इसमें अपने लोगों का बड़ा घाटा है। क्या घाटा है ? कि रुचि भीतर-भीतर बनी रहती है, और सुख मिल गया तो हम सुख के हाथों बिक गए। "अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ" यह जो अपना सत्य स्वरूप था वह तो एक किनारे रह गया और सुख-भोग की रुचि की पूर्ति में हम सुख के हाथ बिक गए। दुःख के भोगी बन गए। और अगर रुचि है और उसकी पूर्ति नहीं होती, तो अभाव और नीरसता में फंस गए—यह एक बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक तथ्य है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, कि जो व्यक्ति भीतर-भीतर जितनी नीरसता से पीड़ित है वह काम-वासना के फेर में पड़ा रहता है। जितनी नीरसता सतायेगी उतनी ही काम-वासना उग्र होगी। यह शोध-कार्य का परिणाम है कि स्लम एरिया (Slum Area) झुग्गी झोंपड़ियों में अपराधी (क्रिमिनल) अधिक पैदा होते हैं, अभाव और नीरसता में पले हुए लोगों के यहाँ बच्चों की संख्या बहुत अधिक होती है। यह रिसर्च के परिणाम के आँकड़े मैं सुना रही हूँ, कोई कल्पना नहीं है। इसका एक कारण यह बताया गया कि आदमी के जीवन में जितनी अधिक नीरसता रहती है, उतनी ही काम-वासना उग्र होती है। अब साधक के स्तर पर आ जाइए।

आप साधक हैं। आप शान्त रहना पसन्द करते हैं, आप मन को निश्चिन्त, निर्विकल्प, अचिन्त बनाना पसन्द करते हैं और अपना लक्ष्य भी यही है कि हमें शान्ति मिले, निर्विकल्पता मिले निश्चिन्तता मिले, अचिन्त हो जायें हम, और हमारी सारी वृत्तियाँ बाहर से अन्दर की ओर जा करके नित्य योग, तत्त्व-बोध, परम-प्रेम में जुट जाएँ। तो यह जो हमारा लक्ष्य है, इस लक्ष्य की पूर्ति में, आप अपना दिल टटोलकर देखिए, कि संसार के संयोग-जनित सुख की रुचि के अलावा और कोई बाधा है क्या? हम वृत्तियों को अन्दर ले जाना चाहते हैं और वे बाहर-बाहर दृश्य जगत् की ओर भटकती रहती हैं। इस संघर्ष में साधक का बहुत-सी समय निकल जाता।

कुछ दिन हुए एक माँ मिली थीं। कहने लगीं कि अरे ! मैं तो बाल बच्चेदार हूँ, घर-गृहस्थी

वाली हूँ, रोज-रोज तो आती नहीं हूँ। आज आ गई हैं, तो मुझको पूजा कर लेने दो, तो बाल बच्चेदार होना, घर-गृहस्थी वाली होना सत्संग से दूर होने का लाइसेन्स है क्या ? है क्या ? नहीं है।

मानव-सेवा-संघ के नाम से स्वामीजी महाराज ने जो सत्य हम लोगों के सामने रखा, वह इस प्रकार से रखा, कि भाई ! आप बाल-बच्चेदार हैं, घर-गृहस्थी वाले हैं, कमाने-खाने वाले हैं, कारोबार करने वाले हैं, शासन के सूत्रधार हैं, जन-समाज की सेवा करने वाले हैं ये सब हम लोगों की मान्यताएँ हैं-इनको अगर साधनरूप नहीं बनाओगे, तो इसमें से निकलने की सामर्थ्य कभी नहीं आएगी। इसमें से निकलने की सामर्थ्य आपको चाहिए। इसलिए आज की जो आपकी मान्यता है, उसी में आप अपने को साधक स्वीकार करिए। साधक की स्वीकृति में सुख-दुःख को फिट (Fit) करिए। समाज में रहते हुए समाज का, संसार का, परिवार का काम करते हुए आप कह सकते हैं, कि मुझ को सुख-दुःख ने छुआ नहीं है? नहीं कह सकते ? तो भाई ! सुख भी अपने को छू रहा है, दुःख भी अपने को छू रहा है। सुख-दुःख का स्पर्श जो अपने को हो रहा है इसी दशा को साधन रूप बनाइए। कैसे बनाइएगा? अभी तो चार बच्चों के दुःख से दुःखी हो रहे थे, अब साधक होने के नाते, प्यारे प्रभु के नाते सब बच्चों को उनकी फुलवारी के पुष्प मानेंगे और किसी भी बच्चे का दुःख देखकर के हमारे हृदय में करुणा उपजेगी। किसी भी बच्चे का हँसना-खेलना देखकर के, किलकारी मारते बच्चों को देख कर हमारे भीतर प्रसन्नता होगी। इसमें कहीं पैसा खर्च होने का नहीं है। महँगाई से कोई तंगी आने वाली नहीं है। अगर इतना भी हृदय को उदार बनाने के लिए हम लोग तैयार नहीं हैं, तो सारी सृष्टि को जो अपने अनन्त माधुर्य के रस में समेट कर रखता है, सबकी खबर रखता है, सबकी रक्षा करता है, सबको प्यार करता है, उस परमात्मा का प्रेम अपने को कैसे मिलेगा? यह साधना घरबारी लोगों के लिए है, बाल बच्चेदार लोगों के लिए है, जीवन को आरम्भ करने वालों के लिए है, समाज का काम करने वालों के लिए है। इसलिए इस साधना को आप आरम्भ करिए।

दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना तो अच्छा है ही। लेकिन सबसे सुन्दर बात यह है कि हृदय में जब करुणा का रस आता है, तो है-इस दुनियाँ में कुशलता से अपना निर्वाह भी करना है और मरने से पहले दुनियाँ के बन्धन से मुक्त भी होना है। वह भी तो एक काम है न ! संसार में हम रहेंगे तो किसी को नुकसान नहीं पहुँचायेंगे। भगवत् नाते, आत्मा के नाते सबको अपना मानेंगे। दूसरों के दुःख से हृदय करुणा से भरा रहेगा, दूसरों के सुख से हृदय प्रसन्नता से भरा रहेगा। यह तो दुनियाँ में रहने का तरीका हो गया। अब दुनियाँ के बन्धन से मुक्त भी होना है। तो अध्यात्म-जीवन को आरम्भ करो। इस सत्संग का जो स्थान बना है। इस पर अध्यात्म-भवन लिखा हुआ है। क्या मतलब है? यहाँ आकर जो हम लोग बैठते हैं तो अध्यात्म-जीवन पर भी विचार करते हैं और उसमें भी हम लोगों को प्रवेश पाना है। तो अब आध्यात्मिक विकास पर विचार करो। भौतिक दर्शन से जीवन का एक Aspect हो गया .... एक पहलू हो गया। अब आगे बढ़े।

राग-द्वेष को छोड़कर के जो हमने अपने परिपार्श्व में दुःखी जन के साथ अपना सुख बाँटना पसन्द किया, तो जिनके साथ हमारी सम्पर्क बना और जिनके प्रति सद्भावना लेकर के छोटी-से-छोटी सेवा हमने की, उनको अपना ही मान कर की। उनको अपने प्यारे का प्यारा मानकर की। ईश्वरवाद की दृष्टि से अपने प्यारे की प्रसन्नता के

लिए की, अध्यात्मवाद की दृष्टि से राग-निवृत्ति के लिए की, भौतिकवाद की दृष्टि से सुन्दर समाज के निर्माण के लिए की। किसी भी सही, वास्तविक दृष्टिकोण से जो भी कुछ सेवा अपने से बन पड़ी-छोटी-से-छोटी सेवा, जो मैंने जगत् के प्रति अर्पित की---उस सेवा के बदले में अपने को किसी प्रकार का कोई फल नहीं चाहिए। यह जरूरी हो गया। तो आप पैसे वाले हैं, और उनको सेवा में लगाने जा रहे हैं। जिनके पास पैसा नहीं है, की हुई सेवा के बदले में उनसे पैसे की आशा तो आप करेंगे नहीं, क्योंकि उनके पास है ही नहीं। लेकिन अपने भीतर अगर किंचित् मात्र भी ऐसी ध्यान में आ गया, कि की गई सेवा से समाज में मेरी ख्याति हो जाएगी अथवा जिनकी सेवा हम कर रहे हैं, वे एक बार कृतज्ञताभरी दृष्टि से मेरी और देखेंगे-अगर इतनी भी आशा अपने भीतर रखकर के काम करने हम चले, तो सही-सही सेवा नहीं बनेगी। क्यों ? क्योंकि कोई दुःखी अगर आपकी सेवा से प्रसन्न होकर कृतज्ञताभरी दृष्टि से आपको देखेगा, तो आप शरीर से सम्बन्ध रखेंगे, तब न उसकी दृष्टि का सुख लेंगे ! ठीक है न ! तो शरीर का सम्बन्ध तोड़ने का प्रश्न जो है वहीं पर खत्म हो जावेगा। कोई प्रशंसा-सूचक शब्द कहेगा, तो कान से सम्बन्ध रखेंगे तब उसे सुनेंगे और देह का अभिमान भीतर रखेंगे, तो प्रशंसा-सूचक शब्दों से आनन्दित होंगे। तो प्रशंसासूचक शब्दों को सुनना और उसका सुख लेना अगर आपको पसन्द आ गया, तो देह के अभिमान से ऊपर उठना सम्भव होगा ? देह के अभिमान से अपने को ऊपर नहीं उठाया तो अविनाशी जीवन से अभिन्नता सम्भव होगी ? निजस्वरूप का बोध सम्भव होगा? 'सच्चिदानन्द मैं हूँ'-यह कथन सिऋ होगा? नहीं होगा।

तो भौतिक जीवन की विकसित दशा क्या है ? दुःखी मात्र के दुःख से करुणित होना और सुखी मात्र के सुख से प्रसन्न होना। आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश पाने का उपाय क्या है? कि भाई, जो भी कुछ यहाँ हम करेंगे उसके बदले में संसार से किसी प्रकार की आशा नहीं रखेंगे। इससे तब क्या होगा, कि करने के समय काम करेंगे और काम खत्म होगा तो शरीर और संसार से बिल्कुल सम्बन्ध टूट जावेगा। आप एक्सपेरीमेन्ट (Experiment) करके देख लीजिएगा प्रयोग करके देख लीजिएगा। अगर किसी प्रकार का लगाव संसार के साथ रखो तो उसका चिन्तन कभी नहीं टूटता है। और अगर संसार से कुछ न चाहो, तो सम्बन्ध रहता ही नहीं है। एकदम खत्म हो जाता है।

स्नायुमण्डल के अध्ययन में बड़ा बढ़िया उदाहरण हमको मिला था। एक-एक यूनिट जो होता है मनुष्य के स्नायु को, वह बिल्कुल एक-दूसरे से अलग होता है। उसमें जुटा हुआ कनेक्शन नहीं होता है। एक सूई यहाँ चुभ गई और सूचना एकदम जा करके मस्तिष्क पीड़ा-केन्द्र में पहुँच गई और पीड़ा आपको मालूम हुई और झट से आपने हाथ हटा लिया। पूरे सर्किट ने काम कर दिया संवेदना (sensation) ले जाने वाले स्नायु ने (Pain Sensation centre) पीड़ा केन्द्र तक पहुँचा दिया और कर्मेन्द्रिय को चलाने वाले स्नायु ने फट से उँगली को वहाँ से हटा दिया। स्नायुकोष की जितनी इकाइयाँ हैं सब एक-दूसरे से अलग-अलग पड़ी रहती हैं। कोई (structural relations) (रचनात्मक सम्बन्ध) उनमें नहीं होता है। रचना की दृष्टि से उनमें सम्बन्ध नहीं होता है। सब अलग-अलग एक-एक यूनिट पड़ा रहता है। जब कोई सम्वेदना उनको यहाँ से वहाँ ले जाना होता है तो क्रियात्मक सम्बन्ध (funcifional

relation) बन जाता है। यह रचनात्मक सम्बन्ध नहीं है। तो क्रियात्मक संयोग बन जाता है। जब स्वामीजी महाराज के पास आकर 'मैं' और 'मेरे शरीर का सम्बन्ध मेरी समझ में आया तो मैंने कहा कि ये कोरा क्रियात्मक सम्बन्ध (functional relation) है। structural अर्थात् संघटनात्मक सम्बन्ध नहीं है।

'मैं' बना है अलौकिक तत्त्व से, शरीर और संसार बना है भौतिक तत्त्व से। दोनों में रचनात्मक सम्बन्ध त्रिकाल में भी हो नहीं सकता। तो क्या होता है कि जब संसार को पसन्द करो तो झट से क्रियात्मक सम्बन्ध जुड़ जाता है और संसार से काम लेना खत्म करो तो झट से सम्बन्ध टूट जाता है। इतना स्वाभाविक है, इतना स्वाभाविक है कि आपको किसी प्रकार का परिश्रम और अभ्यास बिल्कुल ही अपेक्षित नहीं है। पता नहीं साधना करने वाले, साधना सीखने वाले, सिखाने वाले, लिखने वाले, सुनाने वाले किस-किस तरह का अभ्यास इतना फैला कर रख देते हैं। अरे भाई, जिन शरीरों से तुमको अपना लगाव तोड़ना है, उन शरीरों के आधार पर अभ्यास करते रहोगे तो वह अभ्यासजन्य साधना तुमको अशरीरी जीवन में पहुँचाएगी कैसे? यह बात समझ में आती है ?

महाराज जी ने कहा कि आध्यात्मिक विकास के लिए इस सत्य को स्वीकार करो–कि समग्र, दृश्य जगत् से तुम्हें अपने लिए कुछ नहीं मिलेगा। तुम हो अलौकिक, जगत् है भौतिक। इसमें से जो मिलेगा वह सब शरीरों के काम आएगा, तुम्हारे काम नहीं आ सकता है। इसलिए संसार का दिया हुआ जो सामान तुम्हारे पास है, वह संसार की सेवा में सधन्यवाद अर्पण कर दो और उसके बाद अकेले हो जाओ। जिसको दृश्य जगत् से मतलब नहीं रहता है उसका दृश्य जगत् से सम्बन्ध टूट जाता है।

एक बार मनोविज्ञान की छात्राओं को लेकर हम लोग प्रदर्शनी में गईं। वहाँ से वापिस आने पर एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग किया गया। छात्राओं की प्रत्यक्षीकरण की शक्ति की जाँच की गई। उन्हें कागज, पेन्सिल देकर यह कहा गया कि तुमने प्रदर्शनी में जो-जो देखा है सो लिखो। छात्राओं ने अधिक-से-अधिक उन्हीं चीजों के नाम लिखे जिनमें उनकी अभिरुचि होती है, जैसे--- रसोई का सामान, कढ़ाई की दुकानें, शृङ्गार की सामग्री, वस्त्रों और बर्तनों की चर्चा आदि। उस प्रदर्शनी में इन चीजों के अतिरिक्त और भी बहुत सी वस्तुएँ थीं, परन्तु छात्राओं का ध्यान उन पर नहीं गया। उन्होंने उन्हें नहीं देखा।

इससे यह स्पष्ट हुआ कि दृश्य जगत् की जिन वस्तुओं से अपना लगाव है वे ही मनुष्य के प्रत्यक्षीकरण के क्षेत्र में आती है। अगर दृश्य जगत् से आप अपने लिए कुछ लेना नहीं चाहते हैं तो सच मानिए, जिस समय आप उससे लगाव तोड़िएगा, उसी समय उसका चिन्तन बिल्कुल समाप्त हो जाएगा। तो लगाव तोड़ना जरूरी है कि भीतर के चिन्तन को मिटा कर फेंकने की चेष्टा जरूरी है? जी ? लगाव तोड़ना जरूरी है न ! अच्छा, अब और सोचो ! लगाव रहने से संसार ने तुमको सन्तुष्ट कर दिया क्या? जी ? नहीं कर दिया ! लगाव रखते-रखते भी लगाव रखने का यह माध्यम जो है चिता पर जल जाएगा। लगाव रह गया-शरीर जल गया-क्या दशा होगी ? सोचो, यम-यातना इसी का नाम मैं रखती हूँ ! लगाव रह गया, देखने की इच्छा रह गई और आँख खत्म हो गई। स्वाद लेने की इच्छा रह गई और पाचन-क्रिया खराब हो गई। शरीर से बाल-बच्चों से चिपकने की वासना रह गई और शरीर की ताकत घट गई। कैसी भयंकर स्थिति है !

इसी भयंकर स्थिति से तो बचना है भाई ! इसीलिए तो साधक बनने का प्रश्न है, इसीलिए तो भगवत्-शरणागति की आवश्यकता है। इसलिए स्वामी जी महाराज ने सलाह दी कि आगे बढ़ो और तुम्हारे पास जो है, इस जगत् की सेवा में अर्पण कर दो और बदले में किसी से किसी प्रकार की आशा मत रखो। सच्ची बात है, कि आप आशा छोड़ देंगे तो लगाव टूट जावेगा। आशा छोड़ देंगे तो चिन्तन छूट जाएगा। आशा छोड़ देंगे तो संकल्प-विकल्प बन्द हो जाएंगे। रास्ता खुल जाएगा आपका। बाहर से सारी वृत्तियाँ सिमट करके भीतर में स्थित हो जाएंगी। अन्तर्मुखी हो जाएँगे आप। और भीतर में ही वह केन्द्र है The Main Spring of Life, जीवन का मूल स्रोत भीतर ही है। तो जब जीवनी-शक्ति को हम बाहर खर्च नहीं करेंगे तो वह अन्तर में जाकर बड़े वेग के साथ अपने मूल तत्त्व में, अपने निज-स्वरूप में जाकर शामिल हो जाएँगी और आप सदा-सदा के लिए आनन्दित हो जाएँगे। यह विचार-शक्ति के सदुपयोग का परिणाम है कि हम की हुई भलाई के बदले में संसार से अपने लिए किसी प्रकार की आशा न रखें।

अब मनुष्य के जीवन का तीसरा पहलू भी है--भाव शक्ति। विचार-शक्ति के अतिरिक्त हम लोगों को एक विशेष शक्ति प्राप्त है वह है भाव-शक्ति। प्रेम का भाव, श्रद्धा-भक्ति, विश्वास का तत्त्व। जैसे कार्य करने की क्षमता मिली है, जैसे भले-बुरे पर विचार करने की शक्ति मिली है, ऐसे ही श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, प्रेम-यह सब भी मिला हुआ है। यह भाव-पक्ष कहलाता है। तो इस भाव पक्ष का अब तक हमने भूल-मिश्रित उपयोग किया। इसलिए हमारे भीतर तरह-तरह की आसक्तियाँ पैदा हो गई। अब हम अपने को साधक कहते हैं। अब हम अपने को सत्संगी . कहते हैं। अब तो इस बात पर हम तुल गए हैं कि इस शरीर का नाश होगा पीछे, और हम अपने वास्तविक स्वरूप से अभिन्न होंगे पहिले। इस बात के लिए हम लोग तैयार हो गए हैं। अब तक खूब खेल-तमाशे देख लिए। खूब सुख-दुःख की लहरियों में डूबना-उतराना सब देख लिया। अब जो इस जीवन का शेष भाग बचा है, वह तो सब प्रकार से योग, बोध, प्रेम से अभिन्न होने के लिए है। शान्ति, स्वाधीनता और सरसता से मिलने के लिए है। अब इस निश्चय के अनुसार काम करना है। | इसके लिए अनुभवी सन्त की सलाह है कि शरीर के नाते से सब सम्बन्ध मानना छोड़कर अब प्रभु के नाते से सम्बन्ध मानना आरम्भ करो। यह सारा संसार, सारी सृष्टि चराचर जगत, हमारे उस प्यारे प्रभु की ही अभिव्यक्ति है। ये सब उनको प्रिय हैं। ये सब उनके अपने हैं। तो मुझे अब क्या करना है? अपने भाव तत्त्व को पवित्र करने के लिए, देह का। नाता मिटा करके, भगवत् नाते सभी के प्रति सद्भाव और प्रेम रखना है। यहाँ से आरम्भ करेंगे।

मेरो सम्बन्ध किससे है ? तो मेरा सम्बन्ध केवल एक से है, अनेक से नहीं है। मैंने कई ईश्वरविश्वासियों को महाराजजी के पास यह कहते हुए सुना है कि हे महाराज ! भगवान् को याद करने बैठी तो बहुत सी बातें याद आने लगती हैं। तो महाराज जी कहते हैं कि देखो भैया ! जीवन में तुमने केवल भगवान का सम्बन्ध नहीं रखा है, दस सम्बन्ध तुम्हारे पहिले से थे, अब तुमने ग्यारहवाँ सम्बन्ध परमात्मा का मान लिया, तो जीवन में एक बटा ग्यारह परमात्मा की याद आएगी और दस बटा ग्यारह संसार की याद आएगी। ठीक है न? हम लोगों को क्या करना चाहिए? अगर प्रेम-तत्त्व को विकसित करना है और उसे उस प्यारे प्रभु के लिए परम पवित्र बनाना है तो आसक्ति का बोझ

उसमें से निकाल देना पड़ेगा। प्रेम-तत्त्व जो है, वह तो ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि आप कितने भी अपराध मे फँस जाइए, कितने भी पतन के गड्ढे में चले जाइए, उस अविनाशी तत्त्व का नाश नहीं होता। हमारी भूलों से वह दूषित हो जाता है। उसके दूषण को मिटा देना-बस, इतना ही अपना पुरुषार्थ है। 'वह' ज्यों का त्यों है, कभी मिटा ही नहीं, कभी मिटेगा भी नहीं। अपना सम्बन्ध रखना है-एक से, और सबके प्रति सद्भाव रखना है उस एक के नाते। तो भगवत् नाते अगर जगत् को अपना मानोगे, तो भीतर राग-द्वेष का विकार पैदा नहीं होगा। ईश्वरवाद यहाँ से आरम्भ होता है।

और हम लोग क्या करते हैं कि भगवान् का एक चित्र सामने रख लिया और विविध प्रकार की क्रियाओं से, तरह-तरह के उपायों से हम अपने को उनके प्रति प्रेमभाव को प्रकट करने के द्वारा पवित्र बनाना चाहते हैं। तो विविध सम्बन्धों का त्याग नहीं किया और सामने चित्र रख लो तो, विग्रह रख लो तो, और बहुत सामग्री जुटा लो तो, बहुत देर तक विधि-विधान से पूजा करो तो भी एक सम्बन्ध अगर जीवन में नहीं है तो वह सजीव नहीं होता है। थोड़ी देर के लिए वहाँ बैठकर पूजा करना अच्छा लगता है। थोड़ी-थोड़ी देर के बाद ध्यान में आता है कि जल्दी-जल्दी खत्म करके चलो, अब दूसरे काम हैं।

जिन सन्तों ने एक प्रभु से नाता जोड़ा- जैसे मीराजी ने कहा- 'मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।' दूसरा कोई मेरा है नहीं, वे जब पूजा करने बैठते हैं और उनके प्रभु का प्रेम उनके हृदय में भरता है तो पूजा करते-करते वे अपने को भूल जाते हैं। अपने को भूल जाते हैं तो क्रिया खत्म हो जाती है और वे भाव के स्वरूप में हो करके प्रेमास्पद से जुड़ जाते हैं। देह-धर्म वहीं छूट जाता है और मैंने अपनी दशा क्या देखी है ? कि पूजा करते-करते दूसरी कोई बात याद आ गई, कोई दूसरा काम याद आ गया, तो पूजा के item को भूल जाती हूँ। अन्तर मालूम हुआ? एक भाव में इतना रस उमड़ा कि उसमें अहं डूब गया--- 'मैंपन' रहा नहीं--प्यारा रहा, प्यारे का प्यार रहा, प्रीतम रहा, प्रीतम की प्रीति रही। 'मैं' खत्म हो गया ! तो जिस "मैं" के भेद की दीवार के कारण उससे हमारी दूरी मालूम होती थी वह 'अहं' जो है वह प्रेम की धातु में मिल गया।

सन्त-वाणी जिसमें आसक्ति और दोष है, वह उसी की जाति का है जिसकी उसने आसक्ति स्वीकार की है। अत: आसक्ति का अन्त कर निर्विकारता, परम | शान्ति, स्वधीनता, अपरिच्छिन्नता तथा अगाध प्रियता से अभिन्न होने में ही मानव जीवन की पूर्णता है !

प्रवचन 6

सत्संग-प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों !

संतवाणी में हम लोगों ने यह सुना कि मनुष्य के जीवन में दो प्रकार के धर्म हैं, जिनका पालन करना अनिवार्य है-एक "स्वधर्म" और दूसरा

शरीर-धर्म"। इनके पालन से व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। हम सभी के लिए यह समस्या आज अपने सामने खड़ी है कि हमारा व्यक्तिगत कल्याण कैसे हो और सुन्दर समाज का निर्माण कैसे हो ! हम स्वयं अपने भीतर भी शान्ति की आवश्यकता महसूस करते हैं और जिस जन-समाज में हम रहते हैं उसमें भी शान्ति बनी रहे, इसकी भी आवश्यकता हम लोगों को मालूम होती है।

सामाजिक प्राणी हैं हम लोग। समूह में रहते हैं, तो हमारे भीतर शान्ति बनी रहे और जिस समूह में अपने को रहना है उस समूह में भी परस्पर शान्ति, विश्वास, प्रेम बना रहे, तो जीना अच्छा लगता है। ऐसे तो भीतर की भी अशान्ति हम सब लोग सहन कर ही रहे हैं और बाहर की भी अशान्ति, संघर्ष, उपद्रव सब कुछ हम लोग सहन कर रहे हैं। तो विवश होकर के अप्रिय दशा को सहन करते रहना और ज्यों-त्यों करके जिन्दगी को भार ढोना—यह तो कोई जीना नहीं होता है।

एक ऐसी जिन्दगी भी है कि जिसमें भीतर भी अच्छा लग रहा है, बाहर भी अच्छा लग रहा है, भीतर भी शान्ति और प्रियता भरी हुई है और बाहर भी शान्ति और प्रियता भरी हुई है ? ऐसा जीना अगर मिले, तो हम सब लोग बहुत पसन्द करेंगे। ऐसा जीना हम सब लोगों के लिए सम्भव है। इसका उपाय क्या है? हम सभी भाई-बहिनों को इस विषय में बहुत ही दृढ़ता के साथ मान लेना चाहिए के मानव-जीवन सार्थक तभी होता है, जबकि वह अपने कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में सफल हो

जाए। तभी वह सार्थक होता है। उसकी सार्थकता का उपाय ? तो महाराज जी बताते हैं कि शरीर-धर्म और स्वधर्म का पालन करो। धर्म किसको कहते ? कि जिसके पालन से आपका अभ्युदय हो जाए, विकास हो जाए। धर्म और किसको कहते हैं? कि जिसको छोड़ देने से आपकी मानव संज्ञा समाप्त हो जाय, उसको धर्म कहते हैं।

अलग-अलग नाम पर अलग-अलग धर्म के जो लक्षण बताये गए हैं, वे तो किसी विशेष आवश्यकता से उत्पन्न हुए। यदि आप बाहरी मजहबी, साम्प्रदायिक मतभेदों की सीमाओं को छोड़ दें तो मनुष्य होने के नाते मानवमात्र का शरीरधर्म और स्वधर्म एक ही है, दो हो ही नहीं सकते। इस दृष्टि से हम विचार करेंगे तो आपको बहुत ही सहज रास्ता दिखाई देगा, कि कैसे हम भीतर-बाहर की शान्ति और प्रियता को सुरक्षित रख सकते हैं।

संसार में रहने का एक बड़ा भारी दायित्व हम लोगों पर आता है। कि शरीर-धर्म का ईमानदारी के साथ पालन करो। क्या करो ? कि जिस संसार में, जिस समाज में, जिस देश में रहना है, उसमें निकटवर्ती जन-समुदाय के प्रति सद्भावना रखो और सहयोग दो। सद्भावना रखने का अर्थ क्या है ? कि भीतर-भीतर जैसे आपको अपना कल्याण अभीष्ट है, ऐसे ही जन समूह के प्रति यह भाव दिल में रखो, कि हे परमात्मा ! सबका भला हो ! हे भगवान् ! सबका कल्याण हो। सभी सुखी रहें ! सबका विकास हो ! यह बहुत बड़ी चीज है। इससे संसार का विकास जो होगा वह तो होगा ही, लेकिन इससे हमारे चित्त की शुद्धि हो जाएगी। जब हम सभी का भला मनाएँगे और सबके प्रति कल्याण-भावना रखेंगे तो किसी के साथ बुराई करने का कोई संकल्प अपने मन में नहीं उठेगा। अगर चित्त में कोई बुरा संकल्प न उठे तो चित्त शुऋ है ही क्योंकि बुरे संकल्पों से ही उसमें अशुद्धि आती है, विकृति आती है, गड़बड़ हो जाती है और दूसरे निकटवर्ती जन-समुदाय को यथा-सम्भव सहयोग देते रहिए, दूसरों के काम आते रहिए। किसी प्रकार की आशा रखकर नहीं कि इनके साथ ऐसा हम करेंगे तो ये भी हमारे साथ ऐसा करेंगे। इसमें साधना नहीं बनेगी। यह तो लेन-देन का व्यवहार हो जाएगा। जैसे भाई, किसी पड़ौसी के घर में कोई कष्ट आ गया तो हम सभी ऐसा सोचते हैं कि चलना चाहिए उसके पास, उसकी मदद करनी चाहिए। क्यों ? इसलिए कि

आज उस पर संकट आया है, कल हम पर भी आएगा तो यह हमारा साथ देगा। यह दुनियादारी की बात है। अच्छी बात है, बुरी बात नहीं है, लेकिन यह साधक की बात नहीं है।।

शरीर-धर्म का पालन करके शरीर के बंधन से ऊपर उठने का ध्येय जिसका है वह शरीर-धर्म का पालन करेगा और सहयोग तथा सद्भावना सबके प्रति रखेगा, लेकिन उसके बदले में वह संसार से किसी वस्तु की आशा नहीं करेगा। वस्तु हो या वचन, दोनों ही प्रकार का प्रतिदान होता है। वस्तु के रूप में भी प्रतिदान होता है और कथन के रूप में भी प्रतिदान होता है। थोड़ी-थोड़ी सी बात में हम लोगों ने सीखा है"धन्यवाद" और फिर कहते हैं "हम आपके बड़े कृतज्ञ हैं।" फिर कहते हैं कि "आप बड़े भले आदमी हैं।" यह सब "वर्बल रिवार्ड" (मौखिक पुरस्कार) कहलाता है। यह है पुरस्कार ही। तो इस प्रकार की आशा न रख करके जितना सहयोग और सद्भाव बने, हम रखें। सद्भाव में तो किसी प्रकार की कोई कमी हो ही नहीं सकती। वह तो असीम होता है। सारे संसार के सभी मनुष्यों का, सभी प्राणियों का भला मनाने में कोई अपने को असमर्थ अनुभव नहीं करेगा। और सहयोग देने में सबकी सीमाएँ हैं। अपने पास जितनी सामर्थ्य है उतनी ही सामर्थ्य को लेकर सहयोग देते रहिए, तो शरीर-धर्म का पालन हो गया।

अब आप सोचकर देखिए, कि आज हमारे सामाजिक जीवन में इतनी विषमता आ गई है कि हम एक-दूसरे पर विश्वास नहीं कर सकते; प्रेमपूर्वक दिल खोल कर बात नहीं कर सकते; अपना सुख-दुःख नहीं सुना सकते; एक-दूसरे से मदद नहीं ले सकते। हर समय शंकालु होकर घर से बाहर निकलना पड़ता है। दो-तीन दिन पहिले एक सज्जन आए थे। वे कहने लगे कि किसी काम से घर के बाहर निकलो, लौटकर आ जाओ तो भला समझो कि आ गए। नहीं तो, आजकल पता ही नहीं है कि घर से निकला हुआ आदमी सवेरे काम करने गया तो वह शाम तक कुशल से: वापस पहुँचेगा कि नहीं। ऐसी दशा हो गई है। इस दशा को सामने रख कर देखिए। और सत्संग के प्रभाव से हम सभी भाई-बहिन, मनुष्य होने के नाते शरीर-धर्म का पालन आरम्भ कर दें, तो समाज की दशा सुन्दर हो जाएगी कि नहीं ?

और दिल में किसी के प्रति कोई दुर्भावना पैदा ही नहीं हो, तो फिर कोई किसी के साथ बुराई नहीं कर सकेगा। और बुराई का अन्त हो गया, तो केवल भलाई ही भलाई रह जाएगी। कितना सुन्दर समाज बन जाएगा ! कितनी शान्ति हो जाएगी ! भीतर से अगर किसी के प्रति बुराई की भावना नहीं उठ रही है तो चित्त में कितनी शान्ति और शुद्धि आ जाएगी ! तो अपने भीतर भी शांति आ गई, अपने बाहर भी शान्ति आ गई। ऐसा एक सुन्दर समाज का निर्माण करने के लिए और मनुष्य की आन्तरिक और बाहरी शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए किसी विशेष प्रणाली की गवर्नमेंट काम नहीं कर सकती, कि किसी खास प्रकार की शासन-प्रणाली बनाएंगे तो ऐसा हो जायेगा। यह सम्भव नहीं हुआ। विदेशी शासन को हटाने में जिन लोगों ने सारी जिन्दगी तप किया और कष्ट सहन किया, वे लोग रो-रो कर दुःखी होकर यह कहते हुए प्राण त्याग कर दुनियाँ से चले गए कि क्या बतायें ! हम नहीं जानते थे कि राजनैतिक स्वाधीनता के बाद भी देशवासियों का दुःख नहीं मिटेगा। जयप्रकाश जी के मुख से मैंने सुना था। एक बार राँची में बोल रहे थे। बहुत दुःखी होकर कह रहे थे-क्या यह वही स्वाधीनता है जिसके लिए हमने अपना रक्त बहाया? तो शासन प्रणाली बदलने से, समाज के गठन को बदल

डालने से सुन्दर समाज नहीं बनेगा। क्यों ? क्योंकि मनुष्य सुन्दर नहीं हुआ तो समाज सुन्दर कैसे बनेगा ?

सत्संग का एक प्रोग्राम ऐसा है कि जिससे एक-एक व्यक्ति एक-एक भाई, एक-एक बहन अपने को सुन्दर बना ले, तो सारा समाज सुन्दर हो सकता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अगर मनुष्य है और उसको प्रकृति-प्रदत्त, प्रभु-प्रदत्त कुछ विशेष शक्तियाँ मिली हैं, तो ऐसे मनुष्य को समाज में रहने का अधिकार ही तब है, जबकि वह प्रकृति के विधान को माने, शरीर-धर्म, स्वधर्म का पालन करे। जो प्रकृति के विधान को मानने के लिए तैयार नहीं है, स्वधर्म, शरीरधर्म का पालन करने को तैयार नहीं है, उसे मानव-समाज में रहने का अधिकार नहीं है। सोच लो। तो यह शरीर-धर्म हो गया। इसका कितना सम्बन्ध है आपके आध्यात्मिक विकास से? अब सोचकर देखो।

भीतर अगर किसी के प्रति सद्भावना है और किसी के प्रति दुर्भावना है, तो राग-द्वेष मिटेगा ? नहीं मिटेगा। और अगर राग-द्वेष नहीं मिटेगा, तो ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का रस कैसे बढ़ेगा? तो सत्संग का सारा प्रोग्राम फेल हो जायेगा। कहने में डरना नहीं चाहिए, घबराने की कोई बात, नहीं है। यह तो हमारा-आपका अपना चित्र है, जो सामने दिखाई दे रहा है। और शरीर-धर्म और स्वधर्म का पालन करने के लिए हम तैयार नहीं हैं तो, मैं क्या बताऊँ, जिन मजहबों का, सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव संसार में मनुष्य के कल्याण के लिए हुआ, उन्हीं मजहबों और उन्हीं सम्प्रदायों के आग्रह से समाज में घोर अनर्थ हुआ। मजहब के नाम पर गैर-मजहबी

काम संसार में किसने किया? मनुष्यता को भूल जाने वालों ने किया, मानवधर्म पर विचार नहीं करने वालों ने किया, मजहब से जीवन को सुन्दर नहीं बनाया और मजहब का आग्रह लेकर समाज को दुःखी किया। यह हुआ। तो इस दृष्टि से हम लोगों के लिए विचारणीय बात यह है कि हम मनुष्य हैं और शरीर को लेकर संसार में रहते हैं और समाज के साथ मिले हुए रहते हैं। तो ऐसी दशा में हम भाई-बहनों को शरीर-धर्म के पालन पर ध्यान देना चाहिए। अगर हम इस धर्म का त्याग कर देते हैं और सबके प्रति सद्भाव नहीं रखते हैं, सबको सहयोग नहीं देते हैं, तो अपना चित्त भी शुभ्र नहीं रह सकता और समाज की शान्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकती। एक बात हो गई।

अब दूसरी बात। महाराज जी कहते हैं कि स्वधर्म भी है तुम्हारा। चूँकि मनुष्य का व्यक्तित्व जो है उसमें एक पहलू भौतिक तत्त्व का है तो दूसरा अलौकिक तत्त्व का है। भौतिक तत्त्वों से तीनों शरीरों की रचना हुई है--स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर-स्थूल जगत्, सूक्ष्म जगत्

और कारण जगत्। ये सब एक ही रूप के हैं। तो, भौतिक तत्त्वों से इनकी रचना हुई है। वे भी हमारे साथ लगे हुए हैं। अब यहाँ पाँच भौतिक तत्त्वों से बना हुआ, बदलने वाला, परिवर्तनशील, मरणशील शरीर अपने पास है। उसी स्थान पर व्यक्तित्व (Personality) में 'अहं रूपी अणु के रूप में ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का अलौकिक तत्त्व भी विद्यमान है। तो यह व्यक्तित्व जो मनुष्य का है, यह बड़ा ही विलक्षण मिश्रण (Combination) है, लौकिक और अलौकिक तत्त्वों का। ऐसा अजीब सम्मिश्रण है यह, कि इसमें अगर भौतिक तत्त्वों को प्रधानता दे दो, उनसे चिपक जाओ तो सब भौतिक लक्षण अपने पर आरोपित हो जाते हैं। और अलौकिक तत्त्वों को प्रधानता दे दो, उनकी अभिव्यक्ति को पुरुषार्थ आरम्भ कर दो, तो अलौकिक विभूतियाँ प्रकट हो

जाती हैं। ऐसा विलक्षण सम्मिश्रण (Conibiraction) है यह मनुष्य का व्यक्तित्व। इस दृष्टि से केवल शरीरधर्म के पालन से जीवन का पूर्ण विकास नहीं होता। स्वधर्म का पालन भी अनिवार्य है और स्वधर्म क्या है? स्वधर्म के रूप में महाराज जी ने तीन वाक्य बताए अपने द्वारा ज्ञान के प्रकाश में देख कर के इस बात को स्वीकार करो कि 'दृश्य जगत् में मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, दृश्य जगत् से मुझे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए और सर्वसमर्थ प्रभु अपने हैं। इनमें दो बातें ज्ञान से सिक्त हैं और एक बात विश्वास से साध्य है। ईश्वरीय विभूतियों की अभिव्यक्ति को ज्ञानसिक्त नहीं कहा गया, विश्वास से साध्य कहा गया। अभिव्यक्ति हो जाती है, व्यक्ति के अनुभव में बात आ जाती है। तो मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए—यह ज्ञान से सिक्त है। सर्व समर्थ प्रभु ही मेरे अपने हैं--यह विश्वास से साध्य है। ज्ञान से सिक्त कैसे है ? कि यहाँ जो कुछ दिखाई दे रहा है अर्थात् आपके लिए देखने का विषय जो बन सकता है, आपकी दृष्टि का विषय जो बन सकता है वह आपका व्यक्तिगत नहीं हो सकता, अपना नहीं हो सकता, "स्व" नहीं हो सकता। अगर 'स्व' होता, तो आपका दृश्य नहीं बन सकता था। यह दर्शन पकड़ में आ रहा है?

जिसका दृश्य बन गया, वह "स्व" नहीं हो सकता। उससे आप दूरी अनुभव कर रहे हैं। "यह" मेरा हाथ है, "यह" मेरी आँखें हैं, "यह" मेरी सामग्री है। तो "मैं" से जो भिन्न है वह दृश्य बनकर आपके सामने आता है। चाहे बाहर का दृश्य देखो, चाहे भीतर का दृश्य देखो। आँखों को बन्द करके अनेक प्रकार की धारणा करके, अनेक प्रकार की कल्पना करके, अनेक प्रकार की आसक्तियों की मुहर (stamp) लगाकर हम लोग भीतर-भीतर भी बहुत से दृश्य देखते हैं। लेकिन दार्शनिक सत्य को सामने रखकर विचार करिए, तो यह बात विचार से सिक्त हो जाती है कि जो तुम्हारा दृश्य बन सकता है-भीतर अथवा बाहर-वह जीवन नहीं हो सकता। महाराज जी ने इस दार्शनिक सत्य को बड़े जोर से स्थापित किया। कहा कि भैया ! जो तुम्हारा दृश्य बन सकता है वह जीवन नहीं बन सकता और जो तुम्हारा जीवन है उसका दृश्य नहीं बन सकता। इसलिए इस सत्य को स्वीकार करने में किसी को भी हिचक नहीं होनी चाहिए कि दृश्य-मात्र में मेरा व्यक्तिगत (निजी) कुछ नहीं है। अरे, यह मानने में कोई नुकसान नहीं होगा भाई। दृश्य जिसने बनाया उसका है। सृष्टि जिसने बनाई है, उसकी है। और जहाँ की तहाँ है, जैसी है वैसी है। मैं उसमें से किसी वस्तु को पकड़ कर अपनी करके मान लूं, तो मेरे मान लेने से वस्तु मेरी हो नहीं जाती, लेकिन मुझको यह बड़ा भारी घाटा लगता है कि उस वस्तु की ममता में बँध जाती हूँ। मेरे मान लेने से वस्तु मेरी हो नहीं जाती। आप मानते रहे, मानते रहे, फिर भी सब कुछ हाथ में से निकल गया। निकल गया कि नहीं ? निकल गया।

शरीर में युवावस्था का आना सभी भाई-बहिनों के लिए, सभी शरीरधारियों के लिए एक अनिवार्य प्राकृतिक तथ्य है। शरीर-धारी होने के नाते यवावस्था सब प्रकार से उपयोगी है, और सभी उसको पसन्द करते हैं। सुख भोगने के लिए भी उपयोगी है, योग की साधना के लिए भी उपयोगी है, जो भी करो, सब बातों के लिए वह अवस्था उपयोगी है। उपयोगी भी है, हम लोगों का पसन्द भी है। उसको रखना भी चाहते हैं। लेकिन यह कभी ठहरी है? मुट्ठी में बाँधकर रखना चाहोगे तो भी चली जाएगी। "वह मेरी है" ऐसा कहना बुद्धिमानी नहीं मालूम होती। तो यह बात बिल्कुल ज्ञान से सिक्त है कि दृश्य जगत् में किसी व्यक्ति का व्यक्तिगत कुछ नहीं है। फिर, जब शरीर पैदा

हुआ था तब केवल एक शरीर ही था नंग-धड़ेग। उसके पास कुछ नहीं था। लेकिन आज तो उसके पास बहुत सामग्री इकट्ठी हो गई है तो इसका अर्थ क्या निकला ? इसकी क्या उपयोगिता है ? इसको क्या सार्थकता है ? इसकी सार्थकता यह है, कि शरीर और संसार के सहयोग से जो भी कुछ अपने को प्राप्त जैसा लगता है, उसको कृपापूर्वक, अपने पर दया करके, सब कुछ जगत् की सेवा में लगाते चले जाओ, और इसे अपना नहीं मानोगे तो संसार तुम्हें छू नहीं सकेगा।

मैंने ऐसे सेवाभावी व्यक्ति को देखा है। कई वर्षों से वे समाज की सेवा कर रहे हैं। 14 वर्ष की उम्र में Glands TB. हो गया। सारा गला T.B. की ग्लान्डस् से भर गया। ऐसा लगा कि लड़का गया। प्रभु की कृपा हो गई, ठीक हो गया। उसने कहा कि मेरी जिन्दगी तो खत्म ही हो गई थी, अब जो समय मिला है, भगवान् का दिया हुआ प्रसाद ही मालूम होता है, तो मैं सुख का भोग नहीं करूंगा। भगवान् की सृष्टि की सेवा करूंगा। तब से वे सेवा कर रहे हैं। अब तो पैंतालिस वर्ष के हो गए होंगे। महाशयजी-महाशय जी कहलाते हैं। तो उनके इस सेवाभाव से प्रभावित हो करके लाखों-लाख की सम्पत्ति, चावल, गेहूँ, आटा, गर्म कपड़े, दवाइयाँ, पुस्तकें शरीरों के लिए और मनुष्य के जीवन के विकास के . लिए कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो समाज उनके आगे धर नहीं रहा है। बैठे रहते हैं और चारों ओर ढेरी लगी रहती है। यहाँ जमीन से लेकर छत तक अनाज की, कपड़ों की, सबकी ढेरी लगी रहती है। वह भला आदमी बैठकर खुले हाथ से आनन्दपूर्वक बाँटता रहता है, बाँटता रहता है। देने वाले आकर दे जाते हैं—महाशय जी ! इसको सेवा में लगा देना और लेने वाले आकर ले जाते हैं—महाशय जी ! आज हमको किताब चाहिए, आज हमको फीस चाहिए, आज हमको दवाई चाहिए, आज हमको कपड़े चाहिए, खाना चाहिए। सामान आता रहता है, वे देते रहते हैं। एक तिनका उसमें से अपने लिए नहीं छूते हैं। जब कम उम्र थी, जब घर में थे, जब उनके माता-पिता जीवित थे तो घर से खाते थे। अभी थोड़े दिन पहले उनसे मेरी भेट हुई तो मैंने पूछा कि महाशयजी ! खर्च कैसे चल रहा है?

तो कहने लगे कि पिताजी का शरीर तो अब नहीं रहा। मैंने कहा कि फिर कौन खिला रहा है ? तो बोले कि पिताजी की दुकान किराये पर चल रही है उसी में से सब खर्च चल रहा है। बहुत सादा रहन-सहन है उनका। - और लाखों-करोड़ों उनके सामने बरस रहे हैं और बाँट रहे हैं। तो जो कुछ सामने आ रहा है उसमें से एक तिनके को भी उन्होंने कभी अपना करके नहीं माना। इसलिए संसार उनको छूता नहीं है। कितना भी आ जाए, कितना भी कोई दे जाए, ढेरी लगी हुई है और बाँटते जा रहे हैं। मैं वहाँ उपस्थित थी तो मुझको बुलाने आए–"माताजी ! आज आप चलिए, आपके हाथ से गर्म कपड़े और कम्बल हमें बँटवायेंगे। सब सत्संगी लोग खड़े हैं वहाँ काम करने वाले, आ रहे हैं लोग लेने वाले। आप चलिए। मैं बहुत हर्षित हो गई। हमने कहा-'चलो भाई, गंगाजल से गंगा-पूजन कर देंगी मैं।' ले जाकर मुझको कुर्सी पर बिठा दिया। एक तरफ से देने वाले कपड़ा नाप-नापकर, काट-काटकर देते जा रहे हैं, दूसरी तरफ बँटता जा रहा है। बड़ा आनन्द आता है।

सच मानिए कि आप सोना, हीरा, मोती, अनाज, फूल, फल, वस्त्र-संसार की सामग्री में डूबे रहिए तब भी संसार आपको छू नहीं सकता। ऐसा नहीं है कि समाज की सेवा करने चले तो फँस गए, घुसते गए। अरे, तुम काहे को घुसोगे? घुसता हुआ दिखाई देता है शरीर। तो शरीर समाज से बाहर उठाकर कहाँ ले जाओगे? हाथ-पाँव के द्वारा

दौड़कर समाज में जा रहे हो। देने वाले वस्तु दे रहे हैं तो हाथ से उठा-उठाकरे लेने वाले को दे रहे हो। लेने वाले, देने वाले दोनों जो शरीरधारी हैं, यह एक-दूसरे से बिछुड़े कब थे? कि आज आपको लगता है कि मैं फैंस रहा हूँ। अरे, तुम काहे को हँसोगे? और इस संसार की वस्तु में से समाज ने मुझ पर विश्वास करके सामग्री मुझे दी है, प्रकृति ने मेरी उदारता से प्रसन्न होकर के अपनी उदारता का दरवाजा चौड़ा कर दिया, बरस रहा है।

मेरे सामने सामान, तो समाज की उदारता से बरस रहा है, प्रकृति की उदारता से बरस रहा है, प्रभु की कृपालुता से सामान मेरे पास आ रहा है। तो उससे मुझमें बन्धन नहीं होगा। न आने वाली वस्तु को अपना मानोगे, न दी हुई वस्तु में तुम्हारी कोई ममता होगी और न तुम्हारा कोई अभिमान होगा। बन्धन काहे का ?

लेकिन मैंने भी समाज के साथ सम्बन्ध रखकर देखा है, समाज का काम करके देखा है। तो आई हुई वस्तु को अपनी मानने की भूल न करूं मैं, इसमें तो काफी सावधानी है। लेकिन थोड़ी-सी तकलीफ हो जाती है। मुझे समय-समय पर, कि जिस काम के लिए मैंने जिन्दगी लगाई, उसमें अगर कहीं त्रुटि दिखाई दे, तो भीतर-भीतर थोड़ी तकलीफ होने लगती है। ऐसा लगता है कि इतना परिश्रम मैंने किया, इतना समय मैंने लगाया, इतनी एनर्जी (energy) मैंने खपाई, और जिनके लिए किया उनको सूझ नहीं रहा है। वे सदुपयोग नहीं कर रहे हैं। इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि किए हुए परिश्रम और रखी हुई सद्भावना का फल किसी न किसी रूप में देखना अपने को पसन्द आ गया। उसमें कुछ त्रुटि दिखाई दे, तो भीतर-भीतर कष्ट होने लगता है। यह भी नहीं होना चाहिए। जब मैं देखती हूँ कि उसमें दिमाग उलझ रही है और चिन्तन बढ़ रहा है, तो मैं कहती हूँ कि हम काहे को परेशान हों। जिसकी सृष्टि, उसको मुबारक। अपने को तो थोड़ा सावधान रखने की जरूरत होती है। वस्तुओं के आ जाने से कोई आदमी नहीं फंस सकता। धन के अधक उपार्जित हो जाने से कोई लोभी नहीं बन सकता। आज्ञाकारी, सुशील, कहना मानने वाली, सेवा करने वाली सन्तान के हो जाने से कोई आसक्ति में नहीं फैंस सकता। उसको अपना मानोगे, तो फँस जाओगे।

मेरी एक बहुत ही परिचित महिला हैं। बड़े ऊँचे व्यक्तित्व की स्वामिनी हैं। देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में उन्होंने खूब काम किया, समाज-सुधार का खूब काम किया है। बहुत ही विदुषी महिला हैं। उनकी दशा मैंने देखी है। एक लड़की है उनकी। उसको वे अपना मानकर बहुत पीड़ा पा रही हैं। अपना मानती हैं उसको, और जितनी इनकी गहरी आसक्ति है उस लड़की के प्रति, उतना ही ज्यादा उस लड़की में विरोध है। वह मिसेज-मिसेज करके बात करती है माँ से। माँ-माँ कभी मुँह से। कहती नहीं है। उनसे कोई भी अच्छी बात कहे, सुझाव दे, सुनती नहीं है। वे अपने दुःख से दुखी हैं, लड़की के दुःख से दुःखी हैं। उस लड़की की सन्तान के दुःख से दुःखी हैं। मैंने एक दिन कहा कि माताजी ! छोड़ो, अब सयानी हो गई है, विवाह कर दिया आपने। बाल-बच्चेदार हो गई। अब रहने दो इसको, करने दो काम इसको अपने ढंग से। आप चलिए हमारे साथ, आश्रम में ले चलेंगे, आपको ठीक से रखेंगे। तो कहने लगी-"देवकी बहन जी ! अगर मैं इसको छोड़कर चली जाऊँगी, तो यह अपने बच्चों को बहुत दुःख देगी।" तो मैं क्या बताऊँ ! जीवन के ऐसे-ऐसे विकट चित्र मेरे सामने आते हैं कि देख-देख करके एकदम हृदय में हलचल मच जाती है। हाय भगवान् ! आज्ञा मानने वाली, सेवा करने

वाली, धन कमाने वाली, माता-पिता की यश-कीर्ति बढ़ाने वाली सन्तान हो और उसकी ममता में कोई हँस जाय, तो यह भी एक बात समझो। सो भी नहीं। गाली देने वाली, कटु बोलने वाली, परवाह न करने वाली, कहना न मानने वाली, सेवा न करने वाली सन्तान के पीछे इस प्रकार चिपक जाना कितनी दर्दनाक बात है !

यह मैं उदाहरण के लिए रख रही हूँ, कि आप ऐसा मत सोचिए, कि सामान मेरे पास आ गया तो मैं फँस गया, कि समाज का काम करने के लिए उसमें घुस गया तो फँस गया। सो सब कुछ नहीं। अगर इसमें से किसी भी वस्तु को मैं अपना मानूं, तो मेरी इस भूल से मैं हँसती हूँ और संसार तो जहाँ है, वहाँ है। जैसा है, वैसा है। जिसका है, उसका है। और उसने जो विधान बना दिया उसी पर चल रहा है। तुम ममता में फैंस गए तो अपने अविनाशी आनन्द से वंचित हो जाओ। तुम ममता से मुक्त हो जाओ तो तुम भी आनन्द मनाओ, सृष्टि भी आनन्द मनाए, सृष्टिकर्ता भी आनन्द मनाए। दुःख का कहीं लेश ही नहीं है, नाम ही नहीं है।

इसलिए महाराज जी ने स्वधर्म पालने में पहली सलाह हम लोगों को दी कि भाई ! इस सत्य को तुम स्वीकार करो। ज्ञानपूर्वक यह सत्य तुम्हारे जीवन में सिऋ है कि दृश्य जगत् में कोई भी चीज मेरी व्यक्तिगत नहीं है। न कोई वस्तु हमारी व्यक्तिगत हो सकती है और न हमें अपने लिए किसी वस्तु की आवश्यकता है। जब शरीर को अपना मानो, तब बहुत सी वस्तुओं की जरूरत अपने को पड़ती है। शरीर भी तो एक वस्तु ही है। यह भी तो जगत् की एक रचना ही है। यह भी तो एक दृश्य है। तो इसको अपना करके हम नहीं मानेंगे और ऐसे मानेंगे कि अपने को इसकी जरूरत नहीं है, तो फिर किसी चीज की जरूर नहीं रहेगी। ममता भी चली जाएगी। कामना भी चली जाएगी। चित्त की शुद्धि हो जाएगी।

आध्यात्मिक विकास हो जाएगा और फिर अपने द्वारा आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर परम प्रेमास्पद प्रेमस्वरूप प्रभु को अपना मानो तो इस सत्य की स्वीकृति से अपने जीवन में ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति होती है। कौनसा रूप बनाकर आयेंगे, कैसे आपको रिझायेंगे—यह तो "वे" जानें और आपकी भावना जानें। लेकिन मैं जो जानती हूँ वह यह बात है। कि जिस दिन से कोई भी मनुष्य अपने हृदय के भाव पक्ष को उस भाव-ग्राहक के प्रति जोड़ देता है, अपने हृदय के प्रेम भाव को उस प्रेमस्वरूप के प्रति अर्पित कर देता है, उसी क्षण से उसके अहं रूपी अणु में ईश्वरत्व विकसित होने लगता है। उसके अन्तर की वह दृष्टि खुल जाती है कि जिस दृष्टि में सृष्टि लुप्त हो जाती है। वह जब भाव भरी दृष्टि से देखना आरम्भ करता है तो उसके भाव का आदर करने के लिए वे परम प्रेमास्पद, वे बहुरूपिये दृश्य-जगत को छिपा करके अपने प्रेमास्पद रूप में प्रकट हो जाते हैं। तो भक्त कहने लगता है कि

"जित देखें तित श्याममयी है, जित देखू तित श्याममयी है।" क्या हो गया? लौकिक स्तर से वह स्वयं ऊँचा उठ गया। क्या हो गया? तो अशरीरी, अलौकिक अस्तित्व में उसको चारों ओर अपना प्रेमास्पद ही दिख रहा है। और कोई है ही नहीं। और कोई हो सकता नहीं। प्रेमास्पद हैं।

और उनका प्रेम है। प्रेमास्पद हैं और उनका प्रेम है। तो प्रीति भरी दृष्टि जब पड़ती है तो उसके रस में अवगाहन के लिए वे परमात्मा ही प्रेमास्पद के रूप में प्रकट हो जाते हैं। और जित देखें तित तू ही तू, जित देखू तित श्याममयी है। आकाश में नीले-नीले सजल बादल आ रहे हैं तो घनश्याम का दर्शन हो रहा है। वृक्ष के पत्ते डोल

रहे हैं तो घनश्याम की ताली बज रही है। वन के पक्षी बोल रहे हैं तो घनश्याम की वंशी बज रही है। धरती पर जमुना का नीला जल बह रहा है तो घनश्याम की याद आ रही है। तो जित देखें तित तू ही तू। न दृष्टि रही, न सृष्टि रही। न भेद रहा, न दूरी रही, न भिन्नता रही। यह अनमोल अनुभव, जिसकी तुलना संसार में कभी किसी से हो ही नहीं सकती, यह अनुभव हम सभी भाई-बहिनों को हो सकता है। कब? शरीर-धर्म और स्वधर्म का पालन करो तब। तो अब सोचकर बताइये मुझे कि शरीर-धर्म और स्वधर्म के पालन करने में कुछ अधिक खर्च की जरूरत है? नहीं है। भूखे-नंगे रहने की जरूरत है? समाज छोड़कर भागने की जरूरत है ? हम जहाँ हैं, और जैसे हैं उसी दशा में उसी जगह पर रहते हुए, आज ही शरीर-धर्म और स्वधर्म का पालन आरम्भ कर सकते हैं। और, आज से ही उसके विलक्षण अनुभव को पाकर सदा-सदा के लिए निश्चिन्त और निर्भय हो सकते हैं।

प्रवचन 7.

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों !

मानव का एक नाम साधक है, जो मानव है, वह साधक है। जो साधक है उसके जीवन में साधने का निर्माण आवश्यक है क्योंकि साधन-निर्माण से साधक का जीवन साधन-तत्त्व से अभिन्न होता है और साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर ही वह साध्य को पाता है। इस दृष्टि से हम सभी भाई-बहनों के जीवन में साधन-निर्माण का प्रोग्राम सबसे पहला प्रोग्राम होना चाहिए। सबसे पहले साधन का निर्माण हो। | आपने बहुत सत्संग सुना है और बहुत बार ऐसा भी सुना होगा कि साधन करो, साधन करो। साधन करने की बात नहीं होती है। करने की बात होती है—क्रियात्मक सेवा करने का पुरुषार्थ 'स्व' के द्वारा सत्य की स्वीकृति। करने का पुरुषार्थ होता है-अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग। तो जाने हुए असत् के संग का त्याग करना होता है, जीवन के सत्य को स्वीकार करना होता है। सत्य की स्वीकृति से और असत् के संग के त्याग से मनुष्य के व्यक्तित्व में से जब असाधनों का नाश होता है और साधन का निर्माण होता है तब असाधन के नाश होने पर अपने आप साधक का जीवन साधनमय हो जाता है। तब अपने आप ध्यान लगने लगता है, भजन होने लगता है। तो भजन करने वाली क्रिया नहीं है, यह होने वाली साधना है।

आज 'सन्तवाणी' में भजन का अर्थ हम लोगों ने सुना। आप बहुत से भाई-बहिन भी भजन को जीवन में स्थान देते होंगे। पूरा स्थान इसको भले न दें अर्थात् सम्पूर्ण जीवन भजन बन जाए--इस प्रकार का पुरुषार्थ आपने भले न किया हो, लेकिन 24 घण्टों में से कुछ घण्टों का समय हम भजन में लगायेंगे-ऐसा नियम हम लोगों में से बहुत से भाई-बहिनों का होगा। थोड़ी देर के लिए भजन हो और शेष समय के लिए जीवन में से भजन निकल जाय, तो आप सोच सकते हैं कि उस भजन से सफलता नहीं मिल सकती। हम लोगों में से बहुतों का अपना यह अनुभव है कि सफलता नहीं मिली है, समस्याओं का समाधान नहीं हुआ है। भगवत् अनुराग से जीवन भरपूर नहीं हुआ है। अगर ऐसा नहीं हुआ है, और हम लोगों को भजन वाली साधना पसन्द है, तो उसमें जो त्रुटि है उसे निकाल कर दूर कर देना हमारा पुरुषार्थ है। त्रुटि क्या रह गई ?

पहली बात महाराज जी कह रहे हैं कि भाई ! भजन शरीर-धर्म नहीं है कि शरीर लगाओगे

तो भजन बनेगा। गाओगे-शरीर की सहायता लेकर तो वह भजन होगा, कि बजाओगे-शरीर की सहायता लेकर, कि नृत्य करोगे-शरीर की सहायता लेकर---तो उसका नाम भजन होगा। स्वामी जी महाराज ऐसा नहीं बताते। उनका कहना है कि जो काम हाथ-पाँव से किया जा सकता है, मुख से बोलकर जो कुछ किया जा सकता है अर्थात् शरीरों की सहायता से जो कुछ किया जा सकता है वह तो यन्त्रों की सहायता से भी हो सकता है। फिर तो भजन का फल यन्त्र को भी मिलना चाहिए। उसको क्या फल हो सकता है, जिसमें चेतना नहीं है, जिसमें हृदय-शीलता नहीं है, जिसमें प्रेम के आदान-प्रदान की सामर्थ्य नहीं है, उससे भजन का क्या अर्थ निकलेगा? क्या सार्थकता होगी? इसलिए जो ईश्वर-विश्वासी जन हैं, और आस्तिकवाद की दृष्टि से जिन्होंने साधना का

आरम्भ किया है, उन सभी भाई-बहिनों की सहायता के लिए महाराज जी मौलिक बात हम लोगों के सामने रख रहे हैं कि भाई ! विचार करके देखिए, भजन शरीर-धर्म नहीं है। भजन तो जीवन है, भजन स्वधर्म है। जब कभी आपके भीतर भजन का संकल्प उठता है कि अब तो हम थोड़ी देर बैठेगे, अब तो हम कुछ देर भजन करेंगे तो भजन की साधना के पीछे वह अनन्त परमात्मा अवश्य आपकी दृष्टि में रहता है। भजन करेंगे, तो किसका करेंगे? कोई आपका प्रिय है, कोई आपका इष्ट है, कोई आपका आदर्श है, कोई आपके जीवन का आधार है–तो पहले वह होता है आपकी दृष्टि में, तब उसकी प्रसन्नता के लिए पीछे से भजन की बात आती है।

अगर कोई भगवान् को ही न माने, अथवा मान करके भी पसन्द न करे, तो उसके जीवन में भजन की बात पैदा होगी ? नहीं होगी। तब देखो, कि भजन की प्रधानता है कि जिसका भजन आप पसन्द करते हैं, उसकी प्रधानता है? जिसका भजन हम लोग करना चाहते हैं उसकी प्रधानता है। न ! और भजन से क्या होता है भाई? तो भजनानन्दी भजन को इसलिए पसन्द करते हैं कि उस भजन से परमात्मा को आनन्द आता है। उसको प्रसन्न करने के लिए भजन का प्रश्न उठता है, साधक के जीवन में। इस दृष्टि से बहुत शान्ति-पूर्वक आप अपने भीतर खोज-ढूंढकर के देखिएगा। तो महाराज जी जो कह रहे हैं वह बिल्कुल सार्वभौम सत्य है। संसार के सभी प्रकार के ईश्वरवादी-हिन्दू भी ईश्वरवादी हैं, मुसलमान भी ईश्वरवादी हैं, ईसाई भी ईश्वरवादी हैं और भी ईश्वरवादी होंगे जिनको कि हम लोग जानते नहीं हैं तो संसार भरके जितने भी ईश्वरवादी मनुष्य हैं, जो ईश्वर को मानने वाले हैं, जिनके जीवन में भजन का प्रश्न है, सब के लिए यह सर्वमान्य सत्य है कि भाई, भजन किया नहीं जाता, भजन होता है।

भजन शरीर-धर्म नहीं है, भजन "स्वधर्म" है। भजन के सम्बन्धं में पहली बात जो हम लोगों को याद रखनी चाहिए वह यह कि भजन स्वधर्म" है, शरीर-धर्म नहीं है। अब किसी भाई-बहन के सामने भगवत् भक्तों का चरित्र आ सकती है, जैसे नरसी मेहता का नाम सुना है हम लोगों ने। बड़ा नृत्य करते थे। जैसे भक्तिमती मीरा का नाम सुना है हम लोगों ने। ऐसे ओर भी संत हो गये, भक्त हो गए जिन्होंने खूब गाया, खूब नृत्य किया। ऐसा मत सोचना कि नृत्य और संगीत उनके भजन का आधार था। ऐसा नहीं था। मीराजी ने पहले परमात्मा से नित्य सम्बन्ध स्वीकार किया, फिर सारे सम्बन्धों को उसे एक सम्बन्ध में विलीन किया, फिर अपने 'स्व' को उस परमात्मा के समर्पित किया।

जिसने एक परमात्मा को अपना प्रिय करके माना और उसी के प्रति सारे सम्बन्ध

समर्पित कर दिए, उसके जीवन में उस परमात्मा की याद स्वाभाविक हो जाती है, सहज हो जाती है। उसकी याद करनी नहीं पड़ती है, याद आने लगती है। तो परमात्मा के साथ अपना नित्य सम्बन्ध है-इस बात को मान लेने से परमात्मा की याद आती है। फिर आगे उन्होंने क्या किया? तो मीराजी ने आगे चल कर अपने सब संकल्प प्रभु के संकल्प में मिला करके छोड़ दिये। समय-समय पर उनके मुख से जो शब्द निकले उन शब्दों से यह बात प्रकट होती है। एक पद में उन्होंने कहा--'जित बैठावे तित ही बैठें, जो देवे सो खाऊँ', जा रंग राँचे आप साँवरिया ताही में रंग जाऊँ।" सर्वस्व समर्पण हो गया न ! अपना करके कोई संकल्प नहीं है। जहाँ बैठाओ वहाँ बैतूं जो दो सो खाऊँ। आगे इस पद में यह भी पंक्ति आई है--'बेचे तो बिक जाऊँ, जा रंग राँचे आप साँवरिया ताही में रंग जाऊँ।' अब यह उनका सर्व संकल्पों का त्याग, भगवत्-संकल्प पर अपने को न्योछावर कर देना, 'जनम-जनम की मीरा दासी, तुम बिन मेरो और न कोऊ, कृपा रावरी कीजै' 'ऐसे अच्छे-अच्छे शब्द हैं। ऐसी अच्छी अभिव्यक्तियाँ हैं कि जिनसे साधना के पथ पर चलने वाले जो ईश्वर-विश्वासी साधक हैं, उनकी पता चलता है कि सचमुच जिन्होंने ईश्वर का भजन किया, उनके मूल में क्या बातें थीं।

उनके मूल में पहली बात थी--परमात्मा के साथ आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति। दूसरी बात थी अपने सहित सब कुछ उन्हें समर्पित कर देना और, तीसरी बात थी उनकी प्रसन्नता पर अपने को छोड़ देना। उनकी प्रसन्नता के लिए अपने को छोड़ देना—यह भजन का आधार है। जो अपनी प्रसन्नता के लिए परमात्मा को मानता है, वह भजन नहीं कर सकता। अपनी खुशी के लिए जो परमात्मा को मानेगा, वह भजन नहीं कर सकता। वह तो अपनी कामनाओं को विविध रूप से सुन्दर-सुन्दर ढंग से परमात्मा के सामने प्रकट करता रहेगा। उसके द्वारा भजन नहीं होता है। तो भजन होता है किसके द्वारा ? जिसको परमात्मा की प्रसन्नता के अतिरिक्त अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, उसके द्वारा भजन होता है। मेरा कुछ नहीं है, सब कुछ तुम्हारा है. और तुम्हारा मुझ पर सब प्रकार का अधिकार है-'जित बैठाओ तित ही बैठें, इसका अर्थ क्या है? कि मुझ पर तुम्हारा अधिकार है।' 'सजन सुध ज्यों जानो त्यों लीजे। तुम बिन मेरो और न कोऊ कृपा रावरी कीजै, तुम्हारे बिना और कोई मेरा है नहीं और तुम जैसे चाहो वैसे रखो हमें। जैसे तुमको पसन्द आये वैसे मेरी सुधि लो। तो ऐसा एक सर्वस्व-समर्पण का भाव पहले आता है। साधक अपनी सब कामनाओं, सब वासनाओं का त्याग करके केवल प्रभु की प्रसन्नता के लिए अपने को उनके समर्पित कर देता है। अपने पर उनका पूरा अधिकार मान लेता है। इस सत्य की स्वीकृति से उसके जीवन में परमात्मा के प्रति जो प्रियता उपजती है, उसका नाम 'भजन' है।

तो पहले सत्संग हुआ, अर्थात् सत्य की स्वीकृति हुई। फिर क्या हुआ? उस सत्य की स्वीकृति से सब असत् का संग छूट गया। सब असाधनों का नाश हो गया, फिर क्या हुआ ? कि उस प्यारे की, उस शरण्य की, उस जीवन के आधार की याद आने लगी। तो जैसे-जैसे उनकी याद आती है, वैसे-वैसे उस याद को प्रकाशित करने के लिए विविध प्रकार के शब्द बनते जाते हैं, पद बनते जाते हैं, नृत्य होता जाता है, बाजा बजता जाता है। तो प्रधानता भजन में भाव की है। भजन में प्रधानता प्रियता की है। भजन में प्रधानता प्रभु की प्रसन्नता की है। तो प्रभु की प्रसन्नता–यह भक्त के जीवन का आधार बन जाता है और

उनकी प्रियता के कारण रह-रह कर उनकी याद आती रहती है।

मैंने एक बड़ा ही विलक्षण रहस्य सुना है स्वामीजी महाराज के मुख से, और थोड़ा बहुत कुछ अंशों में अनुभव करके देखा है। बड़ी विचित्र बात है, कि मनुष्य का नित्य सम्बन्ध और स्वाभाविक आकर्षण परमात्मा की ओर है। स्वाभाविक आकर्षण, क्योंकि वहीं जाकर उसको विराम मिलता है। उसी से जुट जाने का उसका जो अपना निर्णय है, इसी में उसको निश्चिन्तता मिलती है। तो फैंसे रहते हैं हम दृश्य-जगत् के साथ

और भीतर-भीतर आकर्षण जो है, वह हमको परमात्मा की ओर खींचता रहता है। जब अपने द्वारा स्वेच्छा से किसी ने निश्चय किया कि मेरा तो परमात्मा से ही नित्य सम्बन्ध है और मेरे पास जो कुछ है, इस सबके सहित—यह जीवन परमात्मा को समर्पित है और उसकी प्रसन्नता मेरे जीवन का आधार है-ऐसा जिसने निश्चय किया कि उसके भीतर अपने आप प्रभु की याद आने लगती है। और वह याद इतनी जोरदार होती है। और इतनी मीठी होती है और सब प्रकार के अभाव को पूरा करने वाली होती है, कि उससे संसार की विस्मृति हो जाती है।

लेकिन हमारी क्या दशा है? सब बातों में ईश्वरवादी होकर के भी तर्क का पक्ष हम छोड़ नहीं सके। एक दिन मैं बैठे बैठे सोच रही थी, कि ऐसा कैसे होता है ? स्वामीजी महाराज कहने लगे कि अरे भाई ! तुम एक बार झूठ-मूठ को भी कह तो दो कि हे प्रभु ! मैं तेरा ! तुम्हारी झूठी बात को भी सच्ची करने के लिए वे इतने तत्पर रहते हैं, कि देवकी जी ! वे पकड़ लेंगे तो फिर तुम छुड़ाना चाहो तो नहीं छोड़ेंगे। और उदाहरण देकर कहने लगे कि हाथी को गन्ना बहुत पसन्द है। मीठा रस होता है न ! तो हाथी उसको खाता है बहुत शौक से। तो कहने लगे हाथी को गन्ना पकड़ा देना आसान है, लेकिन पकड़ा देने के बाद उसके मुख में से निकालना सम्भव नहीं है। बड़ा बलवान पशु है और उसको बहुत पसन्द है गन्ना और इतना बड़ा मुँह खोलकर उसने एक बार गन्ने को लिया चबाने के लिए, उसका मीठा रस चखने के लिए, तो तुम्हारी हिम्मत है, कि उसके मुख से गन्ना निकाल लो ? तो ऐसे ही होता है।

मनुष्य अपनी ओर से अनेक प्रकार के असाधनों की विकृति को लेकर के, जन्म-जन्मान्तर के लोभ, मोह, काम, क्रोध का परिणाम लेकर के थका हुआ, भवताप से तपा हुआ, दुनियाँ की प्रतिकूलताओं से जर्जर होकर के याद करता है--हे सर्वसमर्थ ! मैं तुम्हारी शरण हूँ। हे दीनबन्धु ! अब मुझे सम्हालो। हे पतित-पावन ! मैं तुम्हारी शरण हूँ ! तो जैसा भी जिसको अच्छा लगता है-वह पुकारता है। देखिए, उसके भीतर जो प्रभु की याद आई, तो वह याद बहुत ही दुर्बल होती है, क्षीण होती है, संसार के चिन्तन से दूषित होती है, अनेक प्रकार के विकारों से घिर जाने से कमजोर होती है। तो मनुष्य की ओर से जो भाव उठता है, जो स्मृति जगती है, प्यारे की जो याद आती है, वह तो बहुत ही कमजोर और दुर्बल होती है शुरू में। लेकिन एक बार अगर आपके अन्दर यह बात आई तो मुख से कहो, चाहे मत कहो, खाली अन्तर में अपने हारे हुए क्षणों में आपने याद किया, कि हे समर्थ, "हे करुणासागर ! मैंने अपने को बर्बाद किया, अब आप मेरी रक्षा करें। अब आपकी कृपा हो जाये तो मेरा कल्याण हो जाये।" भीतर में यह आवश्यकता आपकी उत्पन्न हुई नहीं कि परमात्मा जल्दी से पकड़ लेते हैं, कि कहीं यह फिर भटक न जाए छूट न जाए। एक बार भी भीतर से कराह निकली कि वे करुणासागर पकड़ लेते हैं।

स्वामी जी महाराज के पास विविध प्रकार के साधक लोग आते और अपने भीतर जो भरा हुआ होता सो निकालते। आपस में एक-दूसरे से असंतुष्ट होकर वे और छोटी-मोटी बातों की चर्चा स्वामी जी महाराज के पास करने लग जाते। तो मैं भीतर-भीतर बहुत छटपटाती कि अरे ! ऐसे ब्रह्मनिष्ठ संत के पास बैठ करके छोटे-छोटे लड़ाई झगड़े में ये लोग समय खराब कर रहे हैं। क्यों नहीं अच्छी-अच्छी बात जल्दी-जल्दी पूछ लेते ? मैं शिकायत करती कि स्वामी जी महाराज ! ऐसे लोगों को आप क्यों बैठने देते हैं अपने पास ? समय खराब करते हैं ये लोग। तो एकदम से उनके मुख से वाणी निकलती कि 'देवकी जी ! हम लोग पकड़ करके छोड़ना नहीं जानते हैं। बहुत बड़ा आश्वासन है इसमें। पकड़ करके छोड़ना नहीं जानते हैं। अरे भाई, जो बहुत बीमार है, उसी को तो सेवा की ज्यादा जरूरत है।

एक बार दो सज्जन आए। मुझको तो कुछ पता नहीं था कि कौन लोग हैं, कहाँ से आए हैं। ट्रेन में फर्स्ट क्लास में स्वामी जी महाराज के साथ मैं बैठी थी, और भी लोग बैठे थे। चर्चा चल रही थी। दो जने आए तो पूरा कम्पार्टमेंट अजीब तरह की दुर्गन्ध से भर गया। वह शराब की दुर्गन्ध थी सो तो मैं पहचानती भी नहीं थी, लेकिन हमारा जी घबराया भीतर से। जब वे लोग चले गए तो हमने महाराज जी से पूछा कि महाराज ! कैसा लग रहा है ? सारा कम्पार्टमेंट कैसी दुर्गन्ध से भर गया। कहा कि आप ऐसा करते हैं, ऐसे बैठा लेते हैं गोदी में फिर सँघते हैं तो कहने लगे देवकी जी ! जो बहुत बीमार है उसी को बहुत सेवा चाहिए। जो बहुत भटका हुआ है उसकी ओर ध्यान देना पड़ेगा। तो संत और भगवन्त ऐसा कृपा करने वाले होते हैं। उनकी जो पकड़ होती है वह बहुत जोरदार होती है। उनकी ओर से हमारे लिए जो आकर्षण है, वह हमारी भावना से असंख्य गुणा अधिक जोरदार है। ऐसा आप अपने द्वारा अनुभव करके देखेंगे। इसलिए भजन तो ईश्वर-विश्वासी के जीवन में आरम्भ हो जाता है उसी क्षण में, जिस क्षण में उसने महामहिम प्रभु की शरणागति को स्वीकार किया, उनको अपना माना और सब सम्बन्ध, सब विश्वास उसमें विलीन कर दिए। भजन तो आरम्भ हो गया उसी समय। लेकिन जो प्रभु के नित्य-सम्बन्ध की स्वीकृति से भजन आरम्भ हुआ वह भजन कभी खत्म नहीं होता है। कब तक चलता है ? जब तक कि साधक को प्रेम की धातु में परिवर्तित करके उसके "अहं" को उस प्रेमस्वरूप में विलीन नहीं करा देता, तब तक वह भजन कभी रुकता नहीं है। इसलिए वह शरीर धर्म हो। ही नहीं सकता।।

शरीरों के माध्यम से जो भजन हम लोग आरम्भ करते हैं, वह अखण्ड नहीं रहता है। एक घण्टे का प्रोग्राम बनाओ, चाहे 24 घण्टों के अखण्ड कीर्तन का प्रोग्राम बनाओ। जिस साल बहुत हल्ला हुआ था कि नवग्रह इकड़े हो गए हैं आकाश में, और धरती पर बड़ा भारी अनर्थ होगा, उस साल पूरे वर्ष भर के लिए अखण्ड कीर्तन का प्रोग्राम लोगों ने किया था। वह भी खत्म हो गया। तो भजन ऐसा नहीं है जो आरम्भ हो जाय और खत्म हो जाय। वह खत्म नहीं होता है। जिन्होंने नित्यसम्बन्ध की स्वीकृति से साधन का निर्माण किया है अर्थात् जिनको भीतर अपने शरण्य की, अपने प्यारे की स्मृति जाग्रत हो गई, उनका भजन आरम्भ हो गया और उस स्मृति में प्रियता बढ़ती चली गई, तो भजन सजीव होता चला गया। तो उनका जीवन कैसा होता है ?

महाराज जी ने उदाहरण दिया और यह बताया कि देखो, भजन। है—प्रियता। प्रियता जो होती है, और परमात्मा के प्रति जो प्रियता होती है,

वह उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। वह प्रियता घटती नहीं है, क्योंकि उसमें भोग-प्रवृत्ति शामिल नहीं है। तो जहाँ भोग-प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रियता घटती जाती है। और जहाँ केवल शुऋ प्रेम का ही प्रश्न है, किसी प्रकार का भोग उसमें शामिल नहीं है, तो वहाँ प्रियता बढ़ती चली जाती है।

यदि आपके भीतर प्यास बढ़ रही है कि प्यारे से कब मिलेंगे ! उनको कैसा-कैसा अच्छा लगेगा? उनको, क्या-क्या प्रिय लगेगा? तो आपकी ओर से प्यास बढ़ रही है और उनकी ओर से बरस रही है। उधर से जब हमारे प्रति आकर्षण बरसने लगता है, बढ़ने लगता है, तो

साधक को संसार की बातों से कोई बाधा नहीं पड़ती है। किसी प्रकार का चिन्तन उसको सताता नहीं है। प्रियता का रस उसके जीवन के अभाव को भरने लगता है। रस की वृद्धि होती चली जाती है। सत्य का जो सम्बन्ध है, वह सत्य है। अविनाशी का जो प्रेम है, वह अविनाशी है और नित्य विद्यमान की जो प्रियता है वह तत्काल की प्राप्ति है। तो जैसे-जैसे प्रेम बढ़ता गया अपने आप ही में विद्यमान अपना इष्ट अपने लिए प्रकट होता गया। जहाँ उसकी प्रियता आई, जीवन की नीरसता का नाश हो गया और जहाँ रस की वृद्धि हुई, तो वे रसिक स्वयं विद्यमान हो गए और जब उनके साथ अपना इतना डाइरेक्ट (सीधा) सजीव सम्बन्ध जुड़ गया तो सोचकर देखो भला कि उस अनन्त रस सागर के भीतर हमारे इतने से छोटे से नन्हे से प्रेम रस के भाव का कहीं कुछ पता चल सकता है? जी ? नहीं चल सकता है तो क्या हो जाता है?

संत कहते हैं--'गई पूतली लौन की, थाह समन्द की लेन, आपन मिली पानी भई उलट कहे को बैन।' कौन कहे, क्या हो गया? तो मेरा जो एक सीमित अहंभाव है जिसके आधार पर मैं आपके सामने बैठ कर बातें कर रही हूँ। उससे ऐसा लग रहा है कि मुझ में ईश्वर-विश्वास भी है और मुझ में ईश्वरीय प्रेम का चाव भी है। इस रूप में मेरे जीवन में भजन भी है और भजन में रस की निरन्तर वृद्धि हो रही है। अभी अपने को पता चल रहा है कि इस जीवन में भजन है और भजन के द्वारा रस की वृद्धि हो रही है, तो इसका मतलब यह है कि अभी इस का मेजरमेंट चल रहा है। समझ में आता है ? पता चल रहा है? लेकिन वह रस इतना मधुर होता है और सब प्रकार से भरपूर करने वाला होता है कि उसकी जब बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है तो मैं हूँ—यह सीमित अहंभाव प्रेम की धातु में परिवर्तित हो कर के प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। वहाँ जा कर भजन की पूर्णता होती है।

| ऐसा भजन हम सभी भाई-बहिनों के जीवन में, ईश्वर-विश्वासी साधकों के जीवन में होना अनिवार्य है। अब आज की सोचिए। आज ही से हम लोगों को यात्रा आरम्भ करनी पड़ेगी। आज अपनी दशा कैसी है? आज अपनी दशा ऐसी है, कि ईश्वर भी पसन्द है, ईश्वर का प्रेम भी पसन्द है और भजन भी पसन्द है और उसके साथ-साथ बहुत से दूसरे जरूरी काम हैं, उनको भी करना है। तो कैसे करें ? महाराज जी आरम्भ करने वाले साधकों की सहायता के लिए बताते हैं कि भाई पहला काम तो यह करो कि तुम्हें अपने पास जो कुछ भी दिखाई देता है "सब परमात्मा का है, सब परमात्मा का है, सब परमात्मा का है"-ऐसा मान लो। अगर हम परमात्मा की मान लेंगे तो सब सामग्री परमात्मा उठा कर ले जायेंगे ? चाहिए उनको? नहीं चाहिए। उनको क्या चाहिए? मैंने तो भगवत् अनुरागी भक्त के जीवन में देखा कि किसी सामग्री को छूते हुए, उठाते हुए, रखते हुए ऐसा

अनुराग बरसता था उसके जीवन से कि मैं क्या बताऊँ। हमारे जैसे स्थूल दृष्टि रखने वाले साधकों को तो वे इस प्रकार समझाते थे, कि देखो देवकी जी ! यह सब प्यारे का है यह सब प्यारे का है, यह सब प्यारे का है। तो सब प्यारे का है-ऐसा कह करके तो हमको समझाते और खुद जब छूते वस्तुओं को, उठाते, रखते तो उनको क्या दिखाई देता ! कि सब-प्यारे ही हैं, प्यारे ही हैं। दूसरा कोई है ही नहीं। दूसरा कुछ हुआ ही नहीं। वही एक अलख, अगोचर, अदृश्य, अनन्त, अव्यक्त परमात्मा विविध रूपों में व्यक्त हुआ है। तो सब नहीं हैं, वे ही. हैं। सब कुछ नहीं है, वह अकेला ही है। तो 'जित देखें तित तू ही तू'-यह बात उनके जीवन में इतनी जोरदार थी कि छोटी-छोटी वस्तुओं के साथ भी, व्यवहार करने में वह प्रेम रस बरसता रहता था, टपकता रहता था और हृदय प्रेम से उमड़ता रहता था। हम लोगों के लिए क्या बात है?

हम लोगों के व्यक्तिव में जगत् की जड़ता का प्रभाव कुछ शेष है, तो हमें वस्तु दिखाई देती है। वस्तु दिखाई देती है-इस दशा को हम लोगों को स्वीकार करना चाहिए। अपने साथ जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए कि वस्तु नहीं दिखाई देती है। और हमें नकल नहीं करनी चाहिए कि जैसे अनुरागी भक्तों को प्रभु दिखाई देते हैं, वैसे हम भी उनकी नकल करें कि हमको प्रभु दिखाई दे रहे हैं। सो नहीं करना चाहिए। ऐसा करेंगे, तो आगे प्रगति नहीं होगी। वस्तु दिखाई देती है तो स्वीकार करो, कि वस्तु दिखाई देती है, लेकिन इसके साथ यह मानो कि ये जो दिखाई देनी वाली वस्तुएँ हैं-चूंकि सारी सृष्टि का मालिक परमात्मा है, इसलिए इसका भी मालिक परमात्मा है, इसका भी मालिक परमात्मा है, इसका भी मालिक परमात्मा है। सब का मालिक परमात्मा है-ऐसा हम लोग इस वर्तमान क्षण में स्वीकार कर सकते हैं। ऐसा करने का फल क्या होगा? | आपको कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ेगा, किसी के पास पूछने नहीं जाना पड़ेगा। अपने आप देखकर सचाई के साथ एक बार इस सत्य को स्वीकार कर ही लो कि सारी सृष्टि का मालिक परमात्मा है। इसलिए मेरे पास एक सुई भी रखी है, तो वह भी मेरी नहीं हो सकती। उसकी मालिक मैं नहीं हो सकती हैं। वह सुई भी सृष्टि के अन्तर्गत है, इसलिए उसका भी मालिक परमात्मा ही है। ऐसा मान लो और मानने में कोई घाटा नहीं है। अगर आप कोई वस्तु ले आवें और ला के मेरे पास रखें और कहें कि माताजी ! यह वस्तु आपकी है, आपको मैं दे रहा हूँ। तो माताजी के पास अभाव है, तो उस वस्तु को ले लेंगी। पूर्ण परमात्मा को तुम सब कुछ सौंपो, तो जितना तुम उनको कह दो कि यह तुम्हारा, यह तुम्हारा-उससे सहस्र गुणा अधिक वे और बरसा देंगे तुम पर खुश होकर। वे ले नहीं जावेंगे। तुम्हारा घटेगा नहीं कुछ। उनके पास अभाव नहीं है। उनको वस्तुओं की जरूरत नहीं है। उन्होंने वस्तुओं की रचना तुम्हारे लिए की है। कोई डर नहीं है। शंका मत करना, कि सब उनको दे दिया और वे ले गए, तो कल से हमारा काम कैसे चलेगा? सो नहीं डरना। ऐसी बात नहीं होती है। उनको तुम्हारे हृदय के प्रेम भाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। भाई ! कुछ नहीं चाहिए उनको।

महाराज जी ने कहा कि देखो, यह भ्रम मत रखना कि संसार के लोगों से मिलेंगे-जुलेंगे तो परमात्मा को भूल जायेंगे, कि संसार की वस्तुओं को सम्हालेंगे, तो परमात्मा को भूल जायेंगे-ऐसा मत सोचना। जब हर वस्तु पर उस जगत् पति, जगत् पिता, सृष्टि के मालिक के नाम की मोहर लगा दी तुमने, तो चिट्ठी पर जिसके नाम की मोहर

लग जाती है, वह उसी को मिलती है कि दूसरा कोई लेता है ? तो प्यारे के नाम की मोहर लगाओ। हर वस्तु पर उसके नाम की मोहर लग गई। तब क्या फल होगा? तो ईश्वर-विश्वासी, जिनके भीतर प्रभु की प्रियता के रूप में भजन आरम्भ हो गया है, वह जब संसार का काम करने चलेगा, तो जिन व्यक्तियों से मिलेगा, उनको देख-देख कर उसके भीतर याद आयेगी-यह मेरे प्यारे का प्यारा है। और जिन वस्तुओं पर उसकी दृष्टि पड़ेगी, तो उन वस्तुओं पर उसके प्यारे के नाम की मोहर लगी हुई है। वस्तु देखेगा, तो अपने प्यारे को याद करेगा। व्यक्ति को देखेगा, तो उसको प्यारे की याद आवेगी। काम करेगा, तो उसमें प्यारे की प्रसन्नता याद आयेगी। तो संसार का काम करते हुए भी उसका भजन अखण्ड रहेगा।

सन्त-वाणी

अपना गुण एवं पराये दोष देखने से पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहती।

प्रवचन 8

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों !

प्रेम-तत्त्व मानव-जीवन का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। ऐसे तो इस व्यक्तित्व में स्थूल तत्त्व भी बहुत से हैं। भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर में देखिए, तो बहुत से स्थूल भाग भी हैं। और कुछ अंश तो इस शरीर का ऐसा है। कि जिसको हम लोग देखना भी पसन्द नहीं करेंगे। लेकिन इसी व्यक्तित्व में कुछ अलौकिक तत्त्व हैं कि जिनके आधार पर मानव-जीवन बड़ा ही मूल्यवान हो गया है। उन अलौकिक तत्त्वों को हम लोग ज्ञान और प्रेम के नाम से जानते हैं। प्रेम रस की अभिव्यक्ति जीवन की सबसे ऊँची उपलब्धि है।

छोटी उम्र की बात है। मुझे ऐसा लगने लगा कि मैं मनुष्य हैं तो मुझे ऊँचा जीवन चाहिए। ऊँचा जीवन क्या कहलाता है, कैसा होता है, सो तो कुछ पता नहीं था, लेकिन ऐसे ही भीतर बार-बार यह बात उठती रहती कि बढ़िया जीवन चाहिए ऊँचा जीवन चाहिए। खा-पीकर सो करके मर जाने वाला जीवन नहीं चाहिए। तो पिताजी से चाचाजी से और दरवाजे पर बैठक में कोई साधु-संत आ जाये तो उन सब से मैं पूछती रहती थी। ऐसा मालूम होता था कि बहुत बड़ा प्रोग्राम है और उसको पूरा करना है। पहली बात जो मुझे सूझी, वह यह सूझी कि शरीर को खूब बढ़िया बलिष्ठ रखना चाहिए और खूब पढ़ना-लिखना चाहिए। बहुत अच्छी पढ़ाई हो जाएगी तो ऊँची शिक्षा के द्वारा जीवन बढ़िया हो जाएगा। मैंने इन्हीं बातों के लिए खूब दिल तोड़ परिश्रम किया। शरीर भी बढ़िया बना रहे और खूब पढ़ना-लिखना हो जाए लेकिन एक बड़ी विचित्र बात हुई मेरे जीवन में। जब मास्टर डिग्री का आखिरी एग्जामिनेशन देकर विश्वविद्यालय से मैं निकल रही थी, तो एकदम से भीतर से ऐसा अन्धकार व सूना-सूना सा लगने लगा। मैंने कहा-छ: वर्ष का समय खूब परिश्रम के साथ मैंने बिताया मास्टर-डिग्री के लिए। लेकिन जिस तरह से मैं उस विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार में प्रवेश करते समय अपने को अधूरा-अधूरा, अभाव में पाती थी, आज बाहरी दृष्टि से ऊँची शिक्षा को पूरी करके निकलने के समय भी। हृदय उतना ही सूना-सूना लग रहा है, भरा-पूरा नहीं लग रहा है। भीतर से अभाव नहीं मिटा। तो मुझे पता चल गया कि जीवन का जो प्रश्न है, वह शारीरिक और बौद्धिक विकास से हल नहीं हुआ। अब कोई भगवान के घर का दरवाजा देखा हुआ संत मिल जाय तो मुझको दरवाजे तक पहुँचा दे।। | यह बात

मैं भीतर से अनुभव कर रही थी। लेकिन बाहर से कोई प्रयास मैं कर रही हैं, सो बात नहीं थी। केवल भीतर से एक आवश्यकता मालूम होती थी यह जानने की, कि ऊँचा जीवन कैसा होता है, भरपूर जीवन कैसा होता है। दुःख से, अभाव से, sense of inferiority (हीनता की भावना) से जिन्दगी कैसी होती है, यह तो कोई अनुभवी महात्मा मिले तो बतावे। तो आवश्यकता मेरे भीतर थी बाहर से मैंने कोई प्रयास नहीं किया। लेकिन मंगलकारी प्रभु का विधान इतना मंगलमय है, कि उन्होंने मुझको अनुभवी संत से मिला दिया। उनसे मिलने के बाद, उनके द्वारा ज्ञान और प्रेम-पूर्वक मेरी सेवा हुई। मैंने संत की सेवा नहीं की। उन्होंने अपने ज्ञान से अपने प्रेम से मेरी जो सेवा की उससे मुझे बड़ा बल और प्रकाश मिला। तो मैं अपना उदाहरण दे करके यह बात निवेदन करना चाहती हूँ जिज्ञासु और सत्संगी भाई-बहिनों से कि भाई, आवश्यकता अपने भीतर होती है, लेकिन पूर्ति का सारा इन्तजाम प्रभु स्वयं करते हैं। हमारे साथ तो किया है, इसलिए मैं कहूँगी, उनका गुण गाऊँगी। अनुभवी संत के पास रह करके, उनके ज्ञानपूर्ण व्यक्तित्व की छाया में पलकर, उनके प्रेम की गोद में शक्ति लेकर मुझे इस बात का पता चला, कि मनुष्य का जीवन सबसे ऊँचा कब होता है और सबसे बढ़िया उपलब्धि उसके भीतर क्या है।

तो मूल रूप से प्रेमतत्त्व जो उसमें विद्यमान है, उस प्रेमतत्त्व का विकास जब होता है, तो मनुष्य को जीवन पूर्ण होता है। यह बात मुझे उनके पास बैठने के बाद मालूम हुई। आज मैं इस बात का बहुत अच्छी तरह अनुभव करती हूँ कि समाज में कितना भी सम्मान मिल जाय और बाहर से लोग आपको कितना भी साधु समझने लग जायें, भक्त और सामाजिक कार्यकर्ता समझने लग जायें, बहुत श्रीमान रूपवान, गुणवान समझने लग जायें, अथवा इन सब परिस्थितियों से होकर आप गुजरें, लेकिन भीतर पूर्णता की अनुभूति नहीं हो सकती, जब तक कि इस व्यक्तित्व में अलौकिक तत्त्वों का विकास न हो जाय। अर्थात् ज्ञान और प्रेम का विकास जब तक नहीं होता, जीवन पूर्ण नहीं होता; अधूरा-अधूरा रहता है।।

एक विदेशी सज्जन हिन्दुस्तान में आना चाहते थे यहाँ के संतों से मिलने के लिए। उनको भीतर कुछ अभाव की पीड़ा सता रही थी। वे सज्जन बड़े ही प्रसिऋ व्यक्ति हैं। स्विटजरलैण्ड में साईकिआट्रिक इन्स्टीट्यूट है उसके डाइरेक्टर हैं, डॉक्टर बॉस (Boss), बड़े नामी आदमी हैं। बहुत धन भी है उनके पास, और बहुत से शिष्य भी हैं उनके। संसार के बहुत से भागों में उनके पढ़ाए हुए साइकिआट्रिक डॉक्टर हैं, जो कि मानसिक रोगों की चिकित्सा करने में लगे हैं। तो उनको सुख भी है, सम्मान भी है, शारीरिक स्वास्थ्य भी है, योग्यता भी है, सम्पत्ति भी है, पद भी है, सब कुछ है। लेकिन वे एक मनुष्य हैं। मुझे बहुत अच्छा लगता है यह कहते हुए कि वे एक मनुष्य हैं- उसका अर्थ क्या है कि संसार उनके पास बहुत अनुकूल रूप धारण करके आया, फिर भी उन्होंने अनुभव किया कि "यह सब कुछ नहीं है, कुछ नहीं है। मुझे तो कुछ और चाहिए।"

उन्होंने जो पत्र लिखा कि "More and more we study in Psychology, we find our-selves hanging in the air. Our findings are base-less. Therefore I want to come to Indian Saints to find something solid, something more dependable which I can give to my students."

स्वामी जी महाराज के पास में पढ़कर के सुना रही थी और हँस रही थी। मैंने कहा-स्वामीजी

महाराज ! इस भले आदमी ने भगवान् का एक नया नाम सुनाया है हम लोगों को। "Something 'solid, something more 'dependable."

उस बेचारे को यही भाषा आती थी। वह नहीं कह सकता था कि मुझे सच्चिदानन्द स्वरूप चाहिए, कि मुझे पूर्ण ब्रह्म चाहिए, कि मुझे मैया कौशल्या का लालाराम चाहिए, कि मैया जसोदा का लाला-कन्हैया चाहिए। यह सब वह नहीं कह सकता था। उसको मालूम ही नहीं था। उसका वैसा Background ही नहीं था, लेकिन वह "फील" कर रहा था भीतर-भीतर कि बाहर से इतना जो कुछ मुझको मिला है, यह सब Baseless है, यह सब हवा में डोल रहा है, यह सब निराधार है। इसके द्वारा जीवन में इसको solid अर्थात् ठोस कुछ नहीं मालूम होता था। तो। want something solid. I want something more dependable कहा है। महाराज जी से मैंने कहा कि बेचारे को Most Dependable कहना नहीं आया। तो जो दीख रहा था उसको, वह निराधार लग रहा था। जो सब चीजें उसको मिली थीं वे संसार की सीमा के भीतर मिली थीं, दूसरे लोगों के लिए बहुत ही आकर्षक मालूम होती होंगी। लेकिन उसने जो स्वयं उन वस्तुओं का प्रयोग करके देखा तो उसको पता चल गया कि भीतर-भीतर कुछ कमी है। (Something missing) उस कमी का अनुभव करके वह भला आदमी हिन्दुस्तान में आया। सन्तों से मिला। उसकी कमी पूरी हो गई। न मंत्र दीक्षा लेने की जरूरत पड़ी न अध्ययन करने की जरूरत पड़ी, न भूखे नंगे रहने की जरूरत पड़ी, न कुटिया बना कर वन में बसने की जरूरत पड़ी। उसके भीतर बड़ी जबरदस्त प्यास थी, जो उसे यहाँ ले आई थी।

हम लोग अपनी परम्परा की भाषा कहते हैं कि हम लोगों को अविनाशी जीवन चाहिए। हमको ऐसा आधार चाहिए कि जिससे कभी वियोग न हो। दुनियाँ के जितने आधार अपने को मिलें वे सदा-सदा के लिए रहने वाले नहीं हैं। एक दिन मिले तो बड़ी खुशी मनाई गई और दूसरे दिन वे आधार छूट गए तो बड़ा शोक मनाया गया। ऐसा होता है, हो रहा है।

हमारी जान-पहचान के एक सज्जन हैं। उन्होंने बड़ी धूमधाम से एक लड़की की शादी की थी। शादी के पहले वे बड़े प्रसन्न थे। मुझको अपने घर बुलाया, सब समाचार बताया और कहा कि बड़ा अच्छा लड़का मिल गया। विदेश में बड़ा बढ़िया व्यापार उसका चलता है, खूब पढ़ा-लिखा है। मुझे कुछ दिनों के बाद सुनने को मिला कि बरात आ गई।

और रात के समय शादी हो गई। लेकिन दूसरे दिन सबेरे होने से पहिले लड़के का देहान्त हो गया, हार्ट-फेल हो गया। तो ये आधार हैं?

. बहुत दिनों तक मैं सोचती रह गई कि यह क्या हुआ? तो यहाँ को आधार तो ऐसा ही है। यह आता है, मिलता है तो व्यक्ति बहुत ही बलपूर्वक उस आधार को पकड़ कर अपने को भाग्यशाली समझता है। अपने को सुरक्षित (secured) समझता है, अपने को बड़ा सुखी समझता है, और वह बेचारा जानता ही नहीं है कि इसको बुलाने में, पकड़ने में और इस आधार को अपना सहारा बनाने में जितना समय लगा है, छूटने में उतना नहीं लगेगा। नहीं जानता है। अबोध, अज्ञानी, संसार के स्वरूप से अपरिचित, बड़े जोर से पकड़ता है आधार को, और छूट जाता है, तो सिवाय हाय-हाय के और कुछ बचता नहीं है।

हम लोग अपनी परम्परा के अनुसार क्या कहते हैं ? कि मुझे तो वह आधार चाहिए कि जिसको पकड़ करके फिर कभी दुनियाँ में

असहाय न होना पड़े। तो हम लोग इस भाषा में प्रकट करते हैं अपनी आवश्यकता को अपनी माँग को। डॉक्टर बॉस ने दूसरी भाषा में प्रकट किया। भीतर से उसकी जोरदार प्यास थी कि मुझ को वह चाहिए। उसके लिए बढ़िया संयोग बन गया। उसने संसार की सब चमक देख ली थी। और, वह सजग आदमी, वह सचेत व्यक्ति इस बात को अच्छी तरह से पहिचान गया कि यहाँ जो कुछ मिला है, उसमें कुछ भी Solid नहीं है, dependable नहीं है। इधर की ओर से उसका विश्वास उठ गया तो यह नहीं कि उसने डाइरेक्टर की पोस्ट को छोड़ दिया। छोड़ा नहीं। अभी भी डाइरेक्टर है। वह वहाँ पर। तो पद को छोड़ दिया हो, सो नहीं किया। खाना-पीना छोड़ दिया हो, सो नहीं किया। कपड़े पहनना छोड़ दिये हों या कि वन में भाग गया हो, या पढ़ाने का काम छोड़ दिया हो, सो कुछ नहीं। लेकिन उसने संसार के वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया, अनुभव कर लिया और ऐसा अनुभव करने मात्र से संसार से उसका सम्बन्ध टूट गया। | हम लोगों का एक अजीब प्रकार का ख्याल बना रहता है, एक धारणा बनी रहती है कि भाई, चलो ! अब सत्संग की तैयारी करनी है, अब जीवन की खोज करनी है। तो जल्दी-जल्दी हिसाब खत्म करो, जल्दी-जल्दी दुकान बन्द करो और जल्दी-जल्दी परिवार वालों से छुट्टी माँगो।

एक सज्जन हमारे पास आश्रम में आए, तो कहने लगे कि 'बहन जी, हम क्या-क्या तैयारी करें? तो हमने ऐसे ही कहा कि अरे भैया ! तैयारी करने की क्या बात है? अगर इस दृश्य जगत् से अपना विश्वास उठ गया, तो जहाँ रहेगा तहाँ कुशल से रहेगा और आपका काम बनेगा। तब कहने लगे कि तब मैं बाल-बच्चों को लिख के भेज दें कि अब हमको अपना मत मानना ? तो उन बेचारे को विश्वास दिलाने के लिए मैंने कहा कि हाँ, लिख दो। तो हर एक को, एक लड़की विदेश में थी, एक लड़की भिलाई में है और एक लड़का है इलाहाबाद में-सब जगह पत्र लिख-लिख कर उन्होंने भेजा कि देखो, अब मैं साधक बन रहा हूँ, अब मैं सत्संगी बन रहा हूँ। अब मुझको संसार से सम्बन्ध तोड़ना है। तो तुम लोग अब ऐसा मान लो कि तुम लोगों से मैंने सम्बन्ध तोड़ दिया। अब मुझको अपने काम के लिए बुलाना मत। और, बेचारे जो जो समझ रहे थे अपने लिए उपयोगी, सब चिट्ठी लिख-लिख के भेज रहे थे। लिखें और आकर के मुझको दिखायें-बहन जी ! देखिए, मैंने ऐसा लिखा है। बँधा होता है। क्रिया से, तो आदमी के भीतर एक ख्याल बना हुआ है कि बाहर से कुछ क्रिया करेंगे, तब सम्बन्ध टूटेगा। अरे भाई, सम्बन्ध तो तुम्हारे मान लेने से बन गया है। तुम मानना छोड़ दो, टूट गया।

जिस दिन डॉक्टर बॉस स्विटजरलैण्ड से चला होगा हिन्दुस्तान आने के लिए, उसके पहले ही उसका विश्वास उठ गया संसार की उपलब्धियों से। तो सम्बन्ध टूट गया, उसमें विश्वास नहीं रहा। काम नहीं छोड़ा। काम के बदले में जो मिला, उसका महत्त्व उसके जीवन में से निकल गया। परिस्थिति को नहीं बदला। उसने अपने विचारों में परिवर्तन कर लिया कि यह सब solid नहीं है, यह सब Dependable नहीं है। सुना है ऐसा कि हिन्दुस्तान में साधु-संत जो होते हैं, उनके पास Something solid, something Dependable होता है। यह उसने सुना था, यहाँ तो कुछ नहीं मिला। अब चलो, हिन्दुस्तान जाते हैं। ऐसा सोचकर के वे आए और केवल संत की कृपा-दृष्टि के आगे खड़े होने मात्र से ही उनके भीतर जो अभाव था, वह मिट गया और जो कमी महसूस

होती थी वह पूरी हो गई। तो उसे कुछ भी तैयारी नहीं करनी पड़ी। ऐसे ही हो गया।

यह उदाहरण देकर भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन करना चाहती हूँ कि यह मानव-जीवन का सत्य है, यह एक व्यक्ति का उदाहरण नहीं है। ऐसे ही सत्य का दर्शन स्वामी शरणानन्द जी महाराज को हुआ और उन्होंने कलिकाल के हम सभी अल्प सामर्थ्य वाले साधकों पर कृपा करके यह बताया, हम लोगों को सुनाया कि भैया ! मानव के जीवन की एक बड़ी विलक्षणता है। वह विलक्षणता क्या है ? कि यदि तुम सत्य से अभिन्न होना पसन्द करते हो, यदि तुम सर्वोच्च जीवन की आकांक्षा रखते हो, यदि तुम प्रेमस्वरूप परमात्मा के प्रेमी होना चाहते हो, तो तुम्हारे भीतर की जो यह माँग है, वह माँग ही सर्वश्रेष्ठ साधना है। तुम्हारे भीतर आवश्यकता महसूस होने लग जाए तो आवश्यकता महसूस होने मात्र से भीतर ही में जो तत्त्व विद्यमान है वह अभिव्यक्त हो जाता है। उसकी अभिव्यक्ति से जीवन भरपूर हो जाता है। फिर जो एक मैं हूँ, और "यह" मेरा दृश्य है-यह द्वैत का जो भ्रम बना हुआ है—यह भ्रम मिट जाता है। क्या हो जाता है ? सीमित अहंभाव की सीमा समाप्त हो जाती है। सीमित अहंभाव की सीमा समाप्त होने से वास्तविक जीवन के साथ अभिन्नता हो जाती है।

आज हम सब लोग क्या अनुभव कर रहे हैं? ऐसा अनुभव कर, रहे हैं कि मुझ में संसार का बड़ा आकर्षण है, संसार की ओर बड़ा खिंचाव है, बड़ा चिन्तन भी है, शरीर के नाश हो जाने का भय भी है और अच्छी सुखद परिस्थितियों के बदल जाने का भय भी है। और क्या बताऊँ ? इन सारी अप्रिय दशाओं के भीतर-भीतर से प्रभु-प्रेम की अभिलाषा भी है। तो हम लोग क्या करते हैं? कि बहुत सारी अप्रिय दशाओं के भीतर प्रभु-प्रेम की अभिलाषा को पालते रहते हैं? उसको सुरक्षित रखना चाहते हैं, उसको बढ़ाना चाहते हैं। और प्रेम-रस की सरसता और मधुरता से जन्म जन्मान्तर की प्यास मिटाना चाहते हैं। है कि नहीं है ? ऐसा चाहते हैं न हम लोग तो कैसे होगा ?

हम लोग प्यासे-प्यासे आए हैं दुनियाँ में और ऐसे ही प्यासे-प्यासे चले जायेंगे क्या? ऐसे जाना तो नहीं चाहिए। यहाँ हम आए हैं। धरती पर खड़े होने का टैक्स नहीं दिया है। आकाश में अवकाश लेने का कोई बिल पेमेन्ट नहीं किया है महाराज जी एक दिन कहने लगे कि बड़ा अभिमान करते हो। अरे ! सूर्य भगवान रोशनी देते हैं, ताप देते हैं, बिल भेज दें तो पेमेन्ट कर पाओगे? नहीं कर पाओगे। तो प्रकृति की ये शक्तियाँ-प्राण वायु आपको श्वास लेने देती है, सूर्य आपको ताप और प्रकाश देते हैं, धरती आश्रय देती है, आकाश आपको अवकाश देता है-ये सारी प्रकृति की शक्तियाँ मिलकर हम लोगों की मदद करती हैं ताकि हम जीवन को धारण कर सकें। तो जीवन धारण करने का एक विशेष अर्थ होना चाहिए। क्या विशेष अर्थ होना चाहिए?

अगर मेरे भीतर अविनाशी जीवन की जिज्ञासा है, प्रभु-प्रेम के मधुर रस की प्यास है तो प्रकृति की शक्ति इस शरीर के अणु-परमाणुओं को बिखेरेगी—यह मिट्टी-मिट्टी में मिलेगी, प्राण महाप्राण में समायेगा, वायु-वायु में, जल-जल में जाकर समायेगा-यह क्रिया प्रकृति करेगी, उसके पहले हम लोगों को अपना प्रोग्राम पूरा कर लेना चाहिए। चाहिए कि नहीं चाहिए? जरूर पूरा करना चाहिए। नहीं तो क्या होगा?

उदाहरण के लिए अस्पताल में भर्ती होने का समय दिया गया कि तुम औषधि का सेवन करना, आरोग्य के सब उपाय करना, डॉक्टर जो बताए सो करना, पथ्य करना, और स्वस्थ होकर

चले जाना। और कोई अस्पताल में भर्ती हो जाय और डॉक्टर की सहायता ले ले, दवाई ले ले, पथ्य ले ले और उनका सेवन न करे, बीमार होकर वहाँ पड़ा ही रहना पसन्द करे या फिर कोई रोगी दवा भी न खाए, पथ्य भी न करे, डॉक्टर का कहना भी न माने, आरोग्य प्राप्त न करे तो उसको अस्पताल में रहने की इजाजत मिलेगी? नहीं मिलेगी। वह मानेगा ही नहीं, तो नियम के अनुसार उसे निकाल दिया जायेगा कि तुमको आरोग्य पाना ही नहीं है। तो यहाँ रहते काहे को हो ? जाओ। हटा दिया जायेगा।

प्रकृति के विधान में ऐसा ही नियम हम लोगों के लिए है। मैंने स्वामी जी महाराज के मुख से भी सुना है। हमारे समय में वैस्टर्न फिलोसफी (पाश्चात्य दर्शन) पढ़ाई जाती थी। उस समय भारतीय दर्शन का अध्ययन नहीं होता था उस विश्वविद्यालय में, जहाँ मैंने अध्ययन किया। तो वैस्टर्न फिलोसफी के सिस्टम में भी मैंने पढ़ा है कि प्रकृति ने, सृष्टिकर्ता ने, जीवनदाता ने मनुष्य को अवसर दिया है कि जो ज्ञान का प्रकाश उस ज्ञान-स्वरूप में से आ रहा है, उस प्रकाश में तुमको दिखाई दे रहा है जैसा कि डॉक्टर बॉस को दिखाई दिया कि ये सब हवा में डोल रहा है, Base-less अर्थात् ठोस आधार से रहित है। यह सब कुछ नहीं चाहिए। तो जैसे उसे दिखाई दिया, वैसे क्या हम लोगों को दिखाई नहीं देता ? दिखता तो है, ज्ञान के प्रकाश में दिखाई दे रहा है। तो इस दृश्य जगत् में से जीवन-बुद्धि निकाल दो। कब निकालोगे ? साँस चल रही है, स्वास्थ्य ठीक है, तभी तक निकाल दो, तभी तक कर लो जब तक चेतना बनी हुई है। नहीं तो क्या हो सकता है ? बड़ी दर्दनाक दशा होती है।

ऐसे-ऐसे सत्संगियों को मैंने देखा है, जो बहुत दिनों से संतों के पास आ रहे हैं, संतों को सुन रहे हैं। और, अब उनका क्या हाल है? कि वृद्धावस्था के कारण Memony (स्मरण शक्ति) फेल हो गई है, स्मृति अब काम नहीं कर रही है। बैठ नहीं सकते हैं। अभी भी सुनने के लिए आ रहे हैं, लेट जाते हैं, सुनते हैं। आधा नहीं सुनाई देता। जो सुनाई देता है, वह समझ में नहीं आता है। समझ में आता है, वह याद नहीं रहता। फिर भी उनका सत्संग सुनने का काम बाकी रह गया है। पूरी नहीं हुआ। ऐसी दर्दनाक दशा मैंने आँखों से देखी है। तो मैं अपने को भी चेतावनी दे रही हूँ और आप भाई, बहनों से भी करबऋ प्रार्थना कर रही हूँ कि भाई, वह घड़ी मत आने दो, कि समय निकल गया और काम बाकी रह गया। ऐसा मत होने दो। क्या कर लो? यह काम पूरा कर लो कि शरीर का नाश हो पीछे और शरीर की आसक्ति टूट जाय पहिले। नाशवान विलुप्त होगा पीछे और अविनाशी के ज्ञानमय प्रकाश से और प्रेममय रस से धन्य हो जाओ पहिले। ऐसा होता है, ऐसा हुआ है, ऐसा हो सकता है। हम सभी भाई-बहनों के साथ हो सकता है, इसी वर्तमान में हो सकता है।

आज मैं महाराजजी का वचन सुन रही थी। उसमें उन्होंने यह कहा कि देखो भाई, क्या जाने फिर दूसरे साल हम तुमसे कहने के लिए आ सकें, कि नहीं आ सकें। इसलिए मैं बार-बार तुम्हारे भीतर यह चीज भर देना चाहता हूँ कि एक बार मेरे सामने बैठ करके, सुनते हुए तुम इस बात को स्वीकार कर ही लो कि मैं परमात्मा को पसन्द करूंगा, तो मरने से पहले परमात्मा मुझसे भेंट-मुलाकात कर लेंगे। विश्वास कर लो, इस बात को मान लो। इसमें सन्देह मत रखो। अगर मान लोगे, तो तुम्हारे भीतर छटपटी पैदा हो जाएगी, भीतर उत्कण्ठा पैदा हो जाएगी। और, उदाहरण दिया शबरी का।।

उनके गुरु ने कहा कि शबरी जी ! आप यहीं पर विराजमान रहिए। इसी आश्रम में रह करके साधन कीजिए। प्रभु जब आएँगे तो आपको इसी जगह पर मिलेंगे। तो उसने सुन लिया गुरु की वाणी से। तो उसके भीतर स्टैम्प (छाप) लग गयी– प्रभु, आयेंगे, प्रभु आयेंगे। तो वेदान्त का सत्संग तो उसने सुना ही नहीं था। शास्त्रों का अध्ययन उसने किया ही नहीं था। जिन्दगी का विवेचन उसके सामने था ही नहीं। भगवान् आयेंगे तो उनसे मुक्ति माँगेंगे, कि भक्ति माँगेंगे, कि क्या माँगेंगे—उसको कुछ पता नहीं है। भगवान् से हम क्या माँगेंगे, क्या लेंगे, आयेंगे तो कैसा उनको रूप होगा, कैसा उनका रंग होगा, कैसे मैं पहचानँगी, किस तिथि को कितने बजे आयेंगे ? सो सब कुछ नहीं। गुरु ने कहा कि प्रभु आयेंगे।

आयेंगे-इस आशा में उस महिला के भीतर उत्कण्ठा जग गई। ऐसी उत्कण्ठा जग गई कि संध्या समय घर-कुटिया को साफ करके चटाई बिछा करके दीपक जला कर दरवाजे पर रखती और अपलक नयनों से बन-पथ निहारती रहती–प्रभु आ रहे हैं, प्रभु आ रहे हैं, प्रभु आते होंगे, प्रभु आयेंगे, अब पहुँच जायेंगे, अब आ जायेंगे। करते-करते उस गहरी उत्कण्ठा में उसके भीतर अलौकिक, अविनाशी रस की ऐसी बाढ़ आ जाती कि शरीर-धर्म उसका छूट जाता। भूख नहीं है, प्यास नहीं है, नींद नहीं है। सन्ध्या काल बैठी थी सबेरा हो गया। कैसे रात बीत गयी ? पता नहीं है। मैं कभी-कभी सोचती हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि अवतारी पुरुष बनकर के, सगुण साकार प्रत्यक्ष हो करके आये बहुत देर में, लेकिन अपने ज्ञान-स्वरूप से, अपने प्रेम-स्वरूप से वे तो उसी दिन मिल गए शबरी को, जिस दिन उसने गुरु की वाणी में विश्वास किया। अपना स्वाद भूल गई,

अपना खाना भूल गई, अपना सोना भूल गई। सर्दी-गर्मी का पता नहीं है। दिन-रात का पता नहीं है। अखण्ड स्मृति, अगाध प्रियता। आयेंगे तो क्या खिलाऊँगी, क्या पिलाऊँगी, कैसे आनन्दित करूंगी। स्तुति करना तो हमको

आयेगा ही नहीं। तो कैसे उनकी अभ्यर्थना करूंगी। जो कुछ उसके भीतर है, अभिलाषा जो है, प्रभु को आराम देने की है, उनको प्रसन्न करने की है। अपनी मुक्ति-भक्ति की बात वह बेचारी जानती ही नहीं थी। क्या सोचेगी? क्या करेगी? तो यह उदाहरण बड़ा अच्छा लगता है मुझे सोचने के लिए कि कितनी बढ़िया बात है भगवान् की स्मृति की, जो मनुष्य के भीतर एक बार जग जाती है।

स्वामीजी महाराज ने बहुत ही विशद और बहुत गहन व्याख्या की है "स्मृति" शब्द की। वे कहते हैं कि स्मृति "प्राप्ति" के समान फल देने वाली होती है। स्मृति साधन की अभिव्यक्ति का आरम्भ भी है और साध्य से अभिन्न होना भी है। स्मृति की बड़ी महिमा है। आज अपनी दशा पर बहुत लज्जा आती है सोचकर के, कि जो अपना नहीं है, उसकी याद तो भीतर में जबरदस्ती भरी हुई है और जो सदा-सदा से अपना है, जब मैं उनसे नाराज रहती थी तब भी मेरी रक्षा करते थे, जब मैं उनकी आलोचना करती थी तब भी मुझ पर अपनी कृपा बरसाते थे, ऐसे जो अपने से अधिक मेरे हित-चिंतक हैं उनकी याद आती नहीं, याद करने की तैयारी करनी पड़ती है। लाज-शर्म की बात है कि नहीं? जो कभी तुम्हारा होकर रह न सका, कभी तुम्हारा होकर रहेगा नहीं, उसकी याद तो भरी पड़ी है। और, यह शरीर जिस दिन मातृ-गर्भ में उल्टे लटका हुआ था और जिस दिन चिता पर जल रहा होगा उस दिन भी जिसने मेरा

साथ नहीं छोड़ा, उसकी याद करनी पड़ती है। क्या कहें ?

तो भाई ! इस दशा को मिटाना पड़ेगा और आज ही मिटाना पड़ेगा और प्राण पण से इसके लिए पुरुषार्थ करना पड़ेगा। कौन-सा पुरुषार्थ ? कि जो तुम्हारा नहीं है, उसमें से अपना विश्वास उठा लो, जैसे डॉक्टर बॉस ने उठा लिया। और जो तुम्हारा है वह न दिखे तो न सही। मैं तो भला मानती हूँ कि "वह नहीं दिखता है। नए-नए साधक लड़के-लड़कियाँ स्वामीजी महाराज के पास आते, तो महाराज कहते कि भाई ! चलो-चलो, तुमको उसके हवाले कर दें। तो लड़कियाँ कहतीं कि स्वामी जी महाराज ! आपको तो सस्ता पड़ गया है। कन्याएँ मिलती जाती हैं। एक दामाद चुन कर रखा है। सबको उसके हवाले करते जाते हैं। हम लोग कैसे मानें उसको ? दिखते तो हैं नहीं, जानते तो हैं नहीं। तो महाराजजी खूब हँसते। कहते कि देखो बालिकाओं ! हमारा कोई और होता, तो मैं सोचता। हमारा तो एक ही है। हमारे पास आओगी तो हम उसी" को देंगे।।

और, वे इतने समर्थ हैं कि सारी सृष्टि के जितने भी लोग उनके होना पसन्द करें, वे उन सबको अपना सकते हैं। बड़ा वीर है, बड़ी सामर्थ्य है उसमें, बड़ा ही ऐश्वर्यवान है वह। तो और लोग जो कहते हैं कि दिखता नहीं है, मैं क्या करूं? कैसे उसको अपना मानूं? तो मैंने जब अपनी ओर देखा तो मुझे बड़ी खुशी हुई। मैंने कहा कि महाराज, अच्छा है कि वह दिखता नहीं है, अच्छा है कि वह दृश्य जगत् में शामिल नहीं हुआ। नहीं तो, यह सारा देखा हुआ तो भागता जा रहा है, भागता जा रहा है। वह भी अगर दृश्य-जगत् में शामिल हो जाता, तो सब दृश्यों के संग वह भी भाग जाता। हम तो रह जाते ऐसे ही। कहाँ जाते फिर किसके पास? तो बड़ी अच्छी बात है कि वह दृश्य-जगत् में शामिल नहीं हुआ।

एक बार स्वामी जी ने गोपी-कृष्ण की एक लीला सुनाई। बड़ा दर्शन है उसमें, बड़ा रहस्य है। कहने लगे कि एक दिन लीलाधारी की मौज आ गई तो उन्होंने कहा, कि सखियों और सखाओं ! सब चलो, आज हम एक खेल खेलेंगे। मैं छिप जाऊँगा, तुम मुझे खोजना। अच्छी बात है। छिप गए। सब लोग खोजने लगे। इस कुञ्ज में चलो, उस कुञ्ज में चलो। यहाँ खेलते होंगे, चलो वहाँ वंशी बजाते होंगे, चलो। वहाँ गउओं के बीच में छिप गये होंगे, चलो। उस पहाड़ की गुफा में छिप गये होंगे, चलो। जमुना तट पर चलो। खूब खोजे, खूब खोजे। चारों ओर ढूँढते फिरे, ढूंढते फिरे। पता ही नहीं लगे। कहीं नहीं मिले। तो क्या करें ? तो, कहने लगी एक सखी कि छोड़ दो, अब तो नहीं मिल रहा है। अब क्या हो गया? कि साधक की सब दौड़-धूप खत्म हो गई। प्रयास सारा खत्म हो गया। अब कहाँ जायेंगी ? अब कोई जगह नहीं रही खोजने की। तो अब छोड़ दो। अब चल के बैठो और उनकी लीलाओं का कथन करो, उनके गीत गाओ, तो उससे आकर्षित होकर के आ जायेंगे। तो यह भी चला, फिर भी नहीं मिले। सब प्रकार से जब वे लोग हार गए और एकदम व्याकुल होकर कोई मूर्छित हो रहा है, कोई अधीर हो रहा है, कोई अपनी असमर्थता सोच रहा है कि हाय ! हम तो ढूंढ ही नहीं सके। प्यारे ! तुम कहाँ हो? ऐसे करके जब सारा प्रयास खत्म हो गया, तो वे बीच ही में प्रकट हो गए। प्रकट हो गए तो सब बहुत आनन्दित हो गए, और खूब खेल होने लगा, खूब आनन्द मनाया जाने लगा। तो, एक गोपिका सखी जो थी, वह आकर कहने लगी पकड़ के उनको, कि प्यारे ! सच बताओ तुम कहाँ छिपे थे? हमने तो बहुत ढूंढा। कोई जगह ही नहीं छोड़ी। तुम तो

कहीं मिले नहीं। सच बताओ तुम कहाँ थे? तो वे तो सत्यवादी हैं। कहते हैं कि मैं कभी मिथ्या नहीं बोलता हूँ। मैं बिल्कुल सत्य कहता हूँ। हे सखी ! मैं बिल्कुल सत्य कहता हूँ। मैं तो तुम्हारे में छिप गया था। तुम्हारे ही में छिप गया था। तो इतनी सच्ची बात है, कि हम लोग सोचते हैं कि परमात्मा दिखता नहीं है। तो भाई मुझ से बाहर हो तब न दिखे ? यह रहस्य पकड़ में आता है? तुम्हारे ही में है। तो जो अपने ही में है, वह अपने से अलग दिखाई कैसे देगा ? तो कभी मत सोचना कि वह अलग से दिखेगा, तब हम उसके भक्त बनेंगें। भक्त बन जाओगे, तो वह एक ही दो बन करके खूब लीला करता है। उसमें उसे कोई दिक्कत नहीं होती है। लेकिन भक्त बनने के पहले सोचो कि वह मुझे दीखे, तो कैसे दिखेगा ? जो तुम्हारे ही में है, जो उस स्वरूप में ही है जिस स्वरूप में तुम हो। तो जो स्वयं ही है तो वह दृश्य कैसे बनेगा? इसलिए वह दिखता नहीं है। | हम लोग भी दौड़ते फिरते हैं कि वहाँ हरिद्वार में जा के बसेंगे, तो मिलेगा। वहाँ जाके ऐसा करेंगे तो मिलेगा। अब ऐसा खायेंगे तो मिलेगा। अब ऐसा पढ़ेंगे तो मिलेगा और भाई, कभी यह भी सोच सकते हैं कि समाज का काम छोड़कर चुप बैठेंगे तो मिलेगा। तो यहाँ जाओ, वहाँ जाओ, यह देखो, वह देखो, कर लो। रहा नहीं जाता है, तो क्या करोगे ? लेकिन भाई, सच्ची बात क्या है ?

जो अपने में ही है, स्वरूप में ही है, जिसमें तुम हो, जो तुम में है, वह बाहर कहाँ मिलेगा? कैसे मिलता है? उसकी जरूरत अनुभव करो, तो वह तो एकदम तैयार खड़ा है। प्यार की जो भावना है और प्रेम का जो रस है वह हम लोगों से भी ज्यादा परमात्मा को मीठा लगता है। स्वाद वे ही जानते होंगे, हमको तो क्या पता ?

हम तो वासनाओं की तृष्णा में जलते हैं। तो प्रेमरस का मधुर स्वाद कैसा होता है हमको क्या पता ? लेकिन उनको पता है, तो उनको बड़ा चाव है इस बात का कि आपके भीतर आवश्यकता जग जाय। तो यहीं पर वे मौजूद हैं। उनको दूर से कहीं से चल के आना नहीं है। भ्रम निकल गया तो प्रेम ही प्रेम रह गया, ज्ञान ही ज्ञान रह गया।

तो ऐसा जो प्रेम-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, शुऋ-स्वरूप का साधक है, उसके संग खेलना, उसका झूठन खाना, उसकी गोदी में उठाना, उसको पीठ पर चढ़ाना, उसको हर प्रकार से रिझाना भगवान् का खेल हो जाता है। तो तुम क्या करोगे? हमने जिन संत की शरण में बैठ करके साधना

आरम्भ की उनसे भी सेवा ली, जिन माता-पिता की गोद में यह शरीर पैदा हुआ, पला उनसे भी सेवा और प्यार लिया। और अब उस अनन्त ऐश्वर्यमान्, सृष्टिकर्ता के आधार को पकड़ के बैठे हैं, तो अब उनसे भी सब प्रकार से सेवा और प्यार ले रहे हैं। मिलता है भाई, बहुत मिलता है।

प्रवचन 9

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयों।

हम लोगों ने सन्त-वाणी में बहुत ही आवश्यक तीन वाक्यों को सुना। स्वामीजी महाराज ने बताया कि अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति मिलेगी नहीं। दूसरों के काम आये बिना करने को राग मिटेगा नहीं। और प्रभु को अपना माने बिना स्मृति और प्रियता जागेगी नहीं। तो ऐसा लगता है कि बाहरी विधि-विधान हम लोगों का कुछ भी रहा हो, कोई मन्दिर में जाना

पसन्द करे, कोई मस्जिद में, कोई गिरजाघर में, गुरुद्वारे में कोई भी चिह्न, प्रतीक और बाहरी जो भी कुछ हमने माना हो, उसका विधि-विधान बनाया हो और उसका पालन करते हों। इससे जीवन की अभिव्यक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, जब तक कि मौलिक बातों को हम स्वीकार न कर लें। मौलिक बात क्या है?

अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति नहीं मिलेगी। शान्ति-सम्पादन के लिए हम लोग भोजन का क्रम बदल लें, वस्तु बदल लें, स्थान बदल लें, किसी न किसी प्रकार के क्रियात्मक विधि-विधान को अपना लें--सब ठीक है, गलत कुछ नहीं है। लेकिन अकिंचन और अचाह होना-यह इतनी आवश्यक बात है कि सब कुछ करते हुए भी अगर अकिंचन और अचाह नहीं होंगे, तो शान्ति नहीं मिलेगी।

शान्ति की अभिव्यक्ति के लिए अकिंचन और अचाह होना अनिवार्य है। अभिव्यक्ति शब्द का प्रयोग हम लोग करते हैं, क्योंकि जो तत्त्व अपने में पहले से ही विद्यमान है उसको उपजाया नहीं जायगा, इसको प्राप्त नहीं किया जायेगा। केवल इसके प्रकट होने की बात है, अभिव्यक्ति होने की बात है। शान्ति भी अलौकिक तत्त्व है, अविनाशी तत्त्व है और हमारे-आपके अपने अहं में बीजरूप से विद्यमान है। केवल उसके प्रकट होने की बात है अथवा उसका अनुभव मुझे हो जाए, इतनी सी बात है। अनुभव क्यों नहीं होता ? अनुभव इसलिए नहीं होता कि अनेक प्रकार की भूलों को हम जीवन में रखते हैं जिनके कारण तरह-तरह की अशान्ति पैदा होती रहती है। अशान्ति पैदा होती है और मिट जाती है। जो पैदा होगा वह तो मिटेगा ही। अशान्ति उत्पन्न होती है, इसलिए अशान्ति का नाश होता है। अशान्ति उत्पन्न हो गई तो उसी में हम उलझ गए। परिणाम क्या हुआ ? अपने ही में जो शान्ति विद्यमान है उसका आराम अपने को नहीं मिलता। तो महाराज जी कहते हैं कि अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति मिलेगी नहीं।

अकिंचन शब्द का अर्थ क्या है ? कि मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है। जो किसी भी वस्तु पर अपना व्यक्तिगत अधिकार नहीं मानता वह अकिंचन होता है। मुझे कुछ नहीं चाहिये-ऐसा मानने वाला अचाह होगा। जो पूरा अचाह हो जाता है निष्काम हो जाता है, उसको शान्ति मिलती है। हम किसी भी मजहब के मानने वाले हों, किसी भी देश के रहने वाले हों, किसी भी गुरु से दीक्षा ली हो, किसी भी सम्प्रदाय के अनुयायी हों, अगर कामना रखेंगे अपने दिल में, दुनियाँ की वस्तुओं पर ममता रखेंगे अपने दिल में, दुनियाँ की वस्तुओं पर ममता रखेंगे और उन पर अधिकार मानेंगे, तो हमें शान्ति नहीं मिलेगी। यह बिल्कुल सच्ची बात है। आपको विधि-विधान अभीष्ट है, कि शान्ति अभीष्ट है? क्या चाहिये अपने को? शांति चाहिए। आपको विशेष प्रकार की दवा खाने का आग्रह है, कि रोग की निवृत्ति चाहिये ? रोग की निवृत्ति चाहिये। तो विधि-विधान और बाहरी बातों का आग्रह हम लोगों को नहीं रखना चाहिये। जिस परम्परा में हम लोग पाले गये हैं, माता-पिता और अभिभावकों ने जो कुछ हमें सिखाया है-सदाचार के नाम पर, नैतिकता के नाम पर, धर्म के नाम पर, भक्ति , पूजा-पाठ के नाम पर, जो कुछ उन्होंने सिखाया है वह जो अपनी परम्परा है, उसका पालन करते हुए भी उसका आग्रह नहीं रखना चाहिये। तो अपनी परम्परा का आग्रह न रखें, दूसरों की परम्परा के प्रति विरोधी भाव न रखें। जो कुछ सीखा है, जो कुछ उसमें आपके विवेक के अनुसार अच्छा मालूम होता है उसका भले ही पालन करते रहिये, उसमें कोई खराबी

नहीं। लेकिन अगर आप सचमुच शान्ति के अनुभव के द्वारा शान्ति के पार जो अलौकिक जीवन है, उसमें अपना प्रवेश चाहते हैं, तो आपको मानव-जीवन की इस वैज्ञानिकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भाई, अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति नहीं मिलेगी।

मैं सोचती हूँ कि रसोई बनाने का बड़ा इन्तजाम होता है। फिर बनी हुई रसोई को परोसने का एक विशेष विधि-विधान होता है। फिर वहीं बैठ करके भोजन करेंगे, प्रसाद पायेंगे, उस स्थान का एक विशेष इन्तजाम होता है। तो, सारा इन्तजाम किसी का बढ़िया हो-रसोई भी बहुत बढ़िया बनी हो और सब बर्तन भी बहुत शुऋ, पवित्र साफ रखे गये हों, ठीक तरह से सब परोस दिया गया हो, अच्छी तरह से आसन भी लगा दिया गया हो, लेकिन अगर भोजन करके तृप्ति का अनुभव आपने नहीं किया, तो उस सारी तैयारी को भूखे व्यक्ति के लिए क्या विशेष अर्थ है ? नहीं है न। तो मुझे ऐसा ही लगता है, कि जो दृश्य-जगत् से अर्थात् उत्पत्ति विनाश, परिवर्तनशील दृश्य से कुछ भी अपने लिए पसन्द करता है, और उसमें से पाने की कामना रखता है, वह बाहर से शान्ति की कितनी भी तैयारी करे, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। इससे हम लोगों को पाठ क्या लेना चाहिये ? कि मनुष्य के जीवन में शान्ति एक मौलिक तत्त्व है और उसके आराम से हम लोग आज वंचित हो गये हैं। उस आराम के लिए हम लोग तरस रहे हैं। सबको चाहिये वह आराम। तो वह कैसे मिलेगा ?

ममता और कामना का त्याग करो, तो मिलेगा। ममता भी अपने को अच्छी लगती है और कामना-पूर्ति का संयोग बना रहे, अनुकूल परिस्थिति बनी रहे, यह भी अच्छी लगती है। परन्तु उससे उत्पन्न होने वाली अशान्ति अच्छी नहीं लगती। मैं क्यों कहती हैं कि ममता अच्छी लगती है ? मैंने ऐसा देखा है कि आपके पास बहुत सामग्री है। वह सामग्री आपके काम भले ही न आती हो, लेकिन आपके पास है और आपके अधिकार में है, तो केवल इतना ही भीतर से महसूस करना कि इतनी सारी वस्तुएँ मेरी हैं, इन पर मेरा अधिकार है, मैं जैसा चाहूँ तब किसी को दे दें तो केवल वस्तुओं पर अधिकार मानने मात्र से ही भीतर-भीतर आदमी को अच्छा लगता रहता है। आदमी अपने को कुछ बलिष्ट अनुभव करता है, थोड़ा स्वाधीन अनुभव करता है। इस तरह से आप देखेंगे कि ममता व्यक्ति को अच्छी भी लगती है। अगर ममता के दोष से केवल हम में विकारों की उत्पत्ति होती ही रहती, सत्य से हम विच्छिन्न होते रहते, उसके कारण से किसी प्रकार का सुख मालूम नहीं होता, तो बहुत जल्दी सब लोग ममता का त्याग कर देते। अब आप सोचिये। हम लोग सत्संगी हो कर जीवन के सत्य पर विचार करने बैठे हैं। वस्तुओं को अपना व्यक्तिगत मानने से व्यक्ति को थोड़ा भीतर से बल मालूम होता है। ऐसा आपने भी अनुभव किया होगा। लेकिन कितनी दयनीय दशा है ? सोचो तो ? क्या तुम्हारे अपने में कुछ नहीं है ? कि मोटर होने से तुम अपने को बलवान मानोगे ? मकान होने से तुम अपने को शक्तिशाली मानोगे ? पैसा होने से तुम अपने को विशेष मानोगे ? तुम्हारे अपने में अपना बल कुछ नहीं है? सोचने से लगता है कि ममता में जो हँसा हुआ व्यक्ति है उसके भीतर भी अपना बल, अपनी सामर्थ्य, अपना जीवन है अवश्य। लेकिन उसका उसको पता ही नहीं चलता और घबड़ा-घबड़ा कर वह बाहर की वस्तुओं को पकड़ता रहता है। इसलिए अपने जीवन की इस दशा को आप सामने रख कर सोचो। बिल्कुल सच्ची बात है कि ममता रख कर न कोई संसार के काम आता है और न कोई अपना कल्याण कर पाता है।

इसलिए स्वामीजी महाराज ने शान्ति-सम्पादन की विधि में बाहर की विधि कुछ नहीं बतायी कि ऐसा आसन लगाओगे, कि साउंडपूफ रूम बनाओगे, कि इस प्रकार का अभ्यास करोगे, तब शान्ति मिलेगी। ऐसा उन्होंने कुछ नहीं कहा। यह सब तो हर एक की अलग-अलग परिस्थिति है। आन्तरिक बात तो यह है कि ममता और कामना का नाश नहीं करेंगे, तो शान्ति नहीं मिलेगी। शान्ति के नाम पर बाहरी विधि-विधान खूब करते रहो और ममता और कामनाओं का त्याग करने की न सोचो, तो समय निकल जायेगा, शान्ति नहीं मिलेगी। एक बात हो गयी।

दूसरी बात उन्होंने कही कि दूसरों के काम आए बिना करने का रोग मिटेगा नहीं। इसमें भी जीवन का बड़ा भारी रहस्य है, जिस पर हम लोगों की दृष्टि जानी चाहिये। ईश्वर को मानो, चाहे मत मानो। द्वैतवादी बनो या अद्वैतवादी बनो। साकार उपासक बनो या निराकार उपासक बनो, जो भी मन में आवे, जो भी अपने को रुचे, पसन्द आये, सब ठीक है। लेकिन एक खास बात है, जिस पर हम लोगों को ध्यान देना चाहिये। वह क्या है ? कुछ न कुछ करना हम लोगों को पसन्द आता है। इसके भीतर रहस्य क्या है ? कि शरीरों के सहयोग से किसी न किसी प्रवृत्ति में जब हम लग जाते हैं तो प्रकृति-प्रदत्त कार्यक्षमता, जो अपने भीतर संचित है, उसको खर्च करने का मौका मिलता है। उसको खर्च करने में अपने को कुछ अच्छा लगता है, मजा आता है। अब करने का जो हिस्सा है वह अगर मैंने अपने सुख-सम्पादन के लिए किया, तो प्रवृत्ति में एक राग बन जाता है। प्रवृत्ति में राग बन जाने का उदाहरण देखिए

जैसे मुझ को जीवन का सत्य आपकी सेवा में निवेदन करने का अवसर मिला। अगर वक्ता होने का सुख मैं लेने लगें, तो मैं सत्य के सम्बन्ध में चर्चा कर रही हूँ और बहुत सम्भव है कि सुनने वाले श्रोता भाई-बहनों में से कुछ लोग ऐसे निकलेंगे जो इस सत्य की चर्चा को सुन कर लाभ उठा लेंगे। तो देखिए, मैं जो बोलने के सुख में अपने को बाँध लू, तो मेरा कल्याण नहीं होगा। समझ में आता है? यह कहलाता है--प्रवृत्ति का राग, कुछ करने का राग। करना अपने को सुखकर लगता है। सुख का भोगी करने के राग से मुक्त नहीं होता। अगर करने का राग भीतर में रह जायेगा, तो एक शरीर के नाश होने के बाद पुनः शरीर धारण करने की जरूरत बाकी रहेगी, आवागमन चलता रहेगा। प्रकृति का ऐसा विधान है कि राग-निवृत्ति की आज जो स्वाधीनता अपने में है वह घटती चली जायेगी, रहेंगी नहीं। आज हम लोग स्वाधीन (Free) हैं इस बात के लिए कि वक्ता कहलाने का सुख लेने के लिए बोलू, या प्रभु के दिए हुए प्रकाश से श्रोता-समाज की सेवा के लिए बोलू, कि मुझ में बोलने का रोग था, तो मेरे प्यारे श्रोता बन कर आये हैं मुझको वक्ता बनाकर राग-निवृत्ति का चान्स (अवसर) देने के लिए। तो उनकी उपस्थिति जानकर, उनकी हितैषिता जानकर उनकी सेवा में पत्र-पुष्प के रूप में यह पूजा करके मैं उनकी प्रसन्नता का अपने व्यक्तित्व में अनुभव करू और बाकी दूसरा कोई अर्थ न रखें। अगर साधन-बुद्धि से मेरा यह बोलना है, तो बोलने का राग खत्म हो जायेगा। अगर सुख-बुद्धि से मेरा बोलना है, तो किसी दिन यह कंठ बन्द हो जायेगा, स्वर-यंत्र भंग हो जायगा और मेरे भीतर बोलने की वासना शेष रह जायेगी, मुख से मैं मुक्ति-मुक्ति बोलती रही और बन्धन लेकर मर जाउँगी। समझ में आता है? कितनी स्पष्ट यह बात है। एक दम साफ Crystal Clear। इसके आगे कोई भी मत, मजहब, सम्प्रदाय, विशेष विधि-विधान, अनुष्ठान कुछ भी आप ले आइये, इस सत्य

के खिलाफ कहीं कुछ नहीं मिलेगा। करने का राग अपने में रह गया, तो जन्म-मरण का बन्धन खत्म नहीं होगा।

| स्वामी जी महाराज कहते हैं कि भाई, इस राग से मुक्त हो जाओ। अविनाशी जीवन तो तुम्हारे में ही विद्यमान है। उसको प्रकट होने में देर क्या लगती है? कुछ नहीं। केवल तुम करने के राग में बँधे हो, चुपचाप रहा नहीं जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि अपने में करने का राग है। हाथ-पाँव देखने में आते हैं। उनके भीतर जो स्थूल कार्य करने की शक्ति है वह देखने में आती है। लेकिन अपने अहं में प्रवृत्ति के द्वारा सुख लेने की वासना जो है, वह देखने में नहीं आती। उसके रहते-रहते अगर आप हाथ-पाँव मोड़ कर, आँख बन्द करके समाधि का आनन्द लेना चाहें, तो नहीं ले सकेंगे। कुछ देर शान्त रहने का मजा आता है तो कुछ देर काम करने का जी होता है। काम करना अच्छा है। जब तक यह शरीर है, इस धरती पर आश्रय हम ले रहे हैं, तब तक इस शरीर के द्वारा कुछ काम होता रहे, तो अच्छा है। लेकिन काम का राग अपने में रखना अच्छा नहीं है। अपने सुख के लिए जब तक प्रवृत्ति में लगे रहेंगे, तब तक राग मिटेगा नहीं। और पर-हित के लिए प्रवृत्ति में लग जाओ तो राग मिट जायेगा।

स्वामी जी महाराज ने कहा कि दूसरों के काम आये बिना 'करने का राग मिटेगा नहीं। तो अब हम लोगों को क्या करना चाहिये? हम लोगों को आज से, इसी क्षण से, प्रवृत्ति की घड़ी सामने आवे, तो हर प्रवृत्ति में अपने सुख के हिस्से को माइनस करके, निकाल कर पारिवारिक और सामाजिक हित को प्रधानता देनी चाहिये। अपने सुख की दृष्टि से कुछ मत करो। परहित की दृष्टि से जो कर सकते हो सो करो। लेकिन चौबीसों घण्टों का समय करने ही के लिए मत रखो। कुछ समय न करने के जीवन में निवास करने के लिए रखो। यहाँ तक तो वैज्ञानिक सत्य था। अब दार्शनिक सत्य पर आइये।

अहं में अंकित हुआ प्रवृत्ति का जो राग है, वह कुछ-न-कुछ करने के संकल्प का रूप धारण करके सूक्ष्म शरीर के माध्यम से मन में उदित होता है। जब उसके वेग को हम लोग रोक नहीं सकते, तो क्रिया में लग जाते हैं। अब इसके विपरीत हमको चलना है। करने का यन्त्र है। इस यन्त्र को चालित करके पर-हित की भावना से प्रभावित हो कर, सही प्रवृत्ति में कुछ समय लगा दीजिये। लेकिन प्रत्येक सही प्रवृत्ति के बाद कुछ समय अपनी सहज निवृत्ति के लिए जरूर रखिये। क्या होगा उसमें ? उसमें आपको पता चलेगा कि इतने दिन तक जो मैंने धूम-धाम मचाई, जी-तोड़ परिश्रम किया और इसमें बड़ा सुख माना, यह सब जो मैंने किया, इसके बदले में विश्राम की योग्यता मुझमें आई कि नहीं? किसी-किसी व्यक्ति की परिस्थिति कुछ ऐसी होती है कि उसको इच्छा से और शक्ति से अधक काम करने की जरूरत पड़ जाती है। वह सोचता है कि मुझ को तो इतना काम करना पड़ रहा है कि विराम ही नहीं मिल रहा है। लेकिन आप समय बचा करके थोड़ा-थोड़ा समय विश्राम के लिए रख कर देखिएगा, तो आपको पता चलेगा कि परिस्थितियाँ तो विराम Allow करती हैं, विश्राम का अवसर देती हैं, पर अपने में योग्यता नहीं है विश्राम में रहने की। इसलिए थोड़ा-थोड़ा समय विश्राम-सम्पादन के लिए रखना चाहिये। काम करने के बाद कुछ देर के लिए शान्त रह कर सहज निवृत्ति का आनन्द लेना चाहिये।

इसमें दर्शनिक सत्य यह है कि जो अपने में है और जो नित्य विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति श्रम से नहीं होती है, विश्राम से होती है।

और व्याख्या करूँ मैं कि श्रम-काल में शरीरों से तादात्म्य तोड़ना सम्भव नहीं है। श्रम केवल स्थूल अंगों से ही नहीं होता, केवल कारक अंगों से नहीं होता। श्रम भीतर-भीतर चिन्तन के स्तर पर भी होता है। आपके सामने कोई कठिन समस्या आ गई, सुलझाने का कोई उपाय नहीं सूझता। सोचते-सोचते आप थक जाते हैं। तो चिन्तन के स्तर पर भी आदमी थकता है। कुछ साधक स्वभाव से ही उपजने वाले चिन्तन को रोकने की चेष्टा करते हैं। तो उपजने वाले चिन्तन को रोकने में भी आदमी थकता है। कुछ देर तक जोर जबरदस्ती करके रोकते हैं और उसके बाद फिर स्नायु ढीले हो जाते हैं। कुछ लोगों के सिर में भार लगने लगता है, कुछ लोगों के सिर में दर्द होने लगता है, कुछ लोगों को तन्द्रा और निद्रा आ जाती है। यह सब मैंने सुना है। साधकों के जीवन की बात मैं कह रही हूँ। तो स्थूल कर्म से भी थकता है आदमी, सूक्ष्म चिन्तन की प्रवृत्ति में भी थकता है और चिन्तन को जबरदस्ती रोकने में भी थकता है। इस तरह से उसको थकावट आती है। इन सब थकावटों से आप अपने को बचाइयेगा तो एक बड़ा भारी उपकार आपको अपने पर होगा।

कर्म में जब तक लगे रहोगे, स्थूल शरीर का संग आप छोड़ नहीं सकते। चिन्तन में जब तक उलझे रहेंगे, सूक्ष्म शरीर का संग आप छोड़ नहीं सकते। व्यर्थ-चिन्तन को रोकने में जब तक लगे रहोगे, तब तक मन का संग आप छोड़ नहीं सकते। आप सभी समझदार लोग हैं। खूबं सत्संग आपने सुना है। इस धारणा से मैं आपके सामने निवेदन कर रही हूँ कि आप स्वयं इस बात का फैसला कीजिए कि जब तक स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, किसी स्तर पर, शरीरों का संग छोड़ नहीं सकेंगे, तब तक क्या अशरीरी जीवन का अनुभव होगा? जी? नहीं होगा। | हम लोग अशरीरी जीवन के अनुभव के लिए चिन्तन में लगे हैं, कि चिन्तन-रहित होने की साधना कर रहे हैं? मैं अमर आत्मा हूँ, मैं अमर आत्मा हूँ, मैं अमर आत्मा हूँ। अरे भाई, अमर आत्मा हो, इसमें तो किसी को कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। लेकिन अमर आत्मा हूँ--इंस चिन्तन से भी जब छूटोगे, तब जिसका चिन्तन कर रहे हो वह तुम्हारा जीवन बन जाएगा। ठीक है? तो जीवन का दार्शनिक सत्य क्या है ? श्रम किया जाता है--विश्राम के लिए और विश्राम में रहा जाता है-अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए। हमारी सारी जिन्दगी की दौड़-धूप जो है, वह कहाँ जाकर खत्म होनी चाहिये ? अविनाशी जीवन की प्राप्ति में। उसके लिए केन्द्र क्या होगा, किस बिन्दु पर जाकर हम सारी प्रवृत्तियों से मुक्त होंगे? विश्राम के लिए। सारा श्रम हमारा किस दृष्टि से होना चाहिये ? कि मुझ में विश्राम में रहने की योग्यता आ जाय।

इस पर संत की सलाह यह है कि सुख-स्वार्थ की दृष्टि से प्रवृत्ति में लगे रहोगे, तो राग-निवृत्ति होगी नहीं। भीतर में करने की जो क्षमता है उसको खर्च करना जरूरी है, लेकिन सुख-स्वार्थ की दृष्टि को छोड़कर पर-हित की दृष्टि से प्रवृत्ति करोगे, तो करने का राग मिट जायेगा, और राग-रहित जीवन में योग की अभिव्यक्ति होती है। राग और योग-ये दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। राग रहेगा, तो योग का आनन्द नहीं मिलेगा। राग मिट जायेगा, तो सहज भाव से आप योगवित् हो जायेंगे। जो योगवित् हो जाता है वह तत्त्ववित् हो जाता है। जो तत्त्ववित् हो जाता है वह भगवद् भक्त हो जाता है। उसके बाद कोई प्रयास शेष नहीं रहता। यह दार्शनिक सत्य हो गया।

तीसरी बात बताई महाराज जी ने आस्तिकता का तत्त्व। वह भी मनुष्य के जीवन का

अनिवार्य पहलू है। उसके बिना किसी भी मनुष्य का व्यक्तित्व पूरा होता ही नहीं। किसी भी स्तर का मनुष्य हो, अगर उसके व्यक्तित्व को ले कर आप उसका विश्लेषण करेंगे तो उसमें श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, प्रेम का तत्त्व जरूर मिलेगा। एक यह भी आवश्यक बात है, जिस पर हम लोगों को विचार कर लेना चाहिये। उसमें क्या है ? कि जो

आपके भीतर भाव-पक्ष है श्रद्धा-विश्वास का तत्त्व है, उसको विकसित कैसे किया जाय। तो उसके लिए महाराज जी बताते हैं कि प्रभु को समर्पित हुए बिना अखण्ड स्मृति और प्रियता जाग्रत नहीं होती।

उनके समर्पित हो जाओ। उनको अपना मानो। उनसे अपना नित्य सम्बन्ध मानो। जिससे अपना नित्य सम्बन्ध मानते हैं, वह अपने को प्यारा लगने लगता है। और जो अपने को प्रिय लगने लगता है, उसकी स्मृति जाग्रत हो गई है। परमात्मा के लिए मेरे भीतर अखण्ड स्मृति और प्रियता उदित हो जाय, तो इसी का नाम भजन है इसी का नाम भक्ति है। परमात्मा की प्रियता और स्मृति तत्त्व परमात्मा के समान ही अविनाशी तत्त्व है। परमात्मा की स्मृति परमात्मा के समान ही अनन्त प्रियता प्रदान करने वाली है। इसलिए स्मृति और प्रियता जब मनुष्य के अहं में उदित होती है, तब फिर उसे कोई नया प्रयास नहीं करना पड़ता, नई साधना नहीं करनी पड़ती।

अपने में जो स्वयं प्रेमस्वरूप ही है, उसकी प्रियता से रोम-रोम भरपूर हो जाता है। उसकी प्रियता से अहं का गठन-रक्षण, पालन-पोषण सब हो रहा है। लेकिन दृश्य जगत् की ओर देखने के कारण उसकी उपस्थिति की मधुरता का स्वाद कभी नहीं आता। उस प्रेम स्वरूप, जीवन के आधार, उस परम प्रेमास्पद प्रभु को अपना मानकर उसके प्रति प्रेम भाव का अर्पण करना मेरी साधना है, मेरा जीवन है-ऐसा स्वीकार करके जिसने उनको अपना मान लिया और अपने को उनके समर्पित कर दिया, उसमें अखण्ड स्मृति और प्रियता जाग्रत हो गयी।

एक बार स्वामी जी महाराज के पास एक युवक आया। यह इलाहाबाद की बात है। कुम्भ के मेले में महाराज जी ठहरे हुए थे। सत्संग हो रहा था। वह युवक कहने लगा कि बाबाजी ! आप मुझको भगवान् दिखा सकते हैं? स्वामी जी ने कहा कि हाँ, मैं दिखा सकता हूँ। तो बताइये कहाँ है? स्वामीजी ने कहा तुम्हारे पीछे हैं। वह युवक पीछे देखने लगा। कहने लगा, यहाँ तो कोई नहीं है महाराज। स्वामी जी ने कहा--भैया तुमने पीछे कहाँ देखा ? तुम तो सामने देख रहे हो। परमात्मा तुम्हारे पीछे है, तुम पीछे देखो तो तुम्हें परमात्मा दिखाई दे। तुम तो पीछे देख ही नहीं रहे हो। तुम तो सामने देख रहे हो। वह तो तुम्हारे पीछे ही खड़ा है।

इस सम्बन्ध में बड़ा बढ़िया सूत्र बताया है महाराज जी ने--जब तक संसार को पसन्द करते हैं, परमात्मा हमारे पीछे रहता है और जब हम उसको पसन्द करते हैं, तब वह हमारे सामने रहता है। अर्थ क्या निकला ? कि जब तक बाहर-बाहर कुछ देखना, कुछ सुनना, कुछ बोलना, कुछ करना पसन्द आ रहा है मुझे, तब तक मैं उससे विमुख हूँ। उसके विपरीत दिशा में देख रही हैं, इसलिए उसका पता ही नहीं चलता। लेकिन जब ये बाहर की बातें नापसन्द हो जाती हैं, तो दिखने पर भी इनका प्रभाव नहीं होता है, सुनने पर भी इनका कोई असर नहीं होता है। जब हम स्वयं अपने को अपने अन्दर देखना पसन्द करते हैं, बाहर से अपने को विमुख कर लेते हैं, तो आँखें खुली रहेंगी, दृश्य-जगत् दिखाई देगा, लेकिन आपका उससे लगाव नहीं रहेगा। तब क्या होता

है? जब अपना प्यारा, अपना प्रेमास्पद, अपने जीवन का आधार जो मुझ में विद्यमान है, उसकी याद आने लगती है, तो सारी वृत्तियाँ 'अहम्' के साथ मिल कर उसमें जाकर समाहित हो जाती हैं। बड़ा आराम मिलता है, बहुत शान्ति मिलती है, बड़ा आनन्द आता है।

स्मृति शब्द का प्रयोग स्वामी जी महाराज ने केवल परमात्मा की स्मृति के लिए ही किया है। बाहरी बातों के लिए नहीं। क्योंकि इस शब्द का बड़ा भारी अर्थ उन्होंने बताया कि देखो, अगर संसार की कोई वस्तु तुम्हें चाहिये और उसकी याद तुम्हें आई, वह वस्तु तुमसे बहुत दूर है, उसको पाने के लिए काल अपेक्षित है। परिस्थिति बनेगी, तब मिलेगी। इसलिए अगर वस्तु की याद आती है, तो मनुष्य को भीतर अभाव सताता है, बेबसी सताती है, पराधीनता आ जाती है। लेकिन जो तुम्हारे ही में विद्यमान है और तुमसे भी अधिक तुमको अपनाने के लिए लालायित है, उसकी स्मृति जब आती है, तो वह नित्य विद्यमान परमात्मा तत्काल ही अपनी विभूतियों से, अपने सान्निध्य से तुमको भर देता है। देर नहीं लगती है। परमात्मा से मिलन के लिए, जन्म-जन्मान्तर के अभाव को मिटाने के लिए अखण्ड स्मृति और प्रियता अनिवार्य तत्त्व है।।

अखण्ड स्मृति और प्रियता जाग्रत कैसे होती है ? 'उनको' अपना मानने से, और उनको समर्पित होने से। जिन्होंने उनको अपना मान लिया, उनमें स्मृति जाग्रत हो गई। जिन्होंने अपने को उनके समर्पित कर दिया, उनमें उनका आश्रय आ गया, उनमें उनकी सामर्थ्य आ गई। उनको उनकी उपस्थिति का अनुभव हो गया। उनको उनके प्रेम की मधुरता का स्वाद मिल गया और वह बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है कि अगर मैं प्रभु-विश्वासी हूँ, मुझे प्रभु का प्रेम चाहिए, मुझे प्रभु-सान्निध्य चाहिये, उनके मधुर रस का आस्वादन चाहिए तो प्रभु-प्रेम की प्यास के रूप में जो अहं है, जिसमें से सब कामनायें निकल चुकी हैं, वह सम्पूर्ण अहं ही प्रभु की प्यास और प्रभु की स्मृति बन जाता है। उसमें बड़ा आनन्द छा जाता है। उसकी सीमा समाप्त हो जाती है। विश्राम मिल जाता है। स्वयं प्रेम स्वरूप ही हो जाता है। यही ईश्वर-विश्वासी साधक की उपलब्धि है, सर्वोच्च उपलब्धि है। यही उसकी सिद्धि है।

हम सभी भाई-बहिन जो यहाँ बैठे हैं उनको यह उपलब्धि चाहिये, कि नहीं चाहिए? इसके अलावा और कुछ चाहिये ? यह बात सच्ची है। कि अगर मैं ईश्वर-विश्वासी हूँ तो मेरे अहं में सिवाय प्रभु-प्रेम की प्यास के और कोई कामना, कोई ममता नहीं रहनी चाहिए। अभी तक अगर इस प्रेम-रस से छक जाने की घड़ी इस जीवन में नहीं आई तो इसका मतलब है कि मैंने और भी सम्बन्ध बना रखे हैं, और भी कुछ चाहती हूँ। यह उसका अर्थ निकलेगा।

अगर ऐसी दशा अपनी है, तो लाज-शर्म की बात नहीं है, एक-दूसरे से छिपाने की कोई बात नहीं है। क्योंकि जीवन का जो सत्य है, उसी का दर्शन ही तो हमको आगे बढ़ाता है। इसलिए मैं निवेदन करती हूँ कि अकेले-अकेले बैठ करके अपने को देखना, और अगर ऐसी कोई बात मालूम हो, तो उसी सामर्थ्यवान का सहारा लेकर उस बात को त्याग देने के लिए कटिबऋ हो जाना। मुझे और सम्बन्ध नहीं रखना है, मुझे और कोई कामना नहीं रखनी है, मेरा सम्पूर्ण अहं प्रभु-प्रेम की प्यास के रूप में ही रह जाय। ऐसी अभिलाषा उस प्रभु की करुणा को द्रवित करने के लिए पर्याप्त हैं। आप में ऐसी अभिलाषा है, उनमें करुणा है, काम बन जायेगा। कोई दिक्कत नहीं होगी। इस मूल बात को स्वामी जी महाराज ने हम

लोगों के सामने रखा और कहा कि भाई, उनको अपना माने बिना और उनको समर्पित हुए बिना अखण्ड स्मृति जगेगी नहीं, प्रियता उदित होगी नहीं। तो तीन बातें उन्होंने कही–अकिंचन और अचाह हुए बिना शान्ति मिलेगी नहीं, दूसरों के काम आये बिना करने का राग मिटेगा नहीं अर्थात् जीवन-मुक्ति नहीं मिलेगी और प्रभु को अपना माने बिना, उनको समर्पित हुए बिना अखण्ड स्मृति और प्रियता जगेगी नहीं अर्थात् भक्ति नहीं मिलेगी।

सन्त-वाणी अधिकार लालसा से शून्य कर्तव्य 'न्याय' को प्रेम' में विलीन करता

सिक्के से वस्तु और वस्तु से श्रम को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। इस नीति से संघर्ष का नाश होगा।

प्रवचन 10

सत्संग-प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों !

हम सबको जीवन में विश्राम चाहिए। विश्राम हमारे जीवन की मौलिक माँग है। विश्राम हम सभी भाई-बहनों को अभीष्ट है और विश्राम में ही जीवन का सर्वोत्तम विकास सम्भव है। इसलिए आज प्रात:काल की बैठक में हम लोग इस अत्यन्त आवश्यक तथ्य पर विचार कर लें। शरीर के साथ मिलकर समाज और परिवार का काम करते हुए भी हम सब लोग विश्राम की आवश्यकता अनुभव करते हैं। शारीरिक और मानसिक थकान के समय भी हम सब लोग विश्राम की आवश्यकता अनुभव करते हैं। शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के अध्ययन के आधार पर इस बात का पता चलता है कि प्रवृत्तिकाल में भी हम थोड़े-थोड़े समय के बाद विश्राम लिया करते हैं। इसके अलावा हम लोगों के शरीर में प्राकृतिक ढंग का ऐसा नियम बना हुआ है कि जिससे शरीर के मस्तिष्क के सूक्ष्म-अति-सूक्ष्म स्नायु जो हैं, उनके कार्यों में स्वत: विश्राम (Automatic Rest) हुआ करता है। अपने आपसे मेरे दिए बिना ही अपने अन्दर से शरीर के अवयव विराम ले लिया करते हैं। अपने को पता भी नहीं चलता है। ऐसा मालूम होता है कि हम उसी गति (Speed) से काम करते चले जायेंगे। परन्तु प्रयोग के आधार पर इस बात का पता चलता है कि आपने अपनी ओर से विराम नहीं लिया, तब भी शरीर के स्नायु और मस्तिष्क के स्नायु अपने आप से विराम ले लेते हैं। यह प्रकृति का विधान ही है।

सन्त की वाणी में दार्शनिक दृष्टिकोण से भी इस बात का पता चला कि भाई, प्रत्येक गति का आरम्भ शांति में से हो होता है और सब प्रकार की गतियों का विलय भी शान्ति में ही होता है। जिस शान्ति में से प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसी शान्ति में जाकर वह प्रवृत्ति खत्म होती है। मूल में अगर शान्ति न हो, तो प्रवृत्ति आरम्भ ही नहीं हो सकती, चल ही नहीं सकती। तो दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह बात सही है कि विश्राम और शान्ति एक अनिवार्य तत्त्व हैं जो बीज रूप से हम लोगों के जीवन के मूल में विद्यमान हैं। अपनी भूल से हम लोग उस विश्राम से वंचित हो गये हैं। अब सत्संग के प्रकाश में उस विश्राम के सम्पादन की चर्चा कर रहे हैं कि हमें विश्राम चाहिए। किसलिए चाहिए? स्थूल और सूक्ष्म शरीरी और अशरीरी, सब प्रकार की शक्तियों के विकास के लिए विश्राम चाहिए। लौकिक और अलौकिक सब प्रकार के विकास के लिए विश्राम चाहिए। यदि विश्राम नहीं मिलता है, तो इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है- नीरसता। मनुष्य अपने जीवन में अपने को नीरस-नीरस अनुभव करता है। उसके मस्तिष्क में बहुत

हलचल रहती है, उसे कहीं अच्छा नहीं लगता। तब जीवन को सरस बनाने के लिए वह बाह्य जगत् का सहारा लेता है। अच्छी जगह घूमना, मित्रों से मिलना, होटल में खाना, पिक्चर जाना आदि उपाय करता है। यह मनुष्य की बड़ी भारी भूल है। परिस्थितियों का सहारा लेकर जीवन को सरस बनाने के लिए जितना ही सुख भोगने का प्रयास करो, उतना ही जीवन का रस-स्रोत क्षीण होता चला जाता है। मिल गया तो दु:ख, न मिला तो दु:ख। मनुष्य के जीवन का स्तर ही नीचे चला जाता है। सच्चिदानन्द स्वरूप का अंश होते हुए भी जब वह अपने रस के लिए, अपनी खुशी के लिए पराश्रय को स्वीकार कर लेता है, तब उसका मूल्य घट जाता है। व्यक्ति भीतर से गरीब होता चला जाता है। ऊपर-ऊपर से अपने को एक बड़प्पन का मिथ्य अभिमान लेकर दूसरों के सामने कुछ विशेष प्रकट करके की चेष्टा करता रहता है। बड़ी दयनीय दशा है।

| किसी समय मैंने भी अभाव की पीड़ा को अनुभव किया था और नीरसता से मेरे भीतर-भीतर जो कमी महसूस होती थी, उससे मुझे अपने आप में बड़ा अपमान महसूस होता था। कैसा जीवन है यह ! किसी तरह से सन्तुष्ट नहीं होता। अपनी भूल तो मालूम नहीं होती थी मुझको। बनाने वाले परमात्मा पर मैं बिगड़ जाती कि कैसा जगत् तुमने रच के रख दिया है ? किसी तरह सन्तुष्टि ही नहीं है। किसी तरह से प्रसन्नता ही नहीं है। जब सन्त के पास आकर मैं बैठी, तो मुझे मानव-जीवन के भीतर की नीरसता का बड़ा मूल्य मालूम हुआ। मैं परमात्मा को धन्यवाद देने लगी कि बड़ा अच्छा किया तुमने जो असत् के संग में मिलकर रहने में मुझे सन्तुष्ट नहीं होने दिया। बड़ा उपकार किया तुमने कि किसी प्रकार सन्तुष्टि नहीं होने दी। क्या कारण है उसमें ? रसस्वरूप जो हमारे जीवन का उद्गम है उससे विमुख हो जाओ, तो भीतर-भीतर नीरसता रहेगी ही। लेकिन बड़ी भारी भूल होती है मनुष्य से कि जब उसके भीतर नीरसता सताती है। तो वह सोचता है कि दूसरे के जैसा बढ़िया मकान मेरे पास नहीं, इसलिए नीरसता है। कोई सोचता है कि जैसी सन्तान मुझको चाहिए थी, उतनी सुयोग्य, आज्ञाकारी सन्तान मेरे पास नहीं है, इसलिए नीरसता है। कोई सोचता है कि शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं है इसलिए नीरसता है और कोई सोचता है कि अच्छा पद नहीं मिला इसलिए नीरसता है। आदमी भूल जाता है कि उसके भीतर जो कमी महसूस हो रही है वह तो उस परम प्रेमास्पद परम हितचिंतक का निमन्त्रण है कि भैया, तू रस कहाँ खोज रहा है ? रस तो मेरे पास है। आ, मैं तुझे तृप्त करूँ।।

हमारे साथ रहने वाले साधक, साधिकायें जब अपने साथियों से अपनी परिस्थितियों से असन्तुष्ट होकर शिकायत करने लग जाते हैं, तो मैं उनको याद दिलाती हूँ कि देखो भाई, तुम्हारे डिजाइन (Design) की सृष्टि बनेगी नहीं। जिसने बनाया है वह बहुत ही ज्ञानवान है, सर्वज्ञ है और हम लोगों का परम हितकारी है। उसने जो टेढ़ा-मेढ़ा बनाकर तुम्हारे सामने खड़ा किया है न, वही तुम्हारे लिए बहुत हितकारी है। बुरा मत मानो। अपने डिजाइन की दुनियाँ मत खोजो। मिलेगी नहीं कहीं। जैसी मिली है। उसी में अच्छाई देखने की कोशिश करो, तो तुम्हारा दु:ख मिट जायेगा।

और सृष्टि अगर तुमको पसन्द आये, तो मेरी तरह आनन्दित हो करके सृष्टिकर्ता को मुबारकबाद देना। मैं तो कह देती हूँ कि हे सृष्टिकर्ता ! यह सृष्टि आपको मुबारक हो, आप ही जानो बाबा। तुम्ही रखो, सम्हालो। हमको तो छुट्टी दिलाओ। ऐसे आप भी कह देना।। | भूल जाता है आदमी कि उसका अपना मूल्य क्या है? वह तो

अमर जीवन का अधिकारी है। वह तो प्रेमस्वरूप परमात्मा का लाड़ला दुलारा बालक है। वह तो उस निजानन्द में, योगानन्द में, ब्रह्मानन्द में, प्रेमानन्द में मस्त रहने का अधिकारी है। तो यह सब तो हमारा-आपका जन्म सिद्ध अधिकार है, यह तो हमारा स्वरूप ही है। उस पर दृष्टि नहीं जाती, तो हम चेतन हो करके जड़ का सहारा लेकर आन्तरिक नीरसता को मिटाना चाहते हैं। हमारे परम हितैषी मंगलकारी विधाता की योजना ऐसी है कि वे कहते हैं कि हम तुम को इसमें फँसने ही नहीं देंगे। तो चैन नहीं लेने देते हैं, हँसने नहीं देते हैं। | श्री अखण्डानन्द जी महाराज ने एक जगह पर लिखा है कि परमात्मा ने मनुष्य को बनाया और बहुत सुन्दर ढंग से संसार को सजाया। सजा-धजा कर बढ़िया बना कर उसमें आदमी को भेजना आरम्भ किया, तो मनुष्य डरने लगा कि हे पिता ! हमें तो बड़ा डर लगता है। भगवान् ने पूछा कि पुत्र डरते क्यों हो? तो मनुष्य ने कहा कि हे पिता ! डर तो इस बात का है कि आपकी माया-रचित लुभावनी-सुहावनी सृष्टि उसमें जा करके अगर मैं भूल गया, खो गया तो आपके पास वापिस जैसे आऊँगा? तो परमात्मा ने कहा कि हे पुत्र, डरो मत ! डरने की कोई बात नहीं है। हम तुम्हारी जन्मपत्री में लिख देते हैं कि जब तक मेरे पास वापिस लौटकर आओगे नहीं, कहीं तुमको चैन नहीं मिलेगा। बड़े आनन्द की बात है। बहुत बढ़िया बात है। यह तो संत की शरण में बैठने के बाद मुझको पता चला। सचमुच हम लोगों के भीतर जो नीरसता सताती है, उसका कोई बाहरी कारण नहीं है। और बाहर के किसी उपादान से आप भीतर की नीरसता, जो ऐसा लगता है कि बनावट में ही भरी पड़ी है, उसको मिटाना पसन्द करेंगे, तो कभी भी मिटा नहीं पायेंगे। और बाहरी सहारे, पराश्रय, पराधीनता और परिश्रम से मिलने वाले सुखों के द्वारा मनुष्य अगर अपनी नीरसता को मिटाना पसन्द करता है तो कभी उसको सफलता नहीं मिलती है। उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। आगे चल करके मस्तिष्क की हालत इतनी खराब हो जाती है, इतनी दुर्बलता और चंचलता भर जाती है कि प्राप्त सामग्री का सुख भी वह नहीं ले पाता।

विदेश की एक महिला हमारे विश्वविद्यालय में आई थीं। लड़कियों से और स्टाफ से मिलना पसन्द किया उन्होंने। तो हम लोग भी मिले। लड़कियों ने पूछा कि आपके यहाँ महाविद्यालय, विश्वविद्यालय को क्या ढाँचा है और छात्राओं को क्या-क्या सुविधायें मिलती हैं? तो उन्होंने खूब तारीफ की और कहा-हमारी लड़कियाँ तो खुले वायुमण्डल में स्वतन्त्र पक्षियों की तरह चहकती रहती हैं और हर एक विभाग के लिए मोटरें हैं। कोई विद्यार्थी किसी लाईब्रेरी में जाय, कुछ भी सामान चाहे, कोई भी किताब चाहे, सब खुला है, ले आते हैं, पढ़ते हैं, बैठते हैं। पार्क बना है, स्वीमिंग पूल बना है। उन्होंने तैरने के तालाब की खूब तारीफ की। हमने पूछा कि लड़कियों के बौद्धिक और शारीरिक विकास की इतनी सुविधायें हैं, इतनी स्वाधीनता है और इतने सामान हैं, तो इन सारी सुविधाओं को लेकर के जीवन के विकास के रास्ते में आपके विद्यार्थी जाते हैं ? किस तरह से वे लोग जीवन को ऊँचा उठाते हैं? जैसे ही उन्होंने यह प्रश्न सुना, वे एकदम गम्भीर हो गयी और कहने लगीं-freedom freedom, they are mad with freedom. They do not know what to do with freedom. स्वतन्त्रता, स्वतन्त्रता ! वे लोग स्वतन्त्रता से पागल हैं, वे नहीं जानतीं कि इस स्वतन्त्रता को लेकर वे क्या करें !

मनुष्य के व्यक्तित्व पर से सत्य का अनुशासन हट गया, धर्म का अनुशासन हट गया,

समाज की मर्यादा का कोई बन्धन नहीं रहा, तो वह फ्रीडम नहीं है, स्वतन्त्रता नहीं है। जब किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं होता, तो उसका परिणाम क्या होता है कि मस्तिष्क इतना गतिशील हो जाता है, इसमें इतनी थकान आ जाती है, इतनी दुर्बलता आ जाती है, इतनी असमर्थता

आ जाती है कि व्यक्ति को पता ही नहीं चलता है कि कहाँ से कहाँ पहुँच गया है। क्या उसकी दशा हो गई है ! अपने को सम्हालने में बिल्कुल असमर्थता आ जाती है। तो अर्थ क्या निकला ? अर्थ यह निकला कि भीतर में, अपने में वह जीवन तत्त्व है कि जिसकी हम सब लोग आज आवश्यकता अनुभव करते हैं। अगर उसकी ओर दृष्टि नहीं है और भीतर की नीरसता का नाश बाहर की वस्तुओं की सहायता से करना चाहते हैं, तो कभी सफलता नहीं मिलेगी। मैं तो इस बात को बहुत ही अच्छा मानती हूँ कि जिन लोगों के सामने कामनाओं की पूर्ति की परिस्थितियाँ ज्यादा अच्छी नहीं रहती है वे भाग्यशाली हैं, प्रभु की कृपा के पात्र हैं, कि उनके भीतर चेतना रहती है, सजगता रहती है, संयम रहता है। कुछ खुशी से, कुछ मन मार के, किसी तरह से अपने को रोकथाम कर रखते हैं। नहीं तो खुली छूट दे दी, तो पता नहीं क्या होगा ! | यह बिल्कुल वैज्ञानिक स्तर की बात है, कोई ऊँची दार्शनिक बात नहीं है। अगर बहुत अधिक संकल्प-पूर्ति के सुख में आदमी फँस जाय, तो मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षित नहीं रह सकता है। दूसरी बात जीवन नीरस किसको लगता है? जिसको अपने लक्ष्य की पूर्ति में संदेह हो, जिसको अपने लक्ष्य की पूर्ति में अपने में असमर्थता मालूम होती हो, निराशा रहती हो, उसका जीवन नीरस रहता है।

मनुष्य यदि इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि संसार का कोई भी दृश्य सदा के लिए मेरे साथ नहीं रहेगा, तो वह दृश्यों पर भरोसा नहीं करेगा। और यह सहारा लेने के लायक नहीं है, ऐसा जान करके तन का, धन का, परिवार का, संगी-साथियों का सबका सहारा छोड़ देता है, तो उसके भीतर आसक्ति नहीं रहती है। जो अपने ही में विद्यमान अविनाशी की अभिव्यक्ति को अपना खेल बना लेता है, उसमें भी नीरसता नहीं रहती है। क्यों नहीं रहती है कि उधर कोई असफल होने का प्रश्न ही नहीं है। और असत्य के संग को छोड़ा नहीं, कि सत्य की अभिव्यक्ति हो गयी। अपने को कुछ करना नहीं पड़ता। सारा पुरुषार्थ किस बात में है ? कि नहीं को अस्वीकार करो। सारा पुरुषार्थ किस बात में है? कि 'है' को स्वीकार करो। तो 'नहीं' को अस्वीकार किया, तो सब असाधन चले गये।

असाधन चले गये, तो चित्त बिल्कुल शान्त, शुक्र और सरस हो गया। 'है' को स्वीकार करो, तो 'है' की अभिव्यक्ति हो गयी। और है' प्रकट हो गया तो रस ही रस है, आनन्द ही आनन्द है। नीरसता का कहीं पता ही नहीं है। नीरसता का नाश हो जाता है। और अन्तिम बात है-प्रेम की अभिव्यक्ति। यह अन्तिम बात है। उसमें जो रस की वृद्धि आरम्भ होती है, तो कभी रुकती नहीं है। उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। हर अनुभव में वह नया-नया आनन्द देने वाला होता चला जाता है। तो किसी अवसर पर आप अपने को कुछ बलिष्ठ अनुभव करते हैं, कुछ समर्थ अनुभव करते हैं। किसी घड़ी में आप अपने को असमर्थ अनुभव करते हैं। तो असमर्थता के आने पर अगर आप दीन हो जाएँ, तो भी भीतर में नीरसता आ जायगी, और सामर्थ्य के अनुभव करने से आप अपने को बलवान समझें, तो उस अभिमान से भी हृदय कठोर बनता है और नीरसता

आ जाती है। न दीन बनो, न अभिमानी बनो। परिस्थितियों को महत्त्व मत दो। अनुकूल आ जायें तो समझो कि मुझको सेवा का अवसर दिया गया है विधान से। मुझे उदार बनाने के लिए परिस्थिति आ गई है। तो अलग खड़े रहना, उससे अपने को जोड़ना नहीं। जो भी अनुकूलता आपके सामने आ जाये-पद से, अधिकार से, सम्पत्ति से, शरीर से, समाज के सहयोग से, उसको जल्दी बाँट देने की चेष्टा करना। तो आई हुई अनुकूलता भी आपके रास्ते में कोई बाधा नहीं डालेगी। तो नीरसता मिटाने का एक यह भी उपाय है कि परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि स्वीकारे मत करो अर्थात् परिस्थितियाँ जीवन नहीं हैं। जीवन की जो साधना है उस साधना की सामग्री है। तो नीरसता कभी नहीं आवेगी।

फिर एक कदम और आगे चलिए और सोचिये--मेरा अपना स्वरूप क्या है ? अशरीरी मेरा स्वरूप है, अविनाशी मेरा स्वरूप है, आनन्दमय मेरा स्वरूप है-ऐसा कहो अथवा ऐसा कहो कि नित्यानन्द से मुझे अभिन्न होना है, परमानन्द से अभिन्न होना है। उस जीवन से अभिन्न होने की तीव्र उत्कण्ठा जीवन में जग जाती है, तो नीरसता का नाश हो जाता है। फिर नीरसता नहीं रहती। बड़ा सरस हो जाता है जीवन। बहुत रसमय हो जाता है।

फिर उसके आगे-भक्त बनिये। तो परम प्रेमास्पद परमात्मा को आपने अपना इष्ट बनाया। उनके होकर रहना पसन्द किया, उनकी प्रसन्नता के लिए सृष्टि की सेवा को पसन्द किया। ऐसा जिसने पसन्द किया, उसके जीवन में से भी नीरसता का नाश हो जाता है। कई अवसरों पर मैंने ऐसा पाया है कि जगत् दिखाई देता है अपने को, तो उसका मिथ्या कहने का कोई अर्थ नहीं है। मिथ्या क्यों कहें ? दिखाई देता है मुझे। तो ईश्वरवाद की दृष्टि से अगर जगत् दिखाई देता है, तो देखे हुए जगत् को प्यारे प्रभु की फुलवारी मान कर, पुष्प वाटिका मान कर उसकी सेवा में अपने को लगाइये। तो प्रभु की सेवा में सृष्टि की पूजा-ऐसा करने वाले जो ईश्वरविश्वासी साधक होते हैं, उनके भीतर सेवा-काल में भी रह रह के प्यारे प्रभु की ओर से प्रेम की लहरियाँ उठती रहती हैं। कार्य करते-करते भी एक समय ऐसा प्रेम उमड़ता है कि काम थोड़ी देर के लिए रुक जाता है। करने वाला अपने को भूल जाता है। प्रभु की सृष्टि और प्रभु का प्यार अपने को अभीष्ट है, तो यह सृष्टि अपने को खट्टी कैसे लगेगी ? कड़वी कैसे लगेगी ? तीखी कैसे लगेगी? यहाँ काँटे कैसे चुनेंगे? यह प्यारे के प्यार का प्रसार है न ! तो इसकी सेवा करने चलो, तो बीच-बीच में ऐसी ही प्रेम की लहरियाँ आती रहती हैं। और वह प्रभु-प्रेम एक अचूक औषधि है। प्रभु-प्रेम का रस जो है वह व्यक्ति को तीनों तापों से छुड़ाने के लिए अचूक औषधि है। सब प्रकार की विकृतियों का नाश उस परम प्रेम के रस से होता है। थोड़ी देर के लिए भी उस रस का प्रभाव आपके जीवन पर हो जाय, तो भीतर से, बाहर से सब तरफ से इतना मीठा-मीठा जीवन हो जाता है कि उसमें से निकलना भी अपने को पसन्द नहीं आता।

लोग कहते हैं कि काम करने से थक गये, अब थोड़ा सा मनोरंजन करो, तो थकावट चली जाय। लोग अपने को बहुत समझदार समझते हैं।

और सोचते हैं कि 6 घण्टे काम करने के बाद एक घण्टा मनोविनोद का समय होना चाहिये। अरे भैया, मन को विनोद देने में भी तुम प्राणशक्ति गवाँ ही तो रहे हो। देहबुद्धि में जिन्होंने जीवन स्वीकार किया, उनको देह के ऊपर कुछ सूझता ही नहीं है। और सच पूछो तो जीवन में

आनन्द का भण्डार, देह से ऊपर ही शुरु होता है। देह में कहीं कुछ है ही नहीं आनन्द जैसा तत्त्व। तो भीतर-भीतर यह भाव बढ़ता चला जाता है। प्रभु-प्रेम की लहर आ करके अहं रूपी अणु को कोमल बनाती जाती है, शुक्र बनाती जाती है। उसके प्रभाव से मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर सब के सब स्वस्थ और बलिष्ठ होते चले जाते हैं और इतना आराम मिलता है, इतना आराम मिलता है कि उस रस के मिठास में सब प्रकार की गतियाँ जा करके डूब जाती हैं। आपने भी किसी क्षण में अनुभव किया ही होगा। और नहीं तो, उससे दूसरे दर्जे का अनुभव किया ही होगा कि आपको कोई प्रियजन है, उसकी चिट्ठी आ जाय, उसका कोई समाचार आ जाय, वह मिलने आ जाये और देख करके आपका हृदय उमड़े। तो हृदय जब प्रेम से उमड़ता है, तो बोलने का मन होता है, कि आदमी चुप हो जाता है? तो गति बन्द हो जाती है।

मैंने भागवत पुराण में बड़ी अच्छी कथा सुनी थी कि प्रभास क्षेत्र में बहुत वर्षों के बाद सूर्य ग्रहण का पर्व था, तो द्वारकापुरी से भी सब लोग आये थे स्नान करने तीर्थ में और ब्रज से भी सब लोग चले गये थे। महीने भर का पर्ववास होता है। तो दोनों दलों में इस प्रकार की सूचना तो फैल गयी थी कि अरे भाई, द्वारकापुरी के लोग भी आये हैं और इधर से ब्रज वाले भी आये हैं। तो खोजना चाहिये, कहाँ ठहरे होंगे, मिलना चाहिये, भेंट करना चाहिये। वासुदेवजी सोच रहे हैं कि भाई नन्दजी से मिलना चाहिये। सखी सहेलियाँ सोच रही हैं कि भाई, कृष्ण से मिलना चाहिये। कृष्ण की रानियाँ, पटरानियाँ, महारानियाँ सोच रही हैं कि भाई, उस राधिका का दर्शन जरूर करना चाहिये जिसके बारे में हम लोगों ने इतना सुना है। कृष्ण स्वयं ही राधे-राधे रटा करते हैं, तो चलो टेन्ट में कहीं खोजें, ढूंढे, भीड़-भाड़ में। कहीं उन लोगों का भी होगा ठहराव। जायेंगे, दर्शन करेंगे। तो आते रहे लोग दर्शन के लिए, घूमते रहे चारों ओर और कृष्ण भगवान् की प्रीतिरस से भीगी हुई गोपियाँ। उनमें। गतिशीलता तो बहुत ही कम थी। स्नान करने जायेंगे कि कीर्तन में जायेंगे, शन करने जायेंगे, कि दर्शन करने जायेंगे-जाने की बात तो उठ नहीं सकती हैं। प्रीति उमड़ रही है हृदय में, तो चरण शिथिल हो गये। आँखें बन्द हो गयीं। अब जाए कौन? बात कौन करे ? देखे कौन ? खोजे कौन ? तो वे पड़ी हुई हैं। लोग तो घूम घाम कर चले जाते हैं। तो, बहुत इन्तजाम करके एक दिन तैयार किया गया। राधाजी से कहा गया कि श्यामसुन्दर आये हैं और कल के लिए हम लोगों ने समय निश्चित किया है। चलिए, आपको दर्शन करायेंगे, मिलायेंगे। उधर कन्हैया जी से कहा गया कि राधिका जी आई हुई हैं और उनसे हम लोगों ने समय निश्चित किया है। अमुक समय पर, अमुक जगह पर आयेंगी। चलिएगा, आपको मिलायेंगे। अच्छा सखाओ, अच्छा प्यारो, चलूंगा। तैयार हो गये। इधर से राधा जी गई, उधर से कृष्ण भगवान् आये। काफी दूरी से एक-दूसरे पर दृष्टि पड़ी। तो ऐसी सुन्दर बात वहाँ लिखी हुई है कि दोनों ने एक-दूसरे को देखा और प्रेम के भाव से ऐसे अभिभूत हो गये कि दूर ही दूर जहाँ-के-तहाँ खड़े हो गये। और एक-दूसरे को देखने के बाद, एक बार देखने के बाद न वे आगे बढ़ सके, न बोल सके, न दोबारा देख सके। तो आँख बन्द किये दोनों दूर-दूर खड़े हैं। और ऐसे ही खड़े-खड़े 24 घण्टे का समय निकल गया। प्रेम-समाधि लग गई अब भीतर में, अन्तर में, भक्त का भगवान् से मिलन हो गया, प्रेमी का प्रेमास्पद से मिलन हो गया। तो अब गति कहाँ से आयेगी ! गति समाप्त हो गयी। बहुत सरस कथा है। बहुत बढ़िया है और किसी न किसी समय आप लोगों ने सुना ही होगा।

इसका विस्तार नहीं कर रही हूँ मैं। जो विषय आज मैंने उठाया है उसी के सम्बन्ध में एक मामूली-सा, थोड़ा-सा समय लगा करके उदाहरण रखा है। तो क्या कहना चाहती हूँ मैं? तो कहना चाहती हूँ यह कि आप भाई-बहन जिसके भीतर भी विश्राम की आवश्यकता महसूस होती है, उसकी पक्की तौर से जान लेना चाहिये कि पवित्र प्रेम की वृद्धि के बिना पूर्ण विश्राम नहीं मिलेगा। चाहे एक दिन की थकावट समझो और चाहे इस जन्म की 60-70 वर्ष की थकावट समझो। थकावट बहुत दिनों की है।

सब प्रकार के श्रम से रहित आज भी वही चिर विश्राम, पूर्ण विश्राम व्यक्ति को कब मिलता है ? जब उसके भीतर उस परम पवित्र प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। और मिल जाता है, तो फिर कुछ पूछो ही मत। बहुत आराम मिल जाता है। एक भक्त कहते हैं "काहू को बल भजन है, काहू को आचार। व्यास भरोसे कुँवरि के, सौवें पाँव पसार। किसी को भजन का बल है, किसी को आचार का बल है और भक्त जिनका नाम है व्यास, वे कहते हैं कि भैया, व्यास के पास तो न भजन का बल है, न आचार का बल है, यह तो अपनी कुंवरि के भरोसे पाँव पसार कर सोता है। उसको कुछ करना नहीं है। बड़ा विश्राम है हरि आश्रित हो जाने में।

दूसरी भक्त देखिए। और मजे की बात कहते हैं। कहते हैं—"माला जपूँ न कर जपूँ, मुख से कहूँ न राम। हरि मेरा सुमिरन करे, मैं पायो विश्राम"। हरि मेरा सुमिरन करें-कैसे हो रहा है भाई ? एक दिन मैं बोल रही थी–स्वामी जी महाराज के पुराने परिचित मित्र संत लोग जो हैं, उनकी बड़ी कृपा है, बालक की तरह कृपा दृष्टि मुझ पर रखते हैं, प्यार करते हैं, आशीर्वाद देते हैं-स्वामी रामसुख दास जी महाराज बैठे थे। तो कहने लगे--"हरि मेरा सुमिरन करे"-इसका और विस्तार करो। उन्होंने याद दिलाया। मैंने कहा कि महाराज ! लंका-विजय के बाद विभीषण को जब राजगद्दी दे दी गयी, तो बड़ी तैयारी करके वह आया कि महाराज ! नगर में चलिए, स्नान कीजिये, युऋ का श्रम दूर होगा और राज्य खजाना, सिंहासन, नगर सब आप ही का है, तो चल करके अपनी सेना के लोगों को बाँटिये।

आनन्द मनायें। तो भगवान कहते हैं कि भैया, तू बिल्कुल सच कहता है। विभीषण। तेरा जो कुछ है वह सब मेरा ही है। हमने कहा, दोनों तरह से सही है।। विभीषण ने कहा था कि सब आपका ही है। तो खाली विभीषण की लंका का राज्य थोड़े ही उनका है? वे तो त्रिभुवन के मालिक हैं। सच्ची बात बोलते हैं। वे सत्यवादी हैं, झूठ नहीं बोलते। तो वे कहने लगे, भैया विभीषण ! तू सच कहता है कि यह सब मेरा ही है। लेकिन मैं क्या बताऊँ, एक-एक क्षण मेरा कल्प के समान बीत रहा है। भरत भैया की दशा को याद करके मुझे बहुत उसकी याद आ रही है। 14 वर्ष पूरे हो रहे हैं। अगर थोड़ी-सी भी देर हो जायेगी, मैं अयोध्या नहीं पहुँचा, तो मैं उस वीर को जीता हुआ नहीं पाऊँगा। बड़ी याद आ रही है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं 'भरत सरिस को राम सनेही, जग जप राम, राम जप जेही।' भरत के समान राम का स्नेही कौन होगा ! सारा संसार राम-राम जपता है और रामचन्द्र जी जो हैं वे भरत-भरत रट रहे हैं। एक क्षण के लिए उनकी विस्मृति नहीं हो रही है। खूब उनकी याद आ रही है। तो नहीं गये लंका में। और दूसरा कोई काम नहीं किया। कहते हैं, भैया विभीषण ! जल्दी इन्तजाम करो, जल्दी-से-जल्दी मुझ को पहुँचाओ। देर हो गयी, तो मैं उस वीर को जीता हुआ नहीं पाऊँगा। मुझे उसकी बड़ी याद आ रही है। तो बड़ी याद आ रही है--"भरि आये

दोउ राजिव नयना"। कमल नयन दोनों सजल हो गये हैं। अश्रु भर गये। भीतर से प्रेम उमड़ रहा है। तो स्वामी जी को मैंने सुना दिया। हमने कहा, देखिए इसमें दिया हुआ है। क्या दिया हुआ है? कि हरि मेरा सुमिरन करे। हरि तो सुमिरन कर ही रहे हैं। संत कबीर कहते हैं "मन ऐसा निर्मल भया, जैसे गंगा नीर। पीछे-पीछे हरि फिरे कहत कबीर-कबीर।" प्रभु के प्रेम में कबीर अपने को भूल गये। तो कबीर को अब सुधि नहीं रही। लेकिन वह जिसके प्रेमी हैं, जिसके प्रेम में उन्होंने अपने अहम् को समर्पित कर दिया है वह प्रेमी उनको कैसे भूलेगा? वह प्रेमी उनके पीछे कबीर-कबीर कहता हुआ फिर रहा है, उनको सम्हाल रहा है। उसके प्यार का मजा ले रहा है, अपने प्यार का मजा उसको दे रहा है। यह मानव-जीवन में विश्राम पाने की सब से अन्तिम और अचूक औषधि है। खरीदने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ेगा। और नकली धातु से बना हुआ तत्त्व नहीं मिलेगा। अगर इस तत्त्व की वृद्धि करनी है अपने लोगों को, तो सब सामग्री अपने ही में विद्यमान है। आज से ही उसके लिए सचेष्ट हो जाओ। शरीर के नाश होने से पहले वह पूर्ण विश्राम, वह चिर विश्राम, वह अनन्त विश्राम न मिल जाए, तो स्वामी जी महाराज कहते हैं-मुझ को फाँसी पर चढ़ा देना। मिलेगा, अवश्य मिलेगा।

प्रवचन 11

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयों,

भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक विकास अर्थात् अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति—इन दोनों ही बातों के लिए हम सभी को विश्राम की आवश्यकता है। अपनी वर्तमान दशा को सामने रखकर हम लोग देखे। दोनों समस्याएं हमारे सामने आती हैं। एक तो दिखाई देने वाला जगत् हैं, जिसके सम्बन्ध में हमें ऐसी आवश्यकता मालूम होती है कि मुझको इस जगत् में कुशलतापूर्वक रहना चाहिए और एक अपने ज्ञान का प्रकाश है, जिससे हम इस बात को जानते हैं कि शरीर और संसार का संयोग सदा के लिए रह भी नहीं सकता और सदा के लिए प्रिय भी नहीं लग सकता। इस दृष्टि से इसको "जीवन" कर के स्वीकार नहीं कर सकते हैं। अपने को जरूरत ऐसी है कि जीवन भी हो, अविनाशी भी हो, आनन्दमय भी हो और रसरूप भी हो। तो जो हमारी-हमारी स्वाभाविक माँग हैं, वस्तुतः जीवन का वही स्वरूप है और उसकी माँग हमारे भीतर मालूम होती है। उस जीवन से अभिन्न होने का सूत्रपात यहीं से आरम्भ होता है।

इस दिशा में विचार करने से सन्त की वाणी को सुनकर उसके प्रकाश में जीवन का अध्ययन करने से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो जैसे महाराजजी ने कहा—शरीर-धर्म का पालन। अगर हम ईमानदारी के साथ शरीर को समाज की, संसार की वस्तु मानकर उनकी सेवा में लगाने का व्रत ले लें, तो अपने शरीर का बोझ हम लोगों को ढोना नहीं पड़ेगा। जब कोई व्यक्ति शरीर को समाज की वस्तु मानकर उसकी सेवा में लगाने के लिए तत्पर हो जाता है, तो समाज उसके प्रति उदार हो जाता है। व्यक्ति की तुलना में समाज की उदारता बहुत बड़ी है और समाज की तुलना में परमात्मा की उदारता अनन्त है। आप अगर अपनी ओर से व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर उदार हो जाते हैं, इस बात के लिए कि हमारे पास शरीर हैं, तो इसको समाज की सेवा में लगाएँ। जो जितनी

उदारता आप में हैं, उससे सहस्त्र गुना अधिक उदारता समाज में हैं और उससे असंख्य गुणा अधिक उदारता परमात्मा में हैं। वे जब आपकी सेवा करने लग जाते हैं, तो उनकी उदारता की कोई सीमा ;स्पउपजक्ष नहीं रहती है। जो व्यक्ति समाज के हित के लिए शरीर को समर्पित कर देता है, उसको अपने व्यक्तिगत जीवन का भार नहीं ढोना पड़ता। तो इस तरह से संसार में कुशलता से निर्वाह हो गया। जो लोग अपने को, स्वयं को सर्वसमर्थ प्रभु को समर्पित कर देते हैं, उनको फिर अपने कल्याण का प्रयास नहीं करना पड़ता और कोई नया पुरुषार्थ भी नहीं करना पड़ता।

मीराजी का एक भजन मुझे याद आता है। उसमें एक वाक्य है, "भव सागर सब सूख गयो है, फिकर नहीं मोहे तरनन की। मोहे लागी लगन गुरु चरणन की" ऐसा कुछ है। अपने तरण-तारण की फिकर मीरा को नहीं है। क्यों नहीं है? कि मीराजी का भव-सागर सूख गया है क्या मतलब है? कि भव-सागर में अर्थात् संसार से अनित्य सम्बन्ध को नित्य सम्बन्ध मान लेने के अपराध में जिन विकारों से हम बँध गए हैं, वे सारे विकार मीराजी के नाश हो गए। हम लोग अनुभव करते हैं कि क्या बताएँ, हम तो भव-सागर में डूब रहे हैं, उतरा रहे हैं, कोई किनारा नहीं दिखाता है— ऐसा आदमी को कब महसूस ;थ्ममसक्ष होता है? जबकि वह लोभ, मोह, क्रोध से ग्रसित है। तो लोभ, मोह, क्रोध से पीड़ित व्यक्ति चाहता है कि उसको आराम मिले। क्रोध, मोह, लोभ का परिणाम बड़ा ही दुःखदायी होता है। उससे वह अपने को बचाना चाहता है, पर उससे छूट नहीं पाता। तब कहता है कि हम तो भव-सागर में डूब रहे हैं। मीराजी के लिए यह भव-सागर सूख गया था। उनके सामने क्रोध, लोभ, मोह की कोई पीड़ा थी ही नहीं। उनके सामने यह कोई प्रश्न ही नहीं था। तो वे गातीं बड़े ही मुक्तकण्ठ से—"भव-सागर सब सूख गयो है, फिकर नहीं मोहे तरनन की।" अब तो मुझे अपने उद्धार की चिन्ता ही नहीं है। तो उनका भव-सागर उनके सामने से हट गया था। ऐसा कोई बन्धन, ऐसी कोई बेबसी, पीड़ा उनको रही नहीं। हम सब लोग भी ऐसा ही चाहते हैं कि जीवन निर्विकार हो जाए, जीवन सब प्रकार से शुक्र हो जाए, उसमें परम शान्ति रहे, उसमें पूर्ण स्वाधीनता रहे।

ऐसा जो हम लोगों का अपना उद्देश्य है, जीवन की एक माँग हैं, उसकी पूर्ति के लिये क्या पुरुषार्थ चाहिय? अपने सब विकारों और सब त्रुटियों के सहित उस परमात्मा के समर्पित हो जाना। यह विश्वास-पथ की दृष्टि से एक बहुत बढ़िया साधन है। सब प्रकार से उस समर्थ-प्रभु के समर्पित हो जाओ। अपने को जो समर्पित कर देता है, उसको फिर अपने को सम्हालने का कोई नया साधन नहीं करना पड़ता।

एक नगर में मैं सत्संग में गई। वहाँ व्यक्ति आए और कहने लगे—हमारे एक भाई बहुत दुःखी हैं माताजी। वे आपसे मिलना चाहते हैं। किसी तरह से उनका दुःख कम हो जाए। मैंने कहा—भाई! लाइए भेंट कराइये। तो एक दिन वे लोग गए। पति-पत्नी बहुत ही अधीर थे। उनकी सबसे बड़ी लड़की 15-16 साल की थी। मैट्रिक पास किया, बहुत अच्छा रिजल्ट ;त्मेनसजक्ष रहा, कॉलेज में नाम लिखवाया, सारा इन्तजाम किया। उसके बाद अचानक उसका देहान्त हो गया। इससे माता-पिता बहुत दुःखी थे। वे पढ़े-लिखे लोग थे। पति कॉलेज में

स्मबजनतमत थे और पत्नी भी महाविद्यालय में कहीं पढ़ाती थी। वे समझदार लोग थे। वह महिला मुझसे बार-बार कहे, कि माताजी! लड़की का दुःख मेरे भीतर से निकलता

ही नहीं है किसी प्रकार से। खूब रोएँ, खूब दुःखी हों और मैं जब समझाने की चेष्टा करूँ तो कहे माताजी, इन सारी बातों को मैं जानती हूँ और मैं चाहती हूँ कि किसी प्रकार से यह शोक मेरे भीतर से निकल जाए। देखो कैसा-कैसा चिन्तन होता है व्यक्ति का! वह यह भी समझ रही थी कि रोने से लड़की लौटकर आयेगी नहीं। यह भी समझ रही थी कि रोते रहना समझदारी नहीं है और भविष्य के लिए डर भी रही थी। वह कह रही थी कि मुझको इतना दुःख हो रहा है माताजी, कि मुझे लगता है कि मैं कहीं पागल न हो जाऊँ। हमारे जो बाकी बच्चे हैं, उनका पालन कौन करेगा? यह भी उनकी समझ में आ रहा है और फिर भी परेशान थी।

इसी को मैं "भसागर" कहती हूँ। पीछे का दुःख भी सता रहा है, आगे का भय भी सता रहा है। उसमें से निकलता चाहते हैं और निकला नहीं जाता। इसको मैं "यम-यातना" कहती हूँ। व्यक्ति अपनी सजगता में, अपने विवेक के प्रकाशमें इस बात को जानता है कि मोह का परिणाम, लोभ का परिणाम सदा ही दुःखदायी है। यह जानता हुआ भी वह लोभ और मोह के फन्दे में पड़ा हुआ तड़पता है। इसी को मैं भवसागर कहती हूँ। भवसागर के पार होना हम सब भाई-बहिनों को अभीष्ट है। उसके लिए "कर्म-मार्ग" है, "ज्ञान-मार्ग" है, "भक्ति-मार्ग" है। भक्ति-मार्ग की दृष्टि से मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि यह बहुत ही अचछी साधना है। कोई भी ईश्वर में विश्वास करने वाले भाई या बहिन एक बार अपनी ओर से अपने को प्रभु के समर्पित कर दे और इस भाव से कर दे कि हे प्रभु! अब तक का सारा समय आपकी विमुखता में, संसार के बन्धन में गँवा दिया मैंने। आज मैं इतना असमर्थ हूँ कि अपने द्वारा अपने को सम्हाल नहीं सकता। हे कृपालु! हे पिता! हे जगत्-जननी! आपकी शरण में हूँ, आप सम्हालें। अनुभवी संतजन से मैंने ऐसा सुना है कि अपनी असमर्थता से अधीर होकर व्यक्ति प्रभु की शरणागति लेता है और अपनी कथा, अपना दुःख सुनाता है, तो उसकी प्रार्थना के वाक्य पूरे होते हैं पीछे और सर्व-समर्थ प्रभु उसकी बाँह पकड़ लेते हैं पहले। ऐसा होता है। हम अपना दुःख सुनाएँगे। कहने में देर लगेगी, लेकिन उस नित्य विद्यमान समर्थ परमात्मा को इस बात को जानने में देर नहीं लगती कि यह मेरा बच्चा मुझसे क्या कहना चाहता है। आप वाक्य की रचना करेंगे, शब्दों का प्रकाशन करेंगे, उसमें आपका समय लगेगा। लेकिन अब यह मेरा अधीर बच्चा घबड़ाया हुआ मेरी शरण में आया हुआ मुझको क्या कहना चाहता है—इसके जानने में सर्वज्ञ परमात्मा को देर नहीं लगती और समर्थ परमात्मा को आपका हाथ पकड़ने में देर नहीं लगती।

स्वामीजी महाराज से अनुभव-सिऋ वचन यह मैंने सुना था कि भाई! तुम्हारी प्रार्थना का वाक्य पूरा होगा पीछे, और वे समर्थ प्रभु तुम्हारी बाँह पकड़ लेंगे पहले। तो इस वाणी में हम लोगोंको विश्वास करना चाहिए। प्रभु की महिमा में विश्वास करना चाहिए। मैंने बड़ी ही अधीर दशा में इन वचनों को सुना था।

बिहार प्रान्त में भागलपुर एक नगर है। वहाँ पर सत्संग का कार्यक्रम चल रहा था। मैं महाराजजीके साथ थी। तीन साल हुए थे मुझे सन्त की शरण में आए, विचार के लिए, सत्संग के लिए। और स्वास्थ्य प्रारम्भ से ऐसा ही डगमग रहता रहा है, अच्छा नहीं रहता। उस समय तबियत कुछ ज्यादा खराब हो गई थी। मैं चुपचाप बिस्तर में लेटी हुई थी, भीतर-भीतर से परेशान थी। स्वामीजी महाराजआए। बिस्तर के पास एक कुर्सी रखवाकर उस पर बैठ गए और बैठकर मुझसे

पूछने लगे कि देवकी जी! मरने से डरती हो क्या? सोचा कि भाई, अब हम क्या बताएँ इनको! तो मैंने कहा—महाराजजी, अभी तो हमको पता नहीं चलता है। अभी तो लगता है कि मैं नहीं डरती हूँ। तो क्यों परेशान हो? तो मैंने कहा कि स्वाजी जी! बहुत दिन तक बेचैन रहने के बाद मुझे सन्त का सम्पर्क मिला और सत्संग मैंने आरम्भ किया है। तो मुझको चिन्ता है कि जल्दी से शरीर नाश हो गया, तो मेरी साधना अधूरी रह जाएगी। तो क्या करूँगी मैं? ऐसा मैंने कहा। इतने जोर का उनके भीतर उत्साह हुआ कि एकदम कहने लगे कि—"ईश्वरवाद को तुम ऐसी थोथी चीज समझती हो? अरे देवकी जी! अगर ईश्वरवाद ऐसा थोथा तत्त्व होता, तो मानव-समाज से कबका उठ गया होता। तुमने सोचा ही क्या है? भगवान को तुमने क्या समझा है? ऐसा नहीं होता है लाली। मैं सच्ची बात कहता हूँ तुम से, कि अधीर साधक की प्रार्थना के वाक्य पूरे होते हैं पीछे और समर्थ प्रभु उसकी बाँह पकड़ते हैं पहले।" दोनों बातें बहुत अच्छी थी। मैं भीतर-भीतर बहुत परेशान थी। वह परेशान ईश्वर-विश्वासी साधक के लिए बड़ी शुभ होती है। अधीर हो जाओ। भीतर से व्यक्ति जब अधीर होता है घबराता है भीतर से सत्य की प्राप्ति के लिए, परमात्मा की प्राप्ति के लिए, तो उसका अहंरूपी अणु जो हैं वह गल करके कोमल हो जाता है। जो बढ़िया ध्यान लगा सकता है, जो बढ़िया जप-तप कर सकता है, उसका अहं जो है वह साधना के बल पर थोड़ा ओर मोटा हो जाता है, कि मैं बहुत अच्छी तरह ध्यान कर सकता हूँ मेरा तो कई-कई घण्टे ध्यान लगता है। साधना के बल पर अहं को गला कर आप अपने प्यारे से मिलने के लिए चले थे, लेकिन साधना के बल का सहारा लेकर अपने और उनके बीच की दीवार और मोटी बना ली। लेकिन ईश्वर-विश्वासी साधक जो प्रभु की महिमा में विश्वास करता है, प्रभु की कृपालुता में विश्वास करता है, वह नित्य निरन्तर मुझमें ही विद्यमान है, सदैव मेरे साथ है—इस बात मं जो विश्वास करता है और "वह" मुझको अपनाने के लिए मुझ से अधिक तत्पर है, प्रभु के इस स्वभाव में जो विश्वास करता है, उसके भीतर जब अपनी त्रुटि दिखाई देती है, तो वह अधीर हो जाता है एकदम। क्यों करे! इतने दिन हो गए। मैंने बहुत कुछ किया और अभी तक हमारे और उनके बीच की दूरी समाप्त नहीं हुई। जब वह ऐसा अधीर हो जाता है, तब उसके भीतर से सच्ची प्रार्थना उपजती है और तब वह कहता है कि "हे प्रभु! मैं तुम्हारी शरण हूँ, मैं तुम्हारा शरणागत हूँ। और हे प्यारे! अपने को मैं अपने से सुधार नहीं सका। मेरे प्यारे! मेरे कृपालु! अब अपनी कृपा से मुझको अपने प्रेम का पात्र बना लेना, अपनी कृपा से मुझको सम्हाल लेना।" ऐसा वह अधीर होकर कहता है। कहना क्यों पड़ता है? मैंने भी बहुत कहा है। आप भी कहते होंगे। कहने में कोई दोष नहीं है। बिना कहे अपने को सन्तोष नहीं होता। "उनकी" जानकारी के लिए कहना जरूरी नहीं है। वे तो मेरे बिना कहे जानते हैं। क्या कहेंगे आप? अपने को मैं खुद पूरा नहीं जानती हूँ और वे मेरे जन्मदाता, जीवनदाता, मेरे प्यारे मुझको मुझसे अधिक जानते हैं। किस में मेरा हित होगा, यह सब उनकी दृष्टि में पहले से रहता है।

इसलिए अहं रूपी अणु को गलाकर, उसकी सारी अशुद्धियों को हटा करके परम प्रेमास्पद प्रभु की प्रीति का पात्र बनपने में समर्पण-योग की साधना मुझे बहुत अच्छी लगती है। मैंने तो ऐसा सुना है कि किसी भी पंथ का साधक हो और किसी भी मत का मानने वाला हो, ईश्वर को मानता हो अथवा ब्रह्म को मानता हो, अथवा निज स्वरूप को ही सत्य मानता हो, किसी

भी प्रकार से उसने जीवन के सत्य को स्वीकार किया हो, उसकी साधना के क्रम में ऐसी असमर्थता की घड़ी अवश्य आती है। जब वह एक बिन्दु ;च्वपदजक्ष पर पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचकर उसको ऐसा अनुभव होताहै कि अब मेरे लिए करणीय कुछ नहीं है। जो कुछ करना था मैंने सब कर लिया। यह घड़ी आती है साधकों के जीवन में। और फिर क्या होता है? कि मैं हूँ और मेरी साधना है। मेरे जानते जितनी थी, वह सब मैंने पूरी कर दी और मेरे लिए करने को अब कुछ बाकी नहीं है। मुझमें मेरे प्रेमास्पद से मिलने की बड़ी उत्पकण्ठा है। लेकिन वे हमारे भीतर ही विद्यमान हैं, फिर भी छिपे हुए हैं। तो ऐसी छपटपटाहट आरम्भ होती है कि सिवाय समर्पण के और कोई उपाय रह ही नहीं जाता और अपने आप ही भीतर असमर्थता की वेदना जगती है। असमर्थता की वेदना में "अहं" का अभिमान गल जाता है। अहं के अभिमान के गलते ही अपने में अपना 'वह' जो प्यारा विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का अनुभव हो जाता है। वह अनुभव अहं को ऐसा सरल, सरस और मधुर बना देता है कि वह "मैंपन" खो जाता है। फिर प्रेम और प्रेमास्पद, प्रभु और उनकी प्रीति, भगवान् और उनकी भक्ति—इनका अनन्तकाल तक अनन्त प्रेम का आदान-प्रदान चलता रहता है। ऐसा होता है।

माताजी आनन्दमयी की वाणी में मैंने सुना था और अपने महाराजजी की वाणी में भी सुना था। दोनों ने अलग-अलग भाषा का प्रयोग किया। लेकिन एक ही तथ्य का प्रतिपादन किया। माताजीने कहा—"अहं के गल जाने से जब साधक अहं-शून्य हो जाता है, तो सत्य के स्पर्श का आनन्द उसको आ जाता है।" स्वामीजी महाराज ने कहा—"प्रभु का शरणागत साधक अपनी असमर्थता की वेदना से पीड़ित होकर सर्व-समर्थ की कृपा की आवश्यकता अनुभव करता है, तो असमर्थता की वेदना से उसके अहं का अभिमान गल जाता है और अहं-शून्य होते ही उसको अपने प्यारे की प्रीति का अनुभव हो जाता है अर्थात् वह साधक प्रभु के प्रेम से अभिन्न होकर उनके अनन्त आनन्द में शामिल हो जाता है।" मैंने अपने को समझाने के लिए और अपने आत्मीय जो भाई-बहिन हैं, मेरे प्रभु के प्यारे आप सभी जो यहाँ बैठे हैं उनकी सहायता के लिए ऐसे सोचने-समझने की चेष्टा की, कि आज इस घड़ी हम लोग देख लें कि वर्तमान में हमारी क्या दशा है। तो वर्तमान में दशा यह है कि थोड़ा परमात्मा भी अच्छा लगता है, थोड़ा संसार भी अच्छा लगता है, थोड़ी साधना भी अच्छी लगती है और थोड़ी लोगों के साथ मिल करके तरह-तरह की प्रवृत्ति भी अच्छी लगती है। ऐसी जो हमारी मिली-जुली दशा है, तो ऐसी दशा से हम लोगों ने साधना आरम्भ की। एक सज्जन स्वामाजी से कहने लगे कि महाराजजी! अभी तो हमारे जीवन में बड़ी अशुद्धि है तो जब अशुद्धि पहले मिटा लूँगा, तब आपके पास आऊँगा। तो महाराजजीने कहा—"हाँ भैया, बीमार हो तो पहले रोग को मिटा लो, तब अस्पताल आना।"

बड़ा ही विलक्षण जीवन है मनुष्य का! कि संसार का राग है, प्रेम की प्यास भी है, अपने व्यक्तित्व का एक अभिमान भी है और फिर "उनकी" शरणागति का शौक भी है। साधना नहीं कहूँगी मैं। साधना होती जो तो सिक्र हो गई होती। शौक है तो पढ़ने-लिखने के द्वारा, डिग्रियों के द्वारा, समाज की ओर से आने वाले सम्मान के द्वारा आपने ऊँचे आसन पर बैठा दिया, माला पहना दी। आपके इस व्यवहार के द्वारा अहं को पोषित करना भी अपने को सुखद लग रहा है।

यह दशा मैं जानती हूँ और यहाँ से हम लोगों को आगे बढ़ना है। थोड़ा सुख-सम्मान भी अच्छा लगता है और इतने चतुर-चालाक हम लोग हैं कि सुख और सम्मान को बचाए रखना चाहते हैं कि यह खत्म न हो। यह बना रहे तो अच्छा है औरदुःख और अपमान से असंग होना चाहते है। यह होता ही नहीं है, क्योंकि इसके न होने में ही मेरा हित है। तो विधान ने तो हमको आगे बढ़ाने का इंतजाम किया और हम लोगों ने क्या किया? कि थोड़ा संसार को भी पसन्द करेंगे, थोड़ा-थोड़ा परमात्मा को भी पसन्द करेंगे, तो क्या काम चल जाएगा? सज्जनता के बल पर अपना श्रृंगार कर लिया और समाज ने उदारतापूर्वक मुझको जो सहयोग दे दिया, उसको मैंने अपना अधिकार मान लिया। और परमात्मा ने मेरे कल्याण के लिए यह परिस्थिति बना दी, यह साज-सज्जा दी, तो इसको मैंने अपनी खुराक बना लिया। इसके साथ-साथ अपने को ईश्वर-विश्वसी कहने का शौक भी रखती हूँ मैं। और जब अपना कोई वश न चले, तो अपने को शरणागत कहने की चतुराई भी करती हूँ मैं। कोई बात नहीं। जिसके हम बच्चे हैं वे बड़े उदार हैं। हमारी इस नादानी से वे नाराज नहीं होते। एक बार ऐसा ही उद्गार जी में आया, तो मैंने कहा—महाराज जी! हम लोग अपराध करने से नहीं हारते हैं और जब उसके परिणाम में डूबने लगते हैं, जब अपना ही विकार अपने को आगे नहीं बढ़ने देता है, तो हम भ्रमित हो जाते हैं। लेकिन उबारने वाले कभी नहीं थकते। कोई बात नहीं। प्यार करने वालो माता-पिता हमारे मौजूद हैं। मुझको सम्हालने वाले वे मेरे रक्षक सब समय तैयार हैं। उन्हीं के बच्चे तो हम हैं। सजा के सँवार के, सुन्दर बना के उन्होंने दुनिया में भेजा, कीचड़ में हम गिर गए, काँटों में उलझ गए, चोट लग गई, घाव बन गया, कपड़े गन्दे हो गए। तो भी वे करुणा सागर, वे करुणामयी माँ, हम गिरे-पड़े, गन्दे, राते हुए, घबराते हुए बच्चे को उठानेमें कभी पीछे नहीं हटते।

इसी आश्वासन पर हम लोगों को अपनी वर्तमान दशा में पीछे चाहे कुछ भी हो—अभी इस वर्तमान क्षण में अपनी सारी त्रुटियों के साथ, अपनी सब कमजोरियों के साथ हृदय की इस अभिलाषा को लेकर कि "प्यारे! हम तेरे हैं, और तेरे ही होकर रहेंगे। अब अपना कोई वश नहीं चलता, तो मैं तुम्हारी शरण हूँ। अब तुम मुझे सम्हालो।" ऐसा कह करके सचमुच कुछ देर के लिए बिल्कुल शान्त हो जाइए। कुछ मत कीजिए। तो सर्व-समर्थ रक्षक की कृपा-शक्ति हमको सम्हालने लग जाएगी। आप ऐसा अनुभव करेंगे। पर होना चाहिये समर्पण का भाव हमेशा ही के लिए। ऐसा नहीं कि तकलीफ हुई, तो उनकी शरण में आ गए और आराम मिल गया, तो अपने पर अपना अधिकारी जमा लिया। ऐसा नहीं।

समर्पण का भाव जब एक बार साधक स्वीकार करता है, तो जीवन भर के लिए होता है, बीच में टूटता नहीं है। वह भाव हमारा बना रहेगा सब समय। इस भाव में हम रहेंगे। थोड़ी-थोड़ी देर विश्राम में रहेंगे, प्रवृत्ति से अलग होकर अकेले। उस समर्पण के भाव में आप ऐसा पाएँगे कि भीतर से बिल्कुल ही निश्चिन्तता, निर्भयता अपने आप प्रकट होने लगती है। स्वामी जी महारा ने मुझको बताया—देवकी जी! अनेकों-अनेकों जन्मों का अभ्यास जो फल नहीं देता है, वह थोड़ी देर के लिए प्रभु की कृपा-शक्ति का आश्रय फल देता है। क्यों? देखिए, उसमें बड़ा भारी दर्शन भी है कि जब आपने अपनी ओर से सब प्रयास छोड़ दिया, जैसे कि आॅपरेशन के लिए कोई रोगी आॅपरेशन थियेटर में मेज पर लेट गया हौ और डाॅक्टर आॅपरेशन के लिए खड़ा हो। उस समय रोगी सब

प्रकार से डॉक्टर के आगे अपने को छोड़ देता है। इसी प्रकार जन्म-मरण के बीच में पड़ा हुआ साधक डॉक्टर से भी अधिक समर्थ, उससे भी अधिक कृपालु, उससे अधिक चतुर जो परमात्मा है, उसकी शरणागति में अपने को डालने के बाद फिर अपने बारे में कुछ मत सोचें। जब आपने अपने को समर्पित करके छोड़ दिया, तो भीतर में यह पूरा दृढ़ विश्वास रखें कि प्रभु की कृपा-शक्ति मेरे जन्म-जन्मान्तर का मैल धो देगी।

उस समय पुराने जमे हुए विकार निकलने लग जाएँ, तो साधक को डरना नहीं चाहिए, घबराना नहीं चाहिए। उनको रोकने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। कुछ नहीं, शान्त पड़े रहो। मैं जब स्वामीजी महाराज से शिकायत करती कि महाराज! तुमको हँसी उड़ानी चाहिए। तुमको कहना चाहिए कि देखिए महाराज! आपकी वस्तु का क्या हाल है। अगर तुमने ईमानदारी से तन-मन सर्वस्व उनके समर्पित कर दिया है, अपने सहित, तो विकृत मन तुम्हारा है, कि उनका है? जी? उनका है। बाहर इतनी हलचल मच रही है, तब तुमको परेशानी नहीं हो रही है, तो भीतर की हलचल तुम्हारी है क्या? थी तुम्हारी, पैदा की थी तुमने, लेकिन अभी एक क्षण पहले क्या कहा?—"सब तुम्हारा"। उनको दे देने के बाद अब वस्तु को वापिस बार-बार माँगती काहे को हो? कि देखें, तुमने ठीक किया, कि नहीं किया। ऐक्सपैरीमेंट काहे को करती हो? परीक्षण काहे को करती हो? तुम से 'वह' कम जानकार है क्या? कि तुम जाँच करके देखोगी कि देखें, मैंने मैला-मैला, गन्दा-गन्दा विकृत मन, चित्त, बुद्धि, अहं परमात्मा को समर्पित किया था, तो देखें यह कैसा कारीगर है? इसने ठीक से साफ किया कि नहीं किया? उनसे ज्यादा चतुर हो क्या? उनसे ज्यादा समर्थ हो क्या? अब उसने ज्यादा समर्थ हम लोग होते, तो उनकी शरणागति लेने की कौन-सी बात थी? वे सर्व समर्थ हैं, सब कुछ जानते हैं, सब कुछ कर सकते हैं। वे सब कुछ करते हैं।

इसलिए मं कहती हूँ कि जीवन के वे क्षण बड़े शुभ थे मेरे। अब आगे भी वे क्षण बड़े शुभ होंगे कि जिन क्षणों में मुझे ऐसा लगेगा कि हाय! मेरे किए कुछ हुआ नहीं और तुम्हारे बिना रहा जाता नहीं। इस प्रकार की फीलिंग जिस क्षण में उत्पन्न हो, वह क्षण हम लोगों के लिए बड़ा ही शुभ है। आपकी वह पीड़ा दुःखहारी हरि से सहन नहीं होती। नहीं सह सकते वे।

लंका में हनुमान गए थे। लौट करके आए वहाँ से, तो समाचार सुना रहे हैं। राघवेन्द्र सरकार पूछ रहे हैं—हे पवन-सुत! मुझे बताओ तो कि जनकनन्दिनी वहाँ उस कैद में कैसे रह रही हैं? तो हनुमानजी सुना रहे हैं। कुछ-कुछ उन्होंने सुनाया और सुनाने में उनकी इतनी पीड़ा होने लगी, माँ की वेदना को याद करके कि कहते हैं—हे प्रभु! मैं क्या कहूँ, "सीता पर अतिविपति विशाला, बिनु ही कहे भलि दीन दयाला।" नहीं कहना ही अच्छा है महाराज! मैं उस कराल विपत्ति को क्या सुनाऊँ? तो राघवेन्द्र सुनकर के और भी अधीर हो गए। कहते हैं—हे हनुमान! जिसको दिन-रात मेरा ही आश्रय है, जो मेरे ही चिन्तन में लगा नहीं है, उसको विपत्ति हो! यह बात मैं कैसे समझूँ? तो हनुमानजी ने झट से समझ लिया। तो कहते हैं—नहीं-नहीं, महाराज! विपत्ति-विपत्ति कुछ नहीं है सरकार। विपत्ति तो उसको है, जो आपका नाम भूल जाए। माँ को विपत्ति कुछ नहीं है। "नाम पाहरू दिवस-निशि, ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन, निज पद यंत्रित, प्राण जाहिं केहि बाट।" नहीं, नहीं, नहीं। माँ को कुछ नहीं होगा। कोई विपत्ति नहीं है। विपत्ति तो तब है, जब

आपको भूल जाएँ। नहीं है, विपत्ति नहीं है। विपत्ति कुछ नहीं है।

मैंने तो अनुभव करके देखा है और यह मैं अपनी बहादुरी नहीं कह रही हूँ। यह मैं अपनी नालायकी कह रही हूँ कि कठिन-से-कठिन साधना की, संकट की घड़ी मेरे सामने आई। संकट की घड़ी क्या कहलाती है? कि मन से किसी विकार को छोड़ना चाहो और ऐसा लगे कि उसमें हम जकड़े हुए हैं छूट नहीं रहा है। तो इससे बड़ा संकट और क्या होगा? तो ऐसे संकट काल में मैंने क्या पाया कि मेरी नालायकी थी कि संकटहारी हरि को याद नहीं किया। पुरानी आदत जो ऐंठ की थी न! कि हम याद करें और तुम सुनो नहीं, तो हम काहे के लिए याद करें? रखो तुम अपनी कृपालुता अपने संग। तो मैंने याद नहीं किया। स्वभाव से याद नहीं आता था। लेकिन वह संकट जो मुझसे टाला नहीं जाता था, उसमें मेरी जो छटपटाहट होती थी। तो मेरे याद किए बिना, सहायता माँगे बिना बुलाए बिना भी उन करुणासागर से सहन नहीं हुआ।

स्वामीजी महाराज ने मुझको कहा था कि देवकीजी! जब साधक अपनी ओर से हार जाता है, तो करुणामय की करुणा का दरवाजा खुलता है। तो भी मैंने सहज से नहीं माना। हमने कहा कि इन महात्मा का नाम है "शरणानन्द"।ये तो भगवानके भक्त हैं। प्रभु के भक्त होने के नाते इनके लिए दरवाजा खुल जाता होगा। मैं तो भक्त हूँ नहीं। मुझको तो कुछ खास बात मालूम होती है। क्या जाने! मेरे लिए जब खुले, तब मैं जानूँ। तो इस प्रकार की अधूरी भावना, इस प्रकार का शंकालु स्वभाव लेकर मैंने चेष्टा की कि अपने को सम्हालूँ। उन्होंने प्रण किया होगा कि तेरे बल पर तुमको सम्हलने नहीं दूँगा। तो तेरे बल पर मेरा सुधार नहीं हुआ। और जिन-जिन क्षणों में मैंने अपने को हारा हुआ माना, उन्हीं क्षणों में करुणासागर की करुणा का दरवाजा खुला और जब मेरा उबार हो गया, जब मैंने अपने को हल्का पाया, जब संकट के पार पाया, तो कब कैसे क्या हो गया—कुछ पता नहीं चला। तब भी मुझे ध्यान में नहीं आता था कि सन्त की कृपा ने, प्रभु की कृपा ने मुझको सम्हाल लिया होगा। तब भी मैं थोड़ी देर के लिए इधर-उधर देखती-सोचती कि अच्छा, यह कैसे ठीक-ठाक हो गया! थोड़ी देर बाद जब ध्यान में आता है। स्वामीजी महाराज ने कहा था कि "साधक जब अपनी ओर से हारता है, तो करुणासागर करुणा करते हैं। साधक जब साधना के पथ में अपने विचारों में उलझ करके दुःखी होता है, तब उसका दुःख दुःखहारी हरि से सहन नहीं होता है।"

प्रवचन 12

उपस्थित महानुभव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयों!

हम सब लोग भक्ति-पंथ की साधना की चर्चा सुन रहे थे। ईश्वर-श्विास की दृष्टि से जिन्होंने अपने जीवन को सार्थक बनाना पसन्द किया, उनके लिए सबसे पहली बात होती है कि बिना देखे, बिना जाने परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करें। परमात्मा हैं—इस बात में हम लोगों को निःसन्देह रहना चाहिए। नहीं दिखाई देने पर भी 'वे' हैं। पता नहीं है मुझे, हम अनजान हैं उनसे, तब भी वे हैं।

तो उनका 'होना' स्वीकार करना एक अनिवार्य बात है। यह स्वीकृति अपने द्वारा की जाती है। इसमें मन, चित्त, बुद्धि, संगी-साथी की आवश्यकता नहीं रहती। स्वयं ही आदमी इस बात को स्वीकार करता है। उस अविनाशी परमात्मा

की सत्ता को स्वीकार करने के बाद, एक दूसरी बात भी आती है कि उनकी महिमा को भी हम स्वीकार करें। कैसे करें? सन्तों की वाणी के आधार पर, गुरु की वाणी के आधार पर, ग्रन्थों में लिखा हुआ है, इसलिए उनकी महिमा को स्वीकार करें। सत्ता की स्वीकृति हो गई, महिमा की स्वीकृति हो गई। तीसरी बात जो बहुत अच्छी है और प्रभावकारी है, वह है—परमात्मा के साथ हमारा-आपका नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है—इन बात को भी हम स्वीकार करें।

मैंने जीवन के अध्ययन में जो देखा उससे मुझे पता चला कि परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करना कोई बहुत मुश्किल काम नहीं होता है। साधारणतः मनुष्य इस बात का अनुभव करता ही है कि भाई, मैंने अपने को स्वयं नहीं बनाया और मेरे जीवन की गतिविधियाँ मेरे द्वारा नियन्त्रित नहीं हो रही है। ऐसा लग रहा है कि जैसे कोई पहले ही बनी-बनाई बात रखी हो और उसके अनुसार सब चल रहा हो। तो अपने को स्वयं अपने ने ही बनाया, अपने जीवन की गतिविधियाँ अपने नियन्त्रण में नहीं है। तो जरूर कोई है, जिसने मुझे बनाया और मेरे जीवन की गतिविधियों को नियन्त्रित कर रखा है। इसलिए उनकी सत्ता को स्वीकार करने में ज्यादा कठिनाई नहीं होती है। ऐसा एक बना ही हुआ है जीवन का क्रम कि उस अदृश्य अनजानी सत्ता को हम लोग मान ही लेते हैं। लेकिन बहुत बढ़िया बात होती है कि जब मनुष्य के भीतर उस परम सत्ता के लिए, उस सर्व-उत्पत्ति के आधार के लिए "अपनेपन" का भाव जग जाए, "उनको" अपना मानने की भावना अपने में भर जाए। आवश्यकता तो है। आवश्यकता सभी में है और सभी उसका अनुभव करते हैं, परन्तु जड़ता के प्रभाव से हम दुनिया के व्यक्तियों और वस्तुओं से अपना सम्बन्ध जोड़ कर सन्तुष्ट होना चाहते हैं। यह मूल भूल होती है और जब भीतर से चेतना जगती है, संसार की नश्वरता का प्रभाव अपने पर पड़ता है, तब व्यक्ति खोजता है कि कौन है अपने कहने के लायक, कौन है अपना होकर रहने के लायक? किससे अपना सम्बन्ध सदा के लिए निभ सकता है? किससे सम्बन्ध मानना मुझे सब प्रकार के स्वाधीन कर सकता है?

ऐसे प्रश्न होते हैं और सन्तजन, भक्तजन सलाह दे देते हैं कि भाई, ऐसा मानो कि परमात्मा हैं और वे सभी के अपने हैं, सभी को अपना मानते हैं, अनन्त माधुर्यवान है, यह उनकी महिमा है। इसका अर्थ यह है कि वे सभी को अपना करके जानते हैं और अपना कर रखते हैं। यह बात सन्तजनों के द्वारा, भक्तजनों के द्वारा हम लोगों को बता दी जाती है। इसी को भक्ति का मूल आधार मानना चाहिए। यह नित्य तत्त्व विद्यमान ही है। उसी की सत्ता से हम लोगों को अपनी स्वतन्त्र सत्ता का भास होता है। शरीर को लेकर संसार के सम्पर्क में अपनेकों प्रकार की

पराधीनताओं के होते हुए भी जब बिल्कुल अकेले हो करके आप अपने को देखिए, अपने सम्बन्ध में सोचिए, तो ऐसा लगता है कि 'मैं हूँ'। मेरा होनापन बिल्कुल स्वतन्त्र रूप से अपने को भासित होता रहता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता को भास होता है कि 'मैं हूँ'। स्वामीजी कहते हैं कि जो अपनी सत्ता का अनुभव करता है कि [1]'मैं हूँ' और जो अपने अस्तित्व को इन्कार नहीं कर सकता, वह उसको कैसे इन्कार कर सकता है, जिसमें से इस "मैं" की उत्पत्ति हुई है? इसलिए वह सत्ता है, ऐसा मानना प्रारम्भिक बात हो गई और भक्त होने के लिए अनिवार्य बात क्या हो गई कि उस सत्ता के साथ मेरा अपना नित्य-सम्बन्ध है, आत्मीय- सम्बन्ध है—इस बात को भी जाना जाए।

मेरे सामने जब ऐसा प्रश्न आया कि "उसको" मानना पड़ेगा बिना देखे, बिना जाने, तो मुझे ऐसा लगा जैसे कि अथाह सागर में खोये हुए को सहारा पकड़ाया जा रहा है। फिर मैं सोचती थी कि असंख्य-असंख्य शरीरधारी संसार में प्रतिदिन प्रत्येक क्षण पैदा हो रहे हैं और मिट रहे हैं। उसी में से एक यह मैं भी हूँ। बन गया है, बिगड़ रहा है, मिट जाएगा। हमारी तरह कितने हैं, पता नहीं। इसकी गणना नहीं हो सकती। तो मैं सोच ही नहीं पाती थी कि वह अनन्त परमात्मा, जो सर्व-उत्पत्ति का आधार है, हमारे जैसे असंख्य-असंख्य शरीरधारियों को प्रत्येक क्षण बना रहा है, मिटा रहा है, उसको मेरी भी कुछ परवाह होगी। भगवत्-अनुरागी सन्त के पास बैठकर सुनते-सुनते, समझते-समझते, जीवन की आवश्यकता को सामने रखते-रखते बहुत देर में यह बात मेरी पकड़ में आई कि वे इतने सामर्थ्यवान हैं कि असंख्य-असंख्य शरीरधारियों के निर्माता और पालनकर्त्ता होते हुए भी वे हर एक का ध्यान रखते हैं। हर एक की सुध लेते हैं, हर एक के बारे में जानते हैं, हर एक पर कृपा करते हैं। वे इतने प्रेमी स्वभाव के हैं, इतने सामर्थ्यवान हैं कि वे बना कर छोड़ नहीं देते। यह उनकी महिमा की स्वीकृति हुई। और मैं रूठी रहती थी इस ख्याल से कि ँँीमतम पे ळवकध् च्मतींचे भ्म ीे हवदम जव सममच दमअमत जव इम ंंूंंामदमकण् सुना देती थी, अगर कोई उनकी महिमा गाए तो। कहाँ है परमात्मा? जाकर के निश्चिन्तता में परम विश्राम ले रहा है और दुनिया में हमारे जैसे जीवन सुख-दुःख में ऊब-डूब हो रहे हैं। द्वन्द्व में फँसे हुए हैं। उनको क्या परवाह है? लेकिन बात ऐसी नहीं है। भक्त होने के लिए भक्ति तत्त्व का जो बीजरूप है वह उन्होंने हम सभी भाई-बहिनों को दे करके भेजा है। अपना मानने का स्वभाव मनुष्य का है। किसी को अपना माने तो अच्छा लगता है और कोई तुमका अपना माने तो और भी अच्छा लगता है। अपनी जिम्मेदारी कुछ कम हो गई। दोनों ही बातें हम लोगों को अच्छी लगती हैं।

यह अपनेपन की बात जो हैं, यह मनुष्य के जीवन में मूलरूप से विद्यमान है। भूल क्या होती है कि सचमुच जो अपना है और जिसका अपनापन सदा के लिए निभ सकता है, जो सदा-सदा के लिए अपना होकर रह सकता है, उसको हम भूल गए। यही भूल हो गई। और कोई बात नहीं है। और, एक दूसरी बात मुझे सूझती है कि यह परमात्मा ही है जिसका अपनापन हर प्रकार से मेरे को भरपूर कर सकता है। जब मैं कहती हूँ कि भरपूर कर सकता है, तो इसका अर्थ यह मत सोचियेगा कि अन्न से, धन से, वस्त्र से, सबसे भरपूर कर सकता है। ये सब चीजें आपको भरपूर नहीं कर सकती हैं। अन्न, वस्त्र, सामान, मकान—इनकी हस्ती तो शरीर की सीमा तक रह जाती है। अपने ही भीतर जो वास्तविक जीवन तत्त्व है, वही अपने को भरपूर करता है। परमात्मा में ही यह सामर्थ्य है कि जब कोई व्यक्ति देखे हुए सुहावने, लुभावने संसार को इन्कार करके उस बिना देखे को अपना मानना पसन्द करता है, तो उसकी एक बहादुरी पर वे सर्वसामर्थ्यवान रीझ जाते हैं। यह एक बढ़िया बात है।

समग्र उत्पत्ति के मूल में कोई अनुत्पन्न तत्त्व है—इतना मान लेने से आदमी आस्तिक हो जाता है। सत्ता की स्वीकृति हो गई। लेकिन भक्त होने के लिए उस बिना देखे, बिना जाने को अपना माने और उसके अपनेपन पर सारे दूसरे सम्बन्धों, सब विश्वासों को न्यौछावर कर दे। बस इतनी बहादुरी अपनी चाहिए, इससे ज्यादा और कुछ नहीं चाहिए। यह नहीं कर पाते हैं, तो मामला अटक जाता है।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि कोई लड़की हो और उससे कहा जाए कि वह बड़ा सुन्दर है, परम सुन्दर है, बड़ा ऐश्वर्यवान है, उस पर कोई विजयी नहीं हो सकता, उसमें बहुत ऐश्वर्य है, उसमें बड़ी सामर्थ्य है, वह सब कुछ कर सकता है और वह बड़ा प्रेमी है। जो उसको अपना मानेगा, उसको सब प्रकार से भरपूर कर देगा। तो ऐसा अगर कोई हो और किसी लड़की से कहा जाए कि उससे सम्बन्ध करोगी? तो कौन नहीं राजी होगा? बड़ा अच्छा लगेगा। ऐसा कोई हो तो सही। हो तो हम मान लें उसको। अपना बना लें उसको। तो यहाँ तक तो कोई दिक्कत नहीं होती। इसमें तो सबका जी एकदम ललक उठता है। वह अनन्त सौन्दर्यवान, अनन्त माधुर्यवान, अनन्त ऐश्वर्यवान, प्रेम स्वरूप है, तो कौन नहीं उससे सम्बन्ध बनाने को राजी होगा? लेकिन उसकी सजीवता के लिए जब कहा जाता है कि उसके साथ एक काम तुमको और करना पड़ेगा कि उसके अतिरिक्त फिर और किसी को अपना मत मानना। तो बस, ठहर जाता है आदमी। अच्छा भगवान्! आप बड़े सुन्दर हैं। आपके भक्तों ने बता दिया मुझे। आप बड़े माधुर्यवान हैं। यह मैंने सुन लिया और सचमुच मुझको जन्म से ही मधुर प्रेम रस की प्यास भी है। यह सब कह-सुन करके आदमी कहता है कि अच्छा भगवान्, थोड़ ठहर जाइए। अभी दूसरे-दूसरे जो सम्बन्धी हमारे हैं, बड़े अनुकूल हैं, बड़ा प्यार देते हैं, बड़ी रक्षा करते हैं, बहुत मीठा बोलते हैं, बड़ा सम्मान देते हैं, तो मैं उनके संयोग का सुख थोड़ा ले लूँ। पीछे आपके पास आऊँगा। तो बस, हो गई भक्ति खण्डित। वे तो अपने आप में सब प्रकार से पूर्ण हैं। हमारे भक्त न होने से उनके अपने आननन्दस्वरूप में कोई क्षति नहीं होती। उनके अपने प्रेमसागर में कोई लहर घटती नहीं है। वह कहते हैं कि अच्छा मेरे बच्चे! तुमको यही पसन्द है, तो जाओ, थोड़े दिन और खेल-कूद के आना।

एक सज्जन मेरे पास आए। ब्यावर एक नगर है राजस्थान में। वहाँ मानव सेवा संघ की शाखा का समारोह हो रहा था। तो भवन में मैं बैठी थी और बहुत तरह के श्रोतागण बैठे थे। बात हो रही थी। एक व्यक्ति बीच में आए। सीधे मंच के पास आ गए, आकर के कहने लगे कि बहनजी! मेरा एक प्रश्न है, उत्तर दीजिए। मैंने कहा कि भाईजी! सुनाइए, क्या प्रश्न है आपका? तो उन्होंने कहा कि भगवान् से जल्दी-से-जल्दी मिलने का कौन-सा तरीका होगा? बता दीजिए। तो जो सन्तों से मैंने सुना है, जो भक्तों से मैंने सुना है, उसमें से चुन-चुन करके दो-चार मुख्य-मुख्य बातें मैंने उनको बता दीं कि भाई, मैंने सन्तों से, भक्तों से ऐसा सुना है कि ऐसा करने से भगवान् मिलते हैं। तो बस, उत्तर सुन लिया। अपनी छड़ी उठाई, थैला उठाया और बड़ी ही गम्भीर मुख-मुद्रा में वे सज्जन जाने लगे। सब लोग उनका प्रश्न सुन रहे थे और मेरा उत्तर भी सुन रहे थे। मैंने बीच में से उनको पुकारा। हमने कहा—भाईजी! आपके प्रश्न का उत्तर हो गया? तो मेरी तरफ मुड़ करके कहने लगे कि हाँ बहनजी, उत्तर तो मुझे मिल गया। लेकिन अब मैं सोचता हूँ कि भगवान् से कुछ दिनों बाद मिलूँगा। इस सज्जन ने बड़ी सच्चाई के साथ अपनी दशा के अनुसार मेरे प्रश्न का उत्तर दे दिया। सुन करके हँसी आती है। वहाँ बैठे सब लोग सुन करके हँसने लगे। लेकिन उस सज्जन पर लोगों के हँसने-हँसाने का कोई प्रभाव नहीं हुआ। वे ऐसी ही गम्भीर मुख-मुद्रा से उत्तर देकर चले गए।

घबड़ाने की बात नहीं है। आप डरियेगा नहीं। ऐसा मत सोचियेगा कि भक्ति-पथ पर मैंने कदम रखा है और उसके लिए जितना होना चाहिए वह सब मैंने नहीं किया, तो भक्तों की सूची

में से नाम कट जाएगा। ऐसा नहीं होगा। ऊपरी-ऊपरी काम करते रहे, भीतर-भीतर कुछ रूप दूसरा बना रहे, तो बहुत देर लग जाएगी। और एक बात है कि रास्ते की बाधाओं का पता चले, तो उन बाधाओं को हटा करके उस प्रेमस्वरूप, उस आनन्दस्वरूप से जल्दी-से-जल्दी मिल जाएँ। इतना ही फर्क होगा। किसी भी रूप में कुछ भी आज इस दशा में प्रयास कर रहे हैं, तो किया हुआ साधन कभी नष्ट नहीं होता है। इस पथ पर चलने वाला कभी हारता नहीं है। इसलिए डरने की बात नहीं है। लेकिन मैं इस बात का उल्लेख करना चाहती हूँ कि कहाँ पर रुकावट है? सचमुच भक्ति का रस जो अपने में से ही उद्‌भूत होना चाहिए था, उसके अभाव में हम बाहर-बाहर उपाय खोजते फिर रहे हैं। इस बात को मैं आपके ध्यान में लाना चाहती हूँ। इसलिए निवेदन किया कि अपना मानना बहुत बड़ी बात है और मान करके भी हमारे भीतर उसकी प्रियता के फलस्वरूप उनकी याद नहीं आती है, तो अपनी इस दशा को सामने रखना। उस दशा को मिटाने के लिए अपनी ओर से जो प्रयास बने सो करना और कोई प्रयास न बन सके—ऐसा भी होता है कि साधक को सूझता ही नहीं है कि मुझ में क्या कमी है—तो उस समय भी उनकी प्रियता के उदित न होने का दुःख अपने भीतर भर जाए, तो उससे भी बड़ा कल्याण होता है। बात वहीं आ जाती है। बहुत अच्छी बात है। हाय, मेरे किए कुछ हुआ नहीं। इतने दिन मैंने जप किया, इतने दिन तप किया, इतने दिन ऐसा किया। कुछ काम बना नहीं।

इलाहाबाद में एक बूढ़ी माँ आती थी। स्वामीजी महाराज से भी उम्र में बड़ी रही होगी। काफी बूढ़ी थी। स्वामीजी महाराज के पास बैठ करके, जैसे माताएँ बच्चे की पीठ पर हाथ फेरती हैं, वैसे ही स्वामीजी की पीठ पर हाथ फेरती जाएँ और कहती जाएँ कि महाराज, अब तो तुम्हीं सम्हालो। हे महाराज! अब तो तुम्हीं सम्हालो। स्वामीजी महाराज हँसते जाएँ और पूछते जाएँ माँ! क्या कह रही हो? क्या है माँ? तो महाराज! मैंने इतने वर्ष ऐसा किया, अभी तक हमारा काम नहीं बना। महाराज! सम्हालो अब तुम्हीं सम्हालो।

सच्चे साधक जो होते हैं वे अपने जीवन के सूनेपन को सहन नहीं कर सकते हैं। सहन नहीं होता है, तो अधीर हो जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं। उस समय उनका अहं गलने लगता है। जिस समय आपको ऐसा लगे कि मेरी साधना तो बहुत अच्छी चल रही है, मेरा प्रयास सफल हो रहा है। ऐसा भासित जब हो, तो उस काल में अहं थोड़ा और सबल हो जाता है। अशुऋ नहीं, विकारों से घिरा हुआ नहीं।

साधना के बल के आधार पर भी अहं पोषित होता है। उसमें भी थोड़ी दूरी रह जाती है। लेकिन जिस समय अपनी ही असमर्थता से साधक अत्यन्त व्याकुल हो जाता है—क्या बताएँ! अन्य सम्बन्ध पर भी आप अधीर हो जाएँ तो उस काल में अहं गलता है। और अहं गलते ही उसका अहं-भाव मिट जाता है और तत्काल, उसी क्षण, उसी जगह अपने परम प्रेमास्पद के अत्यन्त निकट होने का आनन्द साधक में भर जाता है। ऐसा होता है।

एक साथक थे स्वामीजी महाराज के पास। वे बहुत ही अनुकूल परिस्थिति वाले थे। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के जमाने के आई.सी. एस. आॅफीसर थे। बेटे-बेटी सब अनुकूल थे। जब स्वामीजी महाराज के सत्संग में आ करके उन्होंने सुना कि मानव-जीवन का सबसे बढ़िया सुन्दरतम चित्र है कि वह भगवत्-भक्त हो जाए। तो सुन्दर हृदय था उनका, शुऋ हृदय के व्यक्ति थे, स्नेही स्वभाव भी था। प्रभु की शरणागति को उन्होंने स्वीकार कर लिया। स्वामीजी महाराज की सलाह

से और चलने लगे। तो जब-जब यह प्रश्न उनके सामने आवे कि अन्य सम्बन्धों को अस्वीकार कर दो और अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन कर दो, अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन कर दो, तो वे समझदार व्यक्ति थे ही, कुटुम्ब-परिवार की अनुकूलता का बड़ा प्रभाव था उन पर। तो अधीर होकर स्वामीजी महाराज से बोले—महाराजजी! लड़के बड़े अच्छे लगते हैं। हाय, मेरा उद्धार कैसे होगा? इनका सम्बन्ध मैं तोड़ नहीं सकता। महाराजजी! बहुएँ बड़ी सेवा करती हैं, माँ के समान लगती हैं। इनका सहारा मैं छोड़ नहीं सकता। हरि-आश्रय मेरा सिऋ कैसे होगा? अधीर होते। उन सज्जन की बात है, सन्त की भक्ति उनमें थी। उन्होंने प्रभु की महिमा को भी स्वीकार किया था और वे अपनी दुर्बलता से बहुत पीड़ित रहते थे। वे ही सज्जन आखिरी घड़ी में, मरने से तीन-चार घण्टे पहले खूब आनन्दित होकर कहने लगे—भगवत् अनुरागी सन्त ने मुझे विश्वास दिलाया था, आज वह मेरा सिऋ हो गया। अब मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ। मेरा जन्म नहीं होगा। अब मुझे कोई दुःख नहीं है।

वे ही बेटे बेटियाँ, वे ही बहुएँ और दामाद व बच्चे, उन सबको बुला कर कहा— सब मुझे छोड़कर चले जाओ। इस कमरे में अब कोई मत आना, सब चले जाओ। जाकर के रसोई बनाओ, खाओ, आनन्द मनाओ। मेरा जीवन सफल हो गया। सन्त ने मुझे विश्वास दिलाया था, उस समय मुझे धीरज नहीं होता था। अब सन्त की वाणी सत्य हो गई। अब मैंने जीवन पा लिया। अब मैंने जीवन पा लिया। अब सब चले जाओ। यहाँ कोई मत रहना। मेरे पास कोई मत आना, हो गया कल्याण।

अपनी असमर्थता की वेदना व्यक्ति के अहं को गला देती है। उतना ही भर पर्दा है, उतनी ही भर दूरी है। अहं के गलते ही उनके नित्य निरन्तर विद्यमान होने का जो सहज स्वाभाविक प्रभाव होना चाहिए, उस प्रभाव से भक्ति-पथ का

साधक भर जाता है। जैसे महाराजजी ने अभी सुनाया हम लोगों को कि अगर भक्त प्रभु के दर्शन में लग गया, भीतर से अहं गला, तो इष्ट के विद्यमान होने का दर्शन होने लगा। वह विविध रूप में होता है। हर साधक के लिए अनेक-अनेक ढंग से होता है। वे कहते हैं कि इतनी ग्राहकता होती है कि उसमें और इतना प्रभाव होता है उसके इष्ट के दर्शन में कि अगर दर्शन होने लगा, तो बाकी सब इन्द्रियाँ और मन, चित्त, बुद्धि सब शक्तियाँ उसी में समाहित हो जाती है। अर्थात् उसमें इतना आकर्षण है कि सारी वृत्तियाँ जब जा करके उसमें केन्द्रित हो जाती हैं, तो न कान सुन सकते हैं, न हाथ-पाँव चल सकते हैं, न स्पर्श का ही कोई पता होता है, न गंध का कोई असर होता है। दूसरा कहीं कुछ होता ही नहीं हैं। अगर उनकी

ध्वनि सुनने लग जाओ, तो उस प्रियता में तुम्हारा सम्पूर्ण व्यक्तित्व ऐसा डूब जाएगा कि ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ सुनाई ही नहीं देगा और कुछ दिखाई ही नहीं देगा और कोई अपना अस्तित्व ही अलग नहीं रहेगा।

मुझे याद आता है, कि महाराजजी ने गोपी-प्रेम के सम्बन्ध में एक बार एक प्रसंग सुनाया था। तो उसमें यह सुनाया था कि संध्या होते ही जैसे ही गोधूलि का समय होता, तो सब स्त्री-पुरुष, बच्चे, सयाने, लड़कियाँ, माताएँ सबके सब घर का सब काम-काज छोड़ जल्दी-जल्दी आ करके सब लोग दरवाजे-दरवाजे लग जाते, खड़े हो जाते, कि भाई, अब आ रहा होगा कन्हैया, आ रहा होगा। तो भाव में दर्शन हो रहे हैं। धूलि से भरा हुआ मुखड़ा है, अलकें लटक रही हैं और ऐसी चितवन है और ऐसी बंशी की ध्वनि सुनाता हुआ आ रहा होगा और इस प्रकार की मटकीली चाल

चल रहा होगा और उसके सखा उसके साथ आ रहे होंगे। तो सोच-सोच करके गाँव के स्त्री-पुरुष सब भावमग्न हो करके दरवाजे-दरवाजे लग जाते, खड़े हो जाते। किसी को कुछ ध्यान ही नहीं रहता। कोई गोपी बच्चे को दूध पिला रही होती तो वहीं पर उसको छोड़ करके आँगन में आकर बाहर दरवाजे पर खड़ी हो जाती। कोई रोटी बना रही होती तो वहीं तवे पर छोड़ करके आकर के बाहर खड़ी हो जाती। जैसे ही गोधूलि का समय हुआ और अन्दाज लग रहा है कि अब बा रहे होंगे तो कहीं आ करके निकल न जाए और हम सब उस रूप-माधुरी के दर्शन से वंचित न रहे जाएँ—इस डरके मारे चाव से सब आ करके खड़े हो जाते। महाराजजी कहते कि नई-नई बहुएँ जब दूसरे-दूसरे गाँव से ब्याह करके ब्रज गोपों के घर में आवें, तो बहुओं को बड़ा आश्चर्य लगे। वे कहें कि इस नगर में सब पगले रहते हैं क्या? बाबा यह कैसा नगर है? कोई तवे पर रोटी जलती छोड़ करके भाग रही है, कोई गऊ को छोड़कर खिड़की पर भाग रही है। जो जहाँ है सब काम छोड़ करके सब भाग करके खड़े हो जाते हैं।

एक दिन एक कोई नई बहू घर में बैठी थी। गोधूलि का समय था, दीपक जलाने का समय था। घर की लड़कियाँ, स्त्रियाँ सब भाग-भाग करके बाहर निकल रही हैं, तो वह हँसे और कहे कि तुम लोगों को क्या होता है बाबा? कहाँ भाग कर जा रही हो? क्या हो गया? अरे, आ रहा है वन से गायें चरा के, तो वह आएगा ही। उसमें क्या है? रोज तो देखती हो। क्या बात है? ऐसे कहके वह अपनी ननद को डाँट रही थी और पूछ रही थी कि तुम लोगों को क्या होता है? कैसे ऐसा करती हो? तो उसकी ननद ने कहा—अरे, अभी तुम पर वह जादू लगा नहीं है। लग जाएगा तब देखना। तुम भी हमारी तरह हो जाओगी। बहू हँसे। खैर, सास-ननद सब निकल गईं बाहर। रह गई घर में बहू। तो दियासलाई जला करके दीपक लिए बैठी थी। जैसे ही उसने दीपक जलाया कि इतने में कन्हैया रास्ते में नजदीक आ गए थे और उनकी बंशी की ध्वनि सुनाई दे गयी। तो यह नई बहुत जो हँस रही थी दूसरों पर, उसके कान में वह बंशी की ध्वनि पड़ गई। वह इतनी मधुर लगी कि उसके सम्पूर्ण अहं की सारी वृत्तियाँ उस ध्वनि को सुनने में लग गयीं। तो ऐसा प्रसंग आता है कि वह दियासलाई जो उसके दीपक के लिए लगाई उसके हाथ में ही रह गई और उससे उसकी अँगुलियाँ जल गईं। लेकिन वृत्ति तो वहाँ है नहीं। उसको पता ही नहीं चल रहा है कि अँगुलियाँ जल गईं। सुन रही है एकदम तन, मन सब उसमें लगा करके, तल्लीन हो करके। उसको पता ही नहीं चला। कन्हैया आए और अपनी मोहिनी डालते हुए अपनी प्रीति भरी चितवन से सबको निहाल करते हुए निकल गए, चले गए। उनके चले जाने के बाद लौट-लौट कर सब घर में आए। ननद उसकी आई तो देखा कि इसकी तो अँगुली जल रही है। ननद चिल्लाने लगी कि ये क्या कर रही हो? अरे उठो, उठो। तो उसके मुख से केवल इतनी-सी बात सुनाई दी, अरे कहाँ बजी रे, अरे कहाँ बजी रे। बंशी की

ध्वनि कान में घुस गई थी, तो अब और कुछ पता ही नहीं चल रहा है, केवल इतना पूछा कि अरे, कहाँ बजी रे? देखा तो नहीं था उसने। केवल ध्वनि सुनी थी। दूसरे-दूसरे गाँव से लड़कियाँ ब्याह करके नई-नई बहू ब्रज में आ रही हैं। वे भी उस रंग में रँग रही हैं। वे भी उस ध्वनि में विलीन हो रही हैं।

स्वामीजी महाराज ने बड़े साफ शब्दों में कहा कि इष्ट का दर्शन इतना मधुर होता है कि दर्शन हो गया तो सर्वेन्द्रियों की शक्तियाँ आँख में विलीन हो गई। अब न कुछ सुनाइ् दे रहा है, न

हाथ-पाँव चलेंगे, न कुछ होगा। अगर ध्वनि में पड़ी तो सब शक्यिाँ मिल करके कान में ही घुस गईं। अब न कुछ दिखाई देता है, न जलना, न ठण्डा, न गरम, कुछ अनुभव ही नहीं हो रहा है। तो वह जो हमारा-आपका उद्गम है, सच पूछिये तो उससे विमुखता के काल में ही हम लोग पीड़ित रहते हैं। मैंने जीवन में जो नीरसता का प्रभाव होता है, उसके परिणाम का बड़ा अध्ययन किया है। अपना तो एक सीमित व्यक्तित्व का सीमित अध्ययन होता है। जिस विज्ञान का अध्ययन किया मैंने उस वैज्ञानिक अध्ययन में मनुष्य के जीवन की नीरसता और सरसता का बड़ा विवरण है। तो वहाँ मैंने जो कुछ मनुष्य का चित्र था, उसे देखा। वह तो मुझको बहुत ही असन्तोष देने वाला हुआ। बहुत असन्तुष्ट हो करके मैं वहाँ से आई। अध्ययन खत्म हो गया और परीक्षा का परिणाम बहुत अच्छा मिला। विद्यार्थी जगत् में खूब जय-जयकार भी हो गई। लेकिन मेरे भीतर का असन्तोष नहीं मिटा।

जब स्वामीजी महाराज के पास मैं आई, तब उन्होंने मनुष्य के सच्चे चित्र को मेरे सामने रखा। तब मैं बहुत आनन्दित हो गई। अब मैं बहुत प्रसन्न हूँ, इस बात से कि बनाने वाले परमात्मा ने आपको इतना बढ़िया बनाया है कि जड़-जगत् का कोई भी पदार्थ आपको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। जब तक उनके प्रेम-रस की मिठास हमारे जन्म-जन्मान्तर के अभावों को मिटा नहीं देगी और रस से भर नहीं देगी, अब तक इस जीवन का कोई स्वाद नहीं है, ऐसा लगता है। अभाव के दिन जो होते हैं, वे बड़े शुभ होते हैं और अभावों से बेचैन हो करके शरीर और संसार के परे कुछ अनोखा, अलौकिक विलक्षण तत्त्व आदमी खोजन लगता है। वह भी बड़ा शुभ होता है। खोजने, ढूँढने में अपने प्रयास में जब आदमी हार जाता है, वह सब से बढ़िया क्षण होता है। हारजाना सबसे बढ़िया होता है। क्यों? क्योंकि

साधक की पीड़ा उन करुणासागर से सही नहीं जाती। तुमने उनको पुकारा कि नहीं पुकारा—इसकी प्रतीक्षा भी नहीं करते। तुमने स्तुति की कि नहीं की, अभ्यर्थना की कि नहीं की, दुखड़ा सुनाया कि नहीं, उसकी प्रतीक्षा वे नहीं करते। सचमुच तुम साधक हो, अभाव से पीड़ित हो, उस अलौकिक अविनाशी जीवन के लिए लालायित हो और तुम्हारा वश नहीं चलता है, पीड़ा उपज रही है, हृदय मंथन हो रहा है, तो उसमें अहं का गल जाना और उनकी उपस्थिति का अनुभव हो जाना, उनके प्रेमस्वरूप से मिल जाना, उनके ज्ञानस्वरूप के आनन्द-सागर में अपने को समाहित पाना— ये सब बातें बहुत ही जल्दउी एक साथ हो जाती है। सभी अनुभवी-जनों ने हम लोगों को इस बाते को सुनाया है कि जैसे सूर्य का उदय और अन्धकार का नाश एक साथ होता है, वैसे ही असमर्थता की वेदना से अहं का गलना और 'उनका' मिलना एक साथ हो जाता है।

प्रवचन 13

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

मनुष्य के जीवन का एक बड़ा ही रहस्य है। वह यह है कि जिस वास्तविक जीवन की उसमें माँग है, उसकी पूर्ति अनिवार्य है और जिस प्रतीति की ओर वह दौड़ रहा है, वह कभी-कभी किसी को भी प्राप्त नहीं है। अप्राप्त प्रतीति की ओर हम सब लोग दौड़ रहे हैं। उसको पकड़ने की चेष्टा में जीवन का सब समय निकलता जा रहा है और जो नित्य प्राप्त है, कभी-भी किसी से बिछुड़ा नहीं, कभी अनुपस्थित हो ही नहीं सकता, उस जीवन के सम्बन्ध में हम लोग सन्देहात्मक विचार रखते

हैं, उसके मिलने में निराशा रखते हैं। बहुत प्रकार की बातें अपने भीतर हम पाल लेते हैं, जिसके कारण इसी जीवन में वर्तमान में उस अविनाशी से मिलने का प्रोग्राम हमारा आरम्भ ही नहीं होता। कोई मान लेता है कि मेरे तो संस्कार अच्छे नहीं है। कोई मान लेता है कि मुझे बढ़िया सद्गुरु नहीं मिला, कोई महापुरुष मिलता तो मेरा काम बनता। अजीब-अजीब तरह की बातें सोच-सोच करके ऊपर-ऊपर से हम लोग प्रयास भी करते रहते हैं और भीतर-भीतर से निराश भी रहते हैं। यह अपनी दशा है, कि नही? ऊपर-ऊपर से प्रयास भी चलता है। क्यों? क्योंकि भगवान का नाम लिए बिना रह नहीं सकते। इस दिशा में कुछ किए बिना अच्छा नहीं लगता है। यह तो अपनी संस्ड्डति की बात है, अपनी परम्परा की बात है।

मानव-जीवन की रचना के प्रभाव से ऐसा व्यवहार हम सब लोगों को करना ही पड़ता है। इस समय साँस चल रही है और किस समय बन्द हो जाएगी, कुछ पता नहीं है। इसलिए भगवान् को याद करो, तो थोड़ा याद भी करते हैं। और भाई, पुण्य कर्म करो, तो थोड़ा पुण्य कार्य भी करते हैं। थोड़ा दान करो, तो कुछ-कुछ दान भी करते रहते हैं। तीर्थ यात्रा करो, तो कुछ तीर्थ यात्रा भी करते रहते हैं और कोई पूछे कि अच्छा, यह सब जो आप कर रहे हैं, उसके करने के फल से आज ही आपकी जीवन-मुक्ति हो जाएगी, आज ही आपको भगवत्-भक्ति मिल जाएगी? शान्ति मिल जाएगी? तो कहेंगे कि वह तो बड़े-बड़े ऋषि-मनीषियों को भी इतनी जल्दी नहीं मिली, तो हमको कैसे मिलेगी।

अर्थ क्या निकला? कि भीतर में यह दृढ़ता नहीं है कि हम उस जीवन को प्राप्त कर लेंगे। और उस जीवन की चर्चा के बिना, उसके प्रयास के बिना, रहा भी नहीं जाता, तो कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। रहस्य क्या है? तो रहस्य बिल्कुल इसके विपरीत है। वह क्या है? कि अगर प्राप्ति हो सकती है, अगर अभिन्नता हो सकती है, तो उसी से हो सकती है जो नित्य विद्यमान है, जो नित्य प्राप्त है और जो अभी है। और उससे मिलने का अर्थ क्या होगा? उसकी प्राप्ति का अर्थ क्या होगा, जो कभी है और कभी नहीं है? विवेकीजन कहते हैं कि जो किसी भी क्षण में अनुपस्थित हो सकता है—कल था और आज नहीं है, आज है, पहले नहीं था, तो जो पहले नहीं था और आज है, सो दिखाई दे रहा है, तो मानना ही चाहिए कि वह कल नहीं रहेगा। इसलिए वर्तमान में भी उसको "नहीं" करके ही जानना चाहिए। उससे यह अर्थ निकलता है।

स्वामीजी महाराज को मनुष्य के सम्बन्ध में इस बात का बड़ा दुःख था कि जीवन-मुक्ति, भगवत्-भक्ति का आनन्द लेने में जो मनुष्य सब प्रकार से स्वाधीन है और समर्थ है, वही मनुष्य जीवन-मुक्ति और भगवत्-भक्ति के आनन्द से वंचित रहता है। जिस संसार को आज तक कोई पकड़ नहीं सका, उसी संसार को पकड़ कर बैठे रहने की चेष्टा में अनमोल जीवन गँवाता है। इस बात का उनको बड़ा दुःख रहता था। कभी भी समाज की सेवा में चर्चा होती, तो कहते कि भाई, सबसे बड़ी सेवा मानव-समाज की क्या है? कि उसको महिमा की याद दिला दी जाए। यह सबसे बड़ी सेवा है। आज मानव-समाज में धन की महिमा बहुत हो गई है, बुद्धिमानी की महिमा बहुत हो गई है, पद, सम्पत्ति और सम्मान की महिमा बहुत हो गई है। लेकिन उसकी अपनी स्वयं की जो महिमा है, उसी को वह भूल गया है। धन के बल पर, पद के बल पर, शाीरिक स्वास्थ्य और रूप के बल पर, बुद्धिमानी, चालाकी और चतुराई के बल पर आदमी अपनी को बलशाली समझता

है। तो यह उसके महत्त्व को घटना हुआ, कि बढ़ाना हुआ? घटाना हुआ। क्यों? इसलिए कि जो अमर जीवन का अधिकारी है, वह हाड-माँस से बने हुए शरीर के बल पर अपने को बलवान समझता हो, तो उसके लिए बहुत बड़े घाटे की बात है। जो ईश्वरीय प्रेम का अधिकारी है, जिसके माध्यम से अलौकिक परमात्मा का अलौकिक प्रेम इस लौकिक जगत् के कण-कण को सिक्त कर सकता है, वही मनुष्य अपने को दलबन्दी के आधार पर बड़ा समझता हो, तो यह उसके लिए आदर की बात हुई, कि अनादर की बात हुई? सोचो।

इस दृष्टि से आप विचार करें। मानव-जीवन का बड़ा महत्त्व है। किसलिए? कि हम वह दिखाई देने वाले संसार की सेवा करके संसार के लिए उपयोगी हो सकता है और बिना किसी शर्त के प्रभु के आश्रित होकर के, उन्हीं का दिया हुआ प्रेमभाव उन्हीं को अर्पित करके, उनका प्यारा हो सकता है। फिर भी उसे अपने लिए न संसार से कुछ चाहिए, न परमात्मा से कुछ चाहिए। तो कितनी बड़ी बात है मनुष्य के जीवन में! सेवा के द्वारा जगत् वे प्यारे बन जाओ और भक्ति के द्वारा भगवान् के प्यारे बन जाओ। न संसार से कुछ माँगो, न भगवान् से कुछ माँगो। स्वयं स्वाधीन रहो। ऐसी स्वाधीनता हम भाई-बहिनों को अच्छी लगेगी, कि नहीं? जी? अच्छी लगेगी।

आप सोच कर देखिए। जिन बाल-बच्चों को आपने पैदा किया, गोदी में सम्हाल करके पाला, वृद्धावस्था में उन्हीं बच्चों के अधीन होना किसी शानदार बाप को पसन्द आता है क्या? नहीं आता है। लेकिन अधीन होना पड़ता है। क्यों होना पड़ता है? क्योंकि आप उनसे कुछ चाहते हैं, इसीलिए होना पड़ता है। आपने पालन-पोषण किया, तो उसके पीछे ये आशाएँ रखीं अपने भीतर, कि जब वृद्धावस्था आयेगी, शारीरिक असमर्थता सतायेगी, तो जिनको मैं पाल रहा हूँ वे मेरे सहायक होंगे। तो जिनकी सेवा की, उनसे अपने भीतर में कुछ आशा रखी, इसलिए उनके अधीन होना पड़ा। लेकिन मनुष्य ऐसा नहीं बनाया गया। जन्मा था तो दूसरों के अधीन होकर जन्मा था। बहुत प्रकार की सहायता माता-पिता से, परिवार से, प्रकृति से, समाज से, सरकार से, सबसे ले करके वह कुछ करने के लायग हुआ। जब वह कुछ करने के लायक हुआ, तो उसको ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए था कि फिर किसी माता-पिता की गोद में शरण न लेनी पड़े। फिर किसी की पराधीनता स्वीकार न करनी पड़े। ऐसा पुरुषार्थ अभी भी हम कर सकते हैं कि जिससे सदा-सदा के लिए सब प्रकार की पराधीनता मिट जाए।

सन्तजन यही सलाह हम लोगों को देते हैं। तो कौन-सा उपाय है, जिससे जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो जाए, सदा-सदा के लिए पराधीनता मिट जाए, भय और चिनता के भार से हम मुक्त हो जाएँ? क्या करना चाहिए? स्वामीजी महाराज ने कहा कि भाई, शरीर को सौंप दो जगत् के लिए और अपने को सौंप दो परमात्मा के लिए। शरीर को जगत् की सेवा करेंगे और बदले में उससे कुछ चाहेंगे नहीं। संसार अपनी मर्जी से उस शरीर को रखना पसन्द करेगा, तो रखेगा और नहीं पसन्द करेगा, तो अपने लिए मुझको यह शरीर नहीं चाहिए।

यह आरम्भ में थोड़ कठिन लगता है। लेकिन मैं बिल्कुल सच्ची बात आपकी सेवा में निवेदन करती हूँ कि जिन भाई-बहिनों को समाज की सेवा का अवसर मिला, उन्होंने प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग किया। दुःखी लोगों के दुःख में शामिल होने से मनुष्य के हृदय में इतनी शुक्रता

और इतनी करुणा, इतना रस आ जाता है कि उनको अपने शरीर के रहने, न रहने का ध्यान ही नहीं रहता।

एक समाज सेवी सज्जन मुझको मिले थे। कई बार उनसे भेंट हुई थी। 14 वर्ष की उम्र में उनको सूझ गया कि हमारा देश बहुत ही दुःखी है, बहुत ही गरीब लोग हैं, तो मुझे उनकी सेवा में रहना है। जैसे ही उनको सूझा कि मुझे दुखी वर्ग की सेवा में रहना है, तैसे ही अपना सुखवे भूल गए—ऐसा मैं क्यां कहती हूँ? कि उन्होंने

धन कमाने का, विवाह करने का, बाल-बच्चे पैदा करने का सुख सोचा ही नहीं। वे समाज की सेवा में लग ए और काफी बड़ी उम्र में जब वे 60-65 वर्ष के थे, तब उनका दर्शन हुआ था मुझे। मिले थे मुझसे। बातचीत हो रही थी। तो इतने आनन्दित हो करके, हृदय में इतने उत्साहित हो करके ये समाचार सुना रहे थे। वे कहे रहे थे कि बहिन! मैं गरीबों की बस्ती में रहता था और उनके बच्चों को सम्हालता था, उनको पढ़ाता-लिखता था। उनको सफाई सिखाता था, उनको अच्छी-अच्छी बातें सिखाता था और कुछ काम भी उनको सिखाता था। तो कुछ लड़के ऐसे थे जिनको उन्होंने सूत कातना और कपड़ा बुनना सिखाया गरीबों की बस्ती में जाकर। तो सामान भी दिया, समय भी दिया, प्यार भी दिया। उनके घर में रहे, उनके संग हँसला, खेलना, समय बिताना और अपने आदर्श के द्वारा उनके भीतर सोई हुई मानवता को जगाना—यह काम उन्होंने किया। आठ-दस वर्ष उस बस्ती में रहकर कभी काम करके फिर दूसरी बस्ती में चल गए। तो 'दादा-दादा' करके इतना प्यार उस गाँव में बच्चे-बच्चे में था कि याद करके उस महापुरुष की आँखों में प्रेम के अश्रु उमड़ रहे थे। कौन-सी बात वे याद कर रहे थे? कह रहे थे कि एक दिन मैं बैठा था दूसरी बस्ती में और सेवा के कार्य में लगा हुआ था। एक लड़का सात-आठ साल पहले जिसको मैंने टे᳭निंग दी थी वह 12-14 वर्ष का हो गया था। उसने सूत काता, कपड़ा-बुना और कपड़े का एक छोटा-सा थान—दस गज का थान हो सकता है—खूब अच्छा-साह तह करके सिर पर रख करके और एकदम खुशी के मारे नाचाता हुआ आकर दादा से लिपट गया। 'दादा, तुम पहन लेना इसको। तो कपड़ा तो जहाँ है, तहाँ। उस बच्चे के हृदय में इतना प्यार उमड़ रहा है कि इस दादा ने मुझको प्यार दिया था, मुझको काम के लायक बनाया है और इस दादा के हृदय में प्यार उमड़ रहा है कि यह बच्चा काम के लायक हो गया और मुझको देख करके इसके हृदय में इतना प्रेम उमड़ रहा है। जिस समय दाद यह कथा मुझको सुना रहे थे उस समय बच्चा वहाँ नहीं था, न वहाँ कपड़ा था, लेकिन केवल याद करके मनुष्य के हृदय में प्रेम की प्रतिक्रिया में कितना प्रेम उमड़ता है! सेवा करने वाले सेवा-भावी सज्जन को यह वरदान जो मिलता है, उससे उनके जीवन में ऐसी ज्योति जगती है कि उसके आगे त्रिभुवन का वैभव धूल के समान हो जाता है,

अब सोचो, आज हमारे हृदय में ऐसी जड़ता छा गई है कि अपनी कमाई हुई सम्पत्ति अपने लिए, अपने परिवार के लिए खर्च करना मुश्किल हो गया। इस जड़ता को लेकर उसके भार से दबे हुए हो करके संसार-सागर को पार कैसे करोगे भाई? तो भार से दबे हुए पैदा हुए थे, हाथ-पाँव बँधे हुए कैदी बनकर दुनिया में हम आए और अपने ही संकल्पों से, अपनी ही आसक्ति से बँधे हुए कैदी होकर यहाँ से जाएँगे? कैसा लगता है! हार है यह जीवन की।

सन्त महापुरुषों के हृदय में हमारी इस दुर्दशा से बड़ी पीड़ा होती है। और अपने दुःख का

भार जिन्होंने ज्ञान के प्रकाश में मिटा दिया, हरि के आश्रित होकर जो सदा-सदा के लिए आनन्दित हो गए, उन लोगों से देखा नहीं जाता कि मनुष्य अमर जीवन का अधिकारी है, परम स्वाधीनता का अधिकारी है, अलौकिक प्रेम का अधिकारी है, वही मनुष्य धन के लोभ में, जन के मोह में बेचैन होकर जिए और बेचैन होकर मर जाए! यह दुर्दशा सन्त महापुरुषों से सही नहीं जाती। इसलिए उनको जो प्रकाश मिला है, उनको जो ईश्वरीय प्रेम मिला है, उसको वे खुले दिल से हम सबको प्रदान करते रहते हैं।

मुझे इस काम के लिए जब महाराजजी ठोक-पीटकर तैयार कर रहे थे, तो बार-बार यही कहते थे—"देवकीजी! समाज की बड़ी भारी सेवा हो जायेगी, अगर मनुष्य-मनुष्य के भीतर यह विश्वास जग जाए कि वह अपना उद्धार इसी वर्तमान में अपने द्वारा कर सकता है। बहुत बड़ी बात है।" अब क्या-क्या करें? इस दृष्टि से सोचिए, तो एक हिस्सा तो हो गया कि शरीर को समाज की सेवा की सामग्री मान करके उसकी सेवा में लगा दें। बड़ी कठिनाई हो जाती है मनुष्य के लिए कि शारीरिक सुखों और अपनी सुरक्षा को अपने बल पर बचाए रख कर दूर-दूर से सेवा का थोड़ा-थोड़ा काम करना पसन्द करता है। इससे काम नहंी बनता। शरीर से श्रम न करना, शरीर को समाज की धरोहर न मानना, सबकी पीड़ा को अपनी पीड़ा न मानना—इस भूल के कारण सेवा बनती नहीं है। नहीं तो, शरीरधारी होकर संसार में हम लोग रहते हैं और बड़ी भारी महिमा है हम लोगों की कि शरीर के रहते-रहते हम इसके बन्धन से मुक्त हो जाएँगे। बहुत बड़ी बात है।

शरीरधारी होकर इस नाशवान् जगत् में रहते हुए हम देहातीत जीवन से अभिन्न होकर जीवन-मुक्त हो जाएँगे। इतना बड़ा प्रोग्राम है आपका। इसके लिए पुरुषार्थ अपने को करना है। शरीरों के नाश से आसक्ति मिट जाती हो—ऐसी बात नहीं हैं। संसार को नाशवान कहने से संसार से लगाव छूट जाता हो—ऐसी बात नहीं है। कैसे छूटता है? ज्ञान के प्रकाश में, विवेक के प्रकाश में अपने जीवन की घटनाओं का अध्ययन करो। उससे क्या पता चलेगा? उससे पला चलेगा कि बहुत ही अनुकूलताओं की घड़ी में भी मुझे भीतर से सन्तोष नहीं हुआ। मुझे जो चाहिए वह तो अविनाशी जीवन है, वह तो अनन्त परमात्मा का अनन्त मधुर प्रेम है। अनन्त परमात्मा का मधुर प्रेम मुझको चाहिए। वह यह जगत् मुझे दे नहीं सकता। तो अलौकिक जीवन की माँग है जिसको, उसको लौकिक जगत् क्या दे सकेगा? अकेले-अकेले बैठ करके खुद अपने सम्बन्ध में विचार करके निश्चय कर लीजिए कि मुझे जो चाहिए वह संसार से नहीं मिल सकता। बहुत बड़ा काम हो गया।

नई-नई आशाएँ, नई-नई महिमा जगत् की आप के ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकेंगी। कभी-भी मैंने संसार को पसन्द किया, कभी-भी मैंने जगत् की ओर ललचाई हुई दृष्टि से देखने की भूल की, तो उसका एक स्टेम्प ;ैजमउचक्र एक छाप हमारे अहम् में लग ई। यह मानव-जीवन का मनोवैज्ञानिक तथ्य है। मुझे तो इतनी हँसी आती है अपने ऊपर, बड़ी हास्यास्पद स्थिति मालूम होती है। हाय रे, कैसी गरीबी है! देखो, क्या हाल किसने उसे अपना? तो संसार में जहाँ-जहाँ तुम्हारी लोभ भरी दृष्टि पड़ी कि उस व्यक्ति के पास इतना सुख का सामान है, मुझे भी मिल जाता, तो बड़ा अच्छा होता। तो मिलेगा, कि नहीं मिलेगा। वह सब भाग्य में हैं, कि नहीं, विधान से तुम्हारे लिए सोच कर रखा है, कि नहीं—सो तो जाने दो। केवल तुमन पसन्द किया कि यह मुझे मिल जाता, तो बड़ा

अच्छा था। केवल इस पसन्दगी की भूल से, उस दृश्य का ऐसा स्टेम्प अपने पर लगता है कि जगत् का सुख तो मिला ही नहीं। और, जब समाधि के लिए बैठो कि समाधिस्थ होकर आन्तरिक शान्ति का आनन्द लूँ, तो वही-वही दृश्य तुम्हारी आँखों के सामने घूमने लग जाएगा। "अमर आत्मा, सच्चिदानन्द मैं हूँ"—यह भूल जाओगे। यह दुर्दशा होती है। यह बिल्कुल बहुत ही स्थूल, सूक्ष्म शरीर की जो क्रियाएँ हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है, उस स्तर की बात है। केवल अपनी पसन्दगी में आदमी फँस जाता है। तो सोच लो। नहीं मिला, तो नहीं ही मिला और मिल गया, तो उसने थोड़ी और अधिक गरीबी में फँसा दिया। क्यों? क्योंकि आपके भीतर तो अमर जीवन की माँग है, परम प्रेम की प्यास है और बाहर-बाहर की वस्तुओं को इकट्ठी करते चल जाओ, करते चले जाओ, उनसे तुम्हारी तृष्टि होगी ही नहीं। जितना समय निकल गया बाहर की वस्तुओं को इकट्ठा करने में, वह तो हमारे लिए मौत के समान है। क्या उसमें जिन्दगी है? उसको पकड़ने के लिए दौड़ रहे हो, जिसका अस्तित्व ही नहीं है। वह जिन्दगी है, कि मौत है? अब सोच लो, हम लोगों के कदम कहाँ हैं? जीवन में हैं, कि मृत्यु में हैं? सोच लेना। इस बात का फैसला इसी स्पॉट ;ैचवजऋ पर, इसी जगत पर, बैठे-बैठे अभी हो सकता है। यह एक हिस्सा हो गया।

दूसरी बात महाराजजी ने कही कि अपने को समर्पित कर दो परमात्मा के लिए। आप कहेंगे कि हम ऐसा क्यों करे? कोई पूछ सकता है और विशेष करके जिन लोगों के पास कुछ परिस्थितियों की अनुकूलता है वे कहेंगे कि वाह! मेरे पुरुषार्थ से मेरे सामने इतना सुख आया, तो हम उस सुख को भोगें, कि परमात्मा के आगे समर्पित होने जाएँ? हो सकता है, किसी-किसी के ध्यान में ऐसी बात आए। लेकिन जो सजग व्यक्ति हैं, जो अपनी दशा को आप जानते हैं, जो अपना अन्तर्निरीक्षण कर सकते हैं, उनको सजगता रहती है। उन्हें पता चलता है कि यह जो कुछ हमारे सामने दिखाई दे रहा है—यह अभी है, अभी नहीं है, इसका कुछ ठिकाना नहीं। किसी से मुझे सन्तुष्टि मिली नहीं। मुझे तो एक ऐसा आधार जीवन में चाहिए कि जिसको पास करके और कुछ पाना शेष न रहे। ऐसी जरूरत आपने कभी अनुभव की है? कभी पता चलता है इस बात का कि मुझे तो अब ऐसा

आधार चाहिए कि जिसको पा करके फिर और कुछ पाना शेष न रहे? आज अपनी दशा देशो, तो जब जन्में थे तब तो एक पैसा हाथ में लेकर नहीं आये थे। आज सोच करके देखो तो, उस समय की दशा से आज की दशा में बहुत फर्क है। आज अपने पास काफी सामान है, काफी साथी है। किसी के पास कुछ कम, किसी के पास कुछ ज्यादा। इतना सब पाकर के भी आज क्या हम लोग इस स्थिति में हैं कि कह सकें, अब मुझे और कुछ नहीं चाहिए? वस्तुओं के आधार पर तो नहीं कह सकते।

मेरे जान-पहचान के एक साधक थे। उनके गुरु बड़े महापुरुष थे और उनके पास बहुत सम्पत्ति आ गई थी आखिर में। लीलामय की लीला है। कहाँ-कहाँ ले जाकर मुझको वे मेरा चित्र दिखलाना चाहते हैं, सो कौन कहे! तो उस महापुरुष के पास बहुत-सी सम्पत्ति आ गई थी। उनके जो शिष्य थे, वे एक समझदार व्यक्ति थे। वे सज्जन मुझको बताते थे कि देवकीजी! मैं जाता हूँ, साल में एक बार गुरु पूर्णिमा पर। गुरु के दर्शन करने जाता हूँ, प्रणाम करने जाता हूँ। मुझे बड़ा दुःख होता है। क्या दुःख होता है कि जब मैं जाता हूँ, तब हमारे गुरु महाराज कहते हैं कि

राधानाथ! तू आ जा यहाँ पर। जल्दी आ जा। यह सब बर्बाद होने जा रहा है। न जाने कैसे-कैसे अविवेकी लोगों के हाथ में सम्पत्ति पड़ जायेगी। मैं चाहता हूँ कि मेरे जीते-जी इसको कोई समझदार आदमी सम्हाल ले, तो मैं इसकी ओर से निश्चिन्त हो करके शरीर त्याग करूँ। तो वे भाग कर चले आते। कहते कि मैं तो हाथ जोड़ करके, प्रणाम करके चला आता हूँ। क्यों बाबूजी, आप ऐसा क्यों कहते हैं? तो कहें कि उनकी तकलीफ देख करके मुझको अपनी तकलीफ सूझती है। उनको इतनी तकलीफ हो रही है इस सम्पत्ति के कारण से, तो मैं वहाँ जाकर इसको सम्हालने लगूँ, तो कल मेरी भी वही दशा होगी। वे भागकर चले आते। तो मैं क्या बताऊँ! गृहस्थ लोग जो धन की आसक्ति लेकर बैठे हैं, उनकी तो दुर्दशा की कोई सीमा ही नहीं है। उनकी बात मैं क्या बताऊ?

भाई! जो अनुभवी सन्तजन हैं, वे हम लोगों को हल्का करने के लिए, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करने के लिए, अनन्त परमात्मा के प्रेम से भरपूर करने के लिए, अपनी जानी हुई, अनुभव की हुई सच्ची बातों को हमारे सामने रखते हैं।

महाराजजी ने कहा था कि शरीर को सौंप दो जगत् की सेवा में और अपने को समर्पित कर दो परमात्मा की शरण में। उनके शरणागत हो जाओ, उनके आश्रित हो जाओ। दुःख की घड़ी में घबराहट से जब व्यक्ति परेशानी होता है, तब तो उसको थोड़ा प्रेक्टीकल ;च्तंबजपबंसक्ष लगता है कि भगवत्-समर्पित होकर छोड़ दो। मैंने ऐसे कई दुखीजनों को देता है, जिन्होंने दुःख की विशालता और अपनी असमर्थता देखकर अपने लौकिक-पारलौकिक सब काम को भगवत्-समर्पित करके छोड़ दिया। मैंने दो-तीन गृहस्थ लोगां को देखा है जिनकी सेवा में खड़े होने का अवसर मुझको मिला था। मैंने देखा कि लौकिक-पारलौकिक सब समस्याओं को भगवान के भरोसे छोड़ करके वे शान्त हो गए। कहा कि अब मुझसे कुछ होने का है नहीं। न मैं परिवार और बच्चों के लिए कुछ कर सकती हूँ और न मैं अपने कल्याण के लिए कोई पुरुषार्थ कर सकती हूँ। पहाड़ के सामने विपत्ति उनके सामने आ गई थी और उनको भगवत्-समर्पित करके छोड़ा। तो उनके शरीर का नाश हुआ पीछे और उनके भीतर प्रभु की कृपा का दर्शन हुआ पहले। ऐसी घटनाएँ मैंने कई बार देखी हैं। जीवन की सच्ची घटनाओं के आधार पर भाई-बहिनों से मैं निवेदन करती हूँ कि जब दुःख की वृद्धि हो जाती है, सामर्थ्य घट जाती है। ऐसे काल में प्रभु की महिमा का आश्रय पकड़ना व्यक्ति के लिए बहुत ही शान्तिदायक होता है। भीतर से भी आराम मिल जाता है, बाहर से भी परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। बहुत कुछ हो जाता है।

अब हम लोगों की दशा क्याहै? साधक बने हैं, सत्संगी बने हैं, हरि-आश्रय का पथ—प्रभु की शरणागति की साधना को पसन्द किया है। अपनी इन सारी बातों के होते हुए भी अपने भीतर न जाने किस प्रकार की जड़ता बैठी है कि हमारे और 'उनके' बीच की दूरी खत्म ही नहीं हुई और भले आदमियों की सूची में नाम लिखवा करके आराम से खा-पी कर सो-सो कर दिन काट रहे हैं। अपनी दशा तो मुझे ऐसी दिखाई देती है। आपको कैसी दिखाई देती है, आप जानिए।

इसको मैं बार-बार अपने सामने रखती हूँ और सोचती हूँ कि थोड़ी-सी अनुकूलताओं ने मुझको जड़ बना दिया। रहन-सहन की सुविधा हो गई, समाज में थोड़ा सम्मान मिल गया। तो प्रभु की इस कृपालुता के आधार पर उनकी महिमा और गहरी हो करके हृदय में बैठनी चाहिए थी। अपने

बल पर जो हम नहीं कर सकते थे, प्रभु की शरणागति स्वीकार करने पर उन्होंने अपनी कृपा से इतना सब सुधार दिया। चित्त में थोड़ी शान्ति आ गई, जीवन में थोड़ी स्थिरता आ गई। तो इस मामूली-सी उन्नति पर हम बिक गए, उस महामहिम की महिमा हमारे में हल्की पड़ गई और वर्तमान की अनुकूलता और समाज का दिया हुआ सम्मान—इसका पलड़ा भारी हो गया। तो परिणाम क्या हुआ? कि हमारे और परमात्मा के बीच में दूरी बनी हुई है और फिर भी हम आराम से खा-पी करके सो रहे हैं। जिन दिनों पाँव के नीचे धरती नहीं थी, जो बड़ा घबराहट के दिन थे, उन दिनों प्रभु की शरणागति के भाव में बड़ी सजीवता थी। "हे प्रभुरु मेरे सिवाय मेरा और कोई नहीं है"—उस दिन यह बात बहुत सच्ची लगती थी और उन्होंने कृपा करके अनेक रूपों में मदद देना शुरू कर दिया, मदद भेजना शुरू कर दिया। यदि अनेक रूपों में उन्हीं प्रभु का दर्शन करते, तो भाव गहरा होता चला जाता।

अब जब बाहर की घटनाओं का प्रभव मुझ पर होता है, तो मैं खूब अपने को पाठ पढ़ाती हूँ और अपने साथ की रहने वाली साधिकाओं और साधकों को याद दिलाती हूँ। कोई सम्मान देने आया, तो मैं सावधानी करती हूँ कि अरे, प्रभु की प्यास अभी भी धीमी है! सम्मान की भूख अभी-भी मुझ में शेष है। मेरे प्यारे, मेरे उस संकल्प की पूर्ति के लिए विविध रूप बनाकर सम्मान देने आए हैं, तो मैं

सावधान रहूँ। जगत् की ओर से जो सम्मान देने के लिए आया है, मैं उसके अधीन न हो जाऊँ। तो सावधान रहो भाई। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी पीछे चलने वालों का रंग तुम पर चढ़ जाए, तो कठिन हो जाएगा। तब तो नौका डूब जाएगी। डूब जाएगी, कि नहीं डूब जाएगी? इसलिए सावधान रहो। और जब मेरे प्यारे ने देखा कि हमने तो इसको थोड़ा सहारा दिया था इस बात का कि लोभ-रहित होना है, मोह-रहित होना है, क्रोध रहित होना है, सुख-सुविधा, सम्मान को त्यागना है। तो यह एक चढ़ाई का अवसर था, जिसमें अपने साथ थोड़ी कमर कस के बहादुरी करने की बात थी, तो जैसे सन्तजन कहते हैं कि थोड़ा धूप में चलते-चलते साधक कष्ट अनुभव करता है तो परमात्मा जो हैं अपने प्यारे जो हैं, वे वृक्ष की ठण्डी छाया देकर थोड़ा सबको विश्राम देते हैं। इसी तरह से प्यारे प्रभु ने अपनी शरण में आये हुए साधक को विश्राम देने के लिए थोड़ी-सी अनुकूलता दे दी। अब उस अनुकूलता को लेकर बैठ जाओ, तो उस प्यारे से दूर हो जाओगे, कि निकट होंगे? दूर होगे। तो सावधान रहो भाई। किसी प्रकार की अनुकूलता आ गई, तो भेजन वाले को याद करो। अनुकूलता पर ध्यान मत दो।

लेकिन जन्म-जन्म का प्यासा आदमी—क्या बताऊँ मैं बड़ी लज्जाजनक स्थिति होती है अपनी, जब भीतर-भीतर दिखाई देती हैं वासनाएँ। जब प्रभु की कृपा से आई हुई अनुकूलता को पकड़ कर बैठ जाती, तो वे ही मेरे प्यारे थोड़ी प्रतिकूलता का वेष बनाते हैं, थोड़ी असुविधा सामने आती है, थोड़ा अनादर सामने आता है। तो मैं सोचती हूँ कि देखें, वह जो लीला हो रही है, उसकी प्रतिक्रिया अपने पर कैसी होती है! अनादर थोड़ा भीतर-भीतर कटु लगता है, तो चेतना आती है कि अच्छा, सम्मान का सुख तुमने अपने लिए पसन्द किया, तो अनादर का कड़वा घूँट भी आनन्द से पीओ। क्या होगा इससे? "महारोग" का नाश होगा। यह प्रतिकूलता भी उस प्यारे की कृपा का प्रसाद है। परम कृपालु ने मुझको डूबने से बचाने के लिए यह प्रतिकूलता का वेष बनाया है। अगर पहचान में आ गई बात, तो

कितना आनन्द छा जाता है। उनकी कृपालुता के दर्शन से हृदय निर्मल हो जाता है।

प्रवचन 14

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनो और भाईयो!

जो वर्तमान का चित्र है हमारा, उसमें क्या है? सत्य की जिज्ञासा भी है और दृश्यों के प्रति आकर्षण भी है। परम प्रेम की प्यास भी है और शरीर तथा संसार के संयोग-जनित सुख की आसक्ति भी है। परम शान्ति की आवश्यकता भी हम अनुभव करते हैं और कामनाओं की पूर्ति के सुख का प्रलोभन भी है।

ऐसा लगता है कि जब तक कामनाओं की पूर्ति के सुख का प्रलोभन रहेगा भीतर, तब तक परम शान्ति मिलेगी नहीं। तो अब अपने लिए विचारणीय क्या है? विचारणीय बात यह है कि कामनाओं की पूर्ति के सुख का लालच अपने भीतर रखें, कि उसको निकाल करके अपने ही में मौलिक रूप में विद्यमान शान्ति-तत्त्व का अनुभव करें? अगर मैं यह प्रश्न रखूँ अपने लोगों के सामने कि भाई, दोनों में से कौन ग्रहण करने के लायक है? तो कामना-पूर्ति के सुख का लालच रखें? सुख रखें—ऐसा तो कोई कह नहीं सकता, क्योंकि सुख को बनाए रखने में मनुष्य सर्वथा पराधीन है।

अब दूसरी बात सामने आती है कि कामनाओं की पूर्ति के सुख को तो झक मारकर छोड़ना ही पड़ता है। यह तो प्रतिदिन की बात है, हर दिन का अनुभव है। संकल्प उठते हैं और पूरे नहीं होते हैं, तो भीतर से दुःखी होकर के, परेशान होकर के, विवश हो करके छोड़ना पड़ता है। केवल सुख के लालच को ही आदमी सम्हाल कर भीतर-भीतर रखे रहता है। अब सोचने की बात यह है कि शान्ति की आवश्यकता करना और संकल्प-पूर्ति के सुख के लालच को भी मन में बनाए रखना—यह तो दुविधा की बात हो गई। अतः साधक मात्र के लिए कल्याण की बात यह है कि वह संकल्प-पूर्ति के लालच को छोड़ दे और शान्ति-तत्त्व की आवश्यकता अनुभव करे। क्योंकि एक बार किसी की कामना-पूर्ति का सुख ले लें, तो पुनः उसी सुख को दुहराने के लिए नई-नई कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि मनुष्य का मन जो हैं वह सुख के सिद्धान्त

;च्समेंनतम च्तपदबपचसमऋ पर काम करता है। इसका मतलब क्या है? कि जिन बातों से सुख मिला, उन्हीं बातों की बारम्बार पुनरावृत्ति के लिए नए-नए संकल्प उठते रहते हैं। तो इच्छाओं की उत्पत्ति का अनुभव भी अपने को है। इच्छाओं की पूर्ति के परिणाम को भी हम जानते हैं और अपूर्ति के दुःख को भी जानते हैं। तो पचास प्रतिशत तो अपनी जानी हुई बात हो गई।

अब दूसरा पक्ष देखिए। कितन समय हमने निकाला इस बात में कि इच्छाओं की पूर्ति होती रहे और उसका सुख हम लेते रहें? यह बात बनी नहीं। सत्संग में आकर सन्त की सलाह सुनकर, विचार का प्रकाश लेकर, ईश्वर का प्रकाश लेकर हम कुछ ऐसा अलौकिक जीवन पाना चाहते हैं कि जिसका अनुभव शरीर और संसार के संयोग में सम्भव कभी भी नहीं है। मानव-जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों को सुना और सत्संग के प्रकाश में अपना वर्तमान चित्र देखा। सन्तों के दिए हुए आश्वासन से, ग्रन्थों के दिए हुए मार्गदर्शन से हमने अपने लिए सोचा कि अब तो शान्ति के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए, अब तो स्वाधीनता के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। इस

प्रकार हम सभी भाई-बहिन अपने ही अनुभव के आधार पर शरीर और संसार के संयोग-जनित परिणामों को देखकर, उससे आगे बढ़ने के लिए तैयार हो गए हैं। तो अब कामना-पूर्ति के सुख का लालच छोड़ना होगा। और अगर उसे छोड़ने को राजी नहीं हैं, तो परम शान्ति की माँग कभी पूरी नहीं होंगी। एक समय में दोनों में से एक ही रहेगा।

महाराजजी ने इस विषय का खूब विश्लेषण किया। जगह-जगह उन्होंने बताया कि भाई देखो, संसार जिसको कहते हैं, संसृति जिसका नाम है, दृश्य जिसका नाम है, उसमें ऐसा कुछ ठोस है ही नहीं कि तुम उसको पकड़ कर अपने पास रख लो। शारीरिक स्वास्थ्य, युवावस्था बहुत पसन्द आती हैं। हम लोगों ने उस सुख को भी देखा और उसके बीच इनके जाने की बेबसी को भी देखा है। तो इन बातों की जानकारी का प्रभाव अपने पर होना चाहिए। इस दृश्य-जगत् में वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति आदि में कहीं पर भी ठहराव नहीं है। कहीं भी इसमें स्थिरता नहीं है। बिल्कुल शुऋ वैज्ञानिक स्तर पर संसार और दृश्यों के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कहा गया कि हम लोगों को भ्रम-ही-भ्रम है। हम कहते हैं कि यह दृश्य मैंने देखा है, मैं इस व्यक्ति को पहचानता हूँ, इस घटना को मैं जानता हूँ, इन परिस्थितियों से मैं परिचित हूँ—ऐसा कहना भी हम लोगों का भ्रम ही है। क्यों? क्योंकि जब परिचय प्राप्त किया था तब में और आज में, जब आप कहे रहे हैं कि मैं परिचित हूँ, बहुत अनत हो गया। इस बीच में परिस्थितियाँ भी बदल गई, आपके देखने का यन्त्र भी बदल गया, आपका बैकग्राउण्ड ;पृष्ठभूमिऋ भी बदल गई—सब कुछ बदल गया। कुछ भी वैसा-का-वैस नहीं रहा। कहीं कोई दिकाव नहीं है, कहीं कोई ठहराव नहीं है। यह कोरा भ्रम है। जो हम लोग साचेते हैं कि संसार के कुछ भागों को मैंने पकड़ के अपने पास रख लिया है और उसके सहारे मेरा निर्वाह हो जाएगा—यह कोरा भ्रम है।

ऐसा भी कहा महाराज जी ने कि भैया देखो, इसको पकड़ करके तुम अपने पास तो रख ही नहीं सकते। इसमें ठोस कुछ है ही नहीं। और जो दिखता भी है, रखने जैसा लगता भी है, उसका भी विश्लेषण करो, तो संसार का निकटतम हिस्सा, जिसको हम अपने पास समझते हैं वह है शरीर। शरीर को भी अगर तुम खोजो, इसका अध्ययन करो, इसका विश्लेषण करो, तो इसमें भी तुमको वह बनने-बिगड़ने-बदलने वाला संसार ही मिलेगा। जिसकी तुम्हें माँग है वह नहीं मिलेगा। जैसे—रक्त-परीक्षण कराइए, तो उसके परिणाम में कोई डाॅक्टर लिख देगा कि लोहा कम हो गया, कोई लिख देगा कि शुगर की मात्रा बढ़ गई। शरीर के किसी अंश का विश्लेषण आप करेंगे, तो उसके रिजल्ट में कुछ भौतिक तत्त्व ही मिलेंगे। इसमें ऐसा कुछ नहीं मिलेगा, जो तुम्हारा होकर रह सके, जिसको कि तुम ग्रहण कर सको, जोकि तुम्हारे पास पहुँच सके—ऐसा कुछ नहीं मिलेगा। इस दशा में इस बात की जानकारी का हम लोगों ने लाभ नहीं उठाया कि दृश्य-जगत् में स्थिरता नहीं है, ठहराव नहीं है, इससे मेरी जातीय एकता नहीं है, इससे मेरा नित्य-सम्बन्ध है नहीं, हो सकता नहीं, आज तक कभी हुआ नहीं—इन बातों की जानकारी का प्रभाव अपने पर यदि हुआ नहीं, तो अपनी जो माँग है वह पूरी नहीं हो सकती।

अपने लिए आज इस वर्तमान क्षण में ग्रहण करने के लिए क्या मिला? तो भाई, दो ही बातें हैं—अगर चिर-शान्ति चाहिए, तो कामनाओं की पूर्ति के सुख के प्रलोभन का त्याग कर दो। वस्तुओं को अपने भीतर भर नहीं सकते, प्रलोभन को रख लेते हो। वस्तुओं का लोभ रख लेते हैं।

शरीर को अपने नियन्त्रण में चला नहीं सकते, शरीर का मोह अपने में रख लेते हैं। तो शरी बन्धन नहीं, शरीर का मोह बन्धन है। वस्तु हमारे भीतर भरी हुई नहीं है, वस्तु का लोभ भरा है। अतः वस्तु को उठा फेंकने से काम नहीं चलेगा, वस्तु का लोभ भीतर जो भरा है, उसे निकालना है।

प्रातः काल जो चर्चा चल रही थी और कल सन्ध्या समय जो चर्चा चल रही थी, उसके सन्दर्भ में ये बातें आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ। हम सोचते हैं कि मन भगवान में लगता नहीं है, भजन बनता नहीं है, ध्यान टिकता नहीं है। तो हमारे भीतर जो भर नहीं सकता उसका लोभ, उसका मोह, उसकी आवश्यकता अपने भीतर रख ली, तो जो सचमुच सदा-सदा से अपना है, जो अपने में ही विद्यमान है, जिससे मेरी सत्ता है, उसकी अभिव्यक्ति का अपने को कोई अनुभव नहीं हुआ—इतनी सी बात है। और तो कुछ है नहीं।

इतने दिन जप किया, कि नहीं, इतने दिन तप किया, कि नहीं, इतने दिन तीर्थ-यात्रा की, कि नहीं, विशेष प्रकार का रहन-सहन अपनाया, कि नहीं—इन सब बातों को तो व्यक्ति की अपनी व्यक्गित रुचि, परिस्थिति पर छोड़ दिया गया है। जिसकी जैसी रुचि हो, जिसकी जैसी परिस्थिति हो, वह वैसा करे। कभी-कभी किसी-किसी साधक का पूर्व जन्म का संस्कार भी रहता है, तो क्रियात्मक साधनों को किए बिना उससे रहा नहीं जाता। यह तो व्यक्तिगत बात हुई लेकिन सर्वमान्य सत्य क्या है? वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य क्या है?

वैज्ञानिक सत्य यह है कि जो अपने में नहीं है, जो अपना नहीं है, उसकी कामना अपने में रखोगे, तो जो अपने में है,उसके होनेपन का आनन्द नहीं मिलेाग। सूरदासजी कहते हैं कि—

'काके द्वार जाई सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाऊँ' अर्थात् एक भगवान् को छोड़कर और कोई आश्रय नहीं है, तो और किसके दरवाजे जाकर सिर झुकाऊँ? "पर" के हाथ अपने को कहाँ बेचूँ! सिवाय परमात्मा के, बाकी और जो कुछ हम लोगों को अपने से भिन्न दिखाई देता है, वह सब जब तक दिखाई देता है "पर" ही है। जब नहीं दिखेगा, तो "पर" रहेगा ही नहीं। एक ही रह जाएगा, "स्व" ही रह जाएगा। सारी सृष्टि उस "स्व" में ही समा जाएगी। लेकिन जब तक हमें एक से भिन्न अलग दिखाई देता है, यह सब "पर"—ही—"पर" है। अतः अपनी दशा को अपने सामने रखकर देखो कि साधक होते हुए भी, सन्त वाणी में श्रद्धा करते हुए भी, ग्रन्थ के वाक्यों को पसन्द करते हुए भी आज हम लोग कहाँ बिके हैं? जो हमारा है, उसके हाथ अपने को बेच दिया होता, तो सब समस्याएँ हल हो गई होतीं।

मीराजी कहती हैं "जन्म जन्म की दासी मीरा"। वह और कहीं नहीं जाएगी और किसी का अस्तित्व उनके लिए है ही नहीं। और किसी का अस्तित्व उनके लिए नहीं है और आज की नहीं, वे कहती हैं—"मेरी उनकी प्रीति पुरानी है, जन्म-जन्म की दासी मीरा।" स्वामीजी महाराज एक भजन सुनाते थे हम लोगों को—"हो गया गुलाम तेरा बेदाम का।" तो अगर बेदाम हम उसके हाथ बिक गए होते, तो सारा झंझट ही खत्म हो जाता। लेकिन आज थोड़ी देर के लिए शान्त होकर, अकेले होकर, दरवाजा बन्द करके अपनी जगह बैठ के देखो तो, कि हम कहाँ-कहाँ बिके हैं? कहीं सन्तान के हाथ बिक गए हैं, कहीं बैंक एकाउन्ट के हाथ बिक गए हैं, कही समाज के दिए हुए पद के हाथ बिक गए हैं कहीं प्राप्त की हुई योग्यता के हाथ बिक गए हैं। तो कहाँ-कहाँ अपने को बेच करके बैठे हैं! और सोचते हैं कि हाय, हमारा मन

एकाग्र क्यों नहीं होता! यह बड़ा ही जोरदार प्रश्न है कि हम सब भाई-बहनों को इस विषय पर विचार कर लेना चाहिए कि कामना-पूर्ति के सुख के लालच को छोड़े बिना शान्ति की अभिव्यक्ति होती ही नहीं है। और शान्ति नहीं मिली अपने को, तो शान्ति के पार की बातें जो हैं, वे तो कभी सम्भव ही नहीं है। यह पहला कदम है।

अकेले-अकेले बैठ करके आज रात्रि के भोजन के बाद सब कार्यक्रम खत्म हो जाने के बाद जब आप सोने के लिए बिल्कुल शान्त होकर अपनी जगह पर जाएँगे तो एक बार अपने से पूछियेगा कि ग्रन्थों का अध्ययन ही करते रहोगे, कि दौड़-दौड़ करके यात्रा की कठिनाइयों को सहन करके तीर्थों में ही जाते रहोगे, कि पढ़ते ही रहोगे, कि सुनते ही रहोगे, कि कामनापूर्ति के सुख का लालच छोड़ोंगे? एक ओर ये सारे क्रियाकलाप और एक ओर यह सत्य। अगर कामनापूर्ति के सुख को छोड़ने के लिए हम तैयार हो गए—सुख को नहीं, सुख के लालच को—सुख तो स्थूल है, लालच सुख से भी सूक्ष्म है। तो यदि हम उसको छोड़ने के लिए तैयार हैं, तो सब बातें सफल हो जाएँगी।

अब इसके बाद आशाजनक बात बताऊँ आपको। अपने सम्बन्ध में मैंने स्वामीजी को बताया कि कामनाओं से रहित एक क्षण का जीवन भी मेरे अनुभव में नहीं है। जिसका अर्थ यह है कि कामनाएँ जन्मजात हैं, फिर उनका नाश कैसे सम्भव है? दूसरा पक्ष यह भी है कि कामनाओं से प्रेरित होकर ही मनुष्य क्रियाशील होता है, सब प्रकार का उद्यम करता है, रहन-सहन की सुविधाओं के लिए अनेकों आविष्कार होते हैं। भला कामनाओं के बिना मनुष्य का व्यवहार-जगत् कैसा होगा? जब यह सब प्राकृतिक बात है, तो इसको मिटाने की सामर्थ्य अपने पास कहाँ से आएगी? जब यह खत्म ही नहीं होता है, तो परम शान्ति, अमर जीवन और परम प्रेम का रस—यह तो कहने-सुनने के लिए रह जाएगा, मिलेगा तो कभी नहीं।

इस बार उन्होंने एक बहुत ही अच्छी बात बताई। बहुत ही युक्ति-युक्त और विज्ञान को पार करने वाली थी। उन्होंने कहा कि देखो, जो बात पैदा होती है, उसका नाश होता है। ठीक है न? जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश होगा। और जो उत्पत्ति-विनाश युक्त है, उससे तुम्हारा नित्य सम्बन्ध नहीं है। कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए उनका नाश अश्वयम्भावी है। कामना किसे कहते हैं? जो तुम्हें "पर" की ओर आकर्षित करें। जो "स्व" की ओर आकर्षित करे, उसको कामना नहीं कहते। परम शान्ति की माँग, परम प्रेम की माँग, अनन्त आनन्द की माँग, अमरत्व की, स्वाधीनता की माँग ये "स्व" की ओर खींचने वाली बातें हैं और ऐसा भोजन मिले, ऐसा वस्त्र मिले, ऐसा आवास मिले, ऐसी प्रसिद्धि मिले, ऐसा पद मिले, ऐसा अधिकार मिले—ये बातें जब पैदा होती हैं भीतर, तो हमारी वृत्ति जो है वह "स्व" की ओर से हटकर "पर" की ओर चली जाती है। "पर" की ओर जाएगी तो पराधीन बनायेगी। पराधीनता के बिना कभी किसी सुख का सम्पादन होता ही नहीं है।

कामनाओं की उत्पत्ति मात्र से व्यक्ति अपने स्वाभाविक सन्तुलन से हट जाता है अर्थात् उसका ;म्ुनपसपइतनउ क्पेजतनइऋ हो जाता है। अपनी स्वाभाविक शान्ति, जो उसका स्वरूप है, उससे वह हट जाताहै। जिसकी उत्पत्ति मात्र से हम "स्व" की ओर से विमुख होकर "पर" की ओर आकर्षित हो जाते हैं, उसका नाम है 'कामना'। वह मौलिक नहीं, अपितु भूल का परिणाम है। इसलिए ज्ञान के प्रकाश में उससे मिलने वाले सुख का लालच छोड़ दो, तो उसकी उत्पत्ति बन्द हो

जाएगी। जो मिटने वाला है, वह मिट जाएगा। और मिटने वाला मिट जाएगा, तो रहने वाला प्रकट हो जाएगा। कामनाओं और कामनापूर्ति के सुख के प्रलोभ्न को यदि हम छोड़ देंगे, तो परम शान्ति की अभिव्यक्ति के लिए फिर नया पुरुषार्थ नहीं करना पड़ेगा। कितनी अच्छी बात हो गई! जो मुझको चाहिए, जो मुझमें है, जो अविनाशी है, वह किसी भी काल में, हमारे भूतकाल में भी नाश नहीं होता। न ज्ञान का नाश होता है, न प्रेम का नाश होता है, न शान्ति का नाश होता है। ये अलौकिक तत्त्व हैं। तो इनकी सत्ता जो है, वह इस परम सत्ता पर आधारित होने के कारण ये कभी मिटते नहीं, ये रहते ही हैं। तो कितना भी बल के अभिमान में आकर, क्रोध के आवेश में, कोई खुद जले और दूसरों को जलाए। ऐसे समय में भी उसके भीतर, उसके अहम् रूप अणु में अलौकिक तत्त्व के रूप में वह शान्ति अव्यक्त रूप में विद्यमान है। उसका नाश नहीं होता। दूसरों में हलचल मचाने वाला और दूसरों के लिए अशान्त वायुमण्डल पैदा करने वाला व्यक्ति भी कुछ देर के बाद खुद अपने लिए शान्ति की आवश्यकता अनुभव करता है, क्योंकि वह मिटती नहीं है, मिटने वाली चीज नहीं है। वह हमेशा के लिए रहने वाली चीज है।

इसलिए सत्संगी होने के नाते, सत्संग के प्रकाश में एक बार जब हम लोगों ने इस बात को स्वीकार किया कि शान्ति की माँग मानवमात्र की माँग है। और सच पूछिए तो जब इस जीवन में शान्ति की अभिव्यक्ति नहीं हुई, तब तक हम लोगों ने जीवन का तो स्वाद ही नहीं जाना। यह दौड़-धूप जो चल रही है, जिसमें कभी सुख मालूम होता है, कभी दुःख मालूम होता है—यह सब कोरा भ्रमजाल ही है। सब तमाशा प्रतीत होने लग जाएगा। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिस पर गौरव किया जा सके।

स्वामी जी महाराज ने बताया कि भौतिक विकास, शुक्र भौतिक विकास की दृष्टि से विचार करो, तो भी तुमको इस बात को गौरव होना चाहिए कि इस जीवन में जो भौतिक तत्त्व हैं, वे जगत् के काम आ जाएँ और मुझे अपने लिए न शरीर की जरूरत रहे और न संसार की जरूरत रहे। सारी पराधीनता मेरी मिट सकती है। मैं परम स्वाधीन हूँ। मैंने बहुत-सी पराधीनताओं को ओढ़ लिया है, पहन लिया है। यह गौरव की बात है, या लज्जा की बात है?

अगर गौरव की बात है, तो यह है कि परम शान्ति मेरा सहज स्वरूप है। अगर मनुष्य को अपने मनुष्य होने का गौरव हो, तो इस बात पर हो कि संसार मुझे नहीं चाहिए। "पर" की आवश्यकता मुझे बिल्कुल नहीं है। पराश्रय, पराधीनता से मुक्त होना मनुष्य के जीवन के लिए गौरव की बात है। सृष्टि के मालिक जो सब कुछ करते हैं, सब कुछ कर सकते हैं, सब कुछ सबको देते हैं, उनके हम प्रेमी हैं, उनको हम प्रिय हैं, इस बात का गौरव होना चाहिए।

महाराजजी ने मुझको बताया कि देखो, यह जो संकल्पों का स्वरूप है वह कभी पूरा हो ही नहीं सकता, जो पूरा होकर के भी अधूरे के सम्मान है, क्योंकि एक संकल्प की पूर्ति अनेकों संकल्पों को जन्म देती है—तो ऐसा जो तत्त्व है वह मौलिक नहीं हो सकता। ऐसा जो तत्त्व है, वह हमारी भूल का परिणाम है और उसका नाश करना हमारा पुरुषार्थ है। संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है, लेकिन संकल्प की निवृत्ति सम्भव है। क्यों? क्योंकि संकल्प की निवृत्ति में शान्ति की अभिव्यक्ति और शान्ति की अभिव्यक्ति में विचार का उदय होता है।

हम सब लोग जो यहाँ बैठें हैं, शान्ति और अमरत्व, स्वाधीनता और परम-प्रेम की अभिलाषा

लेकर बैठे हैं। जो भी कुछ विवेचन हम कर रहे हैं, उसके आधार पर अपना अलग कदम देखना है। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि अलौकिक जीवन के अनुभव का आरम्भ होगा शान्ति की अभिव्यक्ति में। और शान्ति के लिए कामना-पूर्ति के लालच को छोड़ना पड़ेगा। तो छोड़ना जरूरी है—इस बात को हम लोगों ने स्वीकार कर लिया। लेकिन अगला कदम जब मैं कहती हूँ, तो इसका मलतब है कि कदम उठाना है। आपकी दुर्बलताओं को मैंने अपने में देखा है और उनके साथ संघर्ष करके भी देखा है, उनको मिटाने के लिए अनेकों प्रकार के प्रश्न स्वामीजी महाराज से करके देखा हे। मैं इस दुर्बलता को ऐसा नहीं मानती हूँ कि नहीं मिटेगी। इसलिए इसको स्वीकार करने में कोई लाज-शर्म की बात नहीं है और अगर है भी तो छिपाने से क्या फायदा?

अब इसकावे मिटाएँगे कैसे? तो मिटाने के दो तरीके हैं। जब मैंने सन्त के मुख से सुना कि अविनाशी जीवन होता है, तो मैंने कहा महाराज जी! होता है तो कैसे मिलता है, किसको मिलता है? महाराजजी ने बहुत ही मुक्त कण्ठ से कह दिया कि सबको मिलता है। तो थोड़ा धीरज हुआ। मैंने कहा कि सबको मिलता है, तो मेरा भी नम्बर आ सकता है। महाराजजी ने कहा कि जो आवश्यकता अनुभव करता है, उसको मिलता है। इस आधार पर मैं यह कह रही हूँ कि समचुच जो हमारा अहम् रूपी अणु है वह एक यूनिट है, एक इकाई है, उसके भीतर वह सब कुछ है, जो हम लोगों को आवश्यकता के रूप में आज अनुभव हो रहा है। उसके भीतर सब कुछ है।

एक व्याख्यान में महाराजजी ने कहा कि भैया, अगर तुम शरीर की व्याख्या करोगे, विश्लेषण करोगे, तो उसमें संसार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलेगा और अगर तुम अपनी खोज करोगे, तो उसमें परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा। दोनों तरह से कहा कि अगर अपनी खोज करोगे, तो अपने को परमात्मा में पाओगे। और अपना विश्लेषण करोगे, तो अपने में परमात्मा को पाओगे। उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यह तो बहुत अच्छी बात है हम लोगों के लिए। अपनी खोज करोगे, तो अपने को परमात्मा में पाओगे। और कहीं नहीं। और अपना विश्लेषण करोगे, "मैं" इसका विश्लेषण करोगे, तो इसमें परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाओगे। इस बात को मान लेना—जान लेने की बात तो थोड़े दिन बाद आएगी। लेकिन जाने हुए सन्तों ने, अनुभवजीजनों ने यह वचन हम लोगों को सुनाया। इसको मानना अपने लिए बहुत ही हितकारी है।

कुछ दुर्बलताएँ हैं जो हम लोगों ने अपने भीतर पाल रखी हैं। उन दुर्बलाताओं को मिटाने का पूरा पुरुषार्थ अपने को करना चाहिए आज से, अभी से। फिर जहाँ ऐसा लगे कि साहस नहीं हो रहा है, कैसे छोड़ें? तो ऐसे क्षणों में विश्वासीजन उस सर्व-समर्थ को ही पुकारते हैं। जैसे काँटों में फँसा हुआ बच्चा अपने को निकालने में असमर्थ पाकर चिल्लाना शुरू करता है, तो उसका रोना करुणामयी माँ से सहन नहीं होता है। बच्चा यह नहीं कहता कि माँ आओ-ऐसा कहने के लिए तो उसे होश ही नहीं है। वह केवल चीख रहा है, चिल्ला रहा है। बिना बुलाये माँ दौड़ कर जाती है, काँटों में हाथ डालती है, और फँसे हुए बालक को निकालती है। देह के सम्बन्ध में मानी हुई माँ में वात्सल्य का जो बल है, उससे कहीं अधिक बल उन करुणा-सागर, जगत्-पिता और जगत्-जननी में है। साधक की असमर्थता की वेदना को वे सर्व-समर्थ सह नहीं सकते। और तत्काल उबार लेते हैं।

प्रवचन 15

पूज्य सन्त महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

कल संध्या समय की बैठक में सबसे पहले करने योग्य पुरुषार्थ हम लोगों को यह बताया गया कि हमें अपने जीवन में से कामना-पूर्ति के सुख का लालच छोड़ देना चाहिए। यह सबसे पहली बात है। कामनाओं के बन्धन में बँधा हुआ व्यक्ति न समाज के काम आता है, न अपने काम आता है और न परमात्मा के प्रेम का पात्र बन सकता है। तीनों ही दृष्टियों से जीवन में घोर असफलता ही असफलता है। अतः अपने जीवन को सफल, सार्थक बनाने के लिए हम सभी भाई-बहनों के लिए आवश्यक बात यह है कि हम अपनी ओर देखना प्रारम्भ करें।

जब किसी प्रकार से हमारे भीतर शरीर तथा संसार के संयोग-जनित सुख भोगने की कामना नहीं रहेगी अथवा भोगे हुए सुखों की वासनाएँ नहीं रहेंगी, तो उसके बाद अपना जीवन फ्री ;थ्तममत्रु होगा, इतना हल्का होगा, इतना निश्चिन्त होगा, कि हम ठीक प्रकार से शरीर की, परिवार की, समाज एवं वृहत् जन-समूह की सेवा के योग्य बनेंगे। जो कुछ भी अपने लिए चाहते हैं, उनके द्वारा सेवा नहीं बनती है। "सेवा" शब्द का प्रयोग हम लोग खूब करते हैं। जहाँ कहीं सामूहिक कार्य में हाथ डाला, तो भाई, सेवा-कार्य में लगे है—ऐसा हम लोग कहते हैं। लेकिन जो इसके बदले में कुछ भी अपने लिए चाहता है, उसके द्वारा जो प्रवृत्ति हो रही है, वह सेवा नहीं हो रही है। दूसरी बहुत-सी बातें हो जाती हैं, जिससे समाज में स्थान भी मिल जाता है, उसके बदले में बहुत-सी सुविधाएँ भी मिल जाती हैं। लेकिन जिसके बदले में कुछ भी पाने की चाह भीतर रह गई है, उसका नाम सेवा नहीं हैं। जिसने अपने भीतर से निज-संकल्पों की पूर्ति का प्रलोभन छोड़ दिया, उसके द्वारा सेवा बनती है।

इस व्यक्तित्व में भौतिक तत्त्व भी हैं और अलौकिक तत्त्व भी है। शरीर की नश्वरता अपने द्वारा जानते हुए भी उसके प्रति आसक्ति हम नहीं छोड़ पाते हैं। उसका एक खास कारण यह है कि शरीर की सहायता से कहीं न कहीं किसी न किसी प्रकार का सुख लिया। उसका प्रभाव राग के रूप में अपने भीतर अंकित हो गया। 'राग' शब्द का अर्थ ही यह होता है कि बुराई को बुराई जानकर भी उसका त्याग न किया जाए। तो शरीर के प्रति आसक्ति रखना अच्छाई हैं, कि बुराई है? बुराई को बुराई करके हम लोग जानते हैं, फिर भी आसक्ति छोड़ना अभी तक सम्भव नहीं हुआ। अब जब यह बीमारी लगी हुई है, तो बीमारी का विश्लेषण करना ही जरूरी नहीं है, आरोग्य का उपाय ढूँढ़ना भी जरूरी है।

स्वामीजी महाराज ने सलाह दी कि कितने ही जन्मों का बना हुआ राग क्यों न हो, अगर इस समय वर्तमान में तुम्हें सूझ गया कि मुझे वीतराग होना है, रागरहित जीवन में ही अलौकिकता की अभिव्यक्ति होती है—इस उद्देश्य को सामने रखकर अगर तुम अपने को साधक स्वीकार किया, तो तुम्हारे लिए एक बहुत ही सहज उपाय है कि निजी रूप से व्यक्तिगत सुख लेना बन्द करके शरीरों का सदुपयोग सेवा में आरम्भ कर दो।

जो साधकजन पर-पीड़ा से पीड़ित होकर दुखीजनों की सेवा में हाथ बँटाने लगते हैं, उनको अपने प्रलोभनों पर विजय पाने में कठिनाई नहीं होती। अपने दुःख के डर से अपने सुख को बनाए रखने के लिए अनेक प्रकार के उपाय हमने किए। उसमें बड़ा इन्टरेस्ट भी मालूम होता है।

बड़ी रुचि और बड़ा उत्साह भी मालूम होता है। लेकिन उसका परिणाम यह नहीं हुआ कि हम आए हुए सुख को बचा कर रख सकें। वह तो किसी मंगलकारी विधान से रचा गया है, अपने आप आता है और अपने आप चला जाता है। वह लाभ तो हहम लोगों को हुआ नहीं। लेकिन वीतराग होने का उद्देश्य लेकर के नया कोई राग पैदा करेंगे ही नहीं, नए सुख-भोग की कामना रखेंगे नहीं और पुराने भोगे हुए सुखों के प्रभाव से जो विकार उत्पन्न हो गए हैं, उनके नाश के लिए दुखीजनों की, निकटवर्ती जनसमाज की क्रियात्मक सेवा एक बहुत ही अच्छा व्यवावहारिक उपाय है, जो कि सभी भाई-बहन कर सकते हैं। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि बड़ा औषधालय चलाएँगे, तब यह काम होगा, कि बड़ा विद्यालय खोलेंगे, कि बड़ी धर्मशाला बनाएँगे कि बहुत से प्रचार का काम करेंगे—तब यह बात बनेगी। ऐसा नहीं है। मानव-जीवन का मंगलमय विधान इतना मंगलकारी है, उसमें इतना साम्य है कि थोड़ी-से थोड़ी सामर्थ्य वाला व्यक्ति भी, अल्प से अल्प शक्ति जिसके पाच बच गई है, वह भी यदि इसी उद्देश्य से सेवा-कार्य में हाथ डालेगा, तो बाहर से देखने में बहुत मामूली काम दिखाई देगा, लेकिन उसके परिणाम में उसको वही फल मिलेगा, जो बड़े से बड़ा सेवा-कार्य करने वाले को मिलता है! ऐसा होता है, ऐसा हुआ है।

बड़े-बड़े महापुरुष जगत् में हुए हैं, जिन्होंने बहुत छोटी-छोटी सेवा कार्य किया और महान् फल पाया। शबरीजी की कथा आप लोगों को मालूम ही है। सेवा से उनका चित्त शुऋ हो गया था। क्या सेवा की थी उन्होंन? सड़क को साफ किया है, कंकड़-पत्थर हटाया था। वन की सूखी लकड़ी तोड़-तोड़ कर रात्रि में गठरी बाँधकर ऋषि-मुनियों की कुटिया के बाहर रख आती थी। किसलिए? कि ऋषि-मुनि जब सवेरे बाहर निकलेंगे और हवन करने के लिए उनको लकड़ी चाहिए, तो लकड़ी उनके पास हाजिर रहे। इतनी छोटी-छोटी सेवा उन्होंने की और उससे उनका चित्त इतना शुऋ हो गया था कि जब उनके गुरु ने एक बात बताई, तो इस बात का उन पर बड़ा ही सजीव प्रभाव पड़ा। गुरु ने उनको बता दिया कि "शबरीजी,! आप इसी आश्रम में रहिए। भगवान् जब वन में आएँगे, तो इसी आश्रम में आपको दर्शन देंगे।" गुरु की वाणी में इतनी गहरी आस्था थी कि उसका ऐसा जोरदार प्रभाव हुआ कि उसी से उनके भीतर एक बड़ी लगन लग गई—प्रभु आएँगे, प्रभु आएँगे, प्रभु आ रहे होंगे। तो उस लगन ने उनको परमात्मा से मिला दिया पहले, और साकार रूप में वन में विचरण करते हुए भगवान् पहुँचे उनके पास पीछे। ऐसा होता है। यह तो अपनी प्राचीन कथा है।

आज भी आधुनिक युग में भी ऐसे साधक हैं, जिनको जीवन में बहुत छोटी-छोटी सेवा का अवसर मिला और उस सेवा को उन्होंने इतनी तत्परता से, इतनी लगन से की कि उसी के आधार पर उनकी शरीर की आसक्ति बिल्कुल टूट गई। एक गृहस्थ महिला का उदाहरण दे रही हूँ। न गृह-त्यागी की बात कह रही हूँ, न आश्रमवासी की और न ही भगवद्भक्त की चर्चा कर रही हूँ। वह महिला अपने को इतना रैशनल;बुद्धिवादीऋ मानती थी कि जब-जब मैं उनको सूचना दूँ कि नगर में स्वामीजी महाराज आए हैं, सत्संग हो रहा है, आप चलिएगा? तो वे कहें कि देवकीजी! वह तो वैदिक युग था जबकि लोगों को रहने-सहने की किसी प्रकार की कोई तकलीफ नहीं थी। तब लोग, ऋषि-मुनि और दूसरे विद्वान लोग बैठ करके दार्शनिक चर्चा किया करते थे। आज का युग क्या ऐसी दार्शनिक चर्चा सुनने का है? उनको लगता

था कि पेट भरने पर ही आदमी दार्शनिक चर्चा करता है। हमको ऐसा लगता था कि जब दुनियाँ की ओर से निराश होती है, तो आदमी के भीतर ज्यादा चेतना जागती है। उनका सोचना दूसरा था। ऐसी महिला की बात मैं बता रही हूँ कि उन्होंने निष्काम सेवा की। उसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने शरीर की आसक्ति से भी मुक्त हो गई। मृत्यु का भी भय उनको नहीं रहा। बहुत भयंकर ऐक्सीडेन्ट हुआ था उनका। सारे शररी की जगह-जगह से सब हड्डियाँ टूट गई थीं। लेकिन न मरने का डर था और न जो उनके निकट सम्बन्धी उस ऐक्सीडेन्ट में मारे गए थे, उनके लिए रोया-गाया उन्होंने। यह सब कुछ नहीं। पूरा कर्त्तव्य-निष्ठा देखी हमने उनके जीवन में।

महाराजजी की वाणी को मैंने सत्य पाया कि यदि शरीर की आसक्ति को तोड़ना चाहते हैं हम लोग, शरीर के राग से मुक्त होना चाहते हैं, शान्ति-सम्पादन के द्वारा अशरीरी जीवन में प्रवेश पाना चाहते हैं, तो सुख-भोग की वासना को भीतर से निकल कर, सेवा-कार्य में जुट जाना चाहिए। कार्यक्षमता जब तक शरीरों में बची हुई है, तब तक कुछ न कुछ सेवा कार्य के द्वारा उसका सदुपयोग करना आवश्यक है। यह बिल्कुल मंगलकारी विधायक की योजना है मनुष्य के लिए, कि जब सके भीतर करने का राग नहीं रहता, तो उसके सामने कर्त्तव्य भी नहीं आता है। यह भी एक जरूरी बात है। हमारे से भाई-बहन ऐसे बैठे हैं, जो यह सोचते हैं कि गृहस्थी के काम में वे इतने फँसे हैं, इतने प्रकार के काम हैं उनके सामने कि सत्संग में जाने के लिए फुर्सत ही नहीं मिलती।

लेकिन भाई! यदि सत्संग में जाने की आवश्यकता आपको मालूम होती है, तो सच मानिए, परिस्थिति आपकी बदल जाएगी। हमने सिर पर काम का भार लदा हुआ क्यों लगता है? इसलिए कि हमने कर्त्तव्यनिष्ठा से काम पूरा नहीं किया। थोड़ा-सा कुछ किया और उसके बदले में ज्यादा लेने की इच्छा रखकर किया। इसलिए न काम पूरा हुआ, न करने का राग मिटा। जिस भी जनसमूह के भीतर रहे, उनकी मदद से अपने लिए किसी न किसी प्रकार के सुख-सम्पादन की चेष्टा में लगे रहे। निकटवर्ती जन-समुदाय की सेवा में शक्ति और समय खर्च नहीं किया। इसलिए करने का राग नहीं मिटा और अपने सामने दायित्व आ गया। इसलिए करने का राग नहीं मिटा और सामने दायित्व आ गया। मेरा ऐसा विश्वास बन गया है महाराजजी की वाणी को सुनने से और जीवन का अध्ययन करने से कि जब तक हम काम से जी चुराते रहेंगे, तब तक हमारे सामने से यह प्रवृत्ति का जाल कभी कटेगा नहीं। जिस किसी ने छोटी से छोटी सेवा प्रवृत्ति में भी पूरी शक्ति लगाकर निस्पृहतापूर्वक, लगन से, प्रेम पूर्वक काम करे अपने को वीतराग बना लिया, उसके सामने से यह परिस्थिति हट जाती है।

सुख-भोग की वासना को छोड़कर सेवा करने से राग-निवृत्ति होती है और राग-निवृत्ति की शान्ति में विचार का उदय होता है। विचारों के उदय होने से सत्-असत् के विभाजन की सामर्थ्य आती है। तो शरीरों से तादात्म्य टूट जाने से अशरीरी जीवन का आनन्दमय अनुभव मिलता है। सब कुछ भगवत्समर्पित करके, उनकी शरणागति को लेकर, उनकी कृपामयी गोद में विश्राम लेने से उनकी कृपा अपने को प्रेम का पात्र बनाकर उनके साथ रस का आदान-प्रदान कराती है।

किसी सेवा-प्रवृत्ति को संगोपांग का पूरा किया गया—इसका प्रमाण यह है कि अपने भीतर उस प्रवृत्ति में लगने की इच्छा खत्म हो गई। अपने लिए उसकी आवश्यकता पूरी हो गई। जब हम

शान्त होने का अवसर निकालते हैं तो कुछ देर शान्त रहने के बाद कुछ प्रवृत्ति का स्फुरण होने लगता है और काम करने के नए-नए संकल्प आने लगते हैं। ये किस बात को दिखा रहे हैं? यह इस बात को दिखा रहे हैं कि अब तक जो हमने अपने को सेवा-प्रवृत्ति में लगाकर कुछ किया, उसके द्वारा राग-निवृत्ति नहीं हुई। अगर राग मिट गया होता, तो मेरी ही तरफ से प्रवृत्ति का स्फुरण नहीं होता।

श्री महाराजजी ने सन्त समागम ग्रन्थ में पाँच-सात वाक्य लिखाए हैं—सुनने वाले की प्रसन्नता के लिए बोलो, खिलाने वाले की प्रसन्नता के लिए भोजन ग्रहण करो, बुलाने वाले की प्रसन्नता के लिए जाओ। वीतराग पुरुषों की यही रीति होती है कि खिलाने वाले की प्रसन्नता के लिए खाओ। ऐसा नहीं कि हमारी रुचि के अनुसार यदि भोजन नहीं मिला, तो खिलाने वाले को डाँटो। ऐसा नहीं कि आपको सत्य की चर्चा करने में आनन्द आता है, लेकिन श्रोता कोई सुनने के लिए नहीं मिला या कि श्रोता की ओर से बहुत अच्छा भाव नहीं दिखाई दिया, तो अपने को मजा नहीं आ रहा है। क्योंकि नहीं आ रहा है? क्योंकि अपना सुख दूसरे पर आश्रित हो गया। वक्ता होने का सुख अगर वक्ता ले रहा है तो उसका राग नहीं मिटेगा। और अगर बोलने से अधिक निष्ठा न बोलने में हो गई, काम करने से भी अधिक सजीवता मूक-सत्संग में हो गई, तो इसका अर्थ है, कि मैंने सही काम किया और करने का राग मिट गया।

तो पहला काम हुआ—कामनापूर्ति के सुख का त्याग। अब आप कहीं चले जाइए। कहीं योग की, ध्यान की क्लास हो रही है, कहीं भजन-कीर्तन हो रहा है, कहीं कथावाचन हो रहा है, कहीं कुछ हो रहा है—बहुत प्रकार की क्रियात्मक साधन-प्रणालियों का कार्यक्रम चल रहा है। सभी जगह आपको बड़ा-बड़ा जन-समूह दिखाई देगा। लेकिन अगर आप मानव हैं और आपने इस सत्य को पकड़ लिया है कि अपने भीतर से कामनापूर्तिक के सुख का लालच निकाल देना है, किसी भी प्रकार से उसको प्रश्रय नहीं देना है, तो उस हालत में आप जिस किसी साधन-प्रणाली में लग जाएँगे, उसी से सिद्धि मिल जाएगी। आप जो भी करेंगे, उसी में आपकी निष्ठा बन जाएगी। लेकिन अगर अपनी ही कामना पूरी करनी है—"कामना" शब्द जरा छोटा है—कहें कि अगर अपना ही संकल्प पूरा करना है, तो दुनिया में कहीं भी चले जाओ, किसी भी सिऋ महापुरुष के पास जाकर बैठ जाओ और किसी से भी कृपा दृष्टि माँगते रहो, अगर अपने संकल्प की पूर्ति ही आपको अभीष्ट है, तो कोई साधन-पऋति आपका साथ नहीं दे सकती।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि एक गुरु की तो कौन कहे, तुम सारे संसार के सब गुरुओं को इकट्ठा कर लो। लेकिन यदि तुम अपने दायित्व को पूरा नहीं करोगे, तो कोई भी तुम्हारी मदद नहीं कर सकेगा—यह खास बात है। जो क्रियात्मक साधना है वह हर व्यक्ति की अलग-अलग हो सकती है, हर सम्प्रदाय, मत, विचार की अलग-अलग हो सकती है। लेकिन जो त्याज्य है, जिसका त्याग करना है, जो नहीं करना चाहिए, उसमें मानवमात्र एक साथ है। संकल्प को—अपने निजी संकल्प को पूरा करने के सुख का लालच ही त्याज्य है। उसी का त्याग करना चाहिए। तो अपना संकल्प हम नहीं रखंगे—इस बात को मानने के लिए सबको तैयार होना पड़ेगा।

मानव-सेवा-संघ कोई पुराना पंथ नहीं है, कोई नया मत या सम्प्रदाय नहीं है, अपितु जो सनातन सत्य है, जो मनुष्य के जीवन का वैज्ञानिक,

दार्शनिक और आस्तिकता का सत्य है, उसी को यह आपके सामने मौलिक रूप में प्रस्तुत कर रहा है। भ्रम में मत रहना। संकल्पों को छोड़ना है कामना-पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख का प्रभाव आपने खूब देख लिया है। फिर भी कोई गुन्जाइश है? कुछ दिन और आप कामनाओं को रखना चाहते हैं, तो भले ही रखो। लेकिन संकल्पों के रहते हुए शान्ति-मुक्ति-भक्ति जैसे अविनाशी, अनमोल तत्त्वों का दर्शन नहीं हो सकता।

अगर आपको शान्ति चाहिए, तो पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा। क्या पुरुषार्थ करना पड़ेगा? अपनी सामर्थ्य के अनुसार छोटी या बड़ी—जैसी भी बन पड़े—सेवा करना तथा कामनापूर्ति के सुख का लालच छोड़ना अर्थात् निजी-सुख के संकल्पों का त्याग करना। अब आप कहेंगे कि आप घर-परिवार वाले हैं, कहीं बच्चों की पढ़ाई का खर्चा है, तो कहीं बेटा-बेटी के विवाह की जिम्मेवारी है। कहीं अच्छे मकान की और अन्य सुख-सुविधाओं की चिनता है। इन सब चिन्ताओं से मुक्त होने के लिए आपको धन कमाने और संग्रह करने के साधन जुटाने पड़ते हैं। लेकिन परेशानी तब भी नहीं जाती है।

महाराजजी कहते हैं कि भैया 3/4 का 75/100 करते चले जाओ, मूल्य में कोई अन्तर नहीं होगा। बेचैनी ज्यों की त्यों रहेगी। अन्तर कब आएगा? जब उसको बढ़ाने की चिन्ता को तुम छोड़ दोगे। जितना तुम्हारे पास हैं, उसका सदुपयोग आरम्भ करो, तो प्रकृति का विधान ऐसा है, परमात्मा का विधान ऐसा है कि आपकी उदारता से प्रसन्न होकर इतना बरसा देते हैं, इतना बरसा देते हैं कि जितने की आप कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिए वृद्धि की चिन्ता छोड़ दो। आ जाए अपने पास, तो जल्दी से जल्दी, जिसने दिया है उसके परिवार की सेवा में लग जाए—इस बात को सोचो। बहुत अच्छा लगेगा, बड़ा आराम मिलेगा।

अगर सचमुच आपके हाथ से प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग होने लग जाएगा, तो प्रकृति की उदारता का दरवाजा बहुत चैड़ा हो जाएगा। लेकिन यदि संग्रह का दोष पैदा हो जाएगा, व्यक्तिगत सुख की बात सोचकर अपने लिए बचा करके रखने की बात आ जाएगी दृष्टि में, तो उधर से भी संकीर्णता हो जाएगी। दरवाजा बन्द नहीं होता। हर हालत में उधर से मिलता ही रहता है, लेकिन संकीर्णता जरूरी हो जाएगी। तो सावधान होकर जो मिला है, उसको सेवा-कार्य में लगाने का प्रयास करो, छोटा ही सही। एक व्यक्ति, दो व्यक्ति, पाँच-दस व्यक्ति की, जैसा सम्भव हो, सेवा करो। हमारी भारतीय संस्कृति में एक से अनेक—यानि विस्तार करने की बड़ी अच्छी सामाजिक व्यवस्था है। उस सामाजिक व्यवस्था के भीतर ही उस पारिवारिक और कौटुम्बिक रिश्तेदारी के क्षेत्र के भीतर ही देखिए, कितने लोग आपकी सेवा और सहयोग के अधिकारी हैं? उनके दुःख की ओर दृष्टि न देना और अधिक से अधिक अपने पास सम्हाल कर रखने की चेष्टा करना गृहस्थ-धर्म के विरुऋ है। और अगर गृहस्थ-धर्म का पालन नहीं करते हो, तो समाधि का आनन्द मिल जाए—यह सम्भव नहीं है। ध्यान लग जाए—यह सम्भव नहीं है, भजन बन जाए—यह भी सम्भव नहीं है। अगर मानव-हृदय की सद्भावना चाहिए, मानव-हृदय की प्रसन्नता चाहिए, तो मानव-हृदय के ताप को शीतल करने में उस जीवन की आहुति देने में अपना सौभाग्य मानना चाहिए।

सेवा का कार्य जो है वह किसी पर अहसान नहीं है। हम बड़े कार्यकर्त्ता हैं, हमारे द्वारा बड़ी सेवा बन रही है, सब लोगों को हमारा अहसान मानना चाहिए—यदि ऐसा भाव आ जाए

तो घोर पतन की बात हो जाएगी। मैं तो अपने साथ काम करने वाले सभी भाई-बहनों से कहती हूँ कि अरे भाई, तुम अपना सौभाग्य मानो, प्रभु की विशेष कृपा मानो कि उन्होंने अपने इतने बड़े वृहत-ब्रह्माण्ड के कार्य में एक छोटी-सी जगह पर तुम को कहीं फिट तो किया है। बड़ी भारी मशीनरी है, जिसके द्वारा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का संचालन हो रहा है, उस अनन्त शक्तिमान ने अपने संसार के कार्य में एक छोटी-सी कील बनाकर तुमको कहीं फिट कर दिया है, तो तुम प्रभु की कृपा मानो और चेष्टा करो कि तुम्हारे पास जो भी बची-खुची शक्ति-सामर्थ्य है, वह उस सेवा-कार्य में लग जाए। तब समझो कि तुम्हारा उद्धार हो जाएगा, कल्याण हो जाएगा। यह सेवा की बात हो गई। इतनी तैयारी जिसकी हो जाएगी, उसको प्रभु-प्रेम का पात्र बनने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

प्रवचन 16

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों एवं भाइयों!

साधन-युक्त जीवन का अर्थ क्या है? इसके लिए मानव सेवा संघ की प्रणाली में एक क्रम बताया गया है। बुराई-रहित होना—साधन है। ईश्वर-विश्वास के आधार पर उसकी आत्मीयता को स्वीकार करना, आत्मीयता के सम्बन्ध के द्वारा उनके प्रति प्रियता का उदित होना—यह भजन है। प्रभु के नाते उनकी बनाई हुई सृष्टि के प्रति सद्भाव रखना, सहयोग करना, यथाशक्ति क्रियात्मक सेवा करना, प्यारे प्रभु की प्रसन्नता के लिए दृश्य जगत की सेवा—यह पूजन है।

साधन, भजन, पूजन के द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व में शुक्रता आती है, सुन्दरता और कोमलता आती है। ये व्यक्तित्व को इस योग्य बनाते हैं कि उसमें परम प्रेम की सरसता आवे। व्यक्तित्व जब सरस होता है—प्रेमस्वरूप परमात्मा के प्रेम रस के साधन का व्यक्तित्व जब सरस होता है, जो उस रसरूप से अभिन्नता होती है। प्रेमरस होकर प्रेमीजन प्रेमास्पद से मिलते हैं, अभिन्न होते हैं—यह प्रभु मिलन है।

इस प्रकार हम सभी भाई-बहनों को जीवन का एक क्रम अपने सामने रखना चाहिए। बहुत ही स्पष्ट रूप से हम लोगों को यह जानना चाहिए कि अहंरूपी अणु में ही वे सब अलौकिक तत्त्व विद्यमान हैं कि जिनकी आज हम लोग माँग अनुभव करते हैं और कल उनकी पूर्ति के आधार पर अपने को पूर्ण पाएँगे।

जब कभी आपके भीतर लालसा जगे, यह अभिलाषा बने कि मैं मनुष्य हूँ, तो मुझमें अविनाशी तत्त्वों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए अर्थात् नाशवान का प्रभाव मुझ पर से उतर जाना चाहिए। तो उस समय अपनी वास्तविक दशा को अपने सामने रखते हुए जीवन के सत्य पर विचार करना चाहिए। वास्तव में नाशवान का प्रभाव ही हम पर अधिक होता है। किसी संगी-साथी, निकटवर्ती जनसमुदाय के मुख से अपने समर्थन और अपनी प्रशंसा के शब्द सुनकर अपने को अच्छा लगता है। भले ही उसके वश में होकर आप मनुष्यता के स्टैण्डर्ड से नीचे उतरें—यह दूसरी बात है।

मैं बहुत ही सूक्ष्म विवेचन अहं का रख रही हूँ। किसी ने मेरे किसी किए हुए कार्य की आलोचना कर दी, कुछ अप्रिय शब्द कह दिए, तो सुनकर भीतर कुछ क्षोभ पैदा हुआ। सज्जनता के नाते मैंने प्रकट नहीं किया, साधक होने के नाते मैंने प्रतिक्रिया नहीं की—साधक होने के नाते हम उस आलोचना या अप्रिय शब्द की प्रतिक्रिया नहीं करेंगे, फिर भी अगर भीतर जरा-सा भी अप्रिय

लगा, कुछ क्षोभ हुआ, तो इसका अर्थ क्या है? कि नाशवान का प्रभाव अभी भी अपने पर है। नहीं तो क्षोभ क्यों होता है? सीमित अहंभाव का पोषण अभी भी मुझको पसन्द है। सीमित अहंभाव का पोषण जब तक अपने को अच्छा लगता है तब तक उस असीम, अनन्त की प्रियता इस जीवन में कैसे लहरायेगी?

रहन-सहन की सुविधा में असुविधा पैदा हो जाना, जिन कुटुम्बियों के बीच में हम रहते हैं, निकटवर्ती जन-समुदाय के बीच में रहते हैं, उनका विपरीत हो जाना प्रतिकूलता है। प्रतिकूलता अपने को बुरी लगती है। अनुकूलता अच्छी लगती है। जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, उनके हट जाने का मन में कुछ भय और चिन्ता है और जो अनुकूलताएँ आने वाली हैं, उनका चित्र देखकर प्रसन्नता होती है। इस प्रकार अगर अनुकूलता और प्रतिकूलता का प्रभाव अपने पर होता है, तो इसका अर्थ है कि अभी नाशवान का प्रभाव अपने पर है। लेकिन होना क्या चाहिए? अविनाशी का प्रभाव।

जो सदा-सदा से है, जो सदा-सदा तक रहेगा, उसका प्रभाव अपने पर होना चाहिए। लेकिन हम देखते हैं कि नाशवान के प्रभाव में पड़कर चैबीस घण्टे का समय भी हमारा सन्तुलन में नहीं बीत रहा है। चैबीस घण्टे का समय भी सन्तुलन में नहीं बीतता है। कुछ अधिक अनुकूलता सामने आ गई, तो उसके संयोग से सन्तुलन बिगड़ गया। और कुछ प्रतिकूलता सामने आ गई, तो उसके प्रभाव में भी संतुलन बिगड़ गया। तो क्या इस तरह से बनने और बिगड़ने वाली सुख और दुःखद लहरियों में हम गोते लगाते रहेंगे? कभी सुख का, कभी दुःख का आक्रमण अपने पर होता है। दुःख के आक्रमण को तो आप सभी बड़े जोर से जानते हैं, लेकिन सुख का आक्रमण उससे कम खतरनाक नहीं होता। सुख का आक्रमण भी बड़े जोर का होता है। तो मनुष्य होकर, सचेत होकर, साधक कोटि के होकर अविनाशी जीवन के जिज्ञसु होकर और अनन्त परमात्मा के परम प्रेम के रस के अभिलाषी जीवन के जिज्ञासु होकर और अनन्त परमात्मा के परम प्रेम के रस के अभिलाषी होकर, कब तक सुख-दुःख के आक्रमणों से आक्रान्त होते रहेंगे? ऐसा प्रश्न हम सभी भाई-बहनों को अपने द्वारा अकेले में बैठ करके अपने से पूछना चाहिए कि हम गीत गाते हैं अविनाशी के, चर्चा करते हैं अविनाशी की, तो क्या सचमुच हम अपने को मिलाते हैं उस आनन्द-स्वरूप से?

अब दो ही बातें रहीं अपने सामने— या तो अविनाशी जीवन के जिज्ञासु होकर अनन्त परमात्मा के परम प्रेम के रस में डूब जाओ या फिर दृश्य जगत् के प्रभाव से प्रभावित होकर सुख-दुःख के संक्षोभ में डूबते-उतराते रहो। मनोविज्ञान में संक्षोभ शब्द का एक अर्थ तो यह है—क्षुब्ध होना, यहाँ क्षुब्ध होने से मेरा मतलब नहीं है। संक्षोभ कहते हैं उस भाव को जो किसी प्रकार की उत्तेजना पैदा करे। सुख परिस्थितियाँ की संक्षोभ पैदा करती हैं और दुःखद परिस्थितियाँ भी संक्षोभ पैदा करती हैं। किसी भी प्रकार से जब तक दृश्य जगत् के प्रभाव से प्रभावित हम रहेंगे और अनुकूलता के द्वारा अहम्भाव को पोषित करते रहेंगे, प्रतिकूलता से क्षुब्ध होते रहेंगे, परमात्मा के दिए हुए समय, शक्ति, सामग्री, शरीर, साथी—इनके संयोग का सुख भोगते रहेंगे, तब तक उस अहम् भाव की सीमा टूट नहीं सकती। अहम् के अभिमानी में वह कोमलता आ ही नहीं सकती, जिससे वह प्रेम-रस द्रवित होता है। इस सीमित अहंभाव के बने रहने के काल में उस

असीम अनन्त के साथ अभिन्न होने का आनन्द आ ही नहीं सकता। तो आरम्भ कहाँ से करें?

हम सभी भाई-बहनों को पीछे की बात को तो केवल इतना ही अर्थ देना चाहिए कि उससे हम अपने लिए पाठ ले लें। लेकिन आगे बढ़ने की घड़ी अभी है, वर्तमान में। इसी वर्तमान क्षण में अकेले हो करके अपने से पूछ कर देखो तो, कि अपने में अलौकिक तत्त्व विद्यमान हैं, आनन्दस्वरूप, प्रेमस्वरूप परमात्मा विद्यमान है और उनके विद्यमान रहते हुए अपनी दशा क्या है? कि भीतर-भीतर अभाव सताता है और उस अभाव से जब अपने भीतर दीनता आती है, तो बाहर-बाहर से सद्गुणों के आधार पर, पद के आधार हम पर लोग अहम् का शृंगार करते रहते हैं—मैं बड़ा तपी, मैं बड़ा त्यागी, मैं बड़ा अध्ययनीशल। अध्ययनशीलता का भी एक शृंगार अपना लेता है व्यक्ति।

कुछ वर्ष पूर्व मुझे एक सज्जन मिले थे। समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। 80 वर्ष के कुछ ज्यादा ही उम्र के होंगे। बड़े प्रेम से मिले और मिल करके अपनी बात जो उन्होंने बताई तो कहा कि इतनी उम्र हो गई, अभी भी मेरा कार्यक्रम ऐसा चलता है कि चैबीस घण्टे में से कम से कम आठ घण्टे मैं अध्ययन में लगाता हूँ। वे सज्जन पण्डित थे, विद्वान थे और शास्त्रज्ञ थे। उनकी बात सुनकर भीतर-भीतर मैंने सोचा कि यह वृऋ 80 वर्ष के हो गए, अभी भी इनको आठ घण्टे अध्ययन करने की आवश्यकता महसूस होती है, तो इतने दिनों तक जो सारा अध्ययन इन्होंने किया वह कब काम आयेगा? मुझे ऐसा लगा कि अध्ययन भी एक व्यसन हो गया। कब तक चलेगा यह?

कितना सूक्ष्म और सहज स्वाभाविक है कि अभी-अभी अगर मैं शरीरों के साथ अपने को मिला के बैठ जाऊँ, तो नाशवान के प्रभाव से इतनी प्रभावित हो जाऊँ, सुख-दुःख के आक्रमण से इतनी आक्रान्त हो जाऊँ कि अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का कहीं पता ही नहीं चले—ऐसी दुर्दशा है। और सत्संग के प्रकाश में, सद्ग्रन्थों के प्रकाश में सन्त महापुरुषों के सम्पर्क से उनके वचनों के प्रकाश अपने को नाशवान के प्रभाव से मुक्त करना पसन्द कर लूँ, तो ऐसा लगता है कि यह हमारा जैसे भ्रम ही है भ्रम था। और मिटा तो कहाँ गया और कब मिटा, पहले क्या था? सब एक साथ ऐसे उड़ जाता है कि सचमुच जो है उसके प्रकाश में न "मैं और न "तुम", न स्थान है और न काल का कोई निशान रह जाता है। वहाँ न दुःख है, न अभाव है, न मृत्यु है। कुछ नहीं है! तो वस्तुतः जो "है" उसी को

प्रधानता देनी चाहिए। अगर उसको प्रधानता दे दें, तो आप अपने में निर्भय और निश्चिन्त हो जाएँगे और आपके निर्भय, निश्चिन्त, ज्ञानयुक्त, सेवापरायण, प्रेम के सरस व्यक्तित्व के द्वारा इस दृश्य जगत् का भी कल्याण हो जाएगा।

आज इस संध्या की बैठक में यह एक प्रश्न अपने भाई-बहनों के सामने मैं रख रही हूँ और निवेदन कर रही हूँ कि इस विषय पर विचार करें कि जिन्दगी का इतना लम्बा समय नाशवान के प्रभाव में बिताया या अविनाशी के प्रभाव में निश्चिन्त और निर्भय आनन्द में? यह प्रश्न इसलिए रख रही हूँ आपके सामने जब साधक के लिए कोई प्रश्न खड़ा होता है, तो उसके सही उत्तर के लिए और सही दिशा निर्धारित करने के लिए उसके भीतर तत्परता आ जाती है।

यदि हमने स्वेच्छा से नाशवान के प्रभाव को अपने पर होने दिया, तो यह हमारा ही निश्चय होगा कि अब इसके प्रभाव को अपने पर नहीं होने देंगे।

प्रधानता हमारी-आपकी है। सद्ग्रन्थों में सब अच्छी बातें लिखी हुई हैं लेकिन वे अच्छी बातें ग्रन्थों के काम आती है कि पढ़ने वाले जीवित जाग्रत मनुष्यों के काम आती हैं? मनुष्यों के ही काम आती हैं न! तो सद्ग्रन्थों में अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए जो उपाय लिखे गए हैं वे उस सचेत मनुष्य के लिए हैं जो नाशवान के प्रभाव में पड़कर अनेक संकटों से घिरा हुआ है और जो अविनाशी के प्रभाव को अपना कर सब प्रकार के संकटों से मुक्त होना चाहता है।

आज का हमारा पुरुषार्थ क्या है? यह मैं इसलिए याद दिला रही हूँ कि जब बैठकर सत्य की चर्चा करते हैं तो शान्ति का बड़ा महत्त्व मालूम होता है, जीवन-मुक्ति का बड़ा महत्त्व मालूम होता है, भगवत्-भक्ति का बड़ा महत्त्व मालूम होता है और जब सत्संग का प्रोग्राम, सत्वर्चा का प्रोग्राम पूरा हो गया और जब दूसरे काम में लग गए तो उस समय अपने व्यक्तियों के साथ जिस प्रकार व्यवहार करने लगे, तो उस समय अपने में एक बार झाँककर देखों तो, कि हम शान्ति का महत्त्व लेकर बातचीत कर रहे हैं, मुक्ति और भक्ति का महत्त्व लेकर दूसरों से मिलने में सावधान हैं हम? क्या-क्या बातें साधकों के मुख से सुनते हैं कि अरे भाई, व्यवहार तो व्यवहार है। यहाँ तो ऐसे करना ही पड़ेगा। अच्छा, तो प्रधानता किस की रही। यहाँ यह इस भवन में बैठकर जिस सत्य की चर्चा हो रही है उसकी प्रधानता रही कि नाशवान की प्रधानता रही? किसी व्यक्ति को अपने ओर मुखातिब बनाए रखने के लिए उल्टा-सीधा हम कर रहे हैं, तो हमारे दिल में आता है कि आदमी क्यों नहीं सोचता है कि कोई व्यक्ति कितना भी प्रसन्न हो जाएगा तो मुझे क्या दे देगा? जो कुछ व्यक्ति को देगा वह नाशवान ही तो होगा।

साधक होकर इतने घण्टे ध्यान लगाया कि नहीं, इतनी संख्या में अपने इष्ट के नाम का जप किया कि नहीं, इन बातों पर तो जोर लगता है। अपनी ओर से, लेकिन चैबीस घण्टों के जीवन में उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, लेते-देते अविनाशी का प्रभाव अपने पर है—इस प्रकाश में हम व्यवहार कर रहे हैं या नाशवान के प्रभाव से प्रभावित होकर व्यवहार कर रहे हैं? जब ऐसी चर्चा महाराजजी करते तो कुछ लोग कहते कि आपके यहाँ केवल सिद्धान्त की बात है प्रैक्टिकल कुछ नहीं है। तो प्रैक्टिकल का अर्थ क्या है? कि सबको बैठा दिया जाए, दो-चार घण्टों के लिए कुछ पाठ पकड़ा दिया जाए, कुछ क्रिया पकड़ा दी जाए, कुछ अभ्यास पकड़ा दिया जाए? मैं कहती हूँ कि नाशवान के प्रभाव से अपने को मुक्त करना, अविनाशी के महत्त्व को सब समय अपने सामने रखना, जीवन में इसको धारण करना, उसी अभिव्यक्ति के लिए सब समय सावधान रहना—यह व्यावहारिक नहीं है, तो क्या हैं? इस व्यावहारिक साधना के बिना वह क्रियात्मक साधना आपके काम आए जाएगी? जीवन में तो रखे रहो नाशवान का प्रभाव और शान्ति भी मिल जाए, भजन-पूजन भी बन जाए—यह सम्भव नहीं है। जो सम्भव नहीं उस पर हमारा ध्यान जाता है और जो जीवन देने की बात है उसको हम सिद्धान्त कह कर एक किनारे रख दें। तो इसी का यह परिणाम है कि साधकों के भीतर सजीवता नहीं आतीं, आधे-अधूरे मन से भगवान् का नाम लेते हैं।

अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए असत् के प्रभाव को अपने पर से उतारे बिना काम नहीं चलेगा। उसके लिए पहली बात है—संकल्प-पूर्ति के सुख के प्रलोभन का त्याग। दूसरी बात यह है कि जब अपने संकल्प-पूर्ति के सुख के

लिए कुछ करना ही नहीं है, तो करने की सामग्री जो मिली है, उसे निकटवर्ती जनसमुदाय की सेवा में लगाओ। तीसरी बात क्या है कि प्रातःकाल, दोपहर को, संध्या, आधी रात को जिस समय अवसर मिले उसी समय थोड़ी देर के लिए अकेले हो जाओ। फिर अपने को देखकर पूछा कि जो आपका कार्यक्रम चल रहा है उसमें नाशवान के प्रभाव की प्रधानता है कि अविनाशी की प्रधानता है? सोचकर देखो और जहाँ-जहाँ आपको ऐसा लगे कि यह काम तो जगत् के प्रभाव से प्रभावित होकर किया तो तुरन्त ही चेतना आयेगी, तुरन्त ही आपके भीतर से बल आएगा कि नहीं। नहीं, ऐसा नहीं करना है। यह नहीं होना चाहिए। इससे बड़ा आराम मिलता है, बड़ी शान्ति मिलती है। आप प्रयोग करके देखिए।

इस सत्य के प्रयोग से जीवन में इतनी सुन्दरता आती है कि बाहर से किसी तरह की मदद लेने की आवश्यकता ही नहीं होती। इस व्यक्तित्व को आज धन का लोभ, तन का मोह, पद का अभिमान, सम्मान की वासना गन्दा करते रखते हुए हैं। कहाँ-कहाँ हर दरिद्र और अपमानित होकर फिरते हैं और ऊपर से ढकते रहते हैं, छिपाते रहते हैं, नीरसता से पीड़ित रहते हैं और बाहर-बाहर रस की खोज करते फिरते हैं। बड़ी दुर्गति कर लेते हैं हम अपने साथ से स्वयं अपने व्यक्तित्व की। लेकिन सत्संग के प्रकाश में, सन्त महापुरुषों के सम्पर्क में, सद्ग्रन्थों के वाक्यों में निष्ठा रखकर जब सत्य की अभिव्यक्ति की ओर चलते हैं, तो जल्दी ही विकारों से मुक्त हो जाते हैं। देखिए, कितनी सहज बात है कि जिसने हमें बनाया, उसने अपनी ही धातु से हमें बनाया। इस व्यक्तित्व के मूल में जो जीवन तत्त्व है वह अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता। मृत्यु जो होती है उसमें स्थूल शरीर नष्ट होता है। उसके आगे और कोई चीज मृत्यु के प्रभाव से नष्ट नहीं होती। तो जीवन के मूल में अविनाशी तत्त्व है और उसी के आधार पर हम लोगों के भीतर अविनाशी जीवन की जिज्ञासा भी रहती है और उसी आवश्यकता भी हम लोग अनुभव करते हैं। तो जो सत्य हैं, सनातन है, दुःख-रहित है, मृतयु-रहित हैं, अभाव-रहित है, उसका प्रभाव जोरदार होना चाहिए। अगर उस प्रभाव को ग्रहण करना कठिन मान लेंगे, तो फिर कभी भी उस ओर आगे बढ़ने की तत्परता जीवन में आएगी ही नहीं। यह अहं का ही तो खेल हैं। यह "मैं" पन का ही सब चमत्कार है कि जिससे मिला लो उसी के समान हो जाए।

एक बड़ा अच्छा उदाहरण है। यह म्यूजिक कन्सर्ट हो रहा था। अनेक व्यक्ति अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्र लेकर बैठे थे। एक व्यक्ति उसमें छोटा-सा टेढ़ा-मेढ़ा लकड़ी का टुकड़ा, लेकर बैठा था और जब सब लोग बजाते थे तो वह भी लकड़ी पर अँगुली फेरता था। कार्यक्रम पूरा हो जाने पर किसी ने पूछा कि भाई, यह कौन-सा यन्त्र है? उसने कहा कि इसका नाम है मिल बाजा। इससे राग कौन-सा निकलता है? तो उसने कहा कि इसका अपना कोई राग नहीं है। जिस यन्त्र के साथ इसको मिला दो उसी का राग इसमें से निकलता है। तो अपना जो अहम् है, मैं-पन है, उसका एकदम यही हाल है। यही भी एक मिल बाजा है। अगर इसको असत् के साथ मिला दो—मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है, यह वस्तु मेरी है, यह मकान मेरा है—तो मैं और मेरेपन से असत् की ध्वनि इसमें से निकलने लगती है। और सचेत होकर विचारक बनकर सत्-असत् का विवेचन करके, सत्संग के प्रकाश में जाने हुए असत् सत् से मिल जाता है और सत् की ध्वनि उसमें से

निकलने लगती है—मैं परम शान्त हूँ, अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ।

मैं आज इस बैठक में इतनी-सी बात याद दिलाना चाहती हूँ कि हमारा आपका जो जन्म हुआ है इस धरती पर, तो सृष्टिकर्ता हम लोगों को सम्हाल कर रख रहे हैं। इन सारी बातों की सार्थकता इसमें हैं, कि हम निज विवेक के प्रकाश का सदुपयोग करें और नाशवान के प्रभाव को अपने पर से मिटाकर अविनाशी के प्रभाव को महत्त्व दें—तो यहाँ से हमारा साधन-युक्त जीवन आरम्भ होगा। आप शान्ति को महत्त्व देंगे, जीवन मुक्ति को महत्त्व देंगे, भगवत्-भक्ति को महत्त्व देंगे, आपके भीतर इस अविनाशी तत्वों के प्रति महत्त्वबुद्धि अगर पैदा हो गई, तो फिर अपने विकारों को मिटाने के लिए आपको प्रयास और संघर्ष नहीं करना पड़ेगा। धन का लोभ भीतर बना रहे और निश्चिन्त रहने की चेष्टा करो तो मस्तिष्क में उठने वाले चिन्तन को अभ्यास करने में, चेष्टा करने से कुछ देर के लिए रोक सकते हैं, लेकिन उसका नाश नहीं होगा। कुछ देर के बाद वह फिर अपना रंग दिखाएगा।

स्वामीजी महाराज ने हम लोगों को सलाह दी कि तुम्हारे में इतनी सामर्थ्य है कि तुम अगर चाहो, तो जिस क्षण चाहो, उसी क्षण में "नहीं" को "नहीं" कह करके अस्वीकार कर सकते हो। तो अपनी ओर देखना, अविनाशी जीवन की आवश्यकता का अनुभव करना—हमारा पुरुषार्थ है और उसकी पूर्ति का सारा प्रबन्ध जुटाना-यह जीवनदाता का दायित्व है। अपना दायित्व वे बहुत अच्छी तरह से निभाते हैं।

पहले-पहले जब मुझे मालूम हुआ कि मैं अपनी भूल के परिणाम में फँसी हुई हूँ, तो सोचा कि इसको मिटाने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। तो थोड़ी मैंने अपनी ओर से चेष्टा की। बहुत अच्छी तरह से याद है, शरीरों के साथ मिल-मिल कर रहते-रहते, यह भ्रम इतने जोर का पक्का हो जाता है कि सोचने की कोशिश करो—कि यह शरीर "मैं" नहीं हूँ, इस शरीर में मैं नहीं हूँ, यह शरीर मेरा नहीं है—यह तो सोचना किसी तरह से भीतर बैठता ही नहीं था। ऐसा लगता कि यही तो है। ऐसी जब कठिनाई मुझको होने लगी, तो मैंने स्वामीजी महाराज को बताया कि महाराज, आप जो कहते हैं, वह सत्य मालूम होता है, इसको मुझको सन्देह नहीं होता। जैसा आप कहते हैं वैसा करने का मुझे शौक भी है, चाहती भी हूँ कि प्रयोग कर देख लूँ, लेकिन ऐसे कुछ हमसे हो नहीं रहा है। बड़ा अद्‌भूत लगता है, कि न जाने कौन-सा फार्मूला स्वामीजी महाराज बोल रहे हैं, जो हमारे भीतर बैठता ही नहीं है। इस पर उन्होंने अच्छी तरह इस बात को बताया, कि भाई! देखो, उस सत्य को पकड़े रहना और उससे अभिन्न होने की आवश्यकता अनुभव करना—जीवन के लक्ष्य के रूप में रखो और जितनी तुम्हारी सामर्थ्य बच गई है, उसको सदुपयोग करो। अविनाशी जीवन से अभिन्न कराने का सारा दायित्व उस जीवनदाता ने, उस समर्थ स्वामी ने मनुष्य के दुर्बल कन्धों पर नहीं डाला है।

दुर्बलताओं से घिरा हुआ व्यक्ति अपने प्रयास से, अपनी ओर से चेष्टा में लगा हुआ है। तो जितनी सामर्थ्य उसके पास है, उतनी ही चेष्टा उसमें अपेक्षित है! कितनी बड़ी बात है! तो प्रयास कर लो अपनी ओर से और उसके बाद उस सामर्थ्यवान की शरण में, उस परम-कृपालु की कृपा में आराम करो। कैसे? कि अब मेरे लिए करणीय कुछ भी शेष नहीं है। तो प्रयत्न चला गया न! अहम् का स्फुरण बन्द हो गया। स्फुरण बन्द हो गया तो वह गलने लगा, खत्म होने लगा और उसके साथ जिस साधक ने कृपा-शक्ति का

आश्रय लिया, उसको उन कृपालु की कृपा शक्ति स्वयं ही जाल में से निकालती है, उसकी दुर्बलताओं को मिटाती हैं, उसकी मलिनताओं को धोकर के साफ करती है, प्रभु के प्रेम का पात्र बनाती है। तो वह प्रक्रिया बड़ी ही आरामदेह है। साधक अपनी ओर से जब हारने लगता है, तो जिताने वाले को मजा आता है। बहुत आनन्द की बात है। एक बार दृढ़तापूर्वक उस लक्ष्य को दृष्टि में रख करके आप उसमें लग जाएँ, बस।

प्रवचन 17

पूज्य सन्त महानुभव, सत्संगप्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों!

मानव-सेवा-संघ साधकों का संघ है। इस नाम से मानव-हितकारी आवश्यक बातों का प्रकाश स्वामीजी महाराज ने किय है। यह कोई नया मत नहीं है, नया पंथ नहीं है, नया सम्प्रदाय नहीं है। एक बार एक सज्जन ने पूछा, "स्वामी जी महाराज! बहुत-सी संस्थाएँ पहले से काम कर रही है और क्यां बहुत से सम्प्रदाय और संघ पहले से बने हुए हैं, तो आपने एक और क्यों बनाया?" महाराजजी ने उत्तर दिया, भाई देखो! मानव मौलिक रूप में एक समान है, कुछ बाहरी बातों में एक-दूसरे से भिन्न है। अनेक प्रकार की भिन्नता के रहते हुए भी, आन्तरिक एकता के आधार पर एक चीज, एक संस्था, एक मंच ऐसा होना चाहिए जहाँ सभी सम्प्रदायों, सभी मतों, सभी पंथों के व्यक्तियों को बैठकर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने का अवसर मिले। अलग-अलग सम्प्रदाय अलग-अलग ढंग से अलग-अलग रुचि और बनावट के व्यक्तियों को विकास का मार्ग दिखाते हैं। कोई गलत बात नहीं बताता है। लेकिन अलग-अलग रुचि, बनावट और योग्यता होने से साधन-प्रणालियों के बाहर रूप भी बहुत जगह पर अलग-अलग हो जाते हैं। फिर क्या होता है कि मत, पंथ, सम्प्रदाय बनते तो हैं साधक-समाज की भलाई करने के लिए, उनको आगे बढ़ाने के लिए, मार्गदर्शन करने के लिए, लेकिन बाहरी बातों में भेद देखकर उन सबके बीच में एक वर्गीकरण हो जाता है। ईश्वरवादी ऐसा सोचने लगता है कि हम अनीश्वरवादी से भिन्न हैं। शैव सोचने लगता है कि हम वैषणवों से भिन्न हैं। एक सम्प्रदाय का साधक सोचने लगता है कि हम दूसरे सम्प्रदाय के साधकों से भिन्न हैं। इस तरह से सम्प्रदाय बनते तो हैं आन्तरिक विकास के लिए, मानव सजाज के हित के लिए, लेकिन आन्तरिक विकास पर दृष्टि नहीं जाती और मानव बाहरी विधि-विधान को पकड़ कर समाज के बीच में भेद की दीवार खड़ी कर लेता है। फिर क्या होता है, कि सत्य को अपना कर सबके लिए सम्पूर्ण जीवन को सुन्दर और हितकारी बनाने के बदले आपस में एक-दूसरे के भेद-भाव से महजब के नाम पर गैर मजहबी काम होने लगते हैं।

आरम्भ करते हैं हम लोग यह मान्यता लेकर कि हम साधक हैं और हमारा अमुक सम्प्रदाय है। उस सम्प्रदाय ने एक विशिष्ट प्रकार की साधना-प्रणाली सिखाई। वह साधना-प्रणाली किसलिए है कि तुम्हें उन सारी भेद-सीमाओं का पार करा करके जहाँ पर मौलिक सत्य है, जिसमें कि भेद है ही नहीं, जिसमें विभाजन सम्भव ही नहीं है, वहाँ तक पहुँचा दे। आरम्भ तो करते हैं हम सब सीमाओं को पार करके, असीम-अननत से अभिन्न होने के लिए, लेकिन बाहरी भेद और सीमाओं को लेकर क्या करते हैं? साधक-साधक से अलग हो जाता है, दूर हो जाता है। हम आपकी पंक्ति में नहीं बैठ सकते, क्योंकि हम तो शैव हैं और आप वैष्णव हैं। हम आपके साथ नहीं मिल-जुल सकते,

क्योंकि आप ईश्वरवादी है और हम अनीश्वरवादी हैं।

आप सभी भाई-बहन, मानव-सेवा-संघ के प्रेमी इस विशेष अवसर पर श्री महाराजजी की प्रेरणा से प्रेरित होकर यहाँ आए हैं। एक आवश्यक चर्चा आपको सुना रही हूँ। यह उस समय की बात है जबकि श्री महाराजजी का शारीरिक स्वास्थ्य बहुत बिगड़ चुका था। उनके पास बैठे-बैठे मानव-सेवा-संघ की गम्भीरता मेरी दृष्टि में आई। उस मौलिक सत्य को जीवित रखने के लिए अनेक प्रकार की बाधाओं को हटाने, अनेक प्रकार के प्रलोभनों पर विजय पाने तथा उस सत्य को समाज में जाग्रत बनाए रखने का दायित्व जब मैंने अपने पर देखा, तो अधीर होकर मैंने कहा, महाराज जी! यह बड़ा दायित्व इस दुर्बल व्यक्ति से कैसे ढोया जाएगा? उन्होंने करुणित होकर आर्द्र हृदय से सिर पर हाथ रख और कहा, "बेटा तुम लोगों का काम तो केवल इतना है कि इस सत्य की मशाल को जलाए रखना। इस सत्य के द्वारा मानव-समाज को परित्राण दिलाने के लिए तो अच्छे-अच्छे साधक, बड़े-बड़े व्यक्तित्व आएँगे तुम्हारे पास" उन्हीं की प्रेरणा से सब कार्य हो रहा है और वे स्वयं अदृश्य रूप से कार्य कर रहे हैं। एक सन्त से बात करते समय उन्होंने यह भी कहा था, "अब तक मैं जितना कर चुका हूँ, उससे अधिक करूँगा। अब तक मैं जितना कह चुका हूँ, इससे अधिक कहूँगा।" तो सत्य की मशाल को जलाए रखने के लिए उनकी प्रेरणा से, उनकी सद्भावना से पे्रेरित होकर आप लोग आ रहे हैं। यह मानव-सेवा-संघ के प्रेमियों को संबल देने वाली, बल देने वाली बात है।

मानव-सेवा-संघ प्रभु की रचना है। स्वामीजी महाराज ने कभी नहीं कहा कि मानव-सेवा-संघ मैंने बनाया है या कि यह आश्रम मैंने बनाया। उन्होंने सदा यही कहा कि यह प्रभु का संकल्प है। मानव संसार की बहुत सी बातों में बहुत पराधीन है और साधन के पथ में कदम आगे बढ़ाने में वह सर्वथा स्वाधीनहै। आज क्या हो गया है कि गलत-गलत काम करके हम दुनियाँ में धाक जमा लेंगे—इस बात में आदमी विश्वास करने लग गया है और सत्य का सहारा लेकर हम लौकिक-पारलौकिक कल्याण कर लेंगे—इस बात में उसका विश्वास घट गया है। बड़ा अनर्थकारी काम हो रहा है समाज में। आप सभी जितने यहाँ उपस्थित हैं, आप में से कुछ भाई-बहन ऐसे भी होंगे जो सदस्य नहीं भी बने होंगे, लेकिन फिर भी उनको मानव-सेवा-संघ की बात पसन्द आती होगी। इसलिए आप सबके लिए बहुत ही हितकारी बात स्वामीजी महाराज की प्रेरणा से मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ, कि इस समय जिन संकटों के भीतर से होकर मानव-समाज गुजर रहा है, उन संकटों का भार हल्का करने में आप सभी उपस्थित भाई-बहन समान रूप में महत्त्वपूर्ण आट अदा कर सकते हैं। कैसे?

पहला पाठ मानव-सेवा-संघ ने सिखाया कि अनुसरण करो अपने विचार का। साधक बनो, पथ ग्रहण करो अपनी पसन्दगी के अनुसार और आदर करो सभी पथ के साधकों का।यह दृष्टिकोण हम सभी मानव-सेवा-संघ के अनुयायियों को अपना करके अपने जीवन में रखना बहुत जरूरी है। किसलिए? कि आपके अहं रूपी अणु में अगर यह उदारता आ गई कि मैं ईश्वरवादी हूँ तो मानव-समाज का हर ईश्वरवादी मेरे स्नेह और सद्भाव का अधिकारी है और ऐसे ही मानव-समाज का हर अनीश्रवादी भी मेरे स्नेह और सद्भाव का अधिकारी है। अगर इतनी उदारता आपके व्यक्तिगत जीवन में आ गई तो मंच पर बैठकर के व्याख्यान दिए बिना भी यह उदार नीति

मानव-समाज में फैल जाएगी। अब आप सोचकर के देखिए, कि हममें से हर एक उस अनन्त परमात्मा की एक छोटी इकाई है, और उसमें जो बीजरूप में प्रेम तत्त्व विद्यमानहै, उसी के आधार पर हम अनन्त परमात्मा के प्रेमी होने जा रहे हैं—यह लक्ष्य है अपना। इतना महान उद्देश्य हमारा पूरा होने जा रहा है। इसमें अगर इस दृश्य जगत् के भीतर एक वर्ग और दूसरे वर्ग के बीच में हम लोग भेद बना देंगे, तो हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा।

स्वामीजी महाराज ने मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य बताया—अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। मान लीजिए कि सुन्दर समाज के निर्माण में हम नगर-नगर में कुएँ नहीं खुदवा सकते, हम सबके चलने के लिए बढ़िया सड़कें नहीं बना सकते, हम सब बीमारों के लिए औषधि का इन्तजाम नहीं कर सकते, संसार में समाज को सुन्दर बनाने के बड़े-बड़े जो काम हैं, हम नहीं कर सकते। लेकिन सबसे मौलिक बात, सबसे बढ़िया बात, जो समाज को सुन्दर बनाने वाली है, हम हमारे भीतर विद्यमान है और वह क्या है, कि मत, पंथ, भाषा, रहन-सहन, ऊँची योग्यता, पद आदि के आधार पर जो भेद-भाव बन गया है, उस भेद-भाव को मिटाने में अगर हमारा स्वयं का जीवन सहायक बन सका, तो कितना बड़ा काम हुआ! हम मानव-सेवा-संघ के विशेष कार्यकर्त्ता कहलाते हैं कि नहीं—इसका यहाँ पर कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व इस बात का है कि हम मानव-सेवा-संघ के अनुयायी हैं, इसका मूल्यांकन इस आधार पर होगा कि हमारी अशान्ति मिट गई कि नहीं। अगर अशान्ति मिट गई और सत्य की स्वीकृति की पऋति के आधार पर मिट गई, तो हम मानव-सेवा-संघ के सच्चे अनुयायी हैं। क्यों? क्योंकि मेरी अशान्ति मिट गई तो मेरा अपना कल्याण हो गया और मेरे शान्त जीवन के द्वारा बिना व्याख्यान दिए ही दूसरे भाई-बहनों में शान्ति फैलने लगी, तो सुन्दर समाज का निर्माण हो गया—यह मुख्य बात है।

"मानव-सेवा-संघ" का काम सत्य-संकल्प से हो रहा है। स्वामी जी महाराज ने कहा कि समाज की उदारता से सेवा की जो सामग्री तुम्हारे पास आवे उसका सदुपयोग करने का दायित्व तुम्हारे ऊपर है। चिन्ता करना तुम्हारी साधना नहीं। अतः किसी भी साधक को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। श्री महाराजजी ने दो जोरदार फण्ड बताए हम लोगों को—ईश्वर-विश्वास और कर्त्तव्यपरायणता। मेरा विश्वास है कि महाराजजी के दिए हुए फण्ड को अगर हम लोग जीवन में धारण करके रखेंगे, ईश्वर-विश्वास और कर्त्तव्यपरायणता का सहारा लेंगे, तो बिना चेष्टा किए सेवा की सामग्री हमारे पास आती रहेगी, जैसे अब तक आ रही है।

मानव-सेवा-संघ का अर्थ है—सम्पूर्ण शाखाओं के साथ यह विचारधारा

धरती पर जितनी दूरी में फैल जाए—वह सारा क्षेत्र मानव-सेवा-संघ हैं। अतः सब शाखाओं के कार्यकर्त्ताओं एवं साधकों को मैं समान रूप से आत्मीयता के साथ आह्वन करती हूँ कि हम लोगों के लिए सावधान होकर काम करने का अवसर है। आज समाज में अनेक प्रकार की पीड़ा दिखाई दे रही है। समाज के भीतर नैतिक स्तर पर बहुत गिरता हुआ दिखा रहा है। जहाँ जाओ वहाँ स्वार्थ-बुद्धि दिखाई देती है, अविश्वास दिखाई देता है, परस्पर विश्वासघात दिखाई देता है। यह जो समाज के कल्याण के विपरीत बातें हो रही हैं, हम सब साधकों के लिए एक अवसर है कि सत्य का प्रयोग अपने जीवन में करें और जब मौका आए तब मानव-समाज के परित्राण के लिए हम इस शरीर

और प्राणों की आहुति दे दें। इसमें डरना नहीं, पीछे हटने से काम नहीं बनेगा।

एक दिन मैं महात्मा ईसा की कथा सुना रही थी। जो भगवद्भक्त हैं, हमको बहुत प्यारे लगते हैं, क्योंकि मेरे प्यारे को प्यार किया उन्होंने। मीराजी की याद आती है तो मेरे हृदय में बहुत अच्छा लगता है, क्योंकि मेरे ठाकुर को प्यार किया उन्होंने। तो एक दिन ऐसे ही एक साधक ने कहा कि ईसा इतने बड़े प्रेमी थे भगवान् के, तो उनको सूली पर क्यों चढ़ना पड़ा? मैंने कहा कि मैंने स्वामीजी महाराज के मुख से सुना है कि जब उनके साथ के लोग भगवान् के प्रेम की बात नहीं सुन रहे थे, उनका विरोध कर रहे थे, तो महात्मा ईसा एक दिन अकेले जंगल में वृक्षों के झुरमुट में जाकर बैठ गए और भगवान् से बातें करने लगे। प्रेमीजन तो एकान्त में डाइरेक्ट उनसे बातचीज कर सकते हैं, तो उन्होंने कहा—हे पिता! तेरा काम तो मैं करूँगा, करना चाहता हूँ, लोगों को कितनी सच्ची बात मेरे बारे में सुनाता हूँ। लेकिन पता नहीं क्यों लोग सुनते ही नहीं। तो उन्हें परमात्मा का उत्तर मिला कि अरे पुत्र! मेरे कार्य के लिए अभी तूने अपने प्राणों की आहुति कहाँ दी? ऐसा उनको भगवान् ने कहा। यह बात बुहत ही सच्ची है। मैं कहती हूँ कि हम लोगों का शरीर जो है, वह बीमार होकर के, बिस्तर में पड़ करके, दूसरों की दया का पात्र बन करके आखिर में खत्म तो होगा ही। अतः इसकी आहुति देने के लिए हम लोगों को भी तैयार करना चाहिए।

सभी भाई-बहनों को, जो मानव-सेवा-संघ के प्रेमी हैं और जो मत, पंथ, सम्प्रदाय के भेद को मिटा करके मानव-हृदय की एकता को स्थापित करके प्रेम का प्रसार करके उस असीम के प्रेमी होने का लक्ष्य बनाकर चलते हैं, उनको परमात्मा के बल पर अपेन को बलवान समझना चाहिए। हमें अपने बल का अभिमान नहीं करना चाहिए। प्रत्युत इस बात का गौरव होना चाहिए कि मैं तो उस अविनाशी का बालक हूँ, उस अविनाशी का दास हूँ, उस अविनाशी का मित्र हूँ, उस अविनाशी का पिता हूँ। आप अगर पिता बन जायेंगे तो बालक बनकर आपकी गोद में खेलने में भी उसको माज आता है, डाँट सुनने में भी मजा आता है।

यशोदा मैया की झिड़कियाँ उन्होंने सुनी हैं। रोनी-रोनी सूरत बनाकर, आँखों में से आँसू टपका कर ऐसे खड़े हैं डर करके, कि जैसे इनको कुछ मालूम नहीं है। वह ऐसा दिव्य दृश्य है, ऐसी दिव्यलीला है कि आज भी कोई यशोदा मैया बन जाए, उतना वात्सल्य हृदय में भर ले, तो आज भी वह बालक बनकर आपके सामने वैसे ही खड़ा हो सकता है, जैसा द्वापर युग में। हमारे भीतर अगर किसी प्रकार का बल है तो उस समर्थ का बल है। हमारे जीवन में अगर गौरव किसी बात का है, तो इसी बात का गौरव है कि हम उस अनन्त के चिर सम्बन्धी हैं।

अगर आगे बढ़कर लौकिक जगत् की सेवा करनी है, तो सेवा लेने के लिए वही आया है, सेवा देने की सामर्थ्य वही दे रहा है—ऐसा सोचिए। एक वस्तु उठाकर हाथ में प्रेमपूर्वक देने चले और लेने वाला उसको स्वीकार करे और उसी समय आपके ध्यान में आ जाए कि अहा! मेरे स्वार्थ भरे इस कठोर हृदय को कोमल और उदार बनाने के लिए मेरे प्यारे! तुम लेने आए हो। अगर यह बात याद आ जाए, तो यह मैं सच कहती हूँ कि वस्तु हाथ में रह जाएगी और आपको प्रेम समाधि लग जाएगी। अभी भी ऐसा हो सकता है। जंगल में जाकर, पहाड़ की गुफा में घुस कर नहीं, वह वृक्ष के नीचे बैठकर नहीं, पत्तों का कपड़ा पहनकर नहीं। इस सुख-दुःख से भरे हुए जगत् में, इस

समाज में घुस करके काम करते समय, वस्तु उठाकर लेते-देते समय, अगर यह भाव उदित हो गया, तो समाधि लग जाएगी। भेद मिट जाएगा। कौन देने वाला है, कौन लेने वाला है—ये दो नहीं रहेंगे।

महाराजजी ने प्रेम के गणित का एक बढ़िया फार्मूला पढ़ाया हमको। उन्होंने कहा—"देवकी जी! यह लोगों का भ्रम है कि प्रेम पन्थ में द्वैत रह जाता है—एक प्रेमी और एक प्रेमास्पद—यह भ्रम है। वहाँ का गणित तो ऐसा है कि एक और एक मिलकर एक ही होता है, दो नहीं होते। यह हो सकता है, अभी हो सकता है। इसी काम में हो सकता है।

ऐसा अद्‌भुत चमत्कार है जीवन का, कि अपने ही विकास के चमत्मकार से चमत्कृत होकर कभी-कभी सोचने में आता है कि अरे! हम क्या हैं और क्या होकर बैठे थे। आप स्वयं ही अपने विकास पर आश्चर्यचकित हो जाएँगे कि अच्छा! इतना बड़ा रहस्य इसी में छिपा था। तो अवसर है हम सभी भाई-बहनों के लिए कि सब तरह के भेदभावों को मिटाकर अपने हृदय के प्रेमभाव को शुक्र और पवित्र बनाएँ, ताकि उस अनन्त प्रेम स्वरूप परमात्मा को रस देने के लायक हो जाएँ। उस भेदभाव से रहित जीवन के द्वारा साधक-साधक प्रेमपूर्वक मिल तो सकें, यह पूछे बिना कि आप कि पंथ के हैं, आप किस मत के हैं, आप किस सम्प्रदाय के हैं। एक जगह पर बैठकर जीवन के सत्य की चर्चा कर सकें। आप सत्य के सत्यार्थी हैं, आप प्रेमास्पद के प्रेमार्थी हैं, आप शान्ति के चाहने वाले हैं, आप सत्य के शोधक हैं—इस नाते से साधक साधक से प्रेमपूर्वक दिल खोलकर बातें तो कर सकें। सब प्रकार के भेद सीमाओं को मिटा करके जीवन की मौलिक एकता के आधार पर विश्व-प्रेम की एकता फैलाने का संदेश है—मानव-सेवा-संघ।

आश्रम दिखाई दे रहा है, दीवारें दिखाई दे रही हैं और सब प्रवृत्तियाँ दिखाई दे रही हैं, ग्रन्थ दिखाई दे रहे हैं और शाखाएँ दिखाई दे रही हैं—हमारी बुद्धि की स्थूलता के कारण ये सीढ़ियाँ बना दी गई हैं कि स्थूल पर से चढ़ते-चढ़ते सब स्थूल को छोड़ करके सूक्ष्म में हम लोग पहुँच जाएँ। इतनी उदारता हृदय में रख करके, इतनी व्यापकता दृष्टि में रख करके हम सब मानव-सेवा-संघ के प्रेमी इसी जीवन में अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैं।

प्रवचन 18

सत्संग-प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयों!

होली का पुण्य पर्व असत्य पर सत्य की विजय का त्यौहार है—ऐसा हमने सुना है। असत्य पर सत्य की विजय का प्रमाण है—मानव जीवन। ऐसा हमने समझा है। अब जो कार्यक्रम हमारा यहाँ चल रहा है उसमें इसी दिशा में अधिक से अधिक प्रगति लाने की चेष्टा है। निज विवेक के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् का त्याग करना, इसे हमारा पुरुषार्थ बताया गया। इतना हम भाई-बहिनों को स्वयं अपने द्वारा करना है और असत् के संग के त्याग का परिणाम है कि अपने ही में विद्यमान सत्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसके लिए अपने को कुछ करना नहीं है। करना केवल इतना है कि जिस असत् को असत् करके हम जानते हैं, उसकी पराधीनता को नापसन्द कर दें और जिस सत्य की माँग हम अनुभव करते हैं, उसको पसन्द कर लें।

स्वामीजी महाराज ने हम लोगों के लिए बहुत अच्छी व्याख्या इस बात की की है कि

विकास कहाँ पर रुका है? जो आनन्दमय अनुभव हमारा अपना जीवन बन सकता है वह अपने से बहुत दूर और बड़ा ही दुरुह और बड़ा कठिन लगता है। इसको मिटाने के लिए कई उपाय उन्होंने सामने रखे। पहली बात यही है कि हम निज विवेक का आदर करें। दूसरी बात है कि सत्संग को जीवन का अति आवश्यक कार्यक्रम बनाएँ। महात्मा गाँधी ने अपने साहित्य मे अपने जीवन का अनुभव लिखा है। उसमें यह लिखा है कि मैं भोजन के बिना रह सकता हूँ, परन्तु प्रार्थना के बिना नहीं। तो जिस प्रभु की सत्ता उन्होंने स्वीकार की थी और जिसके बल पर वे निर्भय होकर संसार में चलते थे, उनकी प्रार्थना को उन्होंने बहुत आवश्यक माना। प्रार्थना उनके लिए ऐसा अनिवार्य तथ्य था कि वे भोजन को उसके आगे कम महत्त्व देते थे। प्रार्थना-काल में अपने ही अन्तःवासी परमात्मा के साथ उनका नित्य सम्बन्ध इतना सजीव और जाग्रत होता कि उस प्रार्थना की घड़ी में लाखों लोगों के बीच में बैठे हुए भी वे शरीर और संसार को भूल जाते थे। भीतर की आवाज उनको सुनाई देती थी। उसे वे ईश्वर की आवाज कहते थे। भीतर का प्रकाश उनको दिखाई देता था, उसको वे ईश्वर का प्रकाश कहते थे और इतना बल भर जाता था उनमें कि जो निर्णय उनके भीतर से प्रकट होता था कि अब ऐसा करना चाहिए, तो उससे उनके अन्दर शक्ति भर जाती थी। बड़ी से बड़ी कठिनाई सामने आ जाये तो उससे टकरा जाने के लिए वे तैयार रहते। यह तो उनकी दशा है जिनके जीवन में अपने इष्ट के प्रति, अपने भगवान् के प्रति इतनी सजीव आस्था थी और अनुभव था।

अब अपनी बात मैं रखूँ। हम लोगों की दशा क्या है? हम लोग भी इस बात को चाहते हैं कि जिस ईश्वर को हमने माना है और जिस ईश्वर के विश्वास को लेकर जन्म-जन्मान्तर की सारी समस्याओं को समाप्त करके अनमोल अविनाशी जीवन पाना चाहते हैं, उस ईश्वर के प्रति हमारे भीतर विश्वास भी सजीव हो, सम्बन्ध भी सजीव हो और उनकी उपस्थिति का सरस अनुभव भी अपने को हो। ऐसा हम सब चाहते हैं। बहुत सजीवता की बात है यह। शंका की घड़ी में दिल में दुविधा को लेकर जब हम ईश्वर को मानते हैं तो उनसे सीधा सम्बन्ध होने का एक सरस प्रभाव हमारे भीतर-बाहर नहीं भरता है और तभी आदमी किसी भी क्षण में ईश्वर का सहारा छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है।

एक साधक मुझे मिले जिनके जीवन की चर्चा सुनकर मुझको बहुत अच्छा लगा। वे कहने लगे—बचपन में जब से मुझे होश हुआ तब से साधु-सन्तों के प्रति प्रेम और स्वयं साधु बनने का शौक मुझ में पैदा हो गया था। विवाह होने से पहिले मैं दो-तीन बार घर छोड़कर भाग चुका था। पढ़ने-लिखने में बहुत मेधावी और माँ-बाप का इकलौता लड़का। बहुत ही उसकी आवश्यकता थी परिवार में। अनेक बार पकड़-पकड़ कर उसे घर लाया गया। कहने लगे कि मेरा ही संस्कार रहा होगा कि गृहस्थ बन गया। लेकिन वह लगन मेरी गयी नहीं। इतनी कथा तो मुझे बहुत प्रिय लगी। उसके बाद वे कहने लगे कि बहिनजी! मैं अपनी एक भीतरी बात पूछने आया हूँ आपसे, और वह यह है कि मैं भगवान् को मानता भी हूँ, उनके आश्रित भी रहता हूँ, और हे प्रभु! मैं तेरा हूँ—ऐसा मैंने कई बार कह दिया। और फिर भी एकान्तिक साधना की घड़ी में मेरा मन, मेरा ध्यान भगवान् पर टिकता नहीं है, भटक जाता है। वे सज्जन इस बात को अच्छी तरह से महसूस कर रहे थे जिसको कि मैंने भी महसूस किया है। तो वह बहुत ही सच्चाई से

सीधी-सादी भाषा में कह रहे थे कि बहिनजी, मैं यह चाहता हूँ कि अपने प्यारे के प्रति मेरा जो सम्बन्ध और उनके प्रति मेरा जो समर्पण भाव है वह मेरे जीवन को सरस बना दे। भीतर से जिस सजीवता और जिस सरसता को अनुभव करना चाहता हूँ वह मेरे भीतर अब तक नहीं आई। मैंने कितनी बार कहा है कि हे प्रभु! मैं तुम्हारी शरण हूँ। तो आज तक उन्होंने तो कुछ किया ही नहीं मेरे लिए। ईमानदार सच्चे साधक की बात है। और फिर भी उन सज्जन के भीतर सत्य की अभिव्यक्ति न होने का दुःख है। उसको उन्होंने इतनी सरलता से मुझको बताया। कहने लगे कि जब ऐसा हो चला है तो मैं क्या करूँ? जब मन और ध्यान एक हमारे इष्ट में केन्द्रित नहीं हो पाता है, तो मैंने सन्तों से जैसा सुना है, मन के और चित्त के भटकाव को मैं द्रष्टा बनकर देखने लगता हूँ। अर्थात् ज्ञान-पक्ष की बात आ जाती है। समर्पण भाव उसी समय छूट गया। फिर दूसरा पंथ पकड़ लिया। तो विश्वास के पंथ में चलते हुए अपने भीतर जब तक सजीवता नहीं आ जाती, सरसता नहीं आ जाती, उसका प्रभाव रोम-रोम को एकदम आप्लावित नहीं करने लग जाता है, तो साधक भटक जाता है। उस भाई का हाल सुन करके मुझे ऐसा लगा कि इनके दिल में यह शंका हो गयी कि मैंने तो अनेक बार कहा कि हे प्रभु! मैं तेरा हूँ, लेकिन प्रभु ने मेरे लिए कुछ किया ही नहीं, तो अब रहने दो उनको। अब उस पंथ से काम नहीं चलता है तो अब विचार का पंथ ग्रहण करो। अब देह-देही विभाजन करके शरीरों में होने वाली घटनाओं का अलग से द्रष्टा बन करके देखना आरम्भ करो। विश्वास का पंथ छूट गया, विचार का पंथ आरम्भ हो गया और इस दुविधा में उन सज्जन का बहुत-सा समय निकल गया।

महात्मा गाँधी की तो ऐसा दशा नहीं थी। वे तो ईश्वर में इतना दृढ़ विश्वास करते थे, इतना सजीव कि शान्त हुए, चुप हुए और संसार गया। उनकी और उनके परमात्मा के बीच की घनिष्ठा इतनी फलदायिनी होती थी कि उसी क्षण में सब शारीरिक दुर्बलता खत्म। सब बाहरी परिस्थितियों की समस्याओं के समाधान सामने आ जाएँ। और इतने जोर से उसे अनुभव करते थे कि उसका अनुसरण करते समय अगर उनको कोई मना करे, तो मानेंगे नहीं और गोली चला दे, तो रुकेगे नहीं। एक महिला जो उनके साथ रहती थी और जिन्होंने बचपन से बहुत बड़ी उम्र तक महात्मा गाँधी के आश्रम में जीवन बिताया, उन्होंने मुझको बतायाकि बापू जब प्रार्थना के बाद उठते तो कोई निश्चय की बात हम लोगों को सुना देते। पीछे जो उस समय के बड़े-बड़े राङ्कª-प्रेमी लोग गाँधीजी के साथ थे वे सोचते कि हम कहेंगे बापू से कि ऐसा निर्णय मत लीजिये और थोड़ा बैठिये तो हम लोग पुनः सोच लें। ऐसा सोचकर जो वे बापू के पास जाने के लिए कदम बढ़ाते तो ऐसा लगता कि जैसे वायुमण्डल थर्रा रहा है, काँप रहा है। ऐसा मत करो, यह उनको कहने का लोगों को साहस नहीं होता था। इतनी शक्ति, इतना फोर्स उस महापुरुष के जीवन में भर जाता था, लाखों लोगों के बीच में बैठे हुए आधे घण्टे की प्रार्थना में, क्योंकि उनका तार मिला हुआ होता था प्रभु से। बाद में तो बाहर आँख बन्द की नहीं कि शरीर और संसार गया। और वह उन्हीं के साथ होते। उस प्रेम में ही होते। उस रस में ही होते। उस प्रकाश में ही होते। और उसी में उनको मार्गदर्शन भी मिल जाता कि आगे क्या करना चाहिये। कभी कोई संकेत मिल जाता, कभी कोई चित्र दिखाई दे जाता और कभी ध्वनि सुनाई दे जाती। ये सारी बातें उनके मुँह की कही

हुई और लिखी हुई हैं। तो उनकी बात छोड़िये। वे हमारे प्रणम्य हैं, उनकी चरण-

धूलि हम मस्तक पर चढ़ाएँ।

अब अपनी दशा देखो। हम लोगों की दशा ऐसी है कि ईश्वर में हमने विश्वास भी किया, उनको अपना भी माना। और उनके होकर रहने की बात स्वामीजी महाराज ने बतायी कि भैया, तुम उनके होकर रहो तो उसका फल क्या होगा? कि तुम अपने में अनुभव करोगे कि तुम्हारा नित्य वास परमात्मा में है, ऐसा अनुभव करो। जैसे कि वे स्वयं अनुभव करते थे। ऐसा सुन करके अच्छा लगता, तो सोचा कि सन्त हैं, भगवद्भक्त है और सच्ची बात, अनुभव-सिक्त बात बता रहे हैं, तो हम लोगों को मान लेना चाहिये।

हम में से बहुत से भाई-बहिनों ने ईश्वर-विश्वास की बात को स्वामी जी महाराज के जीवन के अनुभव के आधार पर स्वीकार कर ली। स्वामी जी महाराज ने कहा है कि परमात्मा ही सत्य है, परमात्मा ही नित्य है। केवल उसी से तुम्हारा नित्य सम्बन्ध है। उसकी आत्मीयता से जाग्रत प्रियता ही परमात्मा से मिलने का अचूक उपाय है—इतना उन्होंने कह दिया। और हम लोगों ने मान लिया और किसी भी तर्क से उनके द्वारा कह गये इन महावाक्यों को हम लोग काट नहीं सकते हैं, इसमें शंका नहीं कर सकते हैं। एक ओर तो यह सत्य है और दूसरी ओर अपनी दशा यह है कि भीतर-भीतर एक ऐसी दुर्बलता बैठी है कि भाई, जो परमात्मा दिखाई नहीं देता, समझ में नहीं आता, कुछ उसके बारे में अपनी जानकारी भी नहीं है, उसके भरोसे इतना बड़ा खतरा कौन ले? कौन-सा खतरा? कि भाई, जमा किए हुए बैंक एकाउन्ट पर से अधिकार कैसे उठा दें? बड़े यत्न से जाने हुए शरीर का मोह कैसे छोड़े दें और सब समय जो कुटुम्बी जन मुझे घेरे हुए हैं, बड़े प्रेम से मेरी सेवा कर रहे हैं, खिला-पिला रहे हैं, मेरी सब प्रकार से देख-रेख करते हैं, तो उन कुटुम्बीजनों का सहारा कैसे छोड़ दें? क्योंकि वे सहारे तो प्रत्यक्ष हैं, मुझको मिल रहे हैं, मेरी मदद कर रहे हैं और दूसरी तरफ जो स्वामी जी महाराज ने बताया वह बात तो ठीक लगती है, लेकिन है बहुत मुश्किल।

इतनी-सी दुविधा रह गयी और अब इसको भी मिटाना होगा अगर हम ऐसा सोचें कि अच्छा जाने दो। जो सामने सब प्रकार से सुख-सुविधा दे रहा है, उसी को पकड़ लो और सन्तजन, भक्तजन जिनके बारे में बताते हैं वह अपना जाना हुआ तो है ही नहीं, तो उसको रहने दो—तो ऐसा कहने का साहस भी अपने में नहीं। भगवान् की चर्चा को जीवन में से निकाल देना भी पसन्द नहीं हैं। चर्चा करते रहेंगे भगवान् की और चिपके रहेंगे नाशवान् से। तो क्या इसमें सफलता मिल सकती है? नहीं मिल सकती है। जिस नाशवान् से चिपके करके, उसको मुट्ठी में बाँध करके बड़े जतन से उसके सहारे शान्त रहना पसन्द है, क्या आपको उससे शान्ति मिल गयी है? नहीं मिली है।

तो बहुत ही सच्ची बात है जीवन की। मानव-सेवा-संघ ने बड़ी ही गहरी वेदना के साथ इस विषय पर विचार किया कि अगर मनुष्य को सत्य की आवश्यकता महसूस होती है, लेकिन वह ग्रन्थ के पढ़ने में सक्षम नहीं है, तो क्या सत्य उसे नहीं मिलेगा? मिलेगा, जरूर मिलेगा और सचमुच जीवन के सत्य को प्रकाशित करने वाले बड़े-बड़े सन्त हम लोगों के बीच में हो गये हैं, जिन्होंने कहकर सुना दिया हमको "मसि कागद छुओ नहीं" यह सन्त कबीर की वाणी है। उन्होंने कह दिया कि मैंने कागज और स्याही हाथ से छुआ नहीं है तो सत्य मिला कि नहीं मिला? मिला। जब पहली

बार स्वामी जी महाराज ने मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त को प्रकट किया, तो उस समय के अध्यक्ष जो थे, उन्होंने राँची में मानव-सेवा-संघ की महिमा गाते हुए यह कहा कि यह मानव-सेवा-संघ का विचार जो हैं यह ैचपतपजनंस क्मउवबतंबल है। अर्थात् आध्यात्मिक विकास में सबका समान अधिकार है—इस सत्य को प्रकाशित करने वाली यह प्रणाली है।

तो शरीर और संसार की सहायता से बहुत कुछ कमा लिया, बहुत उपार्जन कर लिया। सबका लेखा-जोखा सामने रख के अकेले बैठकर अपने से पूछो कि इतने वर्षों तक जो दौड़-धूप की, परिश्रम किया, उपार्जन किया, उसमें ऐसा कुछ है क्या कि मरने के समय शरीर के छोड़ने की घबराहट को कम करने के लिए मुझको सहारा दे सके? नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। तो फिर उसी में शेष जीवन को भी लगा देना समझदारी की बात तो मालूम नहीं होती है। इसलिए बदलना चाहिये अपने को। और यह बिल्कुल सच्ची बात है कि विचार के प्रकाश में अपने द्वारा अपने जीवन का अध्ययन करते हुए जो निर्णय आप लेंगे उससे आपके अहं रूपी अणु में आमूल परिवर्तन हो जाएगा जो कि अभ्यास के द्वारा नहीं हो सकता।

अभ्यास के द्वारा शरीरों की, स्नायुओं की संवेदनाएँ अर्थात् त्मसिमगमे कन्ट्रोल में आते हैं। इन पर अधिक सचेत हो करके मेहनत करने की जरूरत नहीं होती है। जितना हम अभ्यास करते हैं किसी बात के लिए तो उस अभ्यासजन्य प्रवृत्ति का प्रभाव सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के त्मसिमगमे पर पड़ जाता है। बहुत-सी बातें ऐसी हैं कि अभ्यास के बाद अपने आपसे चलती रहती हैं। ये सारी बातें स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरों के अवयवों पर हो सकती हैं। लेकिन जिससे अपने में परिवर्तन आ जाए, अपने भ्रम का निवारण हो जाए, अपने द्वारा विकारों की उत्पत्ति के कारणों को मिटा सके—यह बातें तो आप स्वयं के द्वारा ही कर सकते हैं, विचार के प्रकाश में कर सकते हैं और अपने निर्णय से कर सकते हैं। इसलिए मानव-सेवा-संघ ने व्यक्तिगत सत्संग को बहुत महत्त्व दिया है। यह तो सामूहिक चर्चा हो रही है। इस चर्चा का एक बहुत बड़ा लाभ अपने को यह मिल सकता है कि चर्चा में जो सुनने में आ रहा है उसके प्रकाश में हम लोग अपने जीवन को देखते जा रहे हैं? तो सत्य क्या है? असत्य क्या है? ग्राह्य क्या है? त्याज्य क्या है? वर्तमान दशा क्या है? वास्तविक जीवन क्या है? अपनी माँग क्या है? अपना लक्ष्य क्या है? इसके सम्बन्ध में दृष्टिकोण स्पष्ट हो रहा है।

अब क्या करना चाहिए? कि सामूहिक रूप से बात-चीत करने का जब समय खत्म हो जाए तो जिस भाई-बहन को जब अवसर मिले, अकेले कहीं बैठ जाओ और इस बारे में विचार करो कि क्या सचमुच मैंने परमात्मा को सत्य माना? अगर उनको सत्य माना तो उनकी महिमा मेरे जीवन में अंकित क्यों नहीं हुई? क्या सचमुच मैंने नाशवान् को त्याज्य माना? अगर माना तो आसक्ति मेरी मिटी क्यों नहीं? अपनी वर्तमान दशा को देखना और वर्तमान दशा को बदल डालने के लिए वर्तमान में जो पुरुषार्थ हो सकता है उसको करना, यह व्यक्तिगत सत्संग का रूप है। तो इस प्रकार के सत्संग को करके ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से जिस भाई-बहन को अपने भीतर कमी मालूम होती हो तो उसको दूर करने का प्रयास जल्दी से जल्दी करना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि प्राण-शक्ति समाप्त हो जाए और सबसे महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम बाकी रह जाए।

मैंने पाश्चात्य दर्शन पढ़ा है और भारतीय संतों के मुख से सुना है कि ज्ञान का प्रकाश देकर,

विज्ञान का प्रकाश देकर, प्रेमरस का भाव देकर परमात्मा हम लोगों को दुनियाँ में भेजते हैं। तो उनके दिये हुए प्रकाश का आप सही उपयोग नहीं कर लेंगे, तो जड़ता बढ़ती चली जाएगी। लापरवाही करने का बहुत लम्बा दुःखद परिणाम हम लोगों को स्वीकार करना पड़ेगा। इसको किसी भी चालाकी से, चतुराई से, बहादुरी से हम मिटा नहीं सकेंगे। इसलिए बहुत ही सजीवता की बात है, बहुत ही सजग होने की बात है कि हम सब भाई-बहिनों को अकेले-अकेले व्यक्तिगत सत्संग करना चाहिये। और सचमुच आज कितना सूझ रहा है उतना कदम तो अवश्य उठाना चाहिये। आगे शक्ति बढ़ती जाएगी, प्रकाश मिलता जाएगा। उद्धार हो जाएगा। मुझे तो बड़ा सन्तोष, बड़ी निश्चिन्तता मिली थी इस बात से कि मेरा उद्धार हो जाए, मेरे विकारों का नाश हो जाए। मेरा जीवन परम शान्ति से भर जाए। जिसको मैंने अपना करके स्वीकार किया है उसके प्रेमस्वरूप से मेरी अभिन्नता हो जाए और इस मधुर अलौकिक प्रेम रस की मधुरता से जन्म-जन्मान्तर के सब विकार धुल जाएँ, ऐसा हम लोग चाहते हैं। यह संकल्प केवल मेरा है, ऐसा नहीं है। केवल आपका है, ऐसा नहीं है। सोचने से ऐसा लगता है न, कि जन्म-मरण की पीड़ा को जिसने सह लिया, मान-अपमान के धक्के जिसने खा लिए, वह खुशी से नहीं तो झक मार के निश्चय करेगा कि चलो अब सन्त-महात्मा जो कहते हैं, वैसा मानें। हार करके केवल अपनी तरफ से इस प्रकार अपने उद्धार का संकल्प हम बनाएँगे, इतनी-सी बात नहीं है। हमारे उद्धार का संकल्प परमात्मा का भी है। मैंने महाराजजी के कथन के अनुसार जो ग्रहण किया है वह बात ऐसी है कि मनुष्य बुरा न रहे, अतृप्त न रहे, अभाव से पीड़ित न रहे, पराधीनता में फँसा न रहे और अपने रसरूप उद्गम से बिछुड़ कर रस के अभाव में दुनियाँ की धूल फाँकना न फिरे— ऐसा संकल्प मेरे जीवनदाता का भी है। ऐसा नहीं है कि वे सब प्रकार से पूर्ण हैं, तो उनको अपने लिए और कोई जरूरत नहीं है। वे हम लोगों की तरफ से उदासनी रहते हो, ऐसा नहीं है। महाराजजी की सलाह मान करके थोड़ा-थोड़ा नाता-रिश्ता, जान-पहचान बढ़ाने की जब मैंने चेष्टा की तो उसके बाद मुझको ऐसा लगने लगा कि भ्रम में पड़े हुए, भटके हुए व्यक्ति को अपने उद्धार के लिए तत्परता कम है। इसकी पीड़ा से पीड़ित होने वाले उस अनन्त करुणासागर परमात्मा को उसकी दुर्गति से अधिक वेदना है। तो मुझे बड़ा बल मिला। मैंने कहा कि चलो, अब सारा भार मेरे ऊपर ही नहीं है। और इसी सहारे मैं परमात्मा से कहती हूँ—"मैंने तेरी छाँह गही, तूने मेरी बाँह गही।" हम थोड़ी-थोड़ी-सी लालसा जगाते हैं तो उनकी ओर से बड़े जोर का आकर्षण आकर हमें उनकी ओर बढ़ने के लिए अधिक तत्पर बनाता है।

इन बातों का व्याख्यान देते समय या व्याख्यान सुनते समय, समूह में बैठकर चर्चा करते समय या ग्रनथ पढ़ते समय भले पता न चलता हो, लेकिन आप जब व्यक्गित सत्संग के लिए अकेले बैठेंगे और अपनी वर्तमान दशा को देख-देख कर सचमुच आपके भीतर अगर पीड़ा पैदा होगी, तो आपके भीतर से वेदना भरे वाक्य पूरे होंगे पीछे और उबारने वाले की करुणा का हाथ आपका स्पर्श करेगा पहले। दुःख सुनाना, आप भू जाएँगे। शिकायत करना आप भूल जाएँगे, "मैंने कब से पुकारा, आपने सुना ही नहीं"। कहने वाले कहते हैं। मेरे पास चिट्ठियाँ आती हैं कि आपने जब ईश्वर की महिमा सुनाई थी, तो उस समय तो तुझे बड़ा साहस मिला था, बहुत सत्य मालूम होता है था और अब तो अकेले में यहाँ पर

परिवार के फंदे में फँसकर मैं कब से पुकार रही हूँ? और आपके भगवान् सुनते ही नहीं है। ऐसा कहते हैं लोग। तो उन पीड़ितजनों के प्रति मेरी खूब सहानुभूति है। खूब हमदर्दी के साथ उन पत्रों का मैं उत्तर देती हूँ। लेकिन उनका पत्र लिखना और मेरा उत्तर देना—यह सब तो तब न सार्थक होता, कि सचमुच वेदना की घड़ी में उस करुणासागर के स्पर्श का आनन्द उनको मिल जाता। किसी भी समय, किसी भी रूप में वे शान्ति स्वरूप कभी शान्ति होकर प्रकट हो जाते हैं। वे सामर्थ्यवान्, अनन्त ऐश्वर्यवान् कभी साधक की दुर्बलता की घड़ी में सामर्थ्य होकर प्रकट हो जाते हैं। ऐसा बल भर जाता है कि मालूम होता है कि मैं अकेले सारे जगत् से टक्कर ले सकती हूँ। वे प्रेमस्वरूप ऐसे मधुर रस के रूप में भीतर-भीतर प्रकट होकर सब रिक्त दिलों को भर देते हैं। ऐसी सामर्थ्य अन्न, वस्त्रादि छोड़े बिना ही मिल सकती है। क्योंकि विशेष प्रकार का आहार, विशेष प्रकार का आवास-ये सब तो शरीर की सतह पर होने वाली बातें हैं। लेकिन वह अन्तर की वेदना जे है, यह साधक के लिए बहुत ही उपयोगी है। साधक यह सोचकर दुखी होता है कि हाय! इतने दिन हो गये भगवत् समर्पण के भाव की दक्षा लिए हुए अैर आज तक देह के लिए किय हुआ आत्म-समर्पण गया नहीं मुझसे, आज तक धन की शरणागति छूटी नहीं। तो संकट की घड़ी में शरीर का बल याद आता है, कुटुम्ब का बल याद आता है, धन का बल याद आता है, तो ईश्वर-समर्पित साधक के लिए यह कलंक है और बड़ी भारी विपत्ति की घड़ी है। यदि ऐसी कोई बात अपने में दिखाई दे, तो भी हार नहीं माननी चाहिए, क्योंकि थामने वाले तो अपने भीतर ही मौजूद हैं।

तो अकेले होने की घड़ी में जब हम अपने चित्र को देखते हैं तो यह दशा स्पष्ट होकर सामने आती है। उस समय अगर अन्त की व्यथा प्रकट होती है तो वह अहम् रूपी अणु के आवरणों को नाश कर देगी। अपनी सफलता की वेदना सफलता की कुंजी हैं। मैंने किसी माध्यम से बड़ा भारी आवश्वासन पाया। मुझे सम्वाद मिला कि डरने की कोई बात नहीं है। एक बार साहस करके क्यों नहीं आप चली आतीं? डरने की कोई बात नहीं है। मैं तो तैयार हूँ। मैं तो सब समय तत्पर हूँ। कह दो कि इस पथ में कुछ ठोस नहीं है कि चोट लग जायेगी, कुछ बड़ी चीज, सख्त चीज नहीं हैं कि तकलीफ हो जाएगी। यहाँ पर सब कोमल ही कोमल है, आनन्द ही आनन्द है, रस ही रस है। मैंने सब इन्कार किया है अपनाने से? मैंने कब मना किया है आने को? डरने की कोई बात नहीं है बिल्कुल सत्य है, अक्षरशः सत्य है। यह अपना भय ही हम लोगों को उस अनुपम अलौकिक जीवन से दूर रख रहा है। कोरा भ्रम है, मिथ्या भय है।

ये बातें अपनी दृष्टि से स्पष्ट होंगी व्यक्तिगत सत्संग के समय। उसको इतना आकर्षक प्रोग्राम बनाएँ हम लोग, इतना आवश्यक बनाएँ कि एक दिन भी बिना व्यक्तिगत सत्संग के बीतने न दें। ऐसा न हो कि सूर्योदय हुआ, सूर्यास्त हो गया और फिर दूसरा सूर्योदय आ गया ओर इतनी देर हमने बिना सत्संग के साँस ले लिया, प्राणशक्ति गँवा दी। ऐसा हम लोगों को नहीं होने देना चाहिएए और बाकी जो बातें हैं, वे सब तो हो ही रही हैं। होती रही रहेंगी। हम नहीं थे तब भी सब बातें हो रही थीं और हम नहीं रहेंगे तब भी सब होती रहेंगी। पारिवारिक संघर्ष, कुटुम्बीजनों का मिलन, संयोग-वियो इस सृष्टि के स्वरूप में है, सदा से होता रहा है, सदा होता रहेगा। आर्थिक स्थिति का बन जाना, बिगड़ जाना, धन का आ जाना, निकल जाना, शरीर का

स्वस्थ होना, बीमार होना, कलह होना, संघर्ष का मिट जाना, संघर्ष का बन जाना, भेद-भाव का पैदा हो जाना, इन बातों के पीछे कब तक पड़ेंगे भाई? दैनिक जीवन में उठने वाली छोटी-छोटी घटनाओं को इतना महत्त्व देना शान्ति-सम्पादन के अवसर को खो देना है। यह ऐसा ही है जैसे जीवन को खो देना और मृत्यु को वरण करना। इससे अधिक उसका महत्व नहीं है। कहाँ तक समस्या सुलझाओगे बाबा? भूतकाल में कभी समस्या का अन्त हुआ है? अरे मेरा अपना अहं ही समस्या बनकर खड़ा है, तो बाहर की समस्या कैसे घटेगी?

जो सदा-सदा से हैं उसमें शंका रखो, जो त्रिकाल में भी हुआ नहीं, है नहीं, अब तक तुम्हारी पकड़ में आया नहीं, आगे आएगा नहीं, उसको सत्य मानो। इस प्रकार की भूल का बना रहना जितनी बड़ी समस्या है, उतनी बड़ी समस्या संसार में और कोई हो सकती है? आप इस तरह से सोच करके देखिएगा। हजार उलझनें आपके सामने आ जाएँ। अगर यह बात ध्यान में आ गयी कि भाई इस समस्या को सबसे पहले हल करो कि सत्य को सत्य करके स्वीकार करना ही है। असत् को असत् कह कर उसकी नापसन्दगी रखना ही है। अगर इसको सुलझाने के लिए हम तत्पर हो गये, तो महाराजजी की वाणी हैं कि "मैं बदल जाऊँ तो दृष्टि बदल जाए और दृष्टि बदल जाए तो सृष्टि बदल जाए।" तो हम लोग अपने को बिगड़ा हुआ रख कर दृष्टि को सुन्दर करना चाहते हैं, कि सब में भगवत् स्वरूप अपने प्यारे का दर्शन क्यों नहीं होता है? तो भीतर में भेद रखो और दृष्टि में भगवत्स्वरूप का दर्शन चाहो, तो यह कैसे हावेगा? अपने को बिगाड़ करके दृष्टि को सुन्दर बना नहीं सकते। मानव-सेवा-संघ के उद्देश्य की पूर्ति में अपने कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में सबसे आवश्यक बात यह है कि व्यक्तिगत सत्संग को महत्त्व दे करके अपने को सुन्दर बनाया जाए। आप सुन्दर हो जाएँगे तो दृष्टि सुन्दर हो जाएगी और दृष्टि सुन्दर हो जाएगी तो सृष्टि सुन्दर दिखाई देगी।

प्रवचन 19

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों!

अहं रूपी अणु जिसको हम लोग सेल्फ (Self) कहकर सम्बोधित करते हैं, 'मैं' कहकर सम्बोधित करते हैं उसकी बड़ी विचित्र कथा है। वह बना हुआ है अलौकिक तत्त्वों से और ईश्वरीय विभूतियाँ बीज रूप से उसमें विद्यमान है। जब से इसको "मैं" कहकर सम्बोधित करना आरम्भ किया, तब से न जाने इस सीमित अहंभाव के अभिमान से उसमें कितने विकार भर गए। ऐसी इसकी विचित्र दशा है जब विकारों से आक्रान्त हो जाओ—तब क्या जाने इसकी कैसी शक्ल बन जाती है और जब मौलिक तत्त्वों से प्रभावित हो जाओ तो उसकी सुन्दरता, उसकी शुक्रता, उसकी मधुरता निखर जाती है। हम सभी भाई-बहन इन दोनों दशाओं में झूल रहे हैं।

एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग में एक प्राणी के दोनों ओर आकर्षक वस्तुएँ रखी दी जाती हैं और यह देखा जाता है कि वह कितना इस आकर्षण में झूल रहा है। किधर उसकी रुचि ज्यादा है। तो वह प्राणी जिसको दोनों ओर आकर्षण लग रहा है, बेचारा न इधर की वस्तु पकड़ सके, न उधर की। बार-बार इधर-उधर झूलते-झूलते वह थककर शिथिल होकर के अर्धचेतन की तरह पड़ जाता है।

हम लोगों की दशा भी बिल्कुल ऐसी ही है। एक बार संसार का आकर्षण खींचता है तो भीतर के प्रकाश पर पर्दा डाल दिया कि अच्छा,

देखेंगे ज्ञान-ध्यान की बात को, फिर कभी सोच लेंगे। अभी सामने यह अनुकूलता आई है तो इसका सुख ले लें। सुख-भोग में फँसने से पहले भगवान् की, धर्म की, त्याग और शान्ति की बात याद आ गई, तो इधर से अपने को हटाया। फिर सब प्रकार से इधर का सम्बन्ध काट कर एकदम सत्य की ओर बढ़ने की घड़ी आई। तो उसी काल में संसार के आकर्षण ने जोर मारा और व्यक्ति फिर इधर झुक गया। जब सत्य की जिज्ञासा जोर मारती है तो सत्संग पसन्द आ जाता है और सत्संग में रहते हैं, बड़ा आनन्द आने लगता है। और इसी बीच में याद आ गया कि बच्चे घर में प्रतीक्षा करते होंगे, होली के पर्व पर उनके पास नहीं रहने से अच्छा नहीं लगेगा, तो भाई यहाँ से गठरी समेटो और चलो उधर। इधर-उधर करते-करते कुछ नहीं मिलता। सच है—"दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।"

परन्तु मनुष्य के जीवन की एक बड़ी भारी विशेषएताए भी है—वह यह है कि फँसावट कितने ही दिनों की पुरानी क्यों न हो जाए अगर उसे वर्तमान में सूझ गया कि अविनाशी जीवन प्राप्य है और नाशवान की ओर से अपने को हटा लेना ही मौलिक उपाय है, तो इस बात को अपने द्वारा सही स्वीकार कर लेने के बाद वह अपने भविष्य का निर्माण कर सकता है। उसे पशु की भाँति दोनों ओर झूलना नहीं चाहिये। थोड़ा-सा अपने पर जोर डालने से जो लगाव केवल संकल्प के कारण बन गया है, उसको टूटने में देरी नहीं लगती, वह टूट जाता है। और जो लगाव सत्य है, सनातन है, कभी टूटा ही नहीं, कभी मिटा ही नहीं, कभी टूटेगा भी नहीं—वह बिल्कुल ही प्रत्यक्ष और स्पष्ट हो जाता है।

फँसे हैं हम लोग किसमें? उस मिथ्या लगाव में जो कि कभी भी यथार्थ रूप में जुड़ा नहीं। संसार की ओर का आकर्षण जो हम लोगों का है वह भ्रम के

आधार पर है। वस्तुतः संसार की वस्तुओं से हमारा रचनात्मक सम्बन्ध (Structural Relation) कभी नहीं हुआ। रचना की दृष्टि से इसके साथ लगाव कभी नहीं हुआ। केवल हमने अपने को थोड़ा ढीला कर दिया और अविनाशी जीवन की ओर से आँखें बन्द कर ली हैं। दृश्य के संयोग का जो थोड़ी देर का क्षणित सुखद आभास है उसे स्वीकार कर लिया, तो इस स्वीड्डति से उसका लगाव बन गया। इसको क्रियात्मक सम्बन्ध ;थ्नदबजपवदंस त्मसंजपवदक्ष कहा जा सकता है। इस प्रकार यह क्रियात्मक सम्बन्ध बन जाता है और ज्ञानके प्रकाश में यह सम्बन्ध टूट कर सदा के लिए समाप्त हो जाता है। फिर जिसके साथ जातीय एकता है, नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है उससे हमारा लगाव सजीव हो जाता है। वह तो सत्य तत्त्व है, नित्य तत्त्व है, परम प्रेमास्पद परमात्मा है, उसके साथ जो अपना लगाव है, खिंचाव है, वह बनाया हुआ नहीं है, उत्पन्न किया हुआ नहीं है, हमारी बहादुरी का परिणाम नहीं है, अपितु वह मूल में ही है। जब यह अहं रूपी अणु अर्थात् "मैं" उसकी ओर से आँख हटा करके उससे अपने को बिछुड़ा करके जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है उसको पकड़ने की चेष्टा में लग जाता है, तो दीनता, अभिमान, सम्मान, अपमान, सुख-दुःख, संयोग-वियोग, जन्म-मरण में फँस जाता है। लेकिन इसी वर्तमान घड़ी में, अगर हम सचमुच सत्संगी हैं और सत्संग के प्रभाव से सदा-सदा के लिए दुःख-निवृत्ति चाहते हैं, तो यहीं पर बैठे ही बैठे हम लोगों को भीतर ही भीतर इस बात का फैसला कर लेना चाहिए कि जो सम्बन्ध नित्य हो नहीं सकता, सदा के लिए अलग ही है, केवल संकल्प से ही बन गया है और छोड़ने से छूट

जाएगा, उसको आज ही इसी बैठक में यही पर छोड़ करके हम लोगों को उठना चाहिए।

स्नायु-मण्डल के अध्ययन में यह तथ्य पाया जाता है कि स्नायुकोष एक-दूसरे से जुड़े हुए नहीं है। वे व्अमतसंचचपदह ब्वदकपजपवद में होते हैं अर्थात् इनकी तह लगी रहती है। जब कोई संवेदना बाहर से भीतर मस्तिष्क की ओर ले जानी होती है तो संवेदना का वेग एक में से दूसरे में जाता है और क्रियात्मक सम्बन्ध दोनों में बन जाता है। जब काम खत्म हो जाता है तो फिर दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। ऐसे ही शरीर और संसार के साथ हमारा लगाव रहता नहीं है। पहले भी नहीं था, अब भी नहीं है। लेकिन जब हमारे भीतर कोई संकल्प उठता है तो वह संकल्प हमें शरीरों और संसार की वस्तुओं के साथ जोड़ देता है। जब हम संकल्परहित हो जाते हैं तो लगाव छूट जाता है।

मेरे संकल्प में है कि मैं जीवन के सत्य को बड़े सुन्दर ढंग से भाई-बहनों के सामने रखूँ तो मेरा यह संकल्प मेरी वृत्ति को स्वर यन्त्र के साथ जोड़ देता है और मैं बोलने लगती हूँ। आपका सुनने का संकल्प है तो आपकी वृत्ति जुड़ जाती है

ध्वनि-यन्त्र के साथ। तो कहना-सुनना हो रहा है। कहना समाप्त हो जाए और उसके साथ असंगता आ जाए तो तुरन्त ही सारी वृत्तियाँ सिमट करके भीतर ही जाकर अपने उद्गम से जुड़ जाएँ—उसको कहते हैं नित्य योग। अपने परम प्रेमास्पद के प्रेम-भाव में लीन हो जाएँ तो उसको कहते हैं भक्ति योग। और सुनने का काम खत्म हो गयाऋ आपने सुन लिया कि शरीर और संसार के साथ नित्य-

सम्बन्ध नहीं है, आवश्यकता के अनुसार सम्बन्ध बन जाता है और काम खत्म होने से टूट जाता है। इसको अगर हमने स्वाभाविक बना लिया तो सारी वृत्ति सिमट करके अन्तर्मुख हो जाएगी और सुनने के बाद न सुनना, बोलने के बाद न बोलना, काम करने के बाद कुछ न करना, अप्रयत्न होकर, अहं-वृत्ति रहित होकर, नित्य तत्त्व से नित्य योग में परमानन्द को पाना हो सकता है। यह जीवन की बहुत ही स्वाभाविक, वैज्ञानिक, दार्शनिक और आस्तिक दृष्टि से सच्ची बात हैं।

जीवन में रस घटता है कब? जब बाहर-बाहर उसको खर्च करने लगते हैं तब। और भीतर-भीतर रस बढ़ता है कब? जब अपने को रस के अथाह सागर से जोड़ देते हैं तब। इतनी-सी बात है। जो कभी न घटने वाला त्मेमतअवपत व िस्पमि है, जीवन-स्त्रोत है, उसमें से प्रवृत्त जिन्दगी कभी घटती नहीं है। उसमें से सामथ्र्य और प्रकाश कभी घटता नहीं है। उसी में से हम लोग निकले हैं और उसके साथ अपना तार कभी टूटता नहीं है, सम्बन्ध कभी छूटता नहीं है। केवल हमारी दृष्टि उस पर नहीं है, इसलिए उसमें जो रस प्रवाहित हो रहा है उसकी मधुरता, उसकी मिठास अपने स्वाद में नहीं आती।

अपनी जानकीर में क्या है? कि मैं बड़ा धनवान हूँ, बड़ा बुद्धिमान हूँ, बड़ा बलवान हूँ, बड़ा ब्रिया साधक हूँ, बड़ा जपी हूँ, बड़ा तपी हूँ, बड़ा त्यागी हूँ, बड़ा सेवक हूँ। यह वास्तविक जीवन से विमुखता की दशा है, इसमें रस घट जाता है। यह "मैं पन" का आभास अहं का अभिमान कहलाता है। इससे थोड़ी कठोरता आ जाती है और नीरसता बढ़ जाती है, तो उसमें रस का जो संचार है वह अनुभव में नहीं आता है, यद्यपि वह टिका हुआ है उसी रस पर। उस रस के बिना यह अणुओं का संगठन रह नहीं सकता। तो टिका तो है उसी के आधार पर, लेकिन सख्ती आ जाने के कारण से रस का संचार नहीं होता है। यह घाटा लगता है अपने को।

मैंने सन्त की डुपा से, भगवत् डुपा से और सत्संग के प्रभाव से ऐसा जाना है कि एक बार भी साधक के भीतर उस "स्व" रस के संचार का अनुभव हो जाए, तो दुनियाँ के सब रस फीके हो जाते हैं। होता है ऐसा। साधन काल में होता है। सिद्धि की बात मैं नहीं जानती। जीवन पूर्ण हो जाए, साधना पूर्ण हो जाए और

साधक अपने साध्य से अभिन्न हो जाए, तब तो वह कुछ कहने-सुनने की स्थिति में रहेगा ही नहीं। मैं तो साधन-काल की बात कर रही हूँ कि अगर दृष्टि बदल गयी होती, तो आपके शान्तिकाल मं यह अनुभव में आ जाता है कि जब बाहर से हम अपने को समेट लेते हैं तो अपने ही "स्व" में से उस रस का संचार होता है जो कि मन को, तन को, इन्द्रियों को, बुद्धि को, आन्तरिक और बाह्य सभी करणों को बिल्कुल भरपूर कर देता है। उस रस का आस्वादन एक बार भी हो जाए तो फिर दुनियाँ का कोई रस उसके आगे कुछ नहीं लगता है।

आनन्द में आकर मीराजी कहती हैं—

"भवसागर, सब सूख गयो हैं, फिकर नहीं मोहे तरनन की

मोही लागी लगन हरि चरणन की"

प्रभु की प्रीति, प्रभु की भक्ति ने एक बार रस से सराबोर कर दिया तो फिर दुनियाँ दिखेगी भी नहीं और दिखी भी तो उसमें अपने प्यारे के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेगा।

प्रभु के नाते आप सभी मेरे आत्मीय हैं। आप सभी भाई-बहिनों की सेवा में यह निवेदन करके विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि सचमुच जो आप ही में विद्यमान है उसके प्राकट्य में संदेह मत रखिए। संदेह रखिएगा तो वह पर्दा कभी खुलेगा ही नहीं। तो संदेह मत रखिए। बाहर से जिसको जो कुछ मिल गया उस पर आस्था मत रखिए। जो मिला हुआ दिखाई देता है, किसी भी समय में खत्म हो सकता है। तो जो बाहर-बाहर दिख रहा है उसमें आस्था मत रखिए। जो भीतर-भीतर है वह कैसे प्रकट होता है? कैसे उसका अनुभव होता है? तो स्वामीजी महाराज ने बड़ा अच्छा और बड़ा सच्चा उपाय हम लोगों को बताया कि भाई, वह अनमोल आनन्द, प्रेमरस, जो जीवन का खजाना है, वह खुलता है कैसे? "कुछ नहीं करने से।" व्रत करो, उपवास करो, दान करो, काम करो, तीर्थ यात्रा करो, जो भी कुछ करना है करो, लेकिन करते-करते न करने की घड़ी आनी चाहिये।

बाहर और भीतर की सारी वृत्तियाँ कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सब सिमटकर भीतर एक बिन्दु पर केन्द्रि हो जाएँ तो वे अपने उद्गम से जुड़ जाती हैं। कब जाकर के जुड़ जाएँगी और कब यह सीमित अहं उसमें जाकर विलीन हो जाएगा, यह तो प्रभु का मंगलमय विधान जाने, कि हमारे तैयारी कब पूरी होगी। लेकिन आज जिस समय आप संसारी कार्यों में लगे हुए हैं, इस बीच में थोड़ी-थोड़ी देर के लिए शान्त रहने का स्वभाव बनाएँ। सम्पूर्ण जीवन की सारी गतिविधि उस एक लक्ष्य पर केन्द्रि करें कि हम साँस ले रहे हैं तो इस बात के लिए कि हम मिथ्या लगाव में से अपने को छुड़ा लेंगे। जो डंपद त्मेमतअवपत व िस्पमि है, डंपद ैचतपदह व िस्पमि है जो जीवन का मूल स्त्रोत है, जो आनन्द का अथाह सागर है, जिससे हमारा सम्बन्ध कभी टूटा ही नहीं, उसी के सन्मुख होने की बात है।

विमुखता काल में मिट्टी पलीत हो जाती है और सन्मुखता-काल में सिक्र होने से पहले, ईश्वरीय विभूतियाँ आपके भीतर ही भीतर प्रकट होकर आपको बलिष्ठ बनाती चली जाती हैं और शान्ति आती जाती है। और प्रियता के रस की तो

क्या कहूँ! उसका एक ही कण जब सारे संसार को सम्हालने के लिए पर्याप्त है। तो हमारे जैसे तुच्छ प्राणी को एक ही कण मिल जाए, तो बड़ा अच्छा रहेगा, बड़ा आनन्द रहेगा। वह हमारे जन्म-जन्मान्तर के ताप को मिटा कर, अतृप्ति को भर करके ऐसा बना देगा, ऐसा बना देगा कि जैसा हमारी कल्पना में भी नहीं आ सकता। तो रसरूप है जीवन। और रस के अभाव में हम कहाँ-कहाँ भटक रहे हैं? इसी विडम्बना को मिटाना है।

सन्त कबीर ने एक पद में लिखा है "पानी बिच मीन पियासी मोहे सुनि सुनि आवे हाँसी।" रस स्वरूप परमात्मा में से उद्भूत हुए हम रस स्वरूप परमात्मा में स्थित हैं। उन्हीं के द्वारा सुरक्षित, संचालित, पालित है और रस के अभाव में कहाँ-कहाँ भटकते फिर रहे हैं! तो इस दश को मिटाना हम लोगों के लिए आवश्यक है जिसमें लगता है कि हम उससे बिछुड़ गए हैं। उस रस स्वरूप परमात्मा सेहम बिछुड़ गए हैं, यह सत्य नहीं है। यह केवल भ्रम है, क्योंकि बिछुड़ जाते तो हमारी सत्ता ही नहीं होती। वह जो हमारा उद्गम है, ळमदमतंजपवद विसपमि है, उससे एक क्षण के लिए भी सम्बन्ध टूट जाए तो हमारी सत्ता खत्म हो जाती है, अस्तित्व ही नहीं रहता। तो किसी भी काल में सम्बन्ध टूटा नहीं है और न कभी टूटेगा। वह टूटने वाला हे ही नहीं। दृश्य से जो सम्बन्ध जुड़ा हुआ प्रतीत हो रहा है वह भी कोरा भ्रम है।

परमात्मा से कभी सम्बन्ध टूटा नहीं, मिटा नहीं, छूटा नहीं, टूटेगा नहीं। वे तो छोड़ते ही नहीं हैं, वे कैसे छोड़ेंगे। स्वामीजी महाराज अपने शानदार व्यक्तित्व के प्रभाव में आ जाते तो कहते कि परमात्मा की हिम्मत नहीं है कि हमसे सम्बन्ध तोड़ दें और अपनी करुणा की गोद से निकाल कर हमको फेंक दें। अगर ऐसा कर सकेंगे तो अनन्त माधुर्यवान् का उनका विशेषण खत्म हो जाएगा। अनन्त

माधुर्यवान् किसको कहते हैं? जो केवल अपने स्वभाव से ही पतित से पतित को भी अपनी करुणा से सम्हाल कर रखता है। हम पतित से पति हो सकते हैं लेकिन उनके अनन्त माधुर्य की जो विशेषता है, उसको वे खत्म नहीं करेंगे।

यह जो जीवन का सत्य है वह वस्तुतः नकदम भुगतान ;बं्ी च्लउमदजक्ष के समान है। आँख बन्द करेंगे, कि कान बन्द करेंगे, एकान्त में घुसेंगे कि साउण्डप्रूफ अर्थात् जिसमें बाहर की आवाज न घुस सके, ऐसा कमरा बनाएँगे, कि पहाड़ की गुफा मं जाएँगे, जिसके लिए जो जरूरी होगा मंगलमय विधान से वैसी ही परिस्थिति बनती जाएगी। उसके लि अपने का कुछ सोचना नहीं है। स्वामीजी महाराज की करुणा देखिये। वे कहते थे कि देवकीजी! अल्प समय है, अल्प आयु है, अल्प सामथ्र्य है, अगर यहीं बैठे-बैठे साधक बिल्कुल फ्री अर्थात् आजाद हो करके यहाँ से न उठे, तो क्या सत्संग हुआ? अगर उसके सामने यह प्रश्न आ जाए कि जिस घर में माया-मोह के घेरे में फंसे हैं, उसको छोड़ करके बिल्कुल एकान्त में कुटिया बना करके नहीं बैठेंगे, तो सत्य नहीं मिलेगा। इस परिस्थिति के चिन्तन में पड़ा रहे कि कैसे इन्तजाम हो और अगर इसी बीच में साँस टूट गयी तो? तब तो मामला बिगड़ जाएगा।

स्वामीजी महाराज बाह्य परिस्थितियों को सम्हालने की बात तो दूर, अप्राप्त परिस्थितियों के चिंतन में भी हम लोगों का समय खराब करना पसन्द नहीं करते थे। अरे भाई, सत्य का शोधक, प्रभु का शरणागत और अप्राप्त परिस्थितियों के चिंतन में फँस जाए? उन्होंने साधकों की अल्प सामथ्र्य और अल्पायु को ध्यान में रखकर इस बात की चेष्टा की कि आपके भीतर जो सत्य विद्यमान

है उसकी सरसता को अनुभव करने के लिए आप परिस्थितियों के फेर में मत पड़ि। परिस्थितियों के फेर में पड़ने पर आदमी सत्य के विद्यमान होने का अनुभव कर लेता हो—यह भ्रम ही है।

इसलिए मानव-सेवा-संघ की साधन-पऋति में भीतर विद्यमान सत्य की अभिव्यक्ति को बाहर की किसी भी परिस्थिति से जोड़ा नहीं गया। क्यों नहीं जोड़ा गया? क्योंकि यह अनावश्यक है और हानिकारक भी। दोनों ही बातें हैं—जरूरत भी नहीं है और नुकसान देने वाली बात भी है।

आप सभी भाई-बहन इस बात पर पूरा ध्यान दें कि साधन-काल में जिस दिन से आपने स्वामीजी महाराज की सलाह मानकर प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार किया है उसी दिन से अहं रूपी अणु में परिवर्तन आरम्भ हो गया होगा। लेकिन उसमें इतनी सजीवता आ जाए कि उनकी उपस्थित के अनुभव से हम सब निश्चिन्त हो जाएँ, निर्भय हो जाएँ, सरस हो जाएँ—इस दिशा में प्रयत्नशील भी हो जाना चाहिए जो केवल क्रियात्मक सम्बन्ध है, केवल संकल्प मात्र से जुड़ जाताहै, उसको तोड़ दें और जो सदा-सदा का सम्बन्ध है, उसको सजीव बना लें।

इसी विषय को दृढ़ बनाने के लिए व्यक्तिगत सत्संग और मूक सत्संग की चर्चा हो रही है। मूक सत्संग का अर्थ होता है सत्-असत् पर विचार करके मूक सत्संग में प्रवेश पाना। दोनों इकट्ठे शुरू किये जा सकते हैं। पहले व्यक्तिगत सत्संग करें। अपने द्वारा अपने इस निर्णय को दोहरा करके उसका प्रभाव अपने पर होने दें "कि मेरा नित्य सम्बन्ध केवल परमात्मा से है।" "केवल" शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह सम्बन्ध सदा-सदा से है और सदा-सदा तक रहेगा। आज हमको इस सम्बन्ध में सरस अनुभव से वंचित रहना पड़ा, तो इसको मिटाने के लिए अन्य विश्वासों का त्याग कर देंगे, अन्य सम्बन्धों का त्याग कर देंगे, अपना कोई संकल्प नहीं रखेंगे और जिन परम प्रेमास्पद समर्थ स्वामी के हवाले हमने अपने को किया है अब उन्हीं के होकर रहेंगे। इन सब बातों को याद करना, यह व्यक्तिगत सत्संग के भीतर आएगा और यह सब याद कर लेने के बाद—'हे समर्थ स्वामी! मैं आपकी शरण हूँ। ऐसा कहकर अपने को कुछ देर के लिए बिल्कुल छोड़ देना'—यह मूक सत्संग के भीतर आएगा। तो दोनों को साथ लेकर चलना है।

निर्भय होकर, निष्काम होकर प्रभु के आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार करना तो एक ही बार होगा। बारम्बार स्वीड्डति की कोई बात नहीं है। याद कर लेना होगा उसको। याद करके प्रभु की शरण में अपने को छोड़ करके बिल्कुल अबोध बालक की तरह उनकी ड्डपा की प्रतीक्षा में पड़े रहो। ड्डपा तो हो ही रही है। पहले से हो रही है, वही हमको सम्हाल कर रख रही है। उनकी ड्डपा का सहारा तो अपने को सब समय है। लेकिन आप भाई-बहन उस परम ड्डपालु की नित्य उपस्थित में विश्वास करके, थोड़ी देर के लिए व्यक्तिगत सत्संग में और मूक सत्संग में रहना आरम्भ कीजिये। उनकी ड्डपा की प्रतीक्षा जब भीतर से जगेगी, तो वह किस प्रकार भीतर-बाहर भर रही है और हमारे मैल को धो करके हमें निर्मल कर रही है, इस बात का अनुभव इसी वर्तमान में आप भाई-बहनों को होगा।

अब शान्त हो जाइए थोड़ी देर के लिए।

प्रवचन 20

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाईयो! जिस जीवन की माँग है, उसकी आवश्यकता हम सब लोग महसूस करते ही रहते हैं। उसकी पूर्ति के उपाय क्या हैं? स्वामीजी महाराज ने दो उपाय

बताए—एक हरि-आश्रय और दूसरा विश्राम। हरि-आश्रय ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अचूक उपाय है और विश्राम सभी साधकों के लिए समान रूप से अनिवार्य है। हरि-आश्रय और विश्राम, ये दोनों ही उपाय किसी विशेष सम्प्रदाय के लिए, मजहब, मत, पंथ के लिए हों, ऐसा नहीं है। जितने भी साधक हैं, जिनको कि अविनाशी जीवन की माँग है, सबके लिए ये समान रूप से उपयोगी उपाय हैं। वस्तुतः जहाँ थोड़ा भी श्रम है, स्थूल अथवा सूक्ष्म, उसके रहते हुए शरीरों से असंग होना सम्भव नहीं है। जहाँ थोड़ा भी श्रम है वहाँ अशरीरी जीवन में प्रवेश पाना सम्भव नहीं है। तो श्रम करो विश्राम पाने के लिए और जब विश्राम का सम्पादन होगा तो वास्तविक जीवन मिलेगा। यह एक ऐसा क्रम है जो सभी के लिए समान रूप से अनिवार्य है, क्योंकि शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान और दार्शनिक सत्य तथा आस्तिकता का सत्य मानवमात्र के लिए समान रूप से लागू होता है। ऐसा नहीं कि जो अपने को सनातन धर्म के मानने वाले कहते हैं उनके लिए विश्राम अपेक्षित है और जो लोग अपने को आर्यसमाजी कहते हैं उनका विकास बिना विश्राम के हो जाए, ऐसा नहीं हो सकता। शब्दों का प्रयोग चाहे जैसे भी किया जाए और विश्राम शब्द का प्रकाशन चाहे जिस शैली में किया जाए, लेकिनन सभी साधकों के साधना-युक्त जीवन का यह एक ऐसा अपरिहार्य तत्त्व है कि जिसको छोड़कर कोई भी अशरीरी जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता। विश्राम सभी को आवश्यक मालूम होता है क्यों? क्योंकि परिश्रम करके सब लोग थकित होते ही हैं। यदि किसी प्रकार की कोई समस्या खड़ी हो जाए और उसका समाधान नहीं सूझे, तो हम लोग थकते हैं। इच्छाओं की उत्पत्ति हो जाए तो उनकी पूर्ति के इंतजाम में हम लोग लग जाते हैं और विधि के विधान से संकल्प पूरा हो जाए तो उसके सुख-भोग में भी हम थकते हैं। सुख-भोग की प्रवृत्ति मनुष्य में शक्तिहीनता लाती है। किसी भी सुखभोग की प्रवृत्ति में लगातार लगे रहो तो थकान आएगी ही—यह वैज्ञानिक सत्य है। इसके लिए किसी ग्रन्थ का प्रमाण खोजन की जरूरत नहीं है। सुख-भोग की प्रवृत्ति सुखद लगती है और उसके परिणाम में जब शक्तिहीनता आती है बुरा लगता है। शक्तिहीनता किसी को भी पसन्द नहीं है। इसलिए जो अपने को साधक कहता है और जिसको खूब विश्राम चाहिए, परम शान्ति चाहिए, उसका पहला प्रयास होगा कि वह अपने को किसी प्रकार की भोग-प्रवृत्ति के द्वारा शक्तिहीन न बनावे। यदि भोग-प्रवृत्ति की ओर से हम लोगों ने अपने को संयत कर लिया, थोड़ा नियमित कर लिया, तो उस हानि से बच गये। मन बहलाव के फेर में पड़कर शक्तिहीन नहीं बनेंगे, थकान नहीं आने देंगे, तो उसमें बच जाएँगे। बहुत छोटी-छोटी बातों पर साधक भाई-बहनों को इस बात पर दृष्टि रखनी चाहिये कि किसी तरह से भोग-प्रवृत्ति में शक्तियो का ह्रास न हो। जब शक्ति बची रहेगी तब उससे बड़ा उपकार होगा। क्या उपकार होगा? कि जब भोग से शक्ति बच जाएगी तो वह कर्त्तव्य-पालन में लग जाएगी और जब वह शक्ति कर्त्तव्य-पालन में लग जाएगी तो आप वीतराग होने के अधिकारी बन जाएँगे। सुख के फेर में पड़ा हुआ व्यक्ति कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होता और कर्त्तव्यनिष्ठ हुए बिना वीतराग होने की सामर्थ्य नहीं आती और सामर्थ्य नहीं आयी तो आगे बढ़ना सम्भव ही नहीं होगा। मानव-सेवा-संघ की चर्चा में सित्र जीवन की चर्चा बहुत कम है क्योंकि महाराजजी ने उसे चर्चा का विषय माना ही नहीं। वह तो अनुभव का विषय हो गया और हमारे

आपकी जो वर्तमान दशा है, जहाँ से हमें कदम उठाना है, जहाँ से हमें आगे बढ़ना है, वहाँ से चर्चा आरम्भहोती है। तो पहली बात हो गयी कि भोग-प्रवृत्ति के द्वारा अपने को शक्तिहीन नहीं बनाना है। संयमित कर लो, नियमित कर लो, बच जाओ उससे, तब उसके आगे बढ़ सकोगे। सुख-भोग की प्रवृत्ति की थकान तो शरीर के स्थूल स्तर पर होती है, उसको आसानी से मिटाया भी जा सकता है। लेकिन सुख-भोग का लालच, जो अति सूक्ष्म है भीतर से उसको भी निकालिए, क्योंकि वह रहेगा तो उसके भार से वृत्तियों को एक केन्द्र पर केन्द्रित करना सम्भव नहीं होगा। जीवनी शक्ति विविध रूपों में बँटकर वृत्तियों से जुड़ जाती है और धीरे-धीरे शक्तियों का ह्रास होने लग जाता है। तो भीतर से सुख-भोग का लालच भी हटा देना चाहिए, उसकी पसन्दगी भी हटा देनी चाहि। तो क्या करेंगे? क्या भूख लगने पर खाएँगे नहीं? कि नींद आने पर सोएँगे नहीं? ऐसा नहीं है। उसका अर्थ यह होता है कि सुख-भोग की प्रवृत्ति को तुम अपना जीवन मत मानो। शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अगर कोई हितकर और स्वास्थ्यकर वस्तु खाने के लिए दी जाये तो उसको जीवन-बुद्धि से स्वीकार मत करो। ऐसा मत सोचो कि अहा! बड़ा स्वाद आया, अब यही हमको रोज मिलना चाहिए, ऐसी स्वादिष्ट वस्तु खाना ही जीवन है। शरीर की सेवा के लिए जो सहज प्राप्त हो जाए उसकी आहुति शरीर में डालकर उससे तुम निश्चिन्त हो जाओ। यह उदाहरण मैं आपके सामने इसलिए रख रही हूँ कि कहीं ऐसा मत सोचने लगिएगा कि हर सुखद प्रवृत्ति से बंधन में बँधता है आदमी। तो भूख लगने पर भोजन न करेंगे? अच्छी भूल लगी हो, स्वास्थ्य अच्छा हो, तो बहुत सादी रोटी भी खाने में बड़ी मीठी लगती है। तो इसका मतलब यह नहीं कि अपना ज्ञान भंग हो गया, कि साधना भंग हो गयी। इसका मतलब यह है कि स्वास्थ्य अच्छा है, वस्तु अच्छी है। वस्तु को वस्तु के हवाले कर दो और तुम अपनी सजगता बनाये रखो। दैनिक जीवन में शरीर की सेवा को जो सामान्य व्यवहारहै उसमें कोई सन्देह रखकर उलझन में नहीं पड़ना चाहिए। लेकिन बहुत अच्छी तरह से इस बात को जानना चाहिए कि जो प्रवृत्ति हमारी चल रही है, उसमें शरीर की सेवा की दृष्टि कितनी है और सुख की दृष्टि कितनी हैं। यदि सुख-बुद्धि उसमें न रखकर सेवा-बुद्धि से काम किया जायेगा, तो बन्धन नहीं बनेगा, राग नहीं बनेगा। जब तक वास्तविक जीवन का अनुभव अपने को नहीं होता है, जब तक अपनी सारी वृत्ति उस रस से सरस होकर जुड़ नहीं जाती है, तब तक शरीरों के स्तर पर स्वाद-बेस्वाद, खट्टा-मीठा, नमकीन और फीका, इन सब स्वादों का पता चलताहै। अन्यथा स्वरस में डूबे हुए आदमी को पता ही नहीं चलता है कि जो मुख में जा रहाहै वह खट्टा है, मीठा है, कि फीका है। ऐसा कब होता है? लक्ष्य पर दृष्टि रहे, तब होता है। प्रभु के मंगलमय विधान पर निष्ठा रहे, तब होता है। आदमी स्वरस में डूबा रहे, तब होता है। प्रभु प्रेम की प्रतीक्षा में डूबा रहे, उत्कंठा में लग रहे, तब होता है। तब न दिन का पता चलता है, न रात का, न स्वाद का पता चलता है, न कुछ करने का और न ही कुछ नहीं करने का। ये बातें साधक के जीवन में बहुत स्वाभाविक होनी चाहिए। इसके लिए अपनी वर्तमान दशा का पता लगाना हर साधक के लिए बहुत जरूरी बात है। उसे संकल्प को महत्त्व नहीं देना, न उसका समर्थन करना चाहिए, न उसके अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। बल्कि खोज करनी चाहिए अपनी, क्योंकि विश्राम जहाँ मिल सकता है, वह अपने भीतर ही है उससे विमुख होकर पराश्रय और पराधीनता में, "पर" की ओर दौड़ने में श्रम है और

"स्व" की ओर उन्मुख होने में विश्राम है। इस सत्य को स्वीकार कर इसका अनुसरण किया जाए, तो शनैः-शनैः अशान्ति कम होती चली जाएगी, थकान कम होती जाएगी। अब अपनी दशा क्या है कि अगर कोई संकल्प हुआ और वह अशुभ नहीं है, किसी को नुकसान पहुँचाने वाला नहीं है और उसकी पूर्ति की परिस्थिति है, तो संकल्प-निवृत्ति की शान्ति और विश्राम पर दृष्टि नहीं जाती। अगर संकल्प-पूर्ति की सम्भावना है, तो संकल्प-पूर्ति के सुख पर दृष्टि चली जाती है। लेकिन करना क्या चाहिए? संकल्प-निवृत्ति पर दृष्टि रखनी चाहिए, जहाँ कि अपने को विश्राम मिलेगा। विश्राम में ही जीवन है। सबसे बड़ी बात क्या है कि अनुकूल परिस्थितियों में भी हर व्यक्ति के भीतर एक अभाव खटकता रहता है। ऐसी स्थिति में जो सामथ्र्यवान हैं, जिनके पास पैसा है और जिनके पास शरीर में बल है और जिनकी परिस्थितियाँ अनुकूल हैं वे क्या करते हैं कि संकल्प-पूर्ति से भीतर-भीतर जब अभाव लगता है तो बाहर-बाहर के मन बहलाव के प्रोग्राम बनाते हैं बड़ी व्यस्तता से बड़े-बड़े उपाय करते हैं। मनुष्य की इस दशा पर मुझे बड़ा दुःख होता है। मैं कहती हूँ कि हाय रे मनुष्य! तुझे जो चाहिए, वह अपने भीतर ही में है और उस पर दृष्टि न रखने के कारण कहाँ-कहाँ जिन्दगी को खतरे में डालकर अपना मन बहलाव करता फिरता है। जो रस स्वरूप है, जो जीवन स्वरूप है, उससे विमुख रहने के कारण व्यक्ति के भीतर रह-रहकर अभाव सताता है और जब-जब अभाव सताता है, तो प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ा व्यक्ति झख मारता है और रोता है और अनुकूल परिस्थिति में पड़ा हुआ व्यक्ति विपरीत दिशाा में दौड़ता है। अब तक की जिन्दगी जो हम लोगों की बीती है उसके आधार पर विचार कर बताइए कि जिन सुखद घड़ियां को आपने देखा है, उनको देखने के बाद भी क्या आप कह सकते हैं कि मैं सब प्रकार से पूर्ण ड्डतड्डत्य हो गया? हे ईश्वर! मुझे अब कुछ नहीं चाहिए? शायद नहीं कह सकेंगे। बड़ी दयनीय दशा होती है कि सुख घड़ियों के अवसर जैसे-जैसे घटते चले जाते हैं, शक्ति कम होती चली जाती है, समाज में स्थान घट जाता है, परिवार में भी महत्त्व कम हो जाता है, क्योंकि नई पीढ़ी ने सब कारोबार अपने हाथ में ले लिया। अब आपकी सलाह की भी किसी को जरूरत नहीं रही। तो वृद्धावस्था में असहाय अवस्था में आकर अभाव की पीड़ा अधिक सताने लगती है। अतः शुरू से ही जब अपने भीतर अभाव लगे, तो सावधान हो जाइए। अभाव अनुभव करने से बड़ी मदद मिलती है। अभाव से पीड़ित होकर जब मैं सन्त के पास पहुँची, तो उन्होंने सब प्रकार से मेरे सब सन्देहों का निवारण कर दिया। मनुष्य के भीतर जो अभाव सताता है, वह न विधान का दोष है, न परमात्मा का दोष है। वह कोई स्थायी बीमारी भी नहीं है कि जिसका नाश न हो। वह तो इस बात को याद दिलाने के लि है कि सचमुच जो तुम्हारा स्वरूप है, उससे तुम विमुख हो गए हो। सचमुच जो तुम्हारा प्रियतम है, उससे तुम बिछुड़ गए हो। जिस रस के तुम अधिकारी हो, उससे तुम विमुख हो गए हो। इसलिए भीतर से जब अभाव सताने लगे, तो बाहर से मन-बहलाव की चेष्टा मत कीजिए। इस विषय पर मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि नीरसता में जिन्दगी बिताओगे तो मानसिक विड्डति पैदा हो जाएगी। इसलिए मन को प्रसन्न रखने का कुछ इन्तजाम करो। लेकिन विचार करने की बात यह है कि बाहरी मन-बहलाव से भीतर के रस पर से व्यक्ति का ध्यान हट जाता है। छात्रावास के जिस कमरे में मैं रहती थी, उसकी दीवारें ऐसी ही सूनी रहती थीं। कभी-कभी कोई सखी-सहेली भीतर आती, तो पूछती कि तुम

दीवारें सूनी क्यों रखती हों? कोई सुन्दर चित्र लटका लो। और मैं सोचती कि ओस चाटने से प्यास बुझाई जा सकती है क्या? दीवारों पर चित्र लटका कर चित्त की नीरसता को मिटाया जा सकता है क्या? उसमें सरसता लाई जा सकती है क्या? साधक भाई-बहिनों से निवेदन करती हूँ कि जब कभी भीतर से सूना-सा लगे, तो उस घड़ी का बहुत अच्छा उपयोग करना चाहिए। अपने में खूब जागृति और चेतना लानी चाहिए कि यह नीरसता तो मेरे रस स्वरूप प्रेमास्पद प्रभु की याद दिला रही है। इस तरह अगर मूल बात पर दृष्टि चली गयी, तो बाहर की दौड़-धूप खत्म हो जाएगी। प्रवृत्ति का संकल्प नहीं रह जाएगा, तो आपको शान्ति मिलेगी, विश्राम मिलेगा। अगर मन-बहलाव पर दृष्टि गयी, तो शान्त नहीं रह पाएँगे। प्रवृत्ति में डूब जाएँगे, क्योंकि बिना प्रवृत्ति के मन-बहलाव होता ही नहीं। अतः साधक वर्ग को निःसंकल्पता की शान्ति मं रहने का स्वभाव बनाना चाहिए और भीतर से कमी या अभाव लगे, तो उसे प्रभु का दिया हुआ शुभ संवाद समझना चाहिए कि हम तो भूल गये थे। हमारे प्यारे को हमारी याद आ रही है। उनसे विमुख होने की यह चेतावनी है। तो एकदम शान्त हो जाओ, एकान्त में बैठ जाओ और उन्हीं से अपनी अन्तर्वेदना कहो। जब मैं स्वामी जी के पास आई, तो हृदय की व्यथा बताते हुए पूछा—कि संसार में अपना कहने लायक कोई दिखता नहीं और बिना किसी को अपना बनाए रहा नहीं जाता, इस दुःख का निवारण कैसे करें? तब स्वामीजी महाराज ने धीरे-धीरे करके मेरी शंकाओं को मिटाया और परमात्मा का परिचय दिया। उन्होंने बताया कि प्रेम स्वरूप परमात्मा ही अपने हैं और उनके साथ प्रेम के आदान-प्रदान में ही जीवन पूर्ण होता है। इसके अनुसार अपने को प्रेम-भाव से समर्पित करने में भी मुझे असमर्थता सताने लगी। हृदय में नीरसता और सूनापन आया हुआ था और प्रेम-भाव का अभाव मालूम होता था। तब हृदय की व्यथा को बड़ी ललित साहित्यिक भाषा में उनसे कह सुनाया कि महाराज! मैं कब से थाल सजाकर देव-मछिन के द्वार पर खड़ी हूँ, तृष्णा की अग्नि से अघ्र्य के पात्र का जल सूख गया, क्या अन्दर लेकर जाऊँ? पुष्प की पंखुड़ियाँ मुरझा गईं महाराज! कुछ बचा नहीं। उनको क्या देने के लिए अन्दर जाऊँ अन्तर्दृष्टि रखने वाले सन्त मेरी व्यथा को समझ गये। मेरी पीड़ा उनके भीतर समा गयी। कहने लगे, कोई बात नहीं। कह दो, उन्हें से कह दो कि तुम्हारी पूजा की अभिलाषा तो है, परन्तु हे उदार! मेरे पास पूजा की सामग्री नहीं है। तो लाली, तुम विश्वास करो, तुम्हारा साज-सामान घट गया तो क्या हुआ? उनका भी घट गया क्या? उनके पास भी कमी है क्या? उनको तो मानव-हृदय का प्रेम इतना पसन्द है, इतना पसन्द है कि तुम्हारे भीतर का रस सूख गया, तो वे अपना ही अनन्त रस तुम्हारे में भर देंगे और तुम जब अर्पण करोगी तो वे अच्छा मानेंगे, आनन्दित होंगे, स्वयं तुमको आनन्दित करेंगे और बड़ा उपकार मानेंगे, आनन्दित होंगे, स्वयं तुमको आन्दित करेंगे और बड़ा उपकार मानेंगे। तो दिया हुआ उनका ही है और उन्हीं के प्रति अर्पित है और वे जानते हैं कि मेरा दिया हुआ है, फिर भी उपकार मानते हैं, आनन्दित होते हैं, और बहुत ही उपड्डत हो करके देने वाले भक्त को अपना प्रेमास्पद बनाते हैं। रामावतार और ड्डष्णावतार दोनों ही चरित्रों में जब वे हमारे समान होकर हमारे बीच में पधारे, तो उन्होंने अपने इस स्वभाव का बड़ा बढ़िया परिचय दिया। जनमकपुरी से विदाई के दिन नजदीक आ रहे हैं। रह-रहकर समाचार आ रहा है, चक्रवर्ती महाराज दशरथ के यहाँ से, कि बहुत दिन हो गये, अब विदा दीजिये,

अब हम लोग जाएँगे। तो सखी-सहेलियाँ, नगर की सब लड़कियाँ, भौजाइयाँ, सबकी सब घेर करके बैठती हैं और कहती हैं कि हे लालन! आप चले जायेंगे, तो आपको देखे बिना तो हम रह नहीं सकतीं। कोई कहती, आप जाइए मत, आप यहीं रहिए। कोई कहती आप जाएँ तो हमें भी ले जाइए। यह तो सबको मालूम था कि वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, एक स्त्री के अलावा दूसरा विवाह नहीं कर सकते हैं। फिर भी वे प्रेम के प्रवाह में बह कर यही कहती हैं कि हम दासी होकर रहेंगी। हम महल की छोटी-छोटी टहल करेंगी। लेकिन हे लालन! हमको छोड़कर मत जाइए, हम रहेंगी कैसे? तो जैसे-जैसे इन भक्तों के हृदय में भक्ति की लहर उमड़ती हैं, वैसे-वैसे वे सम्पूर्ण सब प्रकार से प्रेमस्वरूप परमात्मा उन सखी-सहेलियों के बस में हो करके कहते हैं कि हे सखियो! आपने जो किया जो किसी ने नहीं किया। आप इस बात को ध्यान में रखिए और बिल्कुल अधीर मत होइए। मैं सदा आपका ही हूँ और यह सच्ची बात है कि मैं आपसे विलग हनहीं होऊँगा और मैंने ऐसा सुना है कि उन्होंने वचन दिया और जिन-जिन ने उस भाव से उस वचन को ग्रहण किया, उन्होंने कभी ऐसा नहीं पाया कि रघुनन्दन जी हमारे बीच में नहीं हैं। वाटिका-विहार में जगह-जगह उनके दर्शन होते रहते और उनको ऐसा ही लगता कि हमने जो रघुवर जी को कहा था कि हमें छोड़कर मत जाना, तो उन्होंने अपना वचन निभाया और वे नहीं गए। ऐसा ही चर्चा आपने ब्रज के सम्बन्ध में भी सुनी होगी। सखियों और सखाओं के प्रेम से विभोर हो रहे हैं। बेचारे गाँव के रहने वाले ग्वाल-बाल रह-रह कर कह रहे हैं, दादा! तेरे संग मिलना, तेरे संग गायें चराना, तेरे संग गेंद खेलना कितना अच्छा लगता है! दादा, तू हम लोगों को छोड़कर कभी जाएगा तो नहीं? और उनके प्रेम से विभोर होकर उन्होंने वचन दे दिया कि नहीं जाऊँगा, नहीं जाऊँगा, कभी नहीं जाऊँगा। मैंने ऐसा सुना है कि अनेकों कथाएँ, अनेकों घटनाएँ ऐसी हुई हैं कि उन प्रेमीजनों को उनका वियोग मालूम नहीं होता था।

प्रवचन 21

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

जिन महामानव के ज्ञान और प्रेम की छाया में हम आज इस जीवन की समस्याओं को सुलझाने बैठे हैं, अनन्त की विभूतिस्वरूप उन महामानव को हमारा, आपका, सबका बारम्बार प्रणाम।

अध्यात्म चर्चा हमारे जीवन में है। अध्यात्म चर्चा क्या है? -जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उस प्रतीति मात्र में उत्पत्ति, परिवर्तन, और विनाश का क्रम दिखाई दे रहा है। इस प्रतीति, परिवर्तन, विनाश के क्रम के पीछे कोई अपरिवर्तनीय है, कुछ अविनाशी है, उसको मुझे पता तो नहीं है लेकिन उसकी आवश्यकता मुझे है। इस आवश्यकता को जब व्यक्ति अपने में अनुभव करता है, तो अध्यात्म चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है और फिर उस आवश्यकता की पू£त्त के लिए जब वह प्रयास करने लगता है, सोचने लगता है, तो अध्यात्मक चर्चा आरम्भ हो जाती है। निज विवेक के प्रकाश में देखकर, उत्पत्ति, परिवर्तन तथा विनाश युक्त प्रतीति से सम्बन्ध तोड़ लेता है, तो अविनाशी जीवन में प्रवेश करने का अधिकारी बन जाता है।

आज हमारे सामने अवसर है। खूब शान्त होकर, शरीर के स्तर से परे के जीवन का विश्लेषण करके देखिए। कुछ देर पहले मूक सत्संग का समय था और हम सब लोगों ने थोड़ी

देर के लिए कुछ न करना, कुछ न चाहना पसन्द किया था। उन क्षणों में निर्विकल्पता थी। मन, चित्त और बुद्धि शान्त थी। किसी ने किसी प्रकार की कोई न कोई क्रिया थी? यदि कुछ-कुछ चिन्तन चल रहा था तो आप उस चिन्तन को देखेंगे कि उसमें कौन-सी बातें थी? तो स्पष्ट रूप से पता चल जाएगा कि उसमें इस भौतिक सीमा के भीतर की बातें थीं। किसी जरूरी काम का याद आना, किसी स्थान का याद आना अथवा जो निर्विकल्पता अप्राप्त है, अभी तक प्राप्त नहीं हुई है, उसके प्रति एक आकर्षण उत्पन्न होना, और जो संकल्प-विकल्प चल रहे हैं, उनके प्रति एक नापसन्दगी उत्पन्न होना, ये सब बातें थीं। यह है हमारी वर्तमान दशा। और होना क्या चाहिए? अध्यात्म दृष्टि से होना चाहिए यह कि जब संसार की सेवा करने का अवसर मिले, जब शरीर के माध्यम से निकटवर्ती जनसमाज के लिए उपयोगी होने का अवसर आए तो उसी क्षण के लिए शरीर और संसार से हमारा सम्पर्क रहना चाहिए, और जैसे ही अवसर निकल जाए तो शान्त होते ही, चुप होते ही संसार और शरीर से तादात्म्य टूट जाना चाहिए। यह अध्यात्म जीवन है।

अब हम अपनी रहनी देखें कि कैसी है? तो हम पायेंगे कि शरीरों को लेकर परिवार, समाज प्रकृति और प्रारब्ध के साथ अभियोजित करने में व्यक्ति व्यस्त है। जाग्रत अवस्था में अभियोजन की चेष्टा में विविध प्रवृत्तियों एवं उनके फलाफल के चिंतन में वह फँसा रहता है। स्वप्नावस्था में उन्हीं का चित्र उसे दिखाई देता है। गाढ़ी निद्रा की जड़ता के बाद जब आँखें खुलती हैं तो सजगता आते ही पुनः उसी चिंतन एवं कर्म में वह व्यस्त हो जाता है।

शरीर और संसार के साथ अपने को घुला-मिला लेने से, उसकी सत्यता में विश्वास कर लेने से, उसके प्रभाव से आक्रांत हो जाने से, व्यक्ति की यह दशा हो जाती है, और आज हम उसी दशा में से निकलकर उस जीवन में प्रवेश करने की साधना की चर्चा करने बैठे हैं, जिसमें प्रवेश करने के बाद शरीर और संसार का न भास रहता है और न चिन्तन रहता है।

वह जीवन कैसा है? मैंने अनुभवीजन के मुख से सुना है कि वह बड़ा आनन्दमय है। उसका आदि-अन्त नहीं है। उसमें दुःख का लेश नहीं है। ऐसे जीवन की प्राप्ति किन उपायों से होती है? आज हम भाई-बहनों को इस प्रश्न का समाधान करना है। इस सन्दर्भ में एक बड़ी अच्छी बात है। मानव जीवन का सत्य है, जिसको जानना और मानना साधकों के लिए बहुत ही उपयोगी है। वह यह है कि संसार की आसक्तिजनित लोभ, मोह आदि विकारों से आक्रान्त दशा में भी, मनुष्य का अपना जो अविनाशी स्वरूप है उसकी क्षति नहीं होती है। इस सत्य में हमारी गहरी आस्था होनी चाहिए। यह खास बात है जिसे स्वामीजी महाराज ने अपने अनुभव के द्वारा जानी और मानव सेवा संघ के नाम से इनको कहकर हम लोगों को सुनायी।

बहुत ही शान्त वातावरण है। किसी प्रकार की कोई बाधा इस समय हम लोगों को इस सत्य चर्चा में कष्ट नहीं दे रही है। थोड़ी देर के लिए आप अपने भीतर ढूँढ़ करके देखिए, कुछ दिन पहले शरीर में बड़ा बल था, आज यह दुर्बल दिखाई देता है, लेकिन शरीर और संसार के संबंध में सोचनेवाला, जाननेवाला, विचार करने वाला देखनेवाला न पहले दुर्बल था न आज दुर्बल है। उसमें सबलता-दुर्बलता का कोई दोष लग ही नहीं सकता।

आप सोचिए, पहले आप बड़े पदवान थे, बड़ा भारी पद था समाज में, बड़ी भारी पूछ थी

और आज अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद त्मजपतमउमदज के बाद वह पद नहीं है, वह पूछ नहीं है। तो उस समय जो कुछ था, उसको जानने की सामथ्र्य जिसमें थी उसका ज्ञाता, उस द्रष्टा जो था, वह आज भी उसी रूप में है। पद नहीं है अब, जनसम्पर्क नहीं है अब, लेकिन इस दशा को जाननेवाला वही है जो उस दशा को जाननेवाला था। इस दृष्टि से शरीरों से तादात्म्य तोड़कर, अविनाशी में समाहित हो जाना, अविशनी के योग से, अविनाशी के बोध से, अविनशी की अभिन्नता से आनन्दमय चिन्मय हो जाना, यह बात तो पीछे होगी।

आज की ही वर्तमान दशा को अपने सामने रखकर देख लीजिये आपको शरीर के बनने-बिगड़ने का ज्ञान है। आप अनुभव करते है कि शरीर पहले रोगी था, अब निरोग हो गया। दुर्बल था, अब सबल हो गया। इस प्रकार शरीर सम्बन्धी बदलाव का परिचय हम सभी भाई-बहिनों को होता है, परन्तु अपने में परिवर्तन का भास कभी किसी को नहीं होता। इस बात को हम लोग स्पष्ट जानते हैं कि शरीर दर्बल हो गया, मैं तो वही हूँ, शरीर सबल हो गया, मैं तो वही हूँ, मुझे पद मिला हुआ था, छूट गया, मैं तो वही हूँ। इस तरह से आप देखेंगे कि बड़ा रहस्य मालूम होता है, बड़ी अच्छी बात मालूम होती है और बड़ा अच्छा लगता है, अध्यात्मचर्चा करने में कि हमारी जो चर्चा बल रही है अविनाशी जीवन में प्रवेश करने की, यह चर्चा निराधार नहीं है। इस चर्चा के द्वारा जिस जीवन को हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह अभी इसी क्षण में हम ही लोगों में विद्यमान है। एक तो यह बात महाराजजी ने हम लोगों के सामने रख दी। तो इसमें हमारी दृढ़ आस्था होनी चाहिए कि मेरा नाश कभी हुआ नहीं कभी होगा नहीं।

अब इसके बाद साधन आरम्भ होगा। तो उस अविनाशी जीवन में प्रवेश पाने का उपाय क्या है? नाशवान जो कुछ है उससे सम्बन्ध तोड़ लो, शान्त हो जाओगे। शान्त हो जाना इसमें मुख्य बात है। मन शान्त हो जाए, चित्त शान्त हो जाए, कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों सबसे काम लेना बंद कर दिया जाए। इधर का लगाव टूट जाए तो उधर के अटूट सम्बन्ध का अनुभव हो जाए। बस इतनी सी बात है अध्यात्म-जीवन से अभिन्न होने में। हमारा-आपका परम पुरुषार्थ यही है कि हमारी जीवनी शक्ति, कहीं पद में, कहीं घर में, कहीं कुटुम्ब में, कहीं दल में, कहीं संस्था में, कहीं मान बड़ाई-प्रशंसा में अटकी हुई है, इस अटकाव से वह निकल जाए। अपने ही द्वारा इस अटकाव को तोड़ना है। फिर स्वतः ही जीवनी शक्ति उससे जाकर जुड़ जाएगी, तो दुःखरहित है, अविनाशी है तथा अखण्ड आनन्द से भरा हुआ है। उससे अभिन्न होने का अचूक उपाय है-अकिंचन, अचाह और अप्रयत्न होकर शान्त रहना।

साधकों को इसमें कठिनाई क्या होती है? काम करना हम लोग इच्छापूर्वक छोड़ सकते हैं, लेकिन चुपचाप होते ही अपने आप जो व्यर्थ चिन्तन होने लगता है, उसको हम लोग इच्छापूर्वक तोड़ नहीं सकते। उस व्यर्थ चिन्तन से मुक्त होने का उपाय परमपूज्य स्वामीजी महाराज ने बताया कि अरे भाई? जीवन में जब तक सरलता नहीं आएगी, तब तक वह चिन्तन टूटेगा नहीं।

अब यह प्रश्न हम लोगों के सामने आया कि रस कैसे आए? मुझमें वह रस कैसे अभिव्यक्त हो जाए कि उससे यह चिन्तन टूट जाए। उसके लिए उन्होंने तीन उपाय बताए। सबसे पहला उपाय बताया कि भाई, उदार बनो। उदारता का रस मानव जीवन का श्रृंगार है। वह भूषण है हम लोगों का। इस रस से मानव का व्यक्तित्व

सुशोभित होता है। वह उदारता आप में है, इसीलिए मानव सेवा संघ में जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिगत साधना को प्रधानता देना चाहता है तो मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करके निवेदन करती हूँ कि भाई! मानव सेवा संघ की चर्चा में मानव जीवन के मूल सत्य की चर्चा होने दो और व्यक्तिगत साधना को व्यक्तिगत रहने दो। अगर व्यक्तिगत साधना की प्रधानता हम मानव सेवा संघ में दे देंगे तो इसकी सर्व व्यापकता घट जाएगी।

व्यक्तिगत साधना के प्रति तो आदमी का खिचाव भी रहता है, रुचि भी रहती है परन्तु मानव सेवा संघ तो सबका है, तो सबका यह कब तक है? जब तक इसकी सर्वव्यापकता सुरक्षित है, तब तक। अब मेरी व्यक्तिगत साधना को इसमें आरोपित कर दिया जाए, उसकी विशेषता बढ़ा दी जाए तो उसी के भीतर यह सीमित हो जाएगा। तब यह सबका नहीं रह सकेगा। मानव सेवा संघ के प्रेमियों, समर्थकों, सेवकों के लिए अति आवश्यक बात है, इसकी सर्वव्यापकता को सुरक्षित रखना। व्यक्तिगत रुचि को प्रधान देकर कि मैं मानव सेवा संघ का सेवक हूँ, मानव सेवा संघ का समर्थक हूँ, मैं मानव सेवा संघ में मन-मन-धन लगाता हूँ। इसमें कुछ मेरी भी बात चलनी चाहिए। ऐसा सोचकर व्यक्तिगत बात को हम लोग इसमें शामिल कर देंगे, तो फिर यह सबका नहीं रह जाएगा। स्वामीजी महाराज ने क्या कहा? उदारता का रस जब तुम्हारे जीवन में आएगा तो उस रस के आधार पर व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा।

अब उदारता कैसे आएगी जीवन में भाई? तब उन्होंने कहा कि दुःखी को देखकर करुणित होना, सुखी को देखकर प्रसन्न होना, इस उदारता को हम लोगों को बढ़ाना है। उदारता को बढ़ाने में एक विशेष बात पर ध्यान देना है कि दूसरे लोग हमारे प्रति उदार हों, इससे हमारी स्वाधीनता नहीं है, परन्तु हम स्वयं चाहे तो दूसरों के प्रति उदार हो सकते हैं। इसमें हम स्वाधीन हैं। इस दृष्टि से हम सभी को अपने निकटवर्ती जन-समुदाय के प्रति उदार रहना चाहिए। उदारता के रस से व्यर्थ चिन्तन को नाश होता है।

व्यर्थ-चिन्तन के नाश का दूसरा उपाय श्रीस्वामीजी महाराज ने बताया कि अचाह और अकिंचन हो जाओ। इसमें किसी मत-सम्प्रदाय, ग्रन्थ-पन्थ एवं प्रणाली का मतभेद नहीं है। मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में ऐसे चुने हुए शब्दों का प्रयोग पूज्य स्वामीजी महाराज ने प्रणाली में ऐसे चुने हुए शब्दों का प्रयोग पूज्य स्वामीजी महाराज ने किया है कि जिससे सर्वव्यापी विचार को सर्वव्यापी बनाए रखने में बड़ी मदद मिलती है। उन्होंने शास्त्रीय शब्दों का भी अधिक प्रयोग नहीं किया जिससे कोई कहे कि भाई, गीता पढ़ो तो समझ में आएगा, नहीं पढ़ो तो समझ में नहीं आएगा अथवा कुरान पढ़ो तो समझ में आए, नहीं तो नहीं, ऐसा नहीं।

उन्होंने कहा, अकिंचन और अचाह हो जाओ। अकिंचन का अर्थ है-मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है। अचाह शब्द का अर्थ है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। ये दोनों शब्द ऐसे हैं कि किसी युग में, किसी देश का कोई भी धर्मावलम्बी यदि व्यर्थ चिन्तन से छूटना चाहता है, शरीर की आसक्ति को छोड़कर देहातीत जीवन में प्रवेश चाहता है तो इन तथ्यों को वह इन्कार कर नहीं सकता। "इस संसार में मेरा व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है।" इस सत्य को स्वीकार करना कोई साधुपने की बात नहीं है। यह जीवन का सत्य है। आप विचारकजन है। आपने इस विषय पर अनेक बार सुना है। मैं क्या बताऊँ-मनोविज्ञान पढ़ने-पढ़ाने में जो समय मैंने लगाया उसके परिणामस्वरूप यह एक रहस्य

मेरी समझ में आ गया कि वर्तमान में अपने में जो नीरसता मालूम होती है वह केवल ममता और कामना के ही कारण है। अगर ममता और कामना को जीवन में से निकाल दिया जाए तो स्वभाव से अपने में इतनी सरसता मिलती है कि व्यक्ति को फिर किसी वस्तु की याद नहीं आती। व्यर्थ चिन्तन की जड़ कट जाती है।

परन्तु बड़ी भारी भूल यह हो गई अपने से कि हमने यह समझ लिया कि अमुक प्रकार की परिस्थिति बन जाएगी तो जीवन बड़ा सरस हो जाएगा। इसी में सर्वनाश हो गया। न मनचाही परिस्थिति बने और न चैन मिले। अनुकूल परिस्थितियों की कामना ने मनुष्य को शान्ति से जीने नहीं दिया। अब जरा शरीर के स्तर में ऊपर उठकर देखिए-जो रस अपने ही में विद्यमान है उसमें इतना मधुर आकर्षण है कि जिसके वर्णन करने की अपने में क्षमता नहीं है। वह रस जैसे ही मानव हृदय में उद्‌भूत होने लगता है, व्यक्ति का रोम-रोम उस से आप्लावित हो जाता है। सर्वेन्द्रियाँ उसमें समाहित हो जाती हैं। चिर-शान्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है। इतना सरस जीवन अपने ही में विद्यमान है और केवल अप्राप्त परिस्थिति की कल्पना में, अप्राप्त वस्तु की कामना में, आस-पास दिखाई देने वाले शरीर और संसार की ममता में, मैंने अपने को बर्बाद कर लिया। स्वामीजी महाराज ने सलाह दी कि भाई! जीवन में रस की अभिव्यक्ति कैसे होती है? अकिंचन और अचाह होने से होती है, और जब रस बढ़ता है तो व्यर्थ-चिन्तन का नाश होता है।

तीसरी बात क्या बताई? तीसरी बात तो इतनी सहज है कि बहुत सहज भाव से सब किसी के समझ में आ जाती है। वह क्या है, कि परम प्रेमास्पद के प्रेम का रस जब बढ़ता है तो व्यर्थ-चिन्तन का नाश हो जाता है। प्रेमास्पद का रस कैसे बढ़ेगा? सृष्टिकत्र्ता ने हम लोगों को बनाया है। उसमें उन्होंने एक बड़ी बढ़िया चीज दी है, एक रहस्य ऐसा खोल कर रखा हम लोगों के सामने, अपने पास पहुँचने के लिए, कि भाई! बल नहीं, योग्यता नहीं, जप नहीं, तप नहीं, श्रम नहीं, चालाकी-चतुराई नहीं, यह सब कुछ नहीं-केवल एक ही बात कि परमात्मा को पसन्द करो। परमात्मा की पसन्दगी मात्र से हृदय जब पसीजने लगता है तब अपने ही में विद्यमान परमात्मा अपनी प्रेमरूपी विभूति में प्रकट होने लगता है जिससे व्यर्थ-चिन्तन का सदा के लिए नाश हो जाता है। ऐसा होता है। यह इतना प्रत्यक्ष है, इतना सत्य है कि एक बार साधक के अनुभव में यह आ जाए तो फिर वह साधक कभी भूलता नहीं है। उस प्रेममय अस्तित्व पर से उसकी दृष्टि हटती ही नहीं है।

श्री स्वामीजी महाराज ऐसा कहते थे और मं सुनती थी, लेकिन सुनकर उस बात को ग्रहण कर लेने में प्रारम्भ में मुझे असमर्थता मालूम होती थी। कुछ दिनों के बाद मैं स्वयं परमपूज्य स्वामीजी महाराज से कहने लगी कि मुझे ऐसा लगता है कि कोई आदमी ईश्वर का विश्वास लेकर अपने जीवन की नीरतसा का नाश करने के लिए जितना तत्पर होगा उससे कहीं अधिक परमात्मा लालायित होंगे मनुष्य को नीरसता के ताप से मुक्त करके अपने प्रेमरस से परिपूर्ण करने के लिए परमात्मा को इस बात का बड़ा चाव है कि भटका हुआ प्यारा मानव उनकी ओर उन्मुख हो जाता तो उनकी करुणा का परिचय पाकर आश्वस्त होता और वे परम प्रेमास्पद स्वयं ही उसको अपनी प्रेमसुधा पिलाकर सदा के लिए कृत-कृत्य कर देते हैं।

कैसी अद्‌भुत रचना है मनुष्य की! सोचिए- हाड़-माँस के बने हुए, मल-मूत्र की थैलियों से भरे हुए शरीर की आसक्ति में फँसा

हुआ मनुष्य परम विमल, परम निर्विकार, प्रेमसिन्धु परमात्मा का प्रेमी होने की अभिलाषा रखता है। किसी प्रेमी की अभिलाषा है- उसको माखन-रोटी खिलाऊँ, किसी ने कहा- उसे पालने में झुलाऊँ, किसी ने पसन्द किया कि उसे छछिया भर छाछ पर नाच नचाऊँ। आश्चर्य है कि भक्त हृदय की इन सभी अभिलाषाओं की पूर्ति का भी विधान है। यह मानव जीवन की विशेषता है। यह विशेषता उस महामहिम की दी हुई है। उन्होंने ही इस बात को पसन्द किया कि मानव सशरीर इस धरती पर विचरे, परन्तु ज्ञानपूर्वक इससे नि£लप्त रहे, तथा प्रेमरस की वर्षा से चराचर जगत को आनन्दित करे।

यह महिमा हम सभी भाई-बहिनों के जीवन में चरितार्थ हो सकती है, यह मानव सेवा संघ का अमर संदेश है। अब शान्त हो जाइए।

प्रवचन 22

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मानव सेवा संघ के तत्त्वावधान में हम सभी भाई-बहन जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए जीवन के सत्य पर विचार करने बैठे हैं।

समस्या क्या है हमारे सामने? मानव सेवा संघ ने दो बातें हमारे सामने रखीं। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। व्यक्ति के कल्याण का अर्थ है? व्यक्ति के कल्याण का अर्थ यह लिया गया कि आन्तरिक अशान्ति से पीड़ित होने वाले व्यक्ति को, शान्ति मिल जाए। लोभ, मोह, काम, क्रोध, आदि विकारों से विवश पड़े व्यक्ति को जीवन-मुक्ति मिल जाए। अपने को अनेक प्रकार से असमर्थ पाकर अनाथपन की पीड़ा से पीड़ित होने वाले व्यक्ति को विश्वनाथ का आश्रय प्राप्त हो जाए। अशान्ति मिटकर शान्तिमय जीवन हो जाए। जन्म-मरण की बाध्यता मिटकर जीवन-मुक्ति का आनन्द मिल जाए। अनाथपन मिटकर सर्वसमर्थ की शरण मिल जाए। हृदय परम प्रेमास्पद के प्रेम से भर जाए। नीरसता और अभाव सदा के लिए मिट जाए। यह व्यक्ति का कल्याण कहलाता है।

सुन्दर समाज का निर्माण क्या है? तो सुन्दर समाज के निर्माण के अर्थ में मानव सेवा संघ ने यह अर्थ लिया कि जिस समाज में अनेक प्रकार की भिन्नताओं के रहते हुए भी एक सर्वात्मभाव की स्थापना हो जाए, वह सुन्दर समाज है। अनेक प्रकार की भिन्नता तो समाज में रहेगी ही, परिस्थितियाँ सबकी अलग-अलग होंगी, रुचि-योग्यता सबकी अलग-अलग होगी, फिर भी अनेक प्रकार की भिन्नता होते हुए भी, सर्वात्म भाव के आधार पर एकता स्थापित हो जाए, तो यह सुन्दर समाज के निर्माण का लक्षण होगा। शरीर से बलवान व्यक्ति, प्राप्त बल को निर्बलों की चीज मान ले तो निर्बल और सबल की एकता हो जाएगी। जहाँ इस प्रकार की एकता स्थापित हो जाए सबको मानव सेवा संघ ने सुन्दर समाज का निर्माण माना। और ऐसा करने में आप देखेंगे, कि जहाँ व्यक्ति सुन्दर समाज के निर्माण के लिए प्राप्त सामथ्र्य योग्यता इत्यादि को समाज की सेवा में लगाने का व्रत ले लेता है, तो उसके इस व्रत से स्वयं उस व्यक्ति का भी कल्याण होता है।

मानव सेवा संघ की एक बड़ी भारी विशेषता मुझे मालूम होती है कि इसमें व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण को दो अलग-अलग बातें नहीं मानी गई। तो व्यक्ति विवेक का आदर करता है, जो व्यक्ति प्रभु विश्वास में विकल्प नहीं करता, जो व्यक्ति स्वयं अपने को बुराई रहित बनाने में प्रयत्नशील है, ऐसे अपने कल्याण में तत्पर व्यक्ति के द्वारा ही समाज की

सेवा सम्भव होती है। और जो व्यक्ति प्राप्त सामग्री को अपनी न मानकर, ममता छोड़कर, अप्राप्त की कामना छोड़कर, जिस परिस्थिति में है और जो कुछ उसको प्राप्त है उसी के द्वारा वह निकटवर्ती जन-समाज की सेवा में तत्पर रहता है तो उसके चित्त की शुद्धि होती है, उसको शान्ति मिलती है, उसका विकास होता है। इस तरह मानव सेवा संघ ने व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण को, एक ही व्यक्तित्व के दो अनिवार्य पहलू माने हैं। जो अपने कल्याण में तत्पर है वह समाज की सेवा कर सकता है। जो समाज की सेवा कर सकता है वह अपना विकास कर सकता है, ऐसा माना गया है।

एक बड़ी भारी विशेषता जो महाराजजी ने मानव जीवन के सम्बन्ध में हम लोगों को बताई, वह यह है कि हम सभी भाई-बहनों को अपने सम्बन्ध में इस बात का बहुत ही दृढ़ विश्वास रखना है कि मानव का जीवन स्वयं ही इतना मूल्यवान है, स्वयं ही इतना महत्त्वपूर्ण है कि अपने व्यक्तित्व में विद्यमान मौलिक तत्त्वों का विकास करने के लिए हम तत्पर हो जाएँ तो इस विकास में कोई भाई, कोई बहन, पराधीन नहीं है। महाराज जी के दिल में इस बात की बड़ी गहरी वेदना रहती थी कि आज समाज की पीड़ा से पीड़ित होने वाले महानुभाव, समाज सुधार की दिशा में सोचने वाले व्यक्ति, ऐसा सोचने लगे हैं कि परिस्थिति को बदल दो, तो समाज का विकास होगा, परिस्थिति को बदल दो तो व्यक्ति को आराम मिलेगा। मनुष्य का विकास परिस्थिति परिवर्तन से होगा, यह मानना बड़ी भारी भूल है। महाराजजी ने कहा भी है और लिखाया भी है कि दूसरों की सहायता पर मेरा विकास निर्भर है, ऐसा सोचना मानवता का बड़ा भारी अपमान है।

उन्होंने बताया कि भाई! तुम्हारा सुधार, तुम्हारा उद्धार, तुम्हारा विकास पराश्रय और पराधीनता पर निर्भर नहीं है। मानव समाज को यह विश्वास दिलाना, मानव सेवा संघ की बड़ी भारी सेवा है। आप मत सोचिए कि आपको जो चाहिए वह कहीं बाहर से मिलेगा। आपको क्या चाहिए? आपको शान्ति चाहिए, आपको जीवन मुक्ति चाहिए, आपको भगवद् भक्ति चाहिए। शान्ति कैसे मिलती है भाई? शान्ति मिलती है-की हुई भूल को दोहराएँगं नहीं, अर्थात् जानी हुई भूल को आइन्दा फिर करेंगे नहीं, अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करेंगे। ऐसा करने से शान्ति मिलती है। तो यह शान्ति कोई दूसरा आपको दे देगा? यदि अपनी जानी हुई भूल को मैं छोड़ूँ नहीं, की हुई भूल को दोहराना बन्द करूँ नहीं, तो अन्य की सहायता से शान्ति कैसे मिल जाएगी? मुझे नहीं मिल सकती।

संकल्पों के कारण प्राणी जन्म धारण करने के लिए बाध्य होता है। उन्हीं संकल्पों को लेकर यदि मर जाता है तो उसके दुनिया में कौन सी वस्तु, कौन सा व्यक्ति, कौन सा गुरु ऐसा है, जो उसे जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करा दे। कोई ऐसा नहीं कर सकता, ऐसा कोई है नहीं। जन्म-मरण की बाध्यता कब टूटती है? जब निज विवेक के प्रकाश में व्यक्ति इस बात का अनुभव करता है कि संकल्पों से प्रेरित होने के कारण प्राकृतिक विधान से मुझे शरीर धारण करना पड़ा है, तो निज विवेक के प्रकाश में हम संकल्प रहित हो जाएँ, निर्विकल्प जीवन को प्राप्त करें। शरीरों के रहते-रहते जब व्यक्ति निःसंकल्प हो जाता है, तो उसकी निःसंकल्पता की शान्ति में उस सामथ्र्य की अभिव्यक्ति होती है जिस सामथ्र्य को लेकर वह देहातीत, अविनाशी जीवन में प्रवेश पाता है। यह जीवन का सत्य है।

अब कोई ऐसा सोचे कि संकल्पपूर्ति के सुख और संकल्पपूर्ति के सुख का लालच तो मैं छोड़ूँ नहीं, तो किस परिस्थिति से किस व्यक्ति से, किस वस्तु से, किस गुरु से, किस मार्गदर्शक से, किस समाज सुधारक से उसके जन्म-मरण की बाध्यता कट सकती है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसलिए मानव सेवा संघ ने समाज को यह विश्वास दिलाना पसन्द किया कि भाई। तुम्हें जो चाहिए, वह तुम्हीं में विद्यमान है। अपने सुधार के लिए पराश्रित और पराधीन मत बने रहो। आपको ईश्वरीय प्रेम चाहिए। ईश्वर की चर्चा हम लोगों के जीवन में हैं। बिना देखा हुआ, बिना जाना हुआ परमात्मा, जिसकी हम आवश्यकता अनुभव करते हैं, जिसकी चर्चा किए बिना रह नहीं सकते, उस परमात्मा से मेरे मुलाकात करने का कोई भी उपाय हैं?

मानव सेवा संघ ने हम लोगों के सामने जीवन के इस सत्य को रखा और यह कहा कि यह बड़ा ही आवश्यक प्रश्न है मानव के जीवन में। और इस आवश्यक प्रश्न की उत्पत्ति किसी परिस्थिति, विशेष किसी वर्ग विशेष, किसी देश विशेष तथा काल विशेष पर आधारित नहीं है। यह मानव के जीवन का मौलिक प्रश्न है कि वह अपने को अनेक प्रकार की सीमाओं में बँधा हुआ पाता है। वह अपनी शक्तियों को अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति में अधूरी पाता है। इसलिए वह एक सर्वसामथ्र्यवान अविनाश्ी प्रेमस्वरूप की आवश्यकता अनुभव करता है। उसी का नाम परमात्मा है। उसी का नाम ईश्वर है। उसी का नाम भगवान है। और उससे मिल लेना, उससे अभिन्न हो जाना, मानव जीवन की सबसे ऊँची और अन्तिम उपलब्धि है। इसकी प्राप्ति का उपाय क्या है, तो अलग-अलग भक्तों से, अलग-अलग सन्तों से, अलग-अलग ग्रन्थों से पूछियेगा तो अलग-अलग प्रकार के उपाय आपके सामने आयेंगे।

मानव सेवा संघ किसी एकदेशीय मत, सम्प्रदाय, वर्ग, साधना का समर्थक या विरोधक नहीं है। इसलिए मानव सेवा संघ के प्रणेता ने इस दृष्टि से मानव जीवन के उन मौलिक तत्त्वों को हमारे सामने रखा जिन्हें कोई भी ईश्वरवादी साधक, ईश्वर से मिलने का अभिलाषी अपना सकता है। वह क्या है? कि भाई! देखा हुआ संसार मेरे जीवन की आवश्यकता की पूर्ति में असमर्थ प्रमाणित हो गया, इसलिए मैं देखे हुए संसार को नापसन्द करता हूँ। यह खास बात है। और जो देखने में नहीं आया, जो बुद्धि की सीमा में नहीं समा सकता, जो हमारी जानकारी का विषय नहीं बन सका, लेकिन जिसकी आवश्यकता मुझे महसूस होती है उससे मिलना मैं पसन्द करूँ, तो जिसने देखे हुए संसार को नापसन्द किया, और बिना देखने हुए परमात्मा को पसन्द कर लिया, उसको शरीर के रहते-रहते परमात्मा के मिलन का अनुभव हो जाता है। यह जीवन का सत्य है। जिसको आप नापसन्द कर देंगे उसका प्रभाव आपके जीवन पर से उतर जाएगा। नापसन्द करते ही प्रभाव तो उसका उतर गया, परन्तु शरीर भी तो संसार ही है, संसार में ही रहेगा। तब क्या करें?

मानव सेवा संघ ने इस विषय में एक बहुत ही उपयोगी और सर्वमान्य सत्य हम लोगों के सामने रखा कि भाई! जो शरीर संसार में ही बना है, संसार में ही रहेगा, मिट करके संसार में ही समाहित होगा, उस शरीर को लेकर संसार से बाहर जाने की नहीं सोचना है। उस शरीर के माध्यम से संसार की सेवा करो। जो परमात्मा सदा-सदा सेआपका है, जो बिना देखा हुआ होने पर भी, बिना जाना हुआ होने पर भी, आपकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है, जब

उसकी ओर आप उन्मुख होते हैं, तो संसार के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले नये विकारों का अन्त हो जाता है। तो विचार के आधार पर नये विकास उत्पन्न नहीं होंगे। फिर भी संसार की सेवा अनिवार्य है। क्यों? क्योंकि इतने दिनों तक, जो मैंने संसार को अपना योग्य पदार्थ माना था, खाने की वस्तु दिखाई दे तो मैं खा लूँ, सुख-आराम की वस्तु दिखाई दे तो मैं उसका उपभोग कर लूँ, यह जो हमारी एक भूल होती आई कि संसार को मैंने सेवा का पात्र न मान करके, अपना योग्य पदार्थ माना था, इस भूल के कारण जीवन में जो विकार उत्पन्न हो गये, उन पुराने रागों की निवृत्ति के लिए संसार की सेवा अनिवार्य है। तो अपने लिए इस संसार को पसन्द मत करो, लेकिन राग निवृत्ति का साधन जानकर इसकी सेवा करो। संसार का चिन्तन कैसे छूटता है? इसकी सेवा करने से छूटता है।

सुख-भोग के प्रभाव से जो हृदय कठोर बन गया था, जिस हृदय में प्रभु की कृपालुता, प्रभु की करुणा, प्रभु के प्यार का स्पर्श भी मालूम नहीं होता था, जो हृदय कठोरता की नीरसता में सूनासूना हो रहा था, उस हृदय में जब शुक्रता, मधुरता और कोमलता आती है तब प्रभु की कृपा का दर्शन होने लगता है, प्रभु के प्रेम का स्पर्श होने लगता है। और मै। क्या बताऊँ, आप सभी विचारशील लोग हैं, साधक लोग हैं, मानव सेवा संघ के प्रेमी और मानव सेवा संघ के सिद्धान्तों के अनुयायी भाई-बहिन हैं, आपने अनुभव करके देखा होगा और नहीं देखा हो तो अब से अनुभव करके देख लीजिए। सुख-भोग में हृदय की नीरसता और शुष्कता बढ़ती है, और सुख को बाँटकर सेवा में लगाने से, हृदय की सरसता बढ़ती है। अब देख लीजिए अनुभव करके।

अब कोई कहे कि यदि कोई गुरु चमत्कार कर दे तो मेरा हृदय कोमल हो जाए, तो गुरु चमत्कार कर सकते हैं कि नहीं कर सकते, यह तो गुरुजन जानें। गुरु कोटि के लोग जानें। लेकिन इसमें आप स्वाधीन नहीं है। स्वाधीन आप किस बात में हैं? स्वाधीन आप इस बात में है कि जीवन का जो सत्य है जिसको आप सत्य मानकर स्वीकार करें, उसके द्वारा अपने आप ही परिवर्तन आ जायेगा। इसमें आप स्वाधीन हैं।

आपको याद होगा कि जिन दिनों में स्वामीजी महाराज का सर्वहितकारी शरीर अस्वस्थ हो गया था, उन दिनों में सब प्रेमी, मित्र, चिकित्सक, डाॅक्टर लोग स्वामीजी को सलाह देते कि महाराज आप अधिक श्रम मत करिए। हम लोग उनके पास बैठकर घड़ी देखते रहते, और आधा घण्टा अगर बोलते हुए हो गया तो धीरे से संकेत करते, "महाराज आधा घण्टा हो गया, अब आप चुप हो जाइए।" तो कभी-कभी भीतर से एकदम पीड़ित होकर महाराज के मुख से बात निकलती। एक बार उन्होंने ऐसा कहा-देवकी जी! मुझको मना मत करो। देखो! जिसके दर्द होता है वह चिल्लाता है। तो मैं कथा नहीं कर रहा हूँ, मैं अपनी व्यथा सुना रहा हूँ। मुझको मत रोको। क्या व्यथा है? त्रिगुणातीत पुरुष, पमर प्रेमास्पद परमात्मा के अभिन्न मित्र, नित्य निरन्तर उसके प्रेम में सराबोर रहने वाले सन्त महापुरुष की व्यथा क्या है? वे किस पीड़ा से पीड़ित थे? उनको केवल इस बात की व्यथा थी कि भाई! मानव समाज अपने विकास में अपने को स्वाधीन न मानें, इस बात की बड़ी पीड़ा थी।

अरे भाई! तुम्हारे पास अल्प से अल्प सामथ्र्य है तो क्या? उसी सामथ्र्य का सदुपयोग करो, तो दुनिया के बड़े-बड़े सामथ्र्यशाली को, सेवा की बड़ी-बड़ी योजना को पूरी करने के बाद

जो जीवन मिलता होगा, वही जीवन अल्प सामथ्र्यवान को, अल्प सामथ्र्य के सदुपयोग से मिल सकता है। तुम पराधीन क्यों हो? निराश क्यों हो? निज विवेक का आदर करके, बड़े से बड़े जो कोई विवेकी पुरुष हुआ होगा, उसको जो जीवन मिला होगा, वही जीवन तुम्हारे पास जो विवेक का प्रकाश विद्यमान है उसका आदर करके, प्राप्त करके कृत-कृत्य हो सकते हो, पराधीन क्यों बने हुए हो? ईश्वर को पसन्द करके, आज तक दुनिया में किसी भी भक्त को, भगवान के मिलन का जो आनन्द आया होगा, वहीं आनन्द, वही प्रेममय जीवन, परमात्मा से वही अभिन्नता, हम लोगों में से प्रत्येक भाई-बहिन को मिल सकती है। तुम निराश और पराधीन क्यों हो?

जब हम लोगों ने चेष्टा की कि महाराज विश्राम लें, तो बीमारी के दिनों में, पच्चीस दिसम्बर, एकादशी का दिन तो उन्होंने निश्चय करके रखा ही था, शरीर त्याग करने के लिए। उसके दो-तीन दिन पहले की बात है, सत्संग की बात बोलते जा रहे थे, तो फिर हम लोग ऐसे आस-पास खड़े हुए कहते, "महाराज, डाॅक्टर लोग मना करते हैं अब आप आराम करें", तो हृदय उमड़ आया, उनकी आँखें सजल हो गई और कहने लगे कि, "अरे भाई! मेरे आस-पास में खड़ा हुआ मेरा एक भी मित्र जब तक मुझे पराधीन दिखाई देता है, मैं विश्राम कैसे लूँ"? उस महापुरूष की वाणी है, उस महापुरूष की खोज है कि मुझे जो चाहिए उसकी प्राप्ति में मैं पराधीन नहीं हूँ। तो पराधीन हूँ नहीं, और पराधीन अपने को मानकर बैठ जाऊँ, तो इससे बड़ा प्रमाद और क्या हो सकता है? उनकी यह अभिलाषा रही, हम लोगों के लिए उनकी यह प्रेरणा रही, और जब तक शरीर को उन्होंने काम के लायक समझा, तब तक उन्होंने हम लोगों को यह सन्देश दिया-"हे मानव! मानव होने के नाते अपनी मौलिक आवश्यकता की पूर्ति में अपने को पराधीन मत मानो, अर्थात् शान्ति, मुक्ति और भक्ति की अभिव्यक्ति में तुम सर्वथा स्वाधीन हो, अपने जीवन की इस महिमा को स्वीकार कर लो तो मानव सेवा संघ सफल हो गया।"

प्रवचन 23

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

आज हम लोगों के सामने हमारे जीवन की एक बड़ी समस्या प्रस्तुत की गई है। हम लोग उसको इतनी स्पष्टरूप से अनुभव नहीं करते हैं। स्वामीजी महाराज इस समस्या को हमारे सामने रख रहें हैं कि मानव के जीवन का कितना बड़ा भ्रम ;प्ससनेपवदक्ष है कि हम प्राप्त परमात्मा को अप्राप्त जैसा महसूस करते हैं। प्राप्त परमात्मा अप्राप्त मालूम होता है और कभी न प्राप्त होने वाला संसार प्राप्त मालूम होता है। वास्तव में परमात्मा अप्राप्त है नहीं, लेकिन मालूम होता है कि अप्राप्त है। और संसार प्राप्त है नहीं और मालूम होता है कि प्राप्त है। तो विपर्याय शब्द जिसको अंग्रेजी में प्ससनेपवद कहते हैं उसका अर्थ यही है कि जो वस्तु जैसी हो, वैसी न मालूम पड़े, उससे कुछ भिन्न दिखाई दें, जैसे-आँख से देखना, कान से सुनना आदि पाँचों ज्ञानेन्दियों के आधार पर, इन्द्रियों के विषय की जानकारी प्राप्त होती है। वस्तु जैसी है वैसी जानकारी न हो, उससे कुछ भिन्न हो जाये तो उसका 'इल्यूजन' कहते हैं। यही विपर्याय है, तो मानव जीवन का सबसे बड़ा विपर्याय यही है कि प्राप्त परमात्मा अप्राप्त जैसा लगता है और अप्राप्त संसार जो है, वह प्राप्त जैसा दिखता है यह सबसे बड़ा प्ससनेपवद है। इस भ्रम को, इस विपर्याय को मिटाये बिना मनुष्य के जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता।

तो सबसे बड़ा प्रश्न, सबसे महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम, हमारे जीवन का यह तय हुआ कि अप्राप्त संसार जो आज मुझको प्राप्त जैसा मालूम हो रहा है इस प्रतीति को, इस भ्रम को, इस विपर्यय को हम मिटा लें। मिटाने का अर्थ यह नहीं कि शरीर को मिटा दें, कि संसार को मिटा दें। यह हमारे वश की बात नहीं है। शरीर को मैंने नहीं बनाया है, संसार को मैंने नहीं बनाया है, इसलिए कोई यह सोचे कि इस विपर्याय को मिटाने के लिए शरीर और संसार को मिटा दें, तो यह सम्भव नहीं है। विपर्याय तो मुझमें हैं, मैंने इस भ्रम को जीवन में पाला है, मैंने इस विपर्याय को अपने में रहने दिया है। मेरी भूल से यह भ्रम मुझ पर शासन कर रहा है और सत्संग के प्रकाश में हमारा यह भ्रम नाश हो सकता है। तो आज हम सब भाई-बहिन जो यहाँ बैठे हैं, तो मै। केवल कहने के लिए नहीं बैठी हूँ और आप केवल सुनने के लिए नहीं बैठे हैं। मुझको और आप सभी भाई-बहिनों को अगर यह भ्रम अपने लिए हानिकारक मालूम होता हो तो यहाँ बैठे ही बैठे, बातचीत करते ही करते, मेरे बोलते ही बोलते, आपके सुनते ही सुनते इस भ्रम का नाश यहीं हो जाना चाहिए और ऐसा हो सकता है। अभी मैं आधा मिनट का समय लेती हूँ चुप हो जाती हूँ, आप चुप हो जाइये। उसके बाद देखिए कि उस आधे मिनट के भीतर प्राप्त की याद आती है कि अप्राप्त की याद आती है। ;सभी शान्त हैं.....ऋ

अपनी मनोदश का परिचय पाकर हम सब लोग इस बात को स्वीकार करेंगे कि दार्शनिक दृष्टिकोण से सचमुच प्रतीत होने वाले संसार से किसी भाई-बहिन का नित्य सम्बन्ध नहीं है, कभी था नहीं, आगे होगा भी नहीं, आज है भी नहीं, परन्तु वर्तमान दशा की दृष्टि से यह पता चलता है कि थोड़ी देर के लिए प्रवृत्ति बंद कर दो, शरीर और संसार के साथ मिलकर काम करना छोड़ दो तो बाहर से निष्क्रिय होते ही मस्तिष्क जो सक्रिय होता है, उसकी सक्रियता में इस संसार का सम्बन्ध उभर कर और ज्यादा सामने आता है। यह आपका अनुभव है कि नहीं? जी! है। तो दार्शनिक सत्य है कि संसार सदैव ही अप्राप्त है औ वर्तमान दशा का अनुभव हमारा है कि हम इस संसार के साथ बड़ी घनिष्ठता के साथ गुथे हुए हैं।

कभी शरीर की दशा की याद आ गई, कभी परिवार की दशा की याद आ गई, तो कभी स्नेही मित्रों की याद आ गई तो कभी आलोचना करने वाले विरोधियों की याद आ गई, तो कभी अपने पास रखे हुए सामान की याद आ गई, तो कभी अप्राप्त वस्तुओं की याद आ गई। इन बातों की याद जो आ गई स्वभाव से, बिना हमारे किए, बिना हमारे चाहे, तो यह दशा हमारी क्या बता रही है? यह दशा मुझको यह बता रही है कि जो प्राप्त है उसको तुमने भुला दिया और जो अप्राप्त है, उसके चिंतन में फँसे हुए हो। परिचय मिल रहा है कि नहीं? जी! परिचय मिल रहा है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्तों से इस विषय पर विचार करिये। स्वामीजी महाराज से मैंने बातचीत की तो मुझे मालूम हुआ कि मानव सेवा संघ साधकों को ऐसा कभी नहीं कहता कि संसार को असत्स जानकर, संसार के

सम्बन्ध को मिथ्या मानकर, संसार से विरोध करो, संसार की निन्दा करो, संसार से घृणा करो, संसार की अपेक्षा करो। इस विषय में महाराज जी से जब मैंने बहुत तीन-पाँच लगायी, जल्दी मानने को तैयार नहीं हुई तब उन्होंने कहा कि देखो! मानव सेवा संघ की भाषा में इस प्रकार बोला करो कि मनुष्य का नित्य सम्बन्ध परमात्मा से हैं। संसार से नित्य सम्बन्ध नहीं है। नित्य शब्द का अर्थ क्या है? जो सदा-सदा रहने वाला हो।

पहले भी रहा होगा, आज भी है, आगे भी रहेगा, कभी नहीं टूटेगा, उसको नित्य सम्बन्ध कहते हैं। तो स्वामीजी महाराज ने सम्बन्ध शब्द के आगे "नित्य" शब्द जोड़ दिया।

मेरी समझ में यह बात सहज ही आ गयी। पहले ऐसा कहने को मैं राजी नहीं थी कि मनुष्य का सम्बन्ध संसार से नहीं है। तो महाराज जी ने कहा कि संसार से नित्य सम्बन्ध नहीं है। सदा रहने वाला सम्बन्ध नहीं है। तो कैसा सम्बन्ध है? थोड़े दिनों का माना हुआ सम्बन्ध है। ऐसा कहने पर तो मेरे लिए यह बात ग्रहण करने योग्य हो गई। सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कैसे कहें? आँख बन्द करते ही सम्बन्धित व्यक्तियों के चेहरे दिखाई देते हैं और भुलाने की कोशिश करो कि हम संसार का चिंतन नहीं होंने देंगे तो जबरदस्ती संसार का चिंतन सिर पर चढ़ता है। तो हम कैसे कहें कि संसार से मेरा सम्बन्ध नहीं है। तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि देखो, ऐसे कहो कि संसार से नित्य

सम्बन्ध नहीं है। आज किसी को पिता कहा, आज किसी को माता कहा, आज किसी को पुत्र कहा, पुत्री कहा। थोड़े दिनों बाद माना हुआ यह नाता खतम हो जाता है। तो थोड़े दिनों के लिए बीच में जो बात होती है, जो पहले नहीं थी, और आगे नहीं रहेगी तो विचारकजन क्या करें? हमको तो शान्त होने पर, चुप होने पर, आँख बन्द करने पर मानस पटल पर संसार दिखाई देने लगता है। तो मानव सेवा संघ ने कहा कि मनुष्य का संसार के साथ जो

सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध का एक बड़ा सुन्दर उपयोग हो सकता है कि भाई! परमात्मा के साथ तो नित्य सम्बन्ध मानो और संसार के साथ कत्र्तव्य का सम्बन्ध मानो।

मैं समझती हूँ, हम लोग जितने यहाँ बैठे हैं, किसी का भी साहस नहीं होगा कि वह झट से कह दे कि संसार से मेरा कोई संबंध नहीं है। राजकुमार सिद्धार्थ जैसा तिनका तोड़कर खड़ा हो गया- "मैं त्रिविध दुःख विनिवृत्ति हेतु,

बाँधू अपना पुरुषार्थ सेतु! सर्वत्र उड़े कल्याण केतु, तब हो मेरा सिद्धार्थ नाम, हे क्षणभंगुर भव! राम-राम।" हे क्षणभंगुर भव, राम-राम। जब विदाई लेता है आदमी किसी से, तो 'राम-राम' कहता है। हे क्षणभंगुर संसार, आपको राम-राम अर्थात् आपसे मेरा अब कोई सम्बन्ध नहीं है। उस वीर पुरुष ने जैसे एक झटके में जन्म-जन्मान्तर के माने हुए संसार के सम्बन्ध को तोड़ दिया, उतनी हिम्मत हम लोगों में से किसकी है, यह तो व्यक्ति अपने आप जान सकता है, मैं तो जानती नहीं हूँ। मेरा अधिकार भी नहीं है कुछ कहने का। लेकिन मानव सेवा संघ सिऋ महापुरुषों के लिए कोई सन्देश नहीं देता क्योंकि उनको जरूरत नहीं है।

इस संघ के तत्त्वावधान में जो सत्संग का कार्यक्रम चल रहा है वह साधकों की दृष्टि से चल रहा है। तो हम सब लोग साधक हैं। दार्शनिक सत्य को स्वीकार करते हुए भी वैज्ञानिक स्तर पर शरीर और संसार के कारण फँसे हुए हैं। ऐसा आपको लगता है कि नहीं? जी! ऐसा लगता है। दर्शनिक सत्य को स्वीकार करते हुए भी जीवन के वैज्ञानिक स्तर पर शरीर और संसार को लेकर हम लोग जुड़े हुए हैं। तो यह कहना मुझको शोभा नहीं देता कि संसार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अरे कैसे कहें? जिन व्यक्तियों को छोड़कर अकेले जाकर कहीं बैठ गये, आँखे बन्द की तो जिस घर को छोड़कर आये, जिन व्यक्तियों को छोड़कर आये, उनका चित्र दिखाई दे रहा है, वन में वृक्ष के

नीचे बैठकर। तो कैसे कहें कि संसार से सम्बन्ध नहीं है?

मानव सेवा संघ ने हम लोगों के लिए रास्ता निकाला कि भाई नित्य सम्बन्ध परमात्मा से मानो और संसार के साथ कत्र्तव्य का सम्बन्ध मानो। तो संसार के साथ माना हुआ जो सम्बन्ध है वह बड़ा सुन्दर साधन का रूप धारण कर लेगा। किसी को पिता माना है तो पिता के प्रति तुम्हारा क्या कत्र्तव्य है? उसका पालन करने के लिए पिता मानो। पिता से कुछ लेने के लिए पिता मानो। तो संसार का सम्बन्ध और संसार का बन्धन, मुक्ति का साधन बन जाएगा। संसार में किसी को पति कहकर स्वीकार किया है तो पति के राग से मुक्त होने के लिए उसको पति मानो। जिस तरह से अपने भीतर के राग की निवृत्ति हो जाए, रुचि और वासनाओं का अन्त हो जाए, जो कुछ मिला है सो संसार के माने हुए सम्बन्ध वाले व्यक्ति की सेवा करके खत्म हो जाए, इसके लिए संसार का सम्बन्ध मानो, तो मनुष्य का व्यक्तित्व क्या रहेगा? मनुष्य का व्यक्तित्व रहेगा- "कत्र्तव्य का पुन्ज"।

अब आपका मन, पूछने का हो, जिज्ञासा जगे, कि मैं कौन हूँ? जिज्ञासा होती है ना? विचारपथ के साधक तो बड़ी-बड़ी बहस करते रहते हैं कि मैं कौन हूँ? कहीं सुनाई देता है कि तुम ब्रह्म हो, कहीं सुनाई देता है, तुम आत्मा हो। आप लोगों ने सुना होगा, कोई पहली बार सत्संग की बैठक में थोड़े ही बैठे हैं। कितने वेदान्त सम्मेलन आप लोगों ने।जजमदक किये होंगे। कितना विचारपथ का मंथन किया होगा। आपने सुना होगा कि व्यक्ति में जिज्ञासा जगती है कि मैं कौन हूँ? तो विचारकजन बतला देते हैं कि तुम ब्रह्म हो, तुम जीव हो, तुम आत्मा हो। भाई, न मैंने ब्रह्म को देखा, न जीवन की परिभाषा समझ में आयी न आत्मा के कोनोटेशन ;तात्विक परिभाषाऋ का मुझको पता है, तो मानव सेवा संघ ने कहा कि तुमको ऐसे अपरिचित और ऐसे अमूर्त, कोनोटेशन की जानकारी की क्या आवश्यकता है? ऐसी बात अपने

सम्बन्ध में क्यों स्वीकार करते हो कि जिसमें तुम निःसन्देह नहीं हो सकते हो। इसलिए भाई! तुम अपने को सामने रख करके अपने से प्रश्न पूछो कि "मैं कौन हूँ" और अपने आपको उत्तर दे दो कि "मैं मानव हूँ"। फिर परमात्मा के साथ क्याकरना है? तो कहो कि परमात्मा से मेरा नित्य सम्बन्ध है, उसको अपना आत्मीय कहकर मानना है और दिखाई देने वाले संसार के प्रति कत्र्तव्य मेरी साधना है। तो संसार के लिए मनुष्य का व्यक्तित्व क्या है? "कत्र्तव्य का पुंज" और परमात्मा के लिए मनुष्य का व्यक्तित्व क्या है? "परमात्मा की प्रीति"।

मानव सेवा संघ ने फैसला कर दिया, कहीं कोई कन्फ्यूजन ;उलझनऋ नहीं है। संसार की दृष्टि से तुम्हारा व्यक्तित्व क्या है? कत्र्तव्य का पुंज। बाप को बाप मानो बड़ी खुशी से और शक्ति लगाकर बाप मानो और बाप की सेवा करके किसी के बेटा बनने के राग से मुक्त हो जाओ। कितना सुन्दर हो गया संसार का सम्बन्ध। अगर सचमुच तुमने निःस्पृह भाव से सेवा की है तो प्राकृतिक विधान से परिस्थिति ऐसी बदलती है कि सेवक के हृदय में विश्व प्रेम का ऐस प्रादुर्भाव होता है कि उसमें सर्वेन्द्रियाँ डूब जाती हैं। रोग-रोम तृप्त हो जाता है, और प्रेम-समाधि लग जाती है। दो-चार दिन तक खुलती नहीं है। सारा संसार उसकी पूजा करने आ जाता है। उससे सेवा कोई नहीं माँगता। सेवा मेरी सिऋ हो गई, इसकी पहचान यही है कि क्रिया भाव में डूब जायें और जब तक क्रिया का होश रहें, जब तक शरीर का होश रहें कि अब तक मुझे ठीक समय पर खाना

मिल जाना चाहिए था और अब मेरे सोने का समय हो गया है, सब लोगों को हट जाना चाहिए था। जब तक एक शरीर की जरूरत की याद बनी रहे तब तक सेवा का दायित्व अपने पर मानना चाहिए और जब उस एक शरीर की क्रिया भी भाव में डूब जाएगी, उसकी जरूरत की याद अपने को नहीं रहेगी तो संसार आप पर सेवा का दायित्व स्वतः ही उठा लेगा, माँगने से भी नहीं देगा।

बड़ा सुन्दर विधान है जीवन का, और मानव सेवा संघ के रूप में स्वामीजी महाराज ने इतना स्पष्टीकरण कर दिया सचमुच यह विचारधारा समाज में प्रचलित रहे तो बुद्धिवादी लोग तो भटक नहीं सकते हैं। समझदार लोग समझ जाते हैं और उस मंत्र को पकड़कर पार हो जाते हैं। और जो लोग बहुत ज्यादा तीन-पाँच नहीं करने वाले हैं, उनके लिए तो और भी सरल रास्ता है। क्या है? कुछ मत पूछो, परमात्मा कहाँ है? कुछ मत सोचो कि तुम उसके भक्त हो जाओगे तो तुम्हारे वह साथ क्या करेगा। वह तुमसे अधिक तुम्हारा हितचिन्तक है। इसलिए बिना सोचे, बिना विचारे, बिना तर्क किए, बिना प्रमाण खोजे उस सामथ्र्यवान की शरण में अपने को डाल दो।

और मैं क्या बताऊँ स्वामीजी महाराज के सम्बन्ध में -रजत- जयन्ती स्मारिका जो मानव सेवा संघ की ओर से प्रकाशित करायी गई है, उसमें महाराज जी के सम्बन्ध में संस्मरण लिखने का प्रश्न आया। जीवन कथा तो लिखी नहीं जा सकती थी तो संस्मरणके लिए जब मैंने तथ्यों का संकलन करना प्रारम्भ किया तो एक अद्भूत घटना मुझे मालूम हुई? क्या मालूम हुई? महाराजजी ने अपने एक मित्र को सुनाया था कि आगरा से मथुरा जाते हुए जमुना के किनारे-किनारे अकेला जा रहा था तो अचानक नदी के किनारे से ढाह गिर गई, तो एकदम पानी में जाकर के पड़ गये। लाठी हाथ से छूट गई, लोग वहाँ थे नहीं, आँखों से दीखता नहीं, कि तैर करके किधर जाएँ? किनारा किधर है? तो अपने मन और शरीर को भगवान के भरोसे ढीला करके जल के ऊपर छोड़ दिया। अब यह खास बात है। जीवन में से निकला हुआ ईश्वर समर्पण है। हमारी तरह मुख से कहा जाने वाला समर्पण नहीं है। आप सोचकर के देखिए। इस समय हम लोग इस सत्संग भवन के भीतर सुरक्षित बैठे हुए हैं, किसी तरह की बाहरी आपत्ति-विपत्ति की सम्भावना नहीं है, तो ईश्वर-समर्पण का व्रत जो है, बड़ा अच्छा लग रहा है। जी! कौन पड़े ज्ञान के फेर में, कौन जाए योग का अभ्यास करने, बड़ा सहज पंथ है। भगवान के सम£पत हो जाओ, काम बन जाएगा। तो भगवत समर्पण की बात इस समय हम लोगों को बहुत सहज लग रही है, लेकिन समर्पण का अर्थ देखो। किनारे पर चलते-चलते ढाह गिर गई और इस मिट्टी के ढेर के साथ शरीर जल में जा पड़ा, हाथ की लाठी छूट गई, आँख से दिखतानहीं है, आस-पास कोई व्यक्ति नहीं है। ऐसे क्षण में जो ईश्वर के भरोसे उस जल में, मिट्टी में, और बालू में, शरीर को ढीला छोड़ सकता है, सोचो, उसमें कितना बड़ा ईश्वर का बल है। कितना बड़ा विश्वास है। तो क्या हो गया?

ऐसा लगा कि जैसे किसी ने ऐसे हाथ पर उठा करके शरीर को सूखी जमीन पर डाल दिया। स्वामीजी को पता चल गया कि शरीर सूखी जमीन पर पड़ा है। तो उन्होंने हाथ टेका जमीन पर कि उठ करके खड़े हो जायें तो धरती पर हाथ टेकते ही हाथ में एक लाठी आ गई। किसने उठा करके खुश्की पर डाल दिया? कौन लाठी बन करके हाथ में मुट्ठी में आ गया? इसका नाम ईश्वर विश्वास। वही परमात्मा जो नित्य प्राप्त है, अविश्वास काल में अप्राप्त जैसा लग रहा है, विश्वास काल में प्रत्यक्ष

जैसा हो जाता है। ऐसा होता है, और सबके साथ हो सकता है। एक के लिए बात नहीं है। तो मैं अभी अपने लोगों की सेवा में अप्राप्त संसार को प्राप्त जैसा लगता है, इससे पिण्ड छुड़ाने की चर्चा कर रही थी। अप्राप्त संसार जो प्राप्त जैसा लग रहा है, यह भ्रम कैसे मिटे, इसका उपाय आपकी सेवा में, मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार बता रही थी। तो यह उपाय मानव सेवा संघ में यह है, कि संसार को मिथ्या मत मानो और संसार का सम्बन्ध जब तुम अपने में महसूस कर रहे हो तो उसको मना मत करो, उसको साधन के रूप में बदल डालो।

सचमुच इसमें विश्वास तो नहीं करें और इसका महत्त्व भी न मानें और इससे कुछ लेने की आशा न करें। लेकिन इसकी छाप जो अपने अहम् में पड़ी हुई है, ;मन में नहीं, चित्त में नहीं, शरीर में नहीं, इन्द्रियों में नहींऋ मानव सेवा संघ ने मूल को पकड़ा, अहम् में जो इसकी छाप पड़ी हुई है, उस छाप को मिटाने का उपाय है कि जो-जो सम्बन्ध संसार में स्वीकार किया, उसके प्रति पूरा-पूरा बल लगाकर सेवा कर दो, तो यह क्या कहलायेगा मानव सेवा संघ की भाषा में? संसार के साथ आपका क्या सम्बन्ध है-"कत्र्तव्य का"। अब छोड़ दीजिए संसार को, जो नहीं है- उसके पीछे कितना पड़ेंगे हम लोग! अब चलें उसकी चर्चा करें, जो सदा-सदा से हैं। तो सदा-सदा से है और अभी भी इसी क्षण में विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का कोई मजा अपने में नहीं आ रहा है। उसकी विद्यमानता का मजा क्या है कि हृदय प्रेम से उमड़ता रहना चाहिए। इतना रस भर रहे हैं कि जो आपके परिपाश्र्व में पहुँच जायें, उसको भी सरसा-सा अनुभव होने लग जाए। उसकी विद्यमानता का मजा यह है।

मैं जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियों से डट कर सामना करने के लिए जब खड़ी हो गई थी, तो शुष्क, नीरस, कठोर कत्र्तव्य के कारण हृदय बड़ा सूना-सूना सा रहता है। छात्रावास में रहने लगी। वहाँ पर एक क्रिश्चियन टीचर थी। हमारी बड़ी देखभाल करने लगी तो उनके पास जब मैं जाकर बैठूँ तो मेरे भीतर का सूनापन घट जाए। भीतर-भीतर परेशानी जो रहती थी उन दिनों में, बड़ी शान्ति लगे, तो मैं सोचूँ कि भाई क्या बात है? इनके पास बैठने से ऐसा क्यों लगता है?

एक दिन प्रार्थना के समय प्रातःकाल मैं उनके कमरे में पहुँच गई तो वे बैठी हुई थीं प्रार्थना के भाव में, मुझको देख करके, आँखें खोल करके मुझको अपने पास बैठा करके बातचीत करने लगीं और कहने लगीं-देवकी जानती हो, तुमको मालूम है, मैं खुदा बाप से क्या कह रही हूँ? मैंने कहा-नहीं, टीचरजी मुझे क्या मालूम है? आप बताइये, तो कहने लगी कि देखो, मैं कह रहीं हूँ कि हमारे पति जो हैं, मिस्टर स्मार्ट उनका नाम है, भगवान में विश्वास ही नहीं करते हैं, तो हमको अच्छा नहीं लगता है। तुम जानती हो मैं क्या कह रही हूँ? मैं परमात्मा से कह रही हूँ कि हे पिता! यह आदमी जब तक तुम में विश्वास नहीं करें तब तक तुम इसको अच्छी नौकरी मत देना। ;श्रोता-हास्यऋ और मिस्टर स्मार्ट से क्या कहे कि आप ैमजजसमक हो जाइये, आपकी नौकरी चाकरी ठीक-ठाक हो जाए तब आप आइयेगा, मैं रजिंगेनेशन ;त्याग-पत्रऋ देकर चली चलूँगी आपके साथ। और जब वो चले जाएँ तो दिन-रात प्रार्थ कर रही हैं-हे पिता! यह आदमी तुम पर जब तक ईमान न लावे, उनकी भाषा है बोलने की। यह आदमी जब तक तुम्हारे में विश्वास न करें, इसको सैटिल मत होने देना, इसको अच्छी नौकरी मत देना।

तो मैं क्या बताऊँ उस महिमा की निष्ठा को, बहुत समय नहीं लगा, थोड़े समय में मिस्टर स्मार्ट भगवान में विश्वास करने वाले भी हो गये, प्रार्थना करने वाले भी हो गये और उन्होंने ईश्वर-विश्वास की बात को पसन्द किया कि बहुत अच्छी नौकरी मिल भी गई और हमारे देखते-देखते उनका घर भी बसा और हमारी टीचरजी ईश्वर-विश्वास का पाठ पढ़ाने वाली रेजिंगनेशन देकर चली गईं। तो जब उनके मुख में मैंने यह बात सुनी, तब मेरी समझ में आया कि इस व्यक्तित्व के पास पहुँचने से ही भीतर का सूनापन घटता क्यों हैं? दिल में हर्ष आता क्यों है? तो ऐसा होता है, ऐसा हो सकता है। ऐसा क्यों नहीं हो रहा है? आप देखिए तो यह साधकों की भूल के कारण नहीं हो रहा है।

सिऋ जीवन की चर्चा करना मेरा काम नहीं है और सिऋ जीवन की चर्चा करने का मेरा अधिकार भी नहीं है। मैं साधक कोटि, साधकों की दृष्टि से आपकी बात, आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि परमात्मा के प्रेम का मिठास इस हृदय में भरा रहना चाहिए था। उसकी जगह पर संसारके सम्बन्ध की खटाई, मिठाई भरी हुई है। कभी कड़वा स्वाद आता है, कभी खट्टा लगता है, कभी कैसा लगता है, कभी कैसा लगता है और आदमी इसतरह अपने परम मधुर रस के अनन्त स्त्रोत को भुलाकर, ओसकरण चाटकर, प्यास बुझाने की चेष्टा में, जिन्दगी बर्बाद कर रहा है। तो संत ने क्या कहा?

संत ने कहा, कि तुमको दिखाई भी नहीं देगा परमात्मा प्रारम्भ में, और तुम्हारी जानकारी का विषय भी नहीं बनेगा, लेकिन इसकी चिन्ता तुम मत करो। तुम्हारी समझ में नहीं आता है तो मेरे कहने से मान लो और भरी संभाव में कोई प्रश्न कर देता है कि महाराज भेंट मुलाकात तो हुई नहीं, देखा तो है नही, जानते तो हैं नहीं तो कैसे मानें? तो कहते कि-मैं तेरी छाती पर चढ़कर कह तो रहा हूँ कि परमात्मा है। ;श्रोता-हास्यऋ तू नहीं जानता है तो मेरे कहने से मान ले। आज इस क्षण में, इस पुण्य अवसर पर, उस महामानव की वाणी को हृदय में आदर दें। जिस नेत्रहीन की लाठी भी छूट गई, साथी भी कोई नहीं था। बाह्म दृष्टि से ऐसी घोर असमर्थता की घड़ी में, संकट की घड़ी में जिसने उनको हाथ से उठाकर खुश्की पर रख दिया, वहीं परमात्मा, वही आपका परम हितैषी, परम-प्रेम, हम लोगों को भवसागर की लहरों से उठाकर अपने साम्राज्य में पहुंचा दें।

प्रवचन 24

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मानव सेवा संघ की प्रणाली में बुराई रहित होना साधन बताया गया है। साधन क्या है? बुराई रहित होना। उपासना क्या है? परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। भजन क्या है? आत्मीयता के फलस्वरूप परमात्मा के प्रति प्रियता का उदित होना। प्रिय की मधुर स्मृति का जाग्रत होना भजन है और प्रेम के आदान-प्रदान में प्रेमी के अस्तित्व का खो जाना भगवत मिलन है। यह संघ की पऋति है। अब आप साकार उपासक बनेंगे, कि निराकार उपासक बनेंगे, कि दो भुजावाले की आराधना करेंगे, कि चार भुजा वाले की, अष्ट भुजा वाले की, कि सहस्त्र भुजा वाले की, कि शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करने वाले की, कि वंशी वाले की या धनुषधारी की। ऐसे कोई भेदभाव विषय है और बाकी जितनी बातें, उसके सम्बन्ध में अलग-अलग रूप, अलग-अलग नाम, अलग-अलग गुण इत्यादि की हैं, ये तो व्यक्तिगत विचार और रुचि की भिन्नता का विषय है। इसलिए मानव सेवा संघ अपनी ओर से, किसी विशेषरूप,

किसी विशेष नाम का न आग्रह करता है, न विरोध करता है।

मूल बात क्या है? बुराई रहित हो जाओ तो साधक बन गये। अब आप हिन्दू हैं कि मुसलमान है, कि बौऋ हैं, जैन हैं कि सिक्ख, पारसी हैं? दुनिया के कौन से मतावलम्बी हैं, इससे मानव सेवा संघ को कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम किसी मत को मानो, तुम किसी देश में रहो, तुम्हारा कोई विधि-विधान हो, तुम्हारी कोई वेश-भूषा हो, तुम्हारी कोई भाषा हो, सभी मानव सेवा संघ की दृष्टि में मानव हैं, साधक हैं और इस एक मंत्र को मानकर सबका विकास हो सकता है, कि भाई! जीवन में कोई साधना करनी है तो केवल इतनी कि बुराई रहित हो जाओ। बुराई को रखकर के, किसी विधि-विधान से मनुष्य को शान्ति मिल जाती हो, मुक्ति मिल जाती हो, भक्ति मिल जाती हो, तो यह बिल्कुल कोरी झूठी बात है। मन बहलाव है, भ्रम है, प्रमाद है, और कुछ नहीं है।

यह मानव सेवा संघ की शोध है। बुराई रहित हो जाओ, साधना हो गई। बुराई रहित कैसे हो जाओ? उसके सम्बन्ध में भी सुन लीजिए, बड़ी बढ़िया बात है। बड़ी आशाजनक बात है। आप सभी मानव सेवा संघ के प्रेमी हैं और बहुत से भाई यहाँ ऐसे बैठे हैं, जो विभिन्न शाखाओं में, मानव सेवा संघ के तत्त्वावधान में विचारगोष्ठी करते हैं, शाखाओं में सभाल चलाते हैं, सत्संग का कार्यक्रम चलाते हैं, जिन्होंने अपना कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में भाग लेना पसन्द किया है। बुराई रहित हो जाना तो पहली बात हो गई। बुराई रहित किस तरह से हो जाएँ? अपनी दुर्बलता को प्रकाशित करके। उसका भी एक अभिमान हम लोग रखते हैं, कि हम तो बड़े बहादुर हैं। अपनी दुर्बलता, अपनी गलती सबके सामने कह देते हैं, तो इतने से काम नहीं बनेगा।

यह कह देना कि क्या बताऊँ, क्रोध मुझको पसन्द तो नहीं है, क्रोध रहित जीवन मैं चाहता जरूर हूँ लेकिन हमारे से क्रोध छोड़ा ही नहीं जाता, मिटता ही नहीं। न चाहने पर भी आ जाता है। तो ऐसा कह देने से माफी नहीं हो जाएगी। साथ के रहने वाले तो माफ कर देंगे। अरे भाई, जाने दो। लाचार है, क्या करें! इससे रुकता नहीं है। सह लो। साथ वाले तो सह लेंगे लेकिन आप सोचकर देखिए, कि क्रोध के आवेश में, हृदय का जो रस सूख जाता है, क्षोभ के कारण से जीवनी शक्ति का जो ह्रास हो जाता है, प्रकृति के विधान से इसका परिणाम आपको भोगना ही पड़ेगा, उससे कैसे बचिएगा।

जीवन से माँग है रस की, और यह कैसा टपबपवने ब्पतबसम है, दुश्चक्र है, देखिए। रस की कमी से व्यक्ति क्षुब्ध और क्रुऋ होता है और

क्रोधित, क्षुभित होने से जीवन का रस सूखता है। इस चक्र से परित्राण कहाँ है भाई? कैसे बनेगा? तो आप मानव सुलभ दुर्बलता को प्रश्रय मत दीजिए। हमारे युग के शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान के जानने वाले अपने को विद्वान समझने वाले लोग खुद भी भ्रम में रहते हैं और दूसरों को भी भ्रम में डालते हैं। क्या कहते हैं? यह तो मनुष्य का स्वभाव है, कैसे मिटेगा, काम, क्रोध लोभ, मोह। मैंने भी साहित्यिक भाषा में खूब लिखा है। मानव सुलभ दुर्बलता, लोभ, मोह, काम, क्रोध को मानव सुलभ कह देने का एक राग मैंने भी खूब अलापा है और बड़ा गौरव प्राप्त किया है कि बड़ी अच्छी साहित्य रचना करती हूँ। लेकिन यह भूल है।

मानव सेवा संघ ने क्या कहा, कि तुम्हारा स्वरूप अविनाशी है, और परम प्रेम तुम्हारे जीवन

की माँग है। तुम अपने को लोभी मोही, कामी, क्रोधी स्वीकार ही क्यों करते हो? तुम स्वीकार करोगे तो यह विकार तुम्हारे सिर पर चढ़ें रहेंगे। तुम अस्वीकार करोगे, तो तुम्हारी हस्ती से अलग हो जाने पर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होने से ये समाप्त हो जायेगें। भूल को भूल जानते हुए भी अपने जिन्दगी की सत्ता देकर भूलों को सत्तावान बनाए रखना और उन्हीं से आक्रान्त होकर दुःखी होना और दूसरों को दुःखी करना, यह साधक का काम नहीं है। यह साधक का लक्षण नहीं है।

स्वामीजी महाराज बढ़िया-बढ़िया बातें बताते थे। एक दिन मैं जयपुर में सत्संग की सभा में बोल रही थी, तो महाराज की एक-एक बात बोलती जाऊँ और नई-नई बात सूझती जाए, तो एकदम मुझको याद आ गया। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है न भगवान राम के चरित्र के बारे में - "राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है, कोई कविप बन जाए सहज सम्भाव्य है।" मुझे लगा कि स्वामीजी की बातों को लेकर के सहज ही वक्ता बना जा सकता है। इतनी बातें हैं कि जिसका कोई अन्त नहीं। महाराज ने बुराई रहित होने के सम्बन्ध में क्या कहा कि देखो, भलाई की स्वतन्त्र सत्ता होती है। ठीक है न। सत्य की स्वतन्त्र सत्ता है। उदारता, स्वाधीनता, परम-प्रेम इनकी स्वतन्त्र सत्ता है। पर-पीड़ा से पीड़ित होना आदि मानवता के जो उदात्त लक्षण हैं, इनकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, इनका कभी नाश नहीं होता। लेकिन उदारता के विपरीत अनुदारता, दयालुता के विपरीत कठोरता, त्याग संयम सेवा के विपरीत व्यसन विलास। ये सब आदमी की भूल से उत्पन्न होते हैं। तो जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाश हो जाना बहुत स्वाभाविक बात है।

यह सोचना कि लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि प्रकृति के दोष हैं, इनका नाश नहीं होगा, यह भूल है। सच्चाई, अच्छाई और भलाई जो है वह अविनाशी परमात्मा में से प्रकट हुई है, इसलिए ये गुण अविनाशी हैं और अपने विवेक के अनादर से भूल हम करते हैं, वह भूल नाशवान है। मानव सेवा संघ ने कहा कि तुमने भूल स्वीकार की है इसलिए कि तुम्हारे में विकार है। तुम अपनी की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत ले लो तो सभी भूलें निर्मूल हो जाएँगी। यह है मानव सेवा संघ के बुराई रहित होने का साधन। हम इसे कर सकते हैं कि नहीं? कर सकते हैं। कोई कहे कि गोवर्धन की परिक्रमा बड़ा बढ़िया

साधन है, तो जिसको पैर से चला न जाता हो वह कैसे करें? नहीं कर सकता है। कोई कहे कि निर्जला एकादशी बहुत अच्छा व्रत है, तो जिसका स्वास्थ्य ठीक न हो, जिसके पेट में।बपकपजल हो, 24 घण्टे निर्जल कैसे रहेगा? उतने में तो शरीर जल-भुन जाएगा, वह एकादशी व्रत नहीं कर सकता है।

मानव सेवा संघ व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर अर्थात् व्यक्तिगत रुचि, योग्यता, परिस्थिति, बनावट के आधार पर जितने विभिन्न प्रकार के साधन है, उनका समर्थक और विरोधी नहीं है। समर्थन भी नहीं करता और

विरोध भी नहीं करता है। क्यों? क्योंकि यह तो व्यक्तिगत भिन्नता की बात है। जो करने योग्य साधन है, जिसकी रुचि, जिसकी सामथ्र्य, जिसकी जैसी परिस्थिति हो अपना लो। हम हाँ भी नहीं करते, हम ना भी नहीं करते, लेकिन जो नहीं करना चाहिए, वह किसी को नहीं करना होगा। बुराई नहीं करनी चाहिए, तो बुराई सब किसी को छोड़नी होगी, और बुराई छोड़कर के फिर चाहे निर्जला एकादशी कर सको चाहे न कर सको, तुम्हें सिद्धि मिलेगी। बुराई छोड़ देने पर परिक्रमा दे सको अथवा न दे सको, तुम्हें सिद्धि मिलेगी।

ऐसे सर्वमान्य सत्य का समर्थक मानव सेवा संघ है। बुराई रहित होने का मंत्र बताया स्वामीजी महाराज ने-रात्रि को सोते समय, एक बार अपने

सम्बन्ध में विचार कर लो और अपनी दृष्टि से कोई भूल दिखाई देती हो तो उसको छोड़ने का व्रत ले लो और उसको छोड़ने का निश्चय करने के बाद, फिर अपने को कभी भी बुरा मत समझो। बुराई छोड़ने के बाद भी, हम लोग अपने को भीतर-भीतर बुरा समझते रहते हैं और बड़े गौरव से स्वीकार करते रहते हैं कि मैं क्या बताऊँ, मुझमें तो बड़ी दुर्बलताएँ हैं। तो वर्तमान में कोई बुराई आप कर नहीं रहे हैं तो भूतकाल की बुराई को आप स्वीकृति के द्वारा क्यों सजीव बना रहे हैं। यह भूल छोड़ दीजिए तो बुराई रहित हो सकते हैं और आपके अहंरूपी अणु में इतनी सामथ्र्य है, इतनी सामथ्र्य है कि एकबार आपने अपने को निर्दोष स्वीकार कर लिया, तो फिर उस दोष की उत्पत्ति आपके जीवन में नहीं होगी।

अहंरूपी अणु में बड़ी सामथ्र्य है। अब आप देखिए-गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन की कथा है। वे गृहस्थ थे और पत्नी पीहर गई और पत्नी की आसक्ति में उसके पीछे जल्दी ही पहुँच गये ससुराल, अभी वह महिला माता-पिता से, सखी-सहेलियों से मिल ही रही थी। तुलसीदास जी के पहुँच जाने से, उसको बड़ी खीझ लगी कि अभी-अभी तो मैं आई हूँ इनके पास से, और यह भले आदमी तुरन्त यहाँ पहुँच गये। सो उसने डाँट दिया। कह दिया कि, इस हाड़-मांस-चाम के शरीर में आपको इतनी आसक्ति है कि आप दो-चार दिन भी इसके बिना नहीं रह सके, अभी-अभी मैं आई हूँ, सगे-

सम्बन्धियों से मिलना भी नहीं हुआ और आप पहुँच गये। इतनी प्रीति आप परमात्मा में करते तो आपका उद्धार हो जाता। अब आप सोचकर देखिए मुझको बड़ी सहानुभूति होती है, उस महापुरूष के प्रति। बचपन में तो माँ-बाप का प्यार नहीं मिला। दासी ने पाला। वह दासी भी उनको छः साल की छोटी उमर में छोड़कर मर गई। भटक-भटक कर, बिलखते-बिलखते पाले गये। शादी होने पर अच्छी सुशीला पतिव्रता प्रेम करने वाली स्त्री मिली तो उनका सारा म्उवजपवदए सारा संवेगे उसी पर उमड़ पड़ा।

अब आप देखिए, इतनी गहरी आसक्ति थी जिस पर एकबार उनको ठेस लगी और उन्होंने सोच लिया कि अच्छी बात है! तुमने जो कहा है सो ही करके रहूँगा, तो सारी आसक्ति उस महापुरूष ने एक झटके में तोड़ दी, कि नहीं तोड़ दी? तुलसीदास के मुख से कभी यह रोना गाना किसी ने नहीं सुना, कि क्या बताएँ स्त्री की ओर से मन हटाना चाहता हूँ पर हटता नहीं है। सुना है किसी ने। उनके जीवन में, ऐसा हुआ ही नहीं। हमारे आपके अहंरूपी अणु में भी इतनी सामथ्र्य है, कि जिस समय, जिस जगह पर हम विकार पर विजय पाना चाहें, पा सकते हैं, जिस बुराई का नाश करना चाहें, कर सकते हैं। इसमें अनन्त परमात्मा का , प्रभु का मंगलकारी विधान बड़ा सहायक होता है।

एक साधक थे, वे गुरु के पास जाते थे। चाय पीने के बड़े शौकीन थे। उनको नुकसान करती होगी या कुछ बात होगी। गुरु ने कह दिया, भाई! क्या गन्दा-गन्दा पानी पीते रहते हो। पहले दो-चार बार और टोका होगा, छूटी नहीं थी आदत। वह साधक खुद ही कह रहे थे कि स्वामीजी महाराज! उसके बाद चाय की ओर मुझसे देखा भी नहीं जाता। तो यह भी बात है। बुराई को बुराई जानकर छोड़ने की चेष्टा करने पर, आपके अहंरूपी अणु में जो इतनी सामथ्र्य है

वह सहायक हो जाती है। शरीर दुर्बल हो सकता है, आप बे पढ़े-लिखे हो सकते हैं। आप धनहीन हो सकते हैं। आपके कुटुम्बियों ने विरोध करके आपको त्याग दियाहो, ऐसा हो सकता है, लेकिन शरीर के दुर्बल होने से, धन के कम होने से, साथियों के छोड़ देने से, आपके अहंरूपी अणु की शक्ति नहीं घटती है। ऐसी असहाय अवस्था में भी जब एक पैसा भी साथ में नहीं, एक साथी भी साथ में नहीं और शरीर भी रोगग्रस्त होकर साथ नहीं दे रहा है, तब भी आप बुराई का त्याग करना चाहते हैं तो कर सकते हैं, क्योंकि शरीर का बल घटता है, बढ़ता है परन्तु अहंरूपी अणु में जो अविनाशी तत्त्व विद्यमान है उसके आधार पर उसकी शक्ति नहीं घटती है। तो हम असत्य को अस्वीकार करना चाहें तो कर सकते हैं। सत्य को स्वीकार करना चाहे तों कर सकते हैं और बुराई रहित होने की आवश्यक आप अनुभव कर रहे हैं और आपको लगता है कि क्या बताऊँ, मुझसे छोड़ा नहीं जाता। तो यदि आप सचमुच ईमानदार से ैपदबमतमसलए बुराई रहित होना पसन्द कर रहे हैं और आपकी सामथ्र्य से बुराई नहीं छूट रही है तो अनन्त की अहैतुकी कृपा से वह बुराई आपके जीवन में से चली जाएगी, ऐसा होता है।

एक साधक की कथा सुनाई स्वामीजी ने। उन साधक ने खुद ही बताया था स्वामीजी महाराज को। उनके गुरु ने कहा कि मांस खाना छोड़ दो। अच्छी बात छोड़ दिया। बड़े आॅफिसर थे ब्सं व्दम च्वेज पर। वहाँ उसका श्रृंगार यह भी माना जाता है कि खूब खाया-पिया जाये। जब चार-छः महीने छोड़े हुए हो गये थे, किसी दिन किसी मण्डली के फेर में पड़ गये और मांस खा लिया, उसके बाद उनके ध्यान में आया कि गुरु महाराज ने तो मना किया था। तो वे सज्जन अकेले में बालक की तरह रोए, दरवाजा बन्द करके, हाय री जुबान तूने गुरुजी की बात नहीं मानने दी, हाय री जुबान तूने गुरुजी की आज्ञा की अवहेलना करा दी। उसके बाद फिर कभी उनको मांस खाने की रुचि ही नहीं हुई। रोकन पड़ा हो सो नहीं। रुचि ही जड़ से खत्म हो गई।

दो बातें महाराजजी ने कहीं है।? पहली यह कि जीवन का बड़ा भारी पुरुषार्थ है बुराई रहित होना और उस बुराई रहित होने में दो बातें ठंपब.जतनजी अर्थात्, मौलिक सत्य है कि आपके अहंरूपी अणु में, अपार शक्ति भरी पड़ी है। आप तय कर लेंगे कि इस बुराई को जीवन में नहीं रखना है, तो वह नहीं कर सकती है और दूसरी यह कि फिर भी किसी समय आपको दुर्बलता मालूम होती है और आप बुराई रहित होने के लिए व्याकुल हो जाएँ, तो आपका जो परम हितैषी सामथ्र्यवान है वह आपकी बुराई को उसी समय मिटा देगा, फिर आपको कोई प्रयास नहीं करना होगा।

दूसरी बात क्या है? दूसरी बात यह है कि मानव सेवा संघ ने प्रत्येक व्यक्ति की बनावट के अनुसार उसकी व्यक्तिगत साधना में, उसको सर्वदा स्वाधीन माना है। व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत-साधना में पूरी स्वाधीनता से आगे बढ़ना चाहिए। व्यक्तिगत साधना क्या है? बुराई रहित होना तो सर्वमान्य सत्य है और व्यक्तिगत रुचि क्या है? तो किसी की साकार उपासना में रुचि है। आकार में भी किसी को रामरूप पसन्द है, किसी को कृष्णरूप पसन्द है, किसी को शक्तिरूप पसन्द है। किसी को निराकार पसन्द है। मानव सेवा संघ ने कहा कि प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को अपनी व्यक्तिगत साधना में पूर्ण स्वाधीनता है। नाम लेना चाहते हैं, कि जप करना चाहते हैं, कि ध्यान करना चाहते हैं, कि समाधि लगाना चाहते हैं, कि भजन करना चाहते हैं कि

कीर्तन करना चाहते हैं, कि नमाज पढ़ना चाहते हैं, कि गिरजाघर जाना पसन्द करते हैं कि गुरुद्वारा आपको अच्छा लगता है। व्यक्तिगत साधना में हर भाई-बहिन को पूर्ण स्वाधीनता है। लेकिन जब व्यक्तिगत साधना में व्यक्ति स्वयं गहराई में उतरता है, और व्यक्तिगत साधना के द्वारा, अन्दर के अन्धकार को मिटाकर, नीरसता को मिटाकर अपने में ही विद्यमान जो सत्य है, उसकी अभिव्यक्ति के द्वारा जब अन्तर में बल प्रकट होने लग जाए, अन्तर में रस प्रकट होने लग जाए तब ऐसा साधक अपनी साधना को प्रचार करने की कभी नहीं सोचता।

भीतर-भीतर सन्तुष्टि आने लगती है, रस आने लगता है। किसी के पूछने पर भी वह सहज से बताना नहीं चाहता। अरे कुछ नहीं, मैं तो ऐसे ही। लेकिन व्यक्तिगत साधना के द्वारा आपने जीवन की सुन्दरता को बढ़ाया नहीं, विश्वप्रेम की भावना जीवन में आई नहीं, प्राणीमात्र का हित आपके हृदय में बसा नहीं, ईश्वर की उपस्थिति का आभास आपके अन्तर में मिलता नहीं, तब क्या होता है। बाहर के विधिविधान के प्रति इतनी आसक्ति हो जाती है व्यक्ति की, कि वह उसी का आग्रह लेकर जिसको-तिसको जो पकड़ में आ जाये उसी को समझना चाहता है कि यह साधना बड़ी बढ़िया है। मानव सेवा संघ ने इस बात के लिए मना किया है, महाराजजी नेन क्या कहा? अपने मत, अपने विचार, अपनी साम्प्रदायिकता, अपनी-रुचि, अपनी बनावट के अनुसार तुम व्यक्तिगत साधना में स्वाधीनता-पूर्वक आगे बढ़ो, अपनी साधना का अनुसरण खुद करो, परन्तु दूसरों की साधना का विरोध मत करो, हँसी मत उड़ाओं, अपनी साधनाके द्वारा अपने जीवन को ऊँचा उठाओ लेकिन अपनी साधना को दूसरों पर आरोपित करने की चेष्टा मत करो। यह बताया।

यह क्या है? यह मानव सेवा संघ की धा£मक क्रान्ति है। आप सोचकर के देख लीजिए। मानव समाज में युगां-युगों से मानव समाज के धा£मक सम्प्रदायों में बड़ा संघर्ष चलता रहा है, क्यों? विभिन्न प्रकार के महजब क्यों? इसलिए कि विभिन्न प्रकार के मनुष्यों की रचना ऐसी ही है। तो व्यक्तिगत भिन्नता तो प्राकृतिक तथ्य है। इसको जो स्वीकार करता है वह कभी भी अपने व्यक्तिगत मत को दूसरों पर आरोपित करने की चेष्टा नहीं करता है। लेकिन मैं क्या बताऊँ यह ैमदेम व िप्दमितपवतपजल हीनता की भावना जो है अपने में, उसके कारण अपना जीवर भरपूर नहीं होता। भीतर-भीतर तो सूना-सूना लगता है। ऊपर से, मेरा मत बढ़ा बढ़िया है, मेरा सम्प्रदाय बहुत बढ़िया है, मेरी साधना बड़ी बढ़िया है, ऐसा कहकर दूसरों पर प्रकाशित करके, एक प्रकार से व्यक्ति अपनी प्दमितपवतपजल हीनता की भावना को घटना चाहता है। इसी भावना से वह कहता है कि मैं बहुत जानता हूँ, मैं तो उत्तम साधना करता हूँ, आप सब लोग इसको सुन लीजिए। आप सब लोग इसको मान लीजिए। यह बड़ी अच्छी चीज है। यदि उसको पूछा जाए कि बड़ी अच्छी चीज तो है पर तुम्हारी बीमारी गई या नहीं गई? सो मत पूछना। साधना तो मेरी बड़ी बढ़िया है, सब लोग इसी को मानो, और इसी को मानो तो तुम्हारा उद्धार होगा। कोई पूछे कि जिस साधना के लिए आप ऐसे कह रही हैं उस साधना से आपका उद्धार हुआ या नहीं? सो मत पूछो।

मानव सेवा संघ इस प्रकार के आग्रह को मना करता है, अपने मत का अनुसरण करके, अपने जीवन को उन्नत बना लो। लेकिन क्या होता है। देखिए इसमें बड़ा रहस्य है। साधक जब व्यक्तिगत साधना के पथ पर चलने लगता है तो थोड़ी-थोड़ी प्रगति होने लगती है, और उसकी

बनावट के अनुसार थोड़ा-थोड़ा अनुभव भी होने लगता है तो व्यक्तिगत साधना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली, जो मार्ग की थोड़ी बहुत उपलब्धियाँ और अनुभव है, उनको जब व्यक्ति सबके ऊपर लगाना शुरू कर देता है तो वह साधना न रहकर असाधना बन जाती है। उपलब्धि न रहकर आग्रह बन जाता है। मानव सेवा संघ ने इसी आग्रह को मना किया है। सत्य को स्वीकार करके तुम अपने ढंग से आगे बढ़ो, तुम्हारा जीवन अगर सफल हो जाएगा, तुम्हारा हृदय अगर ईश्वरीय प्रेमसे भर जायेगा, तो वह कल्याणमय जीवन दूसरों के लिए बहुत आराम देने वाला होगा। लेकिन तुम्हारी साधना से, तुम्हारे जीवन का विकास नहीं हुआ और उस साधना का आग्रह लेकर के तुमने मानव समाज के बीच में विरोध की दीवार खड़ी कर दी, वर्गीकरण कर दिया, विभाजन कर दिया, संघर्ष पैदा कर दिया, तो भोजपुरी में हमारे यहाँ एक कहावत कहते हैं, "आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास।" चले थे साधनाकरने, फँस गए घोर असाधन में।

मानव सेवा संघ इस बात के लिए हम लोगों को बहुत सावधान करता है कि भाई! तुम्हारा इज्म, तुम्हारा मत, तुम्हारा सम्प्रदाय, तुम्हारी साधना तुम्हारे काम आयेगी। तो अपनी व्यक्तिगत साधना में तुम पूर्ण स्वाधीन रहो। और दूसरों को उनकी व्यक्तिगत साधना में स्वाधीन रहने दो। तो इस विधि से संसार में से धर्म के नाम पर होने वाले, धर्म विभाजन को मिटाया जा सकता है। मजहब के नाम पर होने वाली गैर मजहबी कुरीतियों का नाश किया जा सकता है। स्वामीजी महाराज की यह एक बड़ी भारी देन है मानव समाज को, कि हम सब लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप पर विचार करलें और प्राणी मात्र के साथ आत्मीयता रखते हुए, सबका कल्याण हो, सबका भला हो, सबको मार्ग मिले, सबका सुधार हो, यह भाव रखते हुए किसी के मत का, किसी के मजहब का, किसी के विधि-विधान का, न हमें खण्डन करना चाहिए, न हमें विरोध करना चाहिए, न हँसी उड़ानी चाहिए, न उसे हेय समझना चाहिए। ऐसा नहीं करना चाहिए।

यह एक खास बात है कि जो मानव सेवा संघ के प्रेमियों को जाननी चाहिए। दूसरे मजबह का आदमी भी, दूसरे मत-सम्प्रदाय का आदमी भी, आदमी है, और जीवनदाता को समान रूप से प्रिय है। उनको तो सृष्टि की विविधता में मजा आता है, तो कहीं कुछ कर देते हैं, कहीं कुछ कर देते हैं। कहीं किसी भाषा में, कहीं किसी ढंग में बना देते हैं। तो मानव होने का अर्थ क्या है? मानवीय गुणों का विकास करो। कैसे करो? जैसे तुमको पसन्द आए वैसे करो। जैसे तुमसे बने वैसे करो और जैसे दूसरे करना चाहते हैं उन्हें करने दो। तो अपने मत का अनुसरण करो, और सभी के मत का आदर करो। प्रभु के नाते, जगत के नाते, आत्मा के नाते, सभी को अपना आत्मीय जानकर उनका भला मनाओ। तो अपने मत के अनुसरण में मैं स्वयं सुन्दर हो जाऊँ और दूसरे अपने-अपने रास्ते चलते रहें, किसी का मैं आग्रह नहीं करूँ, किसी का मैं विरोध न करूँ। अगर यह दृष्टिकोण आज मानव समाज स्वीकार कर ले तो मत के आधार पर, मजहब के आधार पर समाज में से संघर्ष खतम हो जाए।

मानव सेवा संघ के लोगों को इस बात को जानना चाहिए। और इसी आधार पर विचार-गोष्ठी चलानी चाहिए कि भई, बुराई रहित होना साधन है और ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना उपासना है। अब ईश्वर की कल्पना तुम्हारे जी में कैसी है सो तुम जानो। तत्त्व एक ही है और उसके प्रेम से ही मानव हृदय की पूर्णता होती है।

इसमें कोई भेद नहीं है। ईश्वरीय प्रेम से ही मनुष्य का जीवन परिपूर्ण होता है। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई का भेद नहीं है। ईश्वर का प्रेम मूल बात है। गिरजाघर में मिला कि, मस्जिद में मिला कि मन्दिर में मिला यह खास बात नहीं है। मानव सेवा संघ की सूझ हैं, मानव सेवा संघ की खोज है, मानव सेवा संघ का सन्देश है कि ईश्वरीय प्रेम आपको चाहिए। कैसे मिलेगा? कि बिना देखे, बिना जाने परमात्मा में विश्वास करो, उसको अपना मानो, उसको प्यार करो, उसके आश्रित हो जाओ, उसके शरणागत हो जाओ। फिर तुम चाहो, मन्दिर में जाओ, चाहे मस्जिद में जाओ, चाहे गिरजाघर में जाओ, चाहे गुरुद्वारे में जाओ। कोई फरक नहीं पड़ता।

तो मानव सेवा संघ ने मानव जीवन के मूल तत्त्वों को लेकर जन समाज के सामने रखना पसन्द किया। जिसके आधार पर हर व्यक्ति, अपने-अपने मजहब के अनुसार अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करते हुए भी, सभी मजहब के लोगों के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार कर सकता है और कहीं-कहीं तो महाराज यहाँ तक कह जाते हैं कि भई वह ईश्वरवादी कैसा है जिसको अनीश्वरवादी अपने प्यारे का प्यारा नहीं दिखाई देता? यहाँ तो बड़ा भारी संघर्ष हो जाता है। कुछ लोग अपने को नास्तिक कहते हैं, कुछ लोग अपने को आस्तिक कहते हैं और सचमुच अपने को आस्तिक कहने वाले आस्तिक भी नहीं है और नास्तिक कहने वाले नास्तिक भी नहीं है। व्यर्थ ही आपस में लड़ मरते हैं, तो मानव समाज पर धर्म के नाम पर कलंक लग जाता है।

व्यक्तियों के व्यक्तित्व आग्रह से लगे उस कलंक को मिटाना स्वामीजी महाराज का उद्देश्य रहा। इसलिए हमारे यहाँ क्या होता है? हमारे यहाँ दो तरह की बातें चलती हैं एक बात तो यह चलती है कि हर भाई हर बहिन अपने व्यक्तिगत साधना में स्वाधीन है। जैसा चाहे वैसा करे और हर प्रकार के साधकों को मानव सेवा संघ के आश्रम में समान रूप से आत्मीयता और सम्मान के साथ रखे जाने का नियम है लेकिन हर प्रकार का साधक अपनी साधना अपने तक सीमित रखता है और जो सामूहिक विचार-विनिमय की बैठक होती है उसमें किसी एकदेशीय साधना का प्रतिपादन और अन्य साधनाओं का खण्डन नहीं किया जाता। मुझको कभी बड़ी कठिनाई पड़ती है। व्यक्तिगत साधना में रुचि रखने वाले साधक किसी न किसी रूप में सामूहिक कार्यक्रम के भीतर अपनी व्यक्तिगत रुचि घुसाते रहते हैं कोई कुछ घुसाना पसन्द करता है कोई कुछ करना पसन्द करता है। मैं हाथ जोड़ती रहती हूँ, प्रार्थना करती रहती हूँ कि भाई मानव सेवा संघ के मंच को ऐसा रहने दो कि जहाँ बैठकर व्यक्ति सार्वभौम सत्य का विवेचन कर सके और जहाँ विभिन्न प्रकार के स्वावलम्बी एक साथ बैठकर मूल सत्य पर विचार कर सकें।

स्वामीजी महाराज ने बारम्बार इस बात को कहा है उनके मुख से निकली हुई यह वाणी मेरी छवजम ठववा में लिखी हुई है। बीस-इक्कीस वर्ष स्वामीजी के साथ में मैंने जब-जब मौका मिला सत्संग किया और जहाँ-जहाँ वे जिस तरह की बातें कहते रहे अपनी क्षमता के अनुसार मैं लिखती रही। आपने उनके मुख से कहा हुआ भी सुना होगा और मेरे पास लिखा हुआ भी रखा है कि "मैं तो मानव सेवा संघ के मंच को ऐसा मानता हूँ कि जहाँ पर एक अंग्रेज, एक अमेरिकन, एक रशियन, एक हिन्दू, एक मुस्लिम, एक ईसाई, एक बौऋ, विभिन्न देशों, विभिन्न मतों के लोग एक साथ बैठे और जीवन के शुऋ सत्य पर विचार कर सकें।" इस मंच को ऐसा सुरक्षित रखना है। इस मंच के

माध्यम से किसी एक देशीय साधना की चर्चा कभी नहीं की जाएगी और अगर ऐसा करना हम शुरू कर देंगे कि मैं तो आस्तिक हूँ और मैं ईश्वर की उपासना करती हूँ। मेरी उपासना की चर्चा लोग सुनें। अगर मैं इस प्रकार अपनी रुचि की पूर्ति करने लग जाऊँगी तो मानव सेवा संघ की सर्वव्यापकता खत्म हो जाएगी। शाखा सभाओं के सज्जान भी यहाँ बैठे हैं और शाखा सभा के संचालक, मंत्री और दूसरे सज्जन जो सत्संग का आयोजन करते हैं, उनके सामने बड़ी कठिनाई आ जाती है समय-समय पर। सत्संग में भाग लेने वाले कुछ भाई जो थोड़ा बोल सकते हैं वे बोल-बोल कर अपनी व्यक्तिगत बात को सार्वजनिक बात के रूप में सबसे मनवाने के लिए उतारू हो जाते हैं।

स्वामी जी महाराज ने कहा कि अगर संगीत और नृत्य के द्वारा अपने प्रीतम को रिझाना तुमको पसन्द है तो मानव सेवा संघ में इसकी भी स्वाधीनता है। लेकिन कैसे? अकेले में तुम अपना कमरा बन्द कर लो और जिस रूप में अपने परमात्मा को मानते हो, उस रूप में उनको अपने सामने रखकर और खूब तन्मय होकर, खूब लीन हो करके, भजन गाओ, कीर्तन करो और नाचो। कोई मना नहीं कर सकता। मानव सेवा संघ सभी साधकों को अपनी-अपनी साधना के द्वारा आगे बढ़ने में सहायता देने के लिए है।

मानव सेवा संघ की रजत-जयन्ती है। इस अवसर पर हम लोगों को व्यक्तिगत साधना में भी आगे बढ़ना है और ऐसी सर्व हितकारी क्रान्तिकारी विचारधारा को जो धा£मक संघर्षों को मिटा सकें, जो सामाजिक विषमता को दूर कर सके, जो भक्त और भगवान की दूरी को मिटा सके, जो जिज्ञासु और तत्त्व के बीच की दूरी को मिटा सके इस प्रकार के सत्य पर भी विचार करना है। इसको ग्रहण भी करना है और इसका अनुसरण भी करना है।

मानव सेवा संघ की जो सामूहिक बैठक है, उसमें शुक्र सत्य का विवेचन होना चाहिए और जैसा बताया कि साधन क्या है? बुराई रहित होना साधन है। बुराई रहित होने की चर्चा करो। ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना उपासना है। तो दुनिया भर के जितने ईश्वर के उपासक है, सब किसी को अयह बात थ्पज बैठेगी। और इसको जो नहीं मानेगा, उसके जीवन में उपासना प्रकट ही नहीं होगी, सफल ही नहीं होगा। तो इस तरह की बात करो। योग पर चर्चा हो रही है, तो योग कैसे होता है भाई? तो भोग की रुचि का नाश करो तो योग होगा। अब कौन आसन करोगे, कैसे प्राणायाम करोगे? तुम जानों तुम्हारे गुरु जानें। लेकिन सर्वमान्य सत्य क्या है? भोग की रुचि का नाश किये बिना योग हो नहीं सकता है। कौन आसन लगाओगे, क्या ध्यान करोगे, कौन मंत्र जपोगे, क्या अभ्यास करोगे, तुम जानो। मानव सेवा संघ क्या कहेगा? योगवित् होने के लिए मूल मंत्र है भोग की रुचि का नाश। कौन इनकार कर सकता है इसको कोई नहीं कर सकता है।

मैं मानव सेवा संघ की प्रणाली के सम्बन्ध में अपने सभी भाई-बहिनों का दृष्टिकोण स्पष्ट कर देना चाहती हूँ। जितना मुझको मालूम है, जितना मैं ग्रहण कर सकी, महाराज के मुख से सुन करके, उनके साहित्य को लिख करके, पढ़ करके, वह मैं बड़ी सच्चाई के साथ और बड़ी दृढ़ता के साथ आपकी सेवा में निवेदन करती हूँ कि इस सत्य को अगर हम लोग स्वीकार कर सकें तो अपनी साधना में कभी कोई ब्वदनिपवद अर्थात् वैचारिक उलझन नहीं होगी और जो सामूहिक कार्यक्रम हम लोग चलाते हैं उसमें भी किसी प्रकार का कोई मतभेद और संघर्ष नहीं हो सकेगा। क्या बात है?

हाथ जोड़कर निवेदन कर दीजिए, प्रार्थना कर दीजिए कि भाई, व्यक्तिगत साधना को व्यक्तिगत सीमा में रखो। मानव सेवा संघ को कोई एतराज नहीं हैं। बहुत खुशी है कि आप अपनी साधना के आधार पर आगे बढ़ जाएँ और सामूहिक बैठक जब होती है तो उसमें सर्वमान्य सत्य की ही चर्चा होगी।

सर्वमान्य सत्य क्या है? सर्वमान्य सत्य यह है कि बल का दुरुपयोग मत करो। विवेक का अनादर मत करो, ईश्वर विश्वास में विकल्प मत करो। ममता और कामना का त्याग करो तो शान्ति मिल जाएगी। भोग की रुचि का नाश करोगे तो योगवित् हो जाओगे। परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करोगे तो प्रेमी हो जाओगे। इन विचारों को देश, काल, मत, वर्ग, सम्प्रदाय, मजहब का भेद छू नहीं सकता है। तो एकदेशीय साधना अपने लिए रखना चाहिए और सर्वदेशीय सत्य का ही सामूहिक सत्संग में विवेचन करना चाहिए।

प्रवचन 25

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

अध्यात्म जीवन हमें चाहिए, अर्थात् अविनाशी जीवन हमें चाहिए। पहली बात जो हम सब लोगों के लिए आवश्यक है, वह यह है कि हम सभी भाई-बहिनों को अविनाशी जीवन में आस्था रखनी चाहिए। सबसे पहली बात है कि जो अविनाशी जीवन हम चाहते हैं, वह है। ऐसा नहीं है कि हमें तो मृत्यु से, अभाव से और नीरसता से परे अविनाशी जीवन की आवश्यकता है, परन्तु पता नही ऐसा जीवन है कि नहीं। मानव सेवा संघ ने मानव जीवन की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देने की बात कही और अब ऐसा मालूम होता है कि शान्ति, स्वाधीनता, परम प्रेम, योग-बोध और सरस जीवन की माँग जो मनुष्य में बिना किसी के सिखाए-पढ़ाए अपने आप महसूस होती है यही मानव जीवन की विशेषता है। नहीं तो आप शरीर विज्ञान की दृष्टि से देखें तो, वृक्ष में, पौधे में, पत्तों में और पशु-पक्षियों के शरीर में और मनुष्यों के शरीर में भौतिक विज्ञान की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है मनुष्य में कोई खास बात नहीं है। जिन पांच भौतिक तत्त्वों से मनुष्य का शरीर बनता है उन्हीं पांच भौतिक तत्त्वों से कोई भी आकृति संसार की बनती है उस दृष्टि से तो कोई फर्क है नहीं लेकिन आप की बड़ी भारी विशेषता यह है कि आप पंच भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीरधारी होते हुए भी अलौकिक जीवन की माँग अनुभव करते हैं।

स्वामीजी महाराज ने इसके बारे में यह बताया कि मानव जीवन की मौलिक माँग जो है उसकी पूर्ति अवश्य होती है। और यदि हमारे जीवन में जो माँग है उसकी पूर्ति अनिवार्य है तो इसका अर्थ यह है कि जिसकी हम माँग अनुभव करते हैं, उसका अस्तित्व भी है। अगर अस्तित्त्व नहीं होता तो पूर्ति कैसे सम्भव होती। पूर्ति हो नहीं सकती थी। तो उसका अस्तित्व है। अमरत्व की आवश्यकता मैं अनुभव करती हूँ। अमर जीवन है। निर्भय, निश्चिन्त, अभाव से रहित परम प्रेम से भरा हुआ। इस जीवन की आवश्यकता आप अनुभव करते हैं तो विश्वास करिए कि ऐसा जीवन है। महाराजजी ने कहा-माँग उसको नहीं कहते कि जिसकी पूर्ति न हो। पूर्ति होती है और हम लोगों ने कई सन्त महापुरुषों के सम्बन्ध में सुना भी है और विश्वास भी करते हैं कि उनको अमर जीवन मिल गया था। उनको जीवन मुक्ति मिल गई थी, उनेका भगवद्-भक्ति मिल गई थी, वे भगवान के प्रेम के पात्र बन गये थे। भगवान और भक्त का मिलन होता है, ऐसा हम लोगों ने सुना भी हैं और विश्वास भी करते हैं, लेकिन आज इस प्रातःकाल की घड़ी में अपने-अपने को सामने

रखकर हम लोग सोंचे, कि जैसे आपने मीराँजी के सम्बन्ध में विश्वास कर लिया कि उनको भगवान मिल गये थें, जैसे प्रहलादजी के सम्बन्ध में हम लोगों ने विश्वास कर लिया है उनको भगवान मिल गये थे, जैसा गोस्वामी तुलमसीदास जी के सम्बन्ध में हम लोगों का विश्वास है कि उनको भगवान मिल गये थे, जैसे भगवान बुऋ क सम्बन्ध में हमारा यह विश्वास है कि उनको अविनाशी जीवन मिल गया था। हम लोग ऐसा मानते हैं कि नहीं? मानते हैं। तो जैसे भगवान बुऋ के सम्बन्ध में हमको विश्वास है कि उनको अविनाश्ी जीवन मिल गया था, उनके सर्व दुःखों की निवृत्ति हो गई थी, जैसे मीराँजी के सम्बन्ध में विश्वास है कि वे भगवान की भक्ति से भरपूर थीं, इसीलिए जब भगवान का चरणामृत कह करके उनको विष का प्याला दिया गया तो प्रभु का प्रसाद मानकर उसमें उनको इतना रस मालूम हुआ, इतना महत्त्व मालूम हुआ कि जहर का प्याला पी गई और उनसे अमृत का काम किया। तो हम लोगों ने इन बातों में विश्वास किया है-बुऋ को निर्वाण मिला था और मीराँजी को भगवान मिले थे।

मानव सेवा संघ हम लोगों से यह निवेदन करता है कि तुम अपने सम्बन्ध में विचार करो और जिस तरह से सरस जीवन की माँग मीराँजी को थी, जिस तरह से सर्वदुःखों की निवृत्ति की माँग भगवान बुऋ के जीवन थी, ऐसे ही दुःख रहित जीवन की माँग तुम्हारे में है कि नहीं? क्या कहेंगे हम? है। यह बिल्कुल अपने को सामने रखकर देखने की बात है। मानव सेवा संघ के सत्संग में एक विशेषता है। महाराजजी के जो प्रवचन होते थे, वे माया, ब्रह्म, जीवन, इस प्रकार की धारणाओं को लेकर आरम्भ नहीं होते थे। हम सब लोग मानव हैं, सुख-दुःख झेल रहे हैं और इसी सुख-दुःख झेलने की दशा में, सब आशाओं से अतीत के जीवन की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। तो आप देखिए कि महात्मा बुऋ कीि तरह सब दुःखों से छूटे हुए, दुःख रहित, अभाव रहित, जीवन की माँग हम लोगों को भी है। और जिस परमात्मा की चर्चा हहम करते रहते हैं, उस परमात्मा के प्रेमी होकर, अत्यन्त निकटतम सम्बन्ध उनके साथ अनुभव करने की अभिलाषा भी हम लोगों की है तो हम मीराँजी के समान और भगवान बुऋ के समान ही हो गये। माँग अनुभव करने में हर व्यक्ति, राजकुमार सिद्धार्थ और राजकुमारी मीराँ है। यह बात आप स्वीकार करेंगे कि नहीं? करेंगे।

तो महाराजजी कहते हैं अथवा महाराज के विचारों का प्रतिरूप मानव सेवा संघ कहता है कि उनके समान तुम भी यह विश्वास करो कि मुझे दुःख रहित जीवन मिल सकता है, मुझे परमात्मा मिल सकता है। अब आप देखिए, अगर मैं अपने को सामने रखकर देखूँ, अगर आप बिल्कुल अकेले बैठकर अपने सम्बन्ध में विचार करना प्रारम्भ करें, तो क्या पता चलेगा? पता चलेगा कि दुःख रहित जीवन की आवश्यकता तो है, परन्तु मुझे इसी वर्तमान में इसी जीवन में दुःख रहित देहातीत जीवन मिल जाएगा इसकी पूरी आशा, पूरा विश्वास नहीं है। यह बड़ी भारी कमी है। हम लोग क्या कर रहे हैं? सत्संग में आते हैं। बड़े चाव से आते हैं और इस तरह का कोई सद्ग्रन्थ मिल जाए, उसे पढ़ने, समझने की क्षमता है तो बड़े चाव से उसको पढ़ते और समझते हैं, अगर इस प्रकार की विचारगोष्ठी होने लगे तो बड़े उत्साह से उसमें भाग लेते हैं। यह सब करते हैं, परन्तु अपना दिल टटोलकर देखें कि इन सब प्रवृत्तियों में लगने के समय, क्या यह भी मेरी पक्की धारण है कि शरीर का नाश होगा पीछे और मुक्ति मिलेगी पहले। शरीर का नाश होगा पीछे और परमात्मा मिलेगा पहले? मेरे जानते, जिन भाई-बहिनों का

विश्वास होगा, उनको तो संशय होना नहीं। मेरा अनुमान है कि इसमें हमारी जैसी निष्ठा होनी चाहिए, जितना पक्का विश्वास होना चाहिए, उतना नहीं है। क्या बात है? अरे भाई! हम तो बड़े प्रपंची हैं, लोभ, मोह में फँसे हुए हैं, हम तो गृह-जंजाल में फँसे हुए हैं, कैसे इससे निकलेंगे, कैसे मेरे द्वारा पुरुषार्थ किया जाएगा, कैसे मेरे द्वारा त्याग किया जायेगा, कैसे मेरे द्वारा मेरे विकारों का नाश किया जायेगा? ऐसा सोचकर व्यक्ति पछताकर रह जाता है, पिछड़ के रह जाता है, यह कितने आश्चर्य की बात है।

महाराजजी के दो वाक्य एक जगह लिखे हुए मिले हैं। मुझे बड़ा आनन्द आया उनको पढ़कर के। उनमें यह लिखा, "जिसको तुम देखते हो अर्थात् हम और आप जिसको देखते हैं वह तुमको नहीं देखता हैं अर्थात् संसार और मेरे प्यारे, भगवान जो तुम्हें देख रहे हैं। उन्हें तुम नहीं देखते हो।" ऐसे मा£मक वाक्य पढ़कर मुझे एकदम आनन्द आ गया। कितनी सच्ची बात है। जिसको तुम देख रहे हो वह तुमको नहीं देख रहा है और फिर भी हम उसके पीछे पड़े हुए हैं। मेरी और देखो, मेरे पास आओ, मेरा आदर करो, मेरा सत्कार करो, मेरी जरूरत पूरी करो, मेरे पास रहो। ऐसा हम किसको कहते हैं? हम लोग इसको ;संसार कोऋ कहते हैं जिसमें मेरी ओर देखने की सामथ्र्य नहीं है। इसके विपरित जो नित्य निरन्तर मुझे देख रहा है, जो सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वत्र है, सभी का है, सभी में है, और सभी को निरन्तर देख रहा है उसकी ओर हम नहीं देखते। क्या होग या? और कुछ नहीं हो गया, अपने को प्रपंची मान लेना, अपने को भटका हुआ मान लेना, अपने को दुनिया में फँसा हुआ मान लेना, और उस फँसावट से छूट जाने की बात को हम लोगों ने इतना कठिन इतना भारी भरकम बना लिया कि इस तथ्य की कल्पना ही नहीं करते हैं कि भाई, मैंने अपने द्वारा संसार से सम्बन्ध स्वीकार किया है। मैं अपने द्वारा इस सम्बन्ध को अस्वीकार करके सदा-सदा के लिए दुःख रहित जीवन में प्रवेश कर सकता हूँ। इस बात में विश्वास ही नहीं करते। डर लगता रहता है। संकोच बना रहता है। अपने को बहुत दूर, बहुत छोटा समझते रहते हैं। स्वामीजी महाराज ने एक आर, सन्तोंकी एक वार्ता सुनाई थी। हम लोगों को तो यह कहा था कि एक वयोवृऋ महापुरुष थे और स्वामीजी महाराज नये-नये संन्यासी हुए थे। तो प्यार पूर्वक नाम लेकर पुकारा और कहा कि शरणानन्द जानते हो, सबसे बड़ा अज्ञान क्या है? तो महाराज जी उत्तर तो दे सकते थे, लेकिन उन्होंने कहा-महाराज मैं क्या जानूँ? आप बताइए। तो उन सन्त ने कहा कि अगर कोई आदमी ऐसा सोचता है कि भागवतकार वेदव्यास में जो ज्ञान था वह ज्ञान मुझमें नहीं है तो यही सबसे बड़ा अज्ञान है। यह उत्तर दिया। जब मैं अपने व्यक्तित्व के अन्धकार से, उलझन से, परेशान होती तो स्वामीजी महाराज को कहती कि महाराज मैंने तो यही समझा था कि सन्त कबीर को, जिसने प्रचण्ड विवेक दिया, राजकुमार सिद्धार्थ को जिसने ऐसा तीव्र वैराग्य दे दिया, उसके मुझको तो दिया ही नहीं, मेरा काम कैसे होगा? ऐसा मैं सोचती थी, लेकिन बात ऐसी नहीं है। स्वामीजी महाराज ने खूब स्पष्ट रूप से मुक्तकण्ड से यह बात मानव समाज, साधक समाज को सुनाई है कि भाई, ज्ञान छोटा-बड़ा नहीं होता है। ज्ञान कम-बेशी नहीं होता है। मानव होने के नात मानव मात्र में जिस ज्ञान का प्रकाश विद्यमान है, उसी प्रकार से उस व्यक्ति का उद्धार होगा। मूल रूप से अविनाशी जीवन प्राप्त करने की जो सामग्री हम लोगों को चाहिए वह सामग्री जीवनदाता ने, हर भाई को हर बहिन को प्रारम्भ

से ही दी हुई है। तो एक तो इसे हम लोग स्वीकार करें। तो पहली बात क्या हो गई कि दुनिया के किसी भी महापुरूष ने जिस जीवन की आवश्यकता अनुभव की होगी, उस जीवन की आवश्यकता हम और आप इस समय, इस वर्तमान में अनुभव करें।

दूसरी बात क्या है? कि जिसकी आवश्यकता हम अनुभव कर रहे हैं वह सदा सर्वदा सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है, इसमें विश्वास करें और तीसरी बात क्या है? कि जिसकी आवश्यकता आप अनुभव करते हैं और जो सदा-सदा से सत्तारूप से विद्यमान ही है, वह विद्यमान सत्य, वह विद्यमान परमात्मा, वह विद्यमान जीवन, हम सब लोगों को इसी वर्तमान में मिल सकता है। ये तीन ठंपब बातें हैं, मौलिक बातें हैं, जिनको मैं मानव सेवा संघ की विशिष्टता मानती हूँ। यह मानव सेवा संघ का रजत-जयन्ती समारोह है और हम लोगों के सामने दो प्रकार का पुरुषार्थ है। एक पुरुषार्थ तो यह करना है कि जिन सार्वभौम सत्य, सर्वमान्य सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन महाराजजी ने किया है उन सिद्धान्तों के आधार पर हम सभी भाई-बहिन, इस वर्तमान में अपनी समस्याओं का समाधान कर लें। पहला पुरुषार्थ हम लोगों को यह करना है। और दूसरा पुरुषार्थ हम लोगों को क्या करना है कि ऐसे जीवनदायी सन्देश का प्रतीक जो यह मानव सेवा संघ है, उस मानव सेवा संघ के इस जीवनदायी सन्देश को सब जिज्ञासुओं, जीवन के सब पिपासुओं, सब भक्तों, प्रभु के विशवासियों को सुना दें।

यह दो तरह का पुरुषार्थ हम लोगों को करना है। पहली बात क्या है? कि इस जीवनदायी सन्देश के अनुसार, हम अपनी समस्याओं का समाधान कर लें। दूसरी बात क्या है? इस जीवनदायी सन्देश देने वाली संस्था की विचार-प्रणाली के प्रतीक के रूप में मानव सेवा संघ की जो स्थापना स्वामीजी महाराज ने की, अनन्त की अहैतुकी कृपा से इस संस्था को, इस प्रतीक को बनाए रखने में हम अपना योग दे दें। तो एक दिन मैंने सोचा कि मानव सेवा संघ की रजत-जयन्ती का क्या अर्थ है? तो मुझे मालूम हुआ कि इस संघ के नाम से, जीवन के जिस सत्य को स्वामीजी महाराज ने प्रकाशित किया है उस सत्य के अनुरूप मेरा जीवन बन जाए। इस संस्था को सजीव बनाने का यही उपाय होगा। इसमें ज्यादा कठिनाई नहीं है। कुछ मुश्किल काम नहीं है। जिन तीन विशिष्टताओं का उल्लेख मैं अभी कर रही हूँ, इनको स्वीकार करना, इस दिशा में हमारा पहला कदम होगा। किस दिशा में? अपने कल्याण में और संस्था को सजीव बनाए रखने में। इन तीन बातों को, अपने द्वारा हम लोग स्वीकार करें। कौन सी तीन बातें? अमर-जीवन की आवश्यकता अनुभव करके, जो महापुरुष अब तक भगवद्-भक्त हो चुके हैं, उन्हीं के समान, अमर-जीवन की आवश्यकता और परम-प्रेम की आवश्यकता, हम सभी भाई-बहिन इस वर्तमान क्षण में अनुभव कर रहे हैं, एक बात तो यह हो गई। और जिस जीवन की आवश्यकता हम अनुभव कर रहे हैं, वह है, यह दूसरी बात हो गई। और तीसरी बात यह कि जो जीवन सदा-सर्वदा से है, वह जीवन मुझको इसी जन्म में इस शरीर के नाश होने से पहले मिल सकता है।

इन तीनों बातों को आज इस पवित्र बेला में, महामानव की पुण्य-तिथि के अवसर पर, सर्वहितकारी, क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रति मानव सेवा संघ की जयन्ती की तिथि पर हम सबने अपने द्वारा दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर सीखा। अब शान्त हो जाएँ एक-दो मिनट के लिए, और जिन बातों को हमने जीवन के लिए आवश्यक माना,

उनको भीतर-भीतर दुहरा लें और अपने द्वारा स्वीकार कर लें। वस्तुतः हमारे विकास में प्रगति आयेगी और व्यक्ति के अहंरूपी अणु में विकास की प्रगति आरम्भ हो जायेगी, तो यही मानव सेवा संघ की सेवा है और यही मानव सेवा संघ की विकास है।

देखिए, हमारा आपका जो अहंरूपी अणु है, सचमुच उसमें बड़ी शक्ति है, उसमें बड़ी सरसता है, उसमें बड़ा प्रकाश है। जिस समय आप उसकी ओर देखना बंद कर देंगे जो आपकी ओर नहीं देख सकता है, उसी समय आपके अहंरूपी अणु में कितना थ्वतबम है कितनी शक्ति है, कितनी सरसता है, कितनी चेतना है यह बात तत्काल आपके अनुभ्व में आने लग जाएगी। ऐसा किसी भी समय अनुभव करे देखिए। बड़ा अच्छा लगेगा आपको। सारी सृष्टि में मनुष्य के व्यक्तित्व के समान महत्त्वपूर्ण और कोई अणु नहीं है। ऐसे तो अणु परमाणु बहुत हैं। ऐसे-ऐसे भी अणु-परमाणु हैं कि जिनको संगठित करके अस्त्र बना लिया जाए तो आज के विज्ञान वेत्ता यह कह रहे हैं कि सारी सृष्टि को भस्म करने के लिए छः मिनट का समय चाहिए। रूस के पास और अमेरिका के पास, ऐसे-ऐसे आणविक बम्ब तैयार हैं, इतने संहारकारी, इतने शक्तिशाली अस्त दुनिया में तैयार रखे हैं। लेकिन महाराजजी ने कहा कि तुम्हारे इस अहं में इतनी शक्ति है कि वह छः मिनट में भस्म करने वाले अस्त्रों में भी नहीं हो सकती। और आपका यह अहंरूपी अणु जिसको कि हम लोग, "मैं" कह कर सम्बोन्धित करते हैं इतना बड़ा है, इतना बड़ा है कि आपका देखा हुआ सारा दृश्य जगत् इसकी सीमा में समा सकता है।

स्वामीजी महाराज ने कहा है, उनकी वाणी है, उनके ग्रन्थों में लिखा हुआ है। मैं आपको याद दिला रही हूँ, दो ही बातें महाराजजी ने कहीं। पहली यह कि सारी सृष्टि की जितनी शक्ति है उससे भी अधिक शक्ति आप में है और दूसरी बात, आपका जो अहंरूपी अणु है जिसको कि हम लोग "मैं" कहकर सम्बोन्धित करते हैं, इस आपके अहं की जो सीमा है वह सारी सृष्टि से बड़ी है। और सब देखा हुआ दृश्य जगत, कितना भी विस्तृत दिखाई देता हो, लेकिन द्रष्टा से छोटा होता है दृश्य। तो सृष्टि के लिए आप द्रष्टा हैं कि दृश्य? द्रष्टा है। इसीलिए सारी सृष्टि आप द्रष्टा की सीमा में आ गई। कभी-कभी मैं अकेले में बैठकर ऐसा सोचने लगती हूँ। महाराज की वाणी को याद करके अपने लक्ष्य को सामने रखकर, धीरज से, तो ऐसा लगता है कि सोचते ही सोचते, सोचना तो खत्म हो जाता है और सीमा का इतना विस्तार हो जाता है, इतना विस्तार हो जाता है कि पता नहीं वह कितना होता है। महाराज की प्रेरणा, महाराज की सद्भावना या सत्य की महिमा कहें, भगवत्-महिमा कहें।

इसलिए मैं, आप भाई-बहिनों को बहुत ही आत्मीयता के साथ, और बड़ी दृढ़ता और बड़े प्रेम के साथ यह निवेदन कर रही हूँ कि सन्त की जो वाणी है, वह बिल्कुल आपका जीवन ही है। तो इतना महत्त्व हम लोगों को इस जीवन को देना चाहिए। इतनी विशेषता आपकों अहं की माननी चाहिए। तो इस विशेषता को मानने का प्रत्यक्ष परिणाम क्या होगा? प्रत्यक्ष परिणाम यह होगा कि जो भूल-जनित विकारों को हम लोगों ने अब तक अपने में रहने दिया है, ऐसा ही कहूँगी मैं, यह नहीं कहूँगी कि विकार मेरे सिर पर चढ़े हुए हैं क्योंकि विकारों में व्यक्ति के सिर पर चढ़ने की सामथ्र्य नहीं है। लोभ, मोह, क्रोध, अभिमान और सुख-सम्मान और सुविधा का लालच, इन सब विकरों को जो मै।ने अब तक अपने में रहने दिया है, यह

बहुत मालूली बात है कि इनको हम इन्कार कर दें, इनको हम अपने में न रहने दें, बहुत मामूली बात है, और आपने देखा ही है कि दुनिया में कितने ऐसे व्यक्तित्व हुए जो संसार की दृष्टि में बहुत ही निम्न परिस्थिति में थे और उनके अहं में चेतना जग गई, तो सारी प्रतिकूलताओं के सिर पर पाँव रखकर के वे संसार को पार कर गये। ऐसा हुआ है कि नहीं? हुआ है। तो इसी आधार पर मैं आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि अपनी बुराइयों का नाश हम लोग स्वयं कर सकते हैं। इसमें जरा भी सन्देह मत रखिए।

महाराज जी ने क्रम बताया था। यह बताया था कि पहले सत्यंग के प्रकाश में, अपनी बुराई को छोड़ने से व्यक्तित्व में जो अहं रूपी अणु है, वह शुऋ होता है। तो जब वह शुऋ हो जाएगा तो उसमें अविनाशी जीवन की सब विभूतियाँ अपने आप प्रकाशित हो जायेंगी। तो हमारा आपका पुरुषार्थ कितना रहा? सत्य को अभिव्यक्त करने का पुरुषार्थ हमकों नहीं करना है, कि परमात्मा का प्रेम कैसे प्रकट हो जायेगा, और योग की विशेषताएँ कैसे आ जाएँगी, और स्वाधीन जीवन का आनन्द कैसे आ जाएगा? इसका पुरुषार्थ हम लोगों को नहीं करना है। अहं में जिन अशुद्धियों को, अब तक हम बर्दाश्त करते आये। कर रहे हैं कि नहीं? लोभ है उसको पाल भी रहे हैं। क्रोध भी है उसको सहन भी कर रहे हैं। मलूमत्र की थैली 'शरीर' में आसक्ति भी है, और उस आसक्ति का भार हम लोग ढो भी रहे हैं। तो जिन अशुद्धियों के कारण अलौकिक जीवन की विभूतियाँ अभिव्यक्त नहीं होती हैं, उन अशुद्धियों को, अपने में रख रहने की भूल हमने की हैं।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार, सत्य को बाहर कहीं से पकड़ लाने का पुरुषार्थ हमें नहीं करना है। जिन अशुद्धियों को अपने में रखकर हम सहन करते आये हैं उन अशुद्धियों को मिटा देने का पुरुषार्थ करना है। इसी पुरुषार्थ से अहं की अशुद्धि मिट जायेगी और जब शुऋ अहं रह जायेगा तो उसको योगवित् होने में, तत्त्ववित् होने में, भक्तियुक्त होने में, कोई समय नहीं लगता है। कुछ भी नहीं। महाराजजी ने जगह-जगह पर ऐसा बतया कि भाई! "फूल तोड़ने में देर लगती है, सत्य से अभिन्न होने में समय नहीं लगता।" दूसरा उदाहरण दिया है। "घोड़े की रकाब में पैर डालने में देर लग सकती है, तत्त्ववित् होने में, भगवान से मिलने में देर नहीं लगती है।" काल अपेक्षित है ही नहीं। जो अभी है, अपने में है, सभी का है, सभी में है, उससे अभिन्न होने में, काल अपेक्षित नहीं है। यह जो समय हम लोगों को लग रहा है, जितने भाई-बहिन यहाँ बैठे हैं अथवा जो यहाँ नहीं बैठें हैं उन सबको जो समय लग रहा है, इस दिशा में। कोई कहेगा कि मुझे 20 वर्ष हो गये दीक्षा लिए हुए, कोई कहेगा कि मुझे बहुत वर्ष बीत गये सत्संग करते हुए, कोई कहेगा कि मुझे बहुत समय बीत गया पाठ करते हुए। एक भाई आये, पिछले सावन महीने का सत्संग चल रहा था, उस समय की बात है। तो वह भाई आये, कहने लगे कि मुझको किसी सन्त ने सलाह दी थी इतने लाख नाम का जप इतने दिनों तक करो तो तुमको सत्य मिल जायेगा। तो उन्होंने जितनी संख्या बताई थी, उतनी संख्या में जप करते-करते मैंने छः महीने बिता दिए। ऐसा उन्होंने बताया। तो हम सभी भाई-बहिनों का जो समय इस दिशा में लग रहा है, क्यों लग रहा है? वह समय परमात्मा के प्रेम के अभिव्यक्त होने में नहीं लग रहा है, वह समय सत्य के अभिन्न होने में नहीं लग रहा है, वह समय अशुद्धि को बनाए रखने के कारण लग रहा है।

बड़ा अच्छा अवसर मिला है हम लोगों को, जिस अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर ज्ञान युक्त, भावयुक्त, कर्म के उपादान, इस शरीर सहित, हम लोगों को बनाया है, उन्हीं की अहैतुकी कृपा से इस जीवन में यह अवसर आया है कि अपनी-अपनी बनाई हुई अशुद्धियों को नाश करने के लिए हम तत्पर हो जाएँ और जो वास्तविक जीवन है, जो अभी है, अपने ही में विद्यमान है उसकी अभिव्यक्ति के लिए हम तैयार हो जाएँ तो कोई कारण नहीं है कि शरीर के नाश होने के पहिले हम लोगां को अविनाशी जीवन न मिल जाए। परमात्मा का प्रेम न मिले। ईश्वर विश्वासी ईश्वर से न मिले। योगी योगवित् न हो जाए। जिज्ञासु तत्त्ववित् नहो जाए। प्रभु विश्वासी भक्त न हो जाए। ऐसा कोई कारण नहीं है। ऐसा अवश्य हो सकता है। और आप ऐसा मत सोचियेगा कि यह तो कलिकाल है, अल्पआयु है, अल्पसामथ्र्य है। ऐसा मत सोचियेगा। एक दिन बातचीत हो रही थी तो पार्वतीजी की तपस्या की बात याद आ गई। तो कितने-कितने हजार वर्ष उन्होंने बिताये और पत्ते खाकर बिताये और कुछ दिनों बाद तो उन्होंने वृक्ष के पत्ते खाना भी छोड़ दिया और केवल हवा के आधार पर समय बिताया।

हम लोगों की दशा क्या हो गई? 24 घण्टे एकबार निर्जला एकादशी करनी हो तो जमीन-आसमान सब उलटने लग जाता है। संभाल में नहीं आता है। भूख रहने के लिए, प्यासे रहने के लिए अब कहाँ सामथ्र्य है। तो ऐसा मत सोचिए कि शारीरिक सामथ्र्य घट जाने से, उस सत्य की सामथ्र्य भी घट गई, परमात्मा की सामथ्र्य भी घट गई, ऐसा मत सोचिए। इस पांच भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर की सामथ्र्य घट गई है, लेकिन आप ही में जो वह अविनाशी तत्त्व विद्यमान है, परमात्मा की परम करुणामयी जो शक्ति विद्यमान है, वह सतयुग में जैसी थी, इस कलियुग में भी वैसी ही है। उसमें से कुछ नहीं घटा है। न उसका प्रेम घटा है आपके प्रति, न उसकी करुणा घटी है आपके प्रति, न उसकी महिमा घटी है, न उस सत्य का प्रकाश घटा है, न उस सत्य का अस्तित्त्व घटा है। वह जो चीज है, वह ज्योंकि त्यों आरम्भ से लेकर आज तक वैसी ही है। आगे भी अनन्त काल तक वैसी ही रहेगी। तो अल्प सामथ्र्य होने के कारण हम लोगों का बेड़ा पार नहीं होगा, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। अल्प सामथ्र्य वालों के लिए अल्प सामथ्र्य की साधना है। विशेष सामथ्र्य वालों के लिए विशेष प्रकार की सामथ्र्य है और सब साधनाओं का फल क्या है? कि हम अहंकार शून्य हो जाएँ और हम अहंकार शून्य हुए नहीं कि उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से इस जीवन का विधान इतना सुन्दर बना है कि मेरे अहंकार का नाश हुआ नहीं कि सत्य की अभिव्यक्ति, उसकी विभूतियों से भरपूर होना, ये तत्काल हो जाते हैं। एक साथ हो जाता है। ऐसा अनुभवीजनों का अनुभव है। और इस सत्य को आज हम सब भाई-बहिनों के लिए स्वीकार कर लेना अनिवार्य है।

प्रवचन 26

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

पूज्य सन्त महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयों!

मानव सेवा संघ के तत्त्वावधान में, संघ की रजत-जयन्ती के अवसर पर, हम सब लोग सत्संग समारोह में सम्मिलित हुए हैं। मानव सेवा संघ क्या है? एक विचार प्रणाली है। और जिस सन्त ने अपने व्यक्तित्व के नाम पर एक शब्द भी कहना पसन्द नहीं किया, जिस सन्त ने अपनी कृति, अपनी लिखवाई पुस्तकों पर अपना नाम

लगाना पसन्द नहीं किया, उस सन्त ने मानव सेवा संघ क्यों बनाया? संघ के सब प्रेमियों, समर्थकों, हित-चिंतकों, साधकों को इस बात पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। क्यों बनाया उन्होंने? अपना नाम देना, अपने नाम से अपने अनुभूत सत्य को प्रकाशित करना उन्होंने पसन्द नहीं किया और जब सत्य की चर्चा करने लग जाते थे, तब कहते थे कि मुँह मत देखना, बात सुनना। किस मुँह से यह बात निकल पड़ी है, सो मत देखो, बात पर विचार करो। बात तुम्हारी अपनी लगे, तो मान लो।

ईश्वर विश्वास के सम्बन्ध में उन्होंने कई बार यह विचार प्रकट किया कि मैं ईश्वर विश्वासी हूँ, परन्तु ईश्वर विश्वास का प्रचारक नहीं हूँ। कभी-कभी कोई-कोई व्यक्ति कहता कि भाई, मानव सेवा संघ में भगवान के नाम जपने के बारे में तो कुछ कहा हीं नहीं जाता है, तो स्वामीजी महाराज ने एक बार एक साधक से पूछा कि यह बताओ भाई, कि मैंने मना किया है? नाम जपने से नुकसान होगा, ऐसा कह कर मैंने मना तो नहीं किया है। तो क्या अर्थ है? कि यह साधकों का संघ है, यह एक विचार प्रणाली है। यह कोई नया पंथ, मत या सम्प्रदाय नहीं है। यह कोई ऐसा संगठन नहीं है कि जिसमें बहुत से लोग संगठित होकर अपनी किसी तकलीफ को मिटाने के लिए किसी प्रतिपक्षी के विरूऋ आवाज उठाते हों, इस प्रकार का संगठन भी नहीं हैं तो महाराज जी ने कहा कि मानव सेवा संघ प्रचार संघ नहीं है। विचार संघ है। और विचार किस बात का? अपने जीवन पर विचार करो। परदोष दर्शन, परचर्चा, पर के कत्र्तव्य पर विचार नहीं करना है। अपने जीवन पर विचार करो, अपने दोषों पर विचार करो, अपने कत्र्तव्यों पर विचार करो, अपने उत्थान पर विचार करो, जीवन के सत्य पर विचार करो। और कभी-कभी जब कोई आग्रह करता है भगवान की महिमा के बारे में, और नाम के बारे में कुछ सुनाने के लिए, तो कहते कि अरे भाई, जब कहीं सत्संग में या कहीं किसी सामूहिक बैठक में जाते हो शामिल होने के लिए तो दरवाजे पर जूता या चप्पल बाहर उतार कर बैठते हो। तब बैठने पर तुमको जूते या चप्पल की याद आती है और भगवान मेरे इतने घटिया हो गये कि उनको याद करने के लिए मैं कहूँ तुमसे। चप्पल की याद आ सकती है, जूते की याद आ सकती है और भगवान को याद करने के लिए मुझे कहना पड़ेगा कि याद करो।

अद्भूत प्रकार के क्रान्तिकारी विचार थे स्वामीजी महाराज के, और ये विचार महाराजजी ने कई बार प्रकट किए। उन्होंने बताया कि मैंने संघ क्यों बनाया? स्वामी जी महाराज ने पुराने मित्र साथी जो लोग थे, अच्छे-अच्छे जो सन्त-महानुभाव थे, जब स्वामीजी महाराज ने संघ बनाया तो उन्होंने स्वामीजी महाराज के लिए यह कहना शुरू किया कि आजाद पंछी पिंजड़े में बन्द हो गया। महाराज जी ने कहा कि मैं बिल्कुल बन्द नहीं हुआ हूँ। बन्धन की कोई बात ही नहीं है। बात क्या है? मानव सेवा संघ के प्रेमीजन विचार कर लें। बात यह है कि स्वामीजी महाराज ने देखा कि मानव समाज में बड़ा भारी भ्रम फैला है, आधुनिक युग के पढ़े-लिखे हमारे वर्ग के लोगों ने ही यह भ्रम फैलाया है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। आपने ऐसा कभी सुना है कि नहीं? स्वामीजी महाराज को यह बात बिल्कुल गलत मालूम हुई।

अभी आपने सुना न सन्तवाणी में। क्या कहा उन्होंने-कि "मैं" और 'है'। 'मैं' तत्त्व जो है, जिसको हम लोग अभी इस वर्तमान में महसूस कर रहे हैं कि 'मैं' हूँ, यह 'मैं' तत्त्व है, और जिसको 'है' कहते हैं- 'परमात्मा'। 'मैं' तत्त्व और 'परमात्मा'

तत्त्व, ये दोनों तत्त्व सृष्टि की धातु से बने हुए नहीं हैं। यह उनकी खोज है, कि यह 'मैं' तत्त्व और 'है' तत्त्व उस धातु से नहीं बने हैं जिससे सृष्टि बनती है। तो सृष्टि की जो गतिविध है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं, जो सृष्टि के परे की धातु से बना हुआ है, वह परिस्थितियों का दास कैसे हो सकता है? और जो व्यक्ति अपने को परिस्थितियों का दास मान ले और अनुकूलता को बनाए रखना चाहे और प्रतिकूलता को हटाए रखना चाहे तो क्या उसकी यह चाह कभी पूरी होने वाली है? जी! नहीं है। जो अपने को परिस्थितियों का दास मान लेगा उसकी क्या दशा होगी? तो मानव सेवा संघ कहेगा-भैया! उसकी मानव संज्ञा समाप्त हो गई। फिर वह मानव नहीं रहा। जिसने स्वीकार कर लिया कि भाई, अपने आप जो सुख परिस्थिति आ जायेगी तो हम सुखी हो जायेंगे और अपने आप जो दुःख परिस्थिति आ जाएगी तो हम दुःखी हो जायेंगे। इस प्रकार जिसने अपने को परिस्थितियों की दासता में आबऋ कर लिया उसकी मानव संज्ञा खत्म हो गई। वह तो पशु श्रेणी में आ गया, जहाँ जन्म लेने की बाध्यता भी है और शरीर के माध्यम से मिलने वाले सुख-दुःख भोगने की बाध्यता भी है।

स्वामीजी महाराज ने मानव जीवन के इस सत्य को मानव सेवा संघ के माध्यम से संसार को सुनना पसन्द किया कि देखो भाई! मनुष्य संसार में सुख-दुःख का दास बनने के लिए नहीं आया है। परिस्थितियों का उपयोग करके सभी परिस्थितियों से अतीत आनन्द और अनन्त प्रेम का पात्र बनने के लिए आया है। तो मानव सेवा संघ क्यों बना? इसलिए बना कि मानव मात्र को मानव के जीवन का यह सत्य सुना दिया जाए। मानव सेवा संघ की रजत-जयन्ती की सफलता क्या है? 25 वर्ष जो इसके बीते, मानव समाज में सेवा करते हुए, इसकी सफलता का मापदण्ड क्या है? क्या हुआ इससे? तो यदि व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में, यह चेतन जग गई कि मैं परिस्थितियों का दास नहीं हूँ, सुखद परिस्थिति आयेगी तो सेवा करे उससे ऊपर उठ जाऊँगा, दुःख परिस्थिति आयेगी तो त्याग करके उससे ऊपर उठ जाऊँगा। सेवा और त्याग के आधार पर सभी परिस्थितियों से अतीत के जीवन में पहुँच जाऊँगा। यह सत्य अगर किसी भाई, किसी बहिन ने स्वीकार कर परिस्थितियों की दासता से अपने को मुक्त कर लिया, तो मानव सेवा संघ सफल हो गया। मानव सेवा संघ के विचारों पर व्याख्यान देने से मानव सेवा संघ सफल नहीं हुआ। फर्क मालूम होता है? जी-मैं एक बात और सुनाना चाहती हूँ, अपने मानव सेवा संघ परिवार के प्रिय साधकों को, कि हम लोग अपने व्यक्तिगत जीवन के उत्थान के लिए सन्त के प्रेम और प्रेरणा से प्रेरित होकर, ऐसी उन्मुक्त विचारधारा को, मानव समाज में बनाए रखने के लिए तत्पर रहें। दो बातें हुईं। एक तो संघ के विचार को अपना कर अपने समस्या हल कर लो। और दूसरी यह कि यह तो बड़ी अच्छी चीज है, यह समाज में बनी रहे तो हमारी तरह बहुतों का कल्याण होगा। इन दिनों दृष्टियों से हम लोगों को काम करना है। यदि मैंने अपने जीवन में से परिस्थितियों की दासता को मिटा लिया तो मेरा यह कहना कि मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं है दूसरों को प्रभावित कर सकेगा।

कल अपने प्रवचन में बाबूजी ने कहा कि मोहम्मद साहब के पास बच्चा लेकर एक माँ आई कि यह बहुत गुड़ खाता है, इसको गुड़ खिलाना कैसे बन्द करें। तो मोहम्मद साहब ने कहा कि 15 दिन बाद आना। क्यों? इस 15 दिन के समय मोहम्मद साहब ने खुद भी गुड़ खाना छोड़ा। इसके लिए ही उन्होंने 15 दिन का समय माँगा

और 15 दिन बाद बच्चा लेकर वह माँ आई, तो उन्होंने बच्चे को समझा दिया कि इतना गुड़ खाने से तुम्हारी तबियत खराब होती है तो मत खाना। तो संघ की कथा जो है, वह जीवन की कथा है और हम लोगों को दोनों तरह से, हर समय प्रयास करना है।

स्वामीजी महाराज के एक बड़े पुराने प्रेमी, बड़ा प्रेम था उनको स्वामीजी महाराज के प्रति। कहाँ उठायें, कहाँ बैठायें, हृदय में रखें, आँख में रखें, ऐसा। जब संघ बनाया तो बार-बार उनसे कहा कि ऐ दोस्त! अब आ जाओ मेरे साथ। तो कहें-"स्वामीजी महाराज, मेरे में तो बहुत अवगुण भरे हैं। मैं कैसे मानव सेवा संघ का आजीवन कार्यकर्ता बनूं? बार-बार यही उत्तर दें कि मेरे में तो बहुत से दोष भरे हैं। तो स्वामीजी महाराज हँस कर बोले कि अरे भैया! क्या बीमार आदमी को कहना चाहिए कि अभी तो मुझमें रोग बहुत हैं, अस्पताल कैसे जाऊँ? महाराज जी की युक्तियाँ देखिये। क्या बात करते हो यार! अरे, जिसमें कोई दोष नहीं रह जायेगा, वह काहे के लिए किसी विचार-प्रणाली, काहे के लिए किसी संस्था, काहे के किसी सन्त के पास जायेगा। जिसमें कोई दोष नहीं रह जायेगा, जो सब प्रकार से शुक्र, पवित्र हो जायेगा, सिक्र हो जायेगा, उसको साधकों की सूची में नाम लिखवाने की जरूरत ही क्या है? सो तो है नहीं। यह उदाहरण देकर अपने सभी भाई-बहनों को मैं याद दिलाना चाहती हूँ कि आप अपने को प्यार करें। आप सन्त को प्यार करें। आप सृष्टि को प्यार करें। आप संस्था से प्यार करें। आप परमात्मा से प्यार करें। तो ऐसा कभी न सोचें कि जब हम सब प्रकार से पवित्र हो जाएँगे तब इसमे शामिल होंगे, यह मतलब नहीं है। मतलब क्या है?

मानव सेवा संघ का उद्देश्य इतनी सरल भाषा में है- व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। दोनों एक साथ। तो प्रातःकाल सोकर जागते ही अकेले शान्त होकर बैठो। व्यक्तिगत रूप से सत्संग करो। यह निश्चय करो कि में परिस्थितियों का दास नहीं हूँ। परिस्थितियाँ मेरी साधन-सामग्री हैं। परिस्थितियों का दास तो वह है, जिसमें चेतना नहीं है। हम लोगों के लिए परिस्थितियाँ क्या है? परिस्थितियाँ हम लोगों के लिए साधन-सामग्री हैं। तो जो साधन-सामग्री का उपयोग करने लग जायेगा, उसके जीवन में से, सुख का लोभ और दुःख का भय चला जायेगा, उसके जीवन में से, सुख का लोभ और दुःख का भय चला जायेगा। यह विकास हो गया आपको। ऐसी विचार धारा, ऐसी विचार-प्रणाली, ऐसी जीवन-शैली, को मैं जीवन-शैली कहती हूँ। पहले-पहल जब इसका दर्शन हुआ मुझे तो।तज व िसपअपदह जीने की कला करके मैंने मानव सेवा संघ के बारे में एक लेख लिखा। ऐसी जीवन-शैली, कि जिसके आधार पर किसी भी मत, वर्ग, सम्प्रदाय, इज्म, देशकाल के मानव को जीवन की राह दिखाई दे जाए। ऐसी जीवन-शैली, ऐसी विचार-प्रणाली, मानव समाज में जीवित रहे, प्रचलित रहे, इसके लिए प्रयत्नशील होना। यह सुन्दर समाज के निर्माण का उपाय हो गया। इन दोनों बातों को साथ-साथ लेकर हम लोगों को चलना है।

जहाँ तक हो सके निकटवर्ती जन-समाज की क्रियात्मक सेवा करते चलो। जहाँ तक हो सके आत्मीयता के नाते, किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई न करने का व्रत लेकर चलो। जहाँ तक हो सके, जीवन के सम्बन्ध में जिज्ञासुओं के सामने जीवन के इस सत्य को रखते हुए चलो। भाई, मैंने तो सुना है, मैंने तो ऐसा विचार किया है,

मुझे तो यह बात सत्य मालूम होती है, अगर आपको भी अच्छी लगे तो आप स्वीकार कर लीजिए। "आप मान ही लीजिए।" मानव सेवा संघ ऐसी बात कभी नहीं कहता और "यही सत्य है"। ऐसी बात भी कभी नहीं कहता। यह सत्य है और मुझे इससे लाभ हुआ है। यह मानव जीवन की वैज्ञानिकता है। यह मानव जीवन की दार्शनिकता है। यह मानव जीवन की आस्तिकता है। इसको आप स्वीकार करें, इसका अनुसरण करें तो आपको लाभ होगा। लेकिन मेरे कहने से स्वीकार न करें। आप सोच-विचार कर देख लें, आपको जँच जाये तो स्वीकार कर लें। यह मानव सेवा संघ की प्रणाली है। तो मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं है, यब सबसे प्रमुख बात है। यह संघ का सबसे प्रमुख सन्देश है। जहाँ से साधनकर्ता का उत्थान आरम्भ हो सकता है। नहीं तो आप देखिये, इतने दिन का समय जो हम लोगों ने संसार में बिताया, सिर के काले बाल अब सफेद हो चले, तो यह सारा समय और सारी शक्ति ;म्दमतहलत्र एनर्जी क्या इसी बात में नहीं खप गई कि अनुकूल परिस्थिति बनी रहे और प्रतिकूलता आ न जाए। खप गई कि नहीं। इसी प्रयत्न में पूरी हो गई। सुख-सुविधा, सम्मान कैसे बना रहे, और दुःख, असुविधा और अपमान कैसे दूर रहे। इसी चेष्टा में अनमोल जीवन के बहुत से भाग को हम लोगों ने खपा दिया।

अब मानव सेवा संघ क्या कहता है कि ध्यान करना पीछे, मंत्र जपना पीछे, आसन लगाना पीछे, ये सब जब होंवे तुमसे तब करना। आज अगर जीवन की यात्रा आरम्भ करते हो तो सबसे पहली बात यह है कि अपने द्वारा इस बात को स्वीकार करो कि मैं परिस्थितियों का दास नहीं हूँ। दूसरी बात जो मानव सेवा संघ की विशेषता मुझे मालूम होती है और हम सब लोगों के लिए जानना बहुत आवश्यक भी है वह स्वामीजी महाराज ने अपनी सूझ-बूझ के आधारपर और इन्द्रियों को विषय-विमुख करके, मन और चित्त को शुत्र और शान्त करके, मन को निर्विकल्प बनाकर, बुद्धि को सम करके, बुद्धि की समता के काल में, मानव जीवन का जो सत्य, प्रकृति के और प्रकृति से परे के ईश्वरीय विधान, जिसका दर्शन उन्हें अपने में हुआ, उसके आधार पर उन्होंने हम लोगों को जीवन की राह दिखाई। क्या कहा? यह कहा कि भाई, इस भ्रम को जीवन में से निकाल दो कि सदगुरु मिलेंगे तो उद्वार होगा। सुनते जाइए। आप सब लोग संघ के प्रेमी हैं। इस भ्रम को निकाल दो कि संस्कार अच्छे होंगे तो साधन बनेगा। इस भ्रम को निकाल दो कि प्रभु कृपा करेंगे तो उद्धार होगा। मानव सेवा संघ ने इसको भ्रम कहा। डरियेगा मत, धीरज रखियेगा। इन सबका रनेजपपिबंजपवद युक्ति संगत होना आपके सामने आ जावेगा। इस उपदेश का औचित्य क्या है? स्वामीजी महाराज ने कहा कि मानव मात्र को जो जीवन चाहिए, सो उसी में विद्यमान है और जो अपने में विद्यमान है, उसको अभिव्यक्त होने देने में किसी भी भाई को, किसी बहिन को, अपने को पराधीन कभी नहीं मानना चाहिए।

जब इस विचार में कठिनाई की बात होने लग जाती तो स्वामीजी महाराज कहते-देवकीजी! साधक के रास्ते में पत्थर मत रखो। तुम पढ़े-लिखे लोगों की यह बात हमको पसन्द नहीं आती है। कहाँ-कहाँ फँसा देते हो, तुम लोग रास्ते में पत्थर मत रखो। तिमम याने स्वतन्त्र हो करके आदमी को सोचने दो। क्या कहा उन्होंने? कि अगर कोई साधक यह सोच करके बैठ जाए कि सद्गुरु मिलेंगे, तो उनकी सलाह से मैं काम करूँगा, सोचूँगा, तो भाई। अनेक प्रकार की विकृतियों से भ्रमित हुई तुम्हारी बुद्धि, विषयों के आकर्ष से

भ्रमित हुई तुम्हारी बुद्धि सद्गुरु को पहिचानेगी कैसे? कब तक तुम प्रतीक्षा करोगे? तब तक प्राण पँखेरू उड़ गये तो? अब अपनी बुद्धि से सद्गुरु की जाँच करने तुम चल रहे हो, तो क्या ठिकाना है कि सद्गुरु को तुम ठीक से पहचानोगे। क्या जाने किसके पंजे में फँसोगे। तो "ज्ञान गुरु मन हृदय बिहारी", मानव सेवा संघ ने गुरु का खण्डन नहीं किया है। बड़ा भारी समर्थन किया है इस रूप में कि कोई शरीर गुरु नहीं होता है। गुरु तत्त्व होता है और परमात्मा ने आपको पराधीन बनने के लिए दुनिया में नहीं भेजा। इसलिए जिस गुरु तत्त्व की हर भाई को, हर बहिन को जरूरत है, उस गुरु तत्त्व को परमात्मा ने आप ही में दे करके भेजा है। यह मानव सेवा संघ का विचार है। लीजिये, अब इस झंझट से भी आप स्वतन्त्र ;तिममत्रक्र हो जाइये और आप बिल्कुल परमवाह मत कीजिए कि किसी सद्गुरु से हमारी भेंट हुई कि नहीं हुई। कब होगी? इस बात की चिन्ता मत कीजिए।

मानव सेवा संघ आपको स्वाधीन बनने के लिए सलाह देता है कि निज विवेक का आदर करो। जैसे-जैसे उसका आदर करते जाओगे, उसका प्रकाश बढ़ा जायेगा और मान लो कि किसी समय तुम्हारे भीतर के ज्ञान को, बाहर से समर्थन की जरूरत होगी, तो तुम्हारे बिना बुलाए, तुम्हारे बिना खोजे, अनन्त के मंगलमय विधान से कोई सत्पुरुष तुम्हारे पास आयेगा और तुमको सलाह देके चला जायेगा। अपने आप जो आयेगा वह ठीक आयेगा और आप खोजते फिरेंगे तो बहुत बार गलत व्यक्ति के पंजे में फँसेंगे। तो यह बात भी खत्म हो गई।

एक कथा सुनाई महाराजजी ने-जंगल में कहीं कोई साधक बैठे थे, कहीं दूर रास्ते से एक महापुरुष घोड़े पर बैठे जा रहे थे, पहाड़ पर उत्तरकाशी में कहीं। तो एक जगह पर जाकर घोड़ा अड़ गया, आगे चले ही नहीं, तो महापुरुष तो मस्त होते ही है, उनको परिस्थिति की कोई चिन्ता नहीं होती ही नहीं है, तो उन्होंने घोड़े की रास ढीली कर दी कि जा भैया, ठीक रास्ते नहीं जाता है तो जहाँ जाना है ले जा, ऐसा करके उन्होंने रस्सी ढीली कर दी तो घोड़ा जंगल के भीतर एक अनजान रास्ते में घुस गया, और चलते-चलते एक वृक्ष के नीचे जाकर खड़ा हो गया। स वृक्ष के नीचे एक साधक बैठा था। उसको देखकर महापुरुष घोड़े से उतर गये, और कहने लगे, अच्छा! तू यहाँ बैठा है, इसी के कारण मेरा घोड़ा कुटिया की तरफ नहीं गया। अच्छा भाई! घोड़े पर से उतर कर उस साधक के पास बैठ गये, उससे बातचीत कर ली। उसकी जो जिज्ञासा थी वह शान्त हो गई। उठ करके खड़े हो गये, फिर घोड़े पर बैठ गये और चलते समय साधक से बोले, जरूरत हो तो भैया, फिर बुला लेना, मिल लेना। वह साधक गुरु महाराज से भी ज्यादा मस्त। वह कहने लगा कि महाराज आज आपको कौन बुलाकर लाया? मैं कहाँ जाऊँगा आपको बुलाने। मुझे जरूरत पड़ेगी तो आप स्वयं आइयेगा। गुरु-चेले दोनों मस्त हो गये, चले गये।

स्वामीजी महाराज की बातें जो हैं, वह कोरी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। इतनी सत्य है यह बात कि, स्वामीजी महाराज की इतना भी सहन होता था कि किसी साधक के दिल में सत्य की जिज्ञासा जगे, और वह, कोई सद्गुरु मिलेगा तो मार्ग बतायेगा इसकी प्रतीक्षा में एक दिन भी बिताये। यह बात स्वामीजी से सही नहीं जाती थी। क्यों ;ॅॅपजक्र इन्तजार करते हो भाई? तुम्हारा बनाने वाला तुमको प्रति क्षण देख रहा है। तुम्हारी हर जरूरत को पूरी करने के लिये तैयार है, तुम किसी अप्राप्त परिस्थिति की प्रतीक्षा में इन अनमोल घड़ियों को क्यों खो रहे हो? यह मानव

सेवा संघ की गुरु की प्रतीक्षा की बात हो गई। अब संस्कारों की बात लीजिए। बहुत लोग कह देते हैं कि अरे भाई! उनके संस्कार बड़े अच्छे थे। अब हमारे भी कभी शुभ संस्कार उदित होंगे, तब हमारा भी विकास होगा। तो मानव सेवा संघ ने इसको भी स्वीकार नहीं किया। किसी व्यक्ति को अच्छे संस्कारों के उदित होने तक प्रतीक्षा करने में, सत्य से विच्छिन्न रहना, मानव सेवा संघ को सहन नहीं होता।

स्वामीजी महाराज ने क्या कहा, कि अरे भाई, संस्कार का अर्थ क्या है? भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव। तो जब तुम्हारे तीनों शरीर ही, सत्य की शोध में सहायक और बाधक नहीं हो सकते हैं तो सूक्ष्म शरीर का व्यापार ही न संस्कार है, और क्या है? वह तुमको बाधा कैसे पहुँचा सकता है? इसलिए संस्कारों की दुहाई दे करके जिस जीवन की अभिव्यक्ति आज हो सकती है, इसी क्षण में हो सकती है उसको भविष्य पर टालो मत। संस्कारों के विषय में दूसरी बात यह बताई कि देखो भाई, संस्कारों के प्रभाव से रुचि, अरुचि बनती है। सपाम ंदक कपेसपाम पसन्दगी और नापसन्दगी हर व्यक्ति की अलग-अलग होती है न। मुझे दही खाना बहुत पसन्द है और मेरी एक लड़की है, जो दही की गन्ध भी नहीं सह सकती। यह क्या है? संस्कारों का फल है। किसी को कुछ अच्छा लगता है, किसी को कुछ अच्छा लगता है। तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि मनुष्य के जीवन में सपाम ंदक कपेसपाम रुचि और अरुचि, पसन्दगी-नापसन्दगी यह संस्कार का फल हो सकता है, लेकिन जो सत्य का जिज्ञासु है, उसे सत्य से मिलने में संस्कार कैसे बाधा पहुँचायेगा? सपाम ंदक कपासपाम दोनों को आपको भाड़ में डालना है। पसन्दगी और नापसन्दगी दोनों को छोड़कर आगे बढना है। तो संस्कार आपकके मार्ग में बाधक कैसे हो सकते है।? नहीं हो सकते हैं। इसलिए यह शंका भी छोड़ दो। अब तीसरी बात सबसे बड़ी है जिसकी आड़ में हम लोग बहुत दिनों तक अपनी दुर्बलताओं को छिपाकर ढोते जाते हैं, वह भी सुन लीजिए। कहते हैं भाई, अपने करने से कुछ नहीं होता, वो तो जब परमात्मा कभी कृपा करेंगे तो हो जायेगा। वाह! यह तो खूब मजा रहा। परमात्मा की कृपा से काम बनने वाला होता तो उन कृपालु ने क्या कभी अपनी कृपा का दरवाजा बन्द किया है? जी-बन्द नहीं किया। अगर उन्हीं को करना होता तो क्या वे हम लोगों से पूछते कि तुम्हारा उद्धार कब करें।

मानव सेवा संघ ने ऐसा नहीं माना। परमात्मा कृपालु हैं, यह सत्य है। उनकी कृपा निरन्तर बरस रहीं है। यह सत्य है। उद्धार किसका हुआ? उस कृपा का दर्शन किसने किया? उनके और हमारे बीच में जो दूरी रह गई है, सत्य और परमात्मा की उपस्थिति का अपने को जो कोई आनन्द नहीं आ रहा है, साधक और साध्य में, भक्त और भगवान में, जिज्ञासु और तत्त्व में जो भेद प्रतीत हो रहा है वह भेद है नहीं। केवल प्रतीत हो रहा है इसमें एक ही बात है और वह यह है कि जो आप ही में विद्यमान है, उसके विकास का प्रारम्भ कब होता है। जब आप उसकी आवश्यकता अनुभव करे तब होता है। तो परमात्मा की कृपा कहीं दूर नहीं है। किसी पर हो गई और किसी पर नहीं हो गई, कभी हो गई और कभी नहीं हुई, ऐसी बात भी नहीं है। जीवन के विकास के लिए, परमात्मा ने आपको स्वाधीनता देना पसन्द किया है। इसलिए पहले आपका पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है, और पुरुषार्थ के प्रारम्भ के पहले से आपका अहंरूपी अणु परिवर्तन होता है। परिवर्तन से, परमकृपालु की कृपा का दर्शन होता है। तो आप इस आधार पर भी अपने को

गलत-सलत रास्ते पर नहीं छोड़ सकते हैं। किसी आधार, पर कि जब प्रभु कृपा करेंगे तो मेरा सुधार होगा। अगर उन्हीं को करना होता तो आपको बिगड़ने ही क्यों देते हैं? पशुओं की भाँति आपको प्रकृति के नियमों में बाँध देते। भूख लगने पर हरी-हरी घास को खा लेना और पेट भर जाने पर एक तिनका भी अधिक मुँह में नहीं डालना। प्रकृति का जैसा नियम है, उनका जैसा विधान है खाने का, सोने का, मलमूत्र त्याग करने का, बाल-बच्चे पैदा करने का। हर क्रिया पर पशु के जीवन में जबर्दस्त प्राकृतिक विधान है। लेकिन हम लोगों को परमात्मा ने प्रकृति के विधान में बाँध कर पशुओं की श्रेणी में रखना नहीं चाहा, इसलिए उन्होंने स्वाधीनता दी। किस बात की स्वाधीनता दी? कि प्राप्त परिस्थिति का सुख भोग करके, परिस्थितियों की दासता में आप स्वयं ही बँधना चाहते हैं तो बँध जाते हैं। और विवेक के प्रकाश का अनुसरण करके, प्राप्त परिस्थिति के सुख को बाँट करके, जगत की पीड़ा को अपने लिए खरीद करके, विकृत चित्त को शुऋ भी आप ही चाहें तो कर सकते हैं। यह स्वाधीनता उन्होंने दी। यह स्वाधीनता हमारी-आपकी आज भी परमात्मा की ओर से सुरक्षित है। ऐसा नहीं है कि सतयुग में तो स्वाधीनता थी और कलियुग में नहीं है। सो नहीं है। परमात्मा ने जो स्वाधीनता मनुष्य को देना पसन्द किया वह प्रत्येक युग में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक देश में, प्रत्येक व्यक्ति के साथ आज भी समान रूप से सुरक्षित है।

मानव सेवा संघ का संदेश क्या है? मानव सेवा संघ अपने को इस आधार पर सफल मानता है कि हम और आप जो उसके प्रेमी भाई-बहिन साधक हैं वे अपनी इस स्वाधीनता को तमंसपेम करें, अनुभव करें। प्रभु की दी हुई स्वाधीनता और विधान का अनादर किये जाओ, समय का अवसर का लाभ न उठाओ, जो नहीं करना चाहिए वह किये जाओ, और शान्ति की जरूरत मालूम पड़े तब कह दो कि परमात्मा की दया होगी तो मिलेगी। सो नहीं चल सकता। जो ईश्वर के विधान को मानकर चलता है उसका विकास होता है। जो विधान की अवहेलना करेगा, उसका विकास नहीं होगा। तो पुरुषार्थ को प्रारम्भ करने का दायित्व मुझ पर क्यों आया? क्योंकि मेरे जीवनदाता ने मुझको स्वाधीनता देना पसन्द किया। महाराजजी को मैंने एक बार कहा कि स्वामीजी महाराज, अगर ऐसा ही नियम बना दिया गया होता हो प्रारम्भ से ही मैंने कोई भूल नहीं की होती तो मेरे सामने दुःख नहीं आता। माता-पिता ने, निकटवर्तियों ने तो यही सिखाया था। जिन्दगी में दुःख क्यों आया? तो तुम्हारी भूल से आया। स्वामीजी से जब भेंट हुई तो मैंने कहा-महाराजजी! शुरू से ही बता दिया गया होता, मैं भूल नहीं करती, तो दुःख नहीं आता। प्रारम्भ से ही ऐसा किया जाता। अब इतना दुःख भोगने के बाद, इतनी विकृतियों को पैदा करने के बाद, लोभ,मोह, काम, क्रोध में फँसने के बाद, अब मेरे सिर पर भार आ गया कि इनसे छुट्टी पाओ। मैं बहुत नाराज थी। प्रारम्भ से ही ऐसा कर दिया जाता तो महाराजजी ने कहा कि देखो, देवकीजी! अगर ईश्वरीय विधान इस प्रकार का बन जाए तो कोई जैसे सोचे कि मैं झूठ बोलकर काम निकाल लूँ, उसी समय उसकी वाणी की शक्ति पहचान छीने लें, बोलने ही न दें। अगर इस प्रकार की बनावट मनुष्य की हो जाए तो उसकी मनुष्य संज्ञा समाप्त हो जाएगी। पशु श्रेणी में चल जायेगा।

आपको परमात्मा ने स्वाधीन बनाया और आपकी स्वाधीनता को सुरक्षित रखना पसन्द किया। किसलिए, कि आप स्वेच्छा से यह कह सकें कि दिखाई देने वाला सुहावना-लुभावना

संसार मुझे नहीं चाहिए। यह बनने-बिगड़ने वाली सृष्टि का सुख मुझे नहीं चाहिए। मुझको तो सदा-सदा तक रहने वाला, अजर-अमर अविनाशी परम प्रेमास्पद परमात्मा चाहिए। तो आप सुहावने संसार को देखते हैं और आप इतने स्वाधीन है कि उसके सुख को कहते हैं कि "जाओ तुम जाओ, मुझको यह सुख नहीं चाहिए। आप इतने स्वाधीन हैं कि परमात्मा को देखते भी नहीं हैं, जानते भी नहीं है, उससे कुछ माँगते भी नहीं है, और कहते हैं कि प्यारे तुम मौज में रहो, मैं तो तुम्हारे प्रेम में रहूँगा। तो इतनी स्वाधीनता आपको दे सके, परमात्मा ने भेज दिया, फिर भी अपने विकास के लिए, आप गलत-सलत काम किये जायें और विकास करने की बात आवे तो कहें कि परमात्मा कृपा करेंगे तब होगा, तो यह बड़ा भारी भ्रम होगा। इसलिए इस भ्रम को भी समाप्त करो। कृपालु सदैव कृपा कर ही रहे हैं। अपने पर जो दायित्व है उसको पूरा करके हम लोग आगे बढ़ जायें इसके लिए मानव सेवा संघ को बनाना आवश्यक हो गया।

अब हम शान्त हो जायें और संघ के सन्देश को अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए धारण करने में तत्पर होकर उसे भीतर-भीतर अपने ही द्वारा अपने आप दोहरा लें। यह सन्देश मेरा जीवन बन सका, एक भी व्यक्ति का जीवन इस सन्देश के अनुसार ढल सका तो मानव सेवा संघ अमर हो जायेगा। उसकी रजत जयन्ती सफल हो जायेगी।

प्रवचन27

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

हम लोगों ने मानव जीवन के उत्थान के लिए एक अचूक मंत्र सुना। यह स्वामीजी महाराज का अनुभूत सत्य है और मानव मात्र के जीवन का सत्य है। क्या? कुछ चाहोगे तो कुछ मिलेगा, कुछ नहीं मिलेगा और कुछ नहीं चाहोगे तो सब कुछ मिलेगा। यह मंत्र है।

चाह लेकर हम लोगों को शरीर धारण करना पड़ा है। यह चाह का ही परिणाम है। ऐसा नहीं है कि शरीर बन गया तो मुझको विवश होकर चाह रखना पड़ता है सो बात नहीं है। संकल्पों से प्रेरित होकर अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति के सुख की ओर आकर्षण होने के कारण शरीर और धारण करना पड़ता है। प्रकृति का विधान ऐसा ही है कि शरीर की शक्ति का अन्त हो जाए, शरीर का नाश हो जाए और इच्छाएँ शेष रह जाएँ तो उन इच्छाओं की पूर्ति के सुख के आकर्षण के कारण फिर शरीर धारण करना पड़ता है। इच्छाओं से प्रेरित होकर हम जन्म लेने के लिए बाध्य होते हैं। इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में इस जन्म का भी बहुत-भाग निकल गया। जब समझ नहीं थी तब इच्छाओं के फेर में पड़े रहते थे। बचपन में, छुटपन में जो उमंग उठती है, उस समय बालक संभव-असंभव कुछ नहीं समझता है, मन में कोई बात उठी तो वह मचल जाता है, अभी पूरा करो उसको। बचपन में जब समझ कम थी तो इच्छाओं की पूर्ति के लिए हम जीते रहे लेकिन प्रौढ़ होने पर जब जीवन की घटनाओं ने हमें यह बताया कि भाई, आज तक सृष्टि में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसकी सब इच्छायें पूरी हो गई हां। ऐसा हम लोगों ने कभी सुना नहीं है, और अपने सम्बन्ध में भी अब तक का जो समय बीत गया है अब तक के समय के भीतर जो कुछ भी घटनाएँ घटित हुई हैं, उनके आधार पर व्यक्तिगत रूप से भी हम सभी भाई-बहिन इस बात को जानते हैं कि जिनती इच्छायें उत्पन्न होती हैं सब पूरी नहीं होतीं। मालूम है कि नहीं? जी! सब

पूरी नहीं होतीं। तो यह एक ऐसा कठोर सत्य है जीवन का, जिसे हम सभी लोग जानते ही हैं और जिसे हम सब लोगों को स्वीकार करना ही पड़ता है।

संत जन हमें सलाह देते हैं कि जब यह बात तुम्हारी अपनी जानी हुई है, किसी के सिखाने-समझाने से नहीं, किसी ग्रन्थ के पढ़ने से नहीं, अपने ही जीवन की घटनाओं को देख करके इस बात को हर भाई, हर बहिन अच्छी तरह जानते हैं कि सब इच्छाएँ किसी की भी पूरी नहीं होती हैं। मेरी भी अब तक पूरी नहीं हुई। यह भी पक्की बात हो गई। हमारी जानी हुई बात हो गई। अब इसमें एक मनोवैज्ञानिक रहस्य देखो। मान लीजिए कि बचपन से जवानी तक, प्रातःकाल से सन्ध्या तक, कई बार, कई प्रकार की इच्छाएँ पूरी हो गई हों। एक ही दिन का मान लीजिये, सुबह से शाम तक। फिर भी अगर रात्रि सें सोते समय कोई इच्छा रह गई है, जिसकी पूर्ति दिन भर में नहीं हई तो इच्छा की आपूर्ति का जमदेपवद अर्थात् तनाव जो है वह दिन भर में जो दो-चार बार इच्छायें पूरी हुईं, उस पूर्ति के सुख से कुछ घटता है कि ज्यों का त्यों रहता है? कई बार इच्छा पूरी हुई, कई बार उसका सुख लिया लेकिन सन्ध्या समय सोते समय एक भी बात अधुरी रह गई तो वह दिल में वैसे ही खटकती है जैसे कि कभी किसी इच्छा की पूर्ति नहीं हुई हो। ऐसा हो जाता है। और मैंने तो इसका इतना भंयकर परिणाम देखा है कि कई बार आपने सुना होगा कि जब-जब बड़ी-बड़ी परीक्षाओं का त्मेनसज ;परिणामऋ निकलता है तो जहाँ-तहाँ सुनाई देता है कि एक विद्यार्थी रेल की पटरी पर लेट कर कट गया। प्प् ब्सं उंतो पाने वाले खुशी होकर मिठाई खाते हैं और खिलाते हें। प्ब्सं में प् च्वेपजपवद पाने की आकांक्षा थी और 2दक.3तक च्वेपजपवद हो गयी तो वह जाकर रेल की पटरी पर सोकर कट जाता है। सुना है, ऐसा होता रहता है। क्या हो गया? जिसने उम्मीद नहीं की थी कि मैं पास हो जाऊँगा उसको अगर 2दक ब्सं मिल गया तो उसके यहाँ खुशियाँ मनाई जाती है, आनन्द करता है वह। मित्रों से मिलता है, जुलता है। मिठाई खाता है, खिलाता है और जिसने सोचा था कि मुझको प्ज ब्सं.प्ज च्वेपजपवद मिलना चाहिए वह केवल १ज ब्से आने पर सन्तुष्ट नहीं होता कि चलो वहाँ तक तो पहुँच गया, पर जैसा ही बड़ा अन्धकार आ गया सामने जो कि किसी भी इच्छा की अपूर्ति पर होता है, यह नहीं कि क्या बात है, कोई हर्ज नहीं है, जाने दो इतना तो पहुँच गये, सो नहीं। बड़ी विचित्र बात है।

स्वामीजी महाराज को इन बातों का खूब अनुभव था और इस पर उन्होंने बहुत प्रकाश डाला कि भाई! मन की एक बात पूरी नहीं हुई, चाहे सारे दिन में दर बार मन की बात पूरी हो गई हो और एक भी अधूरी रह गई तो एक भी इच्छा की अपूर्ति व्यक्ति को उतने ही दुःख में, उतनी ही बेचैनी में, उतनी ही नीरसता में डाल देती है, जितनी कि कभी भी उसे रही हो।

आप सोचकर देखिए, अब क्या बताएँ? जब समझ नहीं थी तो बचपना कहलाया, हम इच्छा पूरी न होने पर रोये, हाथ-पाँव पीटे, सामान उठाकर फेंका, माता-पिता को तंग किया, भाई-बहिनों को तंग किया। जो भी कुछ हुआ, सब समाज ने, उदार माता-पिता ने भाई-बन्धुओं ने माफ कर दिया। बड़े होने पर जब जीवन का बड़ा चित्र सामने आता है तो उसके बाद भी अगर हम इच्छा पूर्ति के ही फेर में पड़े रहें तो मैं तो कहूँगी कि ऐसी हालत में मैं मानव कहलाने की अधिकारिणी नहीं हूँ। सोचिए, कि बेसमझी थी तो सबने माफ कर दिया। अब इतनी समझ होने के बाद भी इच्छा-पूर्ति के ही फेर में हम पड़े रहें तो

मैंने क्या सत्संग किया? क्या साधन किया? मैंने समझदारी का क्या उपयोग किया? सोचने की बात है। मानव सेवा संघ इस सिद्धान्त में विश्वास करता है कि हर व्यक्ति में अपनी आँखों देखने और अपने पैरों चलने की सामथ्र्य है। उसको याद दिला दो। भूल गया है, या जानते हुए भी पराधीनता-जनित सुख में डूबा हुआ उसकी याद करना नहीं चाहता है।

तो मेरे वश की बात नहीं है कि आप अपनी आँखों देखना न चाहें तो मैं आपको दिखा दूँ और आप अपने पैरों न चलना चाहें तो मैं चला दूँ। यह मेरे वश की बात नहीं है। तो महाराजजी ने क्या कहा? महाराजजी ने कहा कि देखो, ईंट पत्थर जोड़कर बहुत से महल बना लेना और बहुत बड़ी जनसंख्या का संगठन कर लेना, यह मानव सेवा संघ का उद्देश्य ही नहीं है। मानव सेवा संघ का उद्देश्य तो केवल इतना है कि व्यक्ति के जीवन में उसकी एक अपनी प्देपहीज अर्थात् अन्तर्दृष्टि जग जाये। एक अन्तर्दृष्टि उत्पन्न हो जाये कि वह स्वयं अपने जीवन को अपनी आँखों देखना आरम्भ कर दें, और उसे जीवन के लिए जो बात उपयोगी मालूम हो उस उपयोगी बात को मानकर उस पर चलना आरम्भ कर दे। यही मानव सेवा संघ का उद्देश्य है। हम अपनी आँखों से देखें और अपने पैरों पर चलें। अपनी आँखों देखने से क्या पता चला? यह पता चला-एक बात बड़ी जबरदस्त यह मालूम हुई कि सब इच्छायें मनुष्य की कभी पूरी होती ही नहीं हैं, इसको प्रकृति के विधान का दोष मत मानिए। इसको परमात्मा की कृति में दोष मत मानिए। मनुष्य की सब इच्छायें पूरी नहीं होती हैं तो इसमें प्राकृतिक विधान का दोष नहीं है। परमात्मा का दोष नहीं है क्योंकि इसमें मनुष्य का हित है कि उसकी सब इच्छायें पूरी नहीं हों। मानव-जीवन के लिये बड़ी भारी हितकारी बात है।

संत के पास बैठकर जीवन के अध्ययन का क्रम जब जारी हुआ तब यह रहस्य मेरी समझ में आया। विश्वविद्यालय में जाकर मनोविज्ञान के अध्ययन की गहराई में उतरना पड़ा! तब यह रहस्य मुझे मालूम हुआ। आप सोचिए कि जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों के संयोग में हम सदा के लिए ठहर नहीं सकते हैं, उनकी इच्छा करके कहाँ तक आदमी शान्ति और सन्तोष पा सकता है? पा ही नहीं सकता है। और क्या है? इसमें भी एक बड़ा भारी रहस्य है। वह क्या है? जैसे-जैस आपके भीतर कोई संकल्प उठे, कोई इच्छा उठे और यदिवह तत्काल ही पूरी होती चली जायें तो जल्दी-जल्दी से आपमें बड़ी मानसिक दुर्बलता आ जायेगी, क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति के बिना जो कष्ट होता है वही कष्ट जल्दी-जल्दी इच्छाओं की पूर्ति के सुख से भी हो जाता है, और हो रहा है। जल्दी-जल्दी इच्छा पूरी होने लगती है तो इच्छाओं की उत्पत्ति का प्रवाह बढ़ने लगता है। अपना अध्ययन करके देखियेगा कि अगर किसी संकल्प की पूर्ति की सामग्री और सहयोगी अपने पास दिखाई दें तो संकल्पों के उठने पर होता है। हो सकता है कि पैसा तो है, सहयोग देने वाले तो हैं, शारीरिक स्वास्थ्य तो अच्छा है, इतना खेल सकते हैं इतना घूम सकते हैं, इतना खर्च कर सकते हैं, इतना खा सकते हैं। उस समय व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप पर विचार करने की नहीं सोचता है। उस समय परमात्मा की याद नहीं आती है। इच्छाओं की पूर्ति की अगर सामग्री अपने पास हो तो आदमी अधिक से अधिक, जल्दी से जल्दी इच्छा पूर्ति के सुख को भोगने की सोचता है।

मैंने खुद अपना अध्ययन करके देखा है अनेक बार कि अगर सुविधा हो और उस सुविधा के बीच कोई संकल्प उठे तो आदमी उसको पूरा

करने की सोचता है, उसको रोकने की, मारने की नहीं सोचता। और मनोवैज्ञानिक सत्य क्या है? कि जितनी अधिक गतिशीलता आप अपने मन में और तन में रखेंगे उतनी ही अधिक शक्तिहीनता आप में आयेगी। इच्छा पूरी नहीं हुई तो उसके दुःख के कारण क्षुब्ध हो गये। क्षुब्ध होने से भी व्यक्ति दुर्बल हो जाता है। मानसिक शक्ति का ही ट्रास होता है। और जल्दी-जल्दी इच्छापूर्ति हो जाने के कारण वह दुर्बलता भी आपके लिए असमर्थता और नीरसता का कारण बनकर उसकी मानसिक विकृति में आपको डाल देगी जिस मानसिक विकृति में इच्छा की अपूर्ति डालती है।

स्वामीजी महाराज ने बड़ी रहस्य की बात बताई कि भाई, मनुष्य के जीवन में भौतिकता है तो दार्शनिकता भी है। दार्शनिकता है तो आस्तिकता भी है। जिन लोगों ने भौतिक शक्तियों को इच्छा-पूर्ति के साधन जुटाने में खर्च करना पसन्द किया, वैज्ञानिक खोज की उपलब्धियों ;साइन्टिफिक रिसर्चऋ को जिन्होंने मनुष्य की सुखद प्रवृत्तियों का सहयोग बनाया, उसके जीवन में आज बड़ी विक्षिप्तता है। ड्राइंस-रूम में बैठे हैं, तो एक रेडियों वहाँ बज रहा है, बाथरूम में स्नान करने गये ो वहाँ बज रहा है। हमारे यहाँ छात्रावास में लड़कियाँ पढ़ने बैठती थीं तो हमको तो बड़ा आश्चर्य होता था कि कौन सा ध्यान रेडियों सुनने में लग रहा है। आदत आज ऐसी हो गई है कि रेडियों खोलकर रख देंगी, उसमें से आवाज आती रहेगी और बैठकर पढ़ेंगी। यह क्या हो रहा है भाई? पढ़ने का अर्थ, मनोयोग से अध्ययन करने का अर्थ तो मैं यह समझती हूँ कि दूसरी कोई भी उत्तेजना तुम्हारे मस्तिष्क को आघात न पहुँचावे। एक ही ध्यान रखकर पढ़ो। सो नहीं। अब दिनभर क्लास में पढ़ने जायेंगी तो रेडियों सुनने का मौका नहीं है, छात्रावास में बैठेंगी तो ैजनकल ीवनते में पढ़ने के समय भी सुनने का मौका नहीं है और सुनने का सुख इतना जरूरी है कि चलो दोनों काम एक साथ करें। सोचिए, कि कितना मानसिक भार ;डमदजंस ैजतंपदऋ हैं। लेकिन इच्छापूर्ति के सुख का नाश ऐसा चढ़ा हुआ है कि उसके मारे जो मानसिक शक्ति डबल-डबल खर्च हो रही है, इतनी शक्ति का ट्रास हो रहा है उस पर ध्यान ही नहीं है। इच्छाओं की पूर्ति के उपादान का बहुत ज्यादा उपयोग करने पर भी मानसिक विकृति होती है। इच्छा की पूर्ति के दुःख के आघात से आदमी पागल होता है तो निर्बाध रूप से जल्दी-जल्दी संकल्प-पूर्ति करने से भी आदमी पागल होता है और आज हो रहा है।

संत महापुरुषों ने, हमारे ऋषियों-मनीषियों ने हमारे जीवन के इस विज्ञान को जाना। मानव-जीवन के दर्शन को जाना और उन्होंने हमारे रहन-सहन में प्रातःकाल से सन्ध्या तक, जब से होश सम्हाला तब से मरने के समय तक सारी सांस्ड्रतिक व्यवस्था और हम लोगों के नैतिक आचरण की सब व्यवस्था इस प्रकार से की कि व्यक्ति चाहपूर्ति के सुख से विमुख होकर सब प्रकार से अचाह होने की ओर चला जाये। आप देख लीजिये। पहले तो होश आते ही प्रकृति की गोद में रहकर गुरु के घर में जाकर गुरुकुल में पढ़ों, और धन कमाने लगे तो कमाये हुए धन को अकेले ही खाने की मत सोचो। बालक को खिलाओ, वृऋ की सेवा करो, रोगियों की सेवा करो, अतिथियों की सेवा करो, सन्तों की सेवा करो और जितने प्राणी घर में हैं, सब खा-पी लें, सब तृप्तहो जायें, तब धन कमाने वाले आदमी को खाने का अधिकार बताया। सबसे अन्त में तुम ग्रहण करो। फिर पैदा किए हुए बच्चे समर्थ हो गये तो अब जल्दी-जल्दी पारिवारिक दायरे को तोड़कर,

ममता के घेरे को छोड़कर, जिन बच्चों से, जिन वृद्धों से, समाज के जिन प्राणियों से तुम्हारा मोह का सम्बन्ध नहीं है उनकी सेवा करो और सेवा करने की शक्ति जब खत्म हो जाये, घट जाये, इन्द्रियाँ शिथिल होने लगे, उसके पहिले, प्राणशक्ति के रहते-रहते जल्दी से जल्दी संन्यासी हो जाओ। अर्थात् मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहंी चाहिए, मैं कुछ नहीं हूँ। इस व्रत को लेकर, सारे संसार से, शरीर से सम्बन्ध तोड़कर पार हो जाओ। तो आप देखिए-सारी व्यवस्था किस प्रकार की है कि चाहपूर्ति के सुख की ओर से हट कर अचाह होने की दिशा में चलो।

एक बार एक ट्रिप में मैं दार्जिलिंग गई थी। पढ़ाई के दिनों की बात है। च्लबीवसवहल की चर्चा चल रही थी। दो-चार वृऋ रिटायर्ड टीचर लोग मिल गये थे। ऐसे ही टहलने में भेंट हो जाती थी। कहने लगे कि आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव जीवन को ऊँचा उठाने को इतना काम किया है। मेरी बड़ी लालसा है मैं जानना चाहता हूँ कि हमारे पुराने मनीषियें ने मनोविज्ञान पर क्या लिखा है और भारतीय मनोविज्ञान के सम्बन्ध में मुझको कुछ जानकारी चाहिए, आप बताइये। तो मैं तो पढ़ रही थी उस समय वही आधुनिक मनोविज्ञान। बाहर के लोगों ने रिसर्च करके दे दिया, हम लोग बैठकर पढ़ते थे। तो अब हमें बताया गया और सोचने से मुझको पता चला कि भारत में जो बड़े-बड़े विद्वान हुए, जिन्होंने मानव जीवन के उत्थान के लिये बहुत सोच-विचार किया, उन्होंने मनोविज्ञान पर अलग से ग्रन्थ नहीं लिखा। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में, पैदा होने के पहिले से और मरने के बाद तक इतना मनोविज्ञान संस्कारों में, व्यवहार में, आचार में भर दिया, कि आप उसके अनुसार चलना आरम्भ करें तो अपने आप मनोवैज्ञानिक स्तर से ऊपर उठकर दार्शनिकता में पहुँच सकते हैं। भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के जीवन के किसी भी विज्ञान को जीवन से विभिन्न करके केवल अध्ययन का विषय बनाकर नहीं रखा है। जीवन के साथ मिला दिया। इतना मिलाया है, इतना मिलाया है कि स्वामीजी महाराज के पास आकर मुझे हमारे जीवन पर उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा और उसी आधार पर आज मैं आपकी सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ कि संकल्पों की अपूर्ति से जीवन में जो विकृति आती है, संकल्पों की अत्याधिक पूर्ति से भी वही विकृति आती है।

इसलिए प्रकृति का जो विधान है, परमात्मा का जो विधान है कि मनुष्य के जीवन की सब इच्छायें पूरी नहीं होंगी, यह विधान हमारे आपके जीवन के लिए परम कल्याणकारी है। सोचकर रख लो। कभी मत क्षुब्ध होना, कभी मत दुःखी होना। जब कोई इच्छा पूरी न हो तो एकदम शान्त हो जाना। सोचना कि इसमें मेरा बड़ा कल्याण है। इसलिए यह इच्छा पूरी नहीं हुई। ऐसा सोचने लगोगे तो चित्त में बड़ी शान्ति आ जायेगी। बड़ी चेतना आ जायेगी। इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व से ऊपर उठने की सामथ्र्य आ जायेगी। तब अपने पर क्रोध नहीं आयेगा। तब परिवार के लोगों पर क्षोभ नहीं पैदा होगा। तब वस्तु और व्यक्ति के स्तर पर जलभुन कर खाक होने की जरूरत नहीं पड़ेगी। तब वस्तु और व्यक्ति की पराधीनता से ऊपर उठकर परम आनन्द में प्रवेश करने की जिज्ञासा आरम्भ हो जायेगी। इसलिए मनुष्य के जीवन में इच्छाओं की अपूर्ति की घड़ी जो आती है, वह बहुत ही शुभ घड़ी है। एक बात हो गई।

अब इसके बाद देखो-दूसरा इसमें से कल्याणकारी तथ्य क्या निकलता है कि जब-जब व्यक्ति की इच्छापूर्ति में बाधा पड़ती है तो सजग

व्यक्ति उससे ऊपर उठने की चेष्टा करता है। उस दुःख से मुक्त होने की चेष्टा करता है। और उसमें बड़ा विकास होता है। महाराजजी ने जो कहा कि कुछ चाहोगे तो कुछ मिलेगा, कुछ नहीं मिलेगा और कुछ नहीं चाहोगे तो सब कुछ मिलेगा। यह बड़ा सत्य है। पहली बात तो यही आ गई कि कुछ चाहने को हम स्थान ही न दें अपने जीवन में। तो फिर आप कहेंगे कि काम कैसे चलेगा? कौन सा काम हमारा चल रहा है? इतने दिन इच्छाओं की पूर्ति के फेर में पड़े रहे तो आप सोचकर देखिए कि कौन सा काम मेरा चल गया। मकान नहीं था, मकान बन गया। काम चलगया? अगर मकान की ममता मुझमें बैठ गई तो काम चल गया कि काम बिगड़ गया। एक बड़ी पढ़ी-लिखी शिक्षिता बहिन मुझसे बड़ प्रेम रखने वाली-उसके पति ने मकान बनाया था और उनका ज्तंदेमित हो गया। दूसरी जगह चली गयी तब घबराकर उसने पत्र लिख कि दीदी, जल्दी कोई उपाय बताओ, मेरा दिमाग खराब हो जायेगा, नींद की गोली लेकर सो रही हूँ। क्या हो गया तुमको? पति बड़े आॅफीसर हैं। बाल-बच्चे हैं। ज्तंदेमित होकर गए वहाँ भी बढ़िया मकान मिला रहने के लिएये। तब क्या हो गया? हो क्या गया? मकान बनवाया था, पति और बच्चों के साथ उसमें आनन्द से रहती थी। पति महाशय का ट्रान्सफर हो गया। दूसरी जगह आ गई हूँ। दिन-रात मेरे दिल में बेचैनी हो रही है। ऐसा लगता है कि कोई परमप्रिय कुटुम्बीजन छूट गया हो। मकान बनाने की इच्छा थी, बनाया तो ठीक किया लेकिन उसकी ममता दिल में बैठ गई तो सुख मिला कि दुःख मिला। ममता छोड़ने से देहातीत जीवन मिलेगा उसे तो रहने दो एक तरफ। उसकी चर्चा पीछे करेंगे। यहाँ दुनिया में रहकर तो देखो कि जो चाहो सो हो गया और उसको मैंने पकड़ लिया, उसी को मैंने अपने सुख का आश्रय बना लिया तो उससे इस दुनिया में रहने में भी तकलीफ पैदा हो गईं दुनिया छोड़ने की तकलीफ तो दूर है। ऐसी हालत है। आप कहेंगे कि मकान नहंी बनाना चाहिए। ऐसी बात नहीं है। प्रकृति ने यह बिल्ंिडग ;शरीरद्ध बना दिया है तो इसको रखने को घर तो बनाना ही होगा। मकान बनाने में दोष नहीं है लेकिन उस मकान की कामना में, उसकी ममता में, फँस जाने में दोष है। बन जाये तो बन जाए। पुरुषार्थ करो, परिश्रम करो, व्यवसाय करो। हो गया तो हो गया, नहीं हुआ तो नहीं हुआ। इस तरह से यह बड़े गहन अध्ययन की बात है। अगर हम कुछ चाहते रहेंगे तो दुनिया में चैन से रहना भी नहीं होगा, मरना भी चैन से नहीं होगा। और जीवन सार्थक नहीं हो पायेगा।

महाराजजी ने कहा कि आदमी कुछ चाहता है तो कुछ मिलता भी है, लेकिन उससे गम्भीर बात यह है कि जब हम कुछ करने के लायक नहीं थे तब भी तो शरीर की जरूरी बातें पूरी हो रही थीं और एक शरीर की चिन्ता छोड़कर अनेक शरीरों की चिन्ता में आप लग जाते हैं, अनेक शरीरों की सेवा का दायित्व आप ले लेते हैं, तो एक शरीर के भरण-पोषण की सोचना पड़ता है क्या? नहीं सोचना पड़ता है। बहुत सोचने की बात है कि व्यक्ति एक जीवन के बारे में सोच-सोचकर कितना सीमित हो जाता है। कितना नीरस हो जाता है, कितना कठोर हो जाता है। कितनी चिन्ता के भार से दब जाता है। महाराजजी ने क्या कहा? एक के बारे में क्यों सोचते हो? सारी सृष्टि में इतने शरीर हैं, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े सहित इतने शरीर हैं। वह विराट प्रकृति, वह जगज्जननी इतने सारे शरीरों की चिन्ता कर रही है। सबको पाल रही है। तुम एक शरीर का भार लिये फिरते हो। क्यों सेचते हो भाई? अगर दुनिया में रहते हो तो अनेक शरीरों के साथ इस शरीर

की जरूरतों को भी मिला दो। पूरी हो जाये तो बढ़िया, नही हो जाये तो बड़ी खुशी की बात। तुम तो तिमम रहो, आजाद रहो।

महाराज जी ने क्या कहा? हम साधकों को संकल्पों से छुटटी पाने का एक बड़ा सुन्दर उपाय बताया। परेशान मत हो जाओ। क्या बताये हमारे तो संकल्प खत्म नहीं हो रहे हैं। क्या करो, कि जब कोई संकल्प उठे, जब कोई इच्छा उत्पन्न हो जाये, यह आज की बात मैं कह रही हूँ। हम और आप अचाह हो नहीं पाये। चाह रहित जीवन का दर्शन नहीं किया। तो हमारे और आपके लिये महाराज जी ने उपाय बताया। कहा कि तुम थोड़ा सावधान रहना और जब कोई इच्छा उत्पन्न हो तो इस इच्छा को सामने रखकर देख लो कि परिवार भर के हित में यह उपयोगी है कि नहीं। समाज के लिये यह इच्छा हितकारी है कि नहीं। भाई-बन्धुओं के लिए, माता-पिता के लिए, पति-पुत्र के लिए, सन्तान के लिए यह इच्छा हितकारी है कि नहीं? अगर ऐसी कोई इच्छा तुम्हारे मन में उठी जो परिवार भर के लिए हितकारी हो गया समाज के लिए हितकारी हो तो उसको दिल खोल कर पूरी करो। कोई दोष नहीं लगेगा। कोई नया राग उत्पन्न नहीं होगा और अगर इच्छा ऐसी है जो तुम्हारे व्यक्तिगत सुख-सम्पादन के लिये है तो उसको वहीं पर समाप्त कर दो। यह बड़ा भारी साधन है। अब देखिए-यह जो जीवन का एक वैज्ञानिक सत्य है, इसको हम लोग अपने सामने न रखें और सुबह-शाम, आधी रात को और समय-समय पर आसन मारकर समाधि लगाने की चेष्टा करें तो कभी लग सकती है? नहीं लगती। जब पूरे समाज के लिये, पूरे राष्ट्र के लिये, कोई संकल्प उठे तो उसको टाल दिया जाये कि अरे भाई! यह तो बड़े-बड़े नेताओं का काम है। मुझको खूब याद है-स्व. जवाहरलालजी जितने दिन प्राइमिनिस्टर थे, हम लोगों का ऐसा रवैया हो गया था कि छोटी कोई बात की तकलीफ होती तो जल्दी से जवाहरलालजी की याद आती। जवाहरलालजी ने यह नहीं किया, जवाहरलालजी ने वह नहीं किया।

आप देखिए कि हम लोग जीवन को चलाने में कितना गलत रवैय रखते हैं। और सत्संग करने बैठते हैं। तो सोचते हैं कि सब आँखें बन्द करो तो समाधि लग जाये। सो तो हो नहीं सकता। तो भाई! जब पूरे समाज के लिए, पूरे परिवार के लिए, पूरे आश्रम के लिए काम करने की घड़ी आवे तब हम सोचं कि यह तो सामथ्यवानों का काम हैं, जिनमें सामथ्य है वे लोग करेंगे। हमको क्या सोचना है? जब अपने सुख का कोई संकल्प उठे तो उसको हम येन-केन-प्रकारेण पूरा कर लेना चाहें। ऐसा तो रैवया रखें जीने का, और आँखें बन्द करके सोचें कि भगवान का दर्शन हो जाये-तो वह कोई हमारा नौकर है कि हमारे पुकारने से आकर हमारे सामने खड़ा हो जाये। लो मैं हाजिर हूँ। थोड़ी देर आँखें बन्द करने से मन नहीं लग सकता। समाधि नहीं हो सकती। योगिवत् होना सम्भव नहीं है, तत्त्ववित् होना सम्भव नहीं है। भगवत् मिलना सम्भव नहीं है। सम्भव ही नहीं है। इसलिए स्वामीजी महारज ने मानव सेवा संघ के प्रेमियों को यह जीवन-शैली सीखने को कहा। तुम्हारे जीवन का जो सत्य है, उसको स्वीकार करो तो तुम्हारा विकास होगा। अब आप देखिये। अगर आसन लगाकर आँख बन्द करके अभ्यास के बल पर संकल्पों का नाश आप अब तक नहीं कर सके तो उसी को पकड़े मत रहिए।

मानव सेवा संघ ने जो यह प्रैक्टिकल साधना बताई हम लोगों को कि कोई बात नहीं, डरो मत, चिन्ता मत करो। संकल्प उठते हैं तो

उठने दो, उनको देख लो। उनका अध्ययन कर लो और ऐसा कोई संकल्प जिसकी पूर्ति से निकटवर्ती जन-समुदाय का भी काम बन जाता हो तो इसमें खूब शक्ति लगा दो, और ऐसा संकल्प जो केवल तुम्हारे सुख-सम्पादन के लिये हो तो उसको तो अपने अधःपतन का कारण समझ कर, उसी समय इन्कार कर दो, क्योंकि अब तक के भोगे हुए सुख के प्रभाव से ही हमारी प्राणशक्ति दुर्बल हो गई है, हमारा चित्त चंचल हो गया है, हमारे अविनाशी जीवन पर पर्दा पड़ गया है। हम अपने परमात्मा से दूर हो गये हैं तो अब तक जितने सुख हम भोग चुके, उसी के प्रभाव ने हमको जीवन से वंचित कर दिया है तो अब कोई व्यक्तिगत सुखवाले संकल्प को मुझे पूरा नहीं करना है। अगर इतना भी व्रत लेने के लिये हम लोग राजी नहीं हैं तो किसी अभ्यास से समाधि का आनन्द आयेगा, वह आज तक हुआ नहीं, कभी हो सकता नहीं। किसी के लिए संभव नहीं। किसी समर्थ गुरु के पास वह ज ादू-मन्तर नहीं है।

हमारे परिवार के पुराने सम्बन्ध से माने हुए परिवार में भी एक घटना ऐसी हो गई कि कोई सामथ्र्यवान गुरु-कोटि के महापुरुष गाँव में आ गये थे। ऐसे महापुरुष के पास जाने के लिए तो आदमी दौड़ता ही है। संत जो बतायेगा, सो मानेंगे कि नहीं, सो हमारी तिममम बीवपबम याने मर्जी है, लेकिन आयेगा तो उसे घेरेंगे जरूर। सब लोग दौड़ पड़े। स्त्रियाँ भी, पुरुष भी। सब लोग दौड़ पड़े कि बड़े भारी महात्मा आये हैं। परिवार की एक प्रौढ़ महिला, उम्र में मुझसे कुछ बड़ी ही हैं वह भी पहुँच गई। क्या है भाई, क्या चाहिए? क्यों आई हो? तुमको क्या चाहिए? उन्होंने कहा कि मैं तो समाधि का आनन्द चाहती हूँ। सामथ्र्यवान पुरुष थे, उन्होंने अपनी शक्ति के बल से उनकी समाधि लगवा दी। बैठकर लोग बात ही कर रहे थे कि इतने में उस महिला को शरीर और संसार का भास छूटने में इतनी घबराहट पैदा हुई कि वे कई महिनों तक बीमार रहीं। क्या हो गया? विचार में से शरीर और संसार की ममता टूटी नहीं-जीवन में से अपने सुख के प्रलोभन का त्याग नहीं किया और महापुरुष ने अपनी सामथ्र्य के बल से शरीर और संसार का भास थोड़ी देर के लिए छुड़वाया उसी से उस महिला के ऐसी छमतअवने ब्वउचसपबंजपवद सवेनदात्मक उलझन पैदा हुई कि छः माह तक परिवार के लोग उनकी चिकित्सा कराते रहे। मैं साइकोलोजी पढ़ती थी। मेरे पास सूचना आई कि परिवार में ऐसा-ऐसा हुआ है। फिर जब उन महिला से मेरी भेंट हुई तो मैंने उनसे पूछा कि जीजी आपको हुआ क्या? उन्होंने सब हाल बताया।

पूज्य स्वामीजी महाराज ने तो किसी भी साधक को अपनी शक्ति से कुछ भी करवाना पसन्द नहीं किया। कभी नहीं करवाया। चाहते तो बड़े-बड़े चमत्कार दिखा सकते थे। बड़ी सिद्धियाँ उनके पास थीं। सिद्धियों के ऊपर तो वे पाँव चर्चा करते थे। यह रहस्य मुझे कब मालूम हुआ कि एक सिद्धि वाले साधु आ गये स्वामी जी के पास। सन्तों से बातचीत होती थी तो बड़ा मजा आता था। बैठकर जब चर्चा होने लगी तो वह कुछ सुना रहे होंगे, अपनी विशेषज्ञता बता रहे होंगे। स्वामीजी ने उनकी जाँघ को खूब थपथपाया और प्यार-दुलार से कहा-अरे यार! समाधि के ऊपर आसन लगाकर बैठ जा। आसन मारकर समाधि मत कर। प्राप्त समाधि के ऊपर आसन लगाकर बैठ जा। यहाँ तो समाधि लगाने ही में जिन्दगी खपी जा रही है। परन्तु स्वामीजी ने समाधि के ऊपर बैठ जाओ अर्थात् समाधि अवस्था से भी ऊपर उठने की सलाह दी।

तीन बातें फिर याद कर लो-

मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा कुछ नहीं है, मैं कुछ नहीं हूँ। यह अन्तिम बात है, मैं कुछ नहीं हूँ। अहं का नाश। किसी अनुभवीजन ने हम लोगों को सुनाया--

"जब हम हैं तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाँहि।

प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं।।

-कबीर

प्रवचन 28

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

भक्त होना सबसे ऊँची बात है मानव-जीवन की। मानव-जीवन का आरम्भ होता है कर्तवव्यनिष्ठा से। स्थूल स्तर से हम आरम्भ करते हैं जो लोग ऊँचा जीवन पसन्द करते हैं, वे सब प्रकार से परिवार और समाज के काम आना पसन्द करते हैं और ऐसा मैंने कई सज्जनों के साथ देखा है कि आरम्भ से ही अपने व्यक्तिगत सुख के प्रति ज्यादा आक£षत नहीं थे। परिवार को सुख कैसे मिले? समाज का हित कैसे हो? पड़ौसी को अगर कोई जरूरत है तो अपनी सुख-सुविधा को बाँट सकें, ऐसा स्वभाव जिनका था वे आगे चलकर बहुत सहजभाव से संत के सम्पर्क में आने पर जल्दी-जल्दी कई सीढ़ियाँ पार कर गये। बन्धन कम था। खिंचाव कम था। शान्ति अधिक थी। कोमलता अधिक थी। इससे वे बहुत अधिक प्रगति में आ गये। ऐसा मैंने महसूस किया। ऐसे भक्तों के उदाहरण हैं कि सचमुच न मुझे संसार से कुछ चाहिए अपने लिए, न मुझे स्वाधीनता के आनन्द में अकेले रहना है। तो संसार का सुख भोग, मोक्ष की स्वाधीनता, यह सब कुछ उस परम प्रेमास्पद परमात्मा पर न्यौछावर करने वाले वीर भी हुये हैं। बड़ी महिमा है उनके भक्तों की।

सामान्य दृष्टि से ईश्वर-विश्वासी भक्ति पंथ को आसान बताते हैं। आसान तो इसलिए लगता होगा कि विश्वासी स्वभाव है उनका। कोमल चित्त है उनका तो परमात्मा को अपना मान लेने में उन्हें कठिनाई नहीं मालूम होती होगी। इसलिए उनको लगता होगा कि सहज है। लेकिन महाराजजी ने ऐसा बताया कि जो किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार मानता है, जो अकिंचन नहीं हो गया है वह भक्त नहीं हो सकता। जो अचाह नहीं हो गया, वह भक्त नहीं हो सकता। तो अकिंचन हो जाना अर्थात् ममता रहित हो जाना। मेरा करके, इस सारी सृष्टि में कुछ भी नहीं है। इस बात को सच्चाई से अपने लिये मान लेना, यह तो दोनों ही पन्थों के साधकों के लिए अनिवार्य है, चाहे भक्ति पंथ के साधक बनो, चाहे ज्ञान पंथ के साधक बनो। जिसको अनुत्पन्न अविनाशी जीवन चाहिए उसको उत्पत्ति, विनाशयुक्त की ममता और कामना को छोड़ा ही पड़ेगा। ठीक है? जी। निजस्वरूप से अभिन्न होना चाहते हैं कि नित्यतत्त्व से नित्ययोग चाहते हैं। आपकी माँग में क्या है? आपके लक्ष्य में क्या है? कौन-सा शब्द आपने पसन्द किया? यह तो आपकी अपनी बनावट की बात है। तो किसी ने उस नित्यतत्त्व कहा, किसी ने उसे परमात्मा कहा, भगवान कहा। उनके भी अनेकों नाम और रूप हैं। अलग-अलग साधकों ने अलग-अलग ढंग से परमात्मा को माना। किसी ने उनको साकार माना, किसी न उनको निराकार माना। साकार में भी बहुत से नाम और बहुत से रूप माने। उन सारी बातों के होते हुए भी आप देखिये कि चाहे साकार के उपासक बनो, चाहे निराकार के उपासक बनो, चाहे साकार में भी किसी रूप के पसन्द करने वाले भक्त बनो। इस सब बातों से कोई अन्तर नहीं आता।

आपको यदि उत्पत्ति विनाश युक्त कोई भी वस्तु चाहिए और किसी भी वस्तु में आपकी ममता है तो जिसको बनने-बिगड़ने वाला संसार चाहिए, उसकी कभी न मिटने वाले अविनाशी परमात्मा में भक्ति नहीं जम पायेगी। जितने भी ईश्वर-विश्वासी साधक अपने में भगवत्-भक्ति बढ़ाना पसन्द करते हैं, उनके जीवन में कहाँ-कहाँ रुकावट आ गई है, इस पर उनकी दृष्टि पड़ जाये तो अच्छी बात है। वे सँभाल लेंगे अपने को। अपने ही को सँभालना है। अपने ही द्वारा रास्ते की बाधाओं को दूर करने में हम लोगों को अपने ही आप पुरुषार्थ करना पड़ेगा। और अगर कोई बाधा ऐसी दिखती है जिसके मिटाने में अपना कोई पुरुषार्थ चल नहीं रहा है, निर्बलता मालूम होती है तो उस अपने असमर्थता की वेदना भी अपने ही भीतर उपजेगी। तभी तो काम बनेगा। जहाँ तक अपना वश चलता है, उतना चला लेना है और जहाँ से असमर्थता आरम्भ हो गई, उस घोर असमर्थता के चवपदज पर पहुँच जाना मुझे साधक मात्र के लिए बहुत ही शुभ मालूम होता है। जो कुछ अपने द्वारा किया जा सकता है, वह जल्दी-जल्दी करके पूरा नहीं किया, थोड़ा-थोड़ा करते भी हैं, थोड़ा-थोड़ा अपनी सामथ्र्य का भरोसा भी रहता है, और थोड़ी-थोड़ी असमर्थता में फँसे भी रहते हैं, इस द्वन्द्व में बहुत-सा समय निकल जाता है। कुछ देर अगर मन लग गया साधन में, तो मालूम होता है मैं तो बहुत अच्छा साधक हूँ, मेरा मन लगता तो है। पूरा नहीं लगा और भटक गया, तो अखण्ड तो हुआ नहीं, फिर भी कुछ-कुछ अपने को सहारा मिल गया, थोड़ा भरोसा हो गया, बस इस द्वन्द्व में समय निकलता चला जाता है। इसलिये इन दोनों बातों को अच्छी तरह समझ लीजिए-और अकेले बैठकर के स्वयं अपने साथ हम लोग सत्संग करें। किस रूप में, कि भगवत् अनुरागी संत ने जो बातें बताई हैं उनका अनुसरण करें, देखें कि वे बातें पूरी हो गई हैं क्या नहीं? अगर नहीं हुई हैं तो उनको पूरी करने का प्रयास करें। सफलता मिल गई तो वह भी उनकी कृपा है। विचार का पक्ष उन्होंने जीवन में दिया तो यह भी उनकी कृपालुता है। आस्था श्रद्धा का तत्त्व उन्होंने मुझे दिया है, यह भी उनकी कृपालुता है। सफलता मिल गई तो यह भी उनकी कृपालुता है। अभिमान की कोई बात नहीं है और सफलता अगर नहीं मिली तो भीतर से एक बहुत गहरी अन्तर्वेदना आरम्भ हो जानी चाहिए।

आपने पहले भी सुना होगा और अब भी सुन रहे हैं। स्वामीजी महाराज के साहित्य में पढ़ा होगा, अन्य भगवत्-अनुरागी भक्तों और संतों की वाणी में भी पढ़ा होगा, सुना होगा कि उस नित्य तत्त्व से अभिन्न होने के लिए, परम-प्रेमास्पद प्रभु से, उनके प्रेमरस से, अभिन्न होने के लिए परम व्याकुलता चाहिए। यह आखिरी बात है। अपने द्वारा कुछ करने के लायक बाकी रहा नहीं और उनसे अभिन्न हुए बिना अब वियोग सहन होता नहीं। दूरी और भिन्नता सही जाती नहीं। तो दूरी सही नहीं जाती और कुछ करने से यह बात पूरी हुई नहीं, तो करना कुछ शेष नहीं और मिले बिना रहा नहीं जाता। तो ऐसी घड़ी जल्दी से जल्दी हमारे, आपके जीवन में आ जाये, इस पर मैं ध्यान देना चाहती हूँ। अपने लिए भी और आपके लिए भी। कोई कारण नहीं है कि दूरी बनी रह जाये। कैसे दूरी रह सकती है? जिससे दूरी है ही नहीं, मुझे दूरी का केवल भ्रम ही हो गया है। जिससे भिन्नता है ही नहीं, भिन्नता का भ्रम हो गया है मुझे, तो उसका भ्रम नाश कैसे नहीं होगा? कल की चर्चा में जैसे बात आई कि अत्यन्त रहस्यमय और बहुत छिपे हुए लगते हैं, भगवान, तो संत की वाणी को याद किया, मैंने, और आपकी सेवा में उसको

दोहराया। महाराजजी ने कहा कि वे कहाँ छिपेंगे? भाई, क्या वे इतने छोटे से हैं जो कहीं छिप जायेंगे और उनसे बड़ा और क्या है जिसमें वे छिप जायेंगे? तो उनसे बड़ा कुछ है नहीं। वे असीम है, अनन्त हैं, छिप नहीं सकते हैं। अपने को ऐसा लगता है कि क्या बतायें? भीतर खोजो तो दिखाई नहीं देते हैं। बाहर देखो तो दिखाई नहीं देते हैं। क्या होता है? बाहर देखो तो विविध रूप संसार दिखाई देता है और आँखें बन्द कर लो तो भीतर अन्धकार हो जाता है। कहाँ है परमात्मा? ऐसा लगता है अपने को। यह जड़ता का प्रभाव है। शरीरों से सम्बन्ध मान कर संसार का सुख लेना मैंने पसन्द किया, इसलिए जड़ जगत की जड़ता का प्रभाव अपने पर छा गया। जिन शारीरिक शक्तियों से मैंने अपना तादात्म्य कर लिया है, इन्द्रियों से अपना तादात्म्य कर लिया है, तो आँखों से जिनमें भौतिक प्रकाश की लहरियों को ग्रहण करने की शक्ति है, इनसे जब मैंने तादात्म्य ग्रहण कर लिया तो इनकी जो सामथ्र्य है उसी के अनुसार मुझे दिखाई देगा और क्या दीखेगा? और भौतिक तत्त्व के पार जो अलौकिक अस्तित्वहै, जिसमें आनन्द ही आनन्द है, जिसमें रस ही रस भरा है, जिसमें बने-बिगड़ने वाला कुछ है ही नहीं, वह कैसे दीखेगा इन आँखों से? इसलिए जब हम दृष्टि इन्द्रियों से अपने को मिला लेते हैं, तो आँखं खोलो तो विधिरूप दृश्य दिखाई देते हैं और उनसे तादात्म्य रखकर के आँखों को बन्द कर लो तो प्रकाश की लहरियाँ जब भीतर नहीं जायेंगी तो अन्धकार कर अतिरिक्त और क्या दीखेगा जी! अन्धकार रहेगा तो यह दशा हो जाती है।

ईश्वर में विश्वास करने वाले हम लोग हैं और जब-जब उनकी कृपालुता उनकी महिमा की वार्ता होने लगती है, बहुत अच्छा लगता है, बड़ा प्रिय लगता है। बड़ा सहज। भीतर से उस परम प्रेमास्पद की प्रेम रस की प्यास जो है वह कभी मिटेगी नहीं। दृश्य जगत के संयोग से जीवन को सरस बनाने की चेष्टा में कितनी भी उम्र बिता दो, कितनी भी शक्तियों का नाश कर दो, और कितने भी सुख-लोलुप बन जाओ, और कितनी भी शक्ति इन्द्रिय-लोलुपता में नष्ट कर दो, फिर भी भीतर की जो बनावट है, मौलिक तत्त्व है, जिसमें प्रभु प्रेम की प्यास है वह प्यास कभी भी मिटती नहीं है। वह रहती है। इसलिए जब बाहर चर्चा होने लगती है भक्त और भगवान की, प्रेमी और प्रेमास्पद की तो उस चर्चा के प्रभाव से हम सब भाई-बहिनों के भीतर वह तत्त्व फिर जाग्रत होने लगता है। उसका उद्भाव होने लगता है। अपने को बड़ा अच्छा लगने लगता है। यह बात मुझे बहुत पसन्द आ गई और कई अंशों में इसने मुझे निर्भय कर दिया। स्वामीजी महाराज ने इस पर मेरी दृष्टि दिलाई और कहा कि डरने की कोई बात नहीं है। चूंकि उसी अविनाशी से तुम बनाये गये हो इसलिए मौलिक रूप से उसकी सब बातें तो तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं ही। कितने भी भूलों, भटको, कुछ भी करो। तो परम प्रेम की प्यास कभी मिटती नहीं है और पूरी होती है जरूर। जब बाहर की ओर देखना बन्द कर दोगे, जब उत्पत्ति और विनाशयुक्त को अपने लिये नापसन्द कर दोगे तो अनुत्पन्न अविनाशी की विद्यमानता का आनन्द तो आ ही जायेगा, प्रत्यक्ष हो जायेगा। सदा के लिये अनदेखा परमात्मा अनदेखा नहीं रहता है। सदा के लिए अनजाना, अनजाना नहीं रहता है। उसकी विद्यमानता है। और यह बात मुझको बहुत अच्छी लगती है कि वह परमात्मा स्वयं हमारे जैसे भूले-भटके को अपनी विद्यमानता का प्रमाद देने में बहुत कुशल है। कभी-कभी ऐसा अच्छा लगता है। कितनी बढ़िया बात है। विश्वास न कर सको, तब भी मत डरो। क्यों न डरो? अगर विश्वासी होने की हम

आवश्यकता अनुभव करेंगे तो वे परम उदार अपना विश्वास जमा देंगे हममें। कितनी बढ़िया बात है।

भक्त के हृदय में परमात्मा के अतिरिक्त और किसी के लिये स्थान नहीं होता है। इसको भी महाराज की वाणी में सुनाऊँ मैं आपको-बात होने लगी तो कहने लगे कि भाई देखो, वे बड़े प्रेमी हैं। प्रेम-करना जानते हैं। प्रेम स्वरूप ही हैं। लेकिन एक बात है, वे तुम्हारे भीतर, बाहर सब प्रकार से भरपूर होकर तुम्हें जता देंगे, बता देंगे और तुम्हारे आपे को, यह जो अपना एक आपा होता है जिसका अपने को आभासा होता है कि "मैं हूँ" इसको भी वे प्रेम की धातु में परिवर्तित करके अपने से मिला लेंगे। इन सब बातों में वे बड़े कुशल हैं। लेकिन एक बात जरूर है, अगर उनके अतिरिक्त इस संसार का एक छोटा से छोटा पदार्थ भी तुमको पसन्द है, तुम्हारे पास है कि नहीं गोली मारो, होगा कि नहीं होगा, यह तो विधान जाने। देगा, तब न तुम्हारे हाथ में आयेगा और नहीं तो क्या करोगे? वस्तु का मिलना न मिलना यह तो विधान की बात है। लेकिन अगर किसी छोटे से छोटे अन्य पदार्थ के लिये गुंजाइश है तुम्हारे भीतर, पसन्दगी है, तो उनको आना अच्छा नहीं लगता। वे तो तुम्हारे भीतर अपने लिए पूरा खाली स्थान चाहते हैं। पूरा रिक्त करो अपने को। कुछ मत रखो उसमें।

अब मैं क्या बताऊँ, संत की करुणा। जितना ही मेरे भीतर अविश्वास था उतनी ही उनकी करुणा उमड़ती है। जितना ही मैं अपने पुरुषार्थ का अहं लेकर बैठी, उसमें मेरी कोई बनावटी बात नहीं थी, मुझे ऐसा ही लगता था कि स्वामीजी महाराज बार-बार कह रहे हैं कि देवकीजी! तुम एक बार कह दो कि हे प्रभु! मैं तेरी! हे प्रभु! मैं तेरी शरण हूँ, हे प्रभु! मैं तेरी शरण हूँ। इस बात को महाराजजी ने बहुत बार कहलावाना चाहा और मैं अपने स्वाभिमान में ऐंठी रही। तो मेरे भीतर ऐसा लगे- कि भाई, और उन्होंने नहीं सुना और मुझे पसन्द नहीं किया, तो इस बेबसी को कौन बर्दाश्त करेगा। इसलिए जल्दी से मैं कहती ही नहीं थी। भीतर-भीतर संदेह रखो और ऊपर-ऊपर कहते रहो, यह बात मुझे सहन नहीं होती थी। एकदम नहीं सहन करती थी। महाराजजी से मैंने कहा कि महाराजजी! इस प्रकार का व्दम.पकमक तमसंजपवद ;इकतरफा सम्बन्धऋ मुझे अच्छा नहीं लगता। व्दम.पकमक तमसंजपवद हुआ न! उधर से भी कुछ आश्वासन मिले तब मैं जाऊँ कहने के लिये कि हे प्रभु! मैं तेरी। तो वे कहें, हाँ भाई, मैंने सुन लिया।

गपशप नहीं कर रही हूँ, आपका दिल बहलाव नहीं कर रही हूँ। बिल्कुल सच्ची बात निवेदन कर रही हूँ। मेरे भीतर ऐसी ही दुविधा थी कि भाई, मैं कहूँ और वे मान लें। तो उससे अच्छी कोई बात हो ही नहीं सकती। लेकिन न जाने क्यों मेरे भीतर कठोरता भरी है, संसार की ओर से जो निराशायें मिली उनका क्षोभ भीतर भरा है, जड़ता भरी है, कठोरता भरी है, क्षोभ भरा है, उसमें उस अत्यन्त कोमल, नवनीत से भी अधिक कोमल परमात्मा की कोमलता का आभास कहाँ से हो? मुझको तो कुछ पता ही नहीं था कि वे कितने कोमल हैं और हम लोगों के प्रति कोमलता का भाव रखते हैं। कितना उनके हृदय में भटके हुए मनुष्य को आनन्दमय जीवन देने की उत्सुकता है, इसका तो हमको कुछ पता ही नहीं था। मैं क्या जानूँ? तो मैंने दो-चार बार सन्देह भी किया, फिर अन्त में मुख खोलकर ऐसी कठोर बात का वर्णन भी किया कि महाराज यह एकतरफ सम्बन्ध जचता नहीं है तो, ऐसे अधीर हो गये स्वामीजी महाराज, इतना व्यथित हो गये। भीतर से एकदम

करुणा उमड़ पड़ी और कहने लगे कि ऐसी बात नहीं है देवकी जी, ऐसी बात मत कहो और कितना उनका विश्वास अपने प्रेमास्पद के प्रति, कितना उनको प्रत्यक्ष अनुभव था उस परममित्र की करुणा का, कोमलता का, मित्रता का। एकदम से हृदय थाम कर, मुट्ठी बाँधकर अपने को संभालने लग जाते, मेरी कठोरता की वाणी को सुनकर, कभी-कभी कहते कि ऐसे कठोर वचन सुन सकता हूँ? देवकीजी! अगर कोई पे्रेमी हृदय होता तो हृदय फट जाता ऐसी कठोर बात सुनकर। फिर अपने को सँभाल समेट कर मुझे बताया-नहीं, नहीं, नहीं! ऐसी बात नहीं है। अरे लाली! वे तो जानते ही हैं तुम उनकी अपनी हो। तुम भूल गई हो। मेरे कहने से तुम मान लो। पलड़ा तो उन्हीं का भारी निकला। भाई, अब क्या करें? वे तो जानते ही हैं। जितने हम लोग यहाँ बैठे हैं अथवा यहाँ नहीं बैठे है अथवा कहीं भी हैं, वे सबके लिए जानते ही हैं कि वे उनके अपने हैं। उनकी तो पक्की जानकारी है। उन्होंने अपने में से ही हम लोगों को बनाया है, अपना-अपना कर के। विस्मृति का दोष उनमें नहीं है। अनन्त माधुर्यवान हैं वे। अपने प्रेम के साम्राज्य से वे हमें निकाल नहीं सकते। अनन्त माधुर्यवान होने का अर्थ ही यह है। अपने प्रेम के साम्राज्य में से वे निकाल ही नहीं सकते। तो भूल तो केवल मेरी ही है कि जड़ धातु से रचित-शरीर और संसार से अपना लगाव बनाकर जड़ता-कठोरता-नीरसता मैंने अपने भीतर भर ली जिससे उनकी करुणा और उनकी कोमलता का दर्शन ही नहीं होरहा है। अविश्वास बन रहा है। विश्वास करती हूँ, हारकर के, तो बुद्धि अपना जोर लगाकर सन्देह पैदा कर देती है।

ऐसी हालात में भी सन्त की करुणा, प्रभु की कृपालुता साथ देती है। उस समय ये सब अनमोल वचन मुझे सुनने को मिले, जिनसे कि विश्वास बढ़ गया, सन्देह मिट गया। वह क्या? कि भाई, उनको तो याद है, वे नहीं भूलते हैं। विस्मृति का दोष उनमें है ही नहीं। वे तो जानते ही हैं कि हम सब उनके अपने हैं। अपनी ओर से अपने को मान लेना है। तो यह एकतरफ सम्बन्ध नहीं है। जितना मेरी ओर से चाव है कि दुनिया की ठोकरें खा करके सुख और दुःख के द्वन्द्व में फँस कर के थका हुआ व्यक्ति उस परम विश्राम देने वाले में जाकर विश्राम पावे। यह जो मेरी आवश्यकता हुई, इसमें मेरा प्रयास बहुत थोड़ा है, बहुत दुर्बल है और संदेहास्पद है। लेकिन उनकी ओर से जो कोमलता का व्यवहार है, अपने का व्यवहार है वह तो इससे बहुत अधिक है। यह बात पूरी तरह से बैठ जाये, विश्वासपंथ के साधकों में तो आँखों के सामने जड़ता का प्रभाव मिटने में देर नहीं लगती। बाहर तो ज्यों का त्यों ही है। कोई नहीं जानता कैसा है? लोभी को धन दिखाइ्र देता है और संसार को पसन्द करने वाले को संसार सुखरूप दिखाई देता है। जड़ता में फँसे हुए को सत्य में जड़ता का भास होता रहता है, भ्रम होता रहता है। विवेकीजन का यहाँ निरन्तर परिवर्तन दिखाई देता है और जब वे इन्द्रिय-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि से पार पहुँच जाते हैं तो उनको दृश्य दिखता ही नहीं है। एक ही रह जाता है। जो प्रभु के प्रेम से भर जाते हैं। तो प्रीति भरी दृष्टि से देखो तो जित देखूँ उत श्याममयी है और कुछ है ही नहीं। तो बाहर कैसा है। कौन जाने। अपने व्यक्तित्व में परिवर्तन आता-जाता है। दृष्टि बदलती जाती है। सृष्टि बदलती जाती है। दृष्टि से पार कर जाओ तो सृष्टि लुप्त हो जाती है। बात खत्म हो गई। इस ना कुछ के पीछे सब कुछ गँवा देना बड़ा भारी भूल है। समय हो गया। इस भूल को मिटाना भी वर्तमान का पुरुषार्थ है। अब शान्त हो जाओ।

प्रवचन 29

पूज्य सन्त महानुभाव सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयों!

जिस अनन्त की अहैतुकी कृपा से हम सभी भाई-बहिनों को मानव-जीवन मिला है, उन्हीं की अहैतुकी कृपा से इस जीवन में सत्संग का यह अवसर मिला है। स्वामीजी महाराज ने सत्संग को मानव जीवन का स्वधर्म बताया। सत्संग हमारा स्वधर्म है। इसका अर्थ यह है कि सत्संग करने से, अर्थात् स्वधर्म के पालन से हमारी सभी मौलिक समस्याओं का समाधान हो जाता है। मौलिक समस्यायें क्या है? मुझे व्यक्तिगत रूप से शांति, मुक्ति और भक्ति कैसे मिले? सामूहिक रूप से पारस्परिक विश्वास और प्रेम कैसे बना रहे? मानव-जीवन की समस्याये हैं ये। इन समस्याओं का समाधान सत्संग से होता है।

सत्संग का अर्थ क्या होता है? मानव सेवा संघ ने एक विशेष अर्थ हमारे सामने रखा कि सत्संग का अर्थ है, अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग। ऐसा इसलिए कि जिसे सत् कहते हैं, वह हमसे दूर नहीं है, अलग नहीं है, वह सर्वत्र है, सदैव है, सभी में है। सत् की सत्ता के बिना हम लोगों में से किसी भी अपने कोई हस्ती नहीं है। जो सत् नित्य निरन्तर सभी में विद्यमान है उसका क्या संग करोगे? उसके संग के बिना तो एक क्षण की भी जिन्दगी नहीं है। तो उसके संग में तो हैं ही। परन्तु अपने जाने हुए असत् के संग के कारण सत्य की विद्यमानता का आनन्द हमें नहीं आता। अपने जाने हुए असत् के संग के त्याग से बड़ा भारी उत्थान होता है मानव के जीवन में। बुराई को बुराई जानकर त्याग देना। यह मानव-जीवन के विकास की सबसे पहली आवश्यकता है और ऐसा करने से हम सभी लोग सर्वदा स्वाधीन भी है।

स्वामीजी महाराज ने हमें यह सुझाया और मानव-जीवन के विकास के क्रम में क्या-क्या बातें हो सकती हैं इस पर उन्होंने जो साहित्य लिखवाया, उसमें भी इन बातों का खूब विस्तृत विवेचन करवा दिया है। उसमें एक जगह ऐसा प्रसंग आया है कि आप-अपने ही द्वारा अपने जाने हुए असत् को जीवन में रखना पसन्द करं तो एक गुरु की तो कौन कहे सारे संसार के सब गुरुओं को इकट्ठा कर दिया जाये तो भी सब मिलकर आपका उद्धार नहीं कर सकते। और ठीक इसके विपरीत निज ज्ञान के प्रकाश में देखकर यदि आप अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करे दें, तो दुनिया की बड़ी से बड़ी शक्ति आपके विकास को रोक नहीं सकती। यह मानव-जीवन की महिमा है। यह आपके जीवन की विशेषता है और इस विशेषता को, जीवन की इस महिला को, हम लोग अपने द्वारा स्वीकार नहीं करते हैं, उससे काम नहीं लेते हैं, इसलिए व्यक्तिगत जीवन की अशान्ति नहीं मिट सकती, सत्य और प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और अपनी जानी हुई बुराई का त्याग हम लोग नहीं करेंगे तो सुन्दर समाज का निर्माण भी नहीं हो सकता। बलपूर्वक बुराई को रोकना, आन्दोलन कहलाता है। महाराजजी ने ऐसा अर्थ लिया है कि "हम बलपूर्वक दूसरों को बुराई करने से रोक दें, तो यह आन्दोलन है।" बलपूर्वक बुराई रोकने सेआज तक समाज बुराई रहित हो नहीं सका।

अपने निज विवेक के प्रकाश में देखकर मनुष्य जब स्वयं अपने आप में यह निश्चय कर ले कि मैं मानव हूँ, मैं साधक हूँ, मेरी माँग है, मेरे जीवन की समस्यायें है। उनको मुझे सुलझाना है तो व्यक्तिगत कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में पहला कदम है कि मैं अपने द्वारा यह

निर्णय लूँ कि कभी भी किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई नहीं करूँगा। तो जब व्यक्ति अपने द्वारा अपने जीवन में सुधार लाने के लिए तत्पर होता है, स्वेच्छा से जीवन को बुराई रहित बनाने के लिए जब तत्पर हो जाता है तो इसको महाराजजी ने 'क्रान्ति' कहा है।यह क्रान्ति है, अपने द्वारा बुराइ न करने का व्रत क्रान्ति है और बलपूर्वक बुराई रोकने की क्रिया आन्दोलन है। तो मानव जीवन में जो स्थायी सुधार होता है, व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में जा प्रगति होती है, वह जीवन में क्रान्ति के द्वारा होती है, आन्दोलन के द्वारा नहीं। दूसरों से दबाव से बुराई करने की बात को छोड़ने के द्वारा नहीं। भय से या प्रलोभन से कुछ देर के लिये बुराई करना छोड़ने से स्थायी सुधार नहीं होता है। सत्संग के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् के संग के त्याग से व्यक्ति का व्यक्तिगत कल्याण होता है और सुन्दर समाज का निर्माण भी होता है।

एक बात महाराजजी ने यह बताई जो मानव सेवा संघ के रूप में हम सभी भाई-बहिनों के सामने है और आप सोच करके देखिये, संत महापुरुषों के पास जब लोग आते हैं तो क्या प्रश्न लेकर आते हैं? महाराज मुझे शान्ति चाहिए, बड़ी अशान्ति है। शान्ति कैसे मिलेगी? बताइये मैं क्या करूँ? कोई आकर कहते है, महाराज! मुझे बहुत दिन हो गये अभ्यासकरते हुए, अभी तक मेरा ध्यान नहीं लगता है बताइये, मैं क्या करूँ? संत के पास इस तरह के प्रश्न लोग लेकर आते ही हैं। महाराज! भगवान का भजन करना चाहते हैं, मन नहीं लगता। बताइये क्या करें? तो मैंने ऐसा सुना, महाराजजी के साथ सत्संग की मण्डली में विचरण करने का और वार्ता सुनने का जो अवसर मुझे मिला, उसमें मैंने ऐसा सुना है कि बहुत अधीर होकर जब कोई साधक पहुँचता और कहता, ध्यान नहीं लगता, क्यों करं? भजन नहीं बनता, क्या करें? जीवन में परिवर्तन नहीं आता, क्या करें? तब स्वामीजी महाराज बहुत ही मुक्त कण्ड से कह देते। भैया! कुछ मत करो। तब बड़ा आश्चर्य हो जाता, प्रश्नकत्र्ता अचकचा जाता। ये क्या बात हो गई। बहत ही व्यथित होकर के एक बार मेरे प्रश्न करने पर महाराजजी ने यह उत्तर दिया, कहा कि -देवकी! सारी जिन्दगी का थका हुआ आदमी, पैदा हुआ तो माता-पिता ने कहा कि ये करो, ये करो। पढ़ने-लिखने के लिये पाठशाला में गया, विद्यालय, महाविद्यालय में गया तो पढ़ाने वाले अध्यापकां ने कहा कि ये करो, ये करो। अब सारी जिन्दगी का थका हुआ आदमी मेरे पास आया है, परित्राण के लिए तो मैं भी कह दूँ-ये करो, ये करो। इसलिए मैं कहता हूँ कि कुछ मत करो। यह बात बिल्कुल सत्य है। अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग मैं न करूँ तो किसी उपदेशक का उपदेश मुझको शान्ति नहीं दे सकता और अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग जो है, यह कोई क्रिया नहीं है, इसमें श्रम नहीं है, इसमें पराधीनता नहीं है। यह तो केवल मानव-जीवन की चेतना में जागृति आने की बात है।

महाराजजी ने यह सलाह दी, और यह बात इतनी सत्य है, इतनी सत्य है कि बाद में मैंने जितना भी विवेचन किया इस प्रश्न को लेकर, तो प्रतीत हुआ कि यह वैज्ञानिक सत्य है, यह दार्शनिक सत्य भी है और यह आस्तिकता का सत्य भी है। वैज्ञानिक सत्य क्या है? वैज्ञानिक सत्य यह है कि किसी प्रकार की क्रियाशीलता में शक्ति का ट्रास होता है। होता है कि नहीं? चलना शुरू करो, बोलना शुरू करो, चिन्तन शुरू करो, पढ़ना शुरू करो, लिखना शुरू करो, तो शक्ति का ट्रास होता हे।

क्रियाशीलता से शक्ति का ह्रास होता है और विश्राम से, कुछ नहीं करने से, अप्रयत्न होने से शक्ति संचित होती है। तो व्यक्ति के जीवन की समस्या शक्ति के ह्रास होने से खत्म होगी कि संचित होने से? संचित होने से। शक्तिहीनता में नीरतसा है। शक्तिहीनता में वृद्धावस्था है। शक्तिहीनता में मृत्यु है। शक्तिहीनता में सब तरह की असमर्थता है। तो भाई! जीवन कैसे मिलेगा? वैज्ञानिक सत्य यह है कि कुछ मत करो और जो नित्य निरन्तर अविनाशी तत्त्व है वह आप ही में विद्यमान है। उसके सम्बन्ध में हम लोगों ने तीन विशेषण बड़े जोर के सुने-वह सत्य है, वह आनन्दमय है औ वह रस रूप है। सच्चिदानन्द स्वरूप हम लोगों ने सुना है ना। तो जो सत्य होता है वह आनन्दमय भी होता है। जो आनन्दमय होता है वह प्रेम स्वरूप भी होता है और वही सत्य हम सभी भाई-बहिनों में इस क्षण भी विद्यमान है।

जिस समय पांच भौतिक तत्त्वों से बने हुये असत् शरीर के संग में बैठकर वाणी का सहारा लेकर, असत् का सहारा लेकर, मैं बोल रही हूँ और असत् का माध्यम स्वीकार करके आप सुन रहे हैं, ये बोलने की और सुनने की क्रियाएँ जो सम्पन्न हो रही हैं, वे असत् के माध्यम से सम्पन्न हो रही हैं। शरीर का सहारा लेकर जिस समय हम लोग कहने और सुनने की क्रिया का सम्पादन कर रहे हैं, उस समय भी वह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप नित्य तत्त्व, अविनाशी तत्त्व हम लोगां के साथ विद्यमान है कि नहीं? उसके नहीं होने से तो यह कहने और सुनने की क्रिया भी सम्भव नहीं हो सकती है। तो महाराजजी ने कहा, कि जो अपने ही में विद्यमान है, नित्य निरन्तर विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का अपने को भास नहीं हो रहा है। मैं आनन्द स्वरूप हूँ, मैं अविनाशी हूँ, मैं परम प्रेम से भरपूर हूँ, इस बात का अनुभव हम लोगों को हो रहा है कि इस बात का अनुभव हो रहा है कि क्या कहूँ जीवन बड़ा व्यस्त हो गया है, अमुक काम बाकी है, यह कठिनाई है, वह कठिनाई है, तबियत अच्छी नहीं है, मन उदास है, खिन्न है, या इस बात का अनुभव हो रहा है कि मैं आनन्दस्वरूप हूँ। क्या अनुभव हो रहा है? दुःख, खिन्नता, असमर्थता, नीरसता, संयोग-वियोग का प्रभाव, यह अनुभव हो रहा है। स्वामीजी महाराज ने कहा कि तुम नित्य-निरन्तर सत्य के संग में हो, परन्तु अपने जाने हुए असत् के संग को तुमने पसन्द किया।

इसलिए जो सत्य की विभूतियाँ हैं उनका तुमको अनुभव नहीं हो रहा है और शरीर की आसक्ति का जो दुःख, द्वन्द्व है, उसका तुमको अनुभव हो रहा है, तो अपनी जानी हुई इस भूल को छोड़ने के लिए कुछ करना पड़ेगा कि केवल आपका निर्णय पर्याप्त है? निर्णय पर्याप्त है। किसी श्रम से, परिश्रम से, दौड़ने से, उठा-बैठी करने से, दण्ड-बैठक करने से, लम्बी-गहरी साँस लेने से भूल मिटेगी? जाने हुए असत् का त्याग अभ्यास से होगा कि विचार से होगा? विचार से होगा। तो विचार में तो परिश्रम नहीं है। इसलिए लोग कहते हैं कि महाराज क्या करें? भाई, कुछ मत करो। क्या करोगे? कुछ करने के कारण तुम सत्य से दूर हो गये। अब आप देखिये, कैसी विडम्बना साधक समाज में फैलती है। सत्य से अभिन्न होना चाहते हैं और शरीर के सहारे अभ्यास किये जा रहे हैं। तो शरीर से अतीत होने पर सत्य की अनुभूति होती है और शरीर के माध्यम से अभ्यास करके हम ब्रह्मवित् होना चाहते हैं। कभी हो नहीं सकता। तो महाराज ने कहा कि केसे मिले जीवन? क्या करें? तो भाई, कुछ मत करो। शान्त हो जाओ। शरीर और संसार के सम्बन्ध के निर्वाह के लिये आवश्यक कत्र्तव्य कर्म पूरा करो और जैसे ही

आवश्यक कत्र्तव्य कर्म पूरा हो जाये शान्त हो जाओ, चुप हो जाओ। किये हुए कर्म के बदले में कुछ चाहो भी मत। तो कर्म भी मत करो, चिन्तन भी मत करो। तभी स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर से तत्काल सम्बन्ध टूटेगा। जब शरीरों से सम्बन्ध तुम्हारा टूटेगा तब अशरीरी जीवन का दर्शन होगा, तो अशरीरी जीवन का दर्शन कैसे हो? कुछ करने से होगा, कि कुछ नहीं करने से होगा? महाराज ने कहा कि कुछ मत करो।

अब ईश्वर विश्वास की बात ले लीजिये। बड़ी हलचल मची रहती है, जीवन में बड़ी नीरसता छायी रहती है, बड़ी घबराहट फैली रहती है। कदम-कदम पर असमर्थता सताती है। बारम्बार परिस्थितियों के परिवर्तन के धक्के लगते रहते हैं। आदमी सोचता है कुछ, और हो जाता है कुछ। सारी जिन्दगी अनिश्चितता के भय में बीतती है। सैन्स ओफ इन्सिक्योरिटी से, असुरक्षा की भावना से, मनुष्य कितना परेशान है। एक बार बातचीत हो रही थी तो सब तरफ से लोग स्वामीजी महाराज के पास बेठ करके बातें करते रहते थे। लाइफ इंश्योरेन्स की बातें हो रही थीं। कोई कुछ कह रहा था, कोई कुछ कह रहा था। सुनते-सुनते स्वामीजी महाराज से रहा नहीं गया तो हँस करके कहते हैं कि भाई, मैंने तो ऐसी कम्पनी में बीमा करवा दिया है जो कभी फेल नहीं हो ;श्रोता-हास्यऋ क्या हो गया? आप एक ओर मानते हैं इस बात को, कि समग्र उत्पन्न हुई वस्तुएं जितनी हैं उनके अर्थात् समग्र उत्पत्ति के मूल में वह एक अनुत्पन्न तत्त्व विद्यमान है जिसका आदि-अन्त नहीं होता, जिसका नाश नहीं होता, जिसमें असमर्थता का दोष नहीं है, जिससे अल्पज्ञता का दोष नहीं है, जिसमें जीवन का रस भरपूर लबालब भरा हुआ है।

एक तरफ तो आप इस सत्य को स्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ ये चल जगत की परिस्थितियाँ। आज कम्पनी बन गई, कल बिगड़ गई, परसों फैल हो गई। इस तरह की बनने-बदलने वाली, बिगड़ने वाली परिस्थितियों के साथ, कम्पनियों के साथ सम्बन्ध जोड़ करके आप सैन्य आॅफ सिक्योरिटी, सुरक्षा की भावना रखना चाहते हैं जीवन में। तो भाई, यह अपने जाने हुए असत् का संग है। दृश्य बदलता जा रहा है, क्षण-क्षण में बदलता जा रहा है और फिर भी उसी दृश्य में से किसी को पकड़ करके अपने को सिक्योर सुरक्षित अनुभव करना, यह अपन जाना हुआ सत् है, कि असत् है? तो महाराजजी ने कहा कि भाई क्यों परेशान हो? जब कोई एक-तुम्हारा अपना है, तुम अपने सम्बन्ध में अपना हित-चिन्तन जितना कर सकते हो उससे कहीं अधिक, अनेक गुना अधिक तुम्हारा हित-चिन्तन उस परम हितैषी, परम-प्रेमास्पद है, अनन्त ऐश्वर्यवान, अनन्त-माधुर्यवान, उस नित्यतत्त्व में है। तुम परेशान क्यों हो? महाराज! उसमें मन नहीं लगता। अरे! मन के पीछे क्यों पड़े हो भले आदमी! तुम अपनी पसन्द बदल दो। जहाँ सिक्योरिटी नहीं है, जहाँ क्षण भर के लिए भी स्थिरता नहीं है, ऐसे दृश्य जगत् की सेवा करो उसका भला मनाओ उस पर अपने को आश्रित मत करो। आश्रय लेना है तो उस परम-आश्रय को पकड़ो कि जिसकी सत्ता से अनन्तकोटि ब्राह्मण्डों की रचना होती है। संगठन होता है। संचालन होता है। उस परमसत्ता को अपने जीवन का आश्रय बनाओ। तो उस परम परमात्माा को उस परम आश्रय को, सर्व की उत्पत्ति का सर्वाधार, सर्वप्रतीति का अनन्त प्रकाशक, उसको अपना आधार बनाओगे तब तुम्हारी सुरक्षा निश्चित रहेगी। उस परम सत्ता की महिमा को स्वीकार करना, यह क्रिया है कि भाव?

;श्रोता-भावऋ क्रिया तो नहीं है? तो यह कुछ करने से होगा कि भाव को स्वीकार करना है। इसमें कोई श्रम है? नहीं है। इसमें कोई अभ्यास है? नहीं है।

महाराजजी की ये बातें जो हैं, वे जीवन की वैज्ञानिकताा दार्शनिकता, आस्तिकता पर आधारित हैं और इतनी सत्य हैं कि इन बातों को किसी एक-देशीय वर्ग, मजहब, पंथ, मत के भीतर सीमित नहीं किया जा सकता। दुनिया का कोई भी साधक चाहे वह किसी भी पंथ का हो, अगर इस बात को वह स्वीकार करेगा कि जीवन तो अचाह, अकिंचन और अप्रयत्न होने से मिलता है, कुछ करोगे तो जीवन से दूर हो जाओगे, तो करने का प्रश्न कहाँ आया? करने का प्रश्न वहाँ आता है कि जैसे आपके सामने कोई प्यासा व्यक्ति दिखाई देता है, आपके हाथ में इतना बल है कि जल उठाकर पिला सकें और आपके निकट जल दिखाई देता है तो करने की सार्थकता मानव-जीवन में केवल इतनी है कि आप प्रेमपूर्वक पानी का एक गिलास उठाकर प्यासे प्राणी तक पहुँचा दीजिये। मानव के जीवन में क्रियाशीलता की सार्थकता केवल इतनी है कि एक शरीर के सहारे, दूसरे शरीर की सेवा कर दी जाये। उसके आगे क्रिया को कोई अर्थ नहीं है। तो जो बात कर्म और चिन्तन से ऊपर उठने पर जीवन में स्वतः विकसित होती है उसके लिए लोग न जाने क्या-क्या अभ्यास करते फिरते हैं। लम्बी गहरी स्वाँस लेना, आँख मूँदना, आसन मारना, यह करना, वह करना और किये जाओ, किये जाओ, शरीर में आसक्त हुए जाओ और अमर-जीवन की चर्चा करते रहो, तो मरणशील शरीर का सहारा लेकर अमर-जीवन की अभिव्यक्ति हुई है कहीं? परम प्रेमास्पद, जिसके प्रेमरस का एक कण सारी सृष्टि से भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है, उससे मिलने के लिए अभ्यास नहीं चाहिए, केवल विश्वास चाहिए, केवल भाव चाहिए।

आज मैं अपने सभी भाई-बहिनों की सेवा में बड़ी सच्चाई के साथ, बड़े प्रेम और आत्मीयता के साथ निवेदन करती हूँ कि परमात्मा हम लोगों से दूर नही है, उसकी आँखों से हम लोग ओझल नहीं हैं। कितनी बदतमीजी मैंने की, कितना सन्देह किया, परमात्मा की कितनी आलोचना की, परन्तु उन्होंने अपनी करुणा की गोद में से मुझे निकाल कर फेंका नहीं। संभालते ही रहे, संभालते ही रहे, और मुझे चेतना देते ही रहें। कब तक? जब तक अपने जाने हुए असत् के संग से परेशानन होकर उसकी ओर से विमुख होकर, उस परम आराध्य, परम परमात्मा की शरणागति को स्वीकार नहीं किया, तब तक। तो यह इस जीवन का सत्य है, जो चाहे तो इसका अनुसरण करके, इसकी अभिव्यक्ति अपने आप में कर सकता है और मेरा परमात्मा मुझ में है, उसको उसी प्रकार से घोषित कर सकता है, जैसा संतों और भक्तों ने किया।

महात्मा शहंशाहजी ने क्या कहा-जब पैतृक सम्पत्ति का सत्संग के लिए रजिस्टे°शन होने लगा तो उनसे कहा गया- डीड याने दस्तावेज लिखने के लिए, तो उस मस्तमौला को डीड क्या सूझे? तो आनन्दपूर्वक वे दुनिया को सुनाने लग गए और लिख के दिया तो यही लिख के दिया कि।सस उल चतवचमतजल पे जतनजी ंदक चमंबमण्।सस जतनहहसमे व िसपमि पद उम कव बमेंमण् प् बंतम वित ळवकण् भ्म बंतमे वित उमण् डल जीवनहीजे ंदक ंबजपवदे ंतम मदजपतमसल तिममण् यह डीड है उनकी, ये सम्पत्ति की चर्चा है उनकी। क्या कहा? परमात्मा मुझे प्यार करता है, मैं परमात्मा को प्यार करता हूँ, इसमें इतना ज्यादा काॅन्फीडेंन्स ;भरोसाऋ

उनको आ गया कि अब किसी प्रकार के चिन्तन में, काम में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। तो जैसे इन संत महापुरुषों ने परमात्मा की व्यक्तिगत अनुभूतियों को लेकर, उनकी विभूतियों से विभूषित होकर, स्वयं आनन्दित होकर जगत को आनन्दमय वचन सुनाये, उसी तरह से हम लोगों में से प्रत्येक की भाई-बहिन उस परमात्मा की अनन्त विभूतियों से विभूषित हो सकते हैं। इसी बात का विश्वास दिलाना मानव सेवा संघ का काम है, मिशन है। कोई नया पंथ नहीं, कोई मजहब नहीं, कोई सम्प्रदाय नहीं, कोई आन्दोलन नहीं। आपके जीवन का सत्य आप स्वीकार कर लें, यही इस संघ का निवेदन है।

प्रवचन 30

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

श्रीमहाराजजी कह रहे हैं कि जो कुछ दिखाइ् दे रहा है उसको अपना मत मानो। मिथ्या मानो, ऐसा नहीं कहा। उसकी निन्दा करो, उसकी उपेक्षा करो, यह नहीं कहा। केवल इतनी-सी सलाह दी है कि उसको अपना मत मानो और जो दिखाई नहीं देता है, जो बुद्धि की सीमा में नहीं आता है, उस बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को अपना मानो! यह सलाह है महाराजजी की। क्यों भाई, ऐसी सलाह की क्या जरूरत है? तो मानना होगा कि बड़ी भारी जरूरत है। मैंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के व्यक्तित्वका विश्लेषण करके देखा है। बहुत समय लगाया है इस शास्त्र को पढ़ने, समझने और पढ़ाने में। परन्तु मुझे एक बार सन्त की शरण में बैठकर पकड़ में आई औ वह यह कि जो कुछ हम लोगों को दिखाई दे रहा है, वह सब "स्व" नहीं है, "पर" है, अपने से भिन्न है। इसको मानियेगा कि नहीं? जो अपने से भिन्न है, उसी के द्रष्टा आप हैं। जो आपका स्व स्वरूप है, उसके द्रष्टा आप नहीं हो सकते। जो हमसे भिन्न है, जो मुझसे अलग है, "पर" है, उसी का द्रष्टा मैं हूँ। तो जो अपने से अलग है, अपने से भिन्न है, जिसके आप द्रष्टा हो सकते हैं, उस दृश्य को अगर आप अपना मानियेगा तो ऐसा मानने का एक बुरा परिणाम यह होता है कि स्व-स्वरूप न होने के कारण वह मिलता भी नहीं है और अपना मान लेने के कारण उसके भर से आदमी दबा भी रहता है। तो न मिलता ही है, न छूटता ही है। वस्तु छूट जाती है, परन्तु वस्तु की ममता नहीं छूटती। प्रियजनों का वियोग हो जाता है। हाय! मेरा चला गया। चला गया सो तो चला गया, वह तो फिर कभी मिलेगा नहीं, लेकिन हाय मेरा! यह रह गया। तो ऐसा भी मेरा है क्या, जो मुझको छोड़कर चला जाये? उसको मेरा कहना चाहिए? जो आपको छोड़ दे उसको मेरा कहना चाहिए! नहीं कहना चाहिए, तो महाराजजी की वाणी जो है वह इतनी सत्य है कि जिसमें सन्देह की और विवाद की कोई गुंजाइश ही नहीं है। वे कह रहे हैं कि जो दिखाई दे रहा है उसको अपना मत मानो, इतनी सी बात है।

मैंने आज के आधुनिक मनोवैज्ञानिक ढंग से, मनुष्य के जीवन की नीरसता का नाश करने के बहुत से तरीके (Techniques) सुने। काम में तो मैंने नहीं लिये। भगवत् कृपा से, सन्त की कृपा से उसकी जरूरत नहीं पड़ी। लेकिन सुना बहुत। तो क्या कहते हैं लोग, कि आप लोग तो न जाने कितने-कितने समय से प्रभु के प्रेम के आनन्द की चर्चा कर रहे हैं, किये जा रहे हैं। अरे भाई देखिए-अब मैं एक गोली खिला दूँ तो कितने घण्टों के लिए आप आनन्द में मस्त हो जायेंगे। ऐसा कहते भी हैं लोग और ऐसा करते भी हैं।

परिणाम क्या होता है? कि जो स्व-स्वरूप नहीं है, जो पर है, जो मेरा दृश्य बन सकता है उसके संयोग से जीवन कभी नहीं मिल सकता। क्या होता है कि इन औषधियों के प्रयोग से शरीर में जो कुछ Sensation उत्पन्न होता है, जो कुछ भी सम्वेदना उत्पन्न होती है, वह आदमी को थोड़ी देर के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों की पीड़ा से हटा देती है। उस काल में आदमी की प्राण-शक्ति इतनी खर्च हो जाती है इन कृत्रिम उपायों से, कि जब इस दवा का प्रभाव चला जाता है, तो आदमी एकदम निःशब्द और शिथिल होकर पड़ जाता है। तो जीवन का अर्थ यह तो नहीं है जो असमर्थता में बदल जाए, तो नीरसता में बदल जाए, तो शक्तिहीनता में बदल जाए। उसको तो जीवन नहीं कह सकते। तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि जो दिखाई दे रहा है, जो तुम्हारा दृश्य बन सकता है, उसको अपना मत मानो।

अब अपनी-अपनी जिन्दगी को अपने-अपने सामने रखकर देखिये कि हमने कहाँ तक दिखाई देने वाले दृश्य को पसन्द किया और उस पसन्दगी के परिणाम से, हम कहाँ तक जीवन से वंचित हो गये। यह अपने-अपने विचार करने की बात है। अब मैं इसके उज्जवल पक्ष अर्थात् Bright Side को ले लूँ। इस जीवन में जो कुछ ग्रहण करने योग्य है, जो कुछ प्राप्त है उस पर विचार कर लीजिए। स्वामीजी महाराज ने कहा कि जो दिखाई नहीं देता है, जो समझ में नहीं आता है, उसको अपना मानो। आप कहेंगे, क्यों मानें? स्वामीजी महाराज ने कहा-मैं तो ईश्वरवादी केवल इसलिए हूँ कि सदा-सदा के लिए साथ देने वाला साथी दुनिया में कोई नहीं मिला है। यह कहा उन्होंने। और मैं थोड़ा लालच रखती हूँ अभी। तो मैंने थोड़ा और बढ़ाया इसको और कहा, स्वामीजी महाराज, मैं तो ईश्वरवादी इसलिए बनना चाहती हूँ कि ईश्वर को छोड़कर और किसी की संगति सदा-सदा के लिए प्रिय लगने वाली नहीं है। दुनिया में कोई भी वस्तु, कोई भी परिस्थिति, कोई भी पद, कोई भी सम्मान, कोई भी साथी ऐसा नहीं मिला, जिसकी संगति उत्तरोत्तर अधिक-अधिक मधुर होती चली जाए। मिला कोई, क्यों? क्योंकि कठिनाई देने वाला दृश्य जगत 'पर' है। 'पर' की संगति में मधुरता उत्तरोत्तर बढ़ नहीं सकती है तो दोनों बातें एक साथ जोड़ दो।

परमात्मा के सिवाय संसार में साथ देने वाला दूसरा कोई नहीं मिलेगा। इसलिए ईश्वरवादी होना जरूरी है, क्योंकि अकेले रहा नहीं जाता और पमरात्मा के सिवाय और किसी की प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ने वाली नहीं होती है, तो हमको दोनों चाहिए। ऐसा साथी चाहिए जो कभी मेरा साथ न छोड़े और ऐसा साथी चाहिए जिसकी संगति उत्तरोत्तर प्रियता बढ़ती चली जाए, बढ़ाती चली जाए, बढ़ाती चली जाए। तो स्वामीजी महाराज ने सुन्दर बात कही-प्यास बुझे नहीं, जल घटे नहीं, पेट भरे नहीं, तो क्या होगा? प्रत्येक घूँट पर नित नया स्वाद आएगा। यह जीवन है प्रभु प्रेमियों का, यह जीवन है प्रभु विश्वाससियों का, और हमारे क्या दशा है? एक-एक वस्तु और एक-एक व्यक्ति के संयोगजनित सुख के लिए, क्षण भर के सुख के लिए, सारी की सारी जिन्दगी बरबाद किए बैठे हैं। यह क्या है? यह देखे हुए को अपना मानने की भूल है और कुछ नहीं। इस दृश्य जगत में कुछ भी ऐसा नहीं है कि जिसको आप अपना कहें और वह आपको प्राप्त हो जाए। इस दृश्य जगत में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जिसको आप अपना मानें और वह सदा के लिए आपका साथ दे सके।

इस दृष्य जगत में कोई संयोग ऐसा नहीं है कि वह प्राप्त भी हो जाए तो आपको सदा के लिए सन्तुष्ट कर सके। है ही नहीं। तो महाराजी

क्या कहते हैं, कि मैं यह नहीं कहता हूँ कि जो कुछ तुमको दिखाई दे रहा है, कि जो कुछ मिला हुआ है, सब जमुना में डाल दो। यह नहीं कहता हूँ। यह कह रहा हूँ कि जो कुछ दिखाई देता है वह 'पर' है। उसको अपन मत मानो और जो दिखाई नहीं दे रहा है, जो समझ में नहीं आ रहा है उसको अपना मानो, तो यह दिखाई देने वाला संसार अपना मानने पर भी आँखों के सामने से लुप्त हो जाता है। हो जाता है कि नहीं? और वह नहीं दिखाई देने वाला परमात्मा अपना मानते ही अपने में प्रकट हो जाता है। तो कौन सा सौदा बढ़िया है? जी-दिखाई देने वाला संसार अपना मानने पर भी अपनी आँखों के सामने से लुप्त हो जाता है और नहीं दिखाई देने वाला परमात्मा, अपना मानने पर सदा के लिए अपना हो जाता हैं यह बात मैं कल्पना से नहीं कह रही हूँ। मैं ग्रन्थ मेंसे पढ़कर ही नहीं कह रही हूँ। अगर ऐसा होता तो ऐसा अख्खड़पने का मेरा स्वभाव है बचपन से कि मैं साधकों के बीच में बैठकर कभी इसको दुहराती ही नहीं।

मैं ऐसा इस सत्य के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कह रही हूँ कि नहीं दिखाई देने वाले, नहीं समझ में आने वाले परमात्मा को अपना मानना आरम्भ करो। तो साधक आरम्भ करता है बिना देखे, लेकिन बिना देखा हुआ परमात्मा सदा के लिए बिना देखा हुआ नहीं रहता है। अभी महाराजजी ने कहा न, कि शुरू में बिना देखे हुए तुम कानो, लेकिन हमेशा वह बिना देखा हुआ नहीं रहेगा। प्रारम्भ करना पड़ता है बिना देखे और बाद में देखा हुआ नहीं रहेगा। प्रारम्भ करना पड़ता है बिना देखे और बाद में तो वह इस प्रकार आपके तन में, मन में, आँखों में ऐसा रम जाता है कि उसको छोड़कर और कुछ दिखता ही नहीं। ऐसा जबरदस्त है कि हम क्या बताएँ? भले आदमी! क्यों छिपा रहता है बेकार रुलाने के लिये। वह इतना जबरदस्त है! इतना जबरदस्त है। इतना व्यापक है कि मैं क्या बताऊँ? सन्तों की यह बात सवा सोलह आने सत्य है कि आप उसे सम्बन्ध, उसकी प्रियता को, आरम्भ करिये बिना देखे, लेकिन अपने बिना देखे को अपना मानना आरम्भ कर दिया, तो आगे चलकर वह आपके भीतर इस प्रकार भर जाएगा, आपकी दृष्टि में, आपके चिन्तन में, आपके मन में, इस प्रकार भर जायेगा कि आगे चलकर उसको छोड़कर आपको दूसरा कुछ दीखेगा ही नहीं। "जित देखूँ उत श्याममयी है। जित देखूँ तित श्याममयी है।" यमुना में नीला-नीला जल बह रहा है तो श्याम है। आसमान में नीले-नीले बादल उमड़ रहे हैं, तो श्याम हैं। वृक्ष पत्ते डाल रहे हैं तो श्याम हैं। पक्षी के बच्चे बोल रहे हैं तो श्याम है। उसका और कुछ नहीं है। और कुछ दिखता ही नहीं है। सब खतम हो जाता है। और क्या हो गया? ऐसा कैसे हो गया? तो ऐसे हो गया, जो मिथ्या था, उसको मैंने मिथ्या जानकर अपना कहना छोड़ दिया तो वह छिप गया। और जो सत्य है, उसको मैंने बिना देखे अपना मानना आरम्भ कर लिया तो वह प्रकट हो गया।

एक उदाहरण महाराजजी दिया करते थे ब्रज गोपियों का और सखियों का। वे जा रही हैं नगर में दधि बेचने के लिये। तो बाहर से दिखाई दे रहा है संसार का व्यवहार और अन्तर में रमा हुआ है वही अपना। तो नगर में जाकर, गतियों में जाकर एक-दो बार तो पुकारती है कि ले लो, दधि ले लो। थोड़ी देर के बाद, दधि शब्द की विस्मृति हो जाती है। तो कविने क्या कहा-"दधि को नाम बिसर गई ग्वालिन, हरि लो, हरि लो, कोई श्याम सलोना लो रे" अब श्याम सलोना कोई बेचने की चीज है क्या? कोई बिक्री का समान है। लेकिन क्या करें? उनकी वाणी में कोई दूसरा स्वर नहीं

निकलता, उनकी आँख में कोई दूसरा दृश्य दिखाई नहीं देता, उनके चिन्तन में दूसरा कोई व्यक्ति नहीं आता।

हम लोगों की दशा क्या है कि हरि-हरि याद करना चाहे हैं और पैसा-पैसा याद आता है। अपनी दशा देख लीलिए। हरि-हरि जपना चाह रहे हैं तो रोटी-रोटी याद आ रही है। और उनकी दशा क्या है? दधि-दधि बोलना चाहती हैं तो हरि-हरि याद आ रहा है। यह मानव जीवन का सत्य है और इस सत्य की अनुभूति हम लोगों में से हर भाई, हर बहिन को हो सकती है। इसी जीवन में हो सकती है, इसी जन्म में हो सकती है कि जिस परमात्मा को मैंने गुरु महाराज के कहने से अपनाकर के स्वीकार किया था, वह परमात्मा गुरु की वाणी को सत्य करने के लिए, भक्त की वाणी को सत्य करने के लिए अपने को प्रकट कर देता है। आप न मानना चाहें तो मनवा दें, आप न देखना चाहें तो दिखा दें। आप भूल जाना चाहे तो याद करा दें। कोई अन्त नहीं है, उसकी अनन्त लीलाओं का। कोई कल्पना नहीं कर सकता कि वह परमात्मा कितना सचेष्ट है। हम लोगों को अपने सन्मुख करने के लिए कितना सचेष्ट है। कोई अनुमान नहीं लगा सकता। दृष्टि बदल जाती है, समझ बदल जाती है। सब कुछ बदल जाता है, क्योंकि अहं बदल जाता है।

इसलिए मानव सेवा संघ ने ईश्वर-भक्ति, ईश्वर की उपासना, ईश्वर के मिलने की साधना क्रियात्मक रूप में नहीं बताई। मन को बदलने की चेष्टा करो तो नहीं बदलेगा। दृष्टि को बदलने की चेष्टा करो तो नहीं बदलेगी। क्या बदलता है? आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति से अहं बदलता है। तो जिन आँखों से संसार दिखाई देता था उन्हीं आँखों से प्रेमास्पद दिखाई देने लगता है। यह बात नहीं है कि प्रभु की प्राप्ति केवल निराकार अहं की अभिव्यक्ति की अनुभूति के ही रूप में हो, ऐसी बात नहीं है। उनका मिलन प्रत्यक्ष भी होता है और भाव की आँखों से तो वह दीखते भी हैं और वही भाव जब इन स्थूल आँखों में भर जाता है तो इन स्थूल आँखों से भी दिखते हैं। और स्थूल आँखं जिस प्रकार की आकृति देख सकती हैं, वैसी आकृति बनाकर दिखते है। इतना प्यार करते हैं आपको! इतना प्यार करते हैं कि उनको इस बात का बड़ा ध्यान रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरा प्यारा स्थूल आँखों से देखे बिना हमको पहचान न पाये, तो इन आँखाों से जो पांचभौतिक तत्त्व से बनी हुई आँखें हैं इन आँखों से देखने लायक भी वे स्वयं बन जाते हैं तो अब तो मुझे इस बात का आश्चर्य नहीं होता है कि किसी भक्त को भगवान कैसे मिल गये। पहले होता था। पहले ऐसा मालूम होता था कि मानव के जीवन का सबसे बड़ा आश्चर्य है कि पांचभौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर में रहते-रहते उसको अलख अगोचर अनन्त परमात्मा मिल जाए। अब मुझे इसमें आश्चर्य होता है कि भक्त भी हैं और भगवान भी है तो ऐसा कैसे हो सकता है कि दोनों का मिलन न हो। दोनों का मिलन कैसे हो गया इसमें आश्चर्य नहीं है।

इसलिए भाई! काल और स्थान Time and Space इनसे परे अनन्त जीवन साकार और निराकार होकर हमारे भीतर-बाहर लहलहा रहा है। युग पर युग बीतते चले जाते हैं। कल्प पर कल्प बीतता चला जाता है। कितने प्रकार के प्रवाह आते हैं और चले जाते हैं परन्तु जिस परम सत्ता से हम सब लोगों को जीवन मिला है, और जो प्रतीति का प्रकाशक बनकर हमारे आपके भीतर इस जीवन को स्वतन्त्र रूप से अनुभव करने का प्रकाश दे रहा है, उसमें अनन्त रस भरा हुआ है और वह जीवन रस, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में, कण-कण

में, समग्र वायुमण्डल में, आपके भीतर और आपके बाहर, समान रूप से लहरा रहा है कोई ज्ञान की ज्योति के रूप में उसको देखता है, कोई प्रेम के प्रवाह के रूप में उसको पाता है। तो एक बार, एक बार, उस बिना देखे, उस बिना जाने पर, अपने इस दीन-हीन, तुच्छ काम-क्रोध-लोभ-मोह से ग्रस्त निन्दनीय व्यक्तित्त्व को उसकी शरण में डाल दो। हमारे अपराधों से, हमारी बुराइयों से, हमारे विकारों से वह परम हितैषी परम करुणावान, परम प्रेमास्पद घबड़ाता नहीं है।

महाराजजी ने कहा मुझको, कि तुम निन्दा करना बन्द करो। अब अपनी निन्दा मुझको मत सुनाओ। अब प्रभु की महिमा सुनो, क्या महिमा? जन्म-जन्मान्तर से भूल करते-करते पाप का पहाड़ बना दो, प्रभु की करुणा की एक बूँद, उसके समाप्त करने के लिए पर्याप्त है। उसकी महिला सँभाल लेगी तुम्हें। तुम्हारा दायित्व केवल इतना है कि तुम उस बिना देखे, बिना जाने को अपना कहकर स्वीकार करो। प्रभु को इतने प्रिय लगते हैं ऐसे भक्त, इतने प्रिय लगते हैं कि उस भक्त का प्रिय करने के लिए परमात्मा क्या नहीं करता है? आपका प्रेम परमात्मा को इतना पसन्द है, इतना पसन्द है कि आप जब उनको अपना प्यारा बनाते हैं तो आपका प्रिय करने के लिए वह क्या नहीं करते हैं। उसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता, अनुमान नहीं लगा सकता। इतने प्रिय हैं आप उनको! बस एक ही बहादुरी करनी है उनको प्यार करने के लिए। इस देखे हुए को अपना कहना छोड़ दो। यही एक शर्त है और कुछ नहीं। और परमात्मा जब देखते हैं कि सब प्रकार की सीमाओं में बँधा हुआ यह मानव भोग और मोक्ष की परवाह न करके मुझको पसन्द करने लग गया है तो ऐसे मानव को वे इतना प्यार करते हैं, इतना पसन्द करते हैं, कि उसके जीवन को अपनी विभूतियों से भर देते हैं और स्वयं उसकी सेवा में उसकी प्रियता के लिए आप ही हाजिर हो जाते हैं। ऐसा हुआ है। ऐसा होता है। ऐसा होता रहेगा।

अब मैं समझती हूँ कि इस सारी सृष्टि में अगर कुछ श्रेयस्कर है, अगर कुछ ग्रहण करने के लायक है, और मैं ऐसा भी सोचती हूँ कि परमात्मा ने जो इस सारी सृष्टि की रचना की और उसमें आपकी रचना की, इन सब बातों के पीछे केवल एक ही उद्देश्य है कि आप और उनके बीच प्रेम का आदान-प्रदान हो और वह अव्यक्त, अलख, अगोचर, आपके माध्यम से व्यक्त होकर, गोचर होकर, दृश्य बनकर संसार की शोभा को बढ़ावें, प्रसन्नता को बढ़ावें, आनन्द को बढ़ावें, मधुरता को बढ़ावें तो हमारे आपके जीवन का, हमारी आपकी रचना का, केवल यह एक ही उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति से जब तक हम लोग वंचित हैं तब तक मैं समझती हूँ कि मनुष्य इस धरती पर भार के है और कुछ नहीं।

प्रवचन 31

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं कुछ नहीं हूँ, तीनों बातें सत्य है। मैं कुछ नहीं हूँ, इसको स्वीकार करने में ऐसे ही लोग घबड़ाने लग जाते हैं। घबड़ा-घबड़ा कर प्रश्न कर रहे हैं। उत्तर तो महाराज ने बहुत अच्छी तरह दिया है। यह दार्शनिक विवेचन है। "मैं कुछ नहीं हूँ" का तात्पर्य अहंकार का सर्वथा लुप्त हो जाना है। अभी इस वर्तमान क्षण में इस दिशा में हम लोगों ने क्या किया है? "मैं कुछ नहीं हूँ", इस पर अभी हमारी दृष्टि नहीं है। अभी तो हम लोग कुछ है। क्या? अब हम लोगों ने इस सीमित अहं भाव को जिसको कि, "मैं" कह करके हम लोग सम्बोधित करते हैं, उस सीमित अहं भाव को असीम अनन्त नित्य तत्व में

समाहित कर देने के लिए अपने को साधक स्वीकार किया है।

अभी यह बात हमारे आपके लिए अनुभूत सत्य के रूप में नहीं आयी है कि मैं कुछ नहीं हूँ। हाँ, प्रगति का एक कदम उठाया है हम लोगों ने। वह क्या है? पहले सोचा था कि हम सुख-दुःख के भोगी है। अब हम लोग सोचते हैं कि हम साधक हैं, यह फर्क हुआ न? पहले अपने सम्बन्ध में यह धारणा थी कि भाई हम तो जन्म-मरण की बाध्यता में फँसे हुए हैं। किसी समय मेरी यह धारणा थी अपने सम्बन्ध में कि इच्छाओं का उठना न कभी बन्द होगा और न मुझे शान्ति मिलेगी। तब मैंने अपने लिए ऐसा स्वीकार कर रखा था कि मैं चाह से प्रेरित हूँ, मैं इच्छाओं की अपूर्ति से दुःखी हँ, अशान्त हूँ। सत्संग के प्रकाश में संत ने जीवन का विश्लेषण किया, उससे अब हम लोगों ने अपने सम्बन्ध में अपनी धारणा को बदल दिया। इसमें कोई डरने की बात नहीं है, संकोच मत करिये कि हम ऐसा कैसे कहें? क्योंकि यह तो पहला ही पाठ है, यदि अपने सम्बन्ध में, अपने लिए ऐसा कह नहीं सकेंगे तो फिर आगे चल करके प्रगति की और बातें जो सामने आयेंगी, उसमें कोई सफलता हमें मिलेगी नहीं। तो यह पहला पाठ है।

मैं कुछ नहीं हूँ, इस बात को अभी नहीं कहकर, इसको अन्तिम सत्य के रूप में रखकर अभी हम लोगों ने अपने लिए यह एक साधक रूप मान्यता स्वीकार की है। यह सब मान्यता ही तो है। अमुक मेरा नाम है, तो मैं कहती हूँ कि बालक जन्म लेता है तब तो वह अनामी होता है, उस समय तो उसको कोई नाम होता ही नहीं है। तो उसकी सत्ता है कि नहीं? जी। सत्ता तो है। लेकिन वह नाम नहीं है जो नाम पीछे से उसको दिया गया। नाम के पहिले भी उसकी सत्ता थी और जिस शरीर में उसको यह नाम दिया गया उस शरीर के न रहने के बाद उसका वह नाम तो लुप्त हो जायेगा, लेकिन उसकी सत्ता तो रहेगी। इस तरह से अमुक मेरा नाम है, अमुक मेरा स्थान है, अमुक मेरा काम है, ये सारी मान्यतायें हम लोगों ने देह के अभिमान से अपने में आरोपित कर लीं। अब देखिये, किसी दिन कोई पद हम लोग स्वीकार करते हैं, तो उस पद के अनुसार हमारा सम्बोधन होने लगता है। ये डॉक्टर साहब हैं, ये मिनिस्टर साहब हैं, ये प्रोफेसर साहब हैं, ये बड़े सेठ हैं, व्यापारी हैं, अब जब पे्रक्टिस करना छोड़ दिया, जब रिटायरमेंट ले लिया, तो पद तो चला गया और काम भी चला गया। फिर भी हम अपने को प्रोफेसर साहब कहते हैं। तो बात झूठी हुई कि नहीं हुई। जिस दिन आपने पद नहीं लिया था, उस दिन तो आप प्रोफेसर साहब, मिनिस्टर साहब नहीं कहलाते थे, कलक्टर साहब नहीं कहलाते थे, डिप्टी साहब नहीं कहलाती थे। पद मिला तो उसके अनुसार एक मान्यता जुड़ गयी, मैं के साथ। फिर जब काम करना खत्म कर दिया, पद को छोड़ दिया, उसके बाद भी अपने साथ उस मान्यता को लगाये रहना, झूठी बात है कि नहीं? जी!

तो ऐसे ही जितनी मान्यतायें हम लोग सब 'मैं' के सम्बन्ध में स्वीकार करते हैं, वे सारी मान्यतायें इसी प्रकार की लगायी हुई हैं। तो सबसे अच्छी और सबसे सच्ची मान्यता क्या होनी चाहिए? वह यह होनी चाहिए कि मैं मानव हूँ, मैं साधक हूँ। तो आज हम सब भाई-बहिन सत्य की दिशा में आगे कदम बढ़ाने के लिए उपस्थित हुए हैं। हम लोगों की यह एक मान्यता है कि मैं साधक हूँ। और मैं सच कहती हूँ कि हम लोगों को अपनी इस मान्यता से, अपनी इस स्वीकृति से कभी भी हटना नहीं चाहिए और इसको भूलना भी नहीं चाहिए। बहुत जरूरी बात है, अगर आज मैं ऐसा कहूँ कि हम सब लोग यहाँ जो इकट्ठे हुए हैं,

असाधक हैं, तो आप इस बात में मेरा समर्थन करेंगे? जी? नहीं करेंगे। अरे भाई, असाधक होते तो फिर हम सत्संग में आते ही क्यों? साधना की चर्चा करते ही क्यों? इस दिशा में सचेष्ट होते ही क्यों? तो हम सब लोग साधक हैं और साधक का अर्थ यह नहीं होता कि भूखे-नंगे रहते हैं कि वन में वृक्ष के नीचे बैठते हैं। मानव सेवा संघ ने साधक शब्द का बड़ा सुन्दर अर्थ लिया है, वह भी आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर देती हूँ मैं।

साधने माने क्या? जिसमें कोई माँग हो, तो आप अपने में कोई माँग अनुभव करते हैं कि नहीं? जी-अशान्ति काल में शान्ति की आवश्यकता अनुभव होती है कि नहीं? होती है। ईश्वर में विश्वास करने वाले हैं तो भगवान से मिलने की आवश्यकता है कि नहीं? है। जन्म-मरण का दुःख, बीमारी और वृद्धावस्था का दुःख भोग रहे हैं तो दुःख से रहित-जीवन की आवश्यकता है कि नहीं है? तो मानव सेवा संघ की परिभाषा से आप साधक सिऋ हो गये। जी? (श्रोता,"हो गये") साधक किसको कहते हैं? जिसमें कोई माँग न हो, साधक किसको कहते हैं? जिस पर कोई दायित्व हो। अब देखो! अपने पर, हम लोगों पर कोई दायित्व है कि नहीं? अपने द्वारा की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेंगे, यह दायित्व हम लोग अपने पर स्वीकार करते हैं कि नहीं? जी- करते हैं। जिसकी कोई माँग हो उसका नाम साधक है। जिस पर कोई दायित्व हो, उसका नाम साधक है। जो उस दायित्व को पूरा करने के लिए तत्पर हो, उसका नाम साधक है। जिसका कोई साध्य हो, उसका नाम साधक है। जो अपने उत्थान के लिये लालायित है, उसका नाम साधक है। चन्दन का टीका लगाता है कि नहीं, पूर्व मुख करके प्रार्थना करता है कि पश्चिम मुख करके खड़ा होता है, सो साधक की निशानी नहीं है। साधक होने का लक्षण केवल इतना है कि आप अपने में कोई कमी अनुभव करते हैं ओर उस कमी को मिटाने के लिए आप तत्पर है। जिसका कोई साध्य है, जिस पर कोई दायित्व है, जो दायित्व को भी जानता है, जो अपने साध्य को भी जानता है, लक्ष्य को भी जानता है और दायित्व पूरा करने के लिये जो सामथ्र्य है, उसी सामथ्र्य के अनुसार वह तत्पर है कि नहीं? तो इस सृष्टि से हम सभी भाई-बहिन साधक है।

आज जब महाराज जी की वाणी में सुन रही हूँ और घबड़ा-घबड़ा कर लोग प्रश्न कर रहे हैं कि महाराज! मैं कुछ नहीं हूँ, यह कैसी बात है? तो मैं आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि वह घड़ी आ तो जायेगी, वह समय आ तो जायेगा, जब आप कुछ नहीं रहेंगे और वह बड़ी शुभ घड़ी होगी, सबसे ऊँची उपलब्धि की घड़ी होगी। लेकिन अभी घबराहट लग रही है, व्यक्तित्व के नाश का भय लग रहा है कि मैं कुछ नहीं हू, यह कैसी बात हैं? आज हमारे आपके लिये उपयोगी मान्यता क्या है? उस स्टेज तक पहुँचने के लिये तैयारी की मान्यता क्या है? कि हम सब लोग अपने को साधक स्वीकार करें। अनेक बार ऐसा अवसर मेरे सामने आया और दूसरे साधक भी जब मेरे साथ बात करते हैं तो मैं उनको उत्तर देती हूँ कि मैं अपनी समस्याओं को महाराज के सामने रखती रही।

उनके सामने कई बार मैंने ऐसे बताया। महाराज! बहुत बड़े जन-समूह में मुझे काम करना पड़ता है। यह अब की बात नहीं है। महाविद्यालय में सर्विस में रहने के समय की बात है। बड़े जन-समूह में मुझे काम करना पड़ता है और हर व्यक्ति अपने समय पर अपनी जगत पर ठीक काम नहीं करे तो सारा मेरा किया कराया चैपट हो जाता है। अगर लैबोरेट्री के लैब असिस्टेन्ट, जो होते हैं

प्रयोगशाला से सहायता देने वाले। समय हो गया औ वे नहीं आए, एक्स्पेरिमेन्ट करने के लिए सब छात्रायें खड़ी हैं प्रयोगशाला में, और मशीन निकालकर टेबिल पर सैट कर देना चाहिए था घण्टी लगने से पाँच मिनिट पहले और वे हजरत आयेंगे पाँच मिनिट बाद। इतनी देर में सब चैपट होता रहेगा, समय घट जायेगा, काम पूरा नहीं होगा तो मुझे बड़ी तकलीफ होती थी। तो स्वामीजी महाराज से मैंने कहा-महाराज क्या करें? भीतर से तो बहुत ही तिलमिलाहट होती है और सन्तुलन बिगड़ जाता है। काम शुरू कराने से पहिले ही भीतर-भीतर क्रोध आ गया। मुश्किल पड़ जाती है क्या करना चाहिए? कैसे सँभालना चाहिए।

स्वामीजी महाराज से जब मैंने ऐसे प्रश्न किये, एक उदाहरण नहीं ऐसे अनेक उदारहण मैं उनके सामने रखती। महाराज, मैं कैसे करूँ? तो महाराज के मुख से पहला वाक्य निकलताा कि देखो, देवकी जी! तुम साधक हो, इसलिए कोई भी समस्या तुम्हारे सामने आती है, तो तुम साधन बुद्धि से उसको सुलझाओ। उनके सम्पर्क में रहकर अनेक स्तर पर इस तरह की बातें मुझे सूझती रहीं और मैं उसी के अनुसार करती रही तो मुझे यह खूब निश्चयपूर्वक मालूम है कि आप अपने सम्बन्ध में जो धारणा स्वीकार करेंगे, उस धारणा के अनुसार आपका जीवन बन जायेगा। समय-समय पर खुद समझ में आयेगा कि अभी तक मेरी यह साधन युक्त मान्यता मेरे व्यवहार को गाइड कर रही है अथवा वही पुराना रवैया अभी तक चल रहा है कि भाई कैसे भी हो, झूठ बोल के चतुराई-चालाकी करके, जो नहीं करना चाहिए सो करके काम चला लो। लोग काम चलाने का नाम लेते हैं। काम चल गया। मतलब क्या हो गया? किसी संकल्प की पूर्ति हो गयी, खाने-पीने की सुविधा हो गयी, पद मिला है तो प्रमोशन का इन्तजाम हो गया, तो जरा ऐसे करके, तो जरा वैसे करके, किसी तरह काम चला लो, अरे क्या काम चला भाई? अब तक जो कुछ करते रहे उससे तो काम बना नहीं, अगर काम बन गया होता तो और काम चलाने का प्रश्न खड़ा कैसे होता? जिसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, जिसको पाकर जीवन में दुःख नहीं रहता, अभाव नहीं रहता, शरीर के नाश होने से पहिले, अपने अविनाशी अस्तित्त्व का बोध हो जाता है, हाड़-मांस के इस पुतले के लिए फिरते हुए भी, उसी व्यक्तित्त्व में ईश्वरीय प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है, तो उसके बाद भी कोई काम शेष रहता है क्या? उसके बाद काम चलाना बाकी नहीं रहता है, और अगर ये आखिरी समय तक नहीं हुआ तो काम खत्म होता नहीं है। शरीर का नाश हो जाने के बाद भी कुछ काम शेष रह जाता है, जो दूसरे लोगों पर निर्भर करता है। कोई दया करके कर देगा तो हो जायेगा नहीं तो नहीं होगा, यह हालत हो जाती है।

तो आज उस दार्शनिक सत्य को हम सब लोग अपनी साधना की उच्चतम उपलब्धि के रूप में रखें। कौन सा दार्शनिक सत्य, कि मैं कुछ नहीं हूँ। यह कब पूरा होगा? अहम् का नाश हो जायेगा तब होगा, अथवा परम प्रेमास्पद के प्रेम से विभोर हो जायेंगे, फिर अपनेपन की सुध नहीं रहहेगी, तब होगा और उसे पहिले हम लोगों को क्या करना है? तो महाराजजी ने एक बड़ी आवश्यक बात बतायी कि जब हम सत्संग के प्रकाश में अशुद्धि को मिटाने का प्रयास करने लग जाते हैं, तो अशुऋ व्यक्तित्त्व पहले शुऋ होता है, अशुऋ अहम् पहले शुऋ होता है। तो इस समय हमारा आपका स्टेज क्या है? हमारे आपके सामने कौन सा पाठ है साधक-महाविद्यालय का?

हम सभी भाई-बहिनों को अपने सामने यह समस्या रखनी चाहिए कि पहिले इस पाठ को पढ़ना है कि अहम् की अशुद्धि का नाश हो जाये, सत्संग के प्रकाश में हम सब लोग शुऋ अहम् वाले हो जायें। तो अहम् की अशुद्धि का नाश कैसे होगा? दो वाक्य जो हैं उनको पहिले लिया जायेगा, मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। ये दोनों व्रत जो हैं, अशुऋ अहम को शुऋ करते हैं। अशुऋ अहम् जब शुऋ होता है, जब उसमें सत्य की विभूतियाँ प्रकट होती हैं। आज देखिये कि अशुऋ अहम् के रहते हुए, अहम् की अशुद्धि के रहते जब हम लोग सोचते हैं, कि मैं कुछ नहीं हूँ तो घबड़ाहट मालूम होती है। अरे, यह क्या हुआ? हम ही खतम हो गये तो फिर रहा क्या? अशुऋ अहम् के कारण अहम् का लुप्त हो जाना हम लोगों से सहन नहीं होता है। लेकिन जब ममता का नाश हो जाये, जब कामनाओं का नाश हो जाये, जब विकारों की निवृत्ति हो जाये, जब लोभ, मोह देह की आसक्ति, धन का लोभ, सम्मान का लोभ, ये सब जब खतम हो जायेगा, तब यह दशा नहीं रहेगी। अशुद्धिकाल में अहम् जो है वह अनन्त में समाहित नहीं होता है। किसी भी प्रकार की अशुद्धि शेष रह जायेगी, अहं रूपी अणु जो है उसका ऐसा विस्फोट, उसकी ऐसी अभिव्यक्ति कि वह अनन्त में समाहित हो जाये, सो नहीं हो पात और जब अशुद्धि का नाश होता है तब वह प्रक्रिया अपने आप पूरी हो जाती है। उसके करने के लिये किसी साधक को कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। चाहे हम सब लोग योगवित् होना पसन्द करें, चाहे हम लोग उस निराकार सत्य से अभिन्न होना पसन्द करें, चाहे हम लोग उस नित्यतत्त्व को अपना परम प्रेमास्पद मानकर उसके प्रेम में समाहित होना पसन्द करें। योगवित् होना चाहे तो, तत्त्ववित् होना चाहे तो, और भगवद् भक्त होना चाहें तो, हम लोगों की तैयारी का पहला कदम होगा कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। अकेले-अकेले बैठ करके इस सम्बन्ध में विचार करियेगा।

मेरा कुछ है, ऐसा मानने से मेरा कुछ बन जाता हो सो बनता नहीं है, और मेरा कुछ नहीं है, ऐसा जान लेने पर, सब कुछ नष्ट नहीं हो जाता है। देह को अपना मानों तो भी देह अमर नहीं हो जायेगा और देह को अपना न मानो तो न मानने से भी देह का नाश नहीं हो जायेगा। इसको जितने दिन रहना है रहेगा। इसका उपयोग हमह लोग करें और रहते-रहते इससे अतीत के जीवन का अपने को अनुभव हो जाये तो बड़े आनन्द की बात रहेगी। त्याग के आधार पर भी होता है, विश्वास के आधार पर भी होता है। आप जब याद रखेंगे कि मैं साधक हूँ, आप जब याद रखेंगे कि मैं मानव सेवा संघ का सदस्य हूँ, आप जब याद रखेंगे कि मैं मानव सेवा संघ का स्थायी साधक हूँ। तब क्या होगा? तब काम करते समय, व्यवहार करते समय, आपका ध्यान रहेगा इस बात पर, कि भाई मुझे तो सिक्के की अपेक्षा वस्तु को महत्त्व देना है। वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति को महत्त्व देना है। व्यक्ति की अपेक्षा विवेक को महत्त्व देना है। और विवेक की अपेक्षा सत्य को महत्त्व देना है। यह एक नियम है अपने संघ का। मानव सेवा संघ की सदस्यता स्वीकार करने का अर्थ क्या है? कि व्यवहार करते समय आपको यह नियम याद रहे। याद रहेगा तो बड़ा लाभ होगा आपको। प्रलोभन पर विजय पाने में, जो नहीं करना चाहिए, उससे बच जाने में आपको बहुत बल मिलेगा।

मान्यता स्वीकार करने का अर्थ क्या है? मान्यता स्वीकार करने का अर्थ यह है कि वह हमारे लिए एक मार्गदर्शक ;ळनपकमसपदमऋ बन जाये। अब सिक्के से वस्तु का मूल्य अधिक है,

क्यो? भूखा आदमी है, उसके सामने नोट की ढेरी लगा दीजिये और दो रोटी रख दीजिए। उससे पूछियेगा कि किसको लोगे? भूखे आदमी की जरूरत नोट से पूरी होगी कि रोटी से? ;श्रोता-रोटी सेऋ नोट अगर उसके सामने रख दिया जाए, औ वस्तु उसके सामने न हो, सोने, हीरे की ढेरी हों, तब भी क्या उसकी भूख मिटती है? जी? नहीं मिट सकती है। शरीर को भी सँभालकर रखना हो तो सिक्के की अपेक्षा, वस्तु का मूल्य अधिक है। यदि आप याद रखोगे इस नियम को तो वस्तु को हटा कर, सिक्के को महत्त्व नहीं देंगे। और अगर किसी वस्तु के मुकाबल में किसी व्यक्ति को सामने खड़ा किया जाये तो वस्तु की रक्षा में विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि व्यक्ति की रक्षा में, तो आप अगर याद रखोगे कि मैं मानव सेवा संघ का साधक हूँ, तो सिऋ-पुरुष भले ही तुरन्त न हो जायें, उसमें देर लग सकती है, लेकिन यह मान्यता आपको स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने में मदद कर सकती है। अगर आप मदद लेना चाहें तो।

कभी-कभी साथ में रहने वाले साथियों से किसी वस्तु की क्षति हो जाये, कोई चीज गिर जाय, टूट जाये अथवा किसी ने ऐसा कोई काम असावधनी से कर दिया हो, तब व्यक्ति की असावधानी के लिए हम लोगां को महाराज बहुत सचेत करते रहते थे। असावधानी मत करो। तुम्हारी असावधानी से किसी वस्तु का नुकसान नहीं होना चाहिए। लेकिन किसी साधक की राग निवृत्तित के लिए वस्तु को खर्च करने की जरूरत पड़े, तो लाख करोड़ भी हो जायें तो भी सब बरसा देंगे उस पर। महाराज ऐसा क्या? कहते कि भाई! देखो, वस्तु से व्यक्ति की कीमत ज्यादा है, उसकी राग निवृत्ति हो जाये, उसकी अशुद्धि का नाश हो जाये, उसमें शान्ति आ जाये, तो ऐसे शान्ति परायण साधक के लिए सारी दुनिया की वस्तु लुटाई जा सकती है। वस्तु से व्यक्ति का मूल्य ज्यादा है। व्यक्ति के दिल को दबाओ मत। व्यक्ति पर पराधीनता की भावना ;अहसासऋ लादो मत। व्यक्ति के मार्ग में वस्तु के कारण से बाधा मत हो जाओ। व्यक्ति की रक्षा को प्रधानता दो। वस्तु की रक्षा में व्यक्ति की हानि हो जाये। यदि हम लोग अपने को साधक स्वीकार करते हैं, मानव सेवा संघ के सदस्य हों, चाहे स्थायी साधक हो, या आजीवन कार्यकर्ता। सहजभाव से जिसने संत को प्यार किया, संघ को को प्यार किया, इस संस्था की मामूली, सवा रुपया साल चंदा वाली सदस्यता भी ले ली और उस सदस्यता को आपने सच्चाई से स्वीकार किया है तो व्यवहार करते समय आपको याद आना चाहिये और याद आती रहेगी यह बात, तो सचमुच आप में मानवता को महत्त्व देने की सामथ्र्य आ जायेगी।

तो आज हमारे लिए पाठ क्या है? कि हम सब लोग अपने को साधक स्वीकार करें। साधकों के सोचने का ढंग विशेष प्रकार का होता है। एक लड़की अपने को साधक मानती है, उसने एक विषय पर मुझसे सलाह ली। टैम्परेरी सर्विस में है तो उससे ऊँचा पद और अधिक आदमनी वाली सर्विस मिलने पर अवसर आया तब उसने मुझसे सलाह माँगी, तो मैंने उससे पूछा कि तुम विचार करके देखो कि अधिक धन कमाया तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है क्या? तो उसने कहा, सो तो नहीं है। तो मैंने कहा, कि तुम्हारी योग्यता का उपयोग जहाँ तुम हो वहीं पर हो ही रहा है। एक प्रकार का रहन-सहन एक जगह पर सैट हो गया है। वहाँ रहकर अच्छी तरह से तुम्हारा काम चल रहा है, योग्यता का उपयोग हो ही रहा है, शरीर और समाज के सम्बन्ध का निर्वाह हो ही रहा है, तो यह सब इन्तजाम बिगड़ करके फिर एक बेचैनी में प्रवेश करने की क्या जरूरत है?

अगर तुम साधक हो, धन कमाना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य नहीं है और जो मिल रहा है उसको समाज की सेवा में लगाने का प्रश्न है, तो सब बनाबनाया इन्ताज बिगड़ कर बेचैनी काहे के लिए खरीदती हो। तो उसकी समझ में आ गई बात, और उसने कहा कि नहीं जाते हैं इण्टरव्यू में। मध्याप्रदेश में कहीं इण्टरव्यू में जाने की बात थी। सो नहीं गई। तो क्या हो गया?

जो अपने को साधक स्वीकार कर लेता है उसका लक्ष्य उसके सामने निर्धारित हो जाता है, और बहुत छोटी-छोटी बातों में भी वह अपना निर्धारित लक्ष्य, जो अपनी मान्यता है, वह मार्ग-दर्शक ;ळनपकमसपदमक्ष बन जाती है। इस दृष्टि से मैं साधक भाई-बहिनों की सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ कि 'मैं कुछ नहीं हूँ' इसके बारे में हम लोग पीछे सोचेंगे। मैं साधक हूँ, इस मान्यता को आज स्वीकार करिये तो आप देखियेगा कि विवेक विरोधी कर्म आपके द्वारा नहीं होगा। "सैल्फ कन्सैप्ट है" अर्थात् अपने सम्बन्ध में जो अपनी धारणा है उसका जीवन पर बड़ जोरदार प्रभाव होता है, और अगर इस मान्यता को सजीवता के साथ हम स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है, तो मेरे बढ़िया से बढ़िया व्याख्यान से, हमारा आपका कल्याण नहीं हो सकता। जी? व्याख्यान से कल्याण नहीं होगा। अपने सम्बन्ध में अपनी मान्यता ब्वदबमचज ;कन्सैप्टक्ष बदलो, अपने सम्बन्ध में अपनी धारणा को बदलो, असाधन युक्त धारणाओं को मिटाकर, एक साधन युक्त धारणा स्वीकार करो। इसी सम्बन्ध में ईश्वर-विश्वास की बात आती है। किसी दिन मैंने स्वीकार किया था कि मैं प्रोफेसर हूँ। एक दिन कागज पर लिखकर मैंने ही दे दिया कि अब यह काम मुझे नहीं करना है। लिख के दे दिया, तो मेरी मान्यता तो समाप्त हो गई। अब भी स्वयं को प्रोफेसर मानती रहूँ तो वह मान्यता झूठी होगी। अब मैंने अपने लिए यह स्वीकार किया है कि मैं साधक हूँ। यह मान्यता झूठी नहीं बनेगी। बीमार हो जाओ तब भी, शरीर असमर्थ हो जाये तब भी, आँख से दिखाई ने दे तब भी, कान से सुनायी न दे तब भी, मैं साधक हूँ। यह मान्यता कहाँ तक जायेगी? जब तक साध्य से अभिन्न न हो जाओ अर्थात् जब तक आपका सीमित अहम् भाव बना हुआ है, तब तक यह मान्यता आपको साथ देगी और कहाँ जाकर खतम होगी? साधक और साधक की मान्यता, ये सब जाकर एक साथ ही साध्य में समाहित हो जायेगी।

तो यह तो सच्ची मान्यता मालूम होती है, यह तो गलत नहीं है, यह छूटेगी नहीं, यह मिटेगी नहीं। यह तब तक आपके साथ रहेगी, जग तक आप अपने एक परिछिन्न अहम् की सत्ता का अनुभव कर रहे हैं। इसलिए यह मान्यता स्वीकार करने योग्य हैं, और इस मान्यता को स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति का बहुत विकास होता हैं। देह के अभिमानका कोई प्रश्न आ जावे, सम्मान के लोभ में पड़कर कुछ गलत कार्य करने का अवसर आ जावे, अपमान के क्षोभ में से क्षुब्ध होकर कुछ अकरणीय, प्रवृत्ति का आकर्षण जग जावे, तो आपको यह मान्यता कर्म नहीं करेंगे, आप कुछ अनर्थकारी चिन्तन नहीं करेंगे। तत्काल आपके सामने यह बात आकर खड़ी हो जायेगी-कि अरे! मैं तो साधक हूँ, मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? साध्य से अभिन्न होना। तो उस लक्ष्य की पूर्ति में जो भी कोई बातें बाधा पहुँचाने वाली होंगी उनको छोड़ने में आपको जरा भी तकलीफ नहीं होगी। तो यह मान्यता हम स्वीकार करें, और इसी मान्यता के आधार पर हम लोगों से, ईश्वर विश्वासी लोगों से, भगवद् भक्त संत ने कहा, कि जो मान्यतायें किसी भी क्षण मिथ्या प्रमाणित होती हैं उन मान्यताओं

को छोड़ दो। मैं अमुक का पुत्र हूँ, यह किसी दिन छूट जायेगा, पिता का शरीर नहीं रहेगा, तो खतम हो गई यह बात, मैं अमुक का पिता हूँ, यह मान्यता भी छूट जायेगी।

ऐसी मान्यतायें जो कभी भी छूट सकती है, उनको आज ही मिथ्या जान करके सब विश्वासों को एक सही विश्वास में, सब सम्बन्धों को, एक ही सही सम्बन्ध में विलीन कर दो। वह विश्वास कौन-सा है? वह सम्बन्ध कौन सा है? तो संत जन, भक्तजन बताते हैं, कि परमात्मा के साथ तुम्हारा नित्य सम्बन्ध है, इसलिए सब सम्बन्धों को एक परमात्मा के सम्बन्ध में विलीन कर दो। क्या करो? मैं किसी का पुत्र नहीं,मैं किसी का पिता नहीं, मैं किसी का मित्र नहीं, अन्य किसी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मेरा एकमात्र सम्बन्ध केवल परमात्मा से है। मैं परमात्मा का मित्र हूँ, मैं परमात्मा का पिता हूँ, जो पसन्द आये। आपके माने हुए सम्बन्ध को वे त्रिभुवननाथ इतना पसन्द करते हैं, इतना पसन्द करते हैं कि बाप बना लो तो बाप बनने को राजी, बेटा बना लो तो बेटा बनने को राजी, भाई बना लो तो भाई बनने को राजी। कैसे भी करो परमात्मा को मानव हृदय की आत्मीयता की स्वीकृति बहुत पसन्द है, बहुत पसन्द है।

इलाहाबाद कुम्भ मेले की बात है-किसी ने महाराजजी से पूछा कि महाराजजी! भगवान ने सृष्टि क्यों बनाई? लोग ऐसे ही ऊटपटाँग प्रश्न करते ही रहते थे। तो महाराजजी ने कहा, भगवान ने सृष्टि बनाईमेरे लिए, और मुझको बनाया अपने लिए। बड़ी सच्ची बात है। सृष्टि बनाई मेरे लिए, सृष्टिकत्ता ने सचमुच सृष्टि आपके लिए बनायी। उसका और दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। आप सोच करके देख लीजिये, सारी सृष्टि में आपको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा सामथ्र्यवान प्राणी नहीं है, जो सृष्टि को देख करके सृष्टिकत्ता की खोज कर सके, जो अपने को खपा कर, अपने प्राण को गँवा करके सृष्टि की सेवा करना पसन्द करे, जो सृष्टि के सुख को छोड़ कर, सर्व-उत्पत्ति के आधार को पकड़ना पसन्द करे। ऐसा कोई नहीं है, जो प्राकृतिक शक्तियों को प्राणियों के उपयोग के लायक काम में ले सके।

जैसे- मान लीजिए कि धरती में उर्वरा शक्ति है, सृष्टिकत्ता ने बना तो दी, पर खेती करने आते हैं क्या? हल चलाने आते नहीं आते हैं। अब धरती में उर्वरा शक्ति है, उस पर मेहनत करने से, उसमें बीज डालने से अन्न उपजेगा और प्राणियों के शरीर का भरण, पोषण होगा। तो धरती की उर्वरा शक्ति का उपयोग करना, उसकी खोज करना, उसकी शोध करना, उसमें काम करना, उसको समाज के लिए, शरीर के लिए उपयोगी बनाना, यह तो आपका काम है। अगर करते हैं इसको। तो सारी सृष्टि बनाई उन्होंने आपके प्यार से प्रेरित होकर, आपको सुख देने के लिए, और आपको बनाया अपने लिए।

सचमुच मानव-जीवन की रचना जो है, बड़े ऊँचे उद्देश्य से हुई है। और मैं क्या बताऊँ?, वैज्ञानिक सत्य को न जानने वाले लोग अविनाशी तत्त्व को, परमात्म को, यों ही अपनी अज्ञानता में उड़ाते रहते हैं। नहीं तो सचमुच जिन लोगों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन के सत्य पर विचार किया, उन लोगों ने इस सत्य को पहचाना है। करीब तीस वर्ष पहले, मनोविज्ञान के विषय को आदमी ने कितना स्थूल स्तर से आरम्भ किया था, और खोज करते-करते अंत में थ्योरी क्या बनायी? "परपेसिविज्म" अर्थात् मनुष्य के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते-करते मनोवैज्ञानिक कहने लगे, "ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व की रचना के पीछे किसी सत्ता का संकल्प काम कर

रहा है।" अब किसी का संकल्प काम कर रहा है, यह बात किसी प्रयोगशाला में टेस्ट करने में नहीं आ सकती। खोज करते-करते मनोवैज्ञानिक इस संकल्प पर पहुँच गये हैं और परपेसिविजिम ;चमतचंमअपेपउऋ नाम की एक थ्योरी बना दी। शुरू किया था यह कहते हुए कि जिस प्रयोगशाला में प्रयोग नहीं हो सकता है वह मेरा विषय नहीं है। अच्छी बात है भाई, विषय नहीं है तो छोड़ दो उसको। उसको छोड़ करके तुमको सत्य का अन्त कहीं नहीं मिलेगा। एक्सप्लानेशन अर्थात् स्पष्टीकरण देते-देते पहुँच गये वहाँ तक। अब किसी का संकल्प तुमने मान लिया, तो जिसका यह संकल्प है, जिसके संकल्प से मनुष्य के व्यक्तित्व का विस्तार हो रहा है, वह संकल्पकत्ता कौन है? कहाँ है? तो यह तो विज्ञान का विषय नहीं है, खोज करना हो तो दार्शनिक बन जाओ, फिलौसफर बन जाओ। उससे प्रेम करना है तो भक्त बन जाओ। सब रीजनिंग अर्थात् तर्क-वितर्क को समुद्र में डूबो दो। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को अपना स्वीकार करके उसके मित्र बन जाओ, उसके पुत्र बन जाओ, उसकी माता बन जाओ, उसकी प्रिया बन जाओ, उसके सखा बन जाओ और तब देखो मजा, कि जिसके संकल्प से तुम्हारे व्यक्तित्व का विस्तार हो रहा है, वह संकल्पकत्ता कितनी सामथ्र्य रखता ह, कितना माधुर्य रखता है, कितना हित-चिंतन करता है। देखो, यह होता है।

इसलिए आज इस प्रातः काल की बेला में हम सभी भाई-बहिनों को अपने को साधक स्वीकार करना है, यह पहिली मान्यता ले लें और सब विवेक विरोधी मान्यताओं को इस एक ही साधन युक्त मान्यता में विलीन कर दें। साधन युक्त मान्यता क्या है? ईश्वर-विश्वासियों की दृष्टि से, साधन युक्त मान्यता यह है, कि मेरा दृश्य जगत् में किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा नित्य सम्बन्ध केवल परमात्मा से है। परमात्मा से आत्ीय सम्बन्ध की स्वीकृति के फल-स्वरूप परमात्मा के प्रेम की अभिव्यक्ति होती है और जो परमात्मा आज अपने से बहुत दूर, कहीं छिपा हुआ, बड़ा रहस्यमय मालूम हो रहा है, आप सच मानिए उसके आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति के परिणामस्वरूप वह प्रकट हो जाता है। ऐसा हो सकता है कि हम लोगों में से जितने ईश्वर विश्वासी साधक यहाँ बैठे हैं, शरीर के नाश होने से पहिले उस ईश्वर की अभिव्यक्ति अपने हृदय में पा करके सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य को जाएँ।

प्रवचन 32

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

व्यक्तित्व में जो भौतिक तत्त्व हैं, जिनके आधार पर हमारी एक आकृति बनी हुई होती है, उसमें तो सीमायें होती हैं, परन्तु मनुष्य के जीवन में असीम की माँग भी होती है। अलख-अगोचर अविनाशी की माँग भी होती है। इसलिए मनुष्य एक ऐसी परम सत्ता का आश्रय लेना पसन्द करता है, जिसमें किसी प्रकार की असमर्थता न हो। मानव सेवा संघ ने यह नहीं कहा कि साधक मात्र को ईश्वर-विश्वासी होना चाहिए। ऐसा नहीं कहा। पहिले भी और अब भी अनेक साधक ऐसे हो गये जिन्होंने सत्य की जिज्ञासा की, जीवन की खोज की, परन्तु ईश्वर को नहीं माना।

मानव सेवा संघ साधक मात्र का हितैषी है। इस दृष्टिकोण से इसके सिद्धान्त में साधक के लिए ईश्वर-विश्वासी होना अनिवार्य नहीं बताया जाता। लेकिन ईश्वर-विश्वास साधकों का एक पंथ है। व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। और इस विश्वास के आधार पर भी वही जीवन मिलता है, जो किसी विचारक को मिलता है। देखा हुआ

जगत् सेवा का पात्र है, विश्वास का नहीं। शरीर साधन-सामग्री है, सदा साथ देने वाली नहीं है। तो ऐसा मालूम होता है कि हमारे पास जो विश्वास करने का तत्त्व हैं, मनुष्य का स्वभाव जो है उसमें विश्वास करने की एक मनोवृत्ति रहती है। उसका उपयोग केवल इतना है कि हम जीवन की आवश्यकता को देखकर, संतवाणी, भक्तवाणी, ग्रन्थ के वाक्यों को पढ़कर उस बिना देखे, बिना जाने परमात्मा में विश्वास करें। ईश्वर-विश्वास बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

मैंने ऐसा पाया है कि यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, पद, योग्यता, सुख-सम्मान की सामग्री चाहता है तो यह आप सभी भाई-बहिनों का अनुभव होगा कि अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति अवस्था का चाहने से चाहकाल में व्यक्ति के भीतर एक अभाव उत्पन्न हो जाता है। आप अपने अनुभव को सामने रखकर देखिए। कोई अप्राप्त वस्तु आप चाहते हैं और मिली नहीं है, तो चाह काल में आप अपने को अभाव में पाते हैं कि पूर्णता में पाते हैं? अभाव में पाते हैं। क्या बतायें शरीर में ऐसा रोग हो गया है, चिकित्सक ने अमुक प्रकार की दवा बताई है, दवा मिल नहीं रही है तो आपको बेबसी सताती है कि स्वाधीनता मालूम होती है? बेबसी सताती है। बहुत प्रत्यक्ष बात है इसमें कोई गहन दार्शनिक तथ्य नहीं है। और कोई ग्रन्थ की बात हो, अलौकिक बात हो, सो नहीं है।

हम सभी भाई-बहिनों के जीवन का प्रतिदिन का यह अनुभव है कि हम जो चाहते हैं सो नहीं होता है तो भीतर-भीतर मनुष्य अपने आप में अपने को छोटा देखने लगता है। असमर्थता सताने लगती है, बेबसी सताने लगती है, अभाव सताने लगता है, नीरसता सताने लगती है, ऐसा होता है। लेकिन ऐसी परिस्थिति में सन्तजनों का, भक्तजनों का वाक्य कितना सत्य होता है, कैसा जीवन देने वाला होता है, आप सभी भाई-बहिन इस बात का अनुभव करना चाहें और जिन्होंने किया होगा उनको पता ही है, कि जिस समय व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करके ईश्वर की कृपा की आवश्यकता अनुभव करता है, अपने उत्थान के लिए उनकी सहायता की आवश्यकता अनुभव करता है, तो उसको अभाव और बेबसी, पराधीनता, यह सब नहीं सताती। प्रभु मिलेंगे, कब मिलेंगे किस रूप में मिलेंगे, मिलेंगे तो क्या होगा? यह तो दूर की बात है, उनकी आवश्यकता अनुभव करने मात्र से जीवन में से अभाव की पीड़ा दूर हो जाती है, ऐसा होता है। कहाँ से बल भर जाताहै, कहाँ से रस भर जाता है, कैसे अहम् रूपी अणु में परिवर्तन हो जाता है। इस बात को ईश्वर-विश्वासी नहीं जानता है। उस अलौकिक अनुभव में वह स्वयं ही अपे आप आश्चर्यचकित होता रहता है।

प्रारम्भिक दिनों में जब स्वामीजी महाराज के पास बैठकर अपनी बेबसी मिटाने के लिए मैं बातचीत करने लगी तो शरण्य और शरणागत की चर्चा, विश्वासी और प्रभु की चर्चा, प्रेमी और प्रेमास्पद की चर्चा, मुझको ऐसी लगती थी कि पता नहीं ये बातें कितनी दूर की हैं। पता नहीं किस धातु से कौन-सा व्यक्तित्व रचा जाता होगा कि उसमें यह सब प्रकट होता होगा, ऐसा मुझे लगता था। ऐसा लगता था कि ये जो कह रहे हैं सो बिल्कुल ठीक है। लेकिन उसको ग्रहण करने में बड़ी कठिनाई होती थी। स्वभाव से माना नहीं जाता था तो आगे चलकर क्या होगा यह बात तो आगे की थी। माना ही नहीं जा रहा है, मुझसे विश्वास किया ही नहीं जा रहा हैं, इसकी अधिक परेशानी और तकलीफ मुझे थी, लेकिन इतना शंकालु हृय होने पर भी और अपने भाग्य से, सृष्टि

के विधान से, परमात्मा के विधान से, मुझको इतना क्षोभ था कि सहज भाव से सुनना और स्वीकार करना मेरे लिए बहुत कठिन बात थी।

इन सारी प्रतिकूलताओं के होते हुये भी आज प्रभु की कृपा से, उन्हीं के मंगलमय विधान से, उन्हीं के बनाये हुए मेरे प्यारे साधक भाई-बहिनों को जो उन्हीं के प्रतिरूप हैं, आप सभी साधकों कीसेवा में यह निवेदन करने में मुझे बड़ा हर्ष होता है कि मुझको विश्वास करना चाहिए था और मुझ में विश्वास किया नहीं जा रहा था, इसी परेशानी में उन्होंने मुझे अपना विश्वास प्रदान कर दिया। समय-समय पर मैं अपने आप की साधक-साधिकाओं को और सहज भाव से प्रभु की महिमा स्वीकार करने वाले भावुक हृदय के साधकों को यह निवेदन करती हूँ कि अरे भाई? मेरी जैसी विद्रोही मनोवृत्ति को, और अनेक प्रकार की शंकाओं से ग्रस्त को भी पीड़ा को, दूर करने के लिए यदि परमात्मा अपनी ओर से अपना विश्वास दे सकता है तो जिसके हृदय में थोड़ी भी कोमलता है, प्रभु की महिमा की स्वीकृति है, उसको तो प्रभु कृपा में किसी प्रकार की शंका करनी नहीं चाहिए। तो अब मुझे कैसा लगता है? अब मुझे ऐसा लगता है कि वह परमात्मा जिसकी चर्चा है हमारे समाज में जिसकी आवश्यकता है आपके व हमारे जीवन में, वह आपके अत्यन्त निकट है। उसके निकट होने का प्रत्यक्ष अनुभव कब होता है, जिस समय से आप उसमें विश्वास करना पसन्द करें उसी समय से होता है।

मुझे खूब याद है कि जब मैंने संत के मुख से ईश्वर का इतना निकट होना सुना नहीं था, तब तक जीवन की एक छोटी-सी कठिनाई भी मेरे लिए पहाड़ बन कर खड़ी हो जाती थी। ईश्वर तो थे उस समय भी और अनेक अवसरों पर उन्होंने अप्रकट रूप से छिपे-छिपे मेरे जीवन का संचालन भी किया, उसे सँभाला, परन्तु संत की वाणी से बड़े जोरदार शब्दों में यह सुनने को मिला कि अरे भाई, परमात्मा तो जानते ही हैं कि तुम उनके अपने हो। उनमें विस्मृति का दोष नहीं है। उनको तो मालूम ही है कि तुम उनके अपने हो। तुम यदि आवश्यकता अनुभव करते हो तो मेरे कहने से तुम मान लो कि वे तुम्हारे अपने है। तो परमात्मा तेा जानते ही है। उनकी जानकारी में थोड़े ही कोई कमी होती है। कमी हो जाती है मेरी मान्यता में, कमी हो जाती है मेरी स्वीकृति में, कमी हो जाती है मेरे गुणों के अभिमान से बढ़ी हुई जड़ता के कारण। यह गुणों का, व्यक्तित्व की विशेषताओं का, जो अभिमान है वह सत्य से हमें दूर कर देता है।

जहाँ व्यक्ति अपने को भगवद् सम£पत करता है, उनके होकर रहना पसन्द करता है, उनके विधान को मानकर चलना पसन्द करता है और असमर्थताकाल में उनकी कृपा की सहायता की आवश्यकता का अनुभव करता है तभी आप देखिये कि दूसरा कोई साधन, कोई जप-तप, कोई कठिनाई भुगतना आवश्यक नहीं रहता, सिवाय इसके, कि आप असमें विश्वास करें और उसकी आवश्यकता अनुभव करें। तो भीतर में आवश्यकता अनुभव हुई नहीं कि आपके अन्तर में ही उसका प्रकाश, उसकी अभिव्यक्ति आरम्भ हो जाती है। और महाराजजी ने ईश्वर-विश्वासी साधकों को एक और बड़ी आवश्यक सलाह यह दी कि देखो भाई, ईश्वर का मिलन किस रूप में होगा, उस रूप की तुम अपनी ओर से कल्पना मत करो, यह भी एक बड़ी जरूरी बात है। आपने ईश्वर में विश्वास किया और आप ईश्वर के शरणागत होकर रहते हैं। आप उनसे मिलना चाहते हैं तो अपनी रुचि, अपनी कल्पना को प्रधानता मत दीजिए। यह सोचकर मत बैठिये कि

मैंने ईश्वर में विश्वास किया है तो ईश्वर को अमुक-अमुक प्रकार का रूप बनाकर मेरे सामने आकर खड़ा होना ही चाहिए, ऐसा मत सोचिए। इसमें घाटा लग जायेगा। दूसरी बात क्या बताई कि आपके विश्वास और आपकी साधना की यह कसौटी नहीं है कि जिस परमात्मा की रूपमाधुरी का वर्णन सुनकर, पढ़कर आपने उनसे नाता, रिश्ता जोड़ा तो जब आप ध्यान करें उनका, तो वे आपके मनचाहे देश में आपके सामने खड़े हो जाएँ। ईश्वर-विश्वास की यह कसौटी नहीं है, भक्ति का यह प्रमाण नहीं है कि मैं जैसा सोचूँ वैसे ही बन करके वे आकर के खड़े हो जाएँ।

बड़ा गहरा रहस्य ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-भक्ति के बारे में महाराजजी ने यह बताया कि अपनी रुचि को लेकर के कोई प्रभु का प्रेमी नहीं हो सकता। रुचि क्या हैं? रूप-माधुरी के दर्शन का लालच भी रुचि का रूप धारण कर लेगा। सर्वहितकारी परमात्मा को मालूम है कि आपके साथ कैसा व्यवहार करने से आपका विकास होगा। क्या अपने अन्तस्थल की सब कथा हम लोग जानते हैं? जी? नहीं जानते हैं। और इसको तो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी देखा गया है कि मनुष्य के मस्तिष्क में कितनी इच्छायं, कितने पुरातन संस्कार, कितने प्रकार के राग जमा पड़े हैं।

एक तो चेतन स्तर है, जिस पर वर्तमान में कुछ-कुछ विचार और रुचि, इच्छा और संकल्प, से सब सामने रहते हैं, जिनको कि हम लोग जातने हैं। परन्तु उसकी अपेक्षा बहुत अधिक बातें हैं, आपके व्यक्तित्व की, जो आपके गहरे अन्तर्मन में, "अनकौन्शश में", छिपी हुई है, खोज करने वाले, मनोविज्ञान वेत्तओं नेयह बताया है कि जैसे समुद्र मे बर्फ का पहाड़ तैरता है जो "आइस-बर्ग" कहलाता है, बड़ी दूर से कोई जहाज चलाने वाला जहाज लेकर आ रहा है, तो उस आइस-बर्ग का जो छोटा-सा नुकीला हिस्सा ऊपर दिखाई देता है, उसी को देखकर अगर वह यह समझ ले के इतनी-सी चीज से ऊपर-ऊपर बचकर निकल जाना है, तो जितना हिस्सा आइस-बर्ग का पानी ऊपर दिखाई देता है उसका आठ गुना बड़ा विशाल हिस्सा जल के भीतर दबा हुआ रहता है, अगर ऊपरी भाग से ही बचकर निकलने की कोशिश की जावे तो पानी के भीतर जो छिपा हुआ विशाल भाग है वह जहाज को चकनाचूर कर देता है। ऐसे ही मनुष्यों को "कौन्शश लेविल" पर अर्थात् चेतनस्तर पर जिनती बातें मालूम होती हैं, वे तो उसके मानसिक जीवन का केवल 1/8 भाग हैं 7/8 भाग उस अन्तराल में छिपा हुआ है, जिसके बारे में अपने ही को पता नहीं है कि हमारे भीतर क्या-क्या है। तो ऐसी दशा है। हम सब लोग अपने बारे में पूरी बात नहीं जानते लेकिन परमात्मा सर्वज्ञ है।

अब हम लोग विश्वासी बनकर बात कर रहे हैं तो अब बुद्धि मत लगाइये, क्यों कि परमात्मा कारण है, मैं कार्य हूँ। तो कार्य को कारण का पूरा पता नहीं हो सकता है। इसलिए मान ही लेना पड़ेगा और यह मानने का ही पंथ है, शुक्र विश्वास का मार्ग है, कि वह हम लोगों को हमसे अधिक अच्छी तरह जानता है कि उनके मेरे साथ क्या करने से मेरा पूरा विश्वास होगा। आपने तो अपनी ओर से एक कल्पना करके रख ली कि मैं तो ईश्वर का विश्वास हूँ और मैंने तो परमात्मा से प्रार्थना की है तो मैं भक्त हो गया। अब परमात्मा मुझको दर्शन दे जाये, मुझसे बातें कर जाये, मुझको कह जाये कि हाँ मैंने तुम्हारा नाम अपने भक्तों की सूची में लिख लिया है, अगर ऐसा सोच करके आप बैठक जायेंगे और उसने देखा कि अी ी आपको दर्शन देना ठीक नहीं है और उन्होंने देर

लगायी तो आपको अपनी साधना में सन्देह हो जायेगा। कितनी बड़ी बात है। साधना में ही सन्देह हो जायेगा। सोचने लगेंगे कि अच्छा, इतने दिन तो हो गयेऔर परमात्मा ने मुझको दर्शन नहीं दिये। मालूम होता है कि मेरी साधना ठीक नहीं है तो महाराजजी ने ऐसा करने से मना किया है। अपनी ओर से कोई कल्पना मत करो, अपनी ओर से कोई चित्र मत बनाओ, अपनी ओर से कोई कसौटी मत बनाओ। तुम्हारा काम है विश्वास करना, तुम्हारा काम है अपने को सब प्रकार से उस सम£पत करके छोड़ देना। तो आप सच मानिये कि आपके जिस विश्वास के बल पर आपके अहं रूपी अणु में ही छिपा हुआ, परमात्म तत्त्व अपनी विभूतियों को विकसित करने लगता है, उस विश्वास में तर्क लगाना, सन्देह करना बड़ी भारी भूल है।

मैंने जब बहुत तीन-पाँच लगाई तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि देखो भाई, अगर बुद्धि का पल्ला तुम नहीं छोड़ सकते हो तो कितनी बुद्धिमानी है तुम्हारे पास? सब प्रकट करो मेरे सामने, और मैं तुम्हें बुद्धि के उपयोग का एक क्षेत्र बता देता हूँ। जितनी बुद्धिमानी है तुम्हारे पास, सब उसमें खर्च कर देना। परमात्म तत्व में, उनकी महिमा में, उनकी कृपालुता और करुणा में, बुद्धि कभी मत लगाना। बुद्धि अगर न रुके तो उसको लगा देना तुम शरीर के स्वरूप का विवेचन करने में, संसार के स्वरूप पर विचार करने में, इनमें बुद्धि लगा दो। क्यों? देखिए, स्वामीजी महाराज ने कैसा अकाट्य तर्क दिया है।

जिसके बारे में हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते हैं, उसी पर रिसर्च चलता है। थोड़ा मालूम है, थोड़ा नहीं मालूम है, उसकी की खोज की जाती है, उस पर तर्क लगाया जाता है, उसी पर एक्सपैरीमेन्ट किया जाता है। तो थोड़ा जानते हो, थोड़ा नहीं जानते हो, वही तुम्हारी बुद्धि का क्षेत्र है। जिसके बारे में कुछ नहीं जानते हो, "स्टार्टिंग पाइन्ट" है ही नहीं, उसमें तर्क क्या लगाओगे। जरूरत मालूम होती है तुम्हें तो उसमें विश्वास कर लो और जरूरत नहीं मालूम होती है तो बात ही छोड़ दो।

आज हम लोगों की दशा क्या है? दशा यह है कि न तो छोड़ते ही हैं और न मानते ही हैं। हम सभी भाई-बहिन, जो परमात्मा में विश्वास करने बैठे हैं, तो विश्वास में जो भी कुछ बाधा हो उसको दूर कर देना चाहिए। तो भक्ति का अर्थ स्वामीजी महाराज ने क्या बतया। भक्ति का अर्थ यह नहीं बताया कि मेरी जो-जो कामनायें संसार की सहायता से पूरी नहीं हुई, ईश्वर विश्वास से पूरी हो जायं। यह भक्ति का अर्थ नहीं बताया। भक्ति का अर्थ यह बताया, कि परमात्म को कैसे आनन्द मिलेग, परमात्माा को कैसे रस मिले, परमात्मा को कैसे प्यार का मिठास मिले, इस बात का चाव जिसमें है, वह भगवद्भक्त है।

बड़ी ऊँची बात है, और मानव-जीवन के लिए बड़े गौरव की बात है। यह उसी महिमा है, यह परमात्मा की ही मौज है कि उन्होंने सारी सृष्टि बनाई आपके लिए और अपने ही अंश से आपको प्रकट किया अपने प्रेम के रस के सम्पादन के लिए। बड़ी ऊँची बात है। आप सोच करके देखिए, इस दृष्टि से आपके व्यक्तित्व का कितना महत्त्व है। रसस्वरूप परमात्मा आपके हृदय से प्रेम-भाव का पान करने के लिए लालायित रहता है। रसस्वरूप परमात्मा अव्यक्त भी है, सर्वज्ञ भी है, सर्व-समर्थ भी है और उसने अपने ही संकल्प से आपकी रचना की और अपनी ही मौज से अपने इस विधान में बँध गया। किस विधान में, मेरा प्यारा-प्यारा मानव, मेरे प्यारे-प्यारे बच्चे, यदि मेरे

प्रेमी होना पसन्द करेंगे तो मैं उनका प्रेमी हो जाऊँगा।

अब कहा क्या जाये? सामथ्र्यवान की मौज है। इस परम-मधुर संकल्प से उन्होंने हम लोगों की रचना की और आप सोचिये कि जब मनुष्य के व्यक्तित्त्व में परमात्मा के प्रेमरस का प्रादुर्भाव हो जाता है, तो उस भक्त के माध्यम से परमात्मा के मधुर होने का जितना प्रत्यक्ष अनुभव संसार को होता है उतना सर्वव्यापी परमात्मा की सर्वत्र उपस्थित से तो नहीं हो रहा है। जी! अत्यन्त सूक्ष्म, अत्यन्त गुह्म, अत्यन्त रहस्यमय, अत्यन्त रसमय परमात्मा इस समय भी, समग्र विश्व में और विश्व से भी परे विद्यमान है कि नहीं? है। लेकिन परमात्मा के मिठास का अनुभव स्वामीजी महाराज के पास बैठकर जैसा हुआ वैसा अदृश्य परमात्मा के प्रेम का अनुभव कभी हुआ था क्या? जी? (श्रोता-नहीं हुआ) और परमात्मा के प्रेम से जिन सन्तों का हृदय तर हो जाता है, उनके प्रेम का प्रवाह जिन सन्तों के हृदय में बहने लगता है, वे जब कहते हैं, कि परमात्मा बड़ा प्रेमी है, बड़ा कृपालु है, तो उनके कहने से व्यक्तियों पर जितना प्रभाव होता है, उतना परमात्मा की सर्वव्यापकता बताई जाने से तो नहीं होता। जो आपकी रचना इसलिए नहीं हुई कि सत्य की चर्चा करते रहें, ईश्वर विश्वास की बातें करते रहें और मलमूत्र की थैली में विश्वास करके रोग में, बुढ़ापें में, असमर्थता में, कलप-कलप कर मर जायें।

इस बात के लिए आप नहीं बनाये गये कि 'तुम्ही हो माता, पिता तुम्ही हो' एसे गीत गाते रहें और बैंक के एकाउन्ट के भरोसे हृ में धन के लोभ की कठोर जड़ता को भरकर, परमात्मा के मधुर प्रेम से वंचित रहते हुए मर जायें, इसके लिए आप नहीं बनाये गये। आप इसलिए बनाये गये हैं कि वह अव्यक्त परमात्मा अपने प्रेम के मधुर रस को आपके, द्वारा आपके माध्यम से, इस जगत् में प्रकट करके, भवताप से तपने वाले प्राणियों को आनन्दित करे। इसके लिए आप बनाये गये हैं। उस सत्य-संकल्प का संकल्प हमारे जीवन को दिन-रात प्रेरित कर रहा है। प्रेम का अथाह सागर लहरा रहा है और मेरे प्यारे! तुम प्यासे-प्यासे दुनियामें फिर रहे हो। हमारी नालायकी से परमात्मा नाराज नहीं होता, हमारे भटक जाने से जैसे दुनियावी माता-पिता नाराज होते है। आप लोगां को इस बात का अनुभव है, कि जब बाल-बच्चे कहना न मानें तो खीझ करके कहते हैं कि जाओ जहाँ जाना हो जाओ, जो करना हो सो करो, जो भोगना है सो भोगो, लेकिन यह जगज्जननी, परम करुणामयी माँ, वह जगत्-पिता, समर्थ पिता, अनन्त माधुर्यवान, हम जैसे भटकते हुए बालकों पर विशेष दृष्टि रखता है। अरे यह बच्चा मेरा, कूद करके, लोभ, मोह, काम क्रोध की अग्नि में न पड़ जाये, जल न जाये, उसको बचाने के लिये वह विशेष कृपा दृष्टि रखता है।

स्वामीजी महाराज ने यही तो बारम्बार कहा- ईंट-पत्थर जोड़ करके बड़े-बड़े भवन बना लेने से मानव सेवा संघ की सफलता नहीं है। बड़े-बड़े आश्रम बना लेना, बड़ी-बड़ी प्रवृत्तियाँ चला लेना, मानव सेवा संघ का उद्देश्य नहीं है। प्रवृत्तियों के छोटे-छोटे नमूने, जैसे बाल-मन्दिर जिसमें छोटे-छोटे बच्चे साधकों की गोद में पल जाये। पूरी शक्ति लगाकर मानव-जीवन के लिए उपयोगी गौओं की सेवा कर दो। मानव-जीवन के लिए उपयोगी वृक्षों की सेवा कर दो। मानव-जीवन के लिए उपयोगी आश्रमों की सेवा कर दो। तो छोटी-छोटी प्रवृत्तियाँ नमूने के रूप में उन्होंने बनायीं। मानव सेवा संघ का उद्देश्य कभी नहीं है, कि बड़ी विस्तृत प्रवृत्तियों में सब साधकों को फँसा दिया जाये, बड़े-बड़े आश्रम, बड़े-बड़े भवन, बड़े-बड़े

अस्पताल, विद्यालय बनाकर खड़े कर दिये जायें। मानव सेवा संघ का यह उद्देश्य नहीं है।

मानव सेवा संघ का उद्देश्य क्या है, कि मानव अपने जीवन की इस महिमा को स्वीकार करे कि उस अनन्त परमात्मा ने अपना ही प्रतिरूप देकर आपको इसलिये बनाया कि वह अलौकिक प्रेम का रस आपके हृदय के द्वारा प्रवाहित होकर संसार के ताप का नाश कर दे। आपके व्यक्तित्व के सम्पर्क से अनेक व्यक्तियों के जीवन में चेतना की ज्योति जग जाये। हम सभी स्वामीजी महाराज के पाले हुए बच्चे हैं, और हम लोगों को उन्होंने मानव सेवा संध के सेवक और कार्यकत्र्ता होने का गौरव दिया है। यह मेरा अधिकार नहीं है, यह मेरी योग्यता और विशेषता नहीं हे, यह तो संत का दिया हुआ गौरव है। उन्होंने अनेक प्रकार की कमजोरियों से भरे हुए मिट्टी के पुतले में प्राण फूँकने की तरह, कितनी बार इस बात को प्रकट किया कि "तुम लोगों की हैसियत क्या मैं जानता नहीं हूँ?" मैं खूब जानता हूँ, लेकिन जिस-जिसने किसी अंश में भी भगवत्-मिलन की आकांक्षा प्रकट की, साधक होने की अभिलाषा प्रकट की, संघ के प्रति अपना प्रेम भाव प्रकट किया, किसी अंश में, तो उसकी सब दुर्बलताओं, सब कमजोरियों पर पर्दा डाल करके, थोड़ी-थोड़ी सी चेतना, थोड़ी-थोड़ी सी सद्भावना के आधार पर, हम लोगों को इकट्ठा करके संघ के प्रेमी और संघ के कार्यकत्र्ता का गौरव प्रदान किया है। हम लोगों की योग्यता और हम लोगों की विशेषता को उन्होंने सामने नहीं रखा। और इसी आधार पर लोगों की विशेषता को उन्होंने सामने नहीं रखा। और इसी आधार पर उन्होंने मुझसे बारम्बार कहा-मुझको जब कर्तृत्व का अभिमान कहें, या भास कहें, या चरित्र का भास कहें, कुछ लगता है, तो स्वामीजी महाराज ने बार-बार मुझको चेतनावनी दी, देवकी जी!-परमात्मा तुम्हारी योग्यता, तुम्हारी विशेषता से रीझेगा, ऐसा मत सोचना। परमात्मा किस बात से रीझता है? केवल तुम्हारे हृदय के प्यार से। तो आप सोचिये कि आपके जीवन की कितनी महिमा है। अगर आप ईश्वरीय प्रेम को प्रकट करने के लिए अपने हृदय को खोलकर परमात्मा के सामने छोड़ देते हैं तो आपका जीवन परमात्मा के लिए भी मूल्यवान हो जायेगा, क्योंकि प्रेम करने वाले साधक पर परमात्मा अपने को न्योछावर करता है। उसके लिये भी मूल्यवान हो जायेगा और आपके हृदय के प्रेम की कोमलता संसार के पीड़ित जनों के लिए भी बहुत उपयोगी हो जायेगी। यदि आप अपने जीवन की इस महिमा को स्वीकार कर लें तो मानव सेवा संघ सार्थक हो गया।

आप आजीवन सदस्य बन गये, आप साधारण सदस्य बन गये, आप स्थायी साधक बन गये, बड़ी अच्छी बात है कि आपने इन सब साधक रूप मान्यताओं को स्वीकार किया। परन्तु जो व्यक्ति स्थायी साधक भी नहीं बना है, साधारण सदस्य भी नहीं बना है, आजीवन सदस्य भी नहीं बना है, आजीवन कार्यकत्र्ता भी नहीं बना है, लेकिन यदि उसने भगवत् प्रेम के महत्त्व को स्वीकार कर लिया तो वह भी इतना ही प्रिय है संघ को, जितना उसका कोई भी कार्यकत्र्ता। साधक की दृष्टि से आप में चेतना जग गई, मानव होने के नाते आपके हृदय में परम प्रेमास्पद का प्रेम आ गया, तो यह मानव सेवा संघ की सफलता है, उस व्यक्ति के निर्माण के कार्यक्रम की सफलता है।

इस दृष्टि से यहाँ उपस्थित हुए भाई-बहिन मुझको अत्यन्त प्रिय लग रहे हैं, मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हो रही हूँ, मुझको इतना अच्छा लग रहा है, इतना अच्छा लग रहा है, कि सचमुच स्वामीजी महाराज के मिशन को , हम लोगों ने

सच्चे अर्थ में ग्रहण किया कि विभिन्न प्रकार की मनोरंजक प्रवृत्तियों स्थान न देकर, अपने ही अन्तर में सदा-सदा के लिए मग्न, सत्य तत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए शान्तिपूर्वक बैठकर जीवन के सत्य पर विचार कर रहे हैं। तो इस आयोजन का बहुत बड़ा लाभ मैं इस बात में मानती हूँ कि हम लोगों में से प्रत्येक भाई-बहिन अपने जीवन की इस महिमा को स्वीकार करें, कि सचमुच धरती पर एक आकार वाली, मल-मूत्र की थैली और हाड़-माँस की बनी हई इस आकृति को लेकर, इस धरती पर विचरण करने वाले भाई-बहिनों में परमात्मा के प्रेम रस का संचार हो जाये, तो मानव सेवा संघ की रजत जयन्ती सफल हो गई।

प्रवचन 33

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मानव-जीवन की व्याख्या करने से ऐसा परिचय मिलता है कि इस जीवन में कुछ कार्य करने की क्षमता है, कुछ विचार करने की शक्ति है और श्रद्धा-विश्वास का भी तत्त्व है। सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाने पर एक विशेषता आती है मनुष्य में। वह विशेषता क्या है कि शरीर के रहते-रहते अशरीरी जीवन के आनन्द में वह इतना मस्त रहने लगता है कि नाशवान शरीर के रहने का और न रहने का कोई विशेष अर्थ उसके लिए नहीं रह जाता। है तो ठीक है और नहीं है तो ठीक है। कब है और कब चला गया। कब स्वाँस चल रही है और कब बन्द हो गई। उसका भी उन पर कोई प्रभाव नहीं होता, इतने आनन्द में वे रहते हैं। उसी अशरीरी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए हम सभी-बहिन प्रयत्नशील हैं। हम सब लोग यही चाहते हैं।

शरीर का बन जाना, बदल जाना, बिगड़ जाना, मिट जाना, यह हमारी आपकी अपनी जानी हुई बात है। इस बात की जानकारी का हम लोगों ने लाभ उठाया और यह सोचा कि शरीरों का जैसा स्वभाव है वैसा ही होगा। तो उससे आगे जो है, जो मिटता नहीं है, जिसमें अभाव नहीं है, जिसमें किसी प्रकार का दुःख नहीं है, ऐसा जीवन हम सब भाई-बहिनों को चाहिये। उसी दिशा में हम लोग लगे हुए हैं। उसी के लिये सत्संग का कार्यक्रम है। उसी के लिये सब साधन-सामग्री है और उसी का अवसर है यह मानव-जीवन। उस अवसर का लाभ हम लोग उठावें कहाँ से आरम्भ करें- सबसे पहले स्थूल स्तर की बात ले ली जाये।

शरीर को लेकर सामाजिक सम्पर्क में हम रहते हैं, तो अनुभवी जनों की यह सलाह है कि जिस जन-समुदाय के बीच में हम रहते हैं, हमेशा उनसे किसी न किसी प्रकार का सहयोग लेना पसन्द करेंगे तो अशरीरी जीवन तक पहुँचने की सामथ्र्य अपने में नहीं रहेगी। लेने की भावना जब तक अपने भीतर बनी रहेगी, शरीर और संसार की पराधीनता से मुक्त होने की सामथ्र्य नहीं आयेगी, चाहे कितना भी संसारकी नश्वरता का विवेचन कर लो, कितना भी संसार की निन्दा कर लो और कितनी भी परमात्मा की स्तुति और महिमा गा लो। वे महामहिम हैं, वे करुणासागर हैं, वे जगत्पिता हैं, वे जगत्माता हैं, तो उनकी महिमा गाने से उनसे मिलना-जुलना हो जाता हो ऐसा नहीं होता और संसार की निन्दा करने से संसार से पिण्ड छूट जाता हो, सो नहीं छूटता। समझ में आता है? साधना आरम्भ कहाँ से हुई? साधना आरम्भ के हुई यहाँ से, कि जिस समाज में, जिस परिवार में, जिन व्यक्तियों के बीच में हम रहते हैं, उनसे लेन-देन का व्यवहार करते हुए न जाने कितने जन्म बिता लिये। कुछ दिया, कुछ लिया। अब आप सोचिए कि जब पैदा हुए थे तब समाज

को कुछ देने के लायक थे? नहीं थे। तो लेना ही लेना था। और फिर जब असमर्थता की घड़ी आ जायेगी, वृक्ष हो जायेगा शरीर, तब देने के लायक रहेंगे? नहीं रहेंगे। 2/3 हिस्सा तो असमर्थता का हो गया। जी! अब 1/3 भाग बचता है। बीच में जब शक्तियों का विकास होता है, शरीर में कुछ बल आता है, इन्द्रियाँ कुछ सशक्त होती हैं, बुद्धि कुछ काम करने के लायक होती है, उस समय भी यदि हम पद के आधार पर, बल के आधार पर, चतुराई-चालाकी के आधार पर, व्यवहार-कुशलता के आधार पर, जहाँ से जो कुछ मिले, लेने का ही दृष्टिकोण रखेंगे तो पराधीनता से मुक्ति कभी नहीं मिलेगी। तो साधना आरम्भ कहाँ से हुई? हाथ-पाँव मोड़ने से, लम्बी-गहरी स्वाँस की क्रिया से साधना आरम्भ नहीं हुई। साधना आरम्भ यहाँ से हुई कि जिस शरीर और समाज के सहयोग से अब तक हम सुख के भोगी बने हुए थे उस शरीर और समाज की सेवा आरम्भ करो अर्थात् लेना बन्द करके देने का दृष्टिकोण बनाओ। यह भौतिक-दर्शन का सिद्धान्त है।

भौतिकवाद एक दर्शन है। भौतिकता मनुष्य के जीवनका दूषण नहीं है। दार्शनिक सत्य तो यहीं है कि सत्ता एक ही की है, उससे भिन्न जब और किसी की सत्ता ही नहीं है तो यह हमारी आँखों को सामने दृश्य-जगत दिखाई दे रहा है और जब तक हमारा शरीर और संसार से सम्बन्ध बना हुआ है तब तक उसकी सत्ता को इन्कार करने से कैसे बनेगा? उस एक अव्यक्त ने अपने को इस व्यक्त जगत् में प्रकट किया है, तो यह व्यक्त जगत् बुरा भी नहीं है, निन्दनीय भी नहीं है, इसका दोष भी नहीं है, यह हम लोगों को दुःख देने वाला भी नहीं है, ऐसा मानना चाहिए।

घरबारी सामाजिक व्यक्तित्त्व वाले और बाल-बच्चेदार लोगों की साधना आरम्भ हो गई। कैसे? कि घर के भीतर से लेकर के जगत् में आपका जहाँ तक सम्पर्क है वहाँ तक-किसी को नुकसान नहीं पहुँचाना पहली बात, जिसके प्रति जो अपना कत्र्तव्य है, उसे पूरा करना दूसरी बात, दूसरों के कत्र्तव्य पर ध्यान न देना तीसरी बात, दूसरों पर अपना अधिकार न जमाना चैथी बात। ये बातें कर्म के क्षेत्र में साधना के रूप में हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाली होती हैं। अब आप हिन्दू हैं कि मूसलमान हैं कि सिख, जैन, बौऋ, पारसी किस मत के मानने वाले हैं और किस मजहब में आपकी पसन्दगी है, विश्वास है, मानव सेवा संघ किसी की व्यक्तिगत बातों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। किसी मजहब के मानने वाले हां आप किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए हो, कोई क्षति नहीं होसकती, कुछ नुकसान नहीं हो सकता। सब का भला हो सकता है। किस आधार पर? कि जीवन का जो भौतिक दर्शन है आप उसके अनुसार अपने कर्म के क्षेत्र को सँभाल लीजिये। सबके लिए समान रूप से सत्य है कि बुराई करना बन्द कर दो। भलाई करो, यथाशक्ति, यथासम्भव जैसी परिस्थिति बने। इतना तो हो गया व्यवहार जगत् का साधन।

अब इसके आगे अपना अलौकिक जीवन भी है, उसकी भी आवश्यकता हम अनुभव करते हैं, जिसके कारण यह सत्संग भवन बना और जिसके कारण हम आप, यहाँ आकर मिले हैं, उस अलौकि जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आगे अब क्या होगा? तो बुराई रहित होकर भलाई करना और की हुई भलाई के बदले में अपने लिये किसी से कुछ न चाहना और भलाई करने में जो सामग्री लगाई जा रही है उस सामग्री को लगाने का अभिमान न रखना। बुराई रहित हो जायेंगे तो समाज के प्रति आपका केवल सद्व्यवहार शेष रहेगा, नुकसान कुछ नही होगा। यथासम्भव,

यथाशक्ति निकटवर्ती जनों की सेवा कर डालेंगे तो सेवा की सामग्री का सदुपयोग हो जायेगा और सेवा-कार्य सम्पन्न होने के बाद आप की हुई भलाई के फल और अभिमान को छोड़कर शान्त हो जायेंगे तो शरीरों से असंग होने की सामथ्र्य आ जायेगी। शरीरों से तादात्म्य टूटेगा, तो शरीरों से असंग हो जाना और शरीरों से तादात्म्य तोड़ना। तो तादात्म्य और असंगता, ये दोनों ही शब्द अनुभव करने लायक है।

सच्ची बात यह है कि जिसको "मैं कहकर हम लोग सम्बोधित करते हैं वह "मैं" एक जीता-जागता अस्तित्त्व है और दिखाई देने वाली इस आकृति ;स्थूल शरीरऋ के भीतर कहीं पर वह 'मैं' कैद नहीं है। बड़ी विचित्र बात है, सुख-दुःख के भोगने का दृष्टिकोण लेकर जिसने शरीर और संसार की ओर दृष्टिपात किया उसको अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व का कोई परिचय नहीं मिलता है। लेकिन सच्ची बात है, बिल्कुल सवा सोलह आने सच्ची बात है कि जिस तत्त्व को 'मैं' कहकर हम लोग सम्बोन्धित करते हैं वह 'मैं', वह अलौकिक तत्त्व से रचा हुआ एक छोटा-सा यूनिट अर्थात् इकाई इस आकृति के भीतर कहीं नहीं है। इसमें वह कैद नहीं है। इसके साथ हमारा घुला-मिला हुआ सम्बन्ध कैसे हो गया कि इसके बाहर मेरे स्वतन्त्र अस्तित्त्व का कोई भास ही नहीं होता है। इस बीमारी का पता लगाया मैंने तो मुझे पता लगा कि चेतना की ओर से आँखे बन्द करके, जड़ता के स्तर पर उतर कर, मुख के द्वारा, रसना के द्वारा, स्वादिष्ट वस्तु खाने का लालच जब तक मेरे भीतर है, स्वाद की वासना, जब तक मेरे भीतर है, उस वासना के कारण उस अलौकिक 'मैं' का इस लौकिक आकार से ऐसा घुला-मिला तादात्म्य हो जाता है, अर्थात् हम लोग अपने को उससे इतना पकमदजपलि कर लेते हैं, कि इससे अलग भी मेरा कोई अस्तित्त्व है इसका कुछ पता नहीं चलता।

लेकिन जो साधक अपने को बुराई रहित बनाकर कुटुम्ब, परिवार और समाज के साथ, हितकारी कार्य करता है, और कार्य पूरा होने के बाद, अकेले में शान्त हो जाता है, और की हुई भलाई के बदले में भी जिसको न तो कुछ लौकिक लाभ चाहिए और न कर्तापन का अभिमान चाहिए, इन दोनों बातों को जो छोड़ देता है उसे शान्ति मिलती है। और उस शान्ति में इतनी सामथ्र्य है कि इस आकृति के विद्यमान होते हुए भी अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व का अनुभव हो जाता है। और जैसे अन्य मूर्तियों को हम बैठा हुआ देखते हैं, ऐसे ही इसको भी इस जगह बैठा हुआ अपने द्वारा वह देखता है। यह कब होता हैं? शरीरों से असंगता में होता है। शरीरों से तादात्म्य टूटने पर होता है। और तादात्म्य अथवा उसमें मरी आसक्ति और उसमें अपने को बिल्कुल घुला-मिला लेना, यह दोष मुझमें कब तक है, जब तक मैं शरीरों की सहायता से संसार में कुछ करना पसन्द करता हूँ। बुराई करने की बात तो छोड़ ही दो, वह तो मनुष्य के जीवन में होनी ही नहीं चाहिए, किसी भी कारण से नहीं होनी चाहिए। बुराई का प्रश्न ही नहीं है। भलाई के रूपमें कुछ अच्छा काम करने में भी एक रस होता है। भला कहलाने का भी एक मजा होता है। संसार को सहयोग देने के बदले में सुख-सुविधायें मिलने लगती है उनका भी एक सुख होता है।

शरीर के माध्यम से संसार की भली बातों को भी पसन्द करने लग जाओ तो शरीर और समाज की पराधीनता अपने भीतर से निकल नहीं सकती। वक्ता को जब श्रोता की याद आने लग जाये तो समझो कि उस साधक का सर्वनाश हो गया। जी! हो गया न! सत्य का विवेचन करने क्यों

बैठी हूँ मैं। मेरा बोलना और आपका सुनना, दोनों ही प्रवृत्तियाँ साधनरूपा हैं। बोलने मैं इसलिये बैठी हूँ कि सत्य की जो चर्चा मैं खुद अपने को समझाना चाहती हूँ, अपने साथ अन्य भाई-बहिनों के लिए भी वही बात बन जावे। जैसे-बोल करके मुझे उस सत्य का अनुभव करना है अपने लिये। मैं बोल रही हूँ कौन-सी बात? कि हम लोगों को शरीर और संसार की पराधीनता का नाश करना है?

मेरा अपना अस्तित्व जो है, जिसको 'मैं' कहकर हम लोग सम्बोन्धित कर रहे हैं, वह अलौकिक तत्त्वों का रचा हुआ उस असीम अलौकिक तत्त्व से अभिन्न हो जाये, इसके लिये चेष्टा करने हम चले हैं। पराधीनताके नाश की चर्चा करने के लिये अगर मुझे श्रोता की पराधीनता स्वीकार करनी पड़ी तो मेरा विकास हुआ कि ट्रास हुआ? ट्रास हुआ न! तो इतनी सावधानी अपने को रखनी है। मैं कोई गलत काम तो नहीं कर रहीं हूँ। अच्छा काम कर रही हूँ। आप सब बड़े प्रसन्न है। बड़ा सहयोग दे रहे हैं। फिर भी अच्छा काम करते हुए भी करने उद्देश्य मेरी दृष्टि में रहना चाहिए। अच्छा काम करने का उद्देश्य क्या है? बुराई करना छोड़ दोगे तो बुराई से भीतर जो विकार पैदा होते हैं उन विकारों का पैदा होना बन्द हो जायेगा और भलाई करने लग जाओगे तो भलाई करने के लिए जो सामथ्र्य जीवनदाता ने दी है उस सामथ्र्य का सदुपयोग हो जायेगा। यहाँ तक तो ठीक है। भलाई करने के बदले में अपने लिए कुछ नहीं पसन्द करोगे और भलाई करने का अभिमान नहीं रखोगे तो शरीर और समाज से जो एक लगाव बना हुआ है वह लगाव छूट जायेगा। उस समय एकान्त में जब आप अलौकिक जीवन के अनुभव के लिए बैठेंगे तो शरीर और समाज का चिन्तन आपको बाधा नहीं पहुँचायेगा। इस दिशा में अपने को आगे बढ़ना है।

अब जो बात महाराजजी की वाणी में हम लोगों को मिली, उस पर मैं आ रहीं हूँ-वह कौन सी बात है? परमात्मा ने किसी को पराधीनन नहीं बनाया। कर्म-सामग्री दे दी, तो उस कर्म-सामग्री को लेकर हम संसार में सुखपूर्वक रहना पसन्द करेंगे, परिश्रमपूर्वक उपार्जन करेंगे, तो शरीरों की सुविधा के लिए सामान मिल जायेगा, और उपार्जित सामग्री को उदारता पूर्वक बाँटेंगे तो समाज की सेवा बन जायेगी। विवेक के प्रकाश में देख करके अपने अलौकि जीवन पर दृष्टि रखकर, की हुई भलाई के फल और अभिमान को छोड़ देंगे तो शरीर और समाज की पराधीनता मिट जायेगी। फिर सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति की शान्ति में निवास करेंगे तो शरीरों से तादात्म्य टूट जायेगा। अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व का अपने को पक्का अनुभव मिल जायेगा। फिर तो मृत्यु का डर नहीं। फिर किसी प्रकार का अभाव नहीं। किसी प्रकार की पराधीनता नहीं। शरीरों के लिए समाज से, सुविधा पाने का प्रश्न भी हल हो गया और शरीर के रहते-रहते अशरीरी आनन्द का अनुभव भी हो गया। किस आधार पर हो गया? क्रियाशक्ति और विचारशक्ति के आधार पर। इतना हो गया। संसार में रहना हो गया कुशलता से, और संसार से मुक्ति भी हो गई।

एक और तत्त्व है मनुष्य के व्यक्तित्व में। वह है प्रेम का तत्त्व। उसके लिए स्वामीजी महाराज कह रहे हैं कि कुछ व्यक्तित्व ऐसे भी होते हैं संसार में, जिनके ध्यान में यह बात आती है कि अहा! इस संसार में सुविधापूर्वक, कुशलतापूर्वक रहने के लिए जिसने सामग्री दे दी, कर्म-सामग्री दे दी और संसार के बन्धन से छूटने के लिए जिसने विवेक का प्रकाश दे दिया, उसकी दी हुई शक्तियों के आधार पर मेरा संसार में रहना भी हो गया और संसार से छूटना भी हो गया। लेकिन

जिसने यह सब कुछ मुझको दिया, उसके लिए मैंने क्या किया? ऐसे स्वाधीन तबियत के साधक भी होते हैं जो लोक और परलोक को अपने पुरूषार्थ से सुधार लेते हैं। उतना करने के बाद भी उनके भीतर भाव की तरंगे उठती हैं। वे कहती हैं कि जिसने मेरे लिए इतना किया उसके लिए मैं भी अपने भुक्ति और मुक्ति न्यौछावर करूँ। उनकी पृष्ठभूमि में इतनी तैयारी है। तो वे कहते हैं, बड़ी स्वाधीनता के साथ, किसी प्रकार की लेने की वासना शेष नहीं रही नहीं। तो वे स्वयं को ही भगवान के समर्पण कर देते हैं और कहते हैं, "मैं तो हो गया गुलाम तेरा बेदाम का।" तुमसे मुझे कोई मूल्य नहीं चाहिए। ऐसा कौन कह सकता है? सचमुच जिसमें किसी प्रकार की कोई कामना शेष नहीं रही। वह परमात्मा से कहता है कि मैं तो हो गया गुलाम तेरा बेदाम का। बिना दाम के गुलाम हूँ तेरा, और हे प्यारे, तेरी जो मर्जी हो वह करो इस खिलौने के साथ, अपने आनन्द के लिये, अपनी प्रसन्नता के लिये, अपनी मौज के लिये, अपने प्रेम-रस के विस्तार के लिये। हे प्यारे, तुम्हें जैसा अच्छा लगे वैसे ही इस खिलौने के साथ खेलो। वह भक्त होता है।

स्वामीजी महाराज से एक बार किसी ब्रजवासी ने, जब वे अकेले ब्रज में विचरते थे तब पूछा, भोले-भाले लोग होते हैं और वहाँ लाला-लाली के सम्बन्ध का बड़ा महत्त्व है। तो उस ब्रजवासी ने स्वामीजी से पूछा- कि बाबा! लाली-लाली के लिए तुम्हारा क्या भाव है? सच्ची बात जो थी, वह बताई स्वामीजी महाराज ने उसको। उन्होंने कहा-देखो बाबा, मैं तुम्हारे लाला-लाली के खेलने का फुटबॅल हूँ। मैं उनका फुटबॅल हूँ। ब्रज में परमात्मा को बालक मानने की भावना हैं, मित्र और सखा, माता-पिता या प्रिया-प्रियतम इत्यादि सब संबंधों का महत्त्व है वहाँ। स्वामीजी महाराज ने बताया कि तुम्हारे लाला-लाली के खेलने का फुटबॅल हूँ मैं। बेचारा ब्रजवासी भोला-भाला सुनता रहा। स्वामीजी ने कहा कि लाला फेंकते हैं मुझे लाली की ओर, और लाली फेंकती हैं लाला की ओर। जिधर वे लोग फेंकते हैं उधर में लुढ़कता हूँ। मैं उनके खेलने फुटबॅल हूँ और बाबा तुम जानते हो, उसमें मुझे बड़ा रस हैं। क्या रस है? कि दोनों की दृष्टि मुझ पर जमी रहती है। फुटबॅल के खिलाड़ियों की दृष्टि कहाँ लगी रहती है-फुटबॅल पर। तो दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। लाला फेंकते है लाली की ओर, देखते रहते हैं कि कहाँ गया? और लाली फेंकती हैं लाला की ओर, देखती रहती है कि कहाँ गया? दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। बाबा! उसमें बड़ा रस है। मैं बहुत आनन्दित रहता हूँ और दोनों के आनन्द बढ़ाने का एक केन्द्र भी बना हुआ हूँ। खेलते हैं दोनो। आनन्द आता है दोनों को। जिधर फेंकते हैं, उधर जाता हूँ। मुझे बहुत मजा आता है। इतनी अहं शून्यता। अपने व्यक्तित्व में अपना करके कुछ है ही नहीं। जो सब प्रकार से अचाह नहीं हो जायेगा वह इस प्रकार अपने को उनके हाथ का खिलौना बना ही नहीं सकेगा। सम्बन्ध जोड़कर भी वे अपना कोई संकल्प छिपा कर नहीं रखंगे। भगवान की कृपा से यह बात पूरी हो जाये तो बहुत अच्छा है।

जिस मनुष्य में अपना कोई संकल्प है वह संकल्पपूर्ति के लिए परमात्मा से सम्बन्ध बनाता है। तो ऐसा नहीं है कि परमात्मा उसके संकल्प को पूरा न करें। कर भी सकते हैं, नहीं भी कर सकते हैं। जिसमें वे साधक का हित देखते हैं, वैसा कर देते हैं। स्वामीजी महाराज कहते थे- देवकी जी! अगर अपने मन की कोई बात उनसे पूरी करवाना चाहोगी तो परमात्मा को बहुत सस्त पड़ेगा। क्यों? अरे! साधक के संकल्प में होगा ही

क्या? थोड़ा सुख, थोड़ा सम्मान। कामना में और क्या होता है? किसी न किसी प्रकार के सुख की कामना अथवा किसी न किसी प्रकार के सम्मान की वासना छिपी होगी, चाहे छोटे रूप में, चाहे बड़े रूप में। महाराज कहते हैं कि देवकीजी! उन्हें बड़ा सस्ता पड़ता है इतना कर देना। उनके लिये क्यों? बिना माँगे ही सुख-सम्मान संसार में भर ही दिया था। लेकिन जब भक्त का हृदय बिल्कुल ही निष्काम हो जाता है, उसमें किसी प्रकार की वासना शेष नहीं रहती, ऐसे भक्त के प्रेम भाव का आदर करने के लिए परमात्मा लालायित हो उठते हैं। और जो सचमुच और कुछ नहीं चाहता है उसके लिए परमात्मा को अपने को ही देना पड़ता है। ऐसे आनन्द की बात होती है।

अब हम लोग अपने स्तर पर आ जायें। अब ईश्वर-विश्वास के पथ पर चलने वाले साधक अपना-अपना अन्तर्निरीक्षण करते जा रहे हैं। मैं बोलती जा रही हूँ और उस कसौटी पर आप अपने को देख ही रहे होंगे। भाई, मेरे भीतर क्या-क्या है, क्या-क्या नहीं है। अपने आत्मीय भाई-बहिनों से मेरा निवेदन यह है कि भक्त होने की कसौटी सुन करके आप डर न जाइये, घबरा मत जाइये और भक्ति-पंथ को छोड़कर खिसकियेगा नहीं। हमारे उस भाई की तरह कि अच्छा इतना करना है तो अब कुछ दिनों के बाद मिलूँगा। ऐसा मत सोचना। घबराना नहीं। मैं यह सब कथा इसलिए सुना रही हूँ कि जो कुछ आप कर रहे हैं क्रिया के रूप में, जो भी कुछ आप कर रहे हैं अब तक, प्रभु की भक्ति का अंग मानकर वह सब करना आप छोड़ियेगा नहीं। उसमें कोई बुराई नहीं है, इसलिये छोड़ना मत। जितना आप कर रहे थे भले वह सब आप रखिये लेकिन उसमें सजीवता किस प्रकार से आयेगी, इस सत्य को भी जोड़ लो। उसमें ऐसा होता है कि दो-दो चार घण्ट का समय व्यक्ति नियमों में लगाता है। बहुत अच्छी बात है। स्वामीजी महाराज निवेदन कर रहे हैं कि चार घण्टे तुमने अपनी साधना के लिए रख लिये-अगर समय का विभाजन हो गया-चैबीस घण्टों में से तेईस घण्टे भी तुम साधना के लिए मान लो, एक घण्टा भी उसमें से छूट गया तो साधना तो खण्डित हो गई न। ऐसा क्रम जीवन में क्यों न रखों कि सारा ही क्रम साधनमय हो जाये। होना चाहिए कि नहीं होना चाहिए।

इसी पर स्वामीजी महाराज कहते थे कि अगर माला जपने से भी परमात्मा मिलता है तो कमरे में झाड़ू लगाने से भी परमात्मा मिल सकता है। अगर तुम ऐसा सोचते हो कि माला जपना तो परमात्मा की भक्ति है और झाड़ू लगाना भक्ति नहीं है, तो तुम्हारी भक्ति खण्डित हो जायेगी, क्योंकि कभी न कभी झाड़ू लगाने के लिए माला तो छोड़ोगे ही। जी! इसलिए करना क्या चाहिए? जिस प्रिय के नाम का उच्चारण करने में आपको प्रियता लग रही हैं, माला जपने में जपने की क्रिया की प्रधानता न हो, प्यारे के नाम की प्रधानता हो जावे। प्यारे का नाम अपने को प्रियल लगने लगे। भीतर-भीतर प्यार उमड़ता चला जावे। जैसे-जैसे उनका नाम उच्चारण कर रहे हैं, आपका प्रेम बढ़ रहा है। रस बढ़ता रहता है, तो वाणी मधुर होती है कि मूक? मूक होती है। तो धीरे-धीरे बाहर की क्रिया जो है वह अन्तर के भाव में बदल जाये तो भक्ति दृढ़ हो जावेगी। एक बात। दूसरी बात यह है कि प्रभु के नाते नित्य नियम का निर्वाह साधना है, तो प्रभु के नाते शरीर के द्वारा किया गया संसार में हर काम साधना है। तो प्रभु का दिया हुआ शरीर, उन्हीं का दिया हुआ मकान, उन्हीं की दी हुई शक्ति, तो प्रभु की दी हुई शक्ति से प्रभु के मकान में झाड़ू लगाने से रस बढ़ सकता है कि नहीं? जी! बढ़ सकता है। तो उन्हीं के नाते

हर प्रवृत्ति हमारे लिए पूजा के समान पवित्र हो सकती है? जी! हो सकती है। अगर ऐसा हो गया तो भोजन अखण्ड हो गया, पूजन अखण्ड हो गया।

एक साधक की घटना स्वामीजी महाराज ने सुनाई थी हम लोगों को। भोले-भाले तबियत के साधक थे, गुरु के भक्त। सबेरे-सबेरे उनका नियम था कि गुरु महाराज के पास एक जल का पात्र था, पीतल का बड़ा लोटा। वे गंगाजी के तट पर रहते थे। जब तक गुरु महाराज अपनी साधना में, शान्ति में रहते, सबेरा होने से पहिले वे साधक लोटा लेकर गंगाजी के तट पर चले जाते और बालू से माँज कर भीतर-बाहर चमचमाता करके, जल भर कर, लाकर रखते। महाराज उठेंगे, कुटिया से बाहर आयेंगे तो मुँह-हाथ धोयेंगे। भीतर में उस साधक के बड़ी पवित्रता थी और सेवा की हर प्रवृत्ति में उसके पूजा का भाव था, बहुत पवित्रता थी, बड़ी प्रियता थी। एक दिन वे गंगा-तट गये, वहाँ लोटा माँजन लगे। भीतर से पवित्रता और सरसता उनको एकदम अभिभूत करने लगी, रसमय होने लगा। होते-होते इतना रस बढ़ गया कि उन साधक को क्रिया का तो ध्यान ही नहीं रहता, बहुत देर हो गई। काफी देर हो गई। गुरु-महाराज उठे भी, बाहर आये भी, दूसरे-दूसरे साधक लोगों ने कहा कि हम जल ले आयें? हम जल ले आयें? तो उन अन्तर के पारखी सन्त ने कहा कि नहीं-नहीं ठहरो, उसकी को आने दो। बहुत देर हुई तो दो-चार लोग दौड़े-देखें तो गंगा के तट पर क्या हो रहा है। वहाँ जाकर लोगों ने देखा, तो उस सज्जन के भीतर इतनी प्रीति की बाढ़ थी, उसमें वे खुद इतने मस्त थे और हाथ लोटा माँजने के ढंग से लोटे के भीतर घूम रहा है। माँजन का काम जो शुरू किया था वह क्रिया जैसी की तैसी हो रही है। हाथ हिल रहा था, वे अपने प्रेम समाधि में डूबे हुए, आनन्द में मस्त, वहीं देह धर्म से ऊपर उठे हुए अपने अलौकिक आनन्द में आनन्दित थे।

तो हर प्रवृत्ति साधना बन जाये, यह हम लोगों का ध्यये होना चाहिये। ऐसा किस तरह हो सकता है? जब लोटा परमात्मा का, जल परमात्मा का, साफ करने की दी हुई शक्ति भी परमात्मा की, उस क्रिया के बदले में, उस कार्य-सम्पादन के बदले में परमात्मा की प्रसन्नता के अतिरिक्त अपने को कुछ नहीं चाहिए। इतनी निस्पृहता जब हमारे में आवे तब हर क्रिया भजन हो जाये, हर प्रवृत्ति पूजा बन जाये।

प्रवचन 34

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

विश्वास-पथ के जितने साधक है, भगवत् अनुरागी अथवा ऐसे कहूँ कि भगवत्-अनुराग के अभिलाषी जितने साधक हैं, सबके लिए प्रेमी होने की बड़ी जोरदार कसौटी है। संसार से जरा भी सम्बन्ध अब मेरा नहीं रहा। संसार बुरा लगता है कि संसार की निन्दा करते हैं कि उसे क्षति पहुँचाते हैं, सो सब नहीं है। आप सभी भाई-बहिनों ने जो गोपी चरित्र में रुचि रखते हैं, सुना होगा कि वे तो दिन-रात अपने घर बार के काम में व्यस्त रहती थीं। बाल-बच्चों का पालन भी हो रहा है, गऊ भी सँभाली जा रही हैं, दूध-दही भी सँभाला जा रहा है। उन्होंने यह सब छोड़ा नहीं था और इनको बुरा नहीं समझा था। लेकिन हर काम करते समय हर वस्तु पर दृष्टि जाती तो उनके दिल में यही बात होती थी कि यह तो 'उसका' है, यह तो कन्हैया का है।यह तो उन्हीं के लिए है। तो उन्हीं का है, उन्हीं के लिए है, उन्हीं की प्रसन्नता के लिए है, उन्हीं की सेवा के लिए है। ऐसा वे मानती और वन में पहुँचने पर जब उन्होंने कहा चली जाओ तो कहती हैं कि

जहाँ भेज रहे हो, वहाँ से तो हमारा लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा।

परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना, यह तो दीक्षा वैष्णव मत की है ही। वैष्णव इसी को कहते हैं कि परमात्मा को अपना आत्मीय मानें। भूल यह हो जाती है कि हम इसके साथ अन्य सम्बन्ध भी जीवन में रखते हैं। परमात्मा से अपन नित्य संबंध है, उन्हीं से जातीय सम्बन्ध है। पर इसमें कुछ और सजगता हम लोगों को रखनी पड़ेगी कि जैसे मीराजी ने कहा-"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।" मैं अधिक महत्त्व देती हूँ "दूसरो न कोई" को। दूसरा कोई मेरा नहीं है, यह बात बहुत जरूरी है। उनके अतिरिक्त किसी और से अगर सम्बन्ध है तो फिर संसार में जो देखा हुआ है और दिखता है उसके सम्बन्ध के कारण भीतर की जड़ता जाती नहीं है, और जब जड़ता मिटती नहीं है तो बिना देखा, बिना जाना हुआ, उतना अपना नहीं लगता जितने ये हाड़-माँस के पुतले अपने लगते हैं। यह कमी रह जाती है।

आप सोचियेगा, जितने भाई-बहिन विश्वास-पथ के साधक यहाँ बैठे हैं उनके लिए मैं विशेष रूप से कह रही हूँ और विचार-पथ के साधकों के लिए भी ऐसी ही बात है। अपने में अपना जो है, उससे अभिन्न होने का जो आनन्द होता है उसमें कमी इसलिए रह जाती है कि उस अलौकिक अविनाशी आनन्द स्वरूप को भी हमने पसन्द किया और इस बनने-बिछुड़ने वाले संसार से भी सम्बन्ध रखा। दोनों तरफ सम्बन्ध रखते हैं तो दोनों का प्रभाव जीवन पर होता रहता है। द्वन्द्व बना रहता है। साधक कभी-कभी शान्तिकाल में उत्साहित हो जाता है और कभी-कभी संसार के चिन्तनकाल में घबरा जाता है। ये दोनों बातें चलती रहती है।

जो विश्वास-पथ के साधक हैं उनके लिये भी स्वामीजी महाराज ने एक बहुत जरूरी बात बताई और कहा कि देखो अगर विचार से तुम काम नहीं लोगे, अनित्य सम्बन्ध को अस्वीकार करने की भूमिका अगर तैयार नहीं होगी तो परमात्मा के साथ, उस अलख, अगोचर, अनजान अपरिचित के साथ आत्मीयता सजीव नहीं होगी। सजीव होने का अर्थ क्या है? सजीव होने का अर्थ यह है कि जब परमात्मा का सम्बन्ध जीवन में सजीव हो जाता है तो याद करने के लिए योजना नहीं बनाना पड़ता, सब समय उनकी याद बनी रहती है। आत्मीयता सजीव नहीं हुई, इसका यह रूप दिखाई देता है कि हमको अपने परम प्रेमास्पद प्रभु की याद करने के लिये योजना बनानी पड़ती है, जिसका आरम्भ भी होता है तथा उसका अन्त भी होता है। मानी हुई आत्मीयता सजीव होने की पहचान यह है कि याद करना नहीं पड़ता, निरन्तर उनकी याद आती है। उठते-बैठते, चलते-फिरते, काम करते, सब समय उनकी याद आती रहती है। याद आने लग जाये-इसमें बड़ा रहस्य है। याद को हम लोग बहुत मामूली ढंग से लेते हैं स्वामीजी महाराज के पास बैठकर अच्छे, सजीव ईश्वर-विश्वास की चर्चा में, विश्लेषण में, पढ़ने में, लिखने में, सुनने में मैंने पाया कि उस स्मृति का जाग्रत होना साधकों की सब प्रकार की चेष्टा की परावधिन है। सब कुछ किया हुआ आपका सफल हो गया, ऐसा माना जायेगा जब उन आत्मीय की आत्मीयता अर्थात् वे मेरे अपने हैं ऐसी उनकी याद अपने में बनी रहे।

इस दिशा में मैंने ऐसा पाया कि सामान्यतः साधक-समाज की मनोवृत्ति ऐसी होती है कि भाई, जरूरी-जरूरी काम तो होते ही रहते हैं, कुछ समय भगवत् भजन के लिए भी तो चाहिए। तो ठीक है भाई! जरूरी-जरूरी काम

कर लो और उसमें से कुछ समय जोर डालकर निकाल लो। भजन भी करना चाहिए। इस तरह भजन ैमबवदकंतल अर्थात् गौण चीज हो गई। अगर कभी नहीं हो सकते तो कोई चिन्ता की बात नही। क्या करें? भजन करना तो चाहते हैं, लेकिन जरूरी काम से फुर्सत ही नहीं मिलती है, तो भजन कैसे करें? जब किसी साधक के मुँह से ऐसी बात सुनती हूँ तो मैं अपने से पूछती हूँ कि अच्छा भाई, इस बात का फैसला करो, कि जरूरी-जरूरी काम से फुर्सत नहीं मिलती है कि गैर जरूरी काम में लगा जाए, तो भजन गैर जरूरी ही हो गया न जी। कितना बड़ा धोखा है बताओ?

जो प्रेम ईश्वर-विश्वास साधक का जीवन है, उस प्रेम के लिए हम सब लोग भीतर से बड़े लालायित हैं। ईश्वरीय प्रेम ऐसा अलौकिक तत्त्व है कि जन्म-जन्मान्तर का पाला हुआ अहं भाव, साधक का अपना आपा, वह उसमें सरस हो जाय, डूब जाय, आनन्दित हो जाय और सम्पूर्ण अहं जो है वह गलकर प्रेम की धातु में परिवर्ति हो जाये। उसका आस्वादन जिन बड़भागी अनुरागी सन्तों भक्तों ने किया, वह जितना उनको अच्छा लगा, मीठा लगा, मधुर लगा, उतना तो वे कह नहीं सके, क्योंकि वह कहने सकने की बात होती नहीं है, फिर भी जितना उन लोगां ने कहा, हम लोग सुन-सुनकर भीतर-भीतर ललचाते रहते हैं।

हे प्रभु! वह चमत्कार पूर्ण प्रेम का रस आप अपना कब हमको दीजियेगा, वह कब मुझे मिलेगा? वह कौन सी शुभ घड़ी होगी कि हम भगवत् चरणों के अनुरागी बनेंगे। ऐसे भीतर-भीतर हम लोग उसके लिए ललचाते रहते हैं। तरसते रहते हैं। सोचते रहते हैं। यह दशा हमारी, आपकी अपनी है कि नहीं है? जी? है। वही जब अपने जीवन का लक्ष्य है, उसी के लिए हम लोगों ने कदम उठाया है तो उसमें सजीवता आनी चाहिए कि नहीं? चाहिए। तो उसकी राह में पत्थर किसने खड़ा किया? क्या संसार ने खड़ा किया? क्या संसार की सामथ्र्य है कि भक्त को भगवान से, प्रेमस्वरूप से, मिलने में कोई बाधा पहुँचा दे। संसार की सामथ्र्य नहीं है। तो क्या सृष्टि के मालिक ने खड़ा किया है? जी? नहीं। वे भी खड़ा नहीं कर सकते। वे तो हमारी सब बाधाओं को हटाते रहते हैं। अगर किसी सुन्दर खिलौने में कोई बच्चा उलझ गया हो तो दूध पिलाने के समय, कि अब तो यह भूखा होगा, अब तो उसके खेल से निकाल करके दूध पिलाना चाहिए, तो माँ आकर के क्या करती है, कि जिसके सामने से सब खिलौनी जल्दी-जल्दी छिपा देती है। हटा दो, हटा दो, खिलौने हटा दो, तो इधर से उसका मन हटे तो वह माँ के पास आवे। तो सृष्टि के मालिक हम लोगां के सामने बाधायें खड़ी नहीं कर सकते। वे तो हमारी बाधाओं को हटाने का ही इन्तजाम करते रहते हैं, सब ओर से, सब समय। ऐसा मत सोचना कि जो साकार उपासक, अथवा निराकार उपासक उन परम कृपालु से कृपा की भिक्षा मांगेगें, उसी के साथ ऐसा करेंगे, यह बात नहीं है।

मानव सेवा संघ की प्रणाली में उस अनन्त तत्त्व के लिए, उनके लिये, विश्वास पथ के साधक और विचारपथ के साधक समान रूप से प्रिय हैं। तो विचारकों के सामने भी आने वाली बाधाओं को वे अनन्त परमात्मा हटाते ही रहते हैं, तो संसार पत्थर खड़ा कर नहीं सकता। परमात्मा खड़ा करना चाहते नहीं, उनका यह उद्देश्य ही नहीं है। वे तो दूर-दूर से अपने प्रेम का सन्देशा देकर, प्रेम रस का छींटा दे देकर हमारी भव ज्वाला को शान्त करते रहते हैं, मानो ऐसा कहते हैं कि मेरे पास अगाध, अनन्त, रस सागर हैं, मेरे बच्चे! मेरे प्यारे बच्चे! कहाँ भटक रहे हो? कहाँ फिर रहे हो? वे तो हमको अपने पास बुलाना ही

चाहते हैं, हमारी अतृप्ति को शान्त ही करना पसन्द करते हैं। हमारे भीतर उनका ही दिया हुआ प्रेम, हमारे द्वारा उन्हें दिया जाने पर उसे लेने में वे बड़ी कृतज्ञता मानते हैं।

दो उदाहरण मुझे याद आ गये। अब विवेचन की चर्चा यहाँ छोड़ रही हूँ। स्वामीजी महाराज के मुख से मैंने सुना था जो मुझे बहुत अच्छा लगा है कि रामावतार में जनकपुर में विवाह का उत्सव पूरा हो चुका था, उसके बाद भी बारात कुछ दिनों रह गई थी। जनक महाराज विदा ही नहीं करते थे। एक-एक पर्व, त्यौहार आता गया। जनकपुर के महल में पहुनाई करने वाली, विशुऋ प्रेम देनेवाली श्री किशोरीजी की सखियाँ थी, सहचरियाँ और बहिनें। तेरह बहिनं एक साथ जन्मी थीं किशोरीजी की सेवा करने के लिए। उनकी खास शक्तियाँ आई थीं। खूब प्रेम-पूर्वक पहुनाई होती जा रही है। बारात को रोका जा रहा है। होते-होते फिर आखिर चलने की तैयारी होने लगी। विदाई की बात होने लगी। तो बहुत अधीर होकर श्रीराम से कह रही है कि आपको देखे बिना तो हमसे रहा ही नहीं जाता है। हे लालन! आप चले जायेंगे तो हम कैसे रहेंगी? उनको तो मालूम ही है कि श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम है। दो-चार ब्याह तो कर ही नहीं सकते। ऐसी कोई बात उनके दिल में नहीं थीं। फिर भी उन्होंने कहा कि हम तो अपनी किशोरीजी के साथ ही जायेंगी और आप दोनों की सेवा में ही जिन्दगी बितायेंगी। महल में वास हमारा नही होगा, लेकिन महल के पास घांस-फूँस की झोपंड़ी बनायेंगे और युगल जोड़ी के दर्शन का, उनको रिझाने का, उनकी सेवा का आनन्द लेंगी। कहने को तो थोड़ा ही कह सकीं, ज्यादा कह नहीं सकीं, फिर भी जो प्रेम-भाव के पारखी हैं, सबसे बड़े प्रेमी हैं, उन्होंने जान लिया और बातचीत करते-करते मधुर-मधुर कोमल वचनों से भक्तजनों के हृदय को भरते हुए उन्होंने कहा कि हे सखियों! मैं सदा-सदा से ही आपका हूँ और आप ही का रहूँगा। "आपने जो किया सो किसी ने नहीं किया।" यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है।

यही वाक्य कृष्णावतार में भी मिलता है। वहाँ भी गोपियों के त्यागमय प्रेम के प्रसंग में आपने सुना होगा कि जब भगवान ने कहा कि यहाँ क्यों आई? रात्रि के समय वन में अकेले नहीं आना चाहिए था। तो कहती हैं-आपको आचार्य बनाने नहीं आई हैं, आपसे उपदेश लेने हम नहीं आई हैं। हम तो इसलिए आई हैं कि हमारे आने से आपको प्रसन्नता होगी। तो प्रिय को प्रसन्नता होगी-ऐसा पवित्र प्रेम। और जब वे कहते हैं कि चली जाओ, तो कहती हैं कि जहाँ भेज रहे हो, वहाँ से हमारा तृण के समान भी सम्बन्ध नहीं है। तिनके के बराबर भी सम्बन्ध नहीं है। कुछ नाता उधर से नहीं है। उधर से भी कुछ चाहिये नहीं और तुमसे भी कुछ चाहिए नहीं। तुमसे मुक्ति माँगने नहीं आई हैं, उपदेश लेने नहीं आई हैं, आचार्य बनाने नहीं आई हैं। उनके इन सब बातों का कुछ भी ख्याल नहीं है। क्या करने आई हैं? कि हे प्यारे! हमें देखकर तुम्हें प्रसन्नता होगी इसलिए हम आई हैं। ऐसा निःस्पृह प्रेम जिसमें अपना कुछ संकल्प ही नहीं है। अपने पर अपना अधिकार ही नहीं है। यहाँ तक कि जब वे किसी भी प्रकार से मान हीं नहीं रहे हैं तो कहती हैं कि कोई बात नहीं, तुम्हारे विरह की ज्वाला में यह तन भस्म हो जायेगा तो हे प्यारे! उस भस्मी के ऊपर होकर एक बार निकल जाना। सुनकर भगवान मुग्ध हो गये, सराहना करने लगे। कहते हैं-"तुम जो कियो सो कोऊ न कियो, हे गोपकुमारी"। हे सखियो! तुमने जो किया, वह किसी ने नहीं किया। क्या अर्थ है? उन्हीं का बनाया हुआ खिलौना, हमसब उनके हाथ के

खिलौने ही हैं, उन्होंने अपना ही प्रेमरस देकर हम लोगों को सरस बनाया। अपने ही अनन्त माधुर्य के गुण से हमें अपनी ओर आक£षत किया।

मैं तो ऐसा ही मानती हूँ। स्वभाव से जो लोग भक्तिभाव से भरे होते हैं, उनकी तो चरण धूलि मैं मस्तक पर चढ़ाती हूँ लेकिन अपना हाल कैसा है? तो अपना हाल स्वामीजी महाराज से निवेदन करने लग ई। "पाथेय" में कहीं आया है। में कहने लगी कि "स्वामीजी महाराज! इस जगत् में, इस भौतिकता की चमक में भूला हुआ मानव और उनको याद कर सके, अपने लिये तो यह संभव नहीं लगता हैं।" यह तो मेरी ही दुर्दशा देखकर उनकी करुणा द्रवित हुई हैं। उन्हीं को मेरा दुःख सताने लगा है, उनको मेरी सुधि लेने की सूझी है तो मुझे उनकी याद आई, भगवत् कृपा का आविर्भाव क्या बताऊँ। मुझे मनुष्य के जीवन का यह इतना बड़ा चमत्कार मालूम होता है कि अगर इसका उद्घाटन इस जीवन में नहीं हुआ तो मनुष्य होने का लाभ ही क्या पाया हम लोगों ने।

किसी पाश्चात्य चिन्तक ने एक, निबन्ध लिखा था। उसको बहुत दिन हो गये अब तो। उसमें यह लिखा था कि भारतीय दर्शन तो समझ में आता है, अलख, अगोचर, अविनाशी एक ही अव्यक्त तत्त्व और वही अनेक रूपों में अपना विस्तार करता है और समेटता है, वही सर्व उत्पत्ति का आधार है, वही सर्व प्रतीति का प्रकाशक हैं, इत्यादि। उनकी भाषा में नहीं बोल रही हूँ। वे तो बुद्धि के स्तर से ही आरम्भ करते हैं। यह जो प्दजमतससपहमदबम अर्थात् सत्-असत् के विवेचन करने की शक्ति है-यहीं से वे अपना दर्शन आरम्भ करते हैं। उसने लिखा है कि भारतीय दर्शन में जो नित्य तत्त्व का विवेचन है वह तो समझ में आ जाता है, पर पता नहीं चलता कि भारतवासी साधकजन कौन-सी तकनीक प्रक्रिया जानते हैं कि वह अलख, अगोचर, नित्यतत्त्व, एक अकेला ऐसा 'वह' है जो दो हाथ वाला, दो पाँव वाला बनकर, छोटा-सा नन्हा होकर उनके सामने आ जाता है, और न जाने भारतीय भक्त कौन-सी तकनीक जानते है। कि उनके इशारे पर वह नाचताहै, खाता है, खेलता है, बैठता है और जरा-जरा सी बात के लिये उनके आगे याचक बनताहै। यह तकनीक हम लोगों की समझ में नहीं आती। स्वामीजी महाराज को मैंने पढ़कर सुनाया। मैंने कहा, महाराज! सुनिये इस पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तक ने ऐसा-ऐसा लिखा है। तो हँसने लगे। कहने लगे-बेटा! इसमें तकनीक कोई है ही नहीं, जानेगा कैसे? यह बात किसी तोर-तरीके से नहीं होती है। किसी तकनीक से नहीं होती है। यह तो वे प्रेम के दीवाने जानते हैं जो लोक और परलोक को उस परम प्रेमास्पद के चरणों पर न्यौछावर कर देते हैं। हे भगवान! इस संसार का सुख हमको नहीं चाहिए। हे सरकार यह मुक्ति भी हमको नहीं चाहिए। यह मुक्ति और भुक्ति, भोग और मोक्ष सब कुछ तुम्हारे चरणों पर सम£पत है। ऐसे जो परम स्वाधीनता के आनन्द को उस स्वाधीन पर लुटा दें और उसके अधीन हो जाते हैं और कहते हैं, हे प्यारे! तुम्हें जो अच्छा लगे सो करो। इस तरह जीवन का तुम्हें जो उपयोग अच्छा लगे सो करो। तुम्हें जिसमें आनन्द आवे सो करो। ऐसे जो भक्त होते हैं उन भक्तों के आगे भगवान स्वयं ही कृतज्ञ हो जाते हैं। अपनी ओर से भक्त को प्यार देते हैं और भक्त जब उस प्यार को भी परमात्मा के अ£पत करता है, तब खूब उत्साह से लेते हैं कि तुमने जो किया वह किसी ने नहीं किया। क्या महिमा है, क्या विशेषता है।! कितनी बड़ी बात है।

जब अपने हृदय की संकीर्णतासे मुझे बड़ा ही कष्ट होता कि हाय! मेरे पास कुछ है नहीं। ऐसे परम सुन्दर, परम मधुर, परम उदार को मैंने

अपना उपास्य बनाया तो उनको देने के लिए तो यहाँ कुछ है ही नहीं। क्या करूँ मैं? भीतर-भीतर बड़ा दुःख है होता। इस बात को स्वामीजी महाराज को मैं सुनाया करती तो कहते कि भाई, चिन्ता क्यों करती हो? चिन्ता मत करो। अरे भक्त के पास कितना है, कि उस विश्वम्भर को देगा। भगवान् के यहाँ कुछ कमी है क्या? कोई कोना उनका खाली है क्या, जो तुम्हारे देने से भरेगा? ऐसा नहीं है। कैसा है? कि भक्त की ओर से भाव बहुत ही क्षीण और दुर्बल जाता है लेकिन उनसे अपने पुरुषार्थ के द्वारा उस भाव को जुटा देता हैं तो वहाँ तो अथा सागर है प्रेम का। उनसे जुटा देने के बाद तुम्हारी तरफ हो गया हुआ बहुत ही दुर्बल, बहुत ही क्षणी, जो प्रेम का भाव है वह उस अथाह सागर से जुटकर बहुत हो जाता है, अपार हो जाता है। और जब उनकी हैसियत से, उनकी ओर से वह प्रेरेम का भाव विस्तृत होकर लहराता हुआ वापस आता है तो भक्त के हृदय को भर देता हैं, तब उसका जीवन रसमय बनता है। फिर उस रसमय जीवन से उस रसस्वरूप का आनन्द आता है। तो सच्ची बात तो यही है कि सब कुछ उन्हीं का दिया हुआ है। भूल अपनी इतनी हो गई कि उस पवित्र प्रेम की प्यार को मैंने ढककर रख दिया और जगत् की तृष्णा को प्रश्रय देकर सुख-भोग के द्वारा जीवन को बर्बाद किया। अब सन्त कृपा से, भगवत् कृपा से, जीवन के मंगलमय विधान से इसमें सुधार हो गया।

भाई! जीवन का जो रस-स्रोत है वह तृष्णा की अग्नि में डाल करके जलाओ मत। समझ में आता है? जी? अपने को ऊपर-ऊपर से प्रभु का नाम ले-लेकर, गीत गा-गा कर अपने को रिझाओ मत। क्या करो? तो इस रस-स्रोत को जलने से बचाओ और फिर इसे कहाँ लगाओ? तो इसको उसमें लगा दो जो प्रेमरस का अथाह सागर है। उसके बाद फिर कुछ करना शेष नहीं रहता। उस रसमय के रस की मधुरता से जन्म-जन्मान्तर के विकार धुल जाते हैं। सब नीरसता मिट जाती हैं और क्या-क्या हो जाता है सो तो साधक के ध्यान में नहीं आता है कि क्या-क्या हो गया? और उसको इसकी परवाह भी नहीं रहती है। और रस ऐसा भरता है, भीतर-बाहर सब तरफ से, कि फिर उसमें सीमित अहंभाव का पता भी नहीं चलता है। यह बड़ा भारी चमत्कार है मनुष्य के जीवन का।

उसकी और अधिक विशेषता, मैंने यह देखी कि ज्ञानपंथ और भक्तिपंथ दोनों बिल्कुल एक दिखाई देते हैं मुझे। वह क्या हैं? दार्शनिक सत्य के रूप में हम लोगों ने यह माना था कि वह एक ही अव्यक्त, नित्यतत्त्व जो है, अलख, अगोचर, अनादि, अनन्त उसी में अपने को इस व्यक्त-जगत के रूप में प्रकट किया है। वह व्यक्त हो गया, स्थूल हो गया, साकार बन गया, तो सीमा हो गई उसकी। किसकी सीमा हो गई? उस अनन्त तत्त्व की सीमा नहीं हो गई। उसने जो स्थूल साकार बना दिया, उस आकृति की, उस स्थूलता की सीमा हो गई, उस साकार के आकार की सीमा हो गई उस उत्पत्ति का अन्त अनिवार्य हो गया यह तो दार्शनिक सत्य है।

आस्तिकता का सत्य क्या है? कि आपने जब उस अलख, अगोचर, अनन्त रस-स्वरूप से इस जीवन का रस स्त्रोत जोड़ दिया और उसके साथ मिलने से जब उसकी विभूतियाँ आपके भक्तिपूर्ण जीवन में भरने लग ई तो एक बड़ा चमत्कार हो गया। क्या चमत्कार हो गया कि उसी में से निकल-निकल कर यह सब स्थूल छोटा-छोटा सा सीमित आकार जो बना था, जिसको हम लोग भौतिक-विज्ञान की दृष्टि से, भौतिक अणु-परमाणु के नाम से सम्बोधित करते हैं, और जानते हैं, यह भी बदलते-बदलते प्रेम के प्रेमभाव से

अपने उस अलौकिक अविनाशी प्रेम तत्त्व में ही विलीन हो गया। बड़ा विचित्र रहस्य है। दार्शनिक दृष्टिकोण से भी और आस्तिकता की दृष्टि से भी। दोनों में ही इतनी अधिक एकता दिखाई देती है मुझे। जहाँ जाकर पन्थों का भेद खत्म हो जाता है।

आपने सुना होगा, एक ऐतिहासिक सत्य है कि मीराजी का भौतिक शरीर किसी ने पाया नहीं, उनके प्रेममय होने के बाद। ये भौतिक शरीर के अणु-परमाणु भी, भगवद्भक्तों की भक्ति के प्रभाव से उस अलौकिक तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। आपने इस ऐतिहासिक घटना को सुना ही होगा। बड़ा आनन्द आता है मुझे। भक्ति और ज्ञान की ऐसी एकता दिखाई देती हैं इसमें, कि मजा आ जाता है। कई घटनाएँ ऐसी हैं, एक नहीं है। और अब जब मैं वीतराग सन्तों के जीवन का चमत्कार देखती-सुनती हूँ और दूर से हमारी स्थूल दृष्टि से दिखाई देने वाली भक्तों की एक आकृति दिखाई देती है तो हम ऐसा समझते हैं कि हम उसके पास बैठे हैं। तो ऐसा चमत्कार होता है। अपने को बड़ा आकर्षण लगता है, बड़ी शान्ति लगती है, एकदम से जैसे भ्रम के बादल हटने लगते हैं, केवल बैठने से। बातचीत करने की कोई खास बात नहीं है। बातचीत हो गई हो तो अच्छी बात है नहीं हुई तो केवल बैठो। तो उनका व्यक्तित्व अहं-शून्य होता है, चाहे वे ज्ञान-पंथ के संत हो, वीतराग पुरुष हों, आत्मनित्यतत्त्व से अभिन्न हों अथवा प्रेमपंथ के संत हों, भक्त हों। उनके अहं-शून्य व्यक्तित्व में से ज्ञान और प्रेम का प्रकाश ऐसा विभु होकर फैलता रहता है कि कोई तमबमचजपअपजल ;संग्रहणशीलताक्र लेकर उनके पास बैठे, चाहे तो ज्ञान के प्रकाश से भ्रम का नाश कराने की ग्राहकता लेकर, चाहे प्रभु प्रेम की प्यास में लेकर, उनके पास जाकर कोई बैठे तो ऐसे ही बिना प्रयास के ही उनका प्रभाव भरने लग जाता है। ऐसा होता है। मैंने ऐसा पाया है।

बरेली में एक आनन्द आश्रम है। वहाँ सत्संग के लिए प्रेमी लोग बुलाया करते थे। मैं प्रतिवर्ष जाती थी, अब नहीं जा रही हूँ दो-चार साल से। वहाँ एक वृक्र संत रहते थे। मैं बिल्कुल नहीं जानती थी उनको। कोई परिचय नहीं था लेकिन सत्संग के प्रेमी थे। स्वामीजी महाराज को वे जानते होंगे। तो बच्चे की तरह खूब प्यार करते। वृक्र शरीर था। बैठाते और कहते, बोलो, सुनाओ। मैं अपनी धुन में सुनाती चली जाती। कितनी बार का मेरा अनुभव है कि उनकी उपस्थिति में मैं बोलती जा रही हूँ, बौद्धिक स्तर पर, अलौकिक और देहातीत जीवन की चर्चा सोच-समझकर करनी एक बात है, परन्तु बोलते ही बोलते ऐसा हो जाता है कि मानों शरीर से सब लगाव छूटता जा रहा है। और जैसे उस प्रकाश में सब दिखता जा रहा है। ऐसा लगने लग जाता था। भूल ही जाती थी मैं समय को भी भूल जाती। पता नहीं कैसा-कैसा लगता और थोड़ी देर के बाद ध्यान में आता, तब भीतर ही भीतर संकोच होता कि पता नहीं मैं क्या-क्या बोल गई। ऐसा एक बार का नहीं, कई बार का अनुभव है। अपने महाराजजी के पास भी बैठकर देखा है, और भी भक्तजनों के पास बैठकर देखा है, कि वह भाव ऐसा व्यापक हो जाता है। कब? जब वे संत शरीर के भास को पार कर डायरेक्ट कनेक्शन उनके अपने अनुभव में आ जाता है, उनके भीतर अहं नहीं रहता।

मह£ष रमण का भी ऐसा ही था। जाकर कोई दुःख सुनावे और उनसे जवाब माँगे तो बहुत ही सरलता से अपने देहातीत आनन्द की मस्ती से मस्त आँखों पर बाहर के दृश्यों की कोई प्रतिच्छाया नहीं पड़ती थी, प्उचतमेपवद ;भावाभिव्यक्तिक्र बदलती नहीं थी। बस, ऐसी

मस्ती में, कहाँ आँखें हैं, कहाँ वे हैं, उनसे कहा जाता कि महाराज, ये दुनिया दुःख सुना रहा है, कुछ कह दीजिये। तो बड़े आनन्द से मुस्कराते हुए कह देते भाई, तुमने सुना दिया, जिसको सुनना है उसमें सुन लिया। जो करना होगा करेगा, महर्षि कुछ नहीं जानता है। महर्षि शब्द से सम्बोधित होने का अभिमान उनको नहीं था। जैसे हम लोगों का नाम पड़ा है, वैसे ही उनका नाम पड़ गया था। तो ऐसा जो तत्त्वनिष्ठ होता है, सचमुच भगवत् परायण संत भक्त होते हैं, उनका जीवन हम सभी साधकों के लिए बड़ा उपयोगी होता है।

अब तो मैं ऐसा कहती हूँ कि सत्य की अभिव्यक्ति का जीवन में अगर यह चमत्कार नहीं हुआ, अगर प्रेमरस के प्रवाह की इस मधुरता ने जीवन को भरपूर नहीं किया, मरणशील शरीर को लेकर, परिवर्तनशील जगत् में रहते हुए अगर इसके द्वारा उस अनन्त तत्त्व के प्रकाश का आनन्द अपने को नहीं आया, यदि उस प्रेमस्वरूप को प्रेम प्रदान करने का श्रेय हमने नहीं लिया, तो जीवन धारण करके क्या किया? कितनी बड़ी बात है, जरा सोचो तो सही। प्रेमस्वरूप प्रभु ने उनको प्रेम प्रदान करने का अवसर आपको दिया है, और किसी को नहीं दिया, इस लम्बी-चैड़ी सृष्टि में किसी और को नहीं दिया, आप ही को दिया और यह श्रेय आपने नहीं लिया और उनके मुख से एक बार ऐसे वचन सुन नहीं लिये-"तुम जो कियो सो कोऊ न किया है गोपियो।" तो जी कर क्या किया? क्या किया हम लोगों ने जन्म लेकर? क्या किया वक्ता बनकर? क्या किया श्रोता बनकर? अब शान्त हो जाओ।

प्रवचन 35

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

जीवन के विकास का बड़ा सुन्दर क्रम है, उसका व्यावहारिक रूप भी सुन्दर है, अध्यात्मिक विकास भी सुन्दर है और उसमें भी भगवत् अनुराग जब भी आ जाये, तो उससे मानव का सुन्दरतम चित्र बनता है। व्यावहारिक रूप में सबसे पहली बात है कि हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे। दूसरी बात है कि परिश्रमपूर्वक ईमानदारी से उपार्जन करेंगे और उदारतापूर्वक उसका वितरण करेंगे। इससे व्यावहारिक जीवन बड़ा सुन्दर बन जाता है। अपने पास जो कुछ है, वह सब उनकी सेवा में लगा देंगे, जिनको इसकी जरूरत है।

संसार में काम करने का समय मध्यकाल में आता है। छोटे बच्चे जो संसार के काम के लायक तैयार नहीं हुए, वे सेवा के अधिकारी हैं और वृक्ष शरीर जिनका समय निकल गया है, वे भी सेवा के अधिकारी हैं। समाजसेवी लोग जिन्होंनं धन कमाना बन्द कर दिया, वे सेवा के अधिकारी हैं। सत्य की खोज में लगे हुए, भगवत् अनुराग में डूबे हुए सन्त और भक्तजन जो उपार्जन के काम से अलग हो चुके हैं, वे सेवा के अधिकारी है। तो ऐसा व्यावहारिक जीवन जिसमें प्राप्त सामग्री और प्राप्त सामथ्र्य सब सेवा के पात्रों की सेवा में अपर्ण हो जो वह जीवन बहुत सुन्दर बन जाता है।

प्रकृति का ऐसा विधान है कि दूसरों के साथ हम जो कुछ करेंगे, वही अनेक गुणा अधिक होकर, अपने साथ होता है। इसलिए जो अनुभवीजन हैं, वे प्रकृति के विधान को, जीवन के विधान को जानते हैं, वे कहते हैं कि बुराई किसी के साथ मत करो, नहीं तो वह बहुत बड़ी होकर तुम्हारे साथ होगी। और भलाई करने की बात जब जीवन में आवें तब शक्ति भले ही सीमित हो, समय

सीमित हो, लेकिन आपका भाव असीम होगा, वस्तु आपके पास थोड़ी-सी होगी, लेकिन जिस दुःखी वर्ग की सेवा करने आप जायेंगे उस दुःखी वर्ग का भला हो जाये, उसका कल्याण हो जाये, उसका कल्याण हो जाये, उसका दुःख मिट जाये, इस प्रकार की भावना जो आपके दिल में होगी, वह विशाल होगी, असीम होगी। वह वस्तु जो आप देंगे दूसरों को, उस वस्तु से अन्य शरीरों की सेवा बनेगी, और आपके भीतर सद्भाव होगा कि हे प्रभु सबका दुःख मिटे, हे प्रभु सबका कल्याण हो। ऐसी सद्भावना जो आपके दिल में होगी, उसके द्वारा आपका चित्त शुक्र होगा। यह पहला फल बन गया उसका। आपका चित्त शुक्र होगा और आपकी सद्भावना से, समाज में सद्भावना फैलेगी, यह समाज की सेवा बन गई। ऐसे हमारा-आपका इस संसार में रहना बहुत ही सुन्दर उपयोगी हो सकता है।

दुःखों का नाश कैसे होगा? तो अभी हम लोगों ने सन्तवाणी में यह सुना, कि जो सुख के भोगों का त्याग कर देगा, भोगों की इच्छाओं और वासनाओं का त्याग कर देगा, उसका दुःख मिट जायेगा। दुःख मिटाना हम लोग चाहते हैं कि नहीं? जी? अपना भी और दूसरों का भी। जी? चाहते हैं दुःख मिटाना। दुःख मिटाने का उपाय क्या है? तो बहुत ही पक्का परीक्षित, प्रमाणित उपाय यह है कि अपने में से सुख-भोग की प्रवृत्ति और सुख-भोग की वासना दोनों को निकाल देना चाहिए। यह दुःख निवृत्ति का उपाय है। सुख भोगों की प्रवृत्तियों को और इच्छाओं दोनों को छोड़ना पड़ेगा। इन दोनों का त्याग यदि हमने कर दिया, तो अपना चित्त शुक्र हो गया, अन्तर में बहुत शान्ति आ गई। और जिसे स्वयं सुख भोगने की इच्छा नहीं है, उसके पास आई हुई सामग्री अवश्य ही सेवा में लग जाती है। वह क्या करेगा अपने पास रखके। उसके पास अगर सामग्री आयेगी तो वह सेवा में लगा देगा। इस तरह से हमारा जो यह बाह्म जीवन है, जगत् में रहने का एक अवसर और क्रम है। यह सुन्दर बन सकता है। और आप देखिए, ऐसा कोई व्यक्ति हो, जो काम करने में समर्थ है और उसके पास सामग्री भी है फिर भी वह शारीरिक बल को और अपने पास की सामग्री को, अपने सुख भोग में न लगा कर सेवा में लगाता हैं तो ऐसे व्यक्ति को समाज पसन्द करता है कि नहीं? और समाज पसन्द करने लग जाये तो क्या उस सेवाभावी को भूखा-प्यासा रहना पड़ेगा? जी? नहीं रहना पड़ेगा।

एक बहुत अच्छी घटना मुझे याद आ गई। स्वामीजी महाराज टे᭢न में बैठकर जा रहे थे। पेजब्से में बैठे थे, और तब ये अन्न नहीं खाते थे। तो उनको देने के लिए दूध और फल लाये जाते थे। तो कुछ लोग स्टेशन-स्टेशन पर गऊ का दूध घर से बनाकर लाते थे, कुछ लोग फल रखकर जाते थे। दो-चार नवयुवक लड़के उसी ब्वउचंतजउमदज में स्वामीजी महाराज के पास बैठे थे। उन्होंने कुछ देर तक देखा, बाबाजी के पास तो बहुत दूध आ रहा है, फल आ रहा है, तो वे मनचले लड़के कहने लगे कि चलो भाई, हम लोग भी साधु हो जायें, फिर महाराजजी से कहने लगे, महाराजजी हम लो भी साधु बन जायेंगे तो हम लोगों को भी दूध, फल सब मुफ्त में मिलेगा? तो स्वामीजी ने कहा कि नही भैया! मुफ्त में नहीं मिलता है। लड़कों ने कहा ऐसा केसे? हम लोग तो इतनी देर से देख रहे हैं। आपको तो सब कुछ मुफ्त में मिल रहा है। तो स्वामीजी ने खूब प्यार किया उनको और कहा कि भैया! तुम नहीं जानते हो, मुफ्त में नहीं मिल रहा है। हमने कितना दिया, तुमको क्या पता? कितना छोड़ा है? तब यह आ रहा है। सो तुमका जानना चाहिए।

फिर वे लड़के चुप हो गये, कुछ बातचीत नहीं हुई मैं तो वहाँ थी नहीं स्वामीजी महाराज ने बाद में हम लोगों को सुनाया। इतना ही सुनाया कि लड़कों ने ऐसे-ऐसे कहा कि महाराज जी! हम लोग तो देख रहे हैं, इतनी से, आपके पास तो सब सामान बिल्कुल तिमम आ रहा है तो महाराज ने कहा कि नहीं भैया! थ्तमम नहीं आ रहा है, मैंने कितना दिया है तुमको क्या पता। इसे तिमम मत समझना। यह तिमम नहीं है। इतना ही स्वामीजी महाराज ने हम लोगों को भी सुनाया। मैंने भी कुछ पूछा नहीं।

मैं विचार करने लगी भीतर-भीतर कि सचमुच समाज की ओर से आवश्यक वस्तुएँ आने लगती हैं, आवश्यक सहयोग आने लगता है। और अहं-शून्य वीतराग, सन्त महापुरुषों के शरीर की रक्षा, प्रकृति करने लगती हैं, परमात्मा करने लगते हैं समाज करने लगता है। ऐसा तो हम लोगों ने देखा है। आनन्दमयी माताजी स्वामीजी महाराज को लेकर जा रही थीं। उनका जन्मोत्सव माताजी स्वामीजी महाराज को लेकर जा रही थीं। उनका जन्मोत्सव होता था, मई के महीने में। बड़ी कड़ी धूप थी, और लेकर चलीं, नौका पर से उतार गंगाजी के तट पर, वाराणसी के आश्रम में। बड़ी कड़ी धूप थी, तो कहने लगीं अरे, बाबा को धूप लग रही है, छाया होती, बादल हो जाते तो अच्छा था। तो माँ के भीतर यह संकल्प हुआ कि एकदम घने बादल आ गये, और खूब छाया फैल गई। जितना दूर स्वामीजी महाराज को ले करके वे मण्डप तक गई, यज्ञशाला तक गई, उतनी दूर तक बादलों की छाया रही, स्वामीजी महाराज के पीछे-पीछे हम भी जा रहे थे, कई लोग थे, हम सब लोगों ने यह अनुभव किया था। सन्त के भीतर जरा-सी पीड़ा हुई कि अरे! बाबा को कष्ट हो रहा है, धूप लग रही है, बस एकदम घने बादल आ गये। देखी हुई बात है। तो एक-दो नहीं, अनेक उदाहरण सामने है कि प्रकृति मदद करती है, परमात्मा मदद करते हैं, समाज मदद करता है। ऐसा होता है।

मैंने जब सोचा तो तेरे ध्यान में आ गई बात, कि भाई जिसने सुख की प्रवृत्ति को छोड़ दिया और जिसने सुख के संकल्प को भी छोड़ दिया, ऐसा संकल्प भी नहीं रहा के अमुक समय पर भोजन मिलना ही चाहिए कि अमुक प्रकार का मिलना चाहिए, कि शरीर को जीवित रखना ही चाहिए। उसकी फिर भी स्वाँस चल रही है तो भगवान को उससे समाज की सेवा कराना है। 'मैं' तत्त्व-बोध और प्रेमस्वरूप परमात्मा से अभिन्न हो जाने वाली बात नहीं कर रही हूँ। में यह कह रही हूँ कि मनुष्य होने के नाते जिस समाज में हम लोग रहते हैं, जिस धरती पर चलते फिरते हैं, प्रकृति की बनाई उस वाटिका को, उस सुन्दर सी सृष्टि को और मूत्तियों जैसे विविध प्रकार के व्यक्तियों से सजे हुए समाज को, सुन्दर से सुन्दर कैसे बनाया जा सकता है? यह पहला प्रश्न हम सभी सत्संगी भाई-बहिनों के सामने होना चाहिए। आप सबके दिल-दिमाग में यह बात रहती है कि जिस समाज में मैं हूँ वह सुन्दर होना चाहिए और मेरा जीवन बहुत ही कुशलतापूर्वक, सम्मानपूर्वक बीतना चाहिए। बोलिए-आपके भीतर यह बात रहती है कि नहीं? जी? तो ऐसा कैसे होता है? वह उपाय मैं आपके सामने बता रही हूँ।

स्वामीजी महाराज ने कहा कि भैया, यह सब तिमम नहीं है। बड़ा मूल्य चुकाया है। उसका कौन सा मूल्य चुकाया है? सुख की प्रवृत्तियों का त्याग किया है, और सुख की इच्छाओं का त्याग किया है, और शरीर पर से अपना अधिकार उठा लिया है। समाज चाहे तो इसको सँभाले और रखे। रखेगा तो उसकी सेवा करेंगे, और नहीं रखेगा तो

मेरी बला से, इतना निःस्पृह होना चाहिए। ऐसा नहीं कि मैंने सुखों का त्याग कर दिया, मैंने सुख की प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया, तो इतने बड़े महात्मा हम हो गये, तो समाज को तो मेरे चरणों पर लेटना ही चाहिए। अगर ऐसा किसी के भीतर भाव बनता है तो वह महात्मा हो ही नहीं पायेगा। समाज की सेवा के लिए मैंने जीवन-दान किया है, तो सारे समाज को मिल करके, हमारी हर इच्छा की पूर्ति करनी ही चाहिए। मेरी हर सुविधा समाज को देखनी चाहिए। संस्था के कार्यकत्र्ता हम बने हैं, तो संस्था की सारी शक्ति मेरे ऊपर बरसनी ही चाहिए, अगर ऐसा किसी के दिल में आता है तो उसका तो दुःख ही नहीं मिटेगा। सुख की वासना ही नहीं छूटेगा, मनुष्यता ही नहीं रहेगी तो मुक्ति और भक्ति को तो ताक पर रख दो। वह तो बड़ी दूर की बात है।

मेरे बचपन में घर में एक कहावत सुना करती थीं-"आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास।" जब मैं साधक कोटि के भाई-बहिनों को देखती हूँ कि समाज के लिए उपयोगी होना, अपने चित्त को शुऋ करना, जो सेवा का पास है उसकी सेवा देने में, अपने भीतर महत्त्व की अहम भावना रखना, कि मैं विशेष व्यक्ति हूँ और यह कम है, इसलिए यह मुझसे सेवा लेने आया है, ये सब दोष ऐसे हैं कि साधना के पथ पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ने देते। क्योंकि "किया कराया सब गया, जब आया अहंकार" आप सभी भाई-बहिन अपने को संसारी कहते हैं, अपने को गृहस्थी कहते हैं, अपने को सामाजिक कहते हैं सब ओर से थोड़े दिनों के लिए छुट्टी लेके सत्संग के नाम पर आकर यहाँ बैठे हैं, तो आपका जो जीवन का पहला पाठ है कि किस प्रकार आगे बढ़ना चाहिए, वह सन्तजनों ने हम लोगों को पढ़ाया है और यह कहा कि जिसने संसार में, ठीक प्रकार से रहना नहीं सीखा, उसमें से संसार की आसक्ति नहीं निकलेगी। संसार में रहना नहीं आया, तो संसार से मुक्त होने की सामथ्र्य कभी नहीं आयेगा। संसार में रहना सीखना है। क्या करना है? उसमें कोई जतंपदपदह लेनी पड़ेगी, ऐसा कुछ नहीं है। विचारशक्ति से काम लीजिए। काम बन जायेगा। विचार करने की बात क्या है? कि जिसने सुख पसन्द किया वह दुःख से बच नहीं सकता। तो जिसको दुःख से बचना है उसको सुख से बचना चाहिए, तो काम बन जायेगा। यह यहाँ पर रहने का सुन्दर तरीका है।

अब तक जो कुछ संसार की संगति का प्रभाव अपने पर अंकित हो चुका है, उसके नाश के लिए क्या उपाय करें। तो जगत् में और समाज में सशरीर रहने का जितना समय मिलेगा, उसी समय के सदुपयोग से पुराने प्रभावों को हम मिटा सकते हैं। व्यर्थ चिन्तन का भी नाश हो जायेगा और शरीर, संसार की आवश्यकता भी अपने लिए खतम हो जायेगी। एक बात हो गई। अब दूसरी बात देखो-प्रकृति की सम्पत्ति है सारी सृष्टि और प्रकृति की ही सम्पत्ति में ये सारे शरीर भी आते हैं। बिल्कुल भौतिक दृष्टि से देखो। मैंने प्रकृति का विधान ऐसा सुना है और पढ़ा है कि जो मनुष्य प्राकृतिक सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करता है उसको उसमें बहुत ही आसानी होती है कि शरीर और संसार की पराधीनता से ऊपर उठ जाये और उसके ऐसा करने में सारी प्रकृति आनन्दित होती है।

जीमवेवचीपबंसैवबपमजल के एक अच्छे सन्त हो गये हैं जिन्होंने निर्ममता और निष्कामता का आनन्द पाया। मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, सारी सृष्टि एक है। प्रकृति एक नदपज अर्थात् ईकाई है। उसी का सब विस्तार है। तो मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है ऐसा मानने से ममता का

नाश हो गया और चूँकि मुझे अविनाशी जीवन चाहिए। तो निष्कामता का आराम उनको मिल गया। उनको निर्ममता और निष्कामता प्राप्त हो गई थी, इतनी तो जानी हुई बात है, इसके आगे उनको क्या-क्या मिला होगा वे जानें। उन्होंने विचार प्रकट किये, अपना अनुभव बताया। थियोसोफिकल सोसाइटी की एक आध्यात्मिक पत्रिका निकलती हैं, उसमे निबन्ध उनका छपा था। श्त्मजनतद श्रवनतदमलश् घर वापिस जाने की यात्रा। उसमें बताया कि इस प्राकृतिक जगत् में व्यक्ति रहता है। वह अगर प्रकृति की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना छोड़ दे तो प्राकृतिक शक्तियों में बड़ी प्रसन्नता भर जाती है, और उसके भी आगे उसने अगर प्रकृति की वस्तु पर अपना अधिकार जमाना छोड़ दिया, तो प्रकृति में बड़ी उदारता आ जाती है।

पहले भी आपने सुना होगा, ऋषि-मुनि वन में रहा करते थे, तो गऊएँ आकर कुटिया के सामने खड़ी हो जाती थीं, और बिना दुहे उनके दूध बहता था और ऋषि-मुनि अपने पात्र में ले लेते थे और पी लेते थे। और फलों के वृक्षों में खूब फल लगते थे और फल-फूल देकर प्रकृति उनको भरपूर रखती थी। ऐसा हम लोगों ने सुना है। जी, सुनी हुई बात है, झूठी इसलिए नहीं है कि समष्टि शक्ति के कार्य में जो अपनी ममता और कामना की बाधा नहीं डालता है, प्रकृति की उपजाई हुई वस्तुओं, फल-फूल और अनाज इत्यादि का जो संग्रही नहीं बनता है, तो प्रकृति उस पर बहुत प्रसन्न होती है, उसमें बड़ी उदारता बढ़ जाती है, उसके हाथ में कोई समान दे दो तो खतम ही नहीं होता है, बढ़ता जाता है, सेवा में लगता जाता है, अभाव कभी नहीं होता है। यह आजकल के समाज-सेवी भी कहते हैं, और मैंने देखा भी हैं। ऐसा हो जाता हैं। प्रकृति में बड़ी उदारता आ जाती है।

आगे उन्होंने लिखा कि इस जगत् की भूल-भुलैया से छूट करके, कोई सत्पथ का पथिक, कोई सत्यानुरागी, अपने वास्तविक जीवन की ओर बढ़ रहा हो, तो सारी प्रकृति उसके साथ आनन्द मनाती है और फिर अपना अनुभव वह लिखते हैं कि मेरे भीतर-बाहर आनन्द मनाती है और फिर अपना अनुभव वह लिखते हैं कि मेरे भीतर-बाहर सब तरह इतना आनन्द भरा है कि मेरे मार्ग के वन के वृक्षों के पत्ते जो डोल रहे हैं ऐसे आनन्द से डोल रहे हैं कि मुझे लग रहा है कि मानो प्रकृति ताली बजाकर नाच रही है, इस खुशी में कि एक व्यक्ति दुनिया के बन्धन से मुक्त होकर अपने घर जा रहा है। खुशी मना रही है। सारी प्रकृति जैसे नृत्य कर रही है। बहुत अनुकूल हवा चल रही है। वृक्षों के पत्ते डोल-डोल कर ताली बजा रहे हैं। जगत् आनन्द मना रहा है। किस बात के लिए? कि एक आदमी जिसने प्रकृति की सम्पत्ति को अपनी ममता से दूषित नहीं किया, जिसने प्रकृति की सम्पति पर अपनी कामना की कुदृष्टि नहीं डाली, वह आज अपने घर जा रहा है। कहाँ जा रहा है? जहाँ मृत्यु नहीं है। जहाँ दुःख नहीं है, अभाव नहीं है। अर्थात् जिसमें से उसकी उत्पत्ति हुई थी, उसमें मिलने जा रहा है तो उनके भीतर बड़ा आनन्द भरा था। उसका पूरा-पूरा वर्णन कोई अनुभवी सन्त-महात्मा भी कर नहीं सका, शब्दों के प्रकाशन उसका हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह अमूर्त जीवन मूर्त चिन्तन में भी नहीं आता है, तो फिर मूर्त शब्दों में कैसे बंधेगा? पूरा-पूरा तो कोई कह ही नहीं सकता है, लेकिन थोड़ा जितना उनसे कहते बना, उन्होंने कहा और तब से मुझे ऐसा लगता है कि जैसे किसी जगह पर आप खड़े हैं व्यवहार का जगत् है, परिवार की बात है, समाज

की बात है, और आपके भीतर ब्वदसिपबज हो रहा है, द्वन्द्व हो रहा है। वस्तु का त्याग करे कि प्रेम का त्याग करें कि सुख का त्याग करें? ऐसी संकट की घड़ी आती है कि नहीं? जी! आती है।

उस समय स्वर्गाश्रम में, गीताभवन में, परमार्थ निकेतन में बैठ करके सुनी हुई सन्तवाणी की याद आपको आ गई। सन्तों के वचन आपके भीतर अंकित है संकट की घड़ी में उदित हो गये, और आपने सद्विचार का सहारा ले लिया कि अरे भाई! छोड़ो वस्तु तो छुटेगी ही, व्यक्ति का सम्बन्ध क्यों बिगाड़ें। अरं भाई! धन तो जड़ हैं, अपना न सही, सौतेला भाई ही सहीं, सजीव आदमी तो है। धन का लोभ छोड़ो, भाई का प्रेम रख लो। भले ही वस्तु का त्याग कर दो और रोगी के सिरहाने खड़े हो जाओ। अगर यह भावना आ गई आपके भीतर, तो अनुभवजनों का कहना है कि जो मनुष्य संसार में रहते हुए, द्वन्द्व की घड़ी में सद्विचारों का सहारा लेकर सत्य को महत्त्व दे देता हैं, छूटने वालों को छोड़ देता है तो उसी समय उसके सद्विचार से आनन्दित होकर उसके पाँव के नीचे से धरती ऊँची हो जाती है। उसका बड़ा समर्थन है। प्रकृति में, परमात्मा में, समाज में, सन्तजनों में, बड़ा समर्थन है।

आपके सद्विचार का यहाँ से हम भाई-बहिनों को प्रारम्भ करना है। आरम्भ कीजिये। सब मदद करेंगे आपकी।

मैंने तो जीवन में अनुभव करके देखा कि प्रकृति में इतनी सहृदयता है आपके प्रति, परमात्मा में इतनी सद्भावना है आपके प्रति, समाज में उतनी उदारता है आपके प्रति, कि अच्छा काम करेंगे आप पीछे, केवल भीतर में संकल्प उठता है कि हम ऐसे अच्छे-अच्छे रहें, संसार में अच्छा-अच्छा काम करें, अपने को अच्छा बनाएँ, बुराइयों का त्याग करें। तो समाज भी आपका विश्वास कर लेता है, प्रकृति भी सहायता दे देती है। परमात्मा भी विश्वास कर लेते हैं और सब खूब सहयोग देते हैं तो मैंने तो पाया कि जब-जब मेरे भीतर अच्छाई की ओर बढ़ने के लिए संकल्प उठता था और तरह-तरह की बातें दिल में आती थीं, कि अब ऐसा हो तो जीवन ऊँचा उठे तो मैं सोचती थी कि ऐसा हो, मैं माँगती नहीं थी परमात्मा से। माँगती कैसे? उनसे तो नाराज ही रहती थी। तो माँगती नहीं थी, केवल भीतर सोचती थी कि अब ऐसा हो कि परमात्मा के घर का दरवाजा देखा हुआ कोई सन्त मिल जाये तो मुझको दरवाजा दिखा दे। ऐसी कल्पना मेरी भीतर आती, ऐसी आवश्यकता मुझे महसूस होती थी, तो यह काम परमात्मा ने पूरा कर दिया। ऐसे ही जहाँ-जहाँ, जब-जब, साधन काल में साधकों को आवश्यकता मालूम होती है, तो समाज भी सहयोग देता है, प्रकृति भी सहयोग देती है, सन्त-महापुरुषों की सद्भावना साथ देती है, और परमकृपालु की कृपालुता का तो कोई अन्त ही नहीं हैं। इतना अच्छा विधान है मनुष्य के उत्थान के लिए! केवल अपनी ही भूल है कि सत्संग का सहारा लेकर अच्छी-अच्छी बातों को सुनने का आनन्द हम लेते रहें, फिर भी जितना विकास होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ, तो इसका एकमात्र कारण यही है कि अभी तक मैंने अपना उतना विकास पसन्द ही नहीं किया। थोड़ी सज्जनता आ गई। थोड़ा अच्छा रहन-सहन बन गया। समाज में सम्मानपूर्वक जीने का इन्तजाम हो गया तो उसी में हम अपने को, फुसला के, बहला के, दिन काट रहे हैं। लेकिन इसमें हमको बहुत घाटा लग रहा है।

इस वर्तमान में जैसा अवसर मिला है, इस वर्तमान में जितनी सामथ्र्य और समय बच गया है, उसका सदुपयोग नहीं करेंगे तो बड़ा ही

जबरदस्त विधान है मनुष्य के साथ प्रकृति का, कि इस अवसर को हाथ से निकल जाने देंगे, तो आगे यह परिस्थिति भी नहीं रहेगी। बल घट जायेगा, अवसर निकल जायेगा। जड़ता बढ़ जायेगी तो रास्ता लम्बा हो जायेगा। स्वामीजी महाराज कहते- आज जितनी चेतना लगती है आपके भीतर, कि भाई! नींद का सुख भी छोड़ दो, आलस्य भी छोड़ दो, घर का आराम भी छोड़ दो और बड़ी फुर्ती से, तत्परता से सत्संग में बैठों, वचन सुनों, अपने को सुधारो। तो जितनी चेतना और जितना चाव आज हैं, उसके आधार पर ममता और कामना को छोड़ने का पुरुषार्थ करके शरीर और संसार की पराधीनता को तोड़कर अमर जीवन से अभिन्न होने का पुरुषार्थ हम लोगों ने नहीं किया, और आज का अवसर निकल जायेगा, तो पता नहीं कल क्या होगा?

स्वामीजी महाराज को जब मैं साधकों के साथ बातचीत करते देखती, सुनती, तो वे कहते थे कि भैया! आज करो, चाहे कल करो, अभी करो, चाहे कभी करो, मौज तुम्हारी है। लेकिन बात ऐसी है कि रास्ता बहुत लम्बा हो जाता है और बिना उस पुरुषार्थ के सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति नहीं होगी। बिना उस पुरुषार्थ के परम प्रेम की सरसता के बिना जीवन पूर्ण होगा नहीं। अभाव में जीना आपको पसन्द नहीं है। उसके लायक आप बनाये ही नहीं गये। जड़ताका भाग ;चवतजपवदक्ष हम लोगों को इतना नहीं मिला है कि पशुओं की भाँति पेटभर जाये तो बैठकर पागुर ;जुगालीक्ष करते रहें निश्चिन्तता से, सो नहीं हुआ। मानव तो चाहता है कि इतना हो गया तो अब ऐसा होना चाहिए, उतना हो गया तो अब यह और होना चाहिए। अब तक का जीवन देख लिया जो फीका लगता है। अब तो ऐसा जीवन मिले, कि जिसको मृत्यु छू न सके, अब तो ऐसा आनन्द मिले, ऐसा आनन्द मिले की वह कभी घटे नहीं। अब तो ऐसा प्रेमी मिले, कि जिसका साथ कभी छूटे नहीं।

यह किसकी माँग है? जी-अपनी है ना। अपनी कहने की भी तो हिम्मत करो भाई। मनुष्य की माँग है, अपनी माँग है तो इतना ऊँचा जीवन हो सकता है। इसको छोटी-छोटी बातों में उलझ कर न बिताये तो अपने पर अपनी बड़ी कृपा होगी। ममता और कामना चली गई। ममता से मुक्त होकर, कामनाओं से रहित होकर चित्त की शुद्धि में, शान्ति में, बहुत अच्छा लगा, बड़ा प्रिय लगा। अब उसके बाद, स्वामीजी महाराज यह कह रहे हैं कि उससे भी ऊँचा रस एक और है। वह क्या हैं? कि अपने को कुछ भी नहीं चाहिए, फिर भी अविनाशी तत्त्वों से रचा हुआ यह छोटा-सा सीमित अहंभाव है जो एक अलग-सी ईकाई है। इस सीमित अहंभाव को लेकर, उस असीम अनन्त को सम£पत करो। बिना देखे, बिना जाने उस अनन्त को बिना किसी शर्त के सम£पत करो और उसको जानने की जरूरत भी नहीं है। और अपने को उनसे कुछ चाहिए भी नहीं, लेकिन सबसे ऊँचे जीवन के लिए सबसे बहुमूल्य अनमोल रस की उत्पत्ति के लिए उस पर अपने को सम£पत करो। उसके होकर रहना पसन्द करो। उसकी प्रसन्नता के लिए, अपने इस तुच्छ छोटे से व्यक्तित्व रूपी इकाई पर से अपना अधिकार उठा लो। अपने पर अपना अधिकार न मानना, अपने में अपना कोई संकल्प न रखना बहुत बड़ी बात है, भक्ति पंथ के साधकों के लिए। भगवत् अनुराग की वृद्धि होना बहुत बड़ी बात है। अपने सब संकल्प उनके संकल्प में विलीन कर दीजिये।

एक सेवाभावी मिशनरी महिला जहाज में 200 सेवाभावी व्यक्तियों को लेकर, बहुत-सा सामान लेकर, युक्र के घायल सिपाहियों की सेवा

करने जा रही थीं। बीच में तूफान आ गया, जहाज टकरा गया, साथी बिखर गये और उन्होंने अपने को एक छोटे से टापू पर पाया। शाम का समय हो गया, प्रार्थन का समय तो निश्चित रहता है उनका वह बैठ गई प्रार्थना में। उस समय उनके ध्यान में आया। कहने लगीं कि हे पिता! तुम्हारा काम करने मैं जा रही थी, यह क्या खेल किया तुमने, ऐसा क्यों कर दिया, बिखर गये सब साथी, कब मिलेंगे? कहाँ-कहाँ समान सब बिखर गया। मैं तो यहाँ बैठी हूँ, कुछ बात नहीं। लेकिन आपका काम तो बिगाड़ा अपने। ऐसा क्यों किया? तो उनको भीतर से ऐसी आवाज मिली, जैसे परमात्मा ने कहा हो-कि मैं निज-जनों के साथ ऐसे ही खेल खेलता हूँ। तो हँसकर के वह महिला कहती हैं कि कभी तुम्हारा निज-जन कोई हो तो मिले। तुम्हारे निज-जन होने में लोग डरते हैं, दूर रहते हैं। क्यों तुम ऐसे खेल-खेलते हो? कौन खेले तुम्हारे साथ? तो उसके मन में क्षोभ नहीं है, उसके भीतर अभिमान नहीं हैं। इतना सामान लेकर जाने में भी प्यारे का संकल्प, प्यारे का काम और जहाज को बिखेर दिया तो उसकी मौज, उसका खेल। और जब उसके भीतर यह उत्तर मिला कि मैं निज-जनों के साथ ऐसे ही खेलता हूँ, तो कहती हैं कि इसीलिए तुम्हें कोई निज जन जल्दी नहीं मिलता है। ऐसे खेलोगे तो कौन मिलेगा। तो आनन्द है भीतर, और दृष्टि उसी बात पर गई कि तुम्हारा निज-जन होने का साहस कम लोग करते हैं, क्योंकि तुम यों खेलोगे तो ऐसा वीर कौन है।

तो इसका अर्थ क्या निकला कि उनके खेलने का खिलौना बनने के लिए, जैसे स्वामीजी महाराज ने अपने भाव बताये थे कि "लाला-लाली के खेलने का फुटबॉल हूँ।" तो बिल्कुल ही अहं शून्य होना पड़ताहै। अपना संकल्प नहीं, अपने पर अपना अधिकार नहीं। सब अधिकार छोड़कर उनको दे दो, फिर देखो क्या गुल खिलाता है। बड़ा आनन्द। बड़ा आनन्द!! इस प्रकार के निस्पृह, निज-निज पर वे परम प्रेमास्पद स्वयं अपने को न्यौछावर करते हैं। ऐसा मैंने सन्तों की वाणी में सुना है। अभी तक तो यह लालसा ही है कि देखेंगे कि वे क्षण कैसे होते हैं? अब यह लालसा पूरी होगी तब बताऊँगी।

प्रवचन 36

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

नाशवान की ओर से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना और अविनाशी से जो नित्य सम्बन्ध है, सदा-सदा से है उसको मान लेना। ये दो ही बातें हर प्रणाली के साधक के लिये अनिवार्य तत्त्व हैं। वह अपने माने हुए अनित्य सम्बन्ध को अस्वीकार कर दे, अपने लिए उसकी आवश्यकता अनुभव न करें। फिर भी एक खास बात यह है कि साधक होने के नाते हम लोगों के जीवन में वास्तविकता का महत्त्व है, सत्य का महत्त्व है, निज स्वरूप के बोध का महत्त्व है, अविनाशी परमात्मा के परमप्रेम का महत्त्व हैं। किन्हीं भी शब्दों में कहें, इनका बड़ा भारी महत्त्व है। फिर भी शरीरधारी होने के कारण संसार से सम्बन्ध रहता है, सम्पर्क बनता है, जगत् दिखाई देता है, शरीरों को सँभालने के लिये जगत् से सहायता लेनी पड़ती है और शरीर तथा संसार की आसक्ति से मुक्त होने के लिए शरीर के जगत् की सेवा भी करनी पड़ती है। यह भी एक जरूरी बात है।

अब दोनों ही पक्षों को बहुत ही निर्मलता के साथ हम लोगों को निभाना है। अपने में परम स्वाधीनता की माँग है। अपने में परम-प्रेम के रस की प्यास है। तो इस ओर से भी हम आँखें बन्द नहीं कर सकते और शरीरों के रहते-रहते शरीरों

को लेकर जगत् के बाहर भी नहीं जा सकते। ठीक है? कहीं भी जायेंगे, अगर शरीर साथ में हैं, उसमें मेरा लगाव है तो सारे जगत् से लगाव है, ऐसा मानना चाहिए।

तो जो एक यूनिट अर्थात् ईकाई में है, वह ब्रह्माण्ड में हैं, संत वाणी में मैंने ऐसा भी सुना है कि अपने पास जो यह शरीर दिखाई देता है यह सृष्टि का एक छोटा सा नमूना है। यह भी ठीक है, जिसकी उतपत्ति हो, जिसमें परिवर्तनन हो, जिसका नाश हो, उसी को संसार कहते हैं। तो ये सारे लक्षण शरीर पर ही घटित होते हैं, इसलिए यह सृष्टि का एक नमूना है, छोटा ही है, पर है, यह मानना पड़ेगा। जब तक यह अपने साथ है तब तक अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए इसको भी ध्यान में रखना ही पड़ेगा। इसकी एकदम उपेक्षा नहीं कर सकते। अनुभवी संत ने साधकों की साधना को बहुत ही स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की और उसमें जीवन के वैज्ञानिक सत्य को सामने रखा। भौतिक दर्शन को सामने रखा और यह बताया कि शरीर और संसार की निन्दा करने मात्र से इनके लगाव से व्यक्ति छूट जाए ऐसा नहीं होता। इनकी निन्दा भी मत करो, इनको बुरा भी मत समझो, इनको क्षति भी मत पहुँचाओ। इनसे रूठ करके अलग बैठने की बात भी मत सोचो। बहुत ही स्वास्थ्यकर और बहुत ही हितकर सलाह उन्होंने दी परन्तु साथ ही यह कहा कि एक ही बात अगर तुम्हें जँच जाये तो मान लो कि इस शरीर और संसार की सहायता से तुम्हें अविनाशी जीवन नहीं मिलेगा। हाँ एक बात होगी, अगर इनका ठीक उपयोग कर सकोगे तो इनका महत्त्व अपने मन पर अंकित नहीं हो पायेगा। जिसको हम महत्त्वपूर्ण मानते हैं उसका एक प्रभाव जीवन पर चढ़ा रहता है। जिसको हम अपने लिए आवश्यक मानते हैं, उससे एक लगाव बना रहता है और जब तक बनने, बिगड़ने वाले से लगाव बना रहेगा और उसका महत्त्व अपने पर अंकित रहेगा, तब तक उससे छूटना सम्भव नहीं है। न आँखें बन्द करने से, न एकान्त में छिपने से।

इन बाहरी उपायों से संसार का प्रभाव उतर जाये, ऐसा नहीं होता। क्रिया-जनित एक सुख होता है, उस सुख के प्रभाव से कुछ करने का राग होता है, उस राग के रहते हुए क्रिया को रोकना, अप्राकृतिक बात हो जाती है। प्रश्न केवल इतना है कि जिसको अनुत्पन्न, अविनाशी का बोध चाहिए, योग चाहिए, प्रेम चाहिए, उसको अपने जीवन में से उत्पत्ति विनाशयुक्त का महत्त्व निकाल देना चाहिए। इतनी सी बात है। प्रेम-पंथ के जो साधक होते हैं, विश्वास-पथ के, ईश्वर में विश्वास करना, उनका नाम लेना, उनकी चर्चा करना जिनको अच्छा लगता है, और इसी प्रकार की साधना भी वे करते हैं, उन साधकों से कभी-कभी ऐसी भूल होती है कि वे विचार-पक्ष की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, और अगर कुछ निर्मम होने की, निष्काम होने की, नाशवान संसार से सम्बन्ध तोड़ने की, सब विश्वास एक विश्वास में, सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन करने की बात उनसे करो तो उनको ऐसा लगता है कि उनको इसकी जरूरत नहीं है। ऐसा मैंने सुना है कहीं-कहीं ऐसा भ्रम हो जाता है।

तो स्वामीजी महाराज ने इस तरह की चर्चा में एकबार हम लोगों को यह कहा कि देखो भाई! अगर प्रेम के साथ ज्ञान को नहीं रखोगे तो ज्ञान शून्य प्रेम जो होता है, वह काम का रूप ले लेता है। आसक्ति बन जाती है। ऐसा होता है। इसलिए प्रारम्भ ही में आप देख रहें है, कि जहाँ प्रेम-पंथ की चर्चा आरम्भ हुई, तो संत कह रहे हैं कि भाई, निर्विकारिता और मुक्ति तो भक्त होने के लिए सहयोगी साधन के रूप में हैं। अगर भक्त

की पृष्ठभूमि में निर्विकारता नहीं है और निष्कामता नहीं है, उसकी सारी ममता खतम नहीं हो गई, जिसके पास अपना कुछ नहीं रहा हो और उसको अपने लिए कुछ नहीं करना चाहिए, जो ममता और कामना से मुक्त नहीं हो सकता। वह भक्त नहीं हो सकता।

बहुत बार विश्वास-पंथ के साधकों में यह भ्रम हो जाता है कि मुझे विचार से क्या मतलब, मुझे ज्ञान से क्या मतलब। मैं तो विश्वासी हूँ। लेकिन सच्ची बात यह है कि किसी भी वस्तु के प्रति ममता रह गई जीवन में, तो विश्वास सजीव नहीं होता है। और किसी भी प्रकार का संकल्प रह गया अपने अन्दर, तो विश्वास सजीव नहीं होता है। और दुनिया में किसी से भी सम्बन्ध रह गया, तो ईश्वर के साथ सम्बन्ध, जो बहुत ही कोमल, और आत्मीय सम्बन्ध होता है, वह सजीवन नहीं होता। तो क्या होता है? कि जब तक स्वास्थ्य अच्छा है, उम्र कुछ कम है और इन्द्रियाँ सतेज हैं तो ज्यादा देर तक बैठ सकते हैं, ज्यादा देर तक भजन कर सकते हैं, ज्यादा देर तक लिख-पढ़ सकते हैं, शरीर की सहायता से इस प्रकार की क्रियाओं में अच्छा तो लगता ही है, तो अच्छा लगता रहता है, मन बहलाव होता रहता है, भीतर की नीरसता का उतनी तीव्रता से अपने को दुःख नहीं होता क्योंकि क्रियाओं के आधार पर बाहर के थोड़े-थोड़े सहारे मिल जाते हैं। तो इन सहारों पर ईश्वर विश्वासियों के बहुत से दिन इस तरह से निकल जाते हैं कि भीतर में उस सत्य की अभिव्यक्ति की निश्चिन्तता भी नहीं आयी और क्रियाजनित सुख का राग भी नहीं मिटा और मोह के सम्बन्धियों में शामिल होकर उनके माध्यम से आदर, प्यार का व्यवहार पाकर आदमी संतुष्ट रहता है, अपने को बहलाता रहता है। तो समाज इतना उदार है कि आप कहने लग जायें, परिवार को, समाज को, कि मैं ईश्वर-विश्वासी हूँ ईश्वर के भरोसे रहता हूँ और भजन-पूजन करने लग जायें और सदाचार पूर्वक रहें, कोई बुराई समाज को, देखने को न मिले तो इतने में खूब आदर और सम्मान भी मिलने लगता है। तो अच्छा ही तो लगता है, कोई घाटा तो नहीं लग रहा है। इस आधार पर बहुत-सा समय उस परम प्रेमास्पद को रस न देने की दशा में ही निकल जाता है।

जब बाहरी सहारे अपने काम नहीं आते हैं तब भीतर का सूनापन सताने लगता है, तब साधक को सूझता है कि अरे भाई, इतना समय निकल गया और मेरा तो यह काम बना ही नहीं। अन्दर से यह बात पूरी हुई नहीं, तब उसको परेशानी होती है। इसलिए स्वामीजी महाराज ने विश्वास-पथ और विचार-पंथ दोनों ही तरह के साधकों को यह अच्छी तरह से बताया कि भाई देखो! अविनाशी की विद्यमानता का अनुभव और उनकी विभूतियों से जीवन का भरपूर होना तभी सम्भव होगा जब तुम नाशवान से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करोगे। यह सम्बन्ध मानी हुई बात है, असिलयत हो है नहीं। असलियत होती तो उसी में सन्तुष्ट हो जाते। हम लोगों ने मान लिया है तो उस सम्बन्ध का प्रभाव अपने पर चढ़ा हुआ है। उसको अस्वीकार कर देंगे तो असिलयत में तो वह कभी था ही नहीं, इसलिए वह मिट जायेगा। कभी-कभी महाराजजी कहते थे क्या बतायें, कितने दुःख की बात है कि ईश्वर में ही विश्वास करने वाले लोग, मरे हुए सम्बन्धियों को नहीं भूलते हैं, और नित्य विद्यमान परमात्मा की उनकी विस्मृति हो जाती है। दुःख की बात है कि नहीं? मेरी माँ ऐसी थी, मेरे पिता ऐसे थे। तो ईश्वर के लिए ऐसा कहना कि माता-पिता तुम्हीं हो, तुम्हीं हो बन्धु-सखा, ऐसा कहना मेरा झूठ हो गया। अगर उनके अतिरिक्त मेरा और कोई है, अगर उनके अतिरिक्त मेरा ओर

किसी पर ध्यान जाता है, तो सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन नहीं हुआ, और नहीं हुआ तो ईश्वर सम्बन्ध की सजीवता होती ही नहीं, और भक्तजनों के जीवन में आपने देखा है कि जैसे-जैसे उनका विश्वास सजीव होता जाता है, इधर का लगाव जो है वह तो पहले ही से अस्वीकार कर दिया होता है और नित्य सम्बन्ध के प्रभाव से जब रस की उत्पत्ति होने लगती है तो सब पुराने लगाव जो बनाये थे, उनकी जरा-सी भी निशानी, मैमरीट्रेस अर्थात् स्मरण का लेशमात्र जो स्नायु में रह जाता है वह भी सब अपने आप मिटने लगता है।

स्वाभाविक बात तो यह है कि हम जब ईश्वरीय सम्बन्ध पर अपने को सम;पत करने के लिए तैयार हैं तो इस तैयारी में अपने पुराने सारे सांसारिक सम्बन्धों को अपनी ओर से अस्वीकार कर दें। और फिर जितनी भी वस्तुएँ हमने अपनी करके रख लीं थी उन सबको उनके सम£पत कर दें। संतवाणी के आधार पर इस सत्य को स्वीकार कर ही लें कि सृष्टि का मालिक वह ही एक है और सब कुछ उसी का हैं। सचमुच इस बात को मान लें तो बहुत आराम मिलता है।

छोटे से परिवार और घर की वस्तु और सम्पत्ति को सँभालने की चिन्ता में आदमी व्याकुल रहता है। लेकिन ईश्वर विश्वास को जीवन में धारणा कर लो और सब कुछ उनका है, इस सत्य को मान लो तो उसके बाद किसी भी वस्तु के प्रति आपको ऐसी चिन्ता नहीं रहेगी कि हाय! इसका क्या होगा? फिर क्या होता है? प्यारे की वस्तु है, तो वस्तु को सँभालने में तो बड़ी सरसता आ जाती है, अच्छा लगने लगता है। यह उनकी चीज है तो फेंक कैसे देंगे? अनादर कैसे करेंगे? ये सब बातें निकल गयीं तो वस्तुओं को सँभालने में और अधिक सरसता आ गयी और तो ममता का लगाव खतम हो गया और प्यारे की है तो उनके उपयोग करने में सरसता आ गई और जितना अपने को दिखाई दे रहा है, और जितना वर्तमान कत्र्तव्य में सूझ रहा है, उस को सँभालने के लिए उसको बहुत ही सरसता के साथ और सजगता के साथ प्रयत्न कर लेने के बाद भी अगर कुछ उलट-पुलट हो जाये, तो ईश्वर-विश्वासी घबराता नहीं है और चिन्ता भी नहीं करता है।

जब हमारे हाथ से कोई बात निकलने लगती है, और मुझे ऐसा लगता है कि अब यह अपने वश की बात नहीं रही, तो एकदम से याद आता है कि अरे भाई! जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को सँभाल सकता है उसकी चीज है। उसमें मेरी कहीं ममता का लेश रहा होगा तो मुझको दिखाने के लिए, कि तुम्हारा वश नहीं चलेगा, इसलिये आ गई होगी कठिनाई। फिर उसके आगे मुझे स्वयं भी सूझता है और साथ के साधकों को भी कहती रहती हूँ कि देखो भाई, इस शरीर से दुनिया में हम कुछ करने के लायक जब नहीं थे, अथवा यह शरीर जब उत्पन्न नहीं हुआ था तब भी सृष्टि चल रही थी कि चल रहीं थी? और जिस दिन अपना राम नाम सत् हो जायेगा उसके बाद संसार खतम हो जायेगा या चलेगा? तो मैं बहुत ही आनन्दित होती हैं यह सोच करके, कि जिसके संकल्प मात्र से सब कुछ हो जाताहै और अप्रयास होकर जो सारा सँभाल रहा है, उसके रहते अपने को चिन्ता की कौन सी बात है? चिन्ता बिल्कुल नहीं होनी चाहिए, ईश्वर-विश्वासी के जीवन में। हाँ, इस बात की प्रसन्नता मुझे जरूरी रहती है कि इतनी बड़ी तुम्हारी मशीनरी, उसमें तुमने एक छोटा सा पुर्जा मुझे बना कर कहीं पर फिट कर दिया, छोटे से छोटे काम के लायक मुझे बना कर तुमने कुछ करने का अवसर मुझे दे दिया, इसी के लिये मैं बहुत अनुगहीत हूँ। यह मुझे बहुत अच्छा लगता

है। ईश्वर-विश्वासी के जीवन में किसी बात के लिए चिन्ता का कोई स्थान ही नहीं है। होना भी नहीं चाहिए।

डप्स्ज्च्छ ;मिल्टनऋ की कविता हमको पढ़ाई जाती थी "ऑन दिस ब्लाइन्डनैस" (On this Blindness) बहुत ही प्रतिभाशाली कवि था और अधिक आयु न होते हुए भी उसकी आँखें खराब हो गई थीं, तो बहुत दुःखी हुआ और उस दुःख में उसने एक कविता लिखी, आप लोगों में से जिन्होंने कविता पढ़ी, उनको याद होगा, उसमें पहिले तो उसने दुःख प्रकट किया कि मेरे जीवन का आधा भाग भी नहीं बीतने पाया कि रोशनी चली गई। फिर वो अपनी उमंग लिखता है। सात-आठ अन्तरा हैं, उससे कोई मतलब नहीं। आखिरी बात जो उसने लिखी कि आपके संकेत पर अनेकों-अनेक समुद्रों में, जल और थल में तुम्हारी हजारों-हजार एजेन्सियाँ तुम्हारे संकेत मात्र पर काम कर रही हैं, सृष्टि का संचालन हो रहा है, इसलिए मेरी रोशनी चली गई तो क्या? और जो मैं काम करना चाहता था, सो नहीं कर सकता तो क्या? फिर भी मैं तुम्हारा सेवक हूँ। अच्छी स्प्रिट अर्थात् भावना वाला आदमी था, अन्त में उसने कहा कि वे भी तुम्हारे सेवक हैं जो सेवा का अवसर पाने के लिए खड़े हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं अर्थात् मैं भी उनमें से हूँ, जब तुम अवसर दोगे तुम्हारी सेवा करूँगा। बार-बार मुझे उसकी बात याद आती है। चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह सब कुछ उनका है और सच्ची बात है कि उन्हीं की सत्ता से सब कुछ हो रहा है तो जो ईश्वर-विश्वासी साधक हैं उनके लिए भी अहं-शून्य होना अनिवार्य है।

अहं-शून्य कब होगा व्यक्ति? यदि वस्तुओं को अपना माना तो सीमित वस्तुओं से लगाव बन गया और सीमित अहम्भाव पोषित हो गया। अगर संसार से किसी प्रकार की कामना रखोगे और संसार की सीमित वस्तु तुम्हें चाहिए तो उसकी जड़ता के प्रभाव से तुम्हारे भीतर जड़ता छा जायेगी और उसकी सीमा के प्रभाव से तुम्हारा अहम्भाव जीवित रहेगा। और वह वस्तु मिल गई तो उसके मिलने के सुख भोग के फल में सीमित अहंभाव पोषित होता रहेगा और कुछ काम करने का राग है, और उससे प्रेरित होकर काम किया, सफलता मिल गई, तो कत्र्तापन का अभिमान पोषित हो गया, और कत्र्तापन का अभिमान पोषित हो गया कि यह मेरी बहादुरी है कि मैंने ऐसा काम कर लिया तो आप उस नित्य तत्त्व से उस परम प्रेमास्पद से अपने को बहुत दूर पायेंगे। आपके भीतर जो अपने और उसके बीच की दूरी भाषित हो रही हैं, उसका खास कारण यही है कि सीमित अहम्भाव को हम लोग पोषित करते रहते हैं। तो विश्वास-पथ के साधक भगवान का नाम लेना बहुत आसान मानते हैं, ले नहीं पाते हैं, लेकिन लेना बहुत आसान मानते हैं।

एक बहुत पढ़े-लिखे विद्वान पुरुष थे, अब उनका शरीर नहीं रहा। उन्होंने बहुत दिनों तक अपने को भ्रम में रखा। किस भ्रम में? कि अरे भाई, जो होता है, प्रभु की कृपा से होता है। और मैं जब स्वामीजी महाराज के पास बैठकर, अपनी पूर्व तैयारी जो होती है, कि मैं निमर्म हो जाऊँ, मैं निष्काम हो जाऊँ, मेरे में से सब सम्बन्ध खतम हो जायें, मेरे में से सब विश्वास निकल जायें, एक ही विश्वास रह जायें, एक ही सम्बन्ध रह जाये, उसके लिये हमेशा स्वामीजी के पास बैठकर अपने पुराने दुर्गुणों की चर्चा करती रहती, उनका विश्लेषण करती रहती और उसमें से रास्ता निकालने की कोशिश करती तो वे सज्जन जो मुझे प्यार भी करते थे, छोटी बहिन की तरह मानते भी थे, वे विनोद में मुझको चिढ़ाते और कहते, देखिये बहिन जी! आप तो बड़ी-बड़ी तैयारी करके जा रही हैं

और मैं तो भाई, बैठा हूँ उनके भरोसे, तो बड़ी तैयारी करके आप फस्र्ट क्लास में बैठेंगी और मैं बेतैयारी के थर्ड क्लास में बैठूंगा, लेकिन स्टेशन आयेगा तो मैं पहुँचने में पीछे रहूँगा क्या? ;हँसी...ऋ अर्थात् बेतैयारी के चले जायेंगे तो उनका यह कहना भी सिऋ नहीं हुआ और मेरी ओर से तैयारी करना भी सिऋ नहीं हुआ। मेरी तैयारी में भरा अहं था और उनकी बेतैयारी में उनकी लापरवाही थी, दोनों ही अधूरे रहे। अनुभवी संत ने दोनों को सुलझा दिया। मेरे को तो यह कहा कि लाली! तुम अपनी सुन्दरता से उस अनन्त सौन्दर्यवान को रिझाना चाहती हो तो वह पट्ठा तुमसे कम सुन्दर नहीं है कि तुम्हारी सुन्दरता पर रीझ जायेगा। तो मेरा तो अभिमान गया। ;हास्य...ऋ जो सारी सृष्टि को समझदारी दे सकता है, उसको किस समझ से पकड़ लोगे तुम। तो समझ-बूझ के आधार पर कोई भक्त नहीं बनता है। तुम्हारी समझदारी उसको पकड़ने में काम नहीं आयेगी। तो ऐसा-ऐसा कह के मेरी समझदारी का अभिमान मेरे भीतर से गलाया और अगर लापरवाही रखो कि हम कामना भी रखेंगे, ममता भी रखेंगे, हम माने हुए सम्बन्धियों का मोह भी रखेंगे और उनके सुख-दुःख का अपने पर प्रभाव भी बनाए रखेंगे, उनको खुश करने की चेष्टा भी करते रहेंगे, तो भाई, वे इतने प्रेमी हैं, तुम्हारे इतने प्रेमी कि अगर कोई दूसरा सम्बन्ध, दूसरा ध्यान, दूसरा चिन्तन उनको सुहाता ही नहीं है।

महाराज कहते, देखो देवकीजी! अगर दुनिया में एक तुच्छ से पदार्थ का भी राग तुम्हारे भीतर है, ममता और कामना तुम्हारे भीतर है, तो वे ऐसे हृदय में प्रवेश करना पसन्द नहीं करते हैं। लाली! अपने को पूरा का पूरा खाली करो, झोली में जो भकर के लाई हो, उसको झाड़ दो, बिल्कुल तुम खाली हो जाओ, तब मैं सगाई की बात करूँ। तो विनोद की भाषा होती थी और बड़ा सत्य भी है। भक्तिपंथ के साधकों को इस बात का बहुत ही ध्यान रखना चाहिए कि भक्ति के साथ अगर ज्ञान का पक्ष नहीं रखोगे, निर्मम और निष्काम होने की शर्त अपने पर नहीं लगाआगे तो मानते ही रहो, मानते ही रहो, प्रत्यक्ष अनुभव का जो आनन्द होता है, उससे वंचित रहना पड़ेगा।

इसलिए महाराजजी ने कहा, कि निर्विकारता तो पृष्ठभूमि में होनी ही चाहिए। भक्त कौन होता है, जो मुक्त होता है अर्थात् जिसको कुछ नहीं चाहिए वही भक्त हो सकता है। जिससे कुछ भी चाहिए वह भक्त नहीं हो सकता। तो हजार प्रकार की कामनायें भी रखो, अपने विविध प्रकार के संकल्प भी रखो और भक्ति के आधार पर अपने व्यक्तित्व की पूजा भी पसन्द करो और चाहो कि भक्तिरस से तुम्हारा जीवन पूर्ण हो जाये तो यह सम्भव नहीं होता।

समर्पण पक्का हो उसके लिए आवश्यक क्या है? तो महाराज की बात देखिये, एक सभा में बैठे तो किसी ने प्रश्न किया-स्वामीजी महाराज जयपुर के बाद आपका कहाँ प्रोग्राम हैं? तो कहते हैं, भैया, गेंद को क्या पता कि खिलाड़ी किधर फेंकेगा? इसको समर्पण कहते हैं। गेंद को क्या पता कि खिलाड़ी किधर फेंकेगा? मुझे क्या मालूम जिधर भेज देंगे, चला जाऊगा। जिधर लुढ़का देंगे, लुढ़क जाऊँगा।

एक दूसरे प्रसंग में पाँच-सात दिन पहले मैं स्वामीजी महाराज के वचन सुन रही थी-उसमें चर्चा आई कि अब तो ऐसी आवश्यकता मालूम होती है साधक समाज की सेवा के लिये, कि ऐसे-ऐसे रहना चाहिए। परन्तु उसी के साथ कह रहे हैं कि हे प्रभु! यह मेरा संकल्प हो तो कभी मत पूरा करना.... और साधकों की भलाई के लिये तुम्हारा संकल्प होगा तो अपने आप पूरा हो जायेगा। मैं

काहे को सोचूँ! तो ईश्वर विश्वास में सजीवता लाने के लिए सब प्रकार के संकल्पों से मुक्त होना कितना जरूरी है? अब हजार तरह के संकल्प हम लोग अपने भीतर रखते हैं, अब ऐसा करेंगे तो अच्छा होगा, अब यहाँ जायेंगे तो अच्छा रहेगा, अब यों रहना, अब किस प्रकार का रहन-सहन मिले तो अच्छा होगा? और जिसके ऊपर आप सर्वस्व न्यौछावर करने बैठे, उसी के आगे हजार दरखास्तें। हे भगवान! ऐसा हो जाये तो बड़ा बढ़िया हो। हे प्रभु यों कर देना तो बड़ा मजा आयेगा। यह क्या समर्पण हुआ भाई? हम उनके काम आने के लिये अहम् शून्य होकर हर प्रकार से उनकी प्रसन्नता पर अपने को छोड़ने गये थे कि उनसे सम्बन्ध बनाकर खुद अपना ही मन्तव्य पूरा करने गये थे। तो जिसके पास अपना मन है, जिसके पास अपने संकल्प है, जिसका दुनिया में और किसीसे भी सम्बन्ध है उसका समर्पण सफल कैसे होगा? मन बहलाव तो हो जायेगा। मन बहलाव तो हो जाता है। अच्छा भी लगता है। परिवार में, समाज में, कुछ आदर, सम्मान, सुविधायें भी मिल जाती है लेकिन भगवत् सम्बन्ध सिऋ कहाँ होता है? इसलिए भाई! आप सब भाई-बहिन जो बैठे हैं, आप में से कई भाई-बहिन विश्वास-पंथ के साधक होंगे। बात तो सभी साधकों के लिए, लेकिन विश्वास-पंथ की बात मैं विशेष रूप से कह रही हूँ।

स्वामीजी महाराज ने विचार-पंथ वालों को निराश्रय और स्वाश्रय और विश्वासियों के लिये, हरिआश्रम ऐसा बताया था। तो चाहे स्वाश्रय लो, चाहे हरि आश्रय लो। दुनिया का आश्रय छोड़ना सभी साधकों के लिए आवश्यक है। यह बात आपको जँच रही है कि नहीं? जी? ;श्रोता-जँच रही हैऋ अगर विश्वास-पंथ में सजीवता लाना ही चाहते हैं कि भाई! नाम को याद करने की जरूरत न रह जाये, अपने आप ही स्मृति जाग्रत हो जाये, ऐसा अगर हम लोग पसंद करते हैं तो इस दिशा में प्रयास जो हमारा होगा वह केवल इतना होगा कि उत्पत्ति, विनाश की तरफ मेरा लगाव है, उसको तोड़ने में हमें अपनी सब शक्ति लगा देनी चाहिए। तो वृऋ माता-पिता की सेवा नहीं छूटेगी, छोटे नन्हें बच्चों की सेवा नहीं छूटेगी, कि बाहर की बातें नहीं बदलेगी लेकिन भीतर की बातें बदल जायेंगी। उनका बदलना बहुत जरूरी है। जब एक को जगत् का मालिक माना, तब फिर एक भी शरीर पर अपना अधिकार न मानना बहुत जरूरी है, और जगत् का मालिक जब उनको माना तो फिर किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानना, उस पर अपना अधिकार नहीं जमाना, बहुत जरूरी है, और एक ही से अपना सम्बन्ध है तो और किसी से अपना सीधा ;डायरैक्टऋ संबंध नहीं मानना, एक ही से सम्बन्ध मानना जरूरी है। तो बाकी ऐसे कैसा सम्बन्ध मानना है? तो बाकी तो चलती-फिरती मूर्तियाँ हमारे आस-पास दिखाई देती है, उनको अपने प्यारे का प्यारा जान करके उनकी खातिरदारी कर दो।

अपना मानने से, ममता का सम्बन्ध बढ़ाने से उन पर अधिकार भी बन जाता है। फिर सहायता की आशा भी बन जाती है और सहायता मिलने लग जाती है तो राग भी बन जाता है। तो जिस हृदय में पवित्र-प्रेम की धारा हम पसन्द कर रहे हैं, उसमें रागद्वेष कादूषण न आवे इस लिए अपने को सावधान रहना है। अगर विवेक के प्रकाश की सहायता नहीं लीजियेगा तो प्रेमतत्त्व जो है, वह राग-द्वेष से दूषित हो जायेगा। जी? ठीक है ना? तो ये सब पूर्व निर्धारित प्रयोजित है। अर्थात् पहले पूरी करने की शर्ते हैं। ये सब पहले ही की जाने वाली तैयारियाँ हैं। जिनमें हम लोगों को काफी सावधान रहने की जरूरत है। और आगे

बात ऐसी है कि भाई अपनी ओर से जो कुछ हम कर सकते हैं सब सावधानी पूर्वक करें और जो बाकी रह जायें उसकी चिन्ता न करें।

आपको यह अवसर दिया गया है कि काम करते समय प्यारे प्रभु की प्यारी सृष्टि की पूजा में हाथ बटाओ, सहयोग दो और काम करने का अवसर निकल जावे, तब अकेले हो जाओ, शान्त हो जाओ। अपने समर्पण भाव को याद करके, उनकी कृपामयी गोद में अपने को छोड़ दो, तो उस विश्राम काल में, उस अहम् शून्यता की घड़ी में, सत्य की अभिव्यक्ति का अनुभव साधक को हो जाता है। सेवाकाल में भी समय-समय पर होता है। प्यारे की दृष्टि और उसको सहयोग देने में उनको प्रसन्नता होगी। तो इस बात की याद आने मात्र से रस की वृद्धि होने लग जाती है। प्रवृत्तिकाल में भी उस रस के प्रवाह से रोम-रोम ऐसे ही आप्लावित होने लग जाता है और बहुत अच्छा लगने लग जाता है और निवृत्तिकाल में, समर्पण भाव में, अब इस समय मुझे कुछ नहीं करना है तो कुछ नहीं करेंगे। अहंकृति शान्त हो गई तो अहं का अभ्यास भी, उस समय खतम हो जाता है। एक सन्त ने कहा है कि उसी क्षण में, जरा सी भी देरी नहीं लगती, सत्य की उपस्थित का, सत्य के स्पर्श का अनुभव होता है।

माँ आनन्दमयी ने कहा और स्वामीजी महाराज ने भी कहा है कि उसकी उपस्थित का अपने को अनुभव हो जाता है। एक बार वृन्दावन में वार्षिकोत्सव के समय ऐसे ही बोल रही थी। उन दिनों में मुझको अपनी असमर्थता की पीड़ा बहुत थी। हाय! मुझसे ममता भी नहीं छूटी। हाय! मेरे संकल्प भी नहीं गये। बहुत दुःखी थी मैं। उसी दुःख के आवेग में बोल रही थी। तो पता नहीं क्या-क्या कहा होगा? जब बोलना खतम हुआ तब स्वामीजी महाराज कहने लगे कि आप आज सत्य से अटैच्ड अर्थात् संलग्न होकर बोल रही थीं। मुझे तो पता ही नहीं चला कि मैं क्या कह रही थी। महाराज ने मुझको ऐसा सुनया कि चाहे तो अपनी असमर्थता की पीड़ा से अहम् गल जाये और चाहे उनकी कृपा की महिमा में अहम् गल जाये। कृपा की महिमा से भी काम हो जाता है। उन महामहिम की महिमा। अब मुझे क्या चिन्ता है। मैं उनका बालक, उनकी कृपामयी गोद में विश्राम लूँ। मैं विश्राम लूँ। मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, इस भाव के आनन्द में भी अहंकृति शान्त हो जाती है। और अपनी असमर्थता की वेदना में भी अहं गल जाता है। तब भी यह बात हो जाती है। शरीर को लेकर धरती पर बैठे हुए भी उस अशरीरी परम-प्रेमास्पद की उपस्थिति का, उनकी करुणा और कृपा का अनुभव आप तत्काल कर सकते हैं। प्रयोग करके देखिए- महाराजजी कहते थे, कि न हो जाये तो मुझको गोली मार देना। न होने की कोई बात नहीं है। हो जाएगा जरूर।

प्रवचन 37

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मानव जीवन के सबसे ऊँचे विकास के लिए जो सर्वमान्य सार्वभौम सत्य है, वह संतवाणी में हम लोगों ने अभी सुना है। कह रहे हैं कि सेवा, त्याग, और प्रेम के बिना किसी भी प्रकार से सर्व दुःखों की निवृत्ति, परमशान्ति, जीवन मुक्ति और भगवत् भक्ति संभव नहीं है। पिछले कई दिनों से हम लोगों ने जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर अलग-अलग ढंग से विचार किया। अब सारे विवेचन के समापन के रूप में मैं ऐसा आवश्यक मानती हूँ कि एक साधन युक्त जीवन के क्रम को सँभाल लेना चाहिए। जो भी भाई, जो भी बहिन उस क्रमिक ढंग से चलना चाहे तो उनके लिए एक बार पाठ की पुनरावृत्ति हो जाये।

भौतिक दर्शन के आधार पर हम लोगों ने इस बात को जाना कि जब तक शरीरों में कुछ भी करने का बल है, तब तक उस बल का सदुपयोग आवश्यक है, इसलिए कि करने का राग मिट सके और एक शरीर का अनेकों शरीरों के साथ कुशलतापूर्वक अभियोजन हो सके। इसलिए प्रवृत्ति में हाथ डालना मानव-जीवन का एक अनिवार्य व्रत होता है। अब क्या करें और कैसे करें? उसके सम्बन्ध में बताया गया कि जो भी कुछ शारीरिक बल, सामथ्र्य, मानसिक योग्यता, बुद्धि तुम्हारे पास है उसका दुरुपयोग कभी मत करना अर्थात् उस बल को लेकर कभी किसी को क्षति मत पहुँचाना। बुराई करेंगे नहीं, तो बुराई छोड़ देने के बाद, समाज में रहकर शारीरिक बल से हम जो कुछ करेंगे वह भला ही होगा। शरीर और संसार की जातीय एकता मान करके एक शरीर पर अपनी ममता रख लेना, अपनी आसक्ति रख लेना, उसके माध्यम से व्यक्तिगत सुख भोगने की सोचना, यह असाधन है, भूल है। और मिले हुए बल को अपना न मानना, समाज का मानना, जगत का मानना, परिवार का मानना और उनके लिए हितकारी कार्य में उस बल का सदुपयोग कर देना और प्रीतिपूर्वक, उदारता पूर्वक समाज जो कुछ दे दे उस से शरीर का निर्वाह कर लेना, यह साधन की बात है।

अध्यात्म दृष्टि से, जीवन के दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवृत्ति के क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले जीवन के सत्य को पाठ के रूप में हर भाई-बहिन को दोहरा लेना चाहिए। कौन सी बात दोहरा लेनी चाहिए कि मुझमें जो "मैं" पन है, जिस "मैं" को हम "मैं" कहते और अनुभव करते हैं, उसकी रचना अलौकिक तत्त्व से हुई है, जब तक अलौकिक से अभिन्न नहीं हो जाता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती है, सन्तुष्टि नहीं मिलती है, निश्चिन्तता नहीं आती है, स्वाधीनता नहीं मिलती है, दुःखों का नाश नहीं होता है, यह सब खूब विस्तृत विवेचन के साथ हम लोग सुन चुके हैं। और आज समापन के रूप में मुख्य-मुख्य बातों को दुहरा रही हूँ, इस आशा में कि आपको ये सब बातें याद हैं। हैं कि नहीं हैं? बोली जी, डर लगता है, हाँ कहने में। ठीक है... अभी सत्संग में आना खतम नहीं हुआ और आप सब भूल गये तो बेकार ही हो जायेगा। इन सब बातों पर खूब विवेचन हो चुका है और मुख्य-मुख्य बातें आपको याद हैं।

अब इस दृष्टि से आगे देखिए कि अपने लोगों को किस तरह से भौतिक दृष्टि, दार्शनिक दृष्टि और आस्तिकता की दृष्टि तीनों को जीवन में संग लेकर चलना है। संसार में कोई-कोई व्यक्ति विशेष ऐसे भी होते हैं कि जिनमें शुक्र विचारों की बड़ी प्रधानता होती है। सामान्य कोटि के लोग जो हम और आप हैं, हम लोगों के जीवन में भाव भी हैं, विचार भी हैं, कर्मठता भी है और विशेष रूप से कोई एक पक्ष बड़ा प्रबल हो, ैजतवदह हो, ऐसा नहीं है। सब मामूली, मामूली स्तर का मालूम होता है। तो मैंने अपने को सामने रखकर देखा और अनुभवी संत के पास बैठकर विचार किया तो उन्होंने कहा कि सब तरफ से अपने को इन्तजाम शुरू करना चाहिए। कर्म के क्षेत्र में भी पक्के हो जाओ एकदम, कि भलाई तो छोटी-मोटी जो बन पड़ेगी वह करेंगे, पर बुराई किसी के साथ नहीं करेंगे। तो आपका कर्म का जो क्षेत्र है, वह साधनामय हो गया। और ज्ञान की दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टिकोण से अपना नाश तो हम स्वीकार ही नहीं करेंगे।

इस 'मैं' पन का नाश तो कभी नहीं होगा। मृत्यु जो होती है, जिसको हम लोग मृत्यु कहते हैं, वह तो नाशवान का नाश हैं। अविनाशी

का नाश नहीं होता। तो हमारे साथ मनुष्य के व्यक्तित्व में जो भौतिक तत्त्वों के बने हुए शरीर हैं जिनकी उत्पत्ति हुई है उन्हीं का नाश होता है। आपका नाश नहीं होगा। आपकी मृत्यु कभी नहीं होगी। आप मरेंगे कभी नहीं। और महाराजजी की वाणी मैं बोलूँ तो कहूँगी-लाइये, कागज में लिखकर हस्ताक्षर कर देती हूँ कि मरेंगे कभी नहीं, क्योंकि जिस "मैं पन" को लेकर हम जीवन-यापन कर रहे हैं, वह 'मैं' अलौकिक तत्त्वों से बना है इसलिए उसका नाश नहीं होता। अब प्रश्न कितना रह गया, हम लोगों के सामने, कि भाई यह जो मृत्यु का भय सताता है उससे मुक्त कैसे हो जायें? दुःख से कैसे छूटें?

तो प्रतिदिन प्रातःकाल आँख जब खुले तो पहला प्रोग्राम अपना यह रखिए कि हम अकेले-अकेले बैठकर सत्संग करेंगे, तब उसके बाद संसार की प्रवृत्ति में शामिल होंगे। ऐसा कर सकते हैं कि नहीं? जी कर सकते हैं। यह नियम नहीं है कि गंगाजी में स्नान करके आओ तब बैठो, कि साफ कपड़े पहनो तब बैठो, कि मन्दिर में जाओं तब बैठो, किसी सत्संग भवन में जाओ तब बैठो, ऐसी बात नहीं है। सामूहिक सत्वर्चा का अवसर जब मिलेगा, उसका तो लाभ हम उठायेंगे ही, लेकिन वह हमारा दैनिक कार्यक्रम ;तवनजपदमक्र नहीं बन सकता, क्योंकि सामूहित सत्वर्चा का अवसर सब दिन सबको मिले, यह सम्भव नहीं हैं। परन्तु जैसे ही आँख खुली और अपने में सजगता आई कि सवेरा हो गया, तो नींद का और आलस्य का प्रमाद छोड़कर सजग होना है। सजगता आते ही बिना स्नान किए, बिना किसी प्रवृत्ति में शामिल हुये, जो आवश्यक क्रिया हो वह पूरा कर लीजिए और बिस्तर में ही जहाँ हैं वहीं पर बैठे-बैठे थोड़ी देर के लिए शान्त रहकर अपने सम्बन्ध में विचार कर लीजिये। इसमें आर्यसमाजी, सनातनी, हिन्दू या अहिन्दू और दुनिया के किसी महजब के व्यक्ति हों, कोई अन्तर नहीं आता है। क्योंकि अपनेपन का भास सभी को हैं, और अपने सम्बन्ध में विचारकरने की सामथ्र्य मानव-मात्र को जन्म-जात मिली हुई है, इसलिए मजहब का भेद इसमें नहीं है।

मानव सेवा संघ मजहब की सीमाओं के पार की बात कहता है। एकदेशीय चर्चा इसमे नहीं होती हैं। तो किसी भी मजहब का, किसी भी देश का, किसी भी युग का रहनेवाला व्यक्ति है और उसमें अगर दुःख-निवृत्ति का प्रश्न है औ वह जीवन की सम्पूर्णता पर दृष्टि रखकर जीना पसन्द करता है, तो उसे प्रातःकाल सबसे पहला प्रोग्राम जीवन की दार्शनिकता और आस्तिकता पर विचार कर लेना है। क्या विचार कर लेंगे-मैं तो अविनाशी तत्त्व से बना हुआ हूँ और नाशवान शरीरों की आसक्ति में पड़कर दुःख का, मृत्यु के भय का भार ढो रहा हूँ। तो मेरा पहला पुरुषार्थ क्या है? पहला पुरुषार्थ यह है कि अविनाशी स्वरूप का होते हुये नाशवान से मुझको अपना सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। फिर दुहराती हूँ, फिर सुनो-सजगता पूर्वक बैठ जाओ बिस्तर में और अपने को समझाओ, मैं अविनाशी स्वरूप का हूँ। अविनाशी स्वरूप होते हुए मुझे नाशवान के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखना है। नाशवान की आशा नहीं करनी है। नाशवान की आवश्यकता का अुनभव नहीं करना है। नाशवान का सहारा नहीं लेना है।, याद दिलाइये अपने आप को, याद दिलाना जरूरी है कि नहीं है? और नहीं है तो इस सत्संग भवन में, प्रार्थना मन्दिर में क्या केवल हाँ करने गये थे।

सच्ची बात है, अविनाशी का नाशवान के साथ सम्बन्ध मानने से ही सब प्रकार के दुःखों की उत्पत्ति हो गई, सीमा लग गई कि जन्म-मरण के बीच की अवधि में बँध गये, सुख-दुःख के द्वन्द्व में

झूलते फिरे, ऐसा तो सुना था और स्वीकार किया था कि हमको ऐसा नहीं करना है। तो इस पाठ को हर भाई को, हर बहिन को, यहाँ रहते हुए, यहाँ से जाने के बाद जो जहाँ रहे, शरीर को लेकर संसार में ही रहेंगे, तो एक बार प्रतिदिन प्रातःकाल इस पाठ को याद करना जरूरी है। इस दार्शनिक सत्य के आधार पर अपनी भूतकाल की भूलों का त्याग हम नहीं करेंगे तो कोई विधि-विधान हमारे काम नहीं आयेगा। आसन-मुद्रा साधो, खूब अभ्यास करो, प्राणायाम करो, लम्बी-गहरी श्वास लो, तो आसन मुद्रा साधने की जो विधि है और प्राणायाम की लम्बी गहरी श्वास लेने की जो विधि है, यह सारी विधियाँ आपको भौतिक सीमा के भीतर बलशाली बना सकती हैं, परन्तु इस नाशवान भौतिक सीमा से पार पहुँचने में कोई सहयोग नहीं दे सकती।

इसका मतलब यह नहीं है कि सब अभ्यास बेकार हो गया, सो नहीं हो गया। लेकिन हर एक की अपनी-अपनी सीमा है, हर एक का अपना एक क्षेत्र है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर की स्थूल और सूक्ष्म शक्ति की वृद्धि के लिए ये सारी क्रियायें बहुत उपयोगी हैं। कभी-कभी तो उस चमत्कार में साधकों का बहुत सा समय चला जाता है। मैं तो उसको भी बड़ी बहादुरी मानती हूँ। उसमें भी मनोयोग चाहिए, संयम चाहिए, उसमें भी नियमित होना पड़ता हैं, उसमें भी आलस्य और विलास का त्याग करना पड़ता हैं।तो अन्तिम बात यह है कि अपने द्वारा, मैंने नाशवान के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया तो उसकी आसक्ति में, उसकी पराधीनता में, उसके चिन्तन में फँस गया। सत्संग के प्रकाश में मैंने क्या सीखा? मैंने यह सीखा कि अपने द्वारा जिस अन्तिम सम्बन्ध को मैंने मान लिया था, उसको मुझे अस्वीकार कर देना है।यह तो सिद्धान्त की भाषा हो गई।

स्वामीजी महाराज ने बोलचाल की भाषा में बड़ी लम्बी सी प्रक्रिया और लम्बे से विवेचन को छोटे दो वाक्यों में हम लोगों के सामने रख दिया। याद कर लो, कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। यह मानव-जीवन के दार्शथ्नक सत्य का साधन सूत्र हैं। उसके बाद जो सबसे सुन्दर, सबसे मधुर और सबसे ऊँचा जीवन होता है, नाशवान शरीरों के साथ रहते हुए सीमित व्यक्तित्व वाला मनुष्य उस अलौकिक, अविनाशी, अनन्त परमात्मा का प्रेमी बनता है। यह सबसे ऊँची बात है, सबसे बढ़िया बात है और विलक्षण बात है। तो इसके लिए क्या करना है?

सबसे पहिले आपको यह तय कर लेना है कि अब जब मैं संसार में प्रवेश करूँगा, मैं समाज का, परिवार का काम करूँगा तो बुरा किसी का नहीं करूँगा, यथासम्भव भलाई करूँगा। दार्शनिक सत्य को सामने रखकर तय कर लिया आपने कि जो भी कुछ करना है, करनेके राग की निवृत्ति के लिये हैं, अपने प्यारे की पूजा के लिए है। न मुझे शरीर से कुछ चाहिए, न मुझे संसार से कुछ चाहिए। तब जो दार्शनिक सत्य का प्रैक्टिकल अर्थात् व्यावहारिक प्रयोग है वह आपके जीवन में सिक्र हो जायेगा। उसके बाद है, कि यदि आप अध्यात्मवादी हैं, ज्ञान पंथ के साधक है तो मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं करना है, ऐसा याद रखकर थोड़ी देर के लिए बिल्कुल शान्त हो जाइये। न कोई कर्म कीजिए, और न कोई चिन्तन कीजिए। तो सब कर्मों से, सब चिन्तन से, असंग हो कर बिल्कुल निश्चिन्त होकर जहाँ के तहाँ बैठे रहिए। शरीर और संसार की असंगता में अविनाशी का अविनाशी योग होता है। इस सत्य को आप प्रत्यक्ष अनुभव

कीजिए। यह कहलाता है स्वाश्रय। स्वयं अपने आप पर आश्रित होकर निज-स्वरूप की अनुभूति में उस सत्य को पाना, उससे अभिन्न होना। यदि आप ईश्वर विश्वासी हैं, विश्वास पंथ के साधक हैं, तो उसी समय, उतनी ही देर में, एक बार याद कीजिये। क्या याद कीजिये? कि मुझमें जो "मैं" पन हैं, उसका जो आधार है, जिसको भक्त भगवान कहते हैं, उसी भगवान का सहारा लेकर, उसी के आश्रित होकर, उसी का सम्बन्धी होकर, उसी की प्रसन्नता के लिए मुझे स्वयं अपने को सम£पत करना है। ऐसा सोच लिया, ध्यान में आ गई बात, गुरु ने जो सिखाया था, उसे याद कर लिया, जिस प्रकार से उन्होंने दीक्षा दी थी, सम्बन्ध दिलाया था उसे याद कर लिया। और याद करके खूब अच्छी तरह से, पक्का विश्वास लेकर के, कि मुझे जिसका सहारा दिलाया गया, वह इसी वर्तमान में, इसी स्थल पर, हमारे भीतर-बाहर सब प्रकार से विद्यमान है। तो उसकी उपस्थित में विश्वास करके अपने को उसकी शरण में डाल करके, थोड़ी देर के लिए अपने आपको बिल्कुल छोड़ दीजिए। न कर्म करना है, न चिन्तन करना है, न नाम लेना है, न जप करना है, न कुछ सोचना है, न ध्यान करना है।

मंत्र जपना, ध्यान करना, चिन्तन करना, आगे-पीछे की सोचना या सक्रिया पूजा करना यह सब जो आपको विधि-विधान हो उसके लिए आप समय लगाइयेगा। उठने के बाद, स्नान करने के बाद, पूजा घर में जाकर के जैसा आपका नियम हो वह सब नियम आप पूरा करिये, जो भी जिसको सुलभ हो, जो भी जिससे बनता हो। उसके लिए अलग समय रखना, लेकिन सब सामान से छुट्टी लेकर, सब साथियों से छुट्टी लेकर, सबसे अलग होकर और जन्म-जन्मान्तर की की हुई भूतकाल की भूलें जो हो गई थीं, उनको न दुहराने का व्रत लेकर ही निश्चिन्त निर्भर होकर निरीह बालक की तरह करुणामयी परम कृपालु, जगत् जननी की गोद में अपने को डाल दो थोड़ी देर के लिये, कि अब इस समय मुझे कुछ नहीं करना है औ परम कृपालु की कृपामयी गोद में थोड़ी देर के लिए विश्राम ले लो। यह समर्पण योग कहलाता है।

उस विश्राम काल में थोड़ी ही देर में आप अहं-शून्य हो जायेंगे। क्यों हो जायेंगे? क्योंकि कुछ करना नहीं है, कुछ सोचना नहीं है। अपनी जिम्मेदारी अपने पर नहीं हैं, किसी सामथ्र्यवान के जिम्मे अपने को लगा दिया। वह बड़ा कृपालु हैं, बड़ा महामहिम है, मुझमें विद्यमान है, मेरे ऊपर बहुत कृपा दृष्टि रखता है, मुझको अपनी सत्ता से सत्तावान बनाकर रखता है, मुझको अपनी चेतना से ज्ञानवान बनाकर रखता है, मुझको अपने प्रेम से सींचता रहता है, ऐसा जो मेरा अपना है, दिखाई न देने पर भी, जान-पहचान न होने पर भी वह विद्यमान है और मैं उसकी शरण में जाकर पड़ जाऊँ तो उसके बाद अपनी रक्षा के लिए क्या मुझे सोचना पड़ेगा! कोई अपार क्षमा-सिन्धु मेरा अपना, एक जन्म की कौन कहे, जो अनेक जन्म के पापों का नाश करने वाला, पतित पावन हो मेरा अपना, उसकी शरण में जाने के बाद फिर मैं पापी हूँ? जी! नहीं हूँ। फिर अपने को अपराधी मत मानना। उस परम दयालु, क्षमा सिन्धु, परम कृपालु, अनन्त ऐश्वर्यवान, अनन्त सामथ्र्यवान, अनन्त माधुर्यवान ऐसा जो मेरा अपना है, उस अपने की शरण में स्वयं को डालकर थोड़ी देर के लिए निश्चिन्तता की श्वास लो। हे परमकृपालु! मैं तुम्हारी शरण में हूँ, ऐसा एक बार अपने को याद दिलाओ। उनके लिए बार-बार कहने की जरूरत नहीं है। वह तो जानते ही हैं। उनको मालूम ही है। बिना बोले ही वे समझ जाते हैं।

आप लोग कहते हैं कि क्या करें बहिनजी, आपने जो बताया सो याद नहीं रहता है। तो भूल न जावें, इसलिए अपने को याद दिलाओ। नहीं तो समर्पण एक बार होता है, बार-बार थोड़े ही होता है। बार-बार तो तब न होगा, जब दिया हुआ वापस ले लोगे। तभी फिर देने जाओगे। जैसे किसी मित्र को दी हुई वस्तु को आप वापस ले आवें, तब आप कहते हैं, अरे भाई! मैंने तो आपको दे दिया था, भूल से उठा ले गया था तो फिर देने आया हूँ, ले लो। तो फिर दे आओगे, थोड़ी देर बाद फिर देने की जरूरत पड़ेगी, कब जब फिर वापस लाओगे, ऐसा नहीं हैं।

अनन्त परमात्मा का जो आश्रय लेता है, हरि-आश्रय जिसके जीवन में आता है, उसके बाद फिर उसके जीवन में तन का आश्रय, धन का आश्रय, जगत् का आश्रय नहीं आता है। यह दोहरी बात कैसे होगी? एक ही तुम हो और तुमने एक बार अपने को उस एक के सम£पत कर दिया, तो फिर विभाजन कैसे होगा? अब बार-बार इसकी पुनरावृत्ति कैसे होगी? उसके टुकड़े कैसे किये जायेंगे? तो साधक की सजीवता किसमें हैं, कि जीवन के सत्य की स्वीकृति में उसको अविचल आस्था रखनी चाहिए। मुझे बड़ा दुःख होता है जब कभी-कभी कोई-कोई साधक कहने लग जाते हैं कि मैंने परमात्मा के आगे अपने आप को सम£पत तो किया था, लेकिन ऐसा लगता है कि मेरे समर्पण में ही कोई दोष है। ऐसा क्यों कहते हो भाई, अपनी ही साधना में, अपने ही सत्य में, सन्देह क्यों हो गया तुमको। तो सन्देह इसलिए हो गया कि मैंने समर्पण तो किया था, उनको दिया था, लेकिन उन्होंने कुछ सुधारा नहीं। शाबास! तब तो बढ़िया समर्पण है भाई! नहीं सुधारा उन्होंने, काम के नहीं निकले तो वापस ले लो उनसे। वापस ले लिया तुमने। अपने जीवन के आप स्वयं ठेकेदान बन गये। तब कैसे आशा करते हो कि उनकी कृपा-शक्ति का प्रभव तुम्हारे जीवन पर दिखाई देगा? गलती हो जाती है न? तो उनसे भी सन्देह मत करो। उनकी महिमा में भी सन्देह मत करो। उनके अपनेपन में भी सन्देह मत करो और अपने द्वारा की गई सत्य स्वीकृति में भी सन्देह मत करो। अरे भाई! जिस धातु से उन्होंने हम लोगों को रचा है, वह घटिया चीज थोड़े हैं।

मैंने जब बहुत शिकायत की थी, अपने बारे में स्वामी महाराज को, तो स्वामीजी महाराज ने एक बार तो विनोद किया। कहने लगे, तुम्हें मालूम नहीं है मैं उस अनन्त परमात्मा का वकील हूँ, उसकी आलोचना तुमको नहीं करने दूँगा। फिर दुहराकर यह कहा, कि देवकीजी! तुमको बनाने के लिये परमात्मा ने धातु कहीं से उधार नहीं मँगवाई। घटिया मैटीरियल ;डंजमतपंसक्र कहीं से मँगवाया नहीं। उनके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। तुमको बनाने के लिए वे घटिया चीज कहाँ से लायेंगे? अपने ही में से रचा है उन्होंने, हम सभी भाई-बहिनों को। इसलिए अपनी मौलिक अच्छाई में सन्देह मत करो। तुम्हारे भीतर जो तत्त्व है, उसे बुरा मत समझो। मौलिक अच्छाई तो हमेशा ही रहती है, उसका नाश तो होता ही नहीं है। अपनी भूल से जो बुराइयाँ पैदा हो गई हैं इस समर्पण में, इस हरि आश्रयम में वे सब नष्ट हो जायेंगी। जो बुराइयाँ बन गई हैं वे मिट जायेंगी। जो मौलिक गति है वह कायम रहेगी। उसका आनन्द आपको आ जायेगा। इसलिए ईश्वर विश्वास की दृष्टि से यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं करना है, मैं कुछ नहीं हूँ। ये जो जीवन के तत्त्व हैं, वे बिल्कुल ही सत्य होकर आपके अनुभव में आ जायेंगे।

हरि-आश्रय जो लेता है वह क्या करता है? जब अपने को ही परमात्मा को दे दिया तो

उसके बाद भी कोई सम्पत्ति अलग है क्या? जब तुम्हीं नहीं रहे, तुम्हारे पर ही तुम्हारा अधिकार नहीं रहा, तो क्या कोई सम्पत्ति होगी जिस पर तुम्हारा अधिकार होगा? नहीं होगा सबसे पहले क्या होगा? तो हे प्रभु! यह सब कुछ तेरा, यह सब कुछ तेरा। तो सब कुछ उसका है। मेरे कहने से है कि वास्तव में हैं? वास्तव में हैं। हम फँस गये, क्यों? पराये माल पर अधिकार जमाया इसलिए। नहीं तो नहीं फँसते। भूल हो गई। सृष्टि का मालिक एक है। एक मिल्कियत के दो मालिक कैसे होंगे? दो मालिक होंगे तो बरबादी होगी। जो सच्चा मालिक है वह तो सदा-सदा से हैं, सदा-सदा तक रहेगा। तुम झूठ-मूठ के मालिक बने थे, तो सँभाला भी नहीं जाता है, भार से दबे जाते हो, मुट्ठी में पकड़ कर रख भी नहीं सकते, छूट जाने से रोते हो, यह दशा होती है कि नहीं? सँभाल कर रख भी नहीं सकते। मालिक तो वह है जो सबको अपनी मुट्ठी में रख सके। ऐसा दम है? नहीं है, तो मालिक बनने की सामथ्र्य भी नहीं है और वस्तु सचमुच में हम लोगों की है ही नहीं है। सच्चा मालिक तो एक ही है। उस मालिक के हवाले सब कुछ कर दो अर्थात् अपनी तरफ से अपनी भूल मिटालो। प्रार्थना करो कि अब तक इस तन का मैं भूल से मालिक बना बैठा था। हे प्रभु! यह आप ही की वस्तु है और आप ही को सम£पत है। अब तक कमाये हुए धन का मालिक मैं बनकर बैठा था, यह मेरी भूल थी। हे प्रभु, यह सारी सृष्टि तुम्हारी है, तुमको सम£पत है, मेरा कुछ नहीं हैं, तो काम हो गया कि नहीं।

अब प्रभु के प्रेम से कुछ और बढ़िया है क्या, जो अपने को चाहिए? कुछ नहीं है। इसलिये अपने को कुछ चाहिए भी नहीं। और फिर उनसे बढ़कर उनसे अच्छा कोई निश्चिन्त एवं निर्भय करने वाला आधार है क्या? नहीं है। इसलिये तुम्ही सर्वाधार हो, तुम्हीं मेरे जीवन के आधार हो, सब कुछ तुम्हीं हों, और बहुत दिनों से तुमसे भटक करके, बिछुड़ करके, बहुत कष्ट झेल करके, अपनी बड़ी दुर्दशा करके, मेरे प्यारे! आज तुम्हारी शरण में आया हूँ, मुझे अपनाओ, ऐसा करके कह सकते हैं कि नहीं? जी! कह सकते हैं। साकार, निराकार, उपासना का कोई भेद रहेगा इसमें? राम, कृष्ण, शंकर, दुर्गा, किसी रूप का भेद रहेगा इसमें? किसी विधि-विधान का भेद रहेगा? नहीं रहेगा। जितने भी ईश्वर विश्वासी साधक हैं, विश्वास के पंथ की साधना जिनको पसन्द है, सबके लिए यह अचूक मंत्र है। आँख, खुले, जीवन में सजगता आये तो इस मंत्र को एक बार दुहरा करके, याद करके थोड़ी देर के लिए बिल्कुल ऐसे छोड़ दो जैसे कि कोई बच्चा अपनी माँग की गोद में निश्चिन्त होकर पड़ जाता हो। दो मिनिट, चार मिनिट, पाँच मिनिट, दस मिनिट, घड़ी नहीं देखना, समय का नियम नहीं बाँधना, क्योंकि घड़ी देखने की याद यदि रहेगी, तब भी अहं-शून्य नहीं रह पाओगे।

आस्तिकता की पृष्ठभूमि में भी दार्शनिक सत्य ज्यों का त्यों कायम है। अपने निज स्वरूप से अभिन्न होने में, अपने परम प्रेमास्पद से,प्रियतम प्रभु से अभिन्न होने में बाधा है अपना सूक्ष्म अहं भाव। जब तक कुछ भी करने का ख्याल है, कर्म के रूप में नहीं तो चिन्तन के रूप में, चिन्तन के रूप में नहीं तो अन्त£नरीक्षण के रूप में, अन्त£नरीक्षण के रूप में नहीं तो अपने विकास के रूप में, देखें अब क्या हो रहा है? सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकल्प भी यदि बाकी है तो अहंभाव का लोप नहीं होगा। और अहं में सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकल्प उठा तो आपको सत्य से विमुख कर देगा। इस समर्पण योग में प्रधानता किस बात की है, अहं-शून्य होने की। और किसी सामथ्र्यवान की कृपामयी गोद में अपने को डाल देने के समान अहं-शून्य होने का

और कोई सहज उपाय नहीं दिखता है। इसलिए उसके हो जाओ। उस समय भूतकाल के अभ्यास से किसी जपे हुए मंत्र की पुनरावृत्ति होने लगे या इष्ट का ध्यान आने लगे या नाम आने लगे तो घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि किये हुए अभ्यास के फल से शान्ति काल में ये सब बातें पुनरावृत्ति के रूप में आती हैं, तो आने लगें, चिन्ता नहीं करना। किया हुआ अभ्यास अपना फल दिखाकर अपने आप लुप्त हो जायेगा। लेकिन उसको अपनी ओर से याद नहीं करना, इतना ही काम अपना है। अपने आप होता रहे तो होने दो और आप उस कृपा का आश्रय लेकर चुपचाप रहो।

संतवाणी में मैंने ऐसा सुना कि दो-चार मिनिट का समय तो काफी लम्बा होता है। मनुष्य के मस्तिष्क की क्रियाश्क्ति का नाप-तौल करने में सैकेण्ड का एक हजार भाग, इस प्रकार की मशीन पर मानसिक क्रियाओं की जाँच भी प्रयोगशाला में हमने करके देखी। उस हिसाब से मिलाओ तो दो-चार मिनिट का समय काफी लम्बा होता है। मैं आपको जीवन का सत्य निवेदन कर रही हूँ कि प्रभु का अनन्त ऐश्वर्य, प्रभु का अनन्त माधुर्य, उनका अपनापन और अपनी असमर्थता एक सैकेण्ड के किसी भाग के लिए भी प्रधान होकर आपके सामने आ जाए तो उसी क्षण में अहं का लोप होता है, अहंकार गलता है। गलेगा किस आधार पर? अपनी असमर्थता के आधार पर। शान्ति सुरक्षित किस आधार पर रहेगी? उनकी महिमा के आधार पर। ठीक है न, कोई घबराया हुआ निर्बल आदमी हो, उसको भरोसा हो जाय कि हमारे पास एक ऐसा सहायक है कि दुनिया में कोई उसे हरा नहीं सकता तो निश्चिन्तता आयेगी कि नहीं? जी, आयेगी। मुख से आवाज नहीं निकल रही है घबराहट के मारे, परवश हो जाता है आदमी, लेकिन आपको भरोसा हो जाय कि मेरे पास एक ऐसा मालिक है जो "बिन बोले मेरी व्यथा जानी" जो बिना मेरे मुख से बोले, हृदय की पीड़ा को जानलेता है, तो धीरज आ जायेगा कि नहीं। तो इस प्रकार से थोड़ी-थोड़ी देर के लिये भी उस महिमा से अभिभूत होकर आप अहं-शून्य रह सकेंगे तो जहाँ इस सीमित अहं का भास लोप हुआ कि उसी क्षण में उस नित्य विद्यमानता के आनन्द में आप अपना आपा भूल जायेंगे। ऐसा मैंने साधन काल में अनुभव करके देखा है। कल्पना नहीं, कथा नहीं, भविष्य का मिथ्या आश्वासन नहीं, पढ़ी हुई, सुनी हुई बात जो संतवाणी में आपने सुनी है, सद्ग्रंथों में आपने जो पढ़ा है, वह आपके लिये अपने में प्रत्यक्ष हो जायेगा।

हरि आश्रित होकर कुछ न करो, अप्रयत्न हो जाओ, तो जो हरि का आश्रय लेता हैं, उसको अप्रयत्न होने में तकलीफ नहीं होती है। अपने को अकेला निराधार छोड़ना पड़े तो व्यक्ति घबराता है। हाय क्या हुआ! सब डूबा, सब डूबा लेकिन एक इतना जोरदार आश्रय कि जिस पर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड आश्रित है, जो अखिल लोक विश्राम है, जो सर्व उत्पत्ति का आधार है ऐसे का आश्रय लेने में कोई घबराहट नहीं होती। और कुछ समय वह भाव बना रहे और याद बनी रहे तो क्या पूछना। तब तो कुछ करने की बात ही नहीं रहीं। लेकिन हम भूल जाते हैं। यह दोष जब तक बना है तब तक इस साधना को चैबीस घण्टे में तो मैंने एक ही बार का नाम लिया अभी, जितनी बार जिसको मौका मिले वह बारम्बार इसको दुहाराता रहे तो फिर न कहीं जाना होगा। न किसी से पूछा होगा, न कुछ कहना होगा, न कुछ करना होगा। जहाँ आप होंगे, वहीं रहते-रहते, थोड़े-थोड़े विराम काल का इस प्रकार उपयोग आप करते रहेंगे तो जो कुछ मैं कह रही हूँ उससे अनन्त गुना अधिक

आपके भीतर अभिव्यक्त हो जायेगां ऐसी विलक्षण महिमा है उस महामहिम की।

मैं क्या बताऊँ, बड़ी विलक्षण महिमा है उनकी अपनी और उसी में से विलक्षणता देकर बनाया है उन्होंने हम लोगों को। तो ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि जितने विलक्षण वे हैं वैसी विलक्षणता उन्होंने हमको भी दी है। औरयह मुझको क्यों मामलू होता हैं, ऐसा मैंने कब अनुभव किया कि अभी-अभी विविध रूप संसार दिखाई दे रहा है, अलग-अलग प्रकार की वस्तुएँ, दिखाई दे रही हैं, अलग-अलग प्रकार के भाव-विचार आ रहे हैं, जा रहे हैं, और अभी आपको बैठे-बैठे याद आ गया कि अरे भाई! इन बनने-बिगड़ने वाली परिस्थितियों से अपने को क्या लेना है? हम तो उसके हैं, जो सर्व उत्पत्ति का आधार है, हम तो उसके हैं जो अनन्त ऐश्वर्यवान है, जिस पर कोई विजयी नहीं हो सकता और हम तो उसके हैं जो हमसे अपनेपन का नाता मानता है। तो ऐसा याद आया नहीं कि दृश्य गायब हो जाता है, ऐसा जैसे कि सिनेमा का चित्र बदलता हो। इतनी जल्दी बदलता है, इतनी जल्दी आप उस भ्रम में से निकलकर, सत्य के आनन्दमय अनुभव में खो जाते हैं कि पता ही नहीं चलता कि कहाँ गया संसार, कहाँ गया झंझट, कहाँ गया भार और कहाँ गई चिन्ता, से आपका अहं परिवर्तित हो जाता है और भ्रम का नाश हो जाता है। उसके अत्यन्त निकट होने के अनुभव में कुछ समय का तो कौन कहे, जन्म-जन्मान्तर का कलंक धुल जाता है।

प्रवचन 38

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से अपने सम्पूर्ण जीवन को साधनमय कैसे बनायें? इस विषय पर हम अनुभवी संत की वाणी सुन रहे थे। उसमें उन्होंने हमें यह सलाह दी कि जिस जीवन की माँग अपने भीतरअ नुभव करते हो उस माँग की पूर्ति में विश्वास करो। इस बात को मानो कि जो जीवन मुझे चाहिए वह विद्यमान है। वह है और अपने को मिल सकता है। बड़ी भारी कमी रह जाती है हम लोगों में इस बात की, कि ईश्वर की आवश्यकता अनुभव करते हुये भी हम लोग इस बात को मानते नहीं हैं कि वे अभी विद्यमान हैं और अभी मिल सकते हैं।

ईश्वर की विद्यमानता मुझ पर उतना प्रभाव नहीं डालती है जितने अपने प्रंपची होने का, दोषी होने का, भटका हुआ होने का प्रभाव रहता है। हमने अन्य विश्वासों को छोड़कर एक विश्वास को जीवन में रखने का निश्चय किया और निश्चय करने के बाद भी स्वयं अपने ही द्वारा हम ही इस बात को मानते रहते हैं कि क्या बतायें, अभी तो मेरा विश्वास बहुत जगहों में बँटा हुआ है। आप ही ने कहा था कि मैंने सब विश्वास छोड़कर एक विश्वास धारण कर लिया, तो अपनी स्वीकार की हुई स्वीकृति को आप ही खंडित क्यों कर रहे हैं? आप ही ने कहा था कि मैंने सारे सम्बन्धों को समेट कर एक भगवत् सम्बन्ध में विलीन कर दिया तो जिस समय आपने ऐसी धारण अपने भीतर जगाई, ऐसी स्वीकृति अपने भीतर स्वीकार की तो उसी समय से इसको पक्का क्यों नहीं मानते हैं? फिर उकसे बाद क्यों शंका करते हैं कि मेरे तो अभी बहुत से सम्बन्ध बने हुये हैं, मेरे तो अभी बहुत से विश्वास बने हुए हैं। तो मैं आपको फिर अहं रूपी अणु की रचना की याद दिलाऊँ कि जिस समय आप सम्बन्धों को इन्कार करेंगे उस समय अनित्य का प्रभाव मिट जायेगा और फिर दुबारा उसमें शंका कर लेंगे और उसको स्वीकार कर लेंगे तो

फिर वह आपके सिर पर चढ़ जायेगा। यह बात समझ में आती है।

प्रातःकाल सत्संग के समय व्यक्तिगत सत्संग में बैठकर आपने निश्चय किया कि मुझे की हुई भूल को नहीं दुहराना है अर्थात् अब तक जो भूल कर चुके हैं उसे फिर से नहीं दुहराना है तो आपने स्वयं ही सोचकर पक्का कर लिया और फिर काम करते समय आप अपने बारे में यह सोचने लग जाते हैं कि अरे भाई! मैं तो बड़ा दुर्बल हूँ। बड़े-बड़े लोग अपनी भूलों को नहीं मिटा सके तो मैं कैसे मिटाऊँगा, तो भूल छोड़ने वाली बात पक्की रही कि मैं भूल करता हूँ यह बात पक्की रही? इसलिए प्रातःकाल का निश्चय किया हुआ आपको काम नहीं आया। ऐसी अजीब बात है कि मैं क्या बताऊँ। मुझे बड़ा आश्चय होता है। अपने जीवन के अध्ययन का जो अवसर मुझे मिला उससे पहले सब लोगों का जैसा मस्तिष्क होता है वैसा मेरा भी था। दुनिया की बड़ी-बड़ी आश्चयजनक घटनाओं के विषय में पढ़ना, जानना, उनके बारे में सोचना, उनको मस्तिष्क में संग्रह करना, इसमें बड़ी बहादुरी मालूम होती थी। स्वामीजी महाराज के पास आ जाने के बाद, मनुष्य के जीवन की कथा जब सुनी तब सुनी तब समझ में आया कि इस सृष्टि में सबसे अधिक आश्चर्यजनक जो बात है वह मनुष्य का अपना स्वयं का अहं ही है। उसके समान आश्चर्यजनक बात और कोई है नहीं।

आपके कहते हैं कि मैंने तो कितनी बार अपने को भगवत् सम£पत किया है, कि हे प्रभु! मैं तेरा हूँ, हे प्रभु! यह मन तेरा है, यह तन तेरा, यह धन तेरा, यह सर्वस्व तेरा, यह सब कुछ तेरा है, ऐसा कहा हैं और कहते हुए भी इतने दिन बीत गये, जीवन में परिवर्तन नहीं आया। तो ऐसा नहीं है कि उस साधना में कोई त्रुटि है। ऐसा नहीं है कि सत्य में किसी प्रकार की खोट है। गलती कहाँ हो रही है कि अपने ही द्वारा हम सर्वस्व समर्पण करने का सत्य स्वीकार करते हैं और फिर अपने ही द्वारा अपनी स्वीकृति में संदेह करते हैं। क्या जानें, मैंने सच-सच समर्पण किया या नहीं। इस दुविधा में किया कराया सब डूब जाता है। नित्य और अनित्य के बीच में दोनों तरफ के आकर्षण में फँसे हुए ऐसे अद्‌भुत विलक्षण प्राणी हम लोग हैं। संसार का आकर्षण खींचता है तो झुकाव इस तरफ हो जाता है। कि यह बड़ा अच्छा है, यह बहुत बढ़िया है, बड़ा अनुकूल है, इसे देखना चाहिए, यह सुनना चाहिए, ऐसा करना चाहिए और जब भीतर की माँग जाग्रत होती है और परमात्मा का आकर्षण खींचता है तब हम लोग उधर झुकते हैं कि भजन करना चाहिए, भगवान से मिलना चाहिए, निर्दोष होना चाहिए, तो ऐसी विलक्षण रचना है आपकी, कि जब आप अपने ही द्वारा अनित्य के आकर्षण से अपने को आक्रान्त होने देंगे, तो अनित्य का प्रभाव चढ़ जायगा और जब आप नित्य परमात्मा के प्रभाव को अपने पर असर डालने देंगे तो आपका खिंचाव उस ओर हो जाएगा।

अब आप देखिए, कि हमारी, आपकी जो वर्तमान दशा है वह दशा इसी प्रकार की है कि दोनों ओर के आकर्षण के बीच में हम कभी इधर झुकते हैं, कभी उधर झुकते हैं। कभी शरीरों के आधार पर संसार का सुख अच्छा लगने लगता है, उसकी याद अच्छी लगने लगती है, तो इस तरह एक द्वन्द्व भीतर-भीतर बना रहता है। अब उसमें जिन लोगों ने सत्य में विश्वास किया, प्रभु की महिमा में विश्वास किया, अपने द्वारा पुरुषार्थ किया, उन्होंने अनित्य को अनित्य जान करके आकर्षण को त्याग करके अपने को उसमें से निकाल लिया। तो मैंने ऐसा सुना है, ऐसा माना है,

संत कृपा से, भगवत् कृपा से ऐसा अनुभव किया है कि परम प्रेमास्पद अनन्त माधुर्यवान प्रभु में इतना घना आकर्षण है, आपको पकड़कर अपनी तरफ खींचने का और उस आकर्षण में आपको अपनी ओर लुभा लेने की जो मधुरता है उसकी तुलना संसार की किसी भी सुख परिस्थिति से नहीं हो सकती।

अपने लोगों का उदाहरण ले लो- परिवार में, समाज में, टोला-मोहल्ला में, कहीं भी कोई एक प्रेमी स्वभाव का आदमी होता है और वह अपने कुटुम्बीजनों के और पड़ौसियों के भी छोटे-छोटे अपराधों की ओर ध्यान नहीं देता। प्रेमी के हृदय की मधुरता कटुता पैदा होने नहीं देती। छोटी-मोटी त्रुटियों पर ध्यान न देकर प्रेमपूर्वक व्यवहार करता हो, मीठा बोलता हो, समय पर सहयोग देता हो,आपके सुख-दुःख में सहानुभूति रखता हो, तो ऐसे व्यक्ति की ओर सहजभाव से अपन लोगों का खिंचाव होता है कि नहीं? जी! आकर्षण होता है। किसलिए? इसलिए कि उसके प्रेमी स्वभाव को हम लोग पसन्द करते हैं, अच्छा लगता है। मीठी बोली अच्छी लगती है। समय पर साथ में खड़े हो जाना, सुख-दुःख में हाथ बँटाना, यह सब अच्छा लगता है। अच्छा लगने से हर व्यक्ति का उसकी ओर खिंचाव होता है। यह मैंने पशु-पक्षियों के जीवन में भी देखा है। आपने भी देखा होगा, सुना होगा।

जो प्रेमी स्वभाव के होते हैं, जो सुहृदय होते हैं, जो सुख-दुःख अपने में अनुभव करने वाले होते हैं, सबका उनकी ओर खिंचाव होता है और सहजभाव से हम उनकी ओर खिंच जाते हैं। उसके बदले में अगर वह आपसे कुछ चाहता हो, तब तो आदमी थोड़ा सावधान हो जाता है। अरे भाई! बहुत मुश्किल है, यह तो ऐसा-ऐसा चाहेंगे ही, और अगर कोई ऐसा आदमी है जिसका स्वभाव ही है मीठा बोलने का, आदर देने का। उसके बदले में कुछ न चाहता हो तो कैसा लगेगा? और अधिक अच्छा लगेगा, और अधिक आकर्षण होगा। अब आप अन्दाजा लगाइये कि जिस अनन्त परमात्मा के अनन्त माधुर्यवान होने के प्रभाव से उनकी उस मधुरिता का एक-एक कण हम लोगों को मिला और उस ज्ञान और प्रेम का आपने आदर किया तो आपके प्रति संसार आक£षत होने लगा, क्योंकि उसी के हम सब एक अंश हैं न, चाहे अत्यन्त क्षुद्र अंश हैं। उनके ज्ञान और प्रेम का जो अंश हम लोगों के अहंरूपी अणु में हैं। उस ज्ञान और प्रेम का आदर आपने किया तो परिवार में, समाज में सबका आकर्षण आपकी ओर हो गया।

अब सोचकर देखिए कि आपको थोड़ा सा ज्ञान व प्रेमी होने से जो आकर्षण पैदा होता है, तो जो ज्ञान स्वरूप ही है, ज्ञान और प्रेम का भण्डार ही है, उसमें कितना आकर्षण होगा? आपसे कम होगा या ज्यादा होगा? ज्यादा होगा। क्या बराबर हो सकता है? बहुत ज्यादा होगा। एक दिन में बैठकर सोच रही थी, ऐसे ही बैठे-बैठे ही कोई बात चिन्तन में आ जाती है तो हम लोगों ने सुना है कि मुझमें और उनमें कोई अन्तर ही नहीं है, 'वह' है सो ही मैं हूँ। "तत्त्वमसि"। जो मैं हूँ सो 'वह' है। ये अध्यात्म पंथ के वचन हैं। आपने पहिले सुना होगा जो ब्रह्म है वह 'यह' है और जो यह है वह 'वह' हैं, तो अपने में और उसमें कोई भेद नहीं है। इस तरह के बहुत अच्छे-अच्छे वाक्य हैं जो वास्तविकता को दर्शाने के लिए ऋषिजनों ने सुझाये हैं।

एक दिन मैं बैठकर सोच रही थी तो महाराजजी की एक बात मुझे याद आई। बम्बई में अध्यात्म विद्या भवन एक स्थान बना है सत्संग का। प्रेमपुरीजी महाराज एक महात्मा थे। वह उनकी देख-रेख में उनकी सत्प्रेरणा से बना, जहाँ बहुत अच्छा काम होता है। वहाँ सत्संग हो रही थी,

स्वामीजी महाराज बैठे थे। कई अच्छे संत भी उनके साथ बैठे थे। कई लोग बैठे थे। एक संत ने प्रश्न किया महाराजजी से, स्वामी महाराज! ब्रह्म का बोध किसको होता है? तो स्वामीजी महाराज ने खूब प्यार से उनकी जाँघ थपथपाई, हाथ फेरा और फिर कहा-यार! ब्रह्म का बोध ब्रह्म को होता है। हम लोगों को जो कि शरीरों से तादात्म्य रखकर बैठे हैं, सुनने में यह बात बहुत अटपटी सी लगती है लेकिन प्रेमपंथ के जो अनुभवी संत हुए-सबके वचनों में आपने ऐसा सुना होगा कि "मैं" पन की जो एक परिच्छिन्नता है, एक सीमा है, इसके मिट जाने के बाद उस अविनाशी, अनन्त अमरत्व से अभिन्नता होती है।

तो ईश्वर विश्वास की दृष्टि से मेरे ध्यान में आया कि यदि मेरे भीतर उस अनन्त तत्त्व की आवश्यकता जाग्रत हुई है तो मैं उसकी ओर आक£षत होऊँगी। लेकिन उसकी ओर का आकर्षण इतना विशाल है, कि मेरी सम्पूर्ण अहंभाव की सीमा को वह अपने में समाहित कर लेने में समर्थ है। जो मधुर आकर्षण का एकदम लहराता हुआ सागर है उसकी ओर से जब खिंचाव पैदा होता है और उसका जो मिठास होता है उसको साधक कभी विरोध नहीं कर सकता। रोक ही नहीं सकता। वह बहुत प्रबल होता है। इस आधार पर हम भाई-बहिनों को यह सलाह दी गई कि भाई! तुम इस बात में अविकल्प विश्वास करो कि तुमको जिस जीवन की माँग है, वह जीवन है अवश्य। तो परमात्मा की चर्चा हम लोग कर रहे हैं, परमात्मा है अवश्य। जो लोग इस बात को मान लेते हैं कि परमात्मा है अवश्य, तो उनका सहज आकर्षण परमात्मा की ओर बढ़ जाता है। यह मैं कहना चाह रही थी।

अब हम लोग क्या करते हैं कि इस पंथ का जो प्रारम्भिक पुरुषार्थ है, उसमें विकल्प रखते हैं। अविकल्प विश्वास के आधार पर जिन महापुरुषों ने उस अनन्त माधुर्यवान के आकर्षण से आक£षत होकर इधर का सब कुछ छोड़ दिया उनकी महिमा मानना पसन्द करते हैं और यह कहने लग जाते हैं कि उनके संस्कार बड़े अच्छे थे और उन्हांने पहले बहुत पुरुषार्थ किया होगा, साधना की होगी, इसलिए उनका आकर्षण परमात्मा की ओर हो गया और इतना जोरदार हो गया कि न उन्होंने दिन जाना न रात जानी, न भूख जानी न प्यास जानी, न जीना न मरना जाना सारी बातें पीछे रह गई और उस अनन्त माधुर्यवान के आकर्षण ने उनको ऐसा अभिभूत कर दिया कि वे शरीर और संसार से ऊपर उठकर, परमात्मस्वरूप होकर, परमात्मा में लीन हो गये, अभिन्न हो गये। उनसे मिल गये सदा के लिए। तो जो प्रारम्भिक शर्त है वह तो हम लोग भी पूरी कर सकते हैं न, और उसे पूरी करो नहीं और जिन्होंने उसे करके आगे कदम बढ़ाना चाहा उनके समान होना चाहो तो हो नहीं पाते।

इसलिए इसबात को मैं बारम्बार याद दिला रही हूँ कि जो साधन के लिए अनिवार्य स्वीकृतियाँ हैं, जो जीवन के सत्य के रूप में स्वीकृतियाँ हैं, उन स्वीकृतियों को अपनाने के बाद फिर दुबारा उनमें शंका मत कीजिये। अपनी भूतकाल की दशाओं को याद करके वर्तमान में अपने को दोषी मत मानिए। इतना उपकार तो अपने पर करना ही है। जिस स्वधर्म पालन के रूप में आपने इस सत्य को स्वीकार किया कि परमात्मा है, अवश्य है, क्योंकि उसकी माँग हैं मुझमें, और मुझे उसकी नित्यता का, नित्य विद्यमानता का अनुभव इसी वर्तमान में हो सकता है। तो ऐसा सोचिए, अपनी त्रुटि पर ध्यान मत दीजिए।

बहुत से भाइयों का रिजर्वेशन 25, 26 का, 27 का हो गया है। अब आप बैठे-बैठे सोचकर देखिए कि 27 ता. का मेरा रिजर्वेशन हैं, मैं वहाँ जाऊँगा, ऐसा-ऐसा करूँगा। माताओं का, भाइयों का, बहिनों का रिजर्वेशन है। हम 26 को वहाँ पहुँच जायेंगे, 27 को पहुँच कर ऐसा कर लेंगे, यह बात आपके भीतर जितनी सजीव लग रही है, उसमें कोई सत्यता नहीं है। हो सकता है कि 26 ता. को जाना हो या न भी हो। हो सकता है कि 25 ता. को रिजर्वेशन आपके काम आ जाये या कैन्सिल कराना पड़े। यह बात सन्देहात्म है कि नहीं? है। लेकिन इस सन्देहात्मक बात में अपने को उतना सन्देह नहीं। नित्य विद्यमान परमात्म अभी भी मुझमें ही विद्यमान है। और मैं उसकी विद्यमानता को स्वीकार करूँ और कुछ नहीं करना है। भूखा रहूँ कि नंगा रहूँ, सिर नीचे करके, पैर ऊँचे करके कुछ अभ्यास करूँ या लम्बी गहरी श्वास लूँ आँखें बन्द करूँ, कान बन्द करूँ, सो नहीं करना है। केवल यह स्वीकार करूँ कि वह विद्यमान है और सर्वत्र है, भीतर-बाहर समानरूप से विद्यमान है इसलिये मुझमें भी है। वह सभी का है इसलिए मेरा भी है। इस सत्यको स्वीकार करने मात्र से अहं में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। ऐसा नहीं है कि उनसे आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति तो आपने वैष्णवी दीक्षा के रूप में ले ली, अब इसके बाद वर्षों तक उस दीक्षा के अनुसार कुछ-कुछ व्यवहार करते ही रहेंगे, तब शायद कालान्तर में अनत होगा या दो-चार जन्म और लेने पड़ेंगे। इस प्रकार का सन्देह रखना ही अपनी सफलता में सबसे बड़ी बाधाहै। जो सदा के लिए मेरा होकर नहीं रह सकता उसमें तो हम लोगों की निष्ठा जम जाती है, विश्वास बैठ जाता है, और जिसने साथ कभी छोड़ा ही नहीं, जिसका इतना वितबमनिस जोरदार आकर्षण है, उसको अनुभव करने के लिए फुर्सत ही नहीं है।

मैंने जो सुना, सुनने के आधार पर समझने की चेष्टा की ओर समझे हुए में थोड़ा-सा मान करके देखा, श्रद्धालु व्यक्ति की तरह नहीं, एक विज्ञान के छात्र की तरह प्रयोग के रूप में, कि जैसा स्वामीजी महाराज कहते हैं, ऐसा करके देखो कैसे होता है, अगर ठीक लगेगा तो मानेंगे, नहीं तो छोड़ देंगे। ऐसे ही न होता है। प्रयोग करके देखो-अगर सत्य प्रमाणित हो जाए तो मान लेना, नहीं तो छोड़ देना। ऐसा करके मैंने देखा, तो बड़ी रहस्य भरी बात आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ और आनन्द आता है मुझे। अपने प्यारे को भी खूब आनन्द आता होगा सुन-सुन करके।

मनुष्य के अहं रूपी अणु की रचना इतनी विलक्षण है कि जैसे ही उसने उस सत्य को स्वीकार किया कि परमात्मा है और सभी का होने से मेरा भी है, सदैव होने से मुझमें हैं, अभी है और मेरा है ऐसा करके जिसने स्वीकार किया तो इस स्वीकृति के बाद उसको कुछ अभ्यास करना पड़ेगा तब अनुभव होगा ऐसी बात नहीं है। इस स्वीकृति मात्र से अहं में एक परिवर्तन होता है। वह परिवर्तन कैसा होता है कि अभी तक जो कभी अनित्य आकर्षण की ओर झुकना और कभी नित्य आकर्षण की ओर झुकना हो रहा था, जिससे कारण आप बार-बार द्वन्द्व, के झूले पर झूल रहे थे, तो अहं रूपी अणु में इतना बढ़िया विकास होता है कि वह द्वन्द्व खत्म हो जाता है। फिर इधर का खिंचाव बहुत ही ढीला हो जाता है और उस अनन्त माधुर्यवान की ओर से जो मधुर आकर्षण आ रहा था वह भीतर-भीतर आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सरस बनाने लगता है, उसमें तरावट आने लगती है और जैसे-जैसे, भीतर रस की वृद्धि होती है, भूतकाल की सब कामनायें, वासनायें और

उनसे उत्पन्न हुए ताप, द्वन्द्व एकदम शान्त हो जाते हैं। अतृप्त वासनाओं की गर्मी में बहुत ताप होता है। आपने अनुभव किया है कि नहीं किया है अगर किसी को 103-104 डिग्री बुखार चढ़ जाये तो केवल स्थूल शरीर का रक्त जलेगा, लेकिन अतृप्त वासनाओं के वेग से तो मनुष्य के शरीर की सूक्ष्म शक्तियाँ जल जाती है। यह सब मैंने मनोविज्ञान के अध्ययन में पाया है।

अपने नाम जप की इतनी संख्या पूरी की या नहीं की, माला पूरी की कि नहीं की, यह तो आपकी निष्ठा बतायेगी। यदि सचमुच आपने दीक्षा ली है और गुरु के बताये हुए वाक्य में आप निष्ठा रखते हैं तो जरूरी पूरी करेंगे, क्यों नहीं करेंगे, सब कुछ छोड़कर पूरी करेंगे लेकिन किसी की निष्ठा पूरी हो या न हो, कोई पूरी कर सकता हो या न कर सकता हो, यह तो उसकी उस समय की सामथ्र्य, रुचि और योग्यता बतायेगी। लेकिन इन सबकी अपेक्षा न रखते हुए अगर आपने सत्य को स्वीकार किया है तो अहं रूपी अणु में ही उस शक्ति का विस्फोट होगा, उस शक्ति का उद्भव होगा, जो आपके अनित्य आकर्षणों को काट देगी, ढीला कर देगी। आपके इष्ट का दर्शन तो भविष्य में जब आप उसको बर्दाश्त करने के लायक होंगे तो दिला देंगे। तो दर्शन तो पीछे होगा, संभाषण तो पीछे होगा, रूप तो पीछे दिखाई देगा। कब दिखाई देगा? यह आप जानें, आपके प्यारे जानें। लेकिन मैंने जो जाना है वह यह है कि सत्य की स्वीकृति का इतना जोरदार प्रभाव होता है कि उस अनन्त परमात्मा की विभूतियाँ जो आप ही के अहं रूपी अणु में बीज रूप से तत्त्व रूप में विद्यमान थीं उनका उद्भव आरम्भ हो जाता है। उनका विस्फोट आरम्भ हो जाता है। अहं रूपी अणु में से वे तत्त्व अभिव्यक्त होने लगते हैं। उनकी अभिव्यक्ति धीरे-धीरे होती है, क्रमिक होती है।

कितने हितचिन्तक हैं परमात्मा अपने प्यारे-प्यारे बच्चों के, अपने साधकों के, कि हर कदम उनको ठीक तरह से मालूम है, कि किस साधक को कितनी उपलब्धि किस क्षण देना है, कि जितनी वह बर्दाश्त कर सके, सहन कर सके, ठंसंदबम रख सके और उसका लाभ उठा सकें। वे यह सब इतना धीरे-धीरे इतने सहज भाव से करते जाते हैं कि साधक को ऐसा लगता है कि यह सब मेरी ही बहादुरी है। जिस परमात्मा को कुछ नहीं चाहिए, जो सब प्रकार से अपने आप में ही पूर्ण है वे कभी हम लोगों को यह दिखलाना नहीं चाहते हैं कि तुम पर मैंने कुछ उपकार किया है। ऐसा नहीं करते हैं बहुत सहज भाव से धीरे-धीरे करके अपनी अलौकिक विभूतियों से आपके थके-माँदे, भूखे-प्यासे, अतृप्त व्यक्तित्व को धीरे-धीरे सींचते जायेंगे। अपने प्रेम के रस से, अपनी कृपा से, अपनी महिमा से, अपनी विभूतियों से भरते चले जायेंगे। आपको पता ही नहीं चलेगा कि कब मेरी ऐसी दशा थी कि हम एक-एक क्षण में संसार की ओर, और एक-एक क्षण में परमात्मा की ओर झुकते थे और द्वन्द्व में कब तक हम झूल रहे थे और कैसे अनित्य आकर्षण सब खत्म हो गये। और क्या हो रहा है, कैसे निष्ठा इस ओर गाढ़ी होती जा रही है, कैसे उनकी उपस्थित से निश्चिन्तता, निर्भयता आती जा रही है, आपको कुछ भी पता नहीं चलेगा और जीवन शान्त स्वाधीन होता चला जायेगा।

ऐसा मधुर लगने लगता है कि व्यक्ति के लिए बहुत सहज हो जाता है कि वह सत्पथ पर चला जावे। संसार उसके पीछे छूटता जाता है और "मैं" छूटता जाता है। इस शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रही हूँ कि ऐसे छूटता जाता है कि साधक को उस बात का अभिमान भी नहीं होने पाता कि परमात्मा के लिए मैंने सब कुछ छोड़

दिया है। ऐसा होता जाता है। बहुत स्वाभाविक ढंग से होता है। ऐसा हम सब भाई-बहिनों के साथ होना चाहिए। इसलिए जो सत्य है वह नित्य है, जो सदैव है वह जीवन तत्त्व है। उसकी उपस्थित में सन्देह मत करो। उसके मंगलमय विधान में सन्देह मत करो। मेरा सन्देह ही तो मुझको रोक कर रखता है। संसार तो रोकता नहीं हैं। संसार में सामथ्र्य नहीं है कि अमर जीवन के अधिकारी को रोक सके। जड़ में सामथ्र्य नहीं है कि अनन्त स्वरूप को, परमात्मा के प्रेमी को रोक सके। संसार तो नहीं रोक सकता है, लेकिन आप अपनी महिमा में स्वयं ही सन्देह करके बैठे हैं। हमारा सन्देह ही हम लोगों को रोक रहा है। सन्देह नहीं करना है। नहीं तो सोचिए, कि संसार का आकर्षण आज तक हम लोगों को सन्तुष्ट नहीं कर सका, ऐसा कहना चाहिए कि संसार का आकर्षण मुझ तक पहुँच ही नहीं सका। अगर संसार के आकर्षण से प्रेरित होकर कोई सुख लेने हम जाते हैं ओर वह सुख मुझ तक पहुँच जाता तो मुझमें और उस सुख में भेद भी नहीं रह जाता। यह बड़ा दार्शनिक सत्य है। खूब ढंग से आप विचार करके देख लीजिये।

आप लोग बड़े पुराने सत्संगी है। जरा इस ऊँचे अमरत्व को, इस चिन्तन को भी ग्रहण करके देख लीजिए। संसार का कोई भी सुख अगर आप तक पहुँच पाता तो आप में और उस सुख में भेद नहीं रह जाता और आप उस सुख के भोक्ता होकर के यह नहीं कह सकते थे कि यह बड़ा भारी सुख है। समझ में आया? अगर कोई बात सुखद लगती है तो आप कहते हैं कि यह बड़ी सुखद है। इसका मतलब क्या हुआ कि वह सुखद बात आपसे भिन्न है। तभी कहते सकते हैं कि बड़ी सुखद है। आप तक तो वह नहीं पहुँची। आपसे अलग रही। इसलिए कहते हैं बड़ी सुखद है। आप में और उस अनन्त परमात्मा में इतनी एकता है कि आपका उससे जब मिलन होता है तो वह मिलन वाला जीवन और आपका अपना सीमित अहंभाव, ये दोनों दो नहीं रह जाते। तब क्या होता है? तब पता ही नहीं चलता है। तो ज्ञान के प्रभाव में भी ऐसा होता है और प्रेम के प्रभाव में भी ऐसा ही होता है।

मुझे याद आता है कि स्वामीजी महाराज कभी-कभी गाते अपनी मस्ती में-"मिले रहे हैं, पर कबहूँ मिले ना" ऐसे करते गाते रहते। और भक्त कवि विद्यापति के वचन साहित्य में हमें पढ़ाये जाते थे। बहुत अच्छे-अच्छे संतों का साहित्य हम लोग महाविद्यालय में पढ़ते थे। उस समय का पढ़ा हुआ मुझे याद आता है- मैथिली भाषा है, भक्त कवि विद्यापति जी ने लिखा है-"सखि की पूछसि अनुभव मोय, से हो विरति अनुराग बरनव इति, तिल-तिल नूतन होय"। कतु धमुजानिमी गमामिलन जाने कैसन केल"- वे कह रही है कितनी बार उनके साथ मधुर-क्रीड़ा में कितनी रात्रियों को बिताया हमने, लेकिन आज तक पता ही नहीं चल सकता, कि क्रीड़ा कैसी होती है। कैसे नहीं पता चला कि क्या होता है?

तो जिससे हमारी जातीयता है, जिससे हमारे बीच में स्वरूप की एकता है, जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध है, जिससे हमारा आत्मीय सम्बन्ध है, उससे अभिन्नता होने पर फिर दो नहीं रहे जाते। तो कौन-सा आकर्षण जोरदार होगा। बताओ तो, जो कभी आपमें मिल नहीं सकेगा उसका, या जो स्वरूप से एक है उसका? उसका आकर्षण जोरदार होगा न। पता नहीं आदमी कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है और किसको-किसको दोष देता रहता है। हमारी तरफ अपने को बुद्धिमान मानने वाले लोग तो भगवान को ही दोषी बताते हैं।

"माया के इस मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परेदशी" एक साहित्यकार की रचना पढ़कर आई थी, वह स्वामीजी को सुनाती थी कि महाराजजी! उन्होंने ऐसा मोहक वन बनाया है कि इसे आगे हम भूल जाते हैं। तो परमात्मा को दोष दे देना, संसार को दोष दे देना, अपने को क्षमा कर देना, अपने को ही बर्बाद करना है और क्या करना है। जो सत्य है, जो नित्य है, जिससे आपकी आत्मीयता है, जातीयता है, उससे मिलना जब होता है तो भेद नहीं रह जाता। भेद मिट जाता है, भिन्नता मिट जाती है।

एक ज्ञानी संत नौन की थाह समुँद की लेन।

आपुनि मिल पानी भई, उलटि कहे को बैन।।

नमक की पुतली अगर समुद्र की थाह लेने जाय और नमक पानी के साथ मिलकर पानी हो जाय तो आकर बतायेगा कौन कि समुद्र में कितना जोर? उसमें बहुत जोरदार आकर्षण है। उस आकर्षण की अभिव्यक्ति आपके व्यक्तित्व के भीतर सहज भाव से अपने आप होती चली जाती है। होती है, बिल्कुल होती है।

हमारे जान-पहचान के लोग, शरीर के सम्बन्ध से नाते-रिश्ते वाले, वे सब लोग सुनें और कहें कि देखो भाई! तुम लोगों के यहाँ नियम कायदा कुछ सिखाया हीं नहीं जाता और पाठ-पूजा का, भजन का तुम लोगों को यहाँ समय ही नहीं है, ऐसी कैसी भक्ति होती है? हमने कहा कि भाई मैंने तो प्रवेश किया है, मैं देख रही हूँ कि क्या होता है, क्या नहीं होता है। बाद में मैं बताऊँगी।

भरी सभा में बैठकर अपने जीवन की आवश्श्यकता पर प्रश्न करो और भगवत् अनुरागी ने उत्तर दिया कि भाई परमात्मा तो है और सभी का होने से तुम्हारा भी है और सदैव होने से अभी भी है और सर्वत्र होने से तुम्हारे में भी हैं। तुम्हारा कोई प्यारा हो, तुम्हारे में ही विद्यमान हो और इसी वर्तमान में विद्यमान हो तो उसको बुलाओगे, पुकारोगे कि उसको प्यार करोगे? क्या करोगे? प्यार करोगे। बुलाने वाली बात तो रही नहीं, कोई दूर हो, उसको सुनाई न देता हो, तो पुकारो, पुकारने का अर्थ क्या हुआ? पुकारने का अर्थ यह हुआ कि मुझे इस बात का भरोसा नहीं है कि सर्वज्ञ जो हैं वे बिना पुकारे मुझको व मेरी व्यथ को जानते हैं। मेरे प्यारे जो हैं, इसी वर्तमान में, इसी क्षण में मुझमें ही विद्यमान हैं, इस सच्ची बात पर हम विश्वास न करें तो इस सत्यता के आधार पर जो विचार-प्रणालियाँ बनी हैं, उस भाव को सजीव करने के लिए, उस भाव को पुष्ट करने के लिए जो उपाय बने हुए हैं, आप उस सत्य को ही स्वीकार न करें, तो नींव ही न हो तो महल खड़ा कैसे होगा? तो पहिले इस सत्य की स्वीकृति अनिवार्य बात है।

इस स्वीकृति के आधार पर जितनी भी विध्यात्मक प्रणालियाँ हैं-वे सब सजीव हो जाती हैं, सब सहायता देने वाली होती हैं। जितने भी अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार बाहर वेश-भूषा, साधन, भजन, नियम, बनाये गये हैं सबके सब सार्थक हो जाते हैं। कब? जब मूल में सत्य की स्वीकृति मौजूद हो तब, ओर उस स्वीकृति के अभाव में सब विधि-विधान निर्जीव रहता है। करते भी जाते हो, सन्तोष भी नहीं मिलता है। सच्चे ईमानदार साधक इस बात को स्वीकार करते है।

महाराजजी के सामने भी मैं सुना करती थीं और अब भी सुनती हूँ। साधक लोग कहते हैं कि इतने दिन हो गये, पूरी पक्की रीति से ऐसा-ऐसा नियम पालन करते, परन्तु भीतर-भीतर कुछ उजाला नहीं लग रहा है। तो उधर का बन्धन ढीला हो, उधर का चिन्तन, खत्म हो, और इधर का आकर्षण बढ़े तो भीतर रस बढ़े। वह प्रिय लगने

लगे तब न आदमी को मालूम हो कि बल बढ़ रहा है, रस बढ़ रहा है, विश्वास बढ़ रहा हैं, प्रियता बढ़ रही है। तो कहना पड़ेगा या किसी से पूछना पड़ेगा? कोई पूछता है तो बताने के लिए फुर्सत नहीं है, कोई जानना चाहता है तो जी खोलकर कहना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि व्यक्ति अपने भीतर इतना खिंच जाता है कि शरीर और संसार से सम्बन्ध रखना उसके लिए भार बन जाता है। है तो यह बात बिल्कुल स्वाभाविक और मेरी तरह आपकी बुद्धि भी बहुत ज्यादा प्रयोग पर टिकती हो तो किसी भाई की, तो करके देखो, आसान हो जायेगा। बिना किसी बाहरी प्रयास के भीतर-भीतर का परिवर्तन अहं रूपी अणु में होता है और वह सत्य की स्वीकृति से होता है।

अब शान्त हो जाएँ।

प्रवचन 39

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

सन्तवाणी में अभी हम लोगों ने सुना, कि हम जो जानते हैं, उसको मानना जरूरी है। उसके अनुसार अपने को बनाना जरूरी है। जानकारी खूब हो जाती है, सत्य की चर्चा सुनने के आधार और सद्ग्रन्थों के आधार पर। जानकारी बढ़ जाती है, परन्तु उसका अनुसरण हम नहीं करते तो जीवन की समस्यायें सुलझती नहीं है।

ऐसा एक रहस्य है मनुष्य के जीवन का, कि विवेक के प्रकाश में उसे मार्ग दिखाई देता है परन्तु उसके साथ अगर जिन्दगी की शक्ति लगी हुई नहीं है, जीवनी शक्ति कहें - सपमि वितबम कहें, जिस शब्द से अपने को समझ में आवे, वैसे समझें कि उसके साथ अगर गति नहीं है तो मार्ग दिखाई देने पर भी व्यक्ति के जीवन की समस्या सुलझती नहीं है। जीवन के पारखी सन्त ने हृदय और मस्तिष्क की एकता की चर्चा की थी। मस्तिष्क के विचार के आधार पर, कोई अच्छी बात समझ में आ गई, तो उसके अनुसार अपने को बदल डालने के लिए हृदय के भाव की पवित्रता भी चाहिए। यह बहुत जरूरी बात है।

जो निजज्ञान का आदर करता है, वही गुरु की वाणी का आदर करता है, वही सद्ग्रन्थों के आदेश का आदर करता है और जो व्यक्ति निजज्ञान का आदर करने में लापरवाही करता है, उसकी ओर सजग नहीं रहता तो उसके लिए सन्तवाणी का आदर करना, सद्ग्रंथों के वाक्यों का आदर करना सम्भव नहीं होता।

एक घटना स्वामीजी महाराज ने हम लोगों को सुनाई थी। बहुत पहले की बात है। इलाहबाद में कुम्भ के मेले में महाराज वहाँ ठहरे हुए थे। एक युवक आये, इलाहाबद यूनिवर्सिटी के विधार्थी थे, आकर उन्होंने कहा कि बाबाजी! मैं कई दिनों से आपकी बातें सुन रहा हूँ आपकी बातें बहुत अच्छी लगती है, कुछ बताइये हमको। तो महाराजजी ने उसे पूछ लिया कि तुम क्या करते हो भाई? तो उसने कहा कि हम Post-Graduate हैं। M.A. की पढ़ाई कर रहे होंगे। तो महाराजजी ने कहा, भैया! मैं तुम को कौन सी अच्छी बात बताऊँगा, तुम तो मुझे बीस बरस तक पढ़ाओगे, मैं तो बेपढ़ा-लिखा आदमी हूँ। उस लड़के ने माना नहीं, कहा कि नहीं -नहीं बाबाजी, आप बहुत अच्छी बातें जानते हैं, आप कुछ तो बताइये? स्वामीजी ने कहा कि अच्छा मुझे तुम बताओ कि कोई अच्छी बात तुम जानते हो कि नहीं? तो उसने कहा-हाँ कुछ तो जानता हूँ। फिर महाराजजी ने पूछा, जो अच्छी बात तुम जानते हो, वैसा करते हो क्या? तो उसने कहा, नहीं महाराज! वैसा करता तो नहीं हूँ। तब उन्होंने कहा, जब अपनी ही बात नहीं मानते हो, जो जानते हो उसी के अनुसार नहीं

चलते हो तो मैं अपनी अच्छी बात तुमको बताकर उसका अनादर क्यों कराऊँ। लड़का बहुत प्रसन्न हो गया, समझदार था। उसने कहा कि आपने सबसे अच्छी बात मुझे बता दी, अब क्या बताइयेगा। कौन सी बात? कि जो जानते हो सो करो। तो प्रश्नकत्र्ता और उत्तरदाता दोनों का उद्देश्य सिऋ हो गया। बहुत आवश्यकत बात है।

आप खुद सोच-विचार कर देखिये कि कितनी अच्छी बातों को हम लोग जानते हैं। अपने परिवेश में सुनने को मिली हैं। सन्त महापुरुषों के पास बैठने पर मालूम होती हैं। सद्ग्रन्थों के पढ़ने से मालूम होती हैं। बहुत सी अच्छी बातों को हम जानते हैं और जानते हुए भी उसके अनुसार करते नहीं हैं, इसलिए जीवन की समस्या सुलझती नहीं है। कुछ लोगों का ऐसा एक भाव बन जाता है कि बढ़िया-बढ़िया सद्ग्रन्थों को पढ़ते ही रहेंगे, पढ़ते ही रहेंगे, जितना मिलेगा उतना सब पढ़ेंगे। ठीक है, पढ़ने से जानकारी बढ़ती है, अच्छी बात है, लेकिन सद्ग्रन्थों में जो अच्छी बातं लिखी हुई है, उन अच्छी बातों का प्रभाव ग्रन्थ के पन्नों पर ही रहेगा कि मनुष्य के व्यक्तित्व पर होगा। जी? व्यक्तित्व पर होगा। जो जिन्दा दिल है, जो सजग व्यक्ति है, जिसके भीतर अविनाशी बीज रूप से विद्यमान है, जो अपनी वर्तमान दशा को बदलने के लिए तत्पर है, उस पर अच्छी बातें का प्रभाव होता है। इसलिए मनुष्य के जीवन में अपने विकास के लिए बड़ी आवश्यक बात है कि अच्छी बातें जो हम जानते हैं, उनको मानकर उसके अनुसार चलना आरम्भ करें, तो आप देखेंगे कि बहुत-सी अच्छी बातों को जानना आवश्यक नहीं है, जितनी आवश्यकता है, थोड़ी-सी अच्छी बात को जानकर के उसका अनुसरण करने की।

मैंने ऐसा अनुभव किया और सत्य की चर्चा में हम लोगों ने सुना, कि शरीर और संसार नाशवान है। अपने द्वारा इस बात को अनुभव किया कि दस-बीस बरस पहले, शरीर जैसा था, आज वैसा नहीं है। क्या इसके लिए ग्रन्थ पढ़ना पड़ेगा? नहीं। यह अपनी जानी हुई बात है। पक्की बात है। बीस बरस पहले जो शरीर का हाल था वह आज नहीं है। तो यह निर्णय युक्ति-युक्त है, कि आज जैसा है आगे वैसा भी नहीं रहेगा। तो एक बात हमारी जानकारी में आई कि सबसे निकट अपना साथी यह शरीर, मालूम होता है, उसी में स्थिरता नहीं है, उसी पर अपना अधिकार नहीं है, उसी को हम अपने नियन्त्रण में चला नहीं सकते। उसी में स्थिरता नहीं है, तो इसके अतिरिक्त इससे दूर जो कुछ दिखाई दे रहा है उस सब पर अपना नियन्त्रण चलेगा? नहीं चलेगा। इतनी बात जानने की सामथ्र्य मनुष्य में है कि नहीं है। जी? है। इतनी बात हम लोग जानते हैं। तो अब इस जानी हुई बात का प्रभाव अपने पर नहीं है, तो गुरु और ग्रन्थ के वाक्य का प्रभाव कैसे होगा? अगर किसी सद्ग्रन्थ का अध्ययन आप करें तो उसमें आपको इसी बात का विवेचन मिलेगा, कि जो तुम्हारा दृश्य हैं, वह तुम्हारा जीवन नहीं है। जो तुम्हारी जानकारी का विषय बन सकता है, वह तुम्हारा जीवन नहीं है। जो अपने से भिन्न प्रतीत हो रहा है, उसमें स्थिरता नहीं है। ये बातें मिलेंगी कि नहीं? अनेक भाषाओं में, अनेक शब्दों में, अनेक विधियों से, जो बनने-बिगड़ने वाला क्रम है, वह तुम्हारा नहीं हो सकता, वह सदा के लिए तुम्हारे साथ नहीं रह सकता।

ये बातें तो हम लोगों ने अपनी जिन्दगी में अपने ही द्वारा जान ली हैं। इस जानकारी का प्रभाव क्या होना चाहिए? इस जानकारी का प्रभाव यह होना चाहिए कि शरीर और वस्तु और संगी-साथी जितने हैं, इन सबका महत्त्व मेरे जीवन में से निकल जाना चाहिए इतना ही तो हैं। फिर और

क्या सुना हमने? और यह सुना कि सदा-सदा का रहने वाला नित्य सम्बन्धी परमात्मा तुम्हारे ही में विद्यमान है। उससे तुम्हारा साथ कभी छूटा नहीं। उससे विच्छिन्न कभी तुम हुए नहीं। वह ज्ञान-स्वरूप है, वह रस-स्वरूप है, वह शान्ति-स्वरूप है, सामथ्र्य-स्वरूप है और ऐसा अविनाशी परमात्मा है, जो सर्व उत्पत्ति का आधार है, जो सर्व प्रतीति का प्रकाश है।

यह तो उसकी महिमा हो गई। उसके साथ एक बहुत बढ़िया बात हम लोगों को सुनने को मिली कि ऐसा जो महान् है और सब प्रकार से सहज, आनन्द-स्वरूप, रस-स्वरूप, है, उस अलौकिक, अद्वितीय, विलक्षण परमात्मा का मनुष्य के साथ एक direct सीधा सम्बन्ध है। और वह नित्य सम्बन्ध है, जो कि कभी छूट नहीं सकता, कभी मिट नहीं सकता। उस अनन्त के विद्यमान होते हुए भी, हम लोगों के दुःखी रहने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। वह शान्तिस्वरूप मुझमें विद्यमान हैं, तो मुझे शान्ति के लिए किसी और का मुँह ताकना नहीं है। ज्ञान स्वरूप मेरे भीतर विद्यमान है तो ज्ञान को खोजने के लिए बाहर दौड़ना नहीं हैं। प्रेमस्वरूप परमात्मा मुझमें विद्यमान है तो अपना बनाने के लिए दुनिया की ओर देखना नहीं है। ठीक है कि नहीं? तो इतना हम लोगों ने कर लिया क्या? किया नहीं। तो अब और क्या सुनना चाहते हैं।

दो ही बातें मुझे मुख्य लगती हैं। जो नहीं है, उस पर से अपनी दृष्टि हटा लो। जो सदा-सदा से है, उसका होना स्वीकार कर लो। बस! तो इसी बात को में कब तक कहूँ, कब तक सुनूँ। कितना लिखना हो गया, पढ़ना हो गया, कितना सुनना हो गया, अगर जिन्दगी का भार नहीं उतरा, चिन्ता और भय से मुक्ति नहीं मिली तो फिर कौन-सा उपाय करना बाकी रहा? ऐसा सोचिए, बहुत ही विचारणीय बात है कि जानकारी में तो कमी नहीं है। कामनाओं का त्याग कर दो तो, शान्ति ही शान्ति है, अशान्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। गुरु के वाक्यों में श्रद्धा करके, ग्रन्थ के वाक्यों में श्रद्धा करके, अनन्त परमात्मा की कृपा को स्वीकार कर लो। उनको तुम्हारे साथ जो direct सम्बन्ध है, सीधा है, बीच में किसी और की आवश्यकता नहीं है, उस सम्बन्ध को याद कर लो, तो उनकी विद्यमानता का आनन्द नहीं है, उस सम्बन्ध को याद कर लो, तो उनकी विद्यमानता का आनन्द तुम्हें आ जायेगा। इस बात से मुझको बहुत आराम मिला था। परमात्मा की महिमा तो सुनती ही रही मैं, दीनबन्धु हैं, करुणा-सिन्धु हैं, पतित-पावन हैं, सृष्टिकत्र्ता हैं, विश्वम्भर हैं, सबका भरण-पोषण करते हैं और क्या-क्या नहीं सुनते हैं हम लोग? स्वामीजी महाराज के पास सुनने को मिला कि जितना तुम कहते हो, उतना भी है, जितना तुम सुनते हो उतना भी हे। आज तक जिस किसी ने जो कुछ अनेक बार में कहा है वह सब भी है और सबसे विलक्षण भी हैं। तो अब कितना कहेंगे, कितना सुनेंगे? पहले इन सारी बातों के होते हुए भी मेरा ध्यान परमात्मा पर जाता नहीं था। अपनी समस्याओं के समाधान के लिए मैं उनके बारे में कुछ नहीं सोचती थी। हैं महामहिम, तो होंगे अपने लिए। मेरा क्या? करुणा सिंधु हैं, तो किसी पर करुणा की होगी वह जानता होगा, मैं क्या जानूं? दीनबन्धु हैं, तो किसी दीन को सँभाला होगा। मेरा क्या? भीतर से ऐसी एक उदासीनता प्दकपिमतमदज ंजजपजनकम जिसको कहते हैं, वह थी। ठीक है, होंगे बाबा। ना कहने का तो साहस नहीं था और जो अपनी जतंपदपदह की संइवतंजवतल थी, उसमें बड़ी सच्चाई से इस बात को माना जाता है कि जो भी कुछ आपकी जानकारी में आया, सुनने में आया,

तो बिना उसकी जाँच किए, प्रमाणित किए, हाँ भी नहीं कह सकते, ना भी नहीं कह सकते। जाँच करो, प्रयोग करो, प्रमाणित करो, सही निकले तो हाँ कहो, गलत निकलते तो ना कहो। तो परमात्मा के बारे में ऐसा प्रयोग तो मेरा कुछ था ही नहीं। तो मैं ना भी नहीं कहती थी और हाँ भी नहीं कहती थी। लेकिन जब भगवत् अनुरागी संत ने, परमात्मा की विद्यमानता का इतना सीधा सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से जोड़ा है, इस बात की जानकारी दिलाई, विश्वास दिलाया, ऐसा कह सकती हूँ, कि सन्त कृपा से, भगवन्त कृपा से, मुझे अनुभव भी कराया गया तो यह बात मेरे लिए सही प्रमाणित हो गई कि परमात्मा का मनुष्य के व्यक्तित्व के साथ सीधा सम्बन्ध है, और न किसी के बीच में आकर सहयोग देने की आवश्यकता है और न कोई व्यवधान अर्थात् रुकावट है। उसके बाद से मुझमें बहुत निश्चिन्तता आई।

सचमुच सृष्टिकत्र्ता स्वयं हमारे साथ सम्बन्ध रखते हैं, हमारा ध्यान रखते हैं। हम लोगों को बनाकर दुनिया में भेजा है, तो जैसे मैं उनकी ओर से विमुख (indifferent) हो कर बैठी रहती थी, वैसे वे हमारी ओर से उदासीन (Indifferent) होकर नहीं बैठते हैं। आप भाई-बहिनों की सेवा में, इस बात को निवेदन करने में मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है और इस बात की बड़ी आवश्यकता भी मालूम होती है, कि किसी तरह आपके जीवन में, जिन भाई-बहिनों को जरूरत है उन सबके जीवन में, कि हमारे उनके बीच कोई व्यवधान हैं नहीं, और उनकी ओर से सम्बन्ध कभी टूटता नहीं है, वे हमें कभी भूलते नहीं हैं, उनमें न तो विस्मृति का दोष है और न उसमें हम लोगों पर कोई क्रोध-क्षोभ है, यह सब कुछ नहीं है। तो उनकी तरफ का आधा भाग तो निश्चित ही है, केवल आधा हिस्सा अपनी तरफ का रह जाता है। वह क्यों रह जाता है कि जब तक हम उनके सम्बन्ध में निःसन्देह नहीं हो जाते कि उनके हमारे बीच कितना सीधा सम्बन्ध है, कितनी जल्दी हमारी दशाओं का उनको परिचय हो जाता है और उसके अनुरूप उनकी प्रतिक्रिया हो जाती है, तब तक अपने ही में विद्यमान उस आनन्दस्वरूप, रसस्वरूप की तरफ हम ध्यान नहीं देते और हम भूखे-प्यासे, दुनिया की ओर ताकते हुए पता नहीं क्या-क्या दुर्गति अपनी करते फिरते हैं।

एक जगह पर जहाँ प्रेम की चर्चा आई, वहाँ पर महाराज के मुख से एक वाक्या निकला। उसमे मनुष्य के लिए उन्होंने यह कहा कि "चाहने वाले को चाहना पशुता हैं।" समझ में आता है? चाहने वाले को चाहना पशुता है। अब अपनी दशा तो देखो, कि जो सब प्रकार से पूर्ण है, जो हम लोगों से सिवाय प्रेमभाव के और कुछ नहीं चाहता और उसी का दिया हुआ प्रेमभाव उसी के अर्पण करो तो उन्हें इतनी प्रसन्नता होती है कि उन्हीं का दिया हुआ प्रेमभाव उन्हीं के प्रति अ£पत करने वाले प्रेमी पर वे अपने आप को न्यौछावर कर देते हैं। ऐसा होता है, ऐसा हम लोगों ने सुना है, ऐसा अनेक भक्तों के जीवन में हुआ हैं। उसको भूल कर, उसकी ओर से विमुख होकर, हम सब लोग जो संसार में अनगिनत सम्बन्ध बनाए बैठे हैं, जिसके कारण उस अनन्त प्रेमस्वरूप परमात्मा से विमुख हैं, उन व्यक्तियों के चिन्तन को देखा तो वे सब चाहने वाले हैं कि सब अचाह है? जी? चाहने वाले हैं। तो जो खुद कुछ चाहता है उसके साथ हमारा आपका प्रेम का नाता निभ नहीं सकता। स्वामीजी महाराज ने लिखा-"चाहने वाले को चाहना पशुता है।" मनुष्यता से नीचे की बात है। तो चाहने वाले के साथ क्या करना चाहिए। चाहने वाले की सेवा कर दो, सहयोग दे दो। यह तो कर सकते हैं। चाहने वाले के प्रति सद्भाव रखो। वस्तु है तो वस्तु

दे दो। उसको आपके शरीर के बल की जरूरत है तो शारीरिक बल से सहयोग दे दो और कुछ न बन पड़े तो हृदय से कल्याण मनाओ उसका। सहयोग देना, सक्रिय सेवा करना, सद्भाव रखना, उसका भला मानना यह तो संसार के व्यक्तियों के साथ और प्राणीमात्र के साथ हम कर सकते हैं। सहयोग देना, सेवा करना, भला मानना इतना तो कर सकते हैं।

लेकिन अपने अन्तर की जो प्यास है, वह तो परम-पवित्र, परम-मधुर, प्रभु प्रेम के बिना मिट नहीं सकती। उससे विमुख होकर चाहने वाले को चाहना और उसी के पीछे दौड़ते रहना बुद्धिमानी तो नहीं मालूम होती। जी? अब सोचकर देखिए। प्रभु-प्रेम के रस की अभिव्यक्ति हमारे भीतर क्यों नहीं हुई? क्या उनके प्रेम का दरवाजा बन्द है? क्या उनकी कृपा का दरवाजा बन्द है? क्या उन्होंने हमारी ओर से अपनी आँखें बन्द कर ली हैं? नहीं। तो क्या हो गया? मुझे ऐसा सूझता है कि और कुछ नहीं हो गया,? मुझे ऐसा सूझता है कि और कुछ नहीं हो गाया, बात केवल इतनी-सीम हो गई, कि जिन्दगी में मैंने, अपने लिए मैं कह सकती हूँ, आप सभी मेरे पूज्य हैं, प्रेममय हैं, मेरे प्यारे प्रभु के प्रतिरूप हैं, दोष दर्शन मैं अपना करके बता रही हूँ, कि मैंने ऐसा पाया कि जड़ता के आधार पर स्थूल दृष्टियों से दिखाई देने वाले संसार में मैंने इतना विश्वास किया कि यही संसार मेरी सभी समस्याओं का समाधान कर देगा। तो बुद्धि भगवती सलाह दे रही है कि देखो यहाँ तुम्हारे समाधान लायक कुछ है नहीं, फिर भी इन्द्रिय दृष्टि को महत्त्व देकर मैंने दिखाई देने वाले की ओर दौड़-दौड़ कर जीवन की बहुत सी शक्ति गँवा दी।

अब प्रभु के मंगलमय विधान से, सन्त की करुणामयी दृष्टि से, अनन्त परमात्मा की कृपालुता से सत्संग मिला, सत्संग में उस महामहिम की महिमा सुनने को मिली। जीवन की आवश्यकता ने प्रेरित किया कि यहाँ संसार में तो तुम्हारे लायक कुछ है ही नहीं। और बेसहारे तुमसे रहा नहीं जाता। तो सन्त की वाणी को मानो, ग्रन्थ के वाक्यों को मानो, उस महामहिम की महिमा को स्वीकार करो। जैसे कि कहावत है-"डूबते को तिनके का सहारा" ऐसे ही परिवर्तनशील, नाशवान संसार में कहीं कोई स्थिति नहीं है, अपने लिए कोई आधार नहीं है, और निराधार रहा नहीं जाता। क्या करें? ऐसी घड़ी में सन्त ने परमात्मा का सहारा पकड़ा दिया। यही होता हैं असत्य की जानकारी अपने को होती है। मैंने व्यक्तियों से सम्बन्ध माना तो यह मेरी भूल हो गई, मैंने संसार से आशायें कीं तो निराशा मिल गई, मैंने व्यक्तियों के संयोग में सुख माना तो वियोग का घोर दुःख सहन करना पड़ा। अपने अनुभव के द्वारा इन बातों की जानकारी मिल गई तो इसका प्रभाव यह होना ही चाहिए कि फिर हम संसार से आशायें छोड़ दें। चाहिए कि नहीं? अगर पक्की जानकारी होने के बाद भी संसार से आशाएँ हम नहीं छोड़ते हैं, स्वयं अपने द्वारा उन्हें नहीं त्यागते हैं तो दूसरा कौन है जो जबरदस्ती त्याग करा देगा? नहीं करायेगा।

इसलिए निजविवेक के प्रकाश के रूप में ज्ञान गुरु अपने में विद्यमान हैं, परमात्मा की मंगलकारी योजना इस जीवन में काम कर रही हैं, और संतजन अपने अनुभव के आधार पर अपना प्रसाद बाँटते ही रहते हैं। यही सब आधार है कि हम मिटने वाले का सहारा छोड़ें। सहारा ही छोड़ना है और कुछ नहीं छोड़ना हैं, क्योंकि संसार में यह सामथ्र्य नहीं कि यदि आप स्वयं न छोड़ें तो वह सहारा छुड़वा देवे। निज विवेक के प्रकाश में ही आगे हम बढ़ जाएँ तो उसकी शक्ति का सामना संसार में तो नहीं है। हम सभी मनुष्य हैं और

मनुष्य होने के कारण ही अविनाशी से मिलने का साहस करते हैं। अनन्त परमात्मा के प्रेमी होने का साहस करते हैं। नहीं तो और कौन कर सकता है। जिसके भीतर अलौकिक तत्त्व की विद्यमानता है, जो उसके प्रकाश में नाशवान को नाशवान करके जानता है, जो हृदय के भाव के आधार पर अलख अगोचर की विद्यमानता को मानता है, वहीं तो ऐसा साहस करेगा, और कौन करेगा? तो आप देखिये, मैं तो जितना-जितना सोचती हूँ, मुझको मनुष्य के जीवन की ऐसी विलक्षणता, ऐसी महिमा दिखाई देती है कि तारीफ करती हूँ उस कारीगर की, जिसकी प्रशंसनीय रचना मनुष्य के रूप में प्रकट हुई हैं।

एक खिले हुए पुष्प को देखकर महाकवि टेनिसन बहुत दिनों के लिए संसार को भूल गये थे। चले जा रहे हैं मार्ग में, एक गिरा हुआ खण्डहर है और उसमें एक पुष्प खिला था। रास्तें से कुछ दूर। कवि भी थे, दार्शनिक भी थे, महात्मा भी थे। नजर पड़ गई, जाकर बैठ गये उसके पास। देखने लगे, उससे बात करने लगे। अपनी कविता में बहुत कुछ लिखा है उसके सम्बन्ध में। अन्त में यह कह कर उठते हैं कि देखने में तू छोटा-सा है, अकेला ही खिला है, अकेला ही मुरझा जायेगा लेकिन हे पुष्प, तुम्हारे भीतर वह रहस्य है, वह सत्य है कि तुम्हारे रहस्य को मैं जान लूँ तो सारी सृष्टि का रहस्य मैं जान जाऊँ। वह खिला हुआ पुष्प, जो सौन्दर्य उपासक की दृष्टि को अपनी ओर आक£षत कर लेता है, उस पुष्प को नहीं पता है कि मेरी भी सत्ता वही है जो सारी सृष्टि की है। उस पुष्प को नहीं मालूम है कि मुझको सुन्दरता उस परम सुन्दर से मिली है, मुझको सुगन्ध उस परम सुगन्धवान से मिली है। जो कुछ यहाँ दिखाई देता है वह सब उसी का विस्तार है। यह वस्तुएँ नहीं जानती है। यह वनस्पति को नहीं मालूम है। यह पशु-पक्षियों को नहीं मालूम है। यह मनुष्य ही है, यह उसकी की विशेषता है कि जहाँ भी वह दृष्टि डाले उसी में से अपने लिए अर्थ निकाल ले।

इस लौकिक जगत् में नाशवान शरीर को लेकर विचरण करता हुआ अलौकिक परमात्मा के प्रेम का जो विस्तार कर सकता है, वह मनुष्य ही तो है। जी! तो आप अपनी इस विशेषता को ध्यान में रखेंगे तो आसान हो जायगा, संसार के बन्धन को तोड़ना। क्योंकि संसार की ओर से बन्धन है ही नहीं। मैंने अपना मूल्य घटाया, अमर पद का अधिकारी होने पर भी मैंने संसार की वस्तुओं से ममता जोड़ ली। अनन्त परमात्मा के प्रेम का पात्र होने के लायक मुझको बनाया गया है, अपनी उस महिमा को भुला करके हाड़-मांस के पुतले भूखे दुनिया में घूम रहे हैं, उनको पकड़ कर यदि तृप्ती चाहूँ तो अपना मूल्य मैंने ही घटा दिया। अपने मूल्य को मैं सँभाल सकती हूँ। यह मनुष्य ही तो हैं, आप ही तो है, जिनके सामने सृष्टि का वैभव धूल के समान हो सकता है।

राजकुमार सिद्धार्थ गहन चिन्तन में बैठे हैं, मन्त्री-मण्डल के लोग जाकर राजा को सम्वाद देते हैं कि राजकुमार बहुत चिन्ति रहते हैं, क्या बात है? तो राजा कहते हैं-मेरा चैथापन आ गया। पुत्र सब प्रकार से योग्य हो गया, विवाह हो गया। अब भी मैं गद्दी पर बैठा हूँ। पुत्र को गद्दी नहीं देता हूँ, तो युवक राजकुमार उदास नहीं होगा तो क्या करेगा? यह सोचकर उन्होंनें मंत्रियों को भेजा कि जाओ, राजकुमार से कहो कि उनका राज्याभिषेक कराने के लिए महाराज बुला रहे हैं संसार का वैभव रखा है उनके सामने। मन्त्री जाकर राजा की बात निवेदन कर रहे हैं, तो राजकुमार क्या कहते हैं? हे मन्त्रीगण! आप जाकर पिताजी को कह दीजिए कि मुझे वैसी गद्दी नहीं चाहिए जिस पर से उतरना पड़ेगा। ऐसी गद्दी

नहीं लूँगा कि आज पिताजी बुलाकर बैठायेंगे और कल फिर उतरना पड़ेगा। वह नहीं चाहिए मुझको। तो मनुष्य का ही यह साहस है, उसी की सामथ्र्य है कि त्रिभुवन के वैभव को स्वेच्छा से ठुकरा दे। नहीं, नहीं, नहीं, मुझे नहीं चाहिए, और बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को अपना मानकर अपना सर्वस्व उस पर न्यौछावर कर दें।

स्वामीजी महाराज कहते हैं, प्यारे प्रभु! तुम चाहे जैसे हो और तुम चाहे जहाँ रहो और चाहे कुछ करो, तुम मेरे हो, मैं तेरा हूँ। और यार तुम भी क्या कहोगे? तुम भी आजाद रहो, मैं भी आजाद हूँ। वह प्रेमी क्या, जो प्रेमास्पद को अपने संकल्पों में बाँधे। और वह प्रेमास्पद क्या, जा प्रमी को अपने अधीन रखना पसन्द करे। भक्त कहता है, हे प्रभु! तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं तुम पर न्यौछावर हूँ। तो भगवान कहते हैं-हे भक्त! तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं तुम पर न्यौछावर हूँ। तो आजाद का आजाद के साथ प्रेम का सम्बन्ध चलता है। कामनाओं को लेकर मनुष्य प्रेमी नहीं हो सकता है, और कामनाओं से ग्रस्त मनुष्य प्रेम का प्रतिदान भी नहीं दे सकता है। यह तो ऐसा अनमोल तत्त्व है कि मनुष्य ही, और परमात्मा ही परस्पर प्रेम के आदान-प्रदान में समर्थ है। इनते ऊँचे पद पर पहुँचने के लिए आपको बनाया गया है। ऐसी अच्छी योजना से आपका निर्माण हुआ है।

पण्डित लेखराजजी आर्य समाज के बड़े कार्यकत्र्ता थे। उनका नौजवान लड़का मरणासन्न बिस्तर में पड़ा था और उसी समय उनको समाचार मिला कि तीन सौ हिन्दू, अहिन्दू के घेरे में पड़ गये हैं और उन पर यह आपत्ति आ गई है कि जान दे दें या धर्म छोड़ें। समाचार मिलते ही एकदम जाने को तैयार हो गये। उनकी पत्नी रो रही थीं। कहने लगी, पण्डितजी! यह लड़का तो एकदम मरणासन्न पड़ा है और आप कहाँ जा रहे हैं। तो पण्डितजी कहते हैं कि मैं क्या करूँ, मेरे तीन सौ लड़कों की जिन्दगी आफत में पड़ी है, मैं जा रहा हूँ। एक लड़के के बारे कैसे सोचूँ? मैं जाऊँगा। तो क्या व्यक्ति का मोह और धन का लोभ और संसार का सुख, किसी आदमी को पकड़ सका? आदमी को तो नहीं पकड़ सकता। धन का लोभी उसमें फँस जाता है। कामनाओं से प्रेरित व्यक्ति उसमें फँस सकता है। तो हम यह नहीं कह सकते कि संसार बड़ा माया जाल है। संसार कुछ नहीं कर सकता, आपको पकड़ नहीं सकता। तो जो लोग पकड़े गये हैं, वे अपनी दुर्बलता से, अपनी भूल से पकड़े गये हैं।

जो आदमी अपने उच्च आदर्श से उतर जाय, जो मानवता की श्रेणी से नीचे उतर जाय तो वह संसार में क्या अनर्थ नहीं करेगा? मैंने तो साधन काल में यह अनुभव करके देखा और स्वामीजी महाराज के मुख से भी सुना, दोनों ही बातें हैं। मनुष्य अपनी ओर से कितना भी दुर्बल भाव और कितने भी दोषों, विकृतियों से भरा हुआ भूतकाल लेकर के परमात्मा के सम्बन्ध को पसन्द करने की हिम्मत करं, केवल एक बार ऐसा भाव उसके जी में उपजे और निकले तो परमात्मा जैसे हि पहिले से हर प्रकार से तैयार रहते हैं, उसके विश्वास को दृढ़ करने के लिए, उसके भाव की वृद्धि के लिए, उसको प्रेम स्वरूप बनाकर, अपने प्रेम के आदान-प्रदान के लिए, हर तरह से तैयार रहते हैं।

प्रवचन 40

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

हम सब लोग जीवन के सत्य पर विचार करने बैठे हैं और विचार-विनिमय के लिए भी समय रखा है। एक भाई ने मुझे लिखकर दिया है कि मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली के विषय में कुछ कहा जाए। प्रातःकाल इसी विषय पर स्वामीजी महाराज का टेपांकित प्रवचन हो रहा था। मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में अपनी एक विशिष्टता है। सत्य तो चिर नवीन है, चिर पुरातन है, उसमें कुछ बदलाव नहीं हो सकता। सत्य वही है जो सदा-सदा से है। उस सत्य की अभिव्यक्ति हमारे जीवन में हो जाए, इसके लिए जो मौलिक उपाय हैं, जिनके बिना कोई भी साधना सफल हो नहीं सकती, उन्हीं सब मौलिक उपायों को एक जगह संगठित करके, उनको मानव सेवा संघ की साधन प्रणााली का नाम दिया गया। तो अब हम इसी विषय पर विचार करें कि ईश्वर विश्वासी होते हुए भी और ईश्वर के साथ आत्मीयता रखते हुए भी अभी तक मेरा जीवन उनसे दूर क्यों लग रहा है?

जैसा मीराजी ने कहा, जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा वैसे अब तक हम क्यों नहीं बन पाए? जैसा महात्मा ईसा ने कहा, भक्त प्रहलाद जी ने कहा वैसा क्यों नहीं हुआ? यह तो हो ही नहीं सकता कि ईश्वर भी है और मैं भी ईश्वर-विश्वासी हूँ और दोनों की भेंट-मुलाकात न हो। हम से उनकी भेंट-मुलाकात क्यों नहीं होगी, जब कि वे दुर्बल से दुर्बल, असमर्थ से असमर्थ, पतित से पतित साधक, यदि वह विश्वासी हो तो उससे मिलने के लिए वे स्वयं ही सब समय तैयार खड़े हैं। ऐसा क्यों होगा कि मिलन न हो। पहला कारण मुझे यही लगता है कि हम लोग भौतिक तत्त्वों से बने हुए उन शरीरों से जिनको हमने अपना माना, मिलने, उनके साथ रहने और उनकी संगति में सुख उठाने पर विश्वास करते हैं, जो संगति संभव नहीं, टूट भी जाती हैं, बिछुड़ भी जाती हैं, निराशा मिल जाती है। और जो सदा-सदा से अपना है जो सब समय मुझको अपनाने के लिए तैयार हैं, जिनका साथ आज तक कभी छूटा नहीं है, आगे कभी छूटेगा नहीं, उससे सम्बन्ध होने का जो अनुभव है वह हम लोगों को कठिन लगता है।

परमात्मा अपने से दूर मालूम होता है और ऐसा कठिन लगता है कि पता नहीं कब ऐसा अनुभव होगा? कब ऐसा होगा? यह सन्देह पहले अपने जीवन में से निकाल देना चाहिए। सन्देह मत करिए। ईश्वर-विश्वासी को ईश्वर-मिलन का आनन्द आ सकता है कि नहीं आ सकता है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। जीवन की वैज्ञानिक प्रक्रिया से जीवन का विश्लेषण करने की जो एक पृष्ठभूमि मेरी बनी हुई थी उसके आधार पर मैंने अपने को विश्वास-पथ का साधक माना और मानकर भी उस सारी प्रणाली को उसी ढंग से समझने की चेष्टा की।

एक बात समझ में आई और वह बहुत अच्छी लगी मुझे, कि परमात्मा हैं, ऐसा तो हम सब लोग मानते हैं न! अगर कोई भाई-बहिन ऐसे बैठे हों जो यह कहना पसन्द करें कि भाई हम तो नहीं मानते हैं, तो मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में उनके लिए भी गुंजाइश हैं। वे भी हमसे दू नहीं है। उनकी बात छोड़ दीजिए अभी थोड़ी देर के लिए। ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से हम सब लोग ऐसा मानते हैं कि परमात्मा हैं। तो परमात्मा का होनापन, उनकी सत्ता, मेरे लिए, एक ठोस सत्य है। उसके बाद एक और बढ़िय बात है कि परमात्मा है और परमात्मा से अपना नित्य सम्बन्ध है। यह तो भक्तों की शैली हो गई कि उनसे अपना नित्य सम्बन्ध हैं और दार्शनिक शैली क्या हैं? वह यह है कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई दूसरी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। हम भाई-बहिनों को भास होता

है कि "मैं हूँ"। जो व्यक्ति अपने द्वारा अपने अस्तित्व को अनुभव करता है वह परमात्मा के अस्तित्व से इंकार नहीं कर सकता। [1]'मैं हूँ' ऐसा आपको महसूस होता है कि नहीं? अगर मैं किसी भाई का नाम लेकर पुकारूँ तो वे जल्दी से उठकर खड़े हो जायेंगे और कहें कि 'मैं हूँ। जी? अगर किसी का नाम लेकर पुकारूँ मैं, कि वह यहाँ है कि नहीं है-जो जल्दी से आप बड़े विश्वास के साथ उठकर खड़े हो जायेंगे और कहेंगे-मैं हूँ। 'मैं हूँ' मेरा अस्तित्व है, मेरी सत्ता है तो महाराजजी कहते हैं कि भाई, जरा सोचकर देखो तो कि इस 'मैं' को जिसे तुम बड़े तपाक से कहते हो कि मैं हूँ, इस 'मैं' को तुमने स्वयं बनाया है क्या? जी? नहीं बनाया। खेत में उपजाया क्या? नहीं। तो इस 'मैं' की उत्पत्ति जो है वह भौतिक पदार्थों से नहीं हुई है। जल में सेवार उपजती हैं, खेत में गेहूँ उपजता है, लेकिन इस 'मैं' की उत्पत्ति जल में से, थल में से या हवा में से नहीं होती है। इस 'मैं' की उत्पति उस अलौकिक तत्त्व में से हैं जिसका कि कभी नाश नहीं होता, जिसको कि भक्तजन भगवान कहते हैं, जिसको कि विचारक जन परमतत्त्व कहते हैं।

हमें "मैं" पन का भास अभी इस वर्तमान में ही हो रहा है। तो इसी वर्तमान में जो मौजूद है, वह जिसमें से उत्पन्न हुआ, उसकी अनुपस्थिति कैसे मानिएगा? जी? नहीं मानेंगे। वह उपस्थित है। तो परमात है यह भक्तों की शैली हैं, 'भगवान है' यह भक्तों की शैली है। और अविनाशी तत्त्व है यह विचारकों की शैली है। उस अविनाशी तत्त्व में से हम सब भाई-बहिनों के मैं पन की उत्पत्ति हुई है। इसलिए भी हम उसको इन्कार नहीं कर सकते। मानना ही पड़ेगा। बड़े जोरदार शब्दों में स्वामीजी महाराज ने 17 दिसम्बर की प्रातःकाल मुझको वह युक्ति बताई और कहा कि जाओ तुम सत्संग करो। 16 दिसम्बर को रात्रि के समय लगीाग दस बजे बड़े जोर का हार्ट-अटैक हुआ। सारी रात तो वैसे ही बीत गई, सवेरे तीन बजे थोड़ी आवाज निकलने लगी। तो पहली बात कहने लगे कि - देवकी जी! सत्संग का समय हो गया। मैंने कहा कि हाँ महाराज! हो गया। तो जाओ सत्संग करो, यह कह करके दो-चार वाक्य मुझको सुनायें। 'मैं' का अस्तित्व जो स्वीकार करता हैं वह व्यक्ति परमात्मा के अस्तित्व से इन्कार कर हीं नहीं सकता क्योंकि "मैं" की उत्पत्ति उसमें से हुई है जिसमें से हमारी उत्पत्ति हुई है और जिसकी सत्ता हम अपने द्वारा अनुभव करते हैं उसी को भक्तजन भगवान कहते हैं। तो परमात्मा है और परमात्मा में से उत्पन्न हुए हम सब लोग है। वह अविनाशी, अलौकिक, नित्यतत्त्व है और उसमें से हम सभी भाई-बहिनों के अहं रूपी अणु की उत्पत्ति हुई है। तो ऐसे करके मैंने हिसाब लगाया तो मुझको मालूम हुआ कि जिसमें से मुझको बनाया गया, वह अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता, इसलिए 'मैं' पन का भी कभी नाश नहीं होता। वह भी अविनाशी हो गया। भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीरों का नाश होता है। उसमें भी स्थूल शरीर यहीं मिट करके मिट्टी में मिलता है। सूक्ष्म शरीर उससे अधिक समय तक टिकने वाला है और कारण शरीर उसमें भी अधिक लम्बे अरसे तक टिकने वाला है। फिर भी इन तीनों शरीरों का नाश होता है, लेकिन 'मैं' पन जो अलौकिक तत्त्व से रचा गया है, उसका नाश नहीं होता। तो इस दृष्टि से अगर हम लोग विश्वास पथ के साधक अपने विश्वास को निर्विकल्प करना चाहें, उसमें से संकल्प-विकल्प को हटाना चाहें, सन्देह और संशय को मिटाना चाहें तो इस दार्शनिक सत्य का सहारा ले सकते हैं और अपने विश्वास में बहुत ही दृढ़ता ला सकते हैं कि भाई, मेरा नाश सम्भव नहीं है। परिवर्तन का मुझे पता नहीं है। लेकिन जिसमें

से वह 'मैं' निकला है उसका नाश नहीं होता तो इसका भी नाश नहीं होगा। यह बात पक्की हो गई, और उसने हमारा और आपका जो सम्बन्ध है वह भी अटूट है। यह भी बात पक्की हो गई। अटूट सम्बन्ध भक्तों का भी, विश्वाससियों का भी, योगियों का भी है, सभी पंथों के साधकों का है, सभी मतों के साधकों का है, सभी सम्प्रदायों के अनुयायियों का है। इस अटूट सम्बन्ध में किसी को कोई सन्देह नहीं होता, कोई मतभेद नहीं होता। यहाँ तक तो बात पक्की हो गई।

अब एक चीज आ गई अपने सामने जो कि हम लोगों को हमारी कठिनाइयों से पार करायेगी। वह कौन सी बात है कि भूल मुझसे यह हुई है कि सदा-सदा का नित्य सम्बन्धी जिसे सन्तों ने बताया, ग्रन्थों ने बताया, वेद-पुराण, कुरान, बाइबिल, गीता, रामायण सब में लिखा हुआ है, उसके स्थान हमने अनेक शरीरों के साथ अपना सम्बन्ध मान लिया। इतनी सी भूल है। और मैं क्या बताऊँ, ईश्वर से मेरा नित्य सम्बन्ध है इसको तो स्वामीजी महाराज ने कहकर सुनाया और अनेक शरीरों से अपना सम्बन्ध है, यह माता है, ये पिता हैं, यह भाई है, यह बन्धु है, ये मित्र हैं, ये पुत्र हैं, ये पुत्री है, ये सम्बन्ध हमने स्थूल दृष्टि से, देह बुद्धि से स्वीकार कर लिए तो इस स्थूल बुद्धि से स्वीकार किए हुए सम्बन्धों का इतना जोरदार प्रभाव मुझ पर है कि जब कभी शान्त रहना पसन्द करो, जब कभी अकेले रहना पसन्द करो और बाहर से आँखें बन्द कर लो तो इन माने हुए अनित्य सम्बन्धों का प्रभाव अपने पर इतना ज्यादा है कि वे ही सब चित्र भीतर ही भीतर दिखाई देने लगते हैं, और गुरु के कहने से, सन्त की सलाह से, ग्रन्थ के अनुसरण से, जिसका ध्यान करने को कहा गया उसका ध्यान नहीं बनता। जिसका चिन्तन होना चाहिए उसका चिंतन नहीं होता। जिसके प्रति प्रीति होनी चाहिए उसके प्रति प्रीति नहीं होती। बड़ी भारी बाधा मालूम होती है। करो और होता नहीं है। करना है और पार नहीं पाते है तो ईश्वर को मानना, ईश्वर के प्रति स्वाभाविक प्रियता का उदित होना ऐसा कठिन हो जाता है, कि साधक बहुत ही तकलीफ में रहना है।

कह दिया गया कि तुम इतनी देर ध्यान करो। होता ही नहीं है-हैरान हैं। तो स्वामीजी महाराज ने कहा, देखो भाई! साधन ऐसी कोई मुसीबत की चीज नहीं है कि तुम करना चाहोंगे और तुमसे होगा नहीं। संसार में अनेक प्रकार की मुसीबतों से थककर जितना धन कमाना चाहते थे, नहीं कमा सके, जितना सुख भोगना चाहते थे, नहीं भोग सके, जितना सम्मान पाना चाहते थे, नहीं पा सके, जैसे जीना चाहते थे, नहीं जी सके, जिन्दगी नापसन्द हो गई तो मरना चाहते थे तो नहीं मर सके। जी-ठीक है न? ये मुसीबतें हैं। तो इन मुसीबतों से थककर, हारकर सन्त के पास आये। महाराज! इन मुसीबातें से छुटटी दिलाओ।

मैं जब स्वामीजी के पास आई तो मेरे से पूछा था कि सन्त ने, क्या मुसीबत हैं? तुमको क्या दुःख है, देवकीजी! हाँ महाराज, बड़ा दुःख लेकर आई हूँ। क्या दुःख है? बिटिया बोलो-तो महाराज जो चाहती हूँ, होता नहीं, बड़ा दुःख है। तो मुसीबत लेकर सन्त के पास आए और उनकी सलाह ली, किसलिए कि मुसीबतों से छुट्टी पायें। तो सन्त ने सलाह दी-आपने अपने को साधक स्वीकार किया, साधना का क्रम आरम्भ किया, तो वह साधना भी क्या जो मुसीबत बनकर सिर पर चढ़ जाए। जी! अब अपनी दशा हम देखें हमने ऐसे ढंग से साधना को पकड़ा है कि वह भी सिर पर एक भार बनकर बैठी है। ध्यान करना चाहते हैं नहीं होता है। भजन करना चाहते हैं, नहीं होता है। तो यह भी एक ऐसी ही मुसीबत हो गई जैसी कि

संसार की परिस्थितियों की मुसीबतों में फँसे हुए थे। तब भी बात ऐसी नहीं है। साधना उसको कहते हैं जो आपको स्वाधीन बना दे। साधना उसको कहते हैं जो आपसे इस प्रकार से घुल-मिल कर एक हो जाय कि आपको पता ही न चले कि अब मेरी साधना बन रही है और अब मेरी साधना टूट गई है। उसको साधना नहीं कहते हैं जो लगे कि कभी बन रही हैं, कभी टूट रही है। यह बात नहीं है।

यह कैसे होगा भाई! तो उसके लिए स्वामीजी महाराज ने जो-जो बातें मौलिक रूप में समझी थीं, उनके ज्ञान ने जिनका दर्शन किया था, वे हमारे सामने रखीं। उन्होंने मानव सेवा संघ की भाषा में क्या कहा? उन्होंने कहा कि "देखो, ध्यान किया नहीं जाता है, ध्यान होता है। सत्संग करो तो साधन होने लगेगा।" प्रभु की सत्ता को स्वीकार करो, उनसे अपने नित्य संबंध को स्वीकार करो, तो सम्बन्ध की स्वीकृति से उनकी महिमा तुम्हारे जीवन में अंकित होगी। सम्बन्ध की स्वीकृति की स्थिरता जब तुम्हारे जीवन में आयेगी, उनकी उपस्थित के अनुभव से जब जीवन में सरसता आयेगी तो तुम्हारा मन, तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारा ध्यान सब स्वतः ही उनमें लग जायेंगे। तो मौलिक बात क्या है, कि प्रभु की सत्ता को स्वीकार करो।

उसके बाद दूसरा कदम क्या है कि उनके साथ अपने नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करो। फिर तीसरी बात जो हम जैसे कमजोर लोगों के लिए है, सबके लिए नहीं। महाराज जी को मुझे फुसलाना था, समझना था, मेरी घबराई हुई दशा में स्थिरता लानी थी, तो मेरे लिए कहा, कि भाई, नित्य सम्बन्ध के साथ-साथ तुम उनकी महिमा भी स्वीकार करो। महाराजजी ने ऐसा इसलिए कहा कि लालची आदमी तो कुछ पाकर के तब न आगे बढ़ेगा। तो "प्रभु सर्वज्ञ हैं" इस बात में मुझे बड़ा आराम मिला, बहुत आराम मिला, क्योंकि जनसमूह में रहते हुए मैंने अनेक बार ऐसा कटु अनुभव पाया था, कि बिल्कुल निश्च्छल, निर्मल हृदय से, बड़ी प्रियता से, बात करो, काम करो फिर भी निकटवर्ती जन-समुदाय के कुछ लोग अकारण ही उसके विपरीत अर्थ लगाने और विपरीत व्यवहार करने में लग जाते थे। अब किस-किसको समझाते फिरें। किस-किसको कौनसा सर्टिफिकेट दिखाएँ कि हमारा अन्तःकरण निर्मल है। मैं तो बहुत अनुभव करती थी। मुझे बुरा लगता था कि ऐसा क्या जनसमूह हैं? ऐसे समूह में क्या रहना? ऐसी बातें क्यों करते हैं जो जीवन में बहुत बुरी, बहुत गिरी हुई हैं। तो स्वामीजी ने जब बताया कि वे सर्वज्ञ हैं, तो इतना आराम लगता मुझे कि चलो उनको तो भ्रम नहीं होगा। बहुत आराम मिल गया और उसके बाद से अब तक उन्हीं की लीला से, अब तो मुझे ऐसा नहीं दिखाई देता कि कौन अच्छा है, कौन बुरा और कौन मेरे पक्ष का और कौन विपक्षी है। ऐसा नहीं दिखता है

अब कभी उस तरह की परिस्थितियाँ बनती हैं, जो मजा आता है और हमें लगता है कि अच्छा प्यारे! क्या जाने कहाँ-कहाँ मेरी वृत्ति अटकती फिरती, तो आप उसे उस ओर से समेट कर अपनी ही ओर खींचना चाहते हैं। ठीक है, आपकी जानकारी में गलती नहीं है। आप, बिल्कुल सैन्ट-परसैन्ट, मैं जैसी हूँ वैसी आप मुझको जानते हैं। इस बात से बड़ा ही Relief अर्थात् शान्ति मिल गयी मुझको। अब न भ्रम होता है और न दूसरों की तरफ ख्याल करके तकलीफ होती है। जिसको मेरी स्थिति जानना चाहिए वह ठीक जानता है। लोग क्या कह रहे हैं, क्या सोच रहे हैं और कहाँ-कहाँ मेरी गलती है, इसकी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मेरी गलतियों को दूर करने के

लिए, मेरी की हुई भूलों को क्षमा करने के लिए, मुझे भूल-रहित होने की सामथ्र्य देने के लिए जो सदैव तत्पर हैं, ऐसे हित-चिन्तक, ऐसे अपने नित्य सम्बन्धी पाकर, भीतर से भय, चिन्ता घबराहट चली गई है। तो भय चला जाए, चिन्ता चली जाए, घबराहट चली जाए और मेरा एक ही सम्बन्धी ऐसा है, जिसमें सारे सम्बन्ध समाहित हैं। उसके अतिरिक्त और किसी से सम्बन्ध नहीं है। जरा-सी सजीवता आपके जीवन में आ जाए तो यह बात आपको बिल्कुल पक्की दिखाई देने लग जायेगी। निश्चिन्तता आ जाय तो साधक बन गया, भय चला गया तो साधक बन गया उसकी सर्वज्ञता की महिमा में विश्वास हो गया तो बाहर की उलझनें खतम हो गई। एक ही है मेरा अपना, एक ही है मेरा अपना। इसके बाद जब कोई बात भीतर उठेगी तब किससे निवेदन करूँगी। क्या दो-चार की याद आएगी? कोई संकट खड़ा होगा? जगत की ओर देखने की जरूरत रहेगी? जी? नहीं।

"एक भरोसो एक बल, एक आस-विश्वास" इसका कोई अभ्यास करना पड़ा कि अपने में से निकल आया? मेरे भाई ने जो प्रश्न लिखा है उमसें लिखा है-"मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली"-इसलिए यह भूमिका तैयार की मैंने। संघ की यह साधन प्रणाली है जहाँ आप साधन में लगे और कोई कठिनाई हो रही है तो उस कठिनाई के साथ संघर्ष मत कीजिए। ध्यान नहीं लग रहा है तो बाहर से जबरदस्ती करके ध्यान को पकड़ने की चेष्टा में मानसिक रोग पैदा मत कीजिए। लौट करके चले जाइये पीछे। कहाँ चले जाइये? ध्यान क्यां नहीं लगा भाई, इस बात के कारण की खोज करिए। स्वामीजी महाराज कभी-कभी गीता भवन में बैठे-बैठे कह देते, अरे भैया! मरे हुए सम्बन्धियों को नहीं भूलते हो और जीता-जागता सर्वत्र विद्यमान जो परमात्माहै उसको भूल जाते हो। मरे हुए सम्बन्धियों को याद करते रहते हो। हाय मेरा चला गया। तेरा था तो कैसे चला गया भाई? जो चला गया, वह तेरा कैसा रहा भाई! और जीता-जागता, सर्वत्र, सदैव, अनादि, अनन्त, विद्यमान परमात्मा है और तुम परमात्मा के विश्वासी हो, तो लाज नहीं आती यह कहने में, कि उसकी याद नहीं आती है। कोई बात नहीं, अगर यह कहने में कि उसकी याद नहीं आती है। कोई बात नहीं, अगर अपने भीतर हम लोग ऐसा फील ;अनुभवऋ करते हैं कि क्या बताएँ उनकी विस्मृति हो जाती है तो जबरदस्ती याद करने की क्रिया से याद नहीं रहेगी। जबरदस्ती काम नहीं बनता है।

जरा पीछे हटकर देखिए अपनी दशा। सत्संग करने का जो पुरुषार्थ आपने किया था, उसमें कहीं कोई कमी रह गई होगी। इसलिए साधन की अभिव्यक्ति नहीं हो रहीं हैं। कमी क्या रह गई, उसको अगर ढूँढ़ियेगा तो आपको यह मालूम होगा कि सचमुच जिससे नित्य सम्बन्ध हैं, केवल वही मेरा सम्बन्धी है और कोई है नहीं, अन्य किसी ने सम्बन्ध हो सकता नहीं, इस सत्य की स्वीकृति में कच्चापन रह गया, इसलिए उसके अतिरिक्त और अनेकों जगह मेरा लगाव बना रह गया है। तो अब उसी की याद करने के लिए अभ्यास नहीं करना है और ध्यान को केन्द्रित करने के लिए मानसिक क्रियाओं को चारों ओर से पकड़-पकड़ कर एक जगह लाने की व्यर्थ चेष्टा नहीं करनी है। यह तो बिल्कुल ही मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जहाँ सम्बन्ध मानेंगे उसका स्टैम्प (छाप) लगाना जरूरी है। उसके लिए परमात्मा को हम लोगों ने सुना है तो उन्हीं को मानो। उनकी ही प्रियता को अपने जीवन का लक्ष्य मानो।

सत्य की स्वीकृति से असत्य का नाश हो जाता है और साधन की अभिव्यक्ति हो जाती है और जो बात साधक के जीवन में सहज से आ

जाती है, वह बनती, बिगड़ती, टूटती, घटती, बढ़िती नहीं है। तो साधन तत्त्व है और उसकी अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस साधन तत्त्व के साथ मिलकर एक हो जाता है। आपने सुना होगा कि एक प्रवचन में महाराजजी ने यह कहा। भाई देखो! ध्यान कभी लगे और कभी हटे, ऐसा जब तक मालूम हो, तब तक समझो, परमात्मा में ध्यान लगा ही नहीं, क्योंकि उनमें जब ध्यान लग जाता है तब हटने की समस्या नहीं रहती। इसका भी बड़ा भारी वैज्ञानिक, दार्शनिक और आस्तिक आधार है। बड़ी जोरदार पृष्ठ-भूमि है। उसमें लग जाने के बाद फिर हटने का प्रश्न नहीं होता। अब भक्तों के जीवन में आपने सुनी होंगी, कितनी बढ़िया-बढ़िया सरस कथायें हैं। एक बार मन लग गया तो फिर उस साधक को ऐसा कभी याद नहीं आता है। भाई देखों, जिससे हमारी जातीय एकता नहीं है, नित्य सम्बन्ध नहीं है, आत्मीय सम्बन्ध नहीं है उससे हमारा लगाव कभी बना ही नहीं। जबरदस्ती करके श्रम से उसको लगाना पड़ता है और टूटता है तो उससे हमारा जुड़ना कभी होता ही नहीं है।

इसका प्रमाण क्या है? कि दृश्य जगत् में जहाँ-जहाँ आप अपनी ओर से सम्बन्ध मानते हैं, ममता के धागे से उसे बाँधते हैं वे सम्बन्ध आपके साथ घुल-मिलकर एक ही नहीं हो पाते। हमेशा ही आपसे अलग, आपका दृश्य बनकर ही रहते हैं और चिन्तन में आपसे अलग, आपका मानसिक चित्र बनकर रहता है, एक नहीं होता। तो भीतर या बाहर आँखें खोलकर देखो तो भीतर जो आपका दृश्य बन सकता है, उससे आपका कभी एकत्व नहीं हुआ। समझ में आता है? यह मैं हूँ और यह एक यन्त्र है। यह मैं हूँ और ये भाई-बहिन बैठे हैं, तो जो मेरा दृश्य बन सकता है, इन्द्रियों का दृश्य कहो, बुद्धि का दृश्य कहो, स्थूल दृश्य कहो, सूक्ष्म दृश्य कहो, बाहर का दृश्य कहो, आँख बन्द करके भीतर मानस-पटल पर देखो, जो आपका दृश्य बन सकता है वह जीवन नहीं है। जो दृश्य बन सकता है वह सदैव ही आपसे भिन्न है। ठीक है? उससे हमारा एकत्व नहीं है। इसलिए श्री स्वामीजी महाराज ने कहा कि भाई जब तक तुमको ऐसा लगता है कि अब ध्यान लग गया और ऐसा लगता है कि अब तो टूट गया तो समझो कि अभी लगा ही नहीं है। लेकिन जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध है जिससे हमारी जातीय एकता है, जिससे हमारा आत्मीय सम्बन्ध है, उसमें जब ध्यान लगता है तो वह नहीं रह जाता। जी? तब वह दृश्य नहीं बन सकता और आप उसके द्रष्टा नहीं रह सकते। तब क्या होता है कि दोनों के बीच की दूरी खत्म हो जाती है तो अनुभव सन्त क्या कहते हैं-

गई पूतली नोन की, थाह समुँद की लैन।
आपुनन मिल पानी भई, उलट कहे को बैन।।

भक्तजन क्या कहते हैं-

जब हम है तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समांहि।।

यह हो गया।

प्रश्न-"माँ, यह तो पराकाष्ठा है।"

हाँ-जी हाँ, बहुत बढ़िया बात है। अपनी आस्था को इसी स्थान पर रखना पड़ेगा कि घर से चलते समय कहाँ का टिकट लिया है? इसकी जानकारी जरूरी है। कहीं गलत-सलत जगह को तो अपना लक्ष्य नहीं बना लिया, तो फिर पहुँचने में बहुत देर हो जायेगी।

साधक को जब कभी अपने को साधक स्वीकार करना है तो उसको यह बात बहुत स्पष्ट

जान लेनी चाहिए कि मेरी साध्य क्या है? मेरा पन्थ कौनसा है? इसलिए पराकाष्ठा की बात सामने आ गई और आज हमारा वह अनुभव नहीं है, अभी उसको हम लोगों ने जीवन में अनुभव नहीं किया है। लेकिन उस सत्य को अपने सामने रखकर चलना होगा। इसीलिए वहाँ तक की चर्चा जरूरी है इसलिए सुना दी मैंने।

तो साधन प्रणाली क्या हुई? साधन प्रणाली यह हुई कि जीवन के सत्य को स्वीकार करो। सत्य की स्वीकृति हमारा पुरुषार्थ है और साधन की अभिव्यक्ति अपने आप होती है। जो साधन जीवन में से अभिव्यक्त होता है उसके साथ हमारी एकता होती है। फिर साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व साधनतत्त्व में बदली जाता है तो साधक साधनतत्त्व होकर साध्य से अभिन्न होता है। यह फॉर्मूला है, नियम है। मैंने पुरुषार्थ किया? जीवन के सत्य को स्वीकार किया। उसका परिणाम क्या हुआ? सत्य की स्वीकृति से साधन का निर्माण हुआ। उसका परिणाम क्या हुआ? साधक का व्यक्तित्व और साधनतत्त्व मिल कर एक हो गये। उसका परिणाम क्या हुआ? सम्पूर्ण व्यक्तित्व साधनतत्त्व होकर साध्यक से अभिन्न हो गया। तो प्रक्रिया पूरी हो गई। यह प्रणाली है। और आगे प्रश्नकत्र्ता भाई ने लिखा है-मूक सत्संग?

इसमें भी हम लोगों के लिए गम्भीर दर्शन है। वह क्या है कि शरीरों के साथ तादात्म्य होने के कारण जीवन में जो जड़ता छाई रहती है उसी के परिणाम से बनने-बिगड़ने वाला संसार सत्य प्रतीत होता है, और सदा के लिए रहने वाला, छिपा हुआ मालूम होता है। सन्देह रहता है कि है या नहीं है, तो अब जिसको अविनाशी जीवन से अभिन्न होना है उसको क्या करना पड़ेगा? नाशवान से अपना तादात्म्य तोड़ना पड़ेगा। ठीक है न? तादात्म्य शब्द को इंगलिश में प्कमदजपपिबंजपवद कहते हैं, जो उसको बहुत अच्छा अर्थ बताता है। अपने को उसके साथ मिला लेना, यही मैं हूँ ऐसा मान लेना। तो शरीर से तादात्म्य रखकर अविनाशी जीवन के आनन्दमय अनुभव से हम लोग वंचित कर रहे हैं। शरीर से तादातम्य मानने से थोड़ा-सा सुख तो मालूम होता है, अच्छा लग रहा है लेकिन वह अच्छा लगना निरपेक्ष नहीं है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति अवस्था या अनुकूलता पर आधारित है और अलौकिक जीवन का आनन्द जो होता है वह वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, सूक्ष्म शरीर, इनके संयोग पर आधारित नहीं रहता है। तो अब मूक सत्संग की जरूरत क्यों पड़ गई? जरूरत इसलिए पड़ गई कि शरीरों से तादात्म्य को तोड़ना, जब अनिवार्य ंिबजवत है, सब प्रकार के साधकों के लिए, तो उस दशा में मौलिक साधना इस प्रकार की होनी चाहिए कि जहाँ कह सकें कि आवश्यक कार्य को पूरा करने के बाद, अर्थात् सही प्रवृत्ति के बाद, सहज निवृत्ति में रहो। क्योंकि सही प्रवृत्ति के लिए फिर शरीरों का सहारा लेना जरूरी होगा। तो जहाँ जरूरी है वहाँ उनका सहारा लिया, काम किया फिर उनको रख दो। तो काम ऐसा करना है अपने को, कि आइन्दा बिना किए हम रह सकें, और करने का राग ही मिट जाए। राग रहित होने की जरूरत क्यों पड़ी? कि हम शरीरों से अपना तादात्म्य तोड़ सकें और अशरीरी जीवन में प्रवेश पा सकें, अशरीरी जीवन के आनन्दमय अनुभव को ले सकें। जब अशरीरी परमात्मा के अलौकिक प्रेम का व्यापक प्रभाव हो जाय तो इस शुक्र, अति शुक्र, अहं रूपी अणु की परिच्छिन्नता टूट करके साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व प्रभु की उस रसमयी विभूति में समा जाय, इसके लिए मूक सत्संग अनिवार्य है।

अशुभ कर्मों का तो मनुष्य के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, परन्तु शुभ कर्म करने का

भी जब संकल्प है, तब तक शरीरों का साथ हम नहीं छोड़ सकते। शुऋ संकल्प को नहीं छोड़ सकते तो शरीरों से असंग होना सहज नहीं बनेगा। शरीरों की आवश्यकता अनुभव करेंगे तो उसका महत्त्व जीवन में से नहीं निकलेगा। शुभ कर्म करने के बाद भी शुभ कर्म करते रहने का राग, कर्मों का फल, और कर्तापन के अभिमान, सबसे छूट सकेंगे तो अशरीरी जीवन में प्रवेश होगा। ठीक है? तो जिसको अशरीरी जीवन चाहिए, जिसको अलौकिक जीवन चाहिए, उसको लौकिक तत्त्वों से बने हुए शरीरों का साथ छोड़ना जरूरी है कि नहीं? तो ैनपबपकम करने से अर्थात् आत्म-हत्या करने से साथ नहीं छूटता है, आसक्ति छोड़ने की जरूरत है। शरीर को ले जाकर जमुना जी में कछुओं को खाने के लिए दे दो तो भी काम नहीं बनेगा। शरीर की जरूरत आपके भीतर रह गई तो प्रकृति माता को फिर से काम करना पड़ेगा। कहीं से मिट्टी, कहीं से पानी, कहींसे प्राणवायु जुटा करके आपको फिर से बनाकर धरती पर रखना पड़ेगा, तो काम बढ़ाना नहीं चाहिए, न अपना, न प्रकृति का और न परमेश्वर का।

इसलिए कुछ न करने का जो तथ्य है उसको दैनिक जीवन में स्वाभाविक बनाने की सलाह स्वामीजी महाराज ने दी, तो जहाँ जनसमूह को सहयोग देने की बात है वहाँ सहयोग दे दो, जहां इस शरीर को सेवा की प्रश्न है उसको छोटा रखकर, स्वस्थ रखकर, पवित्र रखकर, उसकी भी सेवा कर दो।

प्रवचन 41

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

हम लोग साधक हैं, साधक के लिए सत्संग स्वधर्म है। सत्संग का अर्थ है जीवन के सत्य को स्वीकार करना। सत्य क्या है? बुराई रहित होना सत्य है, अचाह होना सत्य है, जीवन-मुक्ति की अभिव्यक्ति सत्य है, भगवद् भक्ति की अभिव्यक्ति सत्य है। सत्य को स्वीकार करना हमारा स्वधर्म है। बुराई रहित जीवन सबसे पहली बात है कि जिससे हम दुःख-निवृत्ति, चिरशान्ति के लिए आगे बढ़ सकें। किसी भी प्रकार की साधना जो हम आरम्भ करते हैं, उसमें सफलता मिलने में देर इसलिए लगती है कि असाधनों का नाश पहिले नहीं हुआ। तो पहिले असाधनों को मिटावें, तो साधन स्वाभाविक बन जाय। असाधन मिटाने में अपना पुरुषार्थ है और साधन की अभिव्यक्ति स्वाभाविक बात है। तो जोर इस बात पर लगाना है हम लोगों को, कि किसी प्रकार का असाधन जीवन में न रहे।

हम में कौनसा असाधन दिख रहा है, इस बात पर मैं विचार करती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि जो नहीं करना चाहिए वह करते रहो तो असाधन उपजता ही रहता है। जो विवेक विरोधी सम्बन्ध हैं उनको बनाये रखो तो असाधन बनते ही रहते हैं। जो विवेक विराधी विश्वास है उसे जीवन में स्थान देते ही रहो तो असाधन उत्पन्न होते ही रहते हैं और इन कारणों से भीतरी अशान्ति बनी रहती है। असाधनों के नाश में सत्संग का प्रकाश लेकर हम भाई-बहिनों को बहुत ही तत्परता के साथ लग जाना चाहिए। अगर अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति की आवश्यकता हम अनुभव करेंगे तो व्यर्थ चिन्तन से मुक्त नहीं हो सकते। व्यर्थ-चिन्तन की उपस्थिति क्या है? व्यर्थ चिन्तन होता है- यह असाधन है। व्यर्थ-चितंन नहीं उठना चाहिए। लेकिन कुछ समय के लिए चुपचाप होकर, शान्त होकर देखिए कि किस प्रकार का चिन्तन मुझको हो रहा है या अचिन्त जीवन आपको मिल गया है। अगर अचिन्त जीवन मिल

गया है तो उससे आगे अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए और कुछ भी साधन करना नहीं पड़ेगा। अविनाशी जीवन में, अशरीरी जीवन में, प्रवेश पाने के लिए शरीरों से असंग होना, शरीरों से तादात्म्य तोड़ना आवश्यक बात है। किसी शुभ संकल्प के कारण भी अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के चिन्तन में लगे रहो तो अचिन्त नहीं हो सकते और अचिन्त हुए बिना विश्राम नहीं मिल सकता और विश्राम के बिना अलौकिक शक्तियों की वृद्धि नहीं होती और उनके बिना शरीरों से तादात्म्य तोड़ना सम्भव नहीं होता।

इसलिए बहुत आवश्यक बात है कि जिनके जीवन का सही लक्ष्य बन गया, उनको हर एक उपाय इस बात के लिए करना चाहिए कि शान्ति-काल में संसार का चिन्तन हम लोगों को उलझा न दे। अब इस चिन्तन से बचने के उपाय क्या है? पहली बात तो यह है कि जिन व्यक्तियों का वर्तमान सरल रहता है उसमें भी व्यर्थ-चिन्तन कम उपजते हैं। इस तरह से जो भाई-बहिन अलौकिक अविनाशी जीवन की आवश्यकता करते हैं उनको वर्तमान के सदुपयोग पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अप्राप्त के चिन्तन में नहीं लगना चाहिए।

होता क्या है? एक बड़ा भारी जीवन-दर्शन स्वामीजी महाराज ने हम लोगों को दर्शाया, जो कि मैं आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ। उन्होंने यह कहा कि परिस्थिति विशेष का मनुष्य के जीवन में महत्त्व नहीं है। परिस्थिति के सदुपयोग का महत्त्व है। परिस्थिति विशेष का महत्व नहीं है। क्यों? क्योंकि अगर आपके मन के अनुकूल परिस्थिति बन गई, ऐसे ही विधि के विधान से बन गई, हम लोगों के करने से तो नहीं बनती है किसी अज्ञात योजना से बन गई, तो अनुकूलता को पाकर आप अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़ ही जायेंगे, इस बात की कोई गारण्टी नहीं है। अगर साधक के भीतर सभी परिस्थितियों से अतीत, अशरीरी, अविनाशी जीवन का महत्त्व नहीं है, तो अनुकूल परिस्थिति आने पर आदमी उसका सुख भोगने में लग जाता है। उसका सदुपयोग करके उससे ऊपर उठने की चिन्ता नहीं करता। इसलिए परिस्थिति विशेष का महत्त्व नहीं है। परिस्थितियों में प्रतिकूलता आ जाए तो उसके कारण अपने में दीनता अनुभव करना और परिस्थितियों में अनुकूलता आ जाए तो उसके कारण अभिमान करना-ये मनुष्य के लक्षण नहीं हैं।

आप परिस्थितियों के आधार पर साधक नहीं हो सकते, इस बात को समचुच आप अपने द्वारा स्वीकार कर लेंगे तो बड़ा संकट आपका कट जायेगा, नहीं तो सद्ग्रंथों का पाठ करते ही रहो और परिस्थितियों के आधार पर अपने जीवन का मूल्यांकन करते रहो, कि कुछ सुखद बन गई तो हम बड़े भाग्यशील हैं, और कुछ दुःख बन गई, तो हम बड़े भाग्यहीन हैं। जो अमर जीवन का अभिलाषी होता है वह परिस्थितियों के आधार पर अपना निर्णय करता है क्या? जीवन के अमरत्व का किसी परिस्थिति से मूल्यांकन होगा? नहीं होगा। तो देखिए कितनी बड़ी बात है।

एक परिवार में दस-पाँच व्यक्ति साथ रहते हैं। एक पिता के दो-चार भाई दो-चार घर बनाकर रह रहे हैं। एक घर में एक साथ दो-चार देवरानियाँ, जेठानियां रह रही हैं। एक दफ्तर में काम करने वाले पाँच-सात सहकर्मी एक साथ रह रहे हैं। परन्तु क्या बाहरी परिस्थितियों में सबकी समानता बनी रह सकती हैं? सबके बच्चे किसी विशिष्ट स्कूल में पढ़ने जा रहे हैं तो हमारी बच्चों को भी वहीं जाना चाहिए, क्योंकि इसी के आधार

पर हमारी उनके साथ बराबरी बनी रहेगी। क्या ऐसी बराबरी बनी रह सकती है? जी? नहीं रह सकती हैं। शादी-विवाह में कहीं पर जा रहे हैं तो उनके ही समान और लोग जिस प्रकार के कपड़े पहने हुए हैं ऐसे ही हमारे भी होने चाहिए। वैसे कपड़े नहीं हैं तो घर में विषाद छा गया। क्या यह साधक का लक्षण है? क्या आप परिस्थितियों के आधार पर अपने सम्मान का ैजंदकंतक बना सकेंगे? नहीं बना सकेगे। तो किस आधार पर बनाना चाहिए? मनुष्यता के आधार पर बनाना चाहिए। भीतर में अगर मनुष्यता का यह लक्षण आप में आ गया कि सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना और दुःखी मात्र के दुःख में अपने को मिलाना, और उनके दुःख में करुणित होना, तो इस श्रृंगार से व्यक्ति की शोभा जितनी बढ़ेगी, उतना किसी गहने, कपड़े से बढ़ सकती है? जी? नहीं। तो साधक होने का अर्थ मैं यह मानती हूँ कि जिस दिन से आपने सत्संग की मण्डली में प्रवेश किया था उस दिन से मनुष्यता के लक्षण आप में प्रकट होते चले जावें। शान्ति आपकी बढ़ती चली जाय। दीनता और अभिमान का दोष मिटता चला जाय। प्रभु से साक्षात्कार कब होगा? हम उनको प्रेम-रस प्रदान करने के लायक कब बनेंगे? यह तो आगे की बात है, लेकिन आज सत्संग में बैठकर मैंने सुना कि मनुष्य के जीवन का मूल्यांकन टंसनंजपवद परिस्थिति के आधार पर नहीं हो सकता है, उसके भीतर की जो मानव सुलभ विशेषताएँ हैं उनके आधार पर हो सकता है। अगर आपने ऐसा मान लिया तो इन बाहरी बेखेड़ों से बच जायेंगे कि नहीं? तो सत्संग का यह पहला ही प्रारम्भिक लाभ ही अगर हम नहीं उठा सकते तो जो पराकाष्ठा पर पहुँचने की बात कहीं जाती है, जहाँ जाकर शुक्र अति-शुक्र अहं की सीमा भी टूट जायेगी और असीम से अभिन्नता हो जायगी, उसका लाभ हम कैसे उठायेंगे। सन्त कबीर की एक वाणी है-उन्होंने अहं को मिटाने की बहुत-सी बातें कहीं और अन्त में कहा--

"कबीरा न कुछ हो जाना"-न कुछ हो जाओ। और जब "न कुछ" हो जाओगे तो क्या होगा? तब हरि ही हो जाना। तो सारी पंक्तियाँ मुझे याद नहीं है। "मतकर गान गुमान कबिरा"-ऐसा बड़ा अच्छा एक भेद है। पहिले गुमान को खा जाने को कहा, मिट्टी बनने को कहा, तो ऐसे करते-करते कहा-"निर्मल जल" हो जाना। जो पराकाष्ठा की बात है वह आखिरी बात है। वह हमारे जीवन का अनुभव हो जाय उसके लिए व्यवहार के जगत् में रहते हुए, परिवार में रहते हुए, अगर छोटी-छोटी बातों में अपनी क्षुद्रता, अपना दोष, अपनी त्रुटि, अपने भीतर का राग-द्वेष, अगर हम नहीं मिटाते हैं तो सत्संग का प्रारम्भिक प्रभाव भी नहीं होगा तो जो प्रभाव पराकाष्ठा पर पहुँचने का होना चाहिए वह कैसे होगा! ठीक है? तो आरम्भ कर देना। और एक बात बड़ी जोरदार है। स्वामीजी महाराज साधकों के सभी वर्गों, सभी सम्प्रदायों में एकदम क्रान्तिकारी हलचल मचाने वाली बात कभी-कभी कहते थे। तब यह भी कह देते थे कि देवकीजी! किसी दिन यहाँ कोई गोली मारेगा, ऐसी बात सुनकर के। तो भाई, सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कोई वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था अपेक्षित नहीं है। ये सब बातें नहीं हैं। तो आज हम लोग क्या करें? कि हमारी जो वर्तमान परिस्थिति है उसी का सदुपयोग करके अपने को परिस्थितियों की दासता से मुक्त करें। संसार की परिस्थितियों को हम बदल डालें, यह तो हमारे हाथ में है ही नहीं।

मेरे सामने बहुत बड़े-बड़े प्रोग्राम लेकर लोग आते हैं! वे समाज-सेवक कहलाते हैं, साधक कहलाते हैं, धर्म-रक्षक कहलाते हैं। सन्तजनों को

भी अपनी मण्डली में मिला लाते हैं। समय-समय पर मुझ पर दबाव डालते हैं कि आप सामाजिक व्यक्ति कहलाती हैं, आपको मेरे कहने के अनुसार इस काम में हाथ डालना ही चाहिए। लेकिन मैं नही मानती हूँ। मैं कभी हाँ नहीं करती हूँ और बहुत ही नम्रता के साथ हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि देखिये-भाईजी! दुनिया के सब काम करने की सामथ्र्य देकर सब लोगों को नहीं भेजा गया है। हर एक व्यक्तित्व की अपनी-अपनी सीमायें हैं। तो हमारे व्यक्तित्व की जो सीमायें हैं उसके भीतर मेरे लिए जो सम्भव है, वह मैं कर रही हूँ और कभी भी अपनी सीमा के बाहर किसी कार्य में हाथ डालने की भूल मैंने अभी तक नहीं की है और भगवत् कृपा से आगे भी नहीं करूँगी। खैर, आपकी मर्जी, ऐसा कहकर चले जाते हैं। अब क्या करें? एक महापुरुष जगत् में ऐसे आये कि जिनके संकेत पर देश की परिस्थितियाँ बदलीं और समाज की परिस्थितियाँ भी बदलीं। धार्मिक आडम्बर जब छा जाते हैं तो अन्धविश्वासों की बहुत वृद्धि होजाती है। तब उसको भी छिन्न-भिन्न करने वाले आते हैं, विशेष-बहुत अवसरों पर ईश्वर की विशेष-विशेष विभूतियाँ आती हैं जो जतग् में अपने सत्य के प्रभाव से, अपने त्याग के प्रभाव से, अपने ज्ञान से, परिस्थितियों को और परिस्थितियों में फँसे लोगों को बदलने का काम करती हैं।

मेरे सामने जब ऐसी बात आती है तो मुझे ऐसा लगता है कि मानव सेवा संघ के विचारों को जिन भाई-बहिनों ने पसन्द किया और उन विचारों को जो भाई-बहिन आवश्यक मान रहे हैं-ऐसे साधक समाज के भ्रम का निवारण करने के लिए, मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि हम सब छोटे-छोटे नदपज हैं, अपनी छोटी-छोटी सीमा में बंधे हुए चल रहे हैं। तो छोटे यूनिट होते हुए भी और छोटी सीमा में थोड़े से जनसमूह से सम्बन्ध रखते हुए, भी मामूली-मामूली सेवा कार्य करते हुए भी, अविनाशी जीवन में प्रवेश पा सकते हैं, और जो अमरत्व और जो परम-प्रेम, दुनिया के किसी भी ऋषि को, किसी भी महामानव को मिला था, वही अविनाशी जीवन और वही प्रेम हम सभी भाई-बहिनों को मिल सकता है। यह वचन महाराजजी का आप लोगों ने उनके वर्तमान होते हुए भी सुना था और आज उनके टेप में अंकित वचनों में भी सुन रहे हैं।

कितनी ही बार उन्होंने इस बात को दोहराया था। इस आधार पर मुझे भीतर से बहुत ही निश्चिन्तता लगती है और शान्ति मालूम होती है। जो काम हो रहा है, बहुत धीरे-धीरे हो रहा है, सही ढंग से हो रहा है, प्रचार के लिए बड़े-बड़े सुझाव ;ैनहहमेजपवदेक्ष आते रहते हैं मेरे पास-ऐसा किया जाये तो प्रचार होगा, तो मुझे अपनी ओर से कोई नई बात सोच-विचार कर करने की कोई खास जरूरत पड़ी नहीं। स्वामीजी महाराज ने मानव सेवा संघ की भीतरी और बाहरी रूपरेखा सम्बन्धी सारी बातों को किसी न किसी रूप में कह कर हम लोगों को सुना दीं, समझा दीं, तो मुझे याद आता है कि भाई मानव सेवा संघ का प्रचार तो जीवन के सत्य को स्वीकार करने वाले साधकों के द्वारा होगा, यह खास बात है। संस्था में आश्रम कितने बन गये, मकान कितने बन गये, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात मुझे मालूम होती है कि जब कोई साधक वार्षिक अथवा आजीवन, चाहे माननयी सदस्य के रूप में मानव सेवा संघ के साथ अपने को जोड़ लेता है, आजीवन कार्यकर्ता या स्थायी साधक होकर जोड़ ले, किसी भी प्रकार से इस विचारधारा के साथ जब व्यक्ति अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है तो एक व्यक्ति का इस संस्था में जुड़ जाना मुझको विशेष महत्त्वूपर्ण मालूम होता है। किसलिए? कि उसके भीतर जीवन है,

उसके भीतर सेवा, त्याग, प्रेम बीजरूप में विद्यमान है।

यदि एक व्यक्ति ने इस विचारधारा को अपना कर, अपना सुधार कर लिया, तो उसकी तुलना लाखों रुपयों की मदद करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक है। क्या जाने किस समय उसमें से सत्य प्रकट हो जाए, किस समय उसमें ईश्वरीय प्रेम लहरा उठे, तो उसकी प्रीतिभरी दृष्टि से ज्योति जग सकती है।

अगर हम लोगों ने सच्चाई से, ईमानदारी से मानव सेवा संघ के विचार को जीवन नहीं बनाया तो बहुत से उदारमना पुरुष अपनी सम्पत्ति हमारे पास छोड़ जायेंगे तो भी इस सम्पत्ति का दुरुपयोग करके हम सम्पत्ति का नाश कर देंगे। संस्था के ैजंदकंतक को नीचे गिरा देंगे। यह बहुत घातक बात होगी। इसका मतलब यह नहीं है कि उदार लोग पैसा देना बन्द कर दें। जिसके पास है और वह देना चाहे तो जरूर देवें। तो देना बन्द नहीं करना है लेकिन मैं यह बात बता रही हूँ, कि धन देने की अपेक्षा अपने चित्त को शुऋ करने वाला साधक मानव सेवा संघ की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उदारता पूर्वक आप कुछ मुझे दे जायेंगे तो सेवा प्रवृत्ति चलाने की थोड़ी अधिक जवाब देही मुझ पर आ जायेगी और अपने चित्त को शुऋ करने के लिए मैं हर्ष पूर्वक नतमस्तक होकर सधन्यवाद आपसे जो आप देंगे सो ले लूँगी, यह बात अलग है। पहले अगर इस विचारधारा के आधार पर मैं अपने पास पैसा तो नहीं है, लेकिन इस विचारधारा के आधार पर मैं अपने चित्त को शुऋ करना चाहता हूँ, मैं बुराई रहित होना चाहता हूँ, मैं सब मजहबी और साम्प्रदायिक भेदभावों को भुलाकर साधक मात्र का भला मनाना चाहता हूँ तो ऐसा अगर कोई व्यक्ति आवे तो वह मेरे लिए बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

इस दृष्टि से घर-बारी भाई-बहिनों से मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि आपका जीवन बड़ा व्यस्त हैं। धन कमाना आज बहुत कठिन हो गया है और विविध प्रकार के लोगों के साथ अपने को मिलाकर रखना और विविध योग्यता और रुचि के लोगों के साथ काम करना, इन बातों में बहुत कठिनाइयाँ है। सभी कठिनाइयों को एक किनारे करके आप आते हैं, सत्संग समारोह में सम्मिलित होते हैं, तो इसका अमिट प्रभाव आप अपने साथ लेकर जाइये। यह बड़ा मँहगा है, सहज से प्राप्त नहीं होता है। किसी प्रकार की समस्याओं को आपने किनारे किया, सामने से हटाया, बहुत कष्ट उठाये और बड़ा झंझट करके आप यहाँ पहुँचे तो यह परिस्थिति बारम्बार बनेगी कि नहीं बनेगी, कौन कह सकता है? जी? कोई नहीं कह सकता है। क्या जानें कब अवसर को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए। इसको साधारण बात नहीं मानना चाहिए। एक सप्ताह के समय में हमने जो कुछ सुना है, ऊँची बात सुनी है, बहुत ही स्थूल स्तर की प्रारम्भिक बातों को भी हमने सुना है, जो कुछ सुना है उसमें से जो कुछ अपने से ग्रहण करता बने, उसको ग्रहण करके, एक अमिट प्रभाव अपने पर लेकर यहाँ से आप जाएँ, ऐसा मेरा भाव है, ऐसी मेरी सद्भावना है, ऐसी मेरी प्रार्थना है। अब और थोड़ा-सा आगे बढ़ा जाये। स्थूल स्तर की बात हो गई।

अब एक सत्य को फिर से दोहरा दूँ जिससे कि याद रहे। वर्तमान में जो कुछ आपके पास है, उसी के सदुपयोग से वहीं अविनाशी जीवन मिल सकता है जो किसी भी विशेष सामथ्र्यशाली को मिला होगा। इसको आप स्वीकार करते हैं कि नहीं? जी? करते हैं। अब दूसरी बात ले लीजिए, जो हम लोगों के लिए बहुत उपयुक्त मालूम होती है मुझे। महाराजजी ने

सबके लिए विश्राम और हरि-आश्रय दो विशेष साधन बताए। तो विश्राम के उपाय तो हो गये कि भाई, जो कुछ अपने पास है बस उसी से जो बन सके वह कर डालो और मनुष्य भाव से कर डालो परन्तु अविनाशी जीवन पर दृष्टि रखकर कर डालो, तो क्या होगा कि काम करने की घड़ी जब खत्म हो जाएगी तो थोड़ी देर शान्त रहना आएगा। वर्तमान जीवन जिसका सरस होता है उसमें व्यर्थ चिन्तन नहीं उठता है। वर्तमान को सरस रखने का तरीका क्या हैं? सुख के आधार पर सरस रख सकते हैं। लेकिन प्रभु प्राप्ति के आधार पर वर्तमान को सरस रख सकते हैं। मेरी मृत्यु नहीं होगी, केवल स्थूल शरीर का नाश होगा और मैं तो अमर आत्मा सच्चिदानन्द हूँ अर्थात् मैं अविनाशी परमात्मा का अविनाशी अंश हूँ, इसलिए मेरा नाश नहीं होगा। तो मेरा नाश नहीं होगा इस बात से अपने को एक आश्वासन मिलता है, एक धीरज मिलता है कि भाई, मेरा नाश तो होने वाला हैं नहीं।

अब जिन बुराइयों की उत्पत्ति हो गई है उनका नाश कर दो तो हम सदा ही आनन्दमय अस्तित्व में रह सकेंगे। तो यह भी एक आशाजनक बात है। जिससे वर्तमान सरस हो सकता है। और एक बात और होगी, वह क्या है? कि कितने भी दिनों का पुराना दोष क्यों न हो, अगर वर्तमान में हम उसका त्याग करना चाहते हैं तो वह मिट सकता है। ऐसा नहीं होगा कि अनेक जन्म बीत गये दोषों के साथ, तो अब अनेक जन्म प्रयास करना पड़ेगा। ऐसी बात नहीं हैं। हमको एक कन्शेसन है उस मंगलमय विधान की ओर से, कि चाहे कितने भी जन्म दोषों के साथ में बीते हां लेकिन अगर वर्तमान में आप निर्दोषता पसन्द करते हैं तो भूतकाल का सब किया कराया माफ किया जायेगा। अगर इस पर आप विश्वास करेंगे, क्षमासिन्धु की कृपा की आवश्यकता आप अनुभव करेंगे तो आपका वर्तमान सरस हो सकता है। भूतकाल की भूलों को अपने में आरोप करना छोड़ दीजिए और भूतकाल की भूलों की पुनरावृत्ति करना बन्द कर दीजिए। फिर से उन्हें दोहराइये मत और दोहराने की इच्छा भी छोड़ दीजिए। तो क्या होगा कि पहले की हुई सब बुराइयों को क्षमा किया जावेगा, मिटा दिया जावेगा और वर्तमान काल की निर्दोषता अपने को सरसता देगी। और सबसे अधिक दुर्बल और असहाय के लिए वर्तमान को सरस बनाने में सहारा यह है कि उसके लिए करुणासागर का प्रकाश बढ़ जाता है। और जो बातें पहले बिल्कुल ही दूर, पराई भाषा ग्रीक और लेटिन के समान मालूम होती थीं, उन्हीं को अब पढ़ो तो उसका गहरा अर्थ अपने को समझ में आने लग जाता है।

क्या हो गया भाई? जिस दिन से आपने सत्संग को पसन्द किया, सत्य को पसन्द किया, प्रभु की कृपा शक्ति की आवश्यकता अनुभव की, समर्पणयोग का साधक अपने को बनाया, उसी दिन से उनकी कृपा शक्ति की सहायता से सब शक्तियाँ बढ़ती चली जाती हैं और साधक का जो पथ है वह अपने लिए सरल तथा सुलभ होता जाता है। अगर इस सत्य में आप विश्वास करेंगे, मेरे लिए यह सम्भव है, ऐसा अगर आप मानेंगे तो आपका वर्तमान सरस हो जायेगा, भूतकाल चाहे कैसा भी रहा हो। कोई चिन्ता की बात नहीं। वर्तमान की सरसता और भगवत् शरणागति, ये दोनों बातें ऐसी हैं, जो व्यक्ति को व्यर्थ चिन्तन से छुट्टी दिलाती हैं, उसको विश्राम मिलता है, प्रगति होती है, अपने लिए साधना सहज बनती है। इन सब बातों का अनुभव आप भाई-बहिनों में से अनेकों को है जिन्होंने स्वयं ही मुझको बताया है और जहाँ पति-पत्नी दोनों आ जाते हैं वहाँ तो बहुत सहज हो जाता है। कभी तो पति महाशय कहते हैं

कि पत्नी को लेकर जब से मैं सत्संग में आने लगा तबसे उनका व्यवहार बहुत ही नरम हो गया, बहुत ही प्रेम पूर्ण हो गया। कोई-कोई पत्नी आकर कहती है कि बहनजी, क्या बतायें, पहले तो इनको बड़ा जोश आता था, बड़े क्रोध में आ जाते थे, जब से सत्संग में आने लगे इनका स्वभाव बड़ा नरम हो गया, कोमल हो गया। अब तो उतना क्रोध नहीं करते हैं, अब तो उतना नाराज नहीं होते हैं। तो बहुत छोटी-छोटी बातें हैं, जिनसे आपको भविष्य के लिए बहुत जोरदार आशा लेनी चाहिए कि सत्संग के प्रकाश में मेरा सुधार हो रहा है और सत्संग का प्रकाश कभी भी निष्फल नहीं जाता।

सत्य को हम स्वीकार करेंगे तो वह हमारा सुधार करेगा। जिस अनन्त परमात्मा की शरणागति हमने ग्रहण की है उनकी कृपाशक्ति मेरे मैल को धोकर साफ कर देगी। यह आशा भीतर से दृढ़ हो जाये तो वर्तमान सरस हो जायेगा। व्यर्थ चिन्तन के लिए कोई विकार नये पैदा होंगे नहीं। नई भूल हम करेंगे नहीं और पुरानी भूलों के परिणाम से डरेंगे नहीं। डरने से आदमी का भीतर से मन ही दुर्बल हो जाता है। जहाँ किसी साधक को हर्ष में, आनन्द में, देखते हैं तो अच्छा लगने लगता है कि देखो ये लोग कितने प्रसन्न हैं, कितने खुश हैं, फिर सोचने लगते हैं कि भाई इनके संस्कार बड़े अच्छे थे, तो ये लोग जल्दी-जल्दी स्वामीजी की बातों को पकड़ कर आगे बढ़ गये। तो क्या बताएँ मेरे तो संस्कार बड़े खराब हैं। तो इस प्रकार भूतकाल की बातों का भार अपने ऊपर लादने से बेचारा दुर्बल हृदय जो जीव हैं, थोड़ा ढीला हो जाता है, नरम और पतला, मरा-मरा सा हो जाता है। तो ऐसा क्यों करो भाई! जब क्षमा-सिन्धु सब प्रकार की भूलों को क्षमा करने के लिए तैयार हैं, जब सत्य का विधान हम लोगों को हर प्रकार का कन्सेशन देने के लिए तैयार है तो दिल को छोटा क्यों करो, उदास क्यों बनो। अपने को छोटा क्यों मानो। पुरानी की हुई भूलों के कारण वर्तमान में हृदय को दबाओ क्यों? ऐसा मत करो। हो गया सो हो गया। आखिर क्या कि है हम लोगों ने? किसी के घर में डाका तो डाला नहीं? ऐसा कुछ नहीं किया। बस, भूल क्या की कि विचार के प्रकाश में जो असत्य दिखाई देता है, मालूम होता है कि दृश्य के साथ मेरा संयोग नहीं रह सकेगा, लेकिन उस विवेक का मैंने अनादर किया, दृश्य का सहारा अब तक पकड़े थे, उसे पकड़े रहो, तो विकारों की उत्पत्ति होती रही। आज उस दृश्य का सहारा छोड़ दिया तो मामला खतम हो गया। अगर छोड़ने में असमर्थता लग रही है तो उस सर्वसमर्थ की शरणागति ले ली, शरीरों से असंग होने की सामथ्र्य नहीं लग रही है तो भाई, रोगी और नीरोग, स्वस्थ और दुर्बल और आसक्ति में बँधा हुआ जैसा भी शरीर है वैसा ही लेकर कहो, हे कृपालु! अब मैं यह सब गन्दा-गन्दा, टूटा-फूटा रोग युक्त, विकार युक्त शरीर लेकर आपकी शरण आया हूँ। जैसे ही उस सामथ्र्यवान को सम£पत करो, उनके हवाले करके छोड़ दो तो उनकी कृपाशक्ति उसे सुधार देगी, सँभाल देगी।

मैं तो ऐसा भी सोचती हूँ तो मुझे मजा आ जाता है कि महाराज तुम्हारी चीज, जैसी तुम्हारी मर्जी हो वैसे ही रखना। कम से कम हमको छुट्टी दिला दो। बड़ा आनंद आ जाता है। अरे रोग मिटेगा कि नहीं? कौन कहे तुमसे कि रोग रहित करो इसको, जैसी तुम्हारी मर्जी। तुम्हारी चीज है तुम सँभालना। तुम रखना, जो जी में आवे सो करना। कम से कम मुझ गरीब को तो छुट्टी दिलाओ, तो बड़ा आराम आता है। बहुत आनन्द आ जाता है। इस तरह से यह सत्संग की चर्चा जो हैं, हमारे दैनिक जीवन के त्वनजपदम में आ जानी

चाहिए। कलकत्ते में रहो तो क्या? बम्बई में रहो तो क्या? कडैल में रहो तो क्या? छोटे से छोटे गाँव में रहो तो क्या? कोई फर्क नहीं पड़ता।

प्रवचन 42

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

हमारे जीवन में साधन के पथ में शान्ति तत्त्व का बड़ा महत्त्व है, हम प्रारम्भ ही करते हैं इस उद्देश्य से कि हमें शान्ति मिले। कुछ देर के लिए शान्त रहना आ जाय। यह हम सभी भाई-बहिनों को बहुत पसन्द है और यह बहुत आवश्यक भी है। अब इसमें कठिनाई यह होती है कि जब हम शान्त रहना पसन्द करते हैं, बाहर से कार्य नहीं करते हैं, अकेले में चुपचाप होते हैं तो उस समय अपने ही भीतर से बहुत प्रकार के विचार उदित होने लगते हैं। बहुत प्रकार की भूली हुई बातों की याद आती है। भविष्य की कल्पनाएँ होती हैं। वर्तमान की कठिनाइयाँ सताती हैं। अनेक प्रकार के चिंतन में हम फँस जाते हैं। मस्तिष्क लगातार क्रियाशील रहे, उसमें तरह-तरह के विचार आते रहें, हम उनको नापसन्द करते रहें, दबाने की कोशिश करते रहें, और उनमें हम हारते रहें, इस दशा को कोई भी साधक पसन्द नहीं करता है और इस दशा में उलझ जाने से आगे विकास में बहुत बाधा हो जाती है।

इसलिए हम प्रश्न को सुलझाना, इस समस्या का समाधान करना, हम लोगों के लिए आवश्यक हैं। अनुभवी सन्त की सलाह ऐसी है कि इस दशा से घबड़ाना नहीं चाहिए। पहली बात जो हमारे लिए बहुत काम की है, वह यह है कि मेरे बिना चाहे और बिना किये जो कुछ हो रहा है, वह सदैव ही हितकर है, ऐसा मान करके हमें उससे घबराना नहीं चाहिए। अब आप मुझे बताइये-शान्ति काल में, मन में भीतर जो हलचल पैदा होती है, उसको क्या हम लोग पैदा करना चाहते है? नहीं चाहते हैं और पैदा करने के लिये कुछ करते हैं, उस काल में? नहीं करते हैं। तो वह सब कैसे हो रहा है? मेरे बिना चाहे हो रहा है और बिना किए हो रहा है। तो मैंने किया भी नहीं और मैंने चाहा भी नहीं, और मुझको पसन्द भी नहीं है, ऐसी हालात में जो प्राकृतिक ढंग से प्रतिक्रिया हो रही है उसको बुरा समझ करके उससे घबराना नहीं चाहिए। इससे बहुत धीरज आ जायेगा। एक बात हो गई।

अब शरीरों से ऊपर उठने के लिए सब प्रकार की गति बिल्कुल शान्ति में जाकर समाहित हो जाये और अपने में तीन शरीरों से तादात्म्य ताड़ने की सामथ्र्य आ जाये, इसी तैयारी हमको चाहिए। वह तैयारी कैसे होती है? वैज्ञानिक स्तर पर जो मैंने पढ़ा है, सन्तवाणी में सुना है और अपने पर प्रयोग करके देखा है, ये तीन आधार हैं मेरे पास। एक तो वैज्ञानिक स्तर से, मन की क्रियाओं का अध्ययन और सन्त के पास बैठकर देहातीत जीवन में पहुँचने के उपायों को सुनना, समझना और अपना जीवन जिस स्तर पर हैं उसी स्तर पर साधन के सत्य का प्रयोग करना। इनके आधार पर मैं साधक भाई-बहिनों की सेवा में यह वैज्ञानिक सत्य निवेदन कर रही हूँ, कि जहाँ-जहाँ संसार में हमारी पसन्दगी हैं, जिन-जिन वस्तुओं और व्यक्तियों को मैंने अपने लिए पसन्द किया है, सुखद माना है, उन्हीं का प्रभाव अहं में अंकित होता है, यह वैज्ञानिक सत्य है और जो प्रभाव अहं में अंकित होता है, यह वैज्ञानिक सत्य है और जो प्रभाव अंकित हो चुका है, जिससे मन और चित्त पर अनेक प्रकार के राग-द्वेष बन गये हैं, उनको

मिटाने के लिए प्रकृति को जब कभी भी अवसर मिलता है तब इन राग-द्वेषों के निष्कासन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है।

जिस समय आप किसी प्रकार का सुख नहीं ले रहे हैं और जिस समय आप संसार के साथ मिलकर सुख-सुविधा-प्राप्ति का कोई उपाय नहीं कर रहे हैं, जब शान्ति-सम्पादन के लिए एकान्त में बैठते हैं तो उस समय जगत् के साथ मिलकर कोई प्रवृत्ति करते हैं क्या? नहीं करते है न। तो उस समय किसी प्रवृत्ति में भी हम लोग नहीं लगे हैं। ऐसी घड़ी में जब मैंने प्रवृत्तियों को छोड़ दिया है तो उस काल में जब हम बाहर से कुछ नहीं कर रहे हैं तो प्रकृति की शक्ति मेरी मदद कर रही है। क्या करती है? कि भूतकाल के भोगे हुए सुखों का प्रभाव और उसको पसन्द करने के परिणाम जो मेरे भीतर जमा हो गये थे उनको निकालकर, ब्वदेबपवने स्मअमस पर, चेतन स्तर पर लाकर के, उन्हें खतम करने का प्रकृति की ओर से होने लगता है। यह हितकर होगा कि अहितकर? जी? हितकर होगा! इसलिए मैंने निवेदन किया। यह बात स्वामीजी महाराज के पास आकर मैंने सुनी।

मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य के मस्तिष्क की क्रियाओं का जो अध्ययन था, उसमें सन्त के अनुभव का प्रकाश प्राप्त करने से बहुत स्पष्टीकरण हो गया। महाराजजी से क्या सुना मैंने? कि भाई! तुम चिंता मत करो, घबराओ मत। क्रिया हानिकारक कभी नहीं हो सकती। तो शान्ति सम्पादन काल में, भीतर के जमे हुए सुख भोगों के प्रभाव निकलते हैं खतम होने के लिए। हम लोग क्या करते हैं, कि अरे! राम! राम! राम! संसार का चिन्तन आ गया, अब इसको हटाओ-हटाओ, जल्दी हटाओ। कैसे हटाओगे? जोर डाल करके मन की शक्ति को रोक लो, जोर डालकर रोकने से, कुछ देर के लिए तो मन की गति रुक जाती है। नहीं रुकती है ऐसी बात नहीं है। जोर डाल के रोकने से रुक जाती है, लेकिन यह वैज्ञानिक सत्य है कि जब जोर डाल करके आप भूतकाल के जमे हुए विकारों को चेतना में आने से रोक देते हैं, तो वे अचेतन स्तर पर ठहर जाते हैं। और जिन्होंने इसका प्रयोगात्मक अध्ययन किया है, वे कहते हैं, कि चेतन स्तर पर दबा देने का परिणाम यह होता है कि अचेतन में छिप करके ये विकार दिन दूने रात चैगुने बढ़ते चले जाते हैं।

थोड़ी देर के लिए साधक को बड़ी सफलता मालूम देती है कि मैंने मन की गति को रोक लिया, मैंने चित्त-वृत्ति को स्थिर कर लिया। थोड़ी देर के लिए उनको बहुत सफलता मालूम होती है लेकिन भीतरी बात क्या है कि चेतन स्तर से नीचे की ओर दब जाने से, अचेतन में चले जाने से, ये विकार और भी अधिक बलवान होते रहते हैं। एक मनोविज्ञानवेता ने उदाहरण दिया कि जैसे गीली लकड़ी को अन्धकार की अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दो और छोड़ दो तो उसमें एक ही रात में, बहुत सी फफूँद उठ जाती हैं। निदहने निकल आती है। उसी तरह से मन के जो पुराने, भूतकाल के जमे हुए विकार हैं उनको निकलने से रोक दोगे तो वे भीतर जा कर बहुत जल्दी-जल्दी बढ़ने लग जाते हैं, बलवान हो जाते हैं। जिस समय तुम मन की गतिको रोकने वाला अभ्यास छोड़ोगे, उस समय मौका पाकर वे तुम्हें पराजित करेंगे।

इसलिए वैज्ञानिक उपाय क्या है? वैज्ञानिक उपाय यह है कि भूतकाल के प्रभावों को निकल जाने दीजिये, आप उनको रोकिये मत। कुछ साधकों ने इस विधि से काम करना शुरू किया कि हम रोकेंगे नहीं, उनको निकलने देंगे, उनमें से किसी-किसी ने अपना अनुभव ऐसा बताया, कि भाई, हमने तो छोड़ दिया रोकना, हम

तो उनको छेड़ते नहीं हैं, निकल जाने देते हैं, लेकिन वह क्रम खतम तो हुआ नहीं। कितने दिन तक चलता रहेगा? यह भी साधक के लिए कठिन बात है। भाई, रोको मत छोड़ दो, वह निकलता ही रहे, निकलता ही रहे, निकलता ही रहे, तो हम कब तक प्रतीक्षा करें? इतना समय किसके पास है? फिर तो शान्ति-सम्पादन के लिए कौन सी घड़ी आयेगी, फिर योग्वित होने की सामथ्र्य कब आयेगी? ऐसा प्रश्न उठता है। इस पर काफी सोच-विचार किया गया, तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि दार्शनिक दृष्टिकोण को भी वैज्ञानिकता के साथ रखना जरूरी है, और वह दृष्टिकोण क्या है-कि जिसको "मैं" कहकर सम्बोधित करते हैं,वह शरीर के भीतर तो कहीं कैद है नहीं। शरीर के भीतर वह नहीं है और शरीरों के साथ तादात्म्य में मालूम होता है कि मैं शरीर हूँ, ऐसा लगता है। लेकिन जिन्होंने शरीर और संसार की सहायता से, सुख लेने की इच्छाओं का त्याग कर दिया, उनके भीतर फिर कोई नया विकार पैदा नहीं होगा। भूल क्या होती है साधक से? कि हम भीतर के जमे हुए विकारों को, निकालने का मौका तो देने लगे, परन्तु नये विकारों को भीतर जमा करना बन्द नहीं किया। इसलिये वह लगातार चलता ही रहता है, चलता ही रहता है।

वैज्ञानिकता के साथ-साथ दार्शनिकता को भी साथ में रखों। दार्शनिक सत्य क्या है? दार्शनिक सत्य यह है कि जो मेरा, 'मैं' पन हैं, उसको हम लोग ैमस िकहकर सम्बोधित करते हैं, कभी रहता नहीं है। केवल उसकी सहायता से जब संसार का सुख भोगना हम पसन्द करते हैं तो उसके साथ जुड़ जाते हैं और जब सुख लेने की कामनाओं का त्याग कर देते हैं तो सम्बन्ध छूट जाता है। तो ैजतनबजनतंस तमसंजपवद नहीं है केवल क्रियात्मक है। इस बात को जान करके जब अपने को निजस्वरूप के आनन्द में रहने की आवश्यकता पैदा हो गई, जब अपने में प्रेमास्पद प्रभु के प्रेमी होने की अभिलाषा पैदा हो गई तो फिर बार-बार शरीरों की सहायता से संसार के सुख लेने की बात कभी जीवन में रखनी नहीं चाहिए। परन्तु यह भी चलता रहता है कि नये-नये सुख-भोगों की कामनाओं से नये-नये विकार पैदा भी होते रहते हैं और शान्ति-सम्पादन काल में पुराने विकारों के निष्कासन की प्राकृतिक प्रक्रिया भी चलती रहती है। तो एक ओर से कूड़ा निकाला जा रहा है, फेंका जा रहा है, और दूसरी ओर से हम कूड़ा भरते जा रहे हैं। इस भूल के कारण लम्बा समय लग जाता है। इस भूल को भी हम लोगों को नहीं रखना चाहिए।

कैसे हो? कि शान्ति-सम्पादन की आवश्यकता जिस समय पैदा हो, उसी समय से तृप्त-अतृप्त वासनाओं का प्रभाव भीतर जमा करना बन्द कर देना चाहिए। अतृप्त वासनाओं के कारण भी रह-रहकर जगत् की ओर खिंचाव होता है और जो कामनाएँ पूरी होती हैं उस कामना पूर्ति के सुख को भोगने से भी नये-नये विकार पैदा होते रहते हैं। जो जहाँ भीतर इच्छा पैदा हुई तो इच्छाओं के कारण शरीर और संसार से सम्बन्ध बन गया। इच्छा पैदा हुई और सुन्दरता दिखाई देने लगी। इच्छा पैदा हुई वस्तुओं की तरफ मेरा खिंचाव हो गया और इधर की ओर वृत्ति खिंच गई, तो अपने उद्गम से बिछुड़ गई, विमुख हो गई, यह दशा हो गई। तो जिनको परम शान्ति अभीष्ट है, उनको भूतकाल की विकृतियों का नाश प्राकृतिक ढंग से होने देना चाहिए और अपनी सावधानी इतनी रखनी चाहिए कि फिर कोई नई विकृति पैदा करने का कारण मैं नहीं बनूँ। समझ में आता है? यह बहुत जरूरी बात है।

नई विकृतियों के पैदा न होने देने की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता और पहले के जो संस्कार जमा हो गये हैं, उन्हीं के पीछे परेशान होते रहते हैं। भोगे हुये सुखों के प्रभाव से, नई-नई वासनायें उदित होती रहती हैं। उनको देख-देख कर हम घबराते हैं। घबराने की कोई बात नहीं है। जब आप ने सुख परिस्थितियों का अन्त ही कर दिया तो उनके पुराने निशान जो बने हुए हैं, मिट रहे हैं, उसमें घबराने की क्या बात। जैसे मान लीजिए-शरीर में कहीं फोड़ा निकल गया था और उसका व्वमतंजपवद कराया गया, चीरा लगाया गया, मरहम-पट्टी हो गई और ठीक हो गया, लेकिन उसके बाद भी वह चीरे का निशान रह गया है। तो जिसका घाव ठीक हो गया है, उसको उस निशान को देखकर तकलीफ होती है क्या? जी! उसमें तो दर्द नहीं होता है न! ऐसे ही जब साधक वर्ग, अपनी ओर से परमशान्ति को जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं, निजस्वरूप के परमानन्द को जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं, परम प्रेमास्पद प्रभु को जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं तो जिन्होंने जीवन के इस लक्ष्य को अपने सामने रख लिया, उनको सबसे पहला काम यही करना चाहिए कि भूतकाल हमारा चाहे जैसा भी था, अब वर्तमान से लेकर भविष्य में फिर कभी हम नये विकारों को पैदा नहीं होने देंगे। यह जरूरी बात है। तो नये विकार पैदा होंगे नहीं, और प्रभु का मंगलमय विधान इतना बढ़िया है कि पुरानी जो विकृतियाँ पैदा हो गई हैं उनको मिटाने की जिम्मेदारी प्रभु हम लोगों पर नहीं डालते हैं।

भूतकाल में जो कुछ हमने कर दिया और उसके परिणाम से जो विकार पैदा हो गये, उनको मिटाने के लिए मुझे कुछ नहीं करना पड़ेगा। केवल अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर चुपचाप रहना पड़ेगा। तो जब हम अपनी ओर से कुछ करना छोड़ देंगे तो प्रकृति की शक्ति जो है, वह स्वभाव से ही भूतकाल की जमा की हुई विकृतियों को निकाल की खतम कर देगी और उनका प्रभाव बिल्कुल साफ हो जायेगा। तो मैंने मनोवैज्ञानिक आधार पर यह अर्थ निकाला है कि शांतिकाल में मनुष्य के मस्तिष्क में जो हलचल पैदा होती है और तरह-तरह के चिन्तन आरम्भ होते हैं उन चिन्तनों के होने से व्यक्ति की शान्ति भंग नहीं होती, क्योंकि शान्ति आप के स्वरूप में है और यह हलचल शरीर के संग मिलकर उत्पन्न की हुई विकृतियों के कारण से हैं। आप जब शरीरों से असंग होने के लिए तैयार हो गये तो भूतकाल की क्रियाओं के आधार पर जो विकृतियाँ पैदा हुई थीं वे विकृतियाँ अब आप को छुएँगी नहीं। इसलिए आप निश्चिन्त हो जाइये।

पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि मन में उठने वाले चिनतन से नुकसान नहीं होता। प्रभु के मंगलमय विधान को तो वे लोग नहीं जानते हैं, उसको मानते भी नहीं हैं। यह तो मैंने स्वामीजी महाराज से सीखा, लेकिन सच्चाई का ज्ञान तो उनको भी हैं। वे कहते हैं-मन में उठने वाली हलचल से व्यक्ति का कुछ नुकसान नहीं होता, लेकिन उस हलचल को देखकर घबरा जाने से नुकसान होता है। तो घबराओ नहीं। वे लोग कहते हैं कि उस स्मृति के साथ अब नया राग-द्वेष ;म्उवजपवद जपदहमऋ आप मत जोड़ो। जैसे मानलो कि भूतकाल में किसी व्यक्ति से आपकी खटपट हो गई थी, और उससे आपने अपमानित मिमस किया था। किसी प्रकार की क्षति आप की हुई थी, लड़ाई-झगड़े हुए थे। तो वह घटना बीत गई, वह व्यक्ति आप से दूर चला गया। अब उससे कोई मतलब नहीं है। लेकिन शान्तिकाल में आपके भीतर उस झंझट की घड़ी में जो राग-द्वेष जम गया था, उस बुझती हुई अग्नि में कोई नया

ईधन मत डालो। अब साधनाकाल में, जब आप शरीरों से ऊपर उठने के लिए तैयार कर बैठे हैं, तो प्रकृति सहायता कर रही है, और भीतर के दबे हुए उस पुराने राग-द्वेष को चेतना में लाकर के निकालना चाहती है, तो मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं, कि वह राग-द्वेष दिख जाये तो चुपचाप बैठकर देखते रहो। कोई नुकसान नहीं होगा। वह निकल कर खतम हो जायेगा। चित्त हलका हो जायेगा। मन एकदम शान्त हो जायेगा। तुम्हारा मानसिक स्तर साफ हो जायेगा। अगर उस चित्र के उपस्थित होने से उस व्यक्ति को याद करके फिर आपने नया क्रोध कर अर्थात् फिर नया भाव ;म्उवजपवदक्ष ले लिया, अर्थात् जो घटना बीत गई उसकी याद आने से फिर आपके कान गरम होने लगे, देखो तो उसने मेरे साथ ऐसा किया था, उस बीती हुई घटना और दूर हुए व्यक्ति पर फिर से अगर आपको क्रोध आ गया तो पुरानी विकृति मिटने के पहले ही नई जम गई। समझ में आता है? अगर पुरानी चीज है, अब उससे मेरा कोई मतलब नहीं है, वह व्यक्ति भी मुझसे दूर हो गया, वह घटना भी खतम हो गई। अब भीतर जो कुड़ा-करकट जमा हो गया है वह मुझे निकाल कर खतम करना है, उसको फिर से जमाना नहीं है।

साधक का दृष्टिकोण सदा ऐसा बना रहेगा, तो वह चुपचाप बैठकर देखता रहेगा। दूर से जैस-कुत्तों को लड़ते हुए देख करके आपके भीतर की शान्ति भंग नहीं होती है वैसे ही भीतर के जमे हुए विकार जो निकलते रहेंगे उनको भी देखकर आपकी शान्ति भंग नहीं होगी। धीरज रखिए थोड़ा-सा, और देखिए कि विकार निकल रहा है, सफाई हो रही है। इस प्रकार हम सब लोग बाहर और भीतर दोनों तरफ के दृश्यों से अपने को असंग कर सकते हैं। जैसे बाहर के दृश्यों से साधकजन अपने को असंग कर लेते हैं, वैसे भीतर के दृश्य से भी असंग कर लेते हैं। बाहर भी जगत् है, तो मन के स्तर पर भीतर जो कुछ हो रहा है वह भी तो एक जगत् ही है भाई! यह रहस्य समझ में आ रहा है कि नहीं? जी? जैसे बाहर जो दृश्य दिखाई दे रहा है वह भी जगत् है तो आँख बन्द करने पर मन के स्तर पर जो दृश्य दिखाई दे रहा है, वह भी जगत् ही है। वह भी संसार ही है, क्योंकि मन बना है संसार की ही धातु से। तीनों शरीरों में से सूक्ष्म शरीर की क्रिया है मन। ठीक है न? जैसे स्थूल शरीर की रचना पांच भौतिक तत्त्वों से हुई है। वह भी तो जगत् ही है। तो अपने को दृश्यमात्र से असंग होना है। बाहर के दृश्य से असंग रह सकते हैं हम, तो भीतर के दृश्य से असंग क्यों नहीं रह सकते? रह सकते हैं कि नहीं? रह सकते हैं? गलती क्या हो जाती है? तो साइक्लोजिस्ट अर्थात् मनोवैज्ञानिक की सलाह मान लीजिए। वे लोग कहते हैं कि आप उसके साथ म्उवजपवदंस जपदहम मत लगा दीजिए। जपदह कहते हैं हलके रंग के प्रभाव को। तो जैसे किसी पर हल्के गुलाबी रंग की छाया पड़ जाए, कि हरे रंग की छाया पड़ जाय, तो कहते हैं कि यह तवेम जपदहम है, यह हतममदपी जपदह है। तो ऐसे ही च्लबीवसवहपेज कहते हैं कि म्उवजपवदंस जपदहम उससे मत डालिए। अर्थात् जो चित्र मानस पटल पर पुरानी भूलों के प्रभाव से अंकित हो गये हैं, प्रकृति उनको निकाल रही है, तो उनको भी अपने से दूर मानकर, उनसे भी असंग रहते हुए, उसमें किसी प्रकार के नये राग-द्वेष का रंग मत चढ़ाओ। तो फायदा क्या होगा? कि आप अपनी बिल्कुल निर्विकार शान्ति में रह सकोगे और प्रकृति का जो कार्य है वह प्रकृति पूरा करके, अर्थात् तुम्हारी भूलों के कुप्रभाव को सुधार कर तुमको स्वस्थ और शान्त बना देगी। यह रहस्य है शान्ति के सम्पादन का।

शान्ति-सम्पादन में बड़ी अच्छी मदद देने वाली एक और बात है। वह क्या है? मैंने व्यक्तिगत रूप से भी अपने भीतर और बाहर का चित्र देखा है। बातचीत करते समय हम लोगों की अलग-अलग जवदम निकलती है, अलग-अलग प्रकार की ध्वनि निकलती है, किसी-किसी समय आदमी जरा उत्तेजित होकर बोलता है, किसी-किसी समय अन्यमनस्क होकर बोलता है, तो अपनी विविध ध्वनियों का हमें भले ही पता न चलता हो, लेकिन दूसरे जब हम लोगों से विविध प्रकार की जवदम में बोलते हैं तो समझ में आता है कि नहीं? जी? मधुर ध्वनि निकल रही हो तो, पसन्द आता है, और कड़क निकल रही हो तो, बुरा लगता है। आप देखेंगे कि अन्तर की जो दशा है उसके कितने प्रकार के मगचतमेपवद हैं, कितनी अभिव्यक्तियाँ है, अंग-विन्यास ;च्वेजनतमऋ बदलता है, यह क्या-क्या सब होता है।

अब खास बात जो मैं कहने जा रही हूँ, वह यह है, कि आप अपने व्यक्तित्व का भीतर-बाहर थोड़ा अध्ययन करके देखिये तो पता चलेगा कि जो वर्तमान क्षण व्यक्ति को अपने लिए आशाजनक और सरस लगते हैं, उन क्षणों में उसके भीतर विकारों का प्रवाह नहीं रहता है, बहुत बढ़िया बात है। प्रेमी स्वभाव के व्यक्तियों के साथ लोगों ने रहकर देखा है, और भगवत् भक्तजनों के पास बैठकर देखा है, वीतराग सन्तजनों के पास बैठकर भी अनुभव किया है। अपने को सँभालने के काल में भी इन बातों की झलक मिलती रहती है, परिचय मिलता रहता है। जब भीतर नीरसता होती है तो वाणी में कठोरता रहती हैं। भीतर सरसता हो तो वाणी में मधुरता रहती है। भीतर कठोरता और असन्तोष हो तो आँखों से एकदम जैसे चिंगारी निकलती है। ऐसी दृष्टि देखी नहीं जाती और भीतर सरसता हो, कोमलता हो, तो दृष्टि में इतनी प्रियता भर जाती है कि जिस पर पड़ जाये उसका भी चित्त प्रसन्न हो जाये।

स्वामीजी महाराज कभी-कभी ऐसी प्रीत भरी दृष्टि का वर्णन करते हुए कहते थे-"आप छके नैना छके, अधर रहे मुस्काय। छकीदृष्टि जा पर पड़े, रोम-रोम छक जायû" प्रीत-रस से परिपूर्ण जो व्यक्तित्व है, उसके भीतर मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब कुछ सुन्दर हो जाते हैं, सरस हो जाते हैं, मधुर हो जाते हैं और पूरा का पूरा जिसका व्यक्तित्व प्रेमरस में परिवर्तित हो गया, उसको तो वर्णन ही मैं नहीं कर सकतीं हूँ। लेकिन हमारे आपके, हम सभी भाई-बहिनों के अन्तर में जो प्रेम तत्त्व बीजरूप में विद्यमान है उसकी बात मैं कह रही हूँ, कि उसमें जैसे ही रस निष्पत्ति आरम्भ हो जाती है, अर्थात् सरसता का प्रवाह रोम-रोम में भरने लग जाता है, तत्काल ही सब प्रकार की गतियाँ शान्त होने लगती हैं। स्नायुमण्डल में जो ंवबपंजपअम बींपद ;विचारों की श्रृंखलाऋ काम करती रहती हैं, मन कभी यहाँ जा रहा है, कभी वहाँ जा रहा है, कभी किसी की याद आ रही है, कभी कौन चिनता सता रही है, कभी कौन भय सता रहा है, कभी कौन प्रलोभन प्रेरित कर रहा है, इस प्रकार से मस्तिष्क में जो एक बिजली की बनततमदज की तरह गतिशीलता चल रही थी उस पर हृदय की सरसता का बड़ा ही स्वास्थ्यकर प्रभाव होता है। वर्तमान का आशाजनक होना, और जीवन में रस की अभिव्यक्ति, ये दो बातें इतनी अच्छी हैं, इतनी अच्छी हैं, कि व्यर्थ चिन्तन का नाश करने के लिए फिर कोई अन्य प्रयास करना ही नहीं पड़ता। बहुत ही स्वास्थ्यकर प्रक्रिया है।

मैं एक प्रभुभक्त साधक के पास बैठी थी, बातचीत हो रही थी, प्रभु की महिमा की चर्चा चल पड़ी। तो मेरा सुना हुआ तो बहुत है। स्वामीजी महाराज ने खूब उनकी महिमा सुनाई और मेरे भीतर के सब क्षोभ-रोष को शान्त किया था। सुना हुआ तो मेरा बहुत था लेकिन पूरा अनुभव किया हुआ नहीं था। उन्हीं की कृपा से किसी-किसी क्षण में उन्होंने कहीं-कहीं अपनी महिमा का दर्शन करा दिया, तो उतने से मेरे जीवन में एक बड़ा भारी आधार मिल गया। ऐसा थोड़ा-थोड़ा अनुभव है, लेकिन जिनके पास में बैठी थी उनको तो मैं प्रेमस्वरूप ही मानती हूँ। बातचीत के सिलसिले में जब प्रभु की महिमा की चर्चा चल रही थी और चर्चा के प्रभाव से ऐसा लगा कि उनका व्यक्तित्व बिल्कुल अभिभूत होता चला जा रहा है, लगाव सब बाहर के छूटते चले जा रहे हैं, रस की वृद्धि होती जा रही है और पराश्रय और परचिन्तन पर से लगाव, बिना किसी प्रयास के अपने आप छूटता चला जाता है। कुछ समय के बाद उनके मुख से सुनने में आया कि "अहा! क्या आनन्द है, अपने आप में ही है, उनकी महिमा से ही है, उनकी उपस्थित से ही है, उनका दिया हुआ है, इस अनुभव में सब विकार धुल जाते हैं। अनेकों प्रकार के शरीरिक और मानसिक रोग उस रस के प्रवाह में समाप्त हो जाते हैं।" उस रस को मैं, अपने को समझाने के लिए जीवन रस कहती हूँ।

भगवत् कृपा से, भगवत् अनुरागी सन्त के पास बैठकर, जो कुछ मैंने देखा और सुना, तो दृष्टि तो मेरी बहुत छोटी, कहाँ तक मैं देखती, और बुद्धि तो मेरी अनेक शंकाओं में उलझी हुई थी, कहाँ तक मैं समझती, फिर भी मैं सन्त भगवन्त की कृपा मानती हूँ कि मेरी हैसियत से नहीं, मेरी समझ-बूझ के आधार से नहीं, उन्होंने अपनी कृपा से ही, अपनी महिमा का दर्शन कराया, तो मैंने यह जाना कि साधक के जीवन में साधना के पथ पर आगे बढ़ने में अगर अलौकिकता का नया-नया अनुभव नहीं होता है, तो उसका एक ही कारण है कि हमारा वर्तमान सरस, आशाजनक और उत्साहजनक नहीं है। इस अभाव को अब तक हम लोगों ने सहन कर लिया, मैंने भी सहन किया और आपने भी सहन किया, लेकिन आज से क्षण से, आगे से, हम इसको सहन नहीं करेंगे। क्यों करेंगे?

साधना के पथ पर चलते हुए, साधक होकर, अपने जीवन में जीवन की अभिव्यक्ति न हो, सत्य का प्रकाश दिखाई न दे, प्रेम की लहरें तरंगें न उठें, तो इसका हम लोग क्या सहेंगे? आप राजी हैं सहने को? नहीं सहेंगे। क्यों बरदाश्त करेंगे? जब वर्तमान आशाजनक है, जब भविष्य अपना उज्जवल है, जब मेरे जीवन का लक्ष्य मुझमें ही विद्यमान है, और इसी वर्तमान में पलक मारते ही, जरा-सा दृष्टिकोण को बदलते ही वह मुझको भीतर से रस से आप्लावित कर सकता है तो शुष्क और कठोर जीवन लेकर क्यां बैठें? मन में असन्तोष और वाणी में रुखाई लेकर क्यों दुनिया में रहं। जी? नहीं रहना चाहिए, कभी नहीं रहना चाहिए। अपने ही में विद्यमान रस स्वरूप ने अपने ही स्वभाव से, अपनी ही उदारता से, मेरी रक्षा मेरे भूतकाल में की। मैं उनसे विमुख होकर कहाँ-कहाँ, क्या-क्या नहीं करती फिरी, सब समय उन्होंने हम लोगों को सँभाला कि नहीं सँभाला? जिस समय हम लोग उनकी करुणामयी गोद का निरादर करके, अपने अहं का अभिमान लेकर संसार में अनर्थ करते फिरे, उस समय भी उन्होंने हमें सँभाला, छोड़ा तो नहीं? उनके ज्ञान के प्रकाश का जो दीपक भीतर-भीतर जल रहा है उसको बुझाया तो नहीं? अगर बुझा, दीपक जल रहा है। प्रकाश में सत्-असत् दिखाई दे रहा है और अगर

उनसे बिछुड़ जाने के कारण, उनकी करुणा और महिमा का निरादर करने के कारण, उन्होंने अपनी मधुरता को रोक लिया होता, तो हमारा जीवन कैसे संगठित रह सकता था? नहीं रह सकता था।

इसलिए बड़ी आशाजनक बात है कि मेरी नालायकी से, वे परम करुणावान मुझ पर नाराज नहीं हुए। उनकी महिमा का निरादर करके मैंने अहं के अभिमान में संसार में गर्जन किया। तो आप देखिए, प्रभु की करुणा, प्रभु की महिमा, कि गुणों के अभिमान में अहं की गर्जना करते हुए हम संसार में फिरे, तब भी उन्होंने अपनी कृपा हम पर से हटाई नहीं।

प्रवचन 43

पूज्य संत महानुभव, सत्संग प्रेमी माताओं, बहनो और भाइयों!

हम लोग इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि जीवन की सच्ची बातों को सच्ची कह कर स्वीकार कर लेने के बाद भी उसके अनुसार जीवन क्यों नहीं बनता? अपने भीतर के विकारों को देखकर उनको नापसन्द करने के बाद भी असाधनों का त्याग हम क्यों नहीं करते? बुराइयों का त्याग हम क्यों नहीं करते? इसका एक उत्तर ऐसा मिलता है मनोवैज्ञानिक स्तर पर कि मस्तिष्क और हृदय का समान रूप से विकास नहीं होता। मस्तिष्क का कार्य है बुद्धि। विवेक के प्रकाश में बुद्धि इस बात को देख लेती है कि क्या सही है, क्या गलत है। बुद्धि का विकास इतना हो गया कि विवेक के प्रकाश में देखकर सत् और असत् का विवेचन कर लिया गया। लेकिन उसी अनुपात में यदि हृदय का विकास नहीं हुआ तो मार्ग दिखाई देने पर भी चलने की शक्ति नहीं मिलती।

विवेक के प्रकाश में मार्ग दिखाई देता है और हृदयशीलता में गति आती है। एक होता है गतिमान होने का वितबम ;शक्तिऋ और एक होता है सही-गलत विचार करने का प्रकाश। प्रकाश में हम देखते हैं और गति में जीवन आगे बढ़ता है।

पिछले दो-तीन दिनों से हम साधक भाई-बहिन इस पर विचार कर रहे हैं कि सद्ग्रन्थों का पाठ किया तो बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें जानकारी में आ गई। जानकारी में तो आ गईं, लेकिन अब उनका अनुसरण करने में देर हो रही है, तो बाधा क्या है? बाधा यह है कि बौद्धिक विकास जितना हो गया है उतना हृदय का विकास नहीं हुआ है। अब क्या करें? यह वर्तमान का प्रश्न है। कैसे दोनों ही शक्तियां इतनी विकसित हो जायें कि असत् को असत् जानकर उसका त्याग कर दें और सत् को सत् मानकर उसको स्वीकार करलें? इतनी-सी बात है। सभी साधकों के सामने, सभी देशों में, सभी युगों में, बस यही एक बड़ा प्रश्न है जिसका हम सभी भाई-बहिनों को हल निकालना है।

श्री महाराज जी की वाणी में हम लोगों ने सतयुग के भक्त प्रहलादजी की कथा सुनी। प्रहलाद जी को देखने को मिला कि बुढ़िया माई जप कर रही है, भगवान को याद कर रही है। जब कुम्हार का आँवा खोला गया तो उसमें से बिल्ली के बच्चे जिन्दा निकल आये। प्रहलाद जी ने सोचा, आज तक तो मैंने अपने बाप की महिमा सुनी थी। सब लोग उन्हीं के गीत गाते, उन्हीं का नाम लेते हैं, उन्हीं की आज्ञा में रहते थे। लेकिन कितना भी बलवान मेरा बाप हो, यह सामर्थ् उसमें नहीं है कि जलती हुई आँवा में से बिल्ली के बच्चों को जिन्दा

निकाल दे। ऐसा मालूम होता है कि मेरे बाप से अधिक बलशाली कोई है जो अनहोनी बात भी कर सकता है। ऐसा सोचकर उन्होंने राम की महिमा स्वीकार कर ली। उन्होंने स्वीकार कर लिया कि सबसे बलवान् और सबसे महिमावान् जो है, वह राम है, और तो कोई हो ही नहीं सकता। इस सत् की स्वीकृति का यह बड़ा भारी फल हुआ कि उनके जीवन में से भय, चिंता और संसार की पराधीनता खत्म हो गई।

इसी प्रकार अनेक भक्तों के जीवन में आपने देखा होगा, सुना होगा कि उनके सामने एकबार संसार की नश्वरता प्रमाणित हो गई, तो उन्होंने हमेशा के लिए उसकी पराधीनता को छोड़ दिया। एक बार उनके कान में यह ध्वनि पड़ गई कि सर्वसमर्थ प्रभु तुम्हारे अपने हैं, अपने में हैं, सदैव हैं, अभी हैं, सभी के हैं, वे ही सबके रक्षक हैं, वे आनन्दस्वरूप हैं, प्रेमस्वरूप हैं, दीनबन्धु हैं, करुणासिंधु हैं। ये सब एक ही बार सुनने को मिला और उन्होंने सुनकर मान लिया।

अब हम लोगों को क्या करना चाहिये? हमने प्रभु की महिमा को भी अनेक बार सुना, लेकिन आज तक केवल उन्हीं में विश्वास जमा नहीं। हम लोग प्रभु को महिमावान् मानते भी हैं और उसके बाद घटिया चीज में भी विश्वास करते हैं। यह दशा है न? तो अब इस दशा को मिटाना है। हृदयशीलता को बढ़ाना है। प्रेम-पक्ष को सबल बनाना है।

अनुभवी संत ने यह सलाह दी कि भाई देखो, अपनापन जो होता है मनुष्य के जीवन में, उससे प्रेमभाव की वृद्धि होती है। सबसे अधिक व्यक्ति अपने को पसन्द करता है, अपने को प्यार करता है। ज्ञान पंथ के साधक जो नाशवान् से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं, अपने आपमें संतुष्ट होते हैं। उनके भीतर भी आनंद और प्रेम की बाढ़ आती है जो आत्मरति कहलाती है। वह बहुत ऊँची चीज है। अपनेपन का भाव जो मनुष्य के जीवन में है, यही प्रेम का आधार होता है।

अगर नाशवान् के साथ तुम अपनेपन का नाता जोड़ोगे तो पवित्र-पे्रेम का तत्त्व जो है, वह आसक्ति का रूप धारण कर लेगा। आसक्ति के फलस्वरूप भीतर-भीतर नीरसता बढ़ती है। नीरसता से हृदय पक्ष कुंठित होता है। जीवन सत्पथ पर गतिमान नहीं होता। परन्तु जो सभी के हैं, सदैव हैं, सर्वत्र हैं, प्रेमस्वरूप ही हैं, अपनेपन के भाव के अतिरिक्त दूसरी कोई बात हम लोगों से न चाहते हैं, न माँगते हैं, न आशा रखते हैं, उन परम प्रेमास्पद परमात्मा को मानव-हृदय का अपनापन चाहिये और कुछ नहीं चाहिये।

संत की सलाह है कि हृदय की नीरसता का नाश करना हो, अभाव को मिटाना हो, जीवन को सरस बनाना हो तो रस स्वरूप परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करो। वे स्वयं रस के अथाह सागर हैं। उनसे अपनापन मानो। अपनेपन के प्रभाव से उनकी ओर से प्रियता, उनकी ओर से प्रेम का रस आ करके तुम्हारे जीवन को भर देगा तो जन्म-जन्मान्तर की नीरसता का नाश हो जायेगा। परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति मात्र में हमारा पुरुषार्थ है। उनकी ओर से सम्बन्ध कभी टूटता ही नहीं, उनको विस्मृति हुई ही नहीं। मेरे विमुखता-काल में भी उनके साथ मेरा सम्बन्ध कभी टूटा नहीं था। आज भी नहीं टूटा है। परन्तु मैंने उनको अपना मानना छोड़ दिया, मुझमें विस्मृति हो गई तो मेरी दुर्दशा हो गई। मेरी विस्मृति के कारण उनका प्रेम मेरे अनुभव में नहीं आ रहा है। उनके अपनेपन की स्वीकृति के प्रभाव से मनुष्य का हृदय सरस होन लगता है, रस की वृद्धि होने लगती है। उसको पता ही नहीं चलता कि कब उसके जीवन में रस अपने आप इतना

बढ़ गया कि बाहर की सब बातें बिल्कुल ही निस्सार हो गईं और सबसे लगाव टूट गया और सबसे सम्बन्ध छूट गया, जीवन साधन-पथ पर गतिमान होकर कितना आगे बढ़ गया। प्रभु विश्वासी साधकों को और कोई दूसरा नया प्रयास नहीं करना पड़ता है।

हम सभी भाई-बहन जो ईश्वर में विश्वास करते हैं और विश्वास के

आधार पर आगे बढ़ना चाहते हैं, जीवन की नीरसता का नाश करना चाहते हैं, उन सभी के लिये बड़ी जरूरी बात है कि थोड़ी-थोड़ी देर के लिये अकेले में बैठें और जिसकी सत्ता स्वीकार की है, जिसको अपना माना है, जिसके प्रेमरस से जन्म-जन्मान्तर के ताप को हम लोग शीतल करना चाहते हैं, उससे प्रार्थना करें। उन्हें पुकारें और उनसे कहें कि हे प्रभु! आपको मैंने अपना माना है, मेरी इस मान्यता को सत्य कीजिये, सार्थक कीजिये। मेरा विश्वास है कि प्रभु उस माने हुए सम्बन्ध का बड़ा आदर करते हैं और हमारी बड़ी बहादुरी मानते हैं। है भी यह बहादुरी की बात। बिना देखे, बिना जाने हुए पर, बिना किसी शर्त के समर्पित हो जाना बड़ी हिम्मत की बात है। मनुष्य की इस बहादुरी पर परमात्मा रीझ जाते हैं। साधक का काम बन जाता है।

अब देखना यह है कि ईश्वर विश्वासी होने के बाद हमारे हृदय में भाव की इतनी गहराई है कि नहीं, कि जब हमें एकान्त में बैठने को मिले और जब हम जगत् की सेवा के रूप में उनकी क्रियात्मक पूजा से अलग होकर अकेले हो जायें तो उस भावात्मक पूजा की घड़ी में प्यारे प्रभु की इतनी याद आती है कि नहीं कि उसमें सारे अनित्य सम्बन्ध डूब जायें? सबकी विस्मृति हो जाये? यदि ऐसा होता है तो उत्तम बात है। भक्ति पंथ की साधना सध गयी। फिर अपने को कुछ भी करना शेष नहीं रहा। प्रिय की याद की मधुरता एवं सरसता में जीवन स्वयं ही प्रवाहमान होकर उद्गम से जा मिलेगा। यह अनुभवी संतजनों का अनुभवसिक्र सत्य है।

अब अपनी वर्तमान दशा देखने से ऐसा लगता है कि भगवत् स्मृति अपने लिए सहज नहीं है। इस कमी को दूर करने का प्रयास हमें करना होगा। क्या करें? उपाय अनेकों हो सकते हैं। इस समय मुझे ऐसा सूझ रहा है कि व्यक्तिगत सत्संग के समय अपने को खूब अच्छी तरह समझा लिया जाए, निश्चय किया जाए। मदद मिलेगी अवश्य।

सोचिये तो सही। दूर देश में रहने वाले अनित्य सम्बन्धियों की याद अपने आप आती रहती है और स्वयं अपने में ही विद्यमान नित्य सम्बन्धी को याद करना पड़ता है। कैसी विडंबना है! हम लोगों को ध्यान रखना चाहिये इस बात पर कि शरीर के सम्बन्ध से जिन्हें हमने सम्बन्धी माना वे सबके सब हमारा साथ निभाने में असमर्थ हैं। उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो सदा के लिए हमारा साथ दे सके। दूसरी ओर जो नित्य सम्बन्धी है, वह सभी का है, सदैव है, वह सदा ही हम सभी का साथ देता है। हमारा लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण करने में समर्थ है। किसी भी समय, किसी भी स्थिति में उसकी याद अपने को आ जाए तो वह तत्काल अपनी विद्यमानता का अनुभव देकर साधक को कृत-कृत्य कर देता है। ऐसे समर्थ प्रभु के होते हुए जीवन सूना-सूना बीत रहा है। इस दशा को मिटाने का उपाय क्या है?

इस दशा को मिटाने का एक उपाय तो यह है कि भाई, जहाँ तक हो सके, अकेले में बैठ करके, अपने को समझा-बुझा कर, विश्वास को सजीव बनाने में जो बाधा डालने वाली बातें हैं, उनको दूर करिये। दूसरा, हारे हुए साधक के लिए एक अन्तिम उपाय और है। वह यह है कि भाई

देखो! अपना जो तुम्हारा विश्वास है, वह बहुत ही दुर्बल है, कमजोर है। अनेक विश्वासों के कारण उसमें बहुत विक्षेप हैं। तो तुम्हारा अभी तक का किया हुआ विश्वास दुर्बल हो सकता है। लेकिन तुम उन सर्व-सामर्थ्वान की कृपा का आश्रय लो और अधीर होकर उन्हीं से कहो कि हे प्यारे! मैं सब प्रकार से विकल्प रहित विश्वास आपमें करना चाहता हूँ, मुझसे किया नहीं जाता। अब हे कुपालु! आप अपनी कृपालुता से अपना दृढ़ विश्वास मुझको दे दीजिये। माँगा जा सकता है कि नहीं? माँगा जा सकता है। और देने वाले दे सकते हैं कि नहीं? दे सकते हैं।

लेकिन मीराजी की तरह हमारे हृदय की पवित्रता ऐसी नहीं है कि एक बार सुन लिया कि , "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरों न कोई" तो वह जीवन का मंत्र हो जाए। प्रह्लादजी की तरह हृदय की ऐसी तैयारी नहीं है कि एक घटना देख ली तो जीवन भर के लिए राम के हो गये। मान लीजिये, हमारी तैयारी उतनी अच्छी नहीं है। हृदय में कुछ गन्दगी भी है, कुछ आसक्ति भी है, थोड़ा राग-द्वेष भी है। हम लोग उसको घटा रहे हैंऋ मिटा रहे हैं। इन विकारों से अपने को मुक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। लेकिन अभी पूरी तैयारी नहीं हुई है। अपनी दुर्बलता, अपनी निर्बलता, अपनी गन्दगी ले करके ही, उन परम सामर्थ्वान की शरण में अपने को डाल करके उन परम कृपालु से उनके दृढ़ विश्वास की भिक्षा माँगे। बड़ा भारी आश्वासन है।

श्री महाराज जी ने हम लोगों को बहुत बड़ा संबल दिया है इस रूप में, और यह कहा कि भैया, प्रभु में विश्वास करना और उनका विश्वास उनसे माँगना दोनों ही समान फलदायक होते हैं। साधन-पथ के हारे हुए साधकों के लिए यह संजीवनी है, पुनर्जीवन देने वाला तत्त्व है। हृदय की नीरसता का नाश करने के लिये जीवन में आस्तिकता का सहारा हम लोगों को लेना चाहिये। सफलता मिलेगी अवश्य।

अब अन्य उपायों को भी देखा जाये। कर्त्तव्य के सहारे भी नीरसता का नाश होता है। ममता और कामना के दोष से अपने को बचाकर जगत् की सेवा में माने हुए सम्बन्ध के निर्वाह के लिए कर्त्तव्य के पालन करने वाले साधक जो होते हैं, उनके भीतर भी सरसता रहती है। उनका जीवन भी सत्पथ पर गतिमान रहता है।

भूतकाल की भूलों को छोड़कर जो लोग वर्तमान में जीवन स्वीकार करते है, उनके भीतर भी सरसता रहती है। प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति को भी जो लोग महत्त्व देते हैं और हर एक कार्य को पूरा करने के बाद दूसरा आवश्यक कार्य आरम्भ करने से पहले थोड़ी-थोड़ी देर के लिए भी शान्त रहने को महत्त्व देते हैं, उन्हें भी जीवन में बड़ी सरसता मालूम होती है। यह बिल्कुल वैज्ञानिक स्तर की बात है। उस शान्ति में भाव-शक्ति की वृद्धि होगी।

जो साधक ज्ञान पंथ के हैं और तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ना पसन्द करते हैं, उनको भी उस शांति की भूमि में स्थिर होना होता है। प्रभु पे्रम के साधक जो पे्रम रस से अभिन्ना होना पसन्द करते हैं, उनमें भी जगत् की सेवा के रूप में, क्रियात्मक पूजा के बाद प्रभु के भाव में आ करके उनकी याद में शांत होना पड़ता है।

मैंने अनुभव करके देखा है कि शांति-संपादन, साधक की सब प्रकार की शक्तियों के विकास के लिए अनिवार्य बात है। शांति के आगे तत्त्व का

बोध और प्रभु पे्रम से अभिन्नाता, किसी साधक की न भी हुई हो तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। अभी तक नहीं हुई है तो ऐसा मत सोचिये कि बाजी हार गये। हार नहीं गये। सही

प्रवृत्ति के बाद, थोड़ी देर के लिए स्वाभाविक निवृत्ति में आप रहिये।

कर्त्तव्यपथ से भी, ज्ञानपथ से भी और पेरमपथ से भी शांति में स्थिर होना इतनी बढ़िया बात है कि उसमें अलौकिक शक्तियों की वृद्धि होती है। विचार का उदय होगा, निज-स्वरूप का बोध होगा। भाव का उदय होगा तो आपका सम्पूर्ण अहं गल करके प्रेम के धातु में परवर्तित हो जायेगा। पेरमास्पद से जुट जायेगा।

ये बातें इतनी स्वाभाविक हैं और इतनी सच्ची हैं कि पढ़े-लिखे और बेपढ़े-लिखे, किसी युग और किसी भी काल, किसी भी देश और किसी भी मत-पंथ के साधक के जीवन में सहज भाव से फलीभूत हो जाती है।

आप प्रभु विश्वासी हैं तो उन्हीं की दी हुई शक्ति, उन्हीं का दिया हुआ बल, उन्हीं के रूप में जगत् की सेवा के द्वारा उनकी पूजा करिये। एक गिलास जल भी किसी प्यासे को पिलाया आपने, तो वह जल का पिलाना बहुत दूर तक आपके साथ रहेगा और आपकी साधना में सहायक होगा। दूसरे को देखने में प्यासे शरीर और जल का संयोग दिखाई देगा। लेकिन आप प्रभु विश्वासी हैं, पूजा के अतिरिक्त दूसरा काम आपको करना ही नहीं हैं तो आपमें कौनसा भाव जगेगा। आपमें बड़ा ही कोमल भाव जगेगा। ध्यान में यह आयेगा कि अहा! मुझमें उदार बनने का शौक था तो मेरे प्यारे मेरे हृदय की उदारता को बढ़ाने के लिये प्यासा बनकर आ गये। क्या जाने, यह आकृति, यह मूर्ति जो मेरे सामने खड़ी है, उसकी पहचान क्या है, कि कौन है? अपने को तो पूजा ही करनी है।

जिसकी पूजा मेरे जीवन का लक्ष्य है, उसी का दिया हुआ हाथ है, उसी का दिया हुआ जल है और उसी का यह प्यारा है, कि स्वयं वही है—कुछ कहा नहीं जा सकता। उसी का प्राणी है तब भी, उसी की सृष्टि का दुःखी व्यक्ति है तब भी, इसमें भी मेरा प्यारा विद्यमान है तब भी और मेरे प्यारे ने ही यह रूप बनाया है तब भी, स्थूल से स्थूल, सूक्ष्म से सूक्ष्म और ऊँचे से ऊँचा भाव ले लो, सब प्रकार से आपकी बहुत ही गहरी साधना बन जायेगी।

भौतिकवादी होकर स्थूल से स्थूल दृष्टिकोण ले लो। अगर आपमें साधना का भाव है तो एक गिलास जल जिस प्यासे को पिलायेंगे, वह जल उस शरीरधारी के शरीर में जाकर जल की कमी को पूरा करने का संतोष देगा, सुख देगा और आपके भाव के साथ वह जल अर्पण किया गया है तो वह भाव, भौतिक सीमा को पार करके आपके पेरमास्पद के पास पहुँच जायेगा। पूजा हो गई। प्यारे की याद आ गई और इस क्रिया का अन्त किसमें हुआ? प्रभु पेरम की अभिव्यक्ति में। जीवन पूर्णता की ओर आगे बढ़ गया। कितनी सहज साधना है। इस क्रिया का अन्त उस भाव में हुआ जिस भाव से कर्त्ता ने कार्य किया था।

श्री महाराज ने एक सूत्र दिया है और यह लिखा है कि "कर्त्ता जिस भाव से कार्य करता है, कार्य के अन्त में वह स्वयं उसी भाव में विलीन होता है।" सेवा प्रवृत्ति प्राप्त सामर्थ् के सदुपयोग द्वारा राग निवृत्ति की साधना है, जिसका फल है—कार्य के बंधन से छूट जाना। सेवा में प्रभु की पूजा का भाव साधक को प्रभु पेरम से अभिन्ना करता है जो उसका जीवन सर्वस्व है।

चाहे शरीर विज्ञान की दृष्टि से, चाहे मनोविज्ञान की दृष्टि से, चाहे भौतिक तत्त्व की दृष्टि से, चाहे ज्ञानपंथ से, चाहे पेरम-पंथ से, आपके सीमित अहंरूपी अणु में जो ऊर्जा है, म्दमतहल है सपमि वितबम है अर्थात् जीवनी शक्ति है, वह हर प्रवृत्ति के बाद आ करके निवृत्ति में लय होती

है। आप किसी मत अथवा पंथ के हो, इससे कोई मतलब नहीं है। यह वैज्ञानिक सत्य है, यह दार्शनिक सत्य है, यह आस्तिकता है। आप करके देखिये, बड़ा अच्छा लगेगा।

मैं कहती हूँ कि शरीर के साथ रहते-रहते भी व्यक्ति अगर व्यक्तित्व का संतुलन रख सकता है तो उसके भीतर अन्त£नहित शांति की अभिव्यक्ति का आनन्द उसको आ जाता है। जब वह शरीर के लगाव से छूट जायेगा, चाहे ज्ञानस्वरूप हो करके ज्ञानस्वरूप से मिल जाये, चाहे पे्रम के धातु में परिवर्तित होकर पे्रमस्वरूप से अभिन्ना हो जाए तो उसके आनन्द और रस की क्या सीमा रहेगी? जिन-जिन महानुभावों ने उस जीवन का अनुभव किया, उन सबने हम लोगों को सलाह दी कि भाई! वास्तविक जीवन का आनन्द और रस अकथनीय है। उसका कथन नहीं हो सकता। एक ज्ञानपंथ के संत ने एक ग्रन्थ में अपना अनुभव लिखा है। पहला ही वाक्य लिखा है कि 'यह' और 'वह' दोनों एक साथ मेरी दृष्टि में नहीं आये। आगे उन्होंने बताया कि अपने में ही विद्यमान जो नित्य जीवन है, उसकी अभिव्यक्ति मात्र में यह सारा संसार और सब कुछ खत्म हो जाता है।

पे्रम पंथ के साधकों ने भी कहा और ज्ञानपंथ के साधकों ने भी कहा कि सत्य की स्मृति मात्र से, प्रभु की प्रीति की अभिव्यक्ति मात्र से, वास्तविकता से अभिन्ना होने की उत्कंठा मात्र से इतनी सरसता जीवन में भर जाती है कि हमेशा-हमेशा के लिए साधक कृत-कृत्य हो जाता है। ऐसा होता है।

अब अपनी ओर देख लीजिये। अगर हम लोगों को हृदयशीलता को बढ़ाये बिना अपना विकास रुका हुआ लगता है तो जो-जो तथ्य आपके सामने आवें उनको आप सोच-विचार कर देखिए और वर्तमान में जिसका अनुसरण आपको सहज स्वाभाविक लगे, उसका अनुसरण कीजिये। सार की बातें अलग-अलग आपकी सेवा में निवेदन करती जा रही हूँ। अपने को भी समझा रही हूँ। आपकी पूजा कर रही हूँ। आप सुन रहे हैं। जो बात आपको अच्छी लग जाये, अपने लिये जंच जाये, आज से ही उसका अनुसरण आरम्भ जरूर कर दें। शरीर के नाश से पहले हमारी तैयारी इतनी हो जाये कि अपने ही में विद्यमान की विद्यमानता का प्रत्यक्ष अनुभव पा करके हम मस्त हो जायें। जीवन अपना पूर्ण हो जाये और बाद में शरीर का नाश कब हुआ, सो अपने को पता ही नहीं चले। हो जायेगा जरूर।

थोड़ी-थोड़ी सरसता बढ़ने लग जाती है, उतने ही में बड़ा बल आ जाता है, बड़ा विश्वास बढ़ जाता है, धीरज आ जाता है। अपने को इत्मिनान हो जाता है कि हाँ, यह ठीक है। ऐसा करने से काम बन जायेगा। जल्दी जल्दी प्रगति हो जाती है। इसलिये हम लोग चेष्टा जरूर करें। सफलता मिलेगी अवश्य! अब आप शांत हो जायें।

प्रवचन 44

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

शांतिमय निर्विकार अविनाशी जीवन की माँग मानव मात्र की मौलिक माँग है। अनुभवी संत के मुख से मैंने ऐसा सुना है कि अशांति से पीड़ित रहने वाले व्यक्ति के भीतर परमशांति की माँग रहती है। जिसको परमशांति की माँग होती है, उसको इस बात में विश्वास करना चाहिये कि शांतिमय जीवन का अस्तित्व है, और वह मिल सकता है। इसी प्रकार निर्विकार होने की आवश्यकता मनुष्य को है, तो उसे इस बात में विश्वास करना चाहिये कि निर्विकार जीवन है और मुझे मिल सकता है।

जिस अविनाशी जीवन की माँग हम सभी अनुभव करते हैं, उस अविनाशी जीवन की सत्ता में विश्वास करना, हमारा आपका वर्तमान का पहला पुरुषार्थ है। अब कोई भाई ऐसा हो कि साधन तो करता रहे और यह मानता रहे कि निर्विकार जीवन होता ही नहीं है तो फिर सफलता संभव नहीं है। जिसके बारे में आप अपने भीतर से निस्संदेह नहीं होंगे, उसकी ओर आपका प्रयास सजीव कैसे होगा।

साधकों के कल्याण के लिये अनुभवी संतों ने बड़े जोर से हम लोगों को विश्वास दिलाया कि ऐसा मत सोचो कि तुमको बनाने वाले परमात्मा ने तुम्हारे भीतर माँग पैदा कर दी और उसकी पूर्ति का विधान नहीं बनाया। मनुष्य अपनी कामनाओं के सम्बन्ध में अपने जीवन काल में ऐसा अनुभव करता है कि कामनायें उत्पन्ना होती रहती है, और उनकी पूर्ति नहीं होती है। इस आधार पर अन्दाज नहीं लगाना चाहिये कि माँग की पूर्ति नहीं होती। कामना और माँग दोनों में अंतर है। कामना कहते हैं उसको जो 'स्व' से 'पर' की ओर हमें खींच ले जाये। अपने से भिन्ना की जरूरत अनुभव करो, तो उसका नाम है—कामना अथवा इच्छा। इच्छा पैदा हुई नहीं कि व्यक्ति अपनी स्वाभाविक शांति से अशांति में कूद पड़ता है। गतिशीलता उत्पन्ना हो जाती है। चिन्तन उत्पन्ना हो जाता है। पराधीनता आ जाती है। अतः जो परिश्रम में डाल दे, पराश्रित बना दे, उसका नाम है—इच्छा। इसके विपरीत जो अपने में है, और स्वतः ही अभिव्यक्त होती है, जिसका नाश नहीं होता, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है, जो सब दुःखों का नाश कर देती है, जो परिश्रम और पराश्रय से मुक्त करा देती है, उसका नाम है माँग। इच्छाओं के सम्बन्ध में यह विधान है कि सभी इच्छायें किसी की पूरी नहीं होती हैं, परन्तु माँग के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। माँग कहते ही उसको हैं जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। यह मानव-जीवन का मंगलमय विधान है। माँग को जाग्रत रखना, उसे सजीवन बनाना उसकी तीव्रता को बढ़ाना, हमारा पुरुषार्थ है, और उसकी पूर्ति का सारा प्रबन्ध परमात्मा के मंगलमय विधान से होता है।

शरीर और संसार के सहयोग से जीना, मेरे लिये संतोषदायक नहीं लगा। मैंने अपनी दयनीय दशा को जब संत के सामने रखकर बार-बार निवेदन किया कि सुख-दुःख का द्वन्द्व कैसे मिटेगा? तब उन्होंने मुझको विश्वास दिलाया जिससे मुझे बड़ा बल मिला। उन्होंने कहा कि ऐसा मत सोचो, कि परमात्मा ने दुःख-रहित जीवन की माँग तुम्हारे भीतर जगा दी और उसकी पूर्ति का इन्तजाम नहीं किया। सत्य की माँग है, तो तुम्हें मान ही लेना चाहिये कि सत्य की सत्ता भी विद्यमान है। अज्ञानता के, भ्रम के दुःख से तुम दुःखी हो, भ्रम निवारण के लिये तुम्हें ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता है, तो तुम इस बात को मान ही लो कि स्वयं प्रकाश, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा विद्यमान है। ऐसा हो नहीं सकता कि मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश चाहिये और हमेशा के लिये उसके सामने अंधकार ही बना रहे। भाई, सच्ची बात तो यह है कि ज्ञानस्वरूप परमात्मा विद्यमान है, इसलिए तुमको उसकी आवश्यकता मालूम होती है। इसलिए तुम उस ज्ञानस्वरूप की सत्ता में विश्वास करो कि वह है। उसकी विद्यमानता में जब निस्संदेहता रहेगी तभी उसके लिये सजीव प्रयास चलेगा।

सत्यस्वरूप जीवन है। ज्ञानस्वरूप और पेरमस्वरूप परमात्मा है। जो

साधक इस सत्य में विश्वास करेगा, वही जीवन के मौलिक प्रश्नों को हल कर सकेगा। जीवन के मौलिक प्रश्न मानव मात्र के सामने आते

हैं। प्रत्येक सजग भाई-बहन जानना चाहता है कि वर्तमान अशांति कैसे मिटे? दुःख-रहित जीवन कैसे मिले? मृत्यु के भय से मुक्ति कैसे मिले? नीरसता के नाश के लिए पवित्र पे्रम रस कैसे मिले? आदि-आदि। ये सभी समस्यायें हल हो जाती हैं जब साधक दिव्य, चिन्मय, रस-रूप जीवन की सत्ता में विश्वास करता है।

सबसे पहले जब मैं श्री स्वामीजी महाराज के पास पहुँची तो उन्होंने मुझसे पूछा—कि तुम्हारे जीवन में कोई दुःख है क्या? मैंने कहा कि हाँ महाराज, बड़ा भारी दुःख लेकर आयी हूँ। क्या दुःख है? उस समय जो मेरी फीलिंग थी, वह मैंने कह कर सुनाई—जो चाहती हूँ सो होता नहीं है, जो होता है वह भाता नहीं है, जो भाता है सो रहता नहीं है, यह भी कोई जिन्दगी है? ऐसी जिन्दगी को लेकर मैं क्या करूँ? ऐसी जिन्दगी का भार मैं क्यों ढोऊँ? मुझे अपना दुःख बताने में कुछ समय लगा, क्योंकि मैंने अपना हाल विस्तार से सुनाया। परन्तु स्वामीजी महाराज ने एक ही वाक्य में मुझे उत्तर दे दिया। उन्होंने कहा कि लाली, जब तुम्हारा ही अनुभव है कि जो चाहती हो सो नहीं होता, तो चाह छोड़ क्यों नहीं देती? कितना सही और अकाट्य उत्तर मिला।

उसके बाद मैंने फिर पूछा कि मेरे सामने जो दशा है उसको ढोने के लिए मैं विवश क्यों हूँ? अनचाही दुःखद बातें होती रहती है, और मुझे विवश होकर दुःख सहन करना पड़ता है। ऐसा क्यों? उस समय तक मैं सृष्टिकर्त्ता को ही दोष लगाया करती थी, कि ऐसा संसार उन्होंने क्यों बनाया? दुःख भरे संसार में उन्होंने मुझे क्यों भेजा? अपनी मर्जी से उन्होंने सृष्टि बनायी और मुझे उसमें रख दिया है। सुख-दुःख का द्वन्द्व मुझसे सहन नहीं होता है। मुझे नापसंदगी की जिन्दगी जीने के लिए क्यों बाध्य किया है। ये सारी बातें स्वामीजी महाराज को मैंने सुना दी। अब संत-समागम आरम्भ हुआ। उन्होंने कहा कि भाई, बात ऐसी नहीं है, तुम्हारा सोचना बिल्कुल ही गलत है। तुमको शांति चाहिये तो तुम्हारे रचयिता में शान्ति तत्त्व विद्यमान है। तुमको अमर जीवन चाहिये तो निर्माता में अमरत्व विद्यमान है। तुमको पे्रम का रस चाहिये तो पे्रमस्वरूप परमात्मा विद्यमान हैं। तुम्हारे भीतर जिस जीवन की माँग है, वह पहले से ही विद्यमान है। तुम विश्वास करो कि जीवन उसी को कहते हैं, जिसमें दुःख, अभाव और नीरसता नहीं है, प्रत्युत शांति, अमरत्व और सरसता है। चिरशांति, परम स्वाधीनता और अनन्त रस से भरा हुआ जो है, उसी का नाम जीवन है, और जिस दुःख का भार तुम ढो रही हो वह तुम्हारी भूल के परिणाम से उपजी हुई दशा है। अब तुम अपना चित्र देखो—तुमने भूल-जनित दशा को तो जीवन मान लिया और जो जीवन है, उसमें संदेह कर लिया। चैन कहाँ से आये? सुनकर मेरी आँखें खुल गयी। सचमुच कैसा भ्रम है। आदमी यों ही कहता रहता है कि जीवन बड़ा दुःखमय है, बड़ा जंजाल है। सोचो तो सही! जीवन कभी दुःखमय होता है? और जो दुःखमय होता हैं, क्या उसको जीवन कहते हैं? अरे भाई, जो सत्य होता है, सनातन होता है, रसमय होता है, उसी का नाम जीवन है।

श्री स्वामीजी महाराज ने जो जीवन की परिभाषा बतायी वह मुझे बहुत पंसद आयी। वैसा जीवन मुझे अवश्य चाहिये था। मैंने कहा, अच्छी बात है। उस समय की जो मेरी दशा थी, उसमें एक प्रतिशत भी मेरे पसन्द आने लायक कोई बात नहीं थी। परन्तु श्री महाराजजी की बात से मुझे यह मालूम हो गया कि जिसमें अप्रिय लगने लायक कोई बात ही नहीं है, उसी को जीवन कहते है, और वह जीवन विद्यमान है, इस उत्तर से मुझे बड़ा धीरज मिला। मैंने तुरंत उनसे पूछा, स्वामीजी

महाराज, मैं जानना चाहती हूँ कि जिस जीवन की परिभाषा आपने बतायी, वह किसको मिलता है। बड़ा सजीव प्रश्न था मेरा। वस्तुतः मैं जानना चाहती थी कि जीवन जिनको मिलता है, उनमें मैं स्वयं शामिल हो सकती हूँ कि नहीं। उन्होंने एकदम उत्तर दिया कि वह सबको मिलता है। इस उत्तर के सुनते ही मुझ में आशा का संचार हो गया। जैसे ही श्री महाराजजी के मुख से निकला कि वह जीवन सबको मिलता है तो मुझे आगे पुरुषार्थ करने का आधार मिल गया। फिर कभी मुझे संदेह नहीं हुआ। ऐसा लगा कि ये संत जो कह रहे है, वह सच्ची बात है। मुझे बहुत पसंद आया। मैंने सोचा कि सबको मिलता है, तो मुझे भी मिल सकता है। ठीक है भाई! दुःख का भार ढोने से छुट्टी मिल सकती है, तो इससे बढ़िया बात और क्या होगी? मैं बहुत प्रसन्न हो गयी।

अब अगला प्रश्न उठा मेरे भीतर, मैंने पूछा, महाराजजी, कैसे मिलता है? प्राप्ति का उपाय भी मुझे चाहिये था। उत्तर मिला—पसन्द करने से। तुम पसंद करलो उस जीवन को, मिल जायेगा। अब आप देखिये मेरा पहला प्रश्ना था? जीवन है कि नहीं? उत्तर मिला—है। दूसरा प्रश्न उठा, किसको मिलता है? उत्तर मिला—सबको मिलता है। तीसरा प्रश्न हुआ, कैसे मिलता है? उत्तर आया—पसन्द करने से। मेरे तीन प्रश्नों के श्री महाराजजी ने अत्यन्त निश्चयात्मक तीन उत्तर जो दिये तो उसी क्षण में, उसी जगह पर, मेरा दिल-दिमाग एकदम शांत हो गया। मृतक को संजीवनी अमृत-घूँट जैसे मिल गयी। आप मेरी दशा का अनुमान लगाइये कि किस प्रकार जीवन की तीव्र जिज्ञासा लेकर मैं श्री महाराजजी के पास आयी थी। सुख-दुःख के द्वन्द्व की पराधीनता मुझे असह्य थी। प्रतिकूलतायें सहन नहीं होती थीं। अनुकूलताओं में ठहराव नहीं था। भीतर का अभाव सताता रहता था। परित्राण कहीं दिखता नहीं था। मैं व्यग्र थी यह जानने के लिये कि नापसंदगी की दशा मिटती भी है कि नहीं? दुःख, अभाव और पराधीनता से मुक्त जीवन होता भी है कि नहीं? मात्र डिग्री तक के अध्ययन के क्रम में मेरे भीतर के इन ज्वलन्त प्रश्नों का समुचित उत्तर मुझे नहीं मिला था।

सब ओर से निराश होकर संत के पास आयी थी। भरी सभा में मैं प्रश्न करती गयी, श्री महाराजजी उत्तर देते गये। मेरी बेकली शांत होती गयी। जैसे डूबते हुए को जरा-सा भी सहारा मिले, तो वह बड़े जोर से उसको पकड़ लेता है, वैसे ही श्रीमहाराज के उत्तर मेरे द्वारा कस कर पकड़ लिए गये। बिना प्रयास ही उनके उत्तर मेरे अहम् में अंकित हो गये। मुझ में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया। आगामी साधन के क्रम में मुझे बड़ी सहायता मिली। आप अंदाज लगा सकते हैं, कि मेरा कितना बड़ा काम उस एक ही बार के संत-समागम में हो गया। दुःख मिटाया जा सकता है, परम पे्रम के रस से भरपूर सरस जीवन मिल सकता है। इस सम्भावना से ही मुझ में नवजीवन का संचार हो गया। इसी आधार पर जब आप आत्मीय भाई-बहनों से मैं निवेदन कर रही हूँ कि दुःख, अभाव और मृत्यु को अंगीकार मत करिये। जिस दिव्य, चिन्मय, रस रूप जीवन की आप में माँग है, वह अवश्य पूरी होगी।

श्री महाराजजी की अपनी खोज है—कि माँग कहते ही उसे हैं जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो। मेरे साधनयुक्त जीवन का यह पहला अध्याय पूरा हुआ।

अब दूसरा अध्याय सुनिये। उसमें क्या है? श्री स्वामीजी महाराज की बातों को सुन करके, मैंने दृढ़तापूर्वक निश्चय किया कि ये महात्मा जो कहते हैं, सो जरूर करूँगी। इनके पास जो

अलौकिक अनुभव है, सो मुझे मिल जायेगा। पुरुषार्थ आरम्भ हुआ, साधन के क्रम में प्रवेश करने के बाद श्री महाराजजी के वचनों के अनुसरण करने की चेष्टा आरम्भ हुई। संत के वचनों को मैंने पूरा का पूरा मान लिया, ऐसा तो नहीं कह सकती। परन्तु मुझे कुछ पता नहीं चला कि मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व कब उन महात्मा के प्रभाव से इतना प्रभावित हो गया कि सोचने, विचारने और जाँच-पड़ताल करने का कोई मौका ही नहीं लगा।

मानव जीवन ऐसा विलक्षण है, कि मैं क्या बताऊँ आपको? मैंने

विधि-विधान से नित्य प्रति कोई कठिन साधना की हो, ऐसी बात नहीं है। केवल जीवन के प्रति एक गहरी जिज्ञासा थी, उसी से मेरी पृष्ठभूमि ऐसी तैयार हो गयी थी कि मैं समस्यायें बताती रही, श्री महाराजजी परामर्श देते रहे, मेरा समाधान होता गया। केवल एक-एक बार मैंने प्रश्न रखे और उत्तर मिले, तो फिर जीवन में कभी भी दुबारा ये प्रश्न नहीं उठे। संदेह सदा के लिए मिट ही गया। यह संत-समागम एवं सत्संग की महिमा है। ललित भाषा और सरल शैली में सत्संग की महिमा कहकर सुनाना सीखा मैंने पीछे और सत्संग के प्रभाव से जीवन सुधर गया पहले।

मैं साधन के क्रम में जिसको दूसरा अध्याय कह रही हूँ, उसमें बहुत बढ़िया बात मेरे सामने आयी। वह क्या, कि नित्य जीवन विद्यमान है, एक ज्ञानस्वरूप, प्रेमस्वरूप, आनन्दस्वरूप और नित्य तत्त्व विद्यमान है। उसकी विद्यमानता का यह प्रभाव है कि हम लोग उस नित्य जीवन की आवश्यकता अनुभव करते हैं। अतः हमें उसकी सत्ता में दृढ़ आस्था रखनी चाहिये। हमारी माँग पूरी होगी अवश्य।

अब आप यह देखिये, चूंकि वह प्रेमस्वरूप परमात्मा, अपना प्रेम देकर मुझको आनंदित करने के लिए लालायित हैं, इसलिए उसके प्रेम की प्यास मुझ में जगती है। अपनी भूल-जनित दशाओं में फँस करके हम सब जब तड़पने लगते हैं, तो हम लोगों को उस दुःख में से उबारने के लिए वे मंगलकारी अपना संदेशा भेजते हैं—याद दिलाते हैं। मौन निमन्त्रण भेजते हैं। बहुत प्रकार के इन्तजाम करते हैं। ऐसा होता है। नाशवान संसार की आसक्ति में क्षण-भंगुर शरीर के नाश के भय से भयभीत होने वाला व्यक्ति, धन के चले जाने से उसके वियोग से पीड़ित होने वाला व्यक्ति, जिससे तन, धन और पद के छूट जाने से पीड़ित हो गया, परेशान हो गया। इस प्रकार अपने ही भ्रम के कारण जो पीड़ित हो गया है, उस व्यक्ति को देखकर करुणा-सागर जगत्-पिता और करुणामयी, महिमामयी जगत्-जननी माँ अत्यन्त द्रवित हो जाते हैं। हमारी छटपटाहट और झूठ-मूठ दुःख में पड़े रहना, उनसे सहन नहीं होता है। वे चाहते हैं कि उनके बच्चे दुःख से मुक्त हो जायें, तो उनके इस शुभ संकल्प से हमारे भीतर जागृति आ जाती है। वे देखते हैं कि उनके पास अमृत का अगाध सागर लहरा रहा है और उन्हीं का बच्चा रस का प्यासा संसार में भटक रहा है। सहज करुणा से प्रेरित होकर वे अपनी याद दिलाते हैं, तो हम लोगों को उनकी याद आती है।

जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण बदल गया। थोड़े ही दिनों के बाद, मैं जीवन को अधिक कोमल भाव से देखने लगी। पहले प्रवचन में यह बात आयी थी कि मुझमें जीवन की माँग है तो उसकी पूर्ति का विधान भी है। अब यह सत्य स्पष्ट हो गया कि नित्य जीवन पहले से विद्यमान है, इसलिए हम लोग उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। हम उनसे विमुख होकर, नीरसता की पीड़ा सह रहे

हैं। हमारी पीड़ा उनसे सही नहीं जाती है। उनमें करुणा उद्वेलित होती है, उसकी प्रतिक्रिया है कि हमें उनकी याद आती है। सचमुच मैं ऐसा फील करने लगी, अनुभव करने लगी थी। आपका मन बहलाव नहीं कर रही हूँ, मुझे ऐसा ही सूझने लगा कि उनकी करुणा के बिना यह बात हो नहीं सकती थी। आप सोचिये न! विविध प्रवृत्तियों में फँसे हुये आदमी को थोड़ी-थोड़ी देर में चेतना आती रहती है। आदमी सोचता है कि इतने दिन बीत गये भजन किया ही नहीं, भजन की, भगवान की याद हम लोगों को बीच-बीच में आती रहती है। सुख भोग में फँसे हुए मनुष्य के भीतर चेतना जगती रहती है कि अरे भाई! आज शरीर स्वस्थ है, खाने, पीने, खेलने का सुख मिल रहा है, आगे चलकर शरीर रोगग्रस्त हो जायेगा, अंग-अंग शिथिल हो जायेगा। अपना कोई वश न चलेगा, तब क्या करेंगे? इस प्रकार का चिन्तन होता रहता है। संतजनां के, भक्तजनों के एवं अपने अनेकों एजेन्ट्स के द्वारा परमात्मा हम लोगों को ये सूचनायें भेजते ही रहते हैं कि होश में रहो। कहाँ भटक रहे हो? कहाँ फँसे हुए हो?

अब मैं ऐसा कहती हूँ चंूकि वे अनन्त परमात्मा विद्यमान हैं और उनमें अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द और पे्रम-रस की अनन्त मधुरता है। इसलिये वे अपनी सारी विभूतियों को लेकर हम सब लोगों के जीवन को उस रस से आप्लावित करना पसंद करते हैं। यह उनकी कृपालुता है, जो हम लोगों को भवजाल में फँसी हुई दशा में भी सचेत करती रहती है। यह उनके पे्रम का प्रभाव है कि हमारे भीतर उन पे्रम स्वरूप परमात्मा से रस पाने का और उनको रस देने का एक भाव उदित होता रहता है। ऐसा जब से मेरे ध्यान में आया तब से जीवन के प्रति एक उत्साहपूर्ण मनोवृत्ति बन गयी।

संत की शरण में बैठकर जीवन की चर्चा सुनने के बाद और बहुत सोच-विचार करके विश्वास-पथ की साधना आरम्भ करने के बाद, मेरा सब पुराना दुःख मिट गया। अब आप सोचिये! प्रायः साधकों के भीतर-भीतर परमात्मा से दूरी प्रतीत होने के कारण निराशा आती रहती है। वे भीतर ही भीतर सोचते रहते हैं, क्या जाने परमात्मा कहाँ है? क्या जाने वे किस साधना से, किस विधान से मिलते हैं? क्या जाने अपने को कब मिलेंगे? कि नहीं मिलेंगे? इस तरह की निराशा की छाया घेरे रहती है। संदेहकाल में मेरी भी ऐसी ही दशा थी। संत-समागम के बाद वह निराशा की छाया भी मेरे सामने से सदा के लिये हट गई।

अब साधना के क्रम का तीसरा अध्याय आरम्भ हुआ। मुझे बड़ा सहारा मिल गया। किस आधार पर? कि भाई, मैं निर्दोष हो जाऊँ। मेरे भीतर कोई विकार न रह जाये। मैं निज स्वरूप से अभिन्ना हो जाऊँ। मैं परमात्मा के प्रेम से भर जाऊँ। यह आवश्यकता केवल मेरी नहीं है। यह उस सत्य-संकल्प का भी संकल्प है। मुझे पता कैसे चला? स्वमीजी महाराज ने जीवन का मन्त्र मुझे पढ़ा दिया। उन्होंने कहा कि मानव-हृदय की रचना प्यारे प्रभु ने अपने पे्रम-रस के आदान-प्रदान के लिये की है। इस उद्देश्य की पूर्ति में वे हर प्रकार से सहायता करते हैं। तुम एक बार हृदय से अपने को भगवत् समर्पित कर दो। कह दो, हे प्रभु! मैं तेरी, वे सँभाल लेंगे, तुम शंकालु हृदय से भी कहोगी तो भी वे सँभाल लेंगे। तुम्हारा भाव कच्चा होगा तो भी वे अपनी ओर से उसे पक्का करा देंगे। तुम्हें पकड़ लेंगे कसके, फिर छोड़ेंगे नहीं। वे अपना बनाकर छोड़ना जानते ही नहीं हैं। कितनी बढ़िया बात है। इतना सुनकर फिर मैंने अपनी बुद्धिमानी लगायी। मैंने कहा कि स्वामीजी महाराज! मैं कहती रहूँ कि हे प्रभु! मैं

तेरी, हे प्रभु! मैं तेरी, तो इतने से काम बनेगा? मुझे भगवान की बड़ी भारी जरूरत मालूम होती है। दुनिया में असहायता मुझे सता रही है। सुख-दुःख का भार मुझसे ढोया नहीं जाता है। इस कारण मुझको उनकी बड़ी जरूरत है। मैं कह सकती हूँ कि हे प्रभु! मैं तेरी। लेकिन मुझसे बहुत अच्छे-अच्छे उनके न जाने कितने भक्त हैं, मेरी बात उन्होंने नहीं सुनी तो? तब तो यह व्दम.पकम त्मसंजपवद एकतरफा सम्बन्ध मुझको पसन्द नहीं है। देखिए, मैं बात नहीं बना रही थी। एकदम भीतर से बड़ी जोरदार दुविधा थी मुझमें।

मैं सोचने लगी थी कि यह भी कोई बात है? मैं निहोरा करती रहूँ, पुकारती रहूँ और उनको फुरसत ही नहीं हो, न सुने तो? मैंने पहले से सुन रखा था, परमात्मा के बारे में, कि वे सब प्रकार से पूर्ण हैं! मैं यही सोच रही थी कि मुझे अभाव है, इसलिए मैं उनकी आवश्यकता अनुभव करती हूँ। वे सब प्रकार से पूर्ण हैं तो उन्हें मेरी बात सुनने की जरूरत नहीं है। क्या जरूरत है? जो स्वयं सब प्रकार से पूर्ण है। उसको कोई जरूरत है नहीं। उन्होंने मेरी बात नहीं सुनी तो? पे्रम स्वरूप परमात्मा के परम-मित्र श्री स्वामीजी महाराज ने मेरी बात सुनकर अपने हृदय को थाम लिया। उनके प्यारे प्रभु के स्वभाव के विपरीत चर्चा सुनकर, इतनी वेदना हुई उनके कि आँखों से एकदम आँसू झरने लगे। बड़ी मुश्किल से अपने को संभाल करके श्री महाराजजी मुझसे कहने लगे कि देवकीजी! ऐसा सोचना तुम्हारा बिल्कुल निराधार है, गलत है। ऐसा नहीं है लाली! ऐसा क्यों सोचती हो? मनुष्य और परमात्मा के बीच के

सम्बन्ध को तुमने क्या समझा है? तुम्हारा कहना सही नहीं है। सच्ची बात तो यह है, तुमको उनके प्रेम-रस की जरूरत है तो उनको भी तुम्हारी जरूरत है। मैंने पहली बार जब यह सुना तो बहुत आश्चर्य हुआ और बहुत आश्वासन मिला। श्री स्वामीजी महाराज ने एक उदाहरण देकर इस विचार को संपुष्ट किया। उन्होंने कहा कि एक छोटा-सा नया पैदा हुआ बच्चा माँ की गोद में है। हर प्रकार से उसको माँ की जरूरत है। माँ दूध पिला दे, कपड़े संभाल दे, गोदी में रखकर रक्षा करें, सर्दी-गर्मी से बचाये, वात्सल्य-पे्रम से उसका पोषण करे और अनेकों प्रकार के शिक्षण दे। इन सारी बातों के लिये बच्चे को वात्सल्यमयी माँ की बड़ी भारी आवश्यकता है। लेकिन सोचो तो सही। क्या माँ को बच्चे की आवश्यकता नहीं है? साधना की दृढ़ता के लिये जीवन सम्बन्धी चिंतन में, आगे एक नया चित्र खुला। खुले कानों से मैंने सुना और मुक्त हृदय से उसका स्वागत किया। संत कहते जा रहे थे—माँ की गोद में अगर बालक न हो तो मातृ-हृदय की वत्सलता का जो रस है, वह सार्थक कैसे होगा? अगर गोद में बालक न आवे, तो कोई माँ, माँ बन सकती है? माँ के हृदय की कोमल भावना जो है, वह शिशु के होने से ही सार्थक है।

सब प्रकार से असमर्थ बालक अगर माँ की गोद में न हो तो माँ की महिमा और किसके काम आयेगी? माँ की महिमा माँ के स्वयं के काम आयेगी क्या? हृदय का पे्रम-रस दूध के रूप में पिलाकर, माँ बच्चे को पिलाती है। सेवा, त्याग और पे्रम की प्रतीक है—माँ। उसकी ये सब विशेषतायें शिशु के काम आती हैं। इस दृष्टि से माँ की बड़ी महिमा है। उस महिमा से पोषित होने के लिए, पूरित होने के लिये, धन्य और कृतज्ञ होने के लिये कोई शिशु चाहिये कि नहीं चाहिये? श्रीस्वामीजी महाराज ने ऐसा उदाहरण देकर मुझको विश्वास दिलाया कि अरे भाई, तुम्हीं को प्यारे प्रभु की जरूरत है, ऐसी बात नहीं है। यह व्दम.पकमक त्मसंजपवद नहीं है। यह रिलेशन तो दोनों तरफ से है और साधक की तरफ से जितना

है, उससे असंख्य गुणा अधिक परमात्मा की तरफ से है। क्योंकि हम अपनी तरफ से मानते हैं कि हम प्रभु के हैं परन्तु वे सर्वज्ञ भली-भाँति जानते हैं कि हम उनके हैं।

साधक प्रारम्भ में प्रभु के प्रति अपनेपन का भाव धारण करता है तो वह अपनापन बहुत ही दुर्बल होता है। लेकिन परमात्मा की ओर से साधक के प्रति जो अपनत्व का भाव आता है, वह बड़ा ही प्रबल होता है। उसकी क्षति नहीं होती। वह कभी घटता नहीं है। वह साधक के जीवन को मधुर रस से आप्लावित कर देता है। अब तुम अपने और उनके बीच के सम्बन्ध को व्दम.पकमक त्मसंजपवद मत कहना।

श्री महाराजजी के समझाने से मेरे भीतर ऐसा लगा कि यह बात बिल्कुल सच्ची है। मुझे परमात्मा का आश्रय चाहिये, तो उन्हें भी मुझ जैसे आश्रित चाहिये। उनको मेरी जरूरत इस रूप में है कि मुझ पतित का उद्धार करेंगे तो उनका पतित-पावन नाम सार्थक होगा। यह सोचकर मुझ में बड़ी निश्चिन्तता आ गयी। भीतर बड़ा बल भर गया, बहुत बढ़िया बात हो गयी। संत कबीर का एक प्रसंग याद आ गया—"भगत बछल जब हरि सुने दिया कबीरा रोय, अधम उधारन जब सुने गया कबीरा सोय।" प्रभु का नाम भक्त वत्सल है, यह सुनकर संत कबीर रोने लगे कि भाई, जो भक्त होगा, उसको वे मिलेंगे। फिर किसी ने कहा, नहीं कबीरजी, ऐसी बात नहीं है। प्रभु का नाम केवल भक्त वत्सल नहीं है। उनका नाम "पतित पावन" भी है, 'अधम उधारन' भी है। यह सुनकर संत कबीर चादर तानकर सो गये कि अब कोई चिन्ता की बात नहीं है, यदि भक्त होने के नाते हम उनके पास नहीं पहुँच सकते तो अधम होने के नाते हम उनसे जुट ही जायेंगे। मैं अधम हूँ तो वे अधम उधारन है। मैं पतित हूँ तो वे पतित पावन हैं। मैं दीन हूँ तो वे दीन बन्धु हैं, मैं दुःखी हूँ तो वे दुःखहारी हैं। संत की ये बातें मैंने अपने साधन-पथ के पाथेय के रूप में

संजोली। आशा जग गयी, विश्वास बन गया। मैंने सोच लिया, जब दोनों तरफ से सम्बन्ध है, तो मेरी पुकार निरर्थक नहीं जायेगी। मैं पुकारूँगी तो वे सुनेंगे तो जरूर। मेरे जीवन में यह बात अच्छी तरह बैठ गयी और मेरा बहुत बड़ा उपकार हो गया।

मनुष्य के जीवन में दुःख, अभाव और नीरसता के दर्शन होना बड़ा ही शुभलक्षण है। क्योंकि इनसे परित्राण पाने की सजगता आते ही, जीवन के मंगलमय विधान से संत-समागम एवं सत्संग अप्रयास ही उपलब्ध होता है। मैंने संत-वाणी में ऐसा सुना है और अपने जीवन में अनुभव किया है। सुख-दुःख का चक्र चलता ही रहता है। उनके थपेड़े खाकर अधीर हुआ व्यक्ति अपने लिये आश्रय खोजता है। संसार के सम्बन्धियों में माता-पिता, पति और पुत्र, निकटतम सम्बन्धी माने जाते हैं। इनकी असमर्थता अथवा इनके अभाव में अनाथपन की पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति, सत्संग के प्रकाश में अपने परम आश्रय का परिचय पाकर सदा-सदा के लिए सनाथ हो जाता है। साधना के क्रम में अपने ही विकारां का नाश करने की चेष्टा में साधक जब हारने लगता है, तब करुणामय की करुणा का दरवाजा खुलता है। बिना पुकारे भी वे अलख-अगोचर अदृश्य रूप से तत्काल ही साधक को उबार लेते हैं। यह जीवन का मंगलमय विधान है। श्री स्वामीजी महाराज का अनुभूत सत्य है। इसका चमत्कार मैंने अनुभव किया है। इससे साधक को परम लाभ होता है। मेरे प्रभु मेरे अत्यन्त निकट है और बिना पुकारे भी गाढ़े संकट से उबार लेते हैं—इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर

असमर्थ से असमर्थ साधक भी आश्वस्त हो जाता है।

आप देखिये, सत्य के पंथ में पराजय भी विजय है। बहुत बड़ी बात है। अपने दोषों को मिटाने में अपना बल काम नहीं करता है तो असमर्थता की वेदना से अहम् का अभिमान गलता है। अहम् शून्य होते ही अपने में विद्यमान सत्य अभिव्यक्त होता है। साधक अपनी साधना में बहुत आगे बढ़ जाता है, और उसे अभिमान भी नहीं होता है कि मैंने अपने को निर्दोष बना लिया। कैसी अनुपम करुणा है? साधक को पवित्र भी बना दिया और पवित्र होने के अभिमान से भी बचा लिया। इस प्रकार अहम् शून्यता में सत्य की अभिव्यक्ति की रसमयी अनुभूतियों से अभिभूत होने के क्षण अनमोल हैं। ऐसे एक-एक क्षण पर अनेकों वर्षों के जप, तप के फल न्यौछावर किये जा सकते हैं। यह सब संत-समागम में मुझे मिला है। धन्य है संत और धन्य है उनका समागम जो मानव जीवन को धन्य-धन्य कर देता है।

जिन संत प्रवर की शरण में बैठकर चरण धूलि के स्पर्श से मेरा जीवन मिट्टी से सोना बन गया उनके श्री चरणों में बारम्बार प्रणाम करके वाणी को विराम देती हूँ। अब शांत हो जाइये।

प्रवचन 45

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

हम सब लोग जीवन की चर्चा कर रहे हैं। मनुष्य के जीवन में संसार से भी सम्बन्ध है और संसार के मालिक भगवान से भी संबंध हैं। अनुभवी सन्त ने हमें यह सलाह दी कि संसार से सम्बन्ध मानना भी साधन है और संसार से सम्बन्ध तोड़ना भी साधन है। सामान्य धारणा ऐसी होती है कि जो लोग आध्यात्मिक चिन्तन में लग जाते हैं अथवा आन्तरिक विकास में लग जाते हैं, वे संसार के काम के नहीं रहते। लेकिन बात ऐसी नहीं है। सच्ची बात यह है कि जो संसार के माने हुए सम्बन्धों को ठीक तरह से निभा नहीं लेता, उससे संसार छोड़ा भी नहीं जाता। इसलिये महाराज जी ने कहा कि संसार से सम्बन्ध मानना भी साधन है और संसार से सम्बन्ध तोड़ना भी साधन है।

संसार से सम्बन्ध मानना साधन कैसे बन सकता है? इस प्रकार साधन बन सकता है कि हम लोग शरीरधारी हैं। शरीर को लेकर संसार में ही रहना है तो महल छोड़कर झोपड़ी में घुस जाओ तो कोई बात नहीं और झोंपड़ी से निकलकर वृक्ष के नीचे बैठ जाओ तो कोई बात नहीं, और वहाँ से उठकर पहाड़ की गुफा में घुस जाओ तो कोई बात नहीं। जैसे महल संसार है वैसे ही झोंपड़ी संसार है, वैसे ही वृक्ष की छाया भी संसार है और पहाड़ की गुफा भी संसार है। शरीर को लेकर संसार के बाहर हम नहीं जा सकते। भौगोलिक और वैज्ञानिक अध्ययनों के आधार पर आप लोग इन सब बातों को जानते ही हैं कि यह मृत्युभवन पृथ्वी एवं कर्म लोक, इसके ऊपर दो सौ मील की ऊँचाई पर निकल जाओ तो प्राणवायु का अभाव हो जाता है। वहाँ शरीर को रखना मुश्किल हो जाता है। अर्थ क्या है? जिन प्राकृतिक तथ्यों की सहायता से शरीर बनता है, उन्हीं प्राकृतिक सीमाओं के भीतर यह शरीर रह सकता है।

स्वामीजी महाराज ने यह कहा कि अपने कल्याण के लिये संसार को छोड़कर भागने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि तुम भाग भी नहीं सकते। जाओगे कहाँ? शरीर और संसार का अविच्छिन्न संबंध है। संसार से

सम्बन्ध मानना साधन कैसे बन सकता है? इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि भोग दृष्टि छोड़

दो और भौतिक दृष्टि ग्रहण करो। जो लोग भौतिकवादी तथ्यों को स्वीकार करना पसन्द करें, उन्हें सोचना चाहिये कि सारा संसार एक इकाई है। एक ही धरती पर सबको आश्रय मिला है, एक ही आकाश के नीचे सबको अवकाश मिलता है। एक ही प्राणवायु से सबको श्वास मिलती है। एक ही सूर्य से सबको प्रकाश और ताप मिलता है। इस दृष्टि से सचमुच अगर आप भौतिक दर्शन का अनुसरण करें तो आपको जगत् के नाते सभी को अपना मानना चाहिये। ठीक ही है कि जगत् के नाते सभी अपने हैं। क्योंकि व्यक्तिगत शरीर पर आपका अपना कोई अधिकार नहीं है। जैसे आप श्रोता होकर बैठे हैं और मैं बोलने का कार्य कर रही हूँ, लेकिन मेरे और आपके बीच में ध्वनि की लहरियाँ हैं। ये ध्वनि की लहरियाँ यहाँ से निकली हुई ध्वनि को ले जाकर आपके सुनने के यंत्र तक पहुँचाने वाली प्राकृतिक शक्ति है। यदि वह शक्ति बीच में काम न करें तो क्या बोलना और सुनना संभव होगा? नहीं होगा। तब यह अभिमान गलत है कि प्रकृति की सहायता के बिना हम बोल सकते हैं और सुन सकते हैं। भौतिक दर्शन का अर्थ यह होता है कि जिन भाई-बहनों को जगत् को सत्य कहकर स्वीकार करना हो, उसी की सत्ता को लेकर आगे बढ़ना हो, उनको जगत् के नाते सभी शरीरधारियों को अपना मानना चाहिये। यह दर्शन नहीं है कि अपने सुख के लिये अन्य प्राणधारियों की परवाह न की जाये अथवा व्यक्तिगत-एक शरीर की रक्षा के लिये अन्य प्राणियों के साथ हिंसात्मक व्यवहार किया जाये।

संसार से सम्बन्ध मानना भी हितकर होता है। कैसे? यदि आप भौतिक दर्शन का आश्रय लेना चाहते हैं तो जगत् के नाते सभी को अपना मानिये। अब आप कहेंगे कि एक परिवार के दस सदस्यों को अपना मानकर के ही जीवन चलना कठिन हो रहा है, दस को ही खिलाना व रखना मुश्किल हो रहा है, सारे संसार को अपना मानने पर कैसे जियेंगे, क्या करेंगे? सभी को अपना मानने का अर्थ यह नहीं कि सारे संसार के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर आ जायेगा। मैं तो कहती हूँ कि अपने ही भीतर से निकली हुई साँस को एक बार हमने छोड़ दिया, तो फिर यह कौन मुँह से कहेंगे कि सारे संसार का भार मुझ पर आ गया। सो बात नहीं है। लेकिन, जैसे एक शरीर की रक्षा अपने को प्रिय है वैसे ही जगत् के अन्य शरीरों की रक्षा भी अपने को प्रिय होनी चाहिये। जैसे एक शरीर को पीड़ा से बचाना चाहते हैं वैसे ही अन्य शरीरों को पीड़ा से बचाने की भावना भी रखनी चाहिए। तो काम तो हम कर सकेंगे बहुत थोड़े से शरीरों के साथ, लेकिन सद्भाव हम रख सकते हैं सारे विश्व के साथ। सबकी रक्षा हो, सबका भला हो, सबका कल्याण हो। इस दृष्टि से एक शरीर के समान अन्य शरीरों की सेवा को महत्त्व दो और जैसे अन्य शरीर अपने से दूर दिखाई देते हैं ऐसे ही दार्शनिक दृष्टिकोण से यह शरीर भी उतना ही दूर है। आपने ऊँचे दार्शनिक विवेचन को भी सुना होगा। जिस समय मैं बैठकर बोल रही हूँ शरीर को लेकर, और आप सुन रहे हैं शरीर को लेकर, उस समय भी श्रोता और वक्ता इस आकृति के भीतर कहीं कैद नहीं है। इस बात का बोध तो होता है शरीरों की असंगता के बाद, लेकिन इस दार्शनिक सत्य को हम सब भाई-बहनों को स्वीकार करके चलना चाहिये।

मैंने सन्त वाणी में ऐसा सुना कि यह जो 'मैं-पन' है हमारा, यह 'मैं' अगर इस आकृति के भीतर कहीं भी होता तो आज के युग के वैज्ञानिक ऐसा यंत्र बना लेते कि इस शरीर के विश्लेषण के द्वारा उस 'मैं' को पकड़ लेते। लेकिन इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवयव को काट-छाँट करके, चीर-फाड़

करके, विश्लेषण करके ंदंसलेपे.लदजीमेपे करके देख लो, उसके भीतर कहीं भी 'मैं' नहीं मिलेगा। हाथ मिलेगा, पाँव मिलेगा, आँख मिलेगी, मस्तिष्क मिलेगा, हृदय मिलेगा, नाड़ियाँ मिलेंगी, रक्त-मज्जा-मांस मिलेगा, रक्त के कण मिलेंगे। कणों का विश्लेषण करो-हजारों उसके वर्ग मिलेंगे। यह सब मिलेंगे। लेकिन जो कहा है कि यह मेरा शरीर है, वह 'मैं' इसके भीतर कहीं नहीं मिलेगा। किसी भी दशा में यह शरीर जो है वह सदा ही आपसे भिन्न है।

महाराजजी ने कहा कि सेवा करने के लिये एक शरीर पर जैसी तुम्हारी दृष्टि रहती है ऐसी दृष्टि जगत् के नाते भी शरीरों के लिये हो जाये तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। व्यक्तिगत बात खत्म हो जायेगी और विश्वगत बात जीवन में आ जाएगी। उसके बाद क्या होता है? कि जैसे अन्य शरीर दूर दिखाई देते हैं ऐसे ही यह शरीर सदा ही मुझसे दूर था, दूर है और दूर रहेगा। इसके साथ, इस शरीर के साथ 'मैं' का कभी भी ैजतनबजनतंस तमसंजपवद नहीं हुआ, रचनात्मक सम्बन्ध नहीं हुआ। हमेशा ही थ्नदबजपवदंस क्रियात्मक सम्बन्ध इसके साथ होता है। जब यह 'मैं' शरीर की सहायता से संसार के सुहावनी दृश्यों को देखना पसन्द करता है तो शरीर के साथ क्रियात्मक सम्बन्ध इसका जुट जाता है। जब वह देखे हुए दृश्यों की ओर से विमुख होना पसन्द करता है तो ज्यों ही अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुख करता है, दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है। यह अनुभूत सत्य है। इस दृष्टि से सेवा करने के लिये सारा संसार अपना है और सुख लेने के लिये यह शरीर भी अपना नहीं है- ऐसा सम्बन्ध जो मानेगा वह विकसित हो जायेगा, उसका कल्याण हो जाएगा।

दूसरी बात आती है ज्ञान और प्रेम की। सेवा के लिये सारा संसार अपना है, ऐसा मानोगे तो भी कल्याण हो जायेगा, व्यक्तिगत आसक्ति टूट जायेगी और शरीरों से सम्बन्ध तोड़ने की सामर्थ् आ जायेगी। तीनों शरीरों से तादात्म्य टूटने के बाद अपने अविनाशी अस्तित्व का बोध भी हो जायेगा और आनन्द भी आ जायेगा। यह मानव-जीवन का सत्य है। संसार से सम्बन्ध मानना कैसे साधन के रूप में बदल जाता है? यह हो गया। लेकिन इसके विपरित हम लोग क्या करते हैं? कि माता-पिता के साथ, बाल-बच्चों के साथ, भाई-बन्धुओं के साथ, नगरवासियों के साथ जहाँ-जहाँ भी हमने सम्बन्ध माना, उन सारे सम्बन्धियों के सहयोग से अपनी भूख मिटाने के प्रयास में, सबसे कुछ-न-कुछ लेने की आशा रखते हैं। इसी कारण से अविनाशी जीवन का आनन्द नहीं आता है। पराधीनता का अपमान सताता है। इस पराधीनता के लिये हम लोगों ने संसार से सम्बन्ध नहीं जोड़ा है।

जिस पराधीनता से विवश होकर मुझे जन्म लेना पड़ा है, जिन वासनाओं से प्रेरित होकर मेरी इच्छा शक्ति ने एक शरीर के नाश होने के बाद, मृत्यु-भवन की भीतर सीमा में, वायु-मण्डल के कुछ काल विराम करके नये शरीर के लिये मिट्टी-पानी इक्ट्ठा किया है उन इच्छाओं, उन वासनाओं का अन्त करने के लिये, अपने लोगों को संसार से सम्बन्ध रखना है। जिसको जो कुछ देते बने, मीठा वचन, आदर-सत्कार, सामान, सुरक्षा, सहयोग-जिस किसी माने हुये सम्बन्धी को जो कुछ देते बने, सधन्यवाद देते जाओ और विनयपूर्वक सबसे क्षमा लेते जाओ। ऐसा नहीं कि हम परिवार के बड़े मंतदपदह उमउइमत हैं, बहुत धन कमाने वाले हैं, अतः सब लोगों को मिलकर हमारी खातिर करनी चाहिये, आज्ञा

माननी चाहिये और हमारे इशारे पर उठना-बैठना चाहिये। ऐसी इच्छा जिसने की वह संसार की पराधीनता से छूट नहीं सकेगा। कभी नहीं छूटेगा।

आत्मज्ञान और अविनाशी जीवन और अशरीरी अस्तित्व का आनन्द यह सब ग्रन्थों में लिखा पड़ा रहेगा, व्यक्ति के काम नहीं आयेगा। लेकिन

शरीरधारी, संसार में रहने वाला व्यक्ति यदि माने हुए सम्बन्धों के अनुसार अपना कर्त्तव्य पूरा करता जायेगा और भीतर से बदले में कुछ भी लेने की आशा को छोड़ता जायेगा, वह शरीर के रहते-रहते अशरीरी जीवन के आनन्द को पाकर के सदा-सदा के लिये जन्म-मरण की बाध्यता से छूट जायेगा।

इस प्रकार माने हुये सम्बन्ध के अनुसार सारा जगत् अपना है, जगत् के नाते सभी अपने हैं। सबके प्रति सद्भाव और सहयोग रखने वाला साधक है। ऐसा सम्बन्ध मानना साधन है। किसी से अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। क्यों? क्योंकि मुझे तो अमरत्व चाहिये और मुझे जो अगाध, अनन्त, परम पवित्र प्रेम रस की मधुरता चाहिये, वह संसार के सम्बन्धी दे नहीं सकते। सारा संसार मिलकर मेरा दुःख नहीं मिटा सकता। इसलिये मुझे संसार से कुछ नहीं चाहिये। तो काम आने के लिये सभी अपने है और अपने सुख की आशा के लिये कोई अपना नहीं है। सेवा करने के लिये सभी अपने हैं। इस प्रकार से सम्बन्ध मानना साधन हो गया। सुख लेने के लिये कोई अपना नहीं है तो सम्बन्ध तोड़ना साधन बन गया। यह हो गया संसार के सम्बन्ध में।

परमात्मा के साथ क्या करना है अपने लोगों को? तो सुना है ऐसा हम लोगों ने, कि परमात्मा सब प्रकार से परिपूर्ण है। उनको अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिये किसी प्रकार की कहीं से भी सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है। जो परम स्वतन्त्र है, सब प्रकार से पूर्ण है, अनन्त ऐश्वर्यवान है, माधुर्यवान है, अनन्त सौन्दर्यवान है, उसी का नाम है-परमात्मा। इनमें से किसी प्रकार की विशेषता उसकी घट जाये तो हम लोग उसको परमात्मा नहीं कहेंगे। इन सारी विशेषताओं से विभूषित जो है, उसका नाम है परमात्मा। उस परमात्मा के साथ हमारे जैसे जन्म-मरण की सीमा में बँधे हुये व्यक्तियों का क्या

सम्बन्ध हो सकता है, ऐसा सोचकर देखो? तो एक तो पक्की जानी हुई बात यह है कि उसकी सत्ता से हम लोगों को सत्ता मिली है।

महाराजजी ने एक जगह पर ऐसे कहा— भाई देखो! विचार करो! गेहूँ उपजा था खेत में, धरती में, सेवार उपजी थी जल में -अब सोचकर देखो, यह 'मैं' कहाँ उपजा? इसके उपजने के लिये न जल पर्याप्त है, न थल पर्याप्त है। इस 'मैं' की उत्पत्ति हुई थी उस अनन्त परमात्मा में से। एक सम्बन्ध तो यह ही पक्का है कि उसी में से हमारी उत्पत्ति हुई है, उसी में हम स्थित हैं और साधना के बाद जब असत्य की निवृत्ति हो जायेगी, जब शरीरों से तादात्म्य टूट जायेगा तो हम सदा-सदा के लिये अभिन्न होंगे उसी से। आदि, अन्त और मध्य हमारा सब उसी पर आश्रित है। यह बात तो दार्शनिक दृष्टिकोण से बिल्कुल पक्की है। मैं मानूँ तब भी, न मानूँ तब भी। साधना करूँ तब भी, न करूँ तब भी। सेवा करूँ तब भी, न करूँ तब भी। स्वार्थपरता में रहूँ तब भी। उसके साथ ऐसा नित्य संबंध है कि उसके बिना हमारी सत्ता ही नहीं हो सकती, हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यह तथ्य मेरे भूतकाल में भी बदलता नहीं है। उससे विमुख हो जाने का परिणाम क्या होता है? कि अनुकूल परिस्थितियों में सुख भोगने में हम डूब जाते है, और प्रतिकूल परिस्थितियों में अधीर होकर रोन लगते हैं। और फिर हार मान कर

व्यक्ति कहने लगता है, "यह सांध्य ऊषा का आँगन, आलिंगन विरह-मिलन का। चिरहास्य अश्रुमय आनन रे इस मानव-जीवन का" बहुत पहले का पढ़ा हुआ पद्य खण्ड है यह-पढ़कर हम सोच लेते थे कि बस ऐसा ही है। हास्य और अश्रु से ही पूर्ण रहेगा मानव का आनन, मानव का मुखड़ा। कुछ लोग तो ऐसे ही हार मान लेते हैं, और जो सचेत होते हैं, जो विवेक के प्रकाश में बदलती हुई परिस्थितियों के पीछे एक अपरिर्वतनीय अस्तित्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे हार नहीं मानते। ऐसे समस्त परिवर्तनशील दृश्यों के पीछे एक मौलिक आधार है इस समग्र विश्व का, उस अपरिवर्तनीय सत्य को स्वीकार करके फिर उससे अभिन्न होने की साधना में लग जाते हैं।

सन्तजन कहते हैं कि यदि अविनाशी जीवन की आवश्यकता अनुभव करते हो तो अविनाशी केवल परमात्मा है और उससे तुम्हारा सदा-सदा का सम्बन्ध है। नया सम्बन्ध बनाना नहीं है, पहले से है। तुम आज अपनी आवश्यकता देखकर उस नित्य-सम्बन्ध को स्वीकार कर लो। सम्बन्ध की स्वीकृति का परिणाम यह होगा कि उससे तुम्हारी आत्मीयता हो जायेगी। जिसको व्यक्ति अपना मानता है वह अपने को प्रिय लगता है। जब परमात्मा आपको प्रिय लगेगा तो इस प्रियता के आधार पर वह तुम्हारा अन्तःवासी परमात्मा तुम्हारे ही भीतर प्रकट होकर तुम्हारी सारी मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर देगा।

जो लोग संसार की परिवर्तनशीलता को सहन नहीं करते वे एक निश्चित आधार पकड़ लेते हैं। मान लेते हैं कि यह जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, चलचित्र की भाँति क्षण-क्षण में बदल रहा है, इस सबका आधार परमात्मा है। उसी परमात्मा से मेरा नित्य सम्बन्ध है, और अब मैं उसी परमात्मा का होकर रहना पसन्द करूँ। यह व्रत है मनुष्य के जीवन का और जैसे ही ईश्वर विश्वास के आधार पर व्यक्ति परमात्मा को अपना आश्रय बना लेता है, उसमें विश्वास कर लेता है, उससे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है तो बिना जप-तप के, बिना उपवास किये और भूखे-नंगे रहे, बिना वस्त्र बदले उसके भीतर जो नित्य तत्व है, जो अविनाशी अहं है अपना 'मैं-पन', उस 'मैं-पन' में ही ईश्वर की विभूतियाँ अभिव्यक्त होने लगती हैं।

यह साधन काल की बात मैं कह रही हूँ, सिऋ-जीवन की चर्चा तो सिऋ पुरुष जानें। आज जब मेरी दृष्टि पर, जब मेरे च्मतबमचजनंस ंचचंतंजने पर बाह्य जगत की उत्तेजनाओं का प्रभाव होता है, और वह प्रभाव मस्तिष्क के ज्ञान-केन्द्र में ले जाया जाता है, तो अपने को बाह्य जगत का प्रत्यक्षीकरण होता है। इन सारे यन्त्रों पर बाह्य जगत् की उत्तेजनाओं का प्रभाव चढ़ा रहता है। तब तो ईश्वर का कहीं पता नहीं चलता। अत्यन्त रहस्यमय। अत्यन्त छिपा हुआ। कुछ पता नहीं चलता कि कहाँ है? कैसा है? है कि नहीं? क्या करता है? बड़ा अद्भुत लगता है। लेकिन बुद्धि का आश्रय छोड़कर, इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर, संसार का सहारा छोड़कर जिन महानुभावों ने, हृदयशील व्यक्तियों ने उस अनन्त परमात्मा का आश्रय स्वीकार किया, उससे अपना नित्य-सम्बन्ध माना, उनके साधनकाल में ही वही परमात्मा उनके हृदय में प्रकट होकर यह विश्वास दिला देता है कि जिसके बिना तुम व्याकुल-व्याकुल फिर रहे हो वह 'मैं' तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। यह अनुभव करा देते हैं परमात्मा। उनकी मौज है।

मुझे जब समझाया जा रहा था ईश्वर के सम्बन्ध में, तो किसी भी तरह से माना ही न जाए। अब मानें कैसे? अब आगे बढ़ें कैसे? तो

महाराजजी ने कहा कि देवकीजी, परमात्मा तो सदा से जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। उनको जनाना-बताना-सुनाना थोड़े ही है, जो तुम सोचती हो कैसे बताऊँ, कैसे सुनाऊँ, कहाँ पाऊँ? सो नहीं। उनको जानने की बात नहीं। उनको सुनाने की बात नहीं। वे तो पहले से जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। लाली, बस एक काम तुम अपनी ओर से करो। मेरे कहने से तुम उनको अपना मान लो। बस, इतना-सा पुरूषार्थ तुम करो। बाकी तो सब उनको मालूम ही है, वे करेंगें ही।

तो मैं क्या बताऊँ? मेरी जो उलझी हुई बुद्धि थी पढ़ने-लिखने की और साहित्य, दर्शन और मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रभाव जो था, उसने जो मुझको भ्रमित-चकित कर दिया था। अपनी ओर से तो मैं कुछ नहीं कर सकी, लेकिन एक बात तो महाराजजी के सिद्धान्त में मिली, वही सत्य सिऋ हुई-कि कैसा भी साधक क्यों न हो, वह अपनी असमर्थता से पीड़ित होता है तो करुणामय की करुणा का दरवाजा खुल जाता है। तो मेरे सोचने से काम बन गया, ऐसा नहीं कह सकती। मेरे त्याग-तप से शक्ति आ गई, ऐसा नहीं कह सकती। लेकिन मेरी जो वह अन्तरव्यथा थी कि अब क्या करूँ?-उस पीड़ा से सन्त के हृदय में करुणा द्रवित हुई। मेरी उस दर्दनाक दशा से, करुणा सिन्धु-परमात्मा में करुणा द्रवित हुई और उन लोगों ने कृपा की होगी- ऐसा मेरा अन्दाज है, इसलिये कि यह असमंजस बिना मेरे प्रयास के अपने आप से मिट गया। तो मैं अपने आप सोचने लग गई कि हाँ, ठीक है, महाराजजी जो कहते हैं कि अपनी असमर्थता से अधीर हो जाता है साधक, उसके भीतर अपनी भूल की ग्लानि पैदा हो जाती है तो उसके हृदय की वेदना वे परम कृपालु सह नहीं सकते। तो जैसी मेरी उग्र प्रकृति थी, विरोधी मनोवृत्ति परमात्मा के प्रति, तो मैंने पुकारा नहीं, मैं क्या बताऊँ, सन्त और भगवन्त की कृपालुता जो है, वह माँगने से मिलती हो, ऐसी बात नहीं है- इसलिये उसके आगे विशेषण लगता है-अहैतुकी। किसी हेतु से कृपा होती हो, ऐसी बात नहीं है, सन्त ने, भगवन्त ने मुझको मनवा दिया-तो मान लिया।

सन्त की वाणी में कुछ विशेष प्रकार का जादू होता है। महाराजजी की वाणी के प्रभाव से, जब से मैंने इस बात को माना, मेरे भीतर से दुःख का भार तो उतर गया और इस बात की भी चिन्ता नहीं रही कि मुझको साधना के क्षेत्र में अपने पुरुषार्थ से, अपने बल से चलना है। यह भय भी चला गया। एकदम निश्चिन्तता आ गई। मैंने कहा, ठीक है। जब उनको भी मेरा ध्यान है, और उन्हें स्वीकार करने की तत्परता है, तब तो बहुत बढ़िया बात है महाराज।

जीवन बढ़ता रहा। पलता रहा। अब आज अपने भाई-बहनों की सेवा में, मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि सच्ची बात तो यह है कि हम लोगों की जो

दुविधा की दशा है-कभी संसार अच्छा लगे, कभी परमात्मा अच्छा लगे-इस दुविधा की दशा में परमात्मा से मिलने की उत्कण्ठा जो है, वह प्रबल नहीं है, कुण्ठित है। परन्तु उनकी ओर से मुझको संभालने की उत्कण्ठा कुण्ठित नहीं है। बड़ी लगन है उनमें और कभी-कभी महाराज हँस कर कह देते कि देवकीजी, हाथी के मुख में गन्ना पकड़ा देना आसान है, निकाल पाना आसान नहीं है। अगर तुमने किसी भी कारण से प्रेरित होकर एक बार कह दिया, 'हे प्रभु! मैं तेरी।' तो अब तुम छूटने वाली नहीं हो लाली। वह छोड़ेगा नहीं, पूरा ही करेगा। तो अनुभवी सन्त की यह वाणी कि "शिशु को माँ की जितनी आवश्यकता है", आगे

चलकर मुझे ऐसा लगने लगा कि माँ को शिशु की उससे अधिक आवश्यकता है।

अब तीसरा प्रश्न उठा कि मैं उनको किस हैसियत से अपना कहूँ? कौन सा सम्बन्ध स्वीकार करूँ? कैसे हम उनको उस सम्बन्ध के अनुसार प्यार करें, लाड़ लड़ायें? अपने पास तो कुछ है ही नहीं। सब तो यहाँ खो दिया है। संत कबीर का पद मैं दुहराया करती महाराजजी के सामने- "यह संसार हाट बनिया को, सौदा करने आया। चतुरन माल चैगुनों कीनों, मूरख मूल गँवाया" मै तो मूल गँवाकर बैठ गई महाराज! अब कैसे क्या होगा? तो महाराजजी कभी-कभी हँस करके अपने जीवन की चर्चा सुना देते और कहते, "देखो भाई, हम कैसे हैं यह परमात्मा देखता नहीं है। हम कै हैं, यह वह क्या देखे। हम जैसे है वैसे हैं। एक बात उन्हें मालूम है पक्की तौर से कि उन्होंने अपने में से ही हमारा निर्माण किया है। देवकीजी, तुमको बनाने के लिये भगवान ने कोई डंजमतपंस ;मेटीरियलऋ बाहर से उधार नहीं मँगवाया। अपने में से ही तुमको बनाया है।" तो जो अपना ही अंश है, अपना ही आत्मीय है, वह कैसा है, यह कोई देखता है? काला है कि गोरा है? पुण्यात्मा है कि पापात्मा? पढ़ा-लिखा है कि बेपढ़ा-लिखा? समर्थ है कि असमर्थ है? कौन देखे? जैसा भी है उनका आत्मीय है। उनका अपना ही है। महाराज अपने लिये कहते कि "मुझ जैसे अकिंचन, असमर्थ की मित्रता अगर वे स्वीकार न करते ;मित्रता का सम्बन्ध महाराजजी का था भगवान के साथऋ तो लाला रह जाते ठन-ठन पाल मदन गोपाल।" प्यार करने के लिये कोई साथी मिलेगा ही नहीं। क्यों? क्योंकि परमात्मा को अगर बराबर वाले सम्बन्ध जोड़कर प्रेम का आदान-प्रदान करना है तो परमात्मा के बराबर क्या दूसरा परमात्मा है? नहीं है। तो रह जायेंगे न अकेले। पे्रमस्वरूप जो उनका है, उस पे्रमस्वरूप का आनन्द उस पे्रमस्वरूप की लहरियाँ इस धरातल पर, इस मृत्युभुवन में फैलेंगी कैसे? भव रोगों से तापित हृदयों को शान्ति प्रदान करेंगे कैसे? नहीं कर सकेंगे।

आप कहेंगे कि अवतार लेकर आयेंगे, खुद करेंगे। तो महाराजजी कहते कि भाई, रावण और कंस को मारने के लिये थोड़े ही उनको कुछ करना था। गोस्वामीजी ने लिखा है, "भृकुटि विलास सृष्टिलय होई"। जिसके संकल्प-मात्र से सारी सृष्टि भस्म हो सकती है उसको रावण और कंस को मारने के लिये अवतार ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी? लेकिन क्यों आये? इसलिये कि शबरी मैया के झूठे बेर कैसे खायेंगे। वहाँ तो भृकुटि विलास से काम नहीं चल सकता है। वह स्वाद तो शासक बनने से नहीं आ सकता है। विदुरानी के केले के छिलके में जो मजा आया, वहाँ गोलोक-साकेत में बैठे-बैठे मृत्यु का चक्र चलाकर रावण और कंस को मारने में वह मजा कैसे आता?

तो महाराज कहते हैं कि इस पे्रम के भूखे, इस पे्रम के विस्तार के लिये जो हमेशा ही लालायित है उनको भी जरूरत है, मानव हृदय के स्नेह-सद्भाव की। जहाँ किसी ने अपनी ओर से कहा कि बस हो गया, तुम्हारे इस लुभावने, सुहावने संसार के खिलौनों से मैंने खेल लिया। अब तो तुम्हारा पे्रम रस चाहिये। तुम्हारी सन्निधि चाहिये। तो जहाँ मनुष्य के भीतर हृदय में आवश्यकता उत्पन्ना हुई नहीं कि वे पे्रमस्वरूप परमात्मा उस अभिलाषी के हृदय की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये, जैसे-जैसे वह विश्वास कर सकता है उसके विश्वास की वृद्धि का काम तत्काल आरम्भ कर देते हैं। ऐसा नहीं कि बहुत दिन तक सोचना पड़े, प्रतीक्षा करनी पड़े। ऐसा भी

नहीं कि साधन की पूर्णता तक आपको ठहरना पड़े। एक ओर असाधनों का नाश होता रहेगा, विकारों का नाश होता रहेगा, दूसरी ओर उनके पे्रम का प्रकाश होता रहेगा। सब साथ-साथ चलने लग जाता है।

संयोग-वियोग से रहित नित्य मिलन की कथा तो अपार है। जिन भाग्यशीलों ने उनको अपना माना और किसी बात के लिये नहीं, केवल पे्रम के लिये ही, उन पर वे परम प्रेमास्पद स्वयं को न्यौछावर करते हैं। एक बार चर्चा करते हुये महाराजजी की वाणी से एक वाक्य निकला कि "देखो तो, उनका पे्रमी स्वभाव तो देखो। मानव-हृदय के प्रेम का आदर करने के लिये वह अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक, पूर्ण ब्रह्म परमात्मा, ब्रह्म भाव का त्याग करके जीव भाव स्वीकार करके तुम्हारे पास आता है और उसको पे्रम प्रदान करने के लिये तुम अपनी तुच्छ कामनाओं का त्याग नहीं कर सकते?" अगर करते हो तो उसकी तुलना में ज्यादा किया कि कम किया?

ईश्वरवाद ऐसा ठोस तत्त्व है इस जीवन का कि कहने-सुनने की बात नहीं है, अनुभव करो। अनुभव करने से ऐसा प्रमाणित हो जाता है कि वही सत्य है, वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। शान्त।

प्रवचन 46

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

प्रभु विश्वासी साधक के सम्बन्ध में बहुत बढ़िया-बढ़िया बातें हम सुन रहे थे। अपने को सामने रखकर थोड़ा विचार किया जाए। ईश्वर में विश्वास करने वाले हम लोग हैं। उस विश्वास के आधार पर क्या हमारा ईश्वर के अतिरिक्त और सब जगह से मन हट गया? ऐसा प्रश्न रखा जाये अपने सामने। क्या भगवान के अतिरिक्त और किसी से हमारा सम्बन्ध नहीं रहा? उनकी महिमा के बल से हमारी सब चिन्तायें, हमारा सब भय मिट गया?—ऐसा प्रश्न अपन लोगों को अपने सामने रख कर सोचना चाहिये, अपने से पूछना चाहिये। इसके उत्तर से जीवन में खूब जागृति आ सकती है। कितना अच्छा लग रहा है, श्री महाराजजी जब कह रहे हैं कि प्रभु विश्वासी साधकों का सिवाय परमात्मा के और किसी से सम्बन्ध रह ही नहीं जाता। अन्य किसी से सम्बन्ध नहीं रहता है तो अन्य किसी का चिन्तन भी कभी नहीं होता है। वे परमात्मा को अपना मानते हैं और उनको हर प्रकार से पूर्ण मानते हैं, अपना हितैषी मानते हैं, अपना प्रिय मानते हैं। इसलिये वे सिवाय परमात्मा के प्रेम के अपने लिये और कुछ चाहते भी नहीं है। अब सोचा जाए, कि मैंने भी ईश्वर में विश्वास किया है, मुझे भी ईश्वरीय पे्रम का मधुर रस अभीष्ट है। तो ईश्वरीय पे्रम रस के अलावा और भी अपनी कुछ चाह है क्या? और भी अपना कोई संकल्प है क्या? ऐसा सोचने से मालूम होता है कि और भी संकल्प है। अगर और संकल्प न होते और कोई चाह न होती तो पता नहीं कब का यह सीमित अहं रूपी अणु ईश्वरीय प्रेम बन कर पे्रमास्पद में समा गया होता। अब तक यह काम पूरा हो गया होता।

लेकिन अपनी वर्तमान दशा देखने से ऐसा लगता है कि अभी तक यह काम पूरा हुआ नहीं है, अर्थात् ईश्वर विश्वास को, ईश्वरीय सम्बन्ध को और विधि-विधान से भजन-पूजन करने को मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन नहीं बनाया है। सम्पूर्ण जीवन का एक अंग बनाया है। प्रातःकाल उठ करके स्नान आदि करने के बाद भगवद्-पूजन मेरे जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है। उनमें विश्वास करना, उनसे सम्बन्ध मानना—यह भी एक आवश्यक अंग बन गया है।

फिर क्या होता है, कि यह बात सब समय जीवन में नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त भी अपने को कुछ और चाहिये। क्या चाहिये? अपनी पसन्दगी के अनुसार रहन-सहन चाहिये, पसन्दगी के अनुसार खान-पान चाहिये और मन बहलाने के लिये और दूसरा-दूसरा काम भी चाहिये और जिस समाज में रहते हैं उसमें अपनी प्रतिष्ठा भी चाहिये। बहुत-सी बातें चाहिये और ईश्वरविश्वासी बन कर भगवद् भक्ति के आधार पर जीवन को आगे बढ़ाने की अभिलाषा ले करके भी दृष्टिकोण ऐसा है कि इस दुनिया में जो कुछ अपने को अच्छा लगने लायक मिल गया है—वह सब तो बना रहे और उसके साथ-साथ ईश्वर की भक्ति भी मिल जाये। ऐसा आज तक हुआ नहीं, हो सकता नहीं।

श्री महाराजजी कभी-कभी हँस करके विनोद की भाषा में कहते कि देवकीजी, परमात्मा इतने प्यारे हैं-इतने प्यारे हैं, इतना पेरमी स्वभाव है उनका, कि वे किसी और के साथ साधक के दिल में घुसते ही नहीं हैं। उनको अकेले ही घुसना पसन्द है और फिर कहते हैं कि वे इतने विशाल हैं, इतने महान हैं, इतने बड़े, असीम, अनन्त हैं कि अगर तुम्हारे दिल में एक तिनके के लिये भी ममता शेष रह गई है तो वे उसमें समायेंगे नहीं। लाली, अपने को खाली कर दो एकदम। किसी चीज की ममता न रहे, किसी बात की कामना न रहे। ये सब दिल में से पूरे निकाल दो। अपने को एकदम खाली कर दो। तब ऐसे हृदय में आकर उनको प्रेम का आदान-प्रदान करना प्रिय लगता है।

अपने जीवन में अभी तक उस ईश्वरीय पेरम का प्रभाव इतना नहीं हुआ है कि अपनी पसन्दगी का खान-पान हम भूल जाते, अपनी पसन्दगी के रहन-सहन को हम भूल जाते, अपने भीतर से सिवाय प्रभु की प्रसन्नता के और कोई संकल्प ही न उठता। ऐसा हुआ ही नहीं अब तक। तो मालूम होता है कि अपनी साधना में कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई त्रुटि हमने रखी है और उसको दूर करना हम सभी ईश्वरविश्वासियों का वर्तमान का पुरुषार्थ है।

महाराजजी बता रहे थे कि प्रभुविश्वासी साधक जो होते हैं, उनका कोई अपना संकल्प नहीं रहता। उनके प्रभु की प्रसन्नता ही अपनी प्रसन्नता है। वे जैसे चाहें, जिसमें उनको प्रसन्नता हो, सो करें। इसका अर्थ क्या निकला? कि उनके पास अपना मन ही नहीं रहता। जब तक अपना मन हमारे पास है तब तक हम प्रभु की प्रसन्नता के योग्य अपने को बना ही नहीं सकते। यही कारण है कि ईश्वरविश्वासी होते हुए भी हम अपना संकल्प भी रखते हैं—अपना मन भी रखते हैं और उस मन की गुलामी भी अपने में रखते हैं, उस मन का अनुसरण भी करते हैं और फिर उस मन को आज्ञा देते हैं कि तुम चले जाओ प्रभु के पास। तो यह कभी होना संभव नहीं है। यह भी एक खास बात है। ऐसा क्यों है? मैंने सोचा तो मेरे ध्यान में आया कि ईश्वरविश्वास को हमने जीवन नहीं बनाया है। जीवन कुछ और है और ईश्वरविश्वास उसका साधन बन गया है, कुछ उपाय के रूप में बन गया है तो ऐसा जब तक रहता है तब तक उसमें सजीवता नहीं आती।

महाराजजी कहते हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त अनेकों से जब हम सम्बन्ध रखते हैं, जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है उससे सम्बन्ध जब मानते रहते हैं तो मन बेचारा भी जाता है उन्हीं सब जगहों पर। सोचो, हम लोग 'पर' से सम्बन्ध रखेंगे, 'पर' में विश्वास करेंगे, 'पर' के अधीन रहेंगे—पराश्रित होकर जियंगे तो जहाँ-जहाँ हमारा अटकाव है—उन सब जगहों पर मन जायेगा ही। लेकिन एक बात है। 'पर' की ओर मन जाता रहता है और हटता भी रहता है। सदा के

लिये दृश्य जगत के किसी भी दृश्य और वस्तु पर मन लगता नहीं है। स्वभाव से वह लगता नहीं है। मेरी भूल से वस्तुओं की याद आती है—ऐसा कहो, अथवा ऐसा कहो कि उन सब जगहों में मन जाता है जहाँ-जहाँ हमारी पसन्दगी है, और परमात्मा की पसन्दगी जब जीवन में आती है तब वह परमात्मा में जाता है। परन्तु उनमें एकबार जब मन चला जाता है, तो फिर वहाँ से हटता नहीं है। यह जीवन का एक बड़ा भारी सत्य है। क्या? कि जब भगवान को हम लोग पसन्द करेंगे और केवल उन्हीं से सम्बन्ध रखेंगे तो उनमें मन लगेगा और फिर वहाँ से हटेगा नहीं, अपितु सदा के लिये उनमें लग जायगा। भगवत भक्त तो बिल्कुल अमन हो जाता है। उसके पास उसका मन रहता ही नहीं है। उसको कभी भी अपने पर दबाव नहीं डालना पड़ता है कि अब मन को इधर से हटाना चाहिए और अन्यत्र लगाना चाहिए।

जब साधक ईश्वर को छोड़ कर 'पर' को पसन्द करता है, पराश्रित होकर रहता है, संसार को पसन्द करता है तो मन बेचारा जगह-जगह भटकता फिरता है, लेकिन कहीं पर भी स्थिर नहीं होता है, क्योंकि किसी में जा करके वह सदा के लिये लय हो जाये—ऐसा नहीं होता है।

अब अपनी दशा हम लोग देखे कि दस मिनिट के लिये, पन्द्रह मिनिट के लिये अथवा आधे घंटे के लिये, जो शांत रहने का नियम है, उसके अतिरिक्त भी आप और कभी शांत रहते होंगे। अलग-अलग अनुभव होता होगा। नियम बना के हम लोगों ने थोड़ा समय रखा है शांति सम्पादन के लिये। पन्द्रह मिनिट लगातार अथवा आधा घंटा लगातार शांति का समय कैसे निकलता है? अगर सोच कर देखो तो ईश्वरविश्वास की दृष्टि से प्रभु की कृपा शक्ति का आश्रय लेकर जब हम उनके समर्पित हो जाते हैं और उस काल में अपने को बिल्कुल अप्रयत्न छोड़ देते हैं तो वह पूरा समय क्या प्यारे प्रभु की कृपा की अनुभूति में बीतता है? उनकी कृपा की प्रतीक्षा में बीतता है कि उसके बीच-बीच में और भी कोई बात आती है?—ऐसा सोच कर देखिये।

आपने स्वयं अपने द्वारा अनुभव किया होगा कि एक-आधे घंटे का समय भी लगातार प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा की गहराई में बीत जाता हो-ऐसा सब समय नहीं होता है। उनकी प्रीति के रस में समय का भास खत्म हो जाता हो, ऐसा भी सब समय नहीं होता है। किसी-किसी समय होता भी है। कितनी देर हो गई, इसका पता नहीं चलता है। लेकिन सब समय ऐसा नहीं होता तो इसका अर्थ क्या है? कि अभी तक भी हमारा प्रयास ही चल रहा है, अभी तक भी यह साधन जीवन नहीं बन पाया है तब मैंने सोचा कि जो-जो बातें महाराजजी ईश्वरविश्वास के लिये बहुत सहज स्वाभाविक बता रहे हैं, वे बातें अगर मेरे लिये सहज स्वाभाविक नहीं हुई हैं तो इसका कारण ढूँढना चाहिये। कितनी तत्परता चाहिये इस दिशा में कि जहाँ-जहाँ भूल है-उसको मिटाकर जल्दी-जल्दी हम भक्त बन जायें।

अब एक च्लबीवसवहपबंस बात है। बहुत ऊँची दार्शनिक बात नहीं है, लेकिन फिर भी आवश्यक है। देखिये, हमारा मन रस का प्यासा है। जहाँ-जहाँ उसे नीरसता सताती है, वहाँ-वहाँ से वह हटता रहता है। किसी भी जगह कोई पुस्तक पढ़ने बैठ जाइये, कोई काम करने लग जाइये! जब तक काम करने में थोड़ी कठिनाई रहती है तब तक तो मन भी उसमें लगता है, ध्यान भी उसमें लगता है और थोड़ी देर के बाद काम करते-करते पाँच-दस मिनट के बाद वह सैट ; मज ऋ हो गया, अच्छी तरह से हाथ चलने लगा तो सचमुच जब किया जाने वाला कार्य कारक

अंगों के स्तर पर आ जाता है - डवजवत मजजपदह हो जाती है, तब सोच कर देखिए कि उसके बाद पूरा मन काम में रहता है या इधर-उधर उड़ने लगता है? जी? इधर-उधर उड़ने लगता है तो ऐसी क्या बात हो गई? अपने जीवन की दशा तो देखो। काम करने लगो तो काम में भी पूरा मन न लगे, शांत रहो तो शांति में भी पूरा मन न बैठे। ऐसा क्या हो गया भाई? कहीं न कहीं, कोई न कोई भूल है जरूर। नहीं तो होना चाहिये ऐसा कि जब हम काम करने लग जाते हें तो इतने मनोयोग से काम करें कि कर्मयोग सिऋ हो जाये और काम करना छोड़ करके शांत हो जायें तो इस प्रकार से शांत हो जायें कि बिल्कुल ज्ञानयोग सिऋ हो जाये। प्रभु की याद आवे तो इतनी तीव्रता से आवे कि उसके मधुर रस में शरीर और संसार सबकी याद खो जाये। भक्तियोग सिऋ हो जाये।

होना तो ऐसा चाहिये। लेकिन ऐसा होता कब है? जब हमारे जीवन में विभाजन नहीं रहता, तब ऐसा होता है। अभी हमारे जीवन में विभाजन है। एक इष्ट नहीं है। मंत्र दीक्षा भी हो गई। कोई पूछे कि आपके इष्ट कौन है तो अपने इष्ट का नाम रूप हम बता सकते हैं। लेकिन अपने जीवन को अपने द्वारा देखें तो मालूम होता है कि अभी तक मेरा एक इष्ट नहीं है। नहीं तो पूरा ध्यान उनमें लग गया होता, उनके अतिरिक्त और किसी का चिंतन न होता। उनकी याद में इतनी सरसता आ जाती कि फिर अपने किसी संकल्प का पता ही नहीं चलता, अपना कोई संकल्प ही नहीं उठता, अपने पर अपने अधिकार की कोई बात ही सामने नहीं आती। ये सारी बातें बिल्कुल सहज स्वाभाविक हो गई होती।

सत्संग का अर्थ क्या है? सत्संग का अर्थ है जीवन के सत्य को स्वीकार करना और अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करना। अब देखिये, जहाँ-जहाँ अपनी भूल मालूम होती है, उसको हम लोग सुधारते जायें और सत्यस्वरूप जो स्वीकृतियां है, उनको दोहराते जायेंऋ उनको दृढ़तापूर्वक धारण करें और उसी के आधार पर जीना आरम्भ करें तो अपने में जो कमी रह गई है वह कमी दूर हो जायेगी और साधना सजीव हो जायेगी।

जितने अच्छे-अच्छे भक्त हुए हैं, उनके सम्बन्ध में ऐसा ही देखा और सुना गया। अनुभव तो उन्होंने स्वयं ही किया होगा। उनका अनुभव कैसा था, उसको हम लोग बाहर से क्या जानें? लेकिन जो कुछ देखा, सुना गया, वह ऐसा मालूम होता है कि भक्त प्रभु को प्यार करते हैं। इससे भी अधिक गहरी बात यह होती है कि परमात्मा स्वयं भक्तों को प्यार करते हैं। प्रेम का आदान-प्रदान होता है और वह दोनों ओर से चलता है। प्रभु की ओर से प्रेम भक्त के पास आता है और भक्त के पास से प्रेम प्रभु की ओर जाता है।

समय-समय पर कभी-न-कभी आपने भी अनुभव किया होगा कि थोड़ी देर के लिये अगर अन्य चिंतन छूट गया और सर्व-समर्थ परम हितैषी मुझ में ही विद्यमान परमात्मा मेरे अपने हैं- यह भाव प्रधान होकर आपके सामने आ गया तो उतनी ही देर में शरीर का भास खत्म हो जाता है। जरा-सी देर में और आप सोच करके देखिये, कि अब उनकी ओर से आने वाले प्रेम की लहरियां हमारे आपके हृदय को स्पर्श करती हैं, व्यक्तित्व को छू देती हैं तो कभी ऐसा नहीं हो सकता कि फिर किसी प्रकार का विकार अथवा दूषण जीवन में रह जाये। ऐसा नहीं हो सकता।

एक बार एक अनुभवी संत के पास बैठ कर मैं बात कर रही थी। भगवत् चर्चा हो रही थी- प्रेम की बातें हो रही थीं, तो बात करते-करते संत को ईश्वरीय प्रेम की याद आ गई और उनके भीतर

क्या हुआ सो तो वे जाने। कुछ देर के बाद परम प्रसन्न होकर उनके मुख से मधुर वचन निकलने लगे कि भाई, हमें तो थोड़ी-सी देर के लिये, दो मिनिट का विराम भी मिल जायेऋ अगर दो घंटे, चार घंटे काम करते बीत गये हों और दो मिनिट का विराम भी मिल जाये तो भीतर में प्रवेश करते ही घंटों-घंटों के परिश्रम की थकावट जो है, वह खत्म हो जाती है। एक बार प्यारे की याद आ जाये और भीतर-भीतर प्रेम की लहर दौड़ जाये तो बहुत से रोग नष्ट हो जाते हैं।

प्रेम अलौकिक तत्त्व है और जिन साधकों के जीवन में उस तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, वे अशरीरी हो जाते हैं, फिर शरीर से सम्बन्ध उनका नाममात्र को रह जाता है। केवल संसार के व्यवहार को चलाने के लिये, बातचीत करने के लिये या किसी की कुछ सेवा करनी है उतनी ही देर के लिये शरीर से उनका सम्बन्ध बनता है। अन्यथा शरीर की स्मृति होती ही नहीं है। जिन साधकों ने ऐसा अनुभव किया है उन लोगों ने स्वयं हमें बताया है और वे जितना अनुभव करते हैं उतना बता नहीं सकते और जितना बताते हैं उतना हम लोग ग्रहण कर नहीं सकते, क्योंकि वे अनुभवी संतजन कहते हैं अनुभव की बात और हम लोग उसको बुद्धि के स्तर पर समझना चाहते हैं। उस अलौकिक तत्त्व की बात बुद्धि में समा ही नहीं सकती। फिर भी जितनी-जितनी थोड़ी बहुत पकड़ में आती है उससे ऐसा ही लगता है कि मनुष्य के जीवन का मूल आधार है वह तत्त्व है।

श्री महाराजजी ने ऐसे बताया कि चूंकि उस तत्त्व से हमारा निर्माण हुआ है, हमारी सत्ता में ही वह विद्यमान हे, इसलिये उसकी अपने को पसन्दगी भी बहुत है और उसकी अभिव्यक्ति जब किसी के जीवन में होती है तो वह सब प्रकार से स्वाधीन हो जाता है फिर कोई कामना उपज ही नहीं सकती। कामना तो हमेशा अभाव में उपजती है। कामना हमेशा अपने और दूसरों के बीच भेद-बुद्धि के रहने से उपजती है। द्वैत में कामना उपजती है, अद्वैत में नहीं! और प्रेम तत्त्व का हिसाब ऐसा है कि एक और एक मिल कर दो नहीं होते। एक और एक मिलकर एक ही रहता है, और कहीं-कहीं तो श्री महाराजजी ने ऐसे भी लिखा है कि शुऋ अद्वैत तो प्रेम तत्त्व में ही सिऋ होता है। क्योंकि प्रेमी और प्रेमास्पद दो नहीं रहते हैं।

कभी-कभी मेरे ध्यान में यह बात आती है कि जीवन की पूर्णता की बात तो पूर्ण पुरुष जानें। लेकिन साधन काल में प्रेम पंथ के साधक थोड़ी-थोड़ी देर के लिये जहाँ-जहाँ प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति का अनुभव पाते है-उतने ही में उनका संसार डूब जाता है। तो पूर्णता में अवश्य ऐसा होता होगा कि अपने को प्रेमी कहने वाला खत्म हो जाता है, और प्रेमास्पद और प्रेम-यही रह जाता है। अर्थात् साधक का संपूर्ण जीवन, प्रेम तत्त्व के रूप में रूपान्तरित होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। ऐसा होता है, और अभी भी ऐसे भक्त धरती पर है।

उनकी कृपालुता है, इस प्रकार के संतों को, भक्तों को वे हमेशा धरती पर भेजते रहते हैं, इस उद्देश्य को ले करके, कि हम भटके हुए लोगों को वे सन्मार्ग दिखाते रहं और प्यारे प्रभु की याद दिलाते रहें। उनकी ओर से विस्मृति हुई नहीं, उनको तो पूरी तरह से अपने बच्चों की याद है। विस्मृति हमसे हो गई है। इसलिये हम पर दायित्व आ गया कि हम विवेक के प्रकाश में देख करके जाने हुए असत् के संग का त्याग करें और गुरु की वाणी सुन करके, ग्रंथों के वाक्यों को पढ़ करके, अनन्त परमात्मा को अपना कहकर स्वीकार करें। हमारी स्वीकृति में कहीं अधूरापन रह गया होगा,

इसलिये परम प्रेम जीवन नहीं बन पाया। कहीं-न-कहीं, कोई अपना संकल्प रह गया होगा। कहीं-न-कहीं, किसी से हमारा सम्बन्ध रह गया होगा।

प्रेम तत्त्व के विकास के लिये वर्तमान में अपने को क्या पुरुषार्थ करना है? सोचिये! केवल इतना ही पुरुषार्थ करना है कि परमात्मा के अतिरिक्त और किसी से सम्बन्ध मालूम होता हो अपने को, तो उसको छोड़ देना चाहियेऋ और कोई अपना संकल्प रह गया हो तो उसको भगवत् समर्पित कर देना चाहिये। बड़ा आराम मिलता है। ईश्वर विश्वास में यह बात बहुत अच्छी है।

ऐसे तो विचार पंथ को कम नहीं माना गया है। मानव सेवा संघ में दोनों का महत्त्व है। लेकिन विश्वास पंथ में एक बहुत बढ़िया बात मुझे यह मिली कि अगर साधक के भीतर प्रभु विश्वास की दीक्षा लेते समय कुछ संकल्प ऐसे रह गये हैं कि जिनका त्याग वह कर न सके और जिनकी पूर्ति उसके साधन में बाधा पहुँचा सकती हो, तो ऐसे संकल्पों का तो वे स्वयं नाश करा देते हैं और कुछ संकल्प, जो अपनी जानकारी में हैं, और आप चाहते हैं कि वे संकल्प मिट जाते तो अच्छा था, हमें शान्ति मिल जाती, चित्त एकाग्र हो जाता, एकनिष्ठ हो करके केवल परमात्मा की आराधना में ही हम लग जाते-ऐसा जहाँ आप सोच रहे हैं और चाह रहे हैं कि इन संकल्पों को भी खत्म कर देते तो अच्छा होता। लेकिन उनमें से कुछ संकल्प ऐसे हैं कि जिनकी पूर्ति कराके परमात्मा उनके प्रभाव से आपको हटाना ठीक समझते हैं तो वह भी कर देते हैं और कुछ-कुछ उदाहरण मुझे ऐसे भी मिले कि दीक्षा लेते समय साधकों के कुछ संकल्प ऐसे होते हैं कि जिनका उनको पता ही नहीं लगता। ऐसे भी संकल्प होते हैं। बड़ी गहराई में, अर्धचेतन स्तर में न जाने कहाँ, किस प्रकार से छिपे रहते हैं और साधक को पता ही नहीं चलता कि मेरे भीतर इतने संकल्प हैं। ऐसे संकल्पों को प्रभु अपनी कृपालुता से प्रकट भी करा देते हैं, मिटा भी देते हैं, पूरा कराके भी खत्म करा देते हैं और सब प्रकार से साधक को निःसंकल्प बनाकर अपनी भक्ति निष्ठा में लगा देते हैं।

मेरे साथ भी उन्होंने ऐसा किया है। अपनी कृपालुता से प्रेरित होकर

साधन काल में मुझ जैसे उलझे हुए साधक को भी उन्होंने ऐसे-ऐसे अद्‌भुत अनुभव दिये हैं कि जिन्हें याद करके अब मैं आह्लादित होकर गाती हूँ-

मैंने तेरी छाँह गही, तूने मेरी बाँह गही।

प्रवचन 47

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

जिस अनन्त की अहैतुकी कृपा से हम सब भाई-बहनों को मानव जीवन मिला है, उन्हीं की यह विशेष कृपा है कि हम सभी भाई-बहन इस जीवन में सत्संग का महत्त्व मानते हैं और सत्संग की दृष्टि से यहाँ उपस्थित हुए हैं।

सत्संग का बड़ा भारी महत्त्व है। यह मानव-जीवन का सबसे ऊँचा पुरुषार्थ है। इसलिये कि इस जीवन की समस्यायें सत्संग के द्वारा ही हल होती है, और किसी उपाय से नहीं। सत्संग का अर्थ क्या है? अब ऐसे सोचकर देखिये, कि समग्र उत्पत्ति जो हुई है, निर्माण का जो क्रम सृष्टि में अनवरत चल रहा है, उस समय उत्पत्ति के पीछे मूल रूप में कोई अनुत्पन्न तत्त्व अवश्य है जिसका आदि-अन्त नहीं है, जिसमें से सृष्टि का आरम्भ होता है, उसके निर्माण और विनाश का क्रम चलता है, उस अनुत्पन्न अनादि और अनन्त तत्त्व को सत्य कहते हैं। ऐसा सोचने से बहुत स्पष्ट

मालूम होता है कि हम सभी भाई-बहनों ने जो जीवन धारण किया, और जो जीवन हमारा चल रहा है, वह उसी नित्य तत्त्व पर ही आधारित है। इस दृष्टि से हम सभी के जीवन में वह नित्य तत्त्व, वह सत्य सदैव विद्यमान है।

अनुभवी संत ने हमें यह बताया कि वह सत्य तो नित्य विद्यमान है, उसी पर हमारा जीवन आधारित है। फिर भी, उस नित्य तत्त्व के नित्य विद्यमान होने पर भी, हम लोगों को उस सत्य की उपस्थिति का आनन्द नहीं आ रहा है। सत्य के सम्बन्ध में हम लोगों ने सुना कि वह अविनाशी है, सर्वव्यापी है, आनन्दस्वरूप है, प्रेमस्वरूप है। ऐसा जो सत्य है, अनादि, अनन्त, आनन्दस्वरूप, प्रेमस्वरूप, वह सत्य हम सभी भाई-बहनों में विद्यमान है, तो हम लोगों को आनन्द का अनुभव होना चाहिये था। प्रेमस्वरूप सत्य नित्य विद्यमान है तो उसके प्रेम के रस का मधुर आस्वादन हम लोगों को होना चाहिये था, लेकिन नहीं हो रहा है।

हो क्या रहा है? नाशवान् शरीर के साथ जुट जाने का जो परिणाम स्वभाव से होना चाहिये था, उसका अनुभव हो रहा है अब थकावट आ गई, अब भूख लग गई, अब नींद आ रही है, अब बीमारी सता रही है, अब मृत्यु का भय सता रहा है-ये सब अनुभव कहाँ से आ रहे हैं? ये अनुभव आ रहे हैं नाशवान् शरीर के साथ अपने को मिला लेने से। ठीक है? यह अनुभव हो रहा है तो सत्य के संग में होने का जो आनन्द और प्रेम का जो रस मिलना चाहिये, वह नहीं मिल रहा है। अनित्य शरीर जो कि बन गया है निरन्तर बदल रहा है और मिट जायेगा। अनेकों शरीरों को मिटते हुए हमने देखा है। विवेक के प्रकाश में यह निश्चित है कि आज जिस शरीर को लेकर संसार में हम विचरण कर रहे है, यह भी किसी भी क्षण साथ छोड़ देगा। इस बात का अपने को पता है न?

तो अब सत्संग का अर्थ क्या है? सत्सग का अर्थ है, कि अपने जाने हुए असत् के संग का हम त्याग करे, तो नित्य विद्यमान सत्य की उपस्थिति का अनुभव अपने को हो जायेगा। यह अर्थ है सत्संग का। यह जाना हुआ असत् है कि नाशवान शरीर को हमने अपना माना, तो अपना मानने से भी अपना होकर यह रह नहीं सकेगा। इस बात को जानते हुए भी, उसके संग में रहना हमें पसन्द आया जो यह असत् का संग हो गया।

शारीरिक बल किसी भी क्षण में साथ छोड़ देगा। इस बात को जानते हुए भी शरीर के बल का आश्रय, धन के बल का आश्रय, बौद्धिक योग्यता-क्षमता का आश्रय, समाज और सरकार के दिये हुए पद का आश्रय लेकर हम लोग रहते हैं, और उस आश्रय पर अपने को सुखी करने का प्रयास करते हैं। तो यह हमारा जाना हुआ असत् है। इस जाने हुए असत् के संग के त्याग का नाम सत्संग है।

सत् का संग तो नित्य निरन्तर है ही। उससे तो कभी कोई विच्छिन्ना हो ही नहीं सकता। उसके बिना पलमात्र के लिये भी हमारा आपका अस्तित्व रह नहीं सकता। तो जो सदा-सदा से है, उसका करना क्या है? और जो हमारे करने से होगा, वह रहेगा क्या? जी? नहीं रहेगा। तो सत्य का संग करना है—यह कहते बनता नहीं है। क्या कहते बनता है? कि भाई, जाने हुए असत् के संग का त्याग करो। तो जो जाना हुआ असत् है उसके संग का त्याग करने से जो सत्य अपने में इसी वर्तमान में विद्यमान है—उसकी विद्यमानता का आनन्द अपने को आ जाता है।

अब आज हम सभी भाई-बहन इस उद्देश्य को लेकर यहाँ बैठे हैं कि मानव-जीवन की समस्याओं का समाधान होना चाहिये! कैसे हो सकता है? सत्संग के आधार पर हो सकता है।

यही एक पुरुषार्थ है जो इस जीवन की गरिमा को, महिमा को अभिव्यक्त होने में सहायता कर सकता है।

अब भौतिक समस्याओं को सामने रख कर देखें। ऐसे पूछें हम, कि जीवन की समस्यायें क्या है? तो बहुत लंबी लिस्ट ;सपेजक्ष बन जायेगी। और बहुत-सी ऐसी समस्यायें हमारे सामने आ जायेंगी जो कि बार-बार हल करने पर भी, उठती ही रहती है। लेकिन, इस मानव जीवन की कुछ मौलिक समस्यायें ऐसी हैं, कि जिनका एकबार समाधान हो जाये तो फिर कोई नई समस्या उठती नहीं है। तो ऐसी समस्याओं पर विचार करना-इस सत्संग का एक उद्देश्य है।

अब ऐसे सोचिए कि हम सभी भाई-बहिनों ने इस शरीर को लेकर जितना समय बिताया, उसमें बहुत बार कई प्रकार के सुख और कई प्रकार के दुःख अनुभव कियें। सुख तो हम लोग अपनी पसन्दगी से लेते हैं। लेकिन ऐसा कोई सुख इस संसार में अब तक नहीं मिला, जिसमें कि किसी प्रकार का दुःख सम्मिलित न हो। यह हमारा आपका अपना अनुभव है। जैसे बहुत अच्छा, स्वादिष्ट, रुचिकर भोजन पे्रमपूर्वक सामने लाया जाये तो उसके ग्रहण करने का सुख। तो इस अवसर पर प्रकृति का विधान देखो कि ऐसे मिले हुए भोजन को भी अच्छी तरह से पूरा स्वाद लेकर खाने का सुख कब मिलता है? जब ठीक उसके पहले अच्छी भूख लगने की पीड़ा आपको अनुभव हो जाये। प्रकृति का ऐसा विधान है कि जीवन को धारण करने में प्राण शक्ति जो खर्च होती रहती है उसकी कुछ-कुछ क्षतिपूर्ति करने का इंतजाम प्रकृति करती है। कुछ-कुछ घन्टों पर भूख लगती है। भूख जब लगती है तो उससे पेट में, अन्न की थैली में, संकुचन की क्रिया होने लगती है और भीतर के स्नायुओं में एक तनाव होता है। उसको व्यक्ति भूख की पीड़ा के रूप में अनुभव करता है। जब तक आप अच्छी भूख लगने की पीड़ा को अनुभव नहीं करियेगा, तब तक आपको सुस्वाद भोजन को खाने का सुख अनुभव नहीं होगा।

मानवेतर योनियों में प्रकृति के विधान के अनुसार सुख-दुःख भोगने की बाध्यता है। परन्तु मानव-योनि में हमारे सामने सुख-दुःख भोगने की बाध्यता नहीं है। क्या होता है? कि जब सुख मिलता है तो जो जाग्रत व्यक्ति होते हैं, सचेत व्यक्ति होते हैं—वे उस सुख की सीमाओं को देख करके उससे असंतुष्ट हो जाते हैं, कि बस! इतना ही है। इसके आगे और तो कुछ नहीं है और उसके साथ जब दुःख भी मिलता है, तो उनके भीतर से जीवन की एक माँग जाग्रत होती है।

हम भाई-बहन इस तथ्य को जानते हैं कि यहाँ का कोई ऐसा संयोग आज तक बना नहीं जो वियोग में बदल न जाये। लेकिन मानव-जीवन की माँग ऐसी है, कि अपने को तो ऐसा प्रिय संयोग चाहिये कि जिसमें वियोग न हो। ऐसी आवश्यकता अपने को मालूम होती है कि नहीं? जी? होती है। और ऐसे ही जन्म-मरण की सीमा में बँधा हुआ व्यक्ति, शरीरों के माध्यम से संसार के संयोग-जनित सुखों की आकांक्षा रखने वाला व्यक्ति, मृत्यु पसन्द नहीं करता, लेकिन उसे विवश होकर मरना पड़ता है। तो हमारी एक बड़ी समस्या है कि क्या मेरे लिये, मृत्यु रहित जीवन है? वियोग रहित संयोग है? दुःख-रहित सुख है? यह पहला प्रश्न है। और है, तो कैसे मिलता है? यह दूसरा प्रश्न है।

ऐसा जीवन है कि नहीं, इसका उत्तर दार्शनिक आधार पर मिलता है—आस्तिकता के आधार पर मिलता है। और अगर वह जीवन है तो हम लोगों को कैसे मिलेगा? इस प्रश्न का उत्तर है कि साधना के आधार पर मिलता है। इन चारों

दिनों की बैठकों में इन दोनों पहलुओं पर संत से प्रसाद के रूप में जो मुझे मिला है वह मैं आप भाई-बहिनों की सेवा में यथाशक्ति पत्र-पुष्प के रूप में अर्पित करूँगी।

पहला प्रश्न है—दुःखरहित सुख है कि नहीं? वियोगरहित संयोग है कि नहीं? मृत्युरहित जीवन है कि नहीं? अनुभवी संतजन बताते हैं कि वह जीवन है और जब मैंने सन्त की शरण में बैठकर जीवन की व्याख्या को सुना, उन संत चरणों की धूलि पाकर यह तुच्छ जीवन मिट्टी से सोना बना तो मैंने यह पाया कि जिस तरह से जीवन की माँग हमारे भीतर है, उसी का नाम जीवन है। अनुभवी सन्त ने कहा कि "असंतोष, दुःख, वियोग की व्यथा, जन्म-मरण की बाध्यता—ये जो तुम विवश होकर सहन कर रहे हो, इसको जीवन कहते नहीं है। यह तो तुम्हारी भूल का परिणाम है। जीवन उसी को कहते हैं कि जिसकी कल्पना तुम्हारे भीतर है। जीवन उसी को कहते हैं, जिसकी माँग तुम्हारे भीतर है।" वर्तमान अवसर हम लोगों को सत्य की चर्चा और जीवन की चर्चा करने को मिला है तो सत्संग के प्रकाश में मौलिक समस्याओं का समाधान कर लें।

महाराजजी ने बताया कि मानव-जीवन का यह अवसर तुमको केवल इसीलिये मिला है, कि तुम अपनी इस माँग की पूर्ति कर सको, अन्यथा सुख-दुःख भोगने कि लिये तो कुत्ते-बिल्ली ही बहुत थे मनुष्य बनने की आवश्यकता ही नहीं थी। लेकिन यह जो जीवन है, इसकी रचना केवल इसी उद्देश्य के लिये हुई है कि मरणशील शरीर को लेकर संसार में विचरण करते हुए आप मृत्यु-रहित अमर जीवन का आनन्द अनुभव कर सकें। इसी के लिये यह मिला है। खाने-पीने-सोने के लिये नहीं।

और प्रकृति के विधान में बँधे हुए, विवश होकर रोते-रोते पैदा होना और विवश होकर हाय-हाय करके मर जाना—यह मनुष्य के जीवन की शोभा नहीं है। यह तो मनुष्यता को भुला देना है। पशुता को प्रश्रय देना है। मनुष्य की शोभा किस बात में है? कि मृत्यु का ग्रास बनने से पहले वह अपने अमरत्व के आनन्द में मस्त हो जाये।

महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में मनुष्य के व्यक्तित्व की व्याख्या सुन-सुन कर, पढ़-पढ़ कर, लिख-लिख कर, मैं हैरान हो गई थी। कहीं भी मानव-जीवन में से दुःख-निवृत्ति के प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं मिला। दिन-रात एक करके, मैंने पढ़ने की कोशिश की, इसी आशा में कि ऊँची शिक्षा से मानव-जीवन की समस्याओं का समाधान मिल जायेगा, पर नहीं मिला। सन्त के पास बैठकर मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिला कि तुम तो पैदा हुए हो इसलिये, कि उस जीवन को प्राप्त करो, उस जीवन से अभिन्ना हो जाओ, जिसमें मृत्यु का दुःख नहीं है, जिसमें वियोग की वेदना नहीं है, जिसमें दुःख का लेश नहीं है, उसी के लिये पैदा हुए हो।

मानव-जीवन की महिमा जब मेरे सामने आने लगी तो सृष्टि कर्त्ता के प्रति मेरी जितनी आलोचनायें थीं, जितना आक्रोश था, सब खत्म हुआ। मैंने कहा, यह तो बढ़िया बात है। मनुष्य का जीवन कितना सुन्दर सन्धि-स्थल है! उस अविनाशी परमात्मा की अलौकिक विभूतियों का प्राकट्य, इस नाशवान् शरीर को लेकर दुनिया में विचरण करने वाले मनुष्य के व्यक्तित्व के माध्यम से होता है। यह कितनी ऊँची बात है! नहीं तो वह अलख, अगोचर, परम रहस्यमय, रहस्यमय ही रह जाता।

इन सारी स्वीकृतियों, सारी प्रतीतियों और सारे दृश्य के पीछे जो जीवन का सत्य है, जो

मौलिक तत्त्व है, जो अनादि-अनन्त तत्त्व है, उसी तत्त्व से अभिन्ना होने का प्रोग्राम जो है, वही हमारे जीवन की रचना का आधार है। जिस किसी ने सृष्टि बनाई, इतना तो निश्चित है कि मैंने नहीं बनाई, और जिस किसी ने मुझको बनाया, निश्चयपूर्वक हम लोग जानते हैं कि मैंने अपने को नहीं बनाया, तो मेरा उस परमात्मा से बड़ा विरोध रहता था। जब-जब मुझे अपनी कामना-पूर्ति के सुख में बाधायें मिलती तो मैं नाराज होती रहती—तुम क्यों सृष्टि बना देते, मुझको तो न बनाते। ऐसा मैं कहती परमात्मा को कि तुमने ऐसा क्यों किया?

थॉमस हार्डी के उपन्यास में मैंने पढ़ा कि ईश्वर कृपालु पिता नहीं है, वह तो बड़ा कठोर न्यायाधीश है! और वह तो हमें बनाकर, जा करके सो गया और फिर जगेगा नहीं कभी, खबर नहीं लेगा। तो मैं भी ऐसा ही कहा करती। अपनी बचपन की परम्परा की बात सुनी हुई थी, कि क्षीर सागर में शेषशय्या पर विश्राम लेते हैं। तो मैं बहुत सलाह देती भगवान को,कि चुपचाप से जाकर सो जाओ न, आराम करो। काहे को सृष्टि बना देते हो? उथल-पुथल मची रहती है। सुख-दुःख की लहरियों में आदमी डूबता, उतराता रहता है। तुम्हें तो कुछ पता ही नहीं है। तुमको तो कुछ चिन्ता ही नहीं है—ऐसा मैं बोलती।

लेकिन जब से मानव जीवन की यह महिमा मुझे बताई गई तो मैंने पाया कि यह मानव-जीवन तो ऐसा उत्तम है, इतना बढ़िया है, कि मनुष्य को सारी सृष्टि का श्रृंगार कहते हैं। क्या है इसमें? कि यह तो एक ऐसा बढ़िया

सन्धि-स्थल है, कि इसी व्यक्तित्व में ज्ञान और पे्रम का अलौकिक तत्त्व अभिव्यक्त होता है। अलख, अगोचर, अनादि, अनन्त माधुर्य और अनन्त सौन्दर्य से सम्पन्ना परमात्मा आप ही के माध्यम से अपनी विभूतियों को प्रकट करता है।

एक मरणशील शरीर को लेकर, एक आकृति को लेकर हम संसार में आये और संसार में विचरण कर रहे हैं और इसी आकृति के रहते हुए अनादि, अनन्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति आपके द्वारा इस संसार में हो सकती है।

जो संत महानुभाव संसार की इच्छाओं, कामनाओं का त्याग कर देते हैं, जो संत महानुभाव ज्ञान के प्रकाश में तीनों शरीरों से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं, आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर पे्रम-स्वरूप परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर लेते हैं, उनके माध्यम से ईश्वरत्व इस संसार में प्रकट होता है। कोई ज्ञानसम्पन्ना महात्मा हो, उसके निकट बैठने मात्र से हृदय का ताप शांत हो जाता है। कोई भगवत् भक्त हमारे बीच में आ जाये, उसके भीतर जो ईश्वरीय पे्रम का रस लहरा रहा है, उसकी मधुरता वायुमंडल को मधुर बनाती रहती है। उस वायुमंडल में जाकर उपस्थित होने से पीड़ित और तापित लोगों के हृदय में शीतलता आ जाती है। क्या ऐसा आपने अनुभव किया है?

ऐसा अद्‌भूत अनुभव मुझे तो इतना अच्छा लगा, कि अब मैं उसी परमात्मा से कहती हूँ कि आप बहुत अच्छे हैं। आपने बड़ा अच्छा किया जो सृष्टि बनाई। उससे भी अच्छा किया जो मुझे बनाया और उससे भी बढ़िया काम आपने किया कि मुझे असत् के संग में चैन से रहने नहीं दिया। इसका परिणाम क्या होता है? कि दुःखमिश्रित सुख से ऊपर उठकर व्यक्ति को परमानन्द मिलता है, संयोग-वियोग के मिश्रण से ऊपर उठ कर नित्य-योग का अविनाशी जीवन मिलता है, जन्म-मरण की बाध्यता समाप्त हो करके अलौकिक जीवन का आनन्द मिलता है, अमरत्व का आनन्द मिलता है।

ये बातें जो मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ, आप ऐसा मत सोचियेगा कि ये केवल

ग्रन्थ में लिखने की बातें हैं, या फिर सत्संग में बैठकर वक्ता बोले और श्रोता सुने—इस सीमा के भीतर हैं। ऐसा नहीं है। संत के पास पहुँच करके मैंने ऐसे अद्‌भूत प्रश्न उनके सामने रखे जो मेरे जीवन में थे। बनावटी बातें नहीं थीं। सच्ची बातें थी।

संत कबीर की वाणी मैं बार-बार महाराजजी को सुनाऊँ। वे कहते हैं-"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आखिन देखी।" तो मैं महाराजजी को कहूँ कि महाराज मुझे आँखों से दिखाइये, मेरे जीवन में उस सत्य का अनुभव कराइये तब मैं मानूँगी। अन्यथा जब आप बोलते हैं और मैं सुनती हूँ, तो मैं यही सोचती हूँ कि पता नहीं ये कहाँ की बातें हैं। मेरे भीतर तो असंतोष भरा है। मेरे भीतर तो कामनाओं की अतृप्ति का ताप भरा है। मैं क्या जानूँ कि परम प्रेमास्पद के अगाध, अनन्त रस की मधुरता कैसी होती है? हमको क्या पता? तो आप मुझे इसका अनुभव करा दीजिये तब मैं जानूँगी कि हाँ, यह बात ठीक है। तब मुझे जीवन के प्रति आस्था बनेगी। तो अनन्त कृपालु भगवान की कृपा, से मेरी साधना के बल पर नहीं, लेकिन मेरे जीवन की वेदना से दुःखी हो करके, संत ने, भगवन्त ने कृपा करके, दुःख रहित आनन्द, संयोग-वियोग से रहित नित्य-योग, जन्म-मरण से रहित अलौकिक अविनाशी जीवन का प्रत्यक्षीकरण कराया। अब जब हमारे पुराने आचार्य लोग मिलते हैं, जिनको वर्ग-भवन में प्रश्न करके हैरान करती थी मैं, वे लोग कभी-कभी पूछते हैं कि बोलो, तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मिला। मैं कहती हूँ- हाँ मिला। क्या मिला?

तो मुझे यह कहने में बहुत आनन्द आता है कि आँखों से जो कुछ देखा जा रहा है और ऊँचे से ऊँचे बौद्धिक स्तर पर जो कुछ सोचने और समझने में आता है, उन सबके परे एक अचिन्त्य, अलौकिक अदृश्य जीवन है। मैंने उसका दर्शन किया है। मुझे इत्मिनान हो गया। मैंने समझ लिया कि भाई, मानव का जो जीवन मिला है वह तो उलझन में पड़े रह कर भोग रहे हैं असत् के संग के प्रभाव मेंऋ और सोच रहे हैं, अनन्त, अविनाशी परमात्मा के

सम्बन्ध में। जिसको छोड़ना है उसको छोड़ नहीं रहे हैं। जिसको पाना है उसको पकड़ नहीं रहे हैं और असमंजस में दिन कटे जा रहे हैं। ऐसा तो होना नहीं चाहिये। यह अवसर निकल जायेगा, तब फिर क्या होगा? इसलिये सत्संग का कार्यक्रम ऐसा नहीं होता है कि कहने वाले ने कह दिया, सुनने वाले ने सुन लिया और खत्म हो गया। सो नहीं होता है।

सत्संग का अर्थ ही यह निवेदन किया मैंने आपकी सेवा में कि आप ही के व्यक्तित्व में नित्य विद्यमान उस सत्य की विद्यमानता का आनन्द और रस आपको आ जाना चाहिये। सीमित व्यक्तित्व में वह असीम अभिव्यक्त होगा, यह असंभव बात नहीं है। अगर ऐसा न होता, तो मानव-समाज में सत्य की चर्चा न होती।

एक बार मैं अपनी ही उलझन में उलझी हुई अनेक प्रकार से अपनी असमर्थता को प्रकट कर रही थी महाराजजी के सामने। मैं यह कह रही थी कि, मेरे भीतर जीवन की माँग है। संत ने मुझे पूरी तरह से आश्वस्त कर दिया कि जिस जीवन की माँग है तुममें, वह है। और अब मैं ऐसा कहती हूँ- 'है' का अगर कुछ अर्थ होता है तो वह 'जीवन' ही होता है- बाकी कुछ है नहीं। अगर केवल एक 'है' अक्षर लिख लो और इस जीवन में उसका कोई अर्थ है तो वह अलौकिक, अविनाशी, आनन्दस्वरूप, प्रेम स्वरूप जीवन ही है, बाकी और कुछ नहीं है।

मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि आप इसको भूल-भुलैया मान कर छोड़ दें। सो बात नहीं है। सोच करके देखिये बीती हुई घटनाओं को, भूतकाल पर दृष्टिपात कीजिये, कि किसी दिन जिन बातों को मैंने 'है' कहा था, आज वे सब खत्म हो गई हैं कि नहीं? किसी को हमने माता-पिता कहा था और हर प्रकार से उनकी कृपा पर आश्रित थे। आज वे माता-पिता नहीं दिख रहें हैं, तो हमेशा 'है' कहना मिथ्या हो गया कि नहीं? जी? हो गया न। कभी मैंने 'हैं' कहा था। आज वह 'नहीं' में परिवर्तित हो गया। तो महाराजजी की वाणी मुझे इतनी अच्छी लगी। उन्होंने कहा कि देवकीजी, तुम किस फेर में पड़ी हो? जिस जीवन की माँग है, वह ही है और 'है' के अर्थ में वही आ सकता है। उससे भिन्न जितनी बातों को हम लोग 'है' कहते हैं, वह सब 'नहीं' में बदल रहा है, बदल जायेगा, मिट जायेगा। कुछ भी रहने वाला नहीं है।

तो पहली बात यह है कि मैं आप भाई-बहनों को यह विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि आपके भीतर जिस दुःख-रहित आनन्द, वियोगरहित संयोग, मृत्युरहित जीवन की आवश्यकता महसूस होती है, वह आवश्यकता ही उस सत्य की उपस्थिति का प्रमाण है। आप ऐसा मत सोचिये कि आज मुझे अच्छे मकान की आवश्यकता है तो कल वह मकान मिल सकता है, और आज मुझे परमात्मा के प्रेम की आवश्यकता है तो पता नहीं वह कब मिलेगा, कैसे मिलेगा और क्या जाने किसी को मिला भी है कि नहीं? ऐसा चिंतन व्यक्तियों का होता है।

स्वामीजी महाराज के एक भक्त हैं। बड़े भारी चिकित्सक हैं। हृदय रोग के विशेषज्ञ। दूसरे देशों में परीक्षा लेने जाते हैं। अच्छे सत्संगी भी हैं। महाराजजी की बहुत संगति की उन्होंने। बहुत आदर किया, सेवा की और ढाई बजे रात को वह अपने कार्य से मुक्त होते थे तो ढाई बजे रात को स्वामीजी महाराज उनको समय देते थे कि तुम आओ, बैठो और जीवन पर विचार करो। ऐसे सत्संगी भाई की बात मैं कहती हूँ। एक दिन कहने लगे कि "दीदी, हम परमात्मा को मानते हैं, तो कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि हम मानते रहें, मानते रहें और अंत में परमात्मा न निकले।" भाई, चिंतन है मनुष्य का। ईमानदार आदमी हैं, उन्होंने सच्ची बात सामने रख दी। मुझको बड़ा धक्का लगा। बहुत दुःख हुआ मुझे। मैंने कहा, भैया! ऐसा कैसे सोच सकते हो?

अगर परमात्मा के सम्बन्ध में ऐसा सन्देह रखकर हम चलेंगे तो दुनिया में और कौन सी बात है कि जिसमें निस्सन्देह रहेंगे। और कुछ है? और तो कुछ नहीं है। इसलिये मैं आप भाई-बहिनों से निवेदन कर रही हूँ कि आप सोचते होंगे कि शरीर में रोग हो गया है तो चलो, चिकित्सक को दिखा ले, दवा ले लें, रोग ठीक हो जायेगा। रोग हो गया है तो रोग के ठीक होने में अपनी आशा है और शरीर के नाश होने के पहले-पहले अविनाशी जीवन का आनन्द मिल जायेगा, इसमें अपने को सन्देह है। तो जो संभव हैं, जो सत्य है-जो होने वाला है उसी में सन्देह रखो और जो मुट्ठी में से निकलता जा रहा है, खिसकता जा रहा है, हमारे पकड़ते-पकड़ते भी हमको छोड़कर चला जा रहा है, उसको दौड़-दौड़ करके पकड़ने की चेष्टा करो।

एक कथा पढ़ाई जाती थी दिग्विजयी सम्राट सिकन्दर की। जब उसका शरीर शान्त होने को आया तो उसने अपने मंत्री-मण्डल को बुलाया, परिवार के प्रिय कुटुम्बीजनों को बुलाया और उनसे कहा, कि जब मेरी लाश को तुम लोग अंत्येष्टि के लिये ले जाओ तो ये दोनों हाथ ऐसे खुले हुए, कफन से बाहर निकाल देना, इनको मत

ढकना। सिकन्दर ने ऐसा कहा तो मंत्री लोग परेशान होने लगे। कहने लगे कि जहाँपनाह! यह ऐसी आज्ञा आप क्यों दे रहे हैं? इसका क्या अर्थ होता है? तो उस महापुरुष ने अपने हृदय की भावना प्रकट की और कहा कि देखो, मैं मरने के बाद भी अपनी प्रजा की यह सेवा करना चाहता हूँ। इस घटना से अपनी प्रजा को यह बता देना चाहता हूँ कि तुम्हारा विश्वविजयी सम्राट सिकन्दर जैसे खाली हाथ दुनिया में आया था, वैसे ही खाली हाथ यहाँ से जा रहा है। यह शिक्षा मैं अपनी प्रजा को देना चाहता हूँ। इसलिये मेरे इस आदेश का पालन होना चाहिये।

बढ़िया बात है न? तो आज हम सब भाई-बहनों के अन्तर में सोई हुई मानवता के गुणों को जाग्रत करने की एक सद्प्रेरणा, आपकी सेवा में निवेदन है। वह क्या है? कि यहाँ जो कुछ हम सब कर रहे हैं, अवश्य करें। क्योंकि हाड़-मांस, अणु-परमाणु, रक्त-मांस-मज्जा से बना हुआ एक शरीर अपने पास है, तो इसके लिए ईंट पत्थर से बना हुआ महल भी होना ही चाहिये। लेकिन होना चाहिये वह केवल इसके लिये, और वह भी कब तक? हमेशा के लिये तो यह संयोग रहेगा नहीं। बड़े शौक से महल बनाओ और बड़े गौरव के साथ उस पर अपने नाम का पत्थर लगाओ और फिर उसी महल के भीतर से एक दिन प्रियजन कहेंगे कि अब देर हो रही है, जल्दी उठाओ, जल्दी उठाओ।

तो मनुष्य का महत्त्व क्या है? कि मनुष्य महल बनाता है और कहता है कि प्रकृति के बनाये हुए इस पुतले को रखने के लिये यह है-मेरे लिये नहीं है। मेरा परमाश्रम तो वह है कि जिसका आदि-अन्त नहीं है। मेरा परमाश्रय तो वह है जिसमें मृत्यु की छाया नहीं पड़ सकती। मेरा जीवन तो वह है जो ज्ञान के आनन्द और प्रेम के रस से सम्पन्न है। इस निश्चय को लेकर आप चलें तो संसार का कार्य भी बहुत कुशलतापूर्वक कर सकेंगे और संसार का त्याग भी बहुत आनन्दपूर्वक कर सकेंगे। आज संसार के संयोगजनित सुखभोग के लालच में हम अपने काम भी नहीं आये-कुटुम्बीजनों के काम भी नहीं आये। संसार के काम तो क्या आयेंगे? और परमात्मा को तो उठा कर मन्दिरों में बंद कर दिया कि आप यहाँ आराम करिये। हमको तो अभी दुनिया का तमाशा देखने दीजिये। यह हाल हो गया है।

आप भाई-बहिनों का ध्यान इस बात पर दिलाना चाहती हूँ कि बड़ा अनमोल अवसर है, बड़ा अनमोल जीवन है। जो कभी नहीं हो सकता, तो हृदय के रस का स्रोत सुखा देता है, जो विवेक पर पर्दा डाल देता है, जो

साधारण मानवता के व्यवहार से भी नीचे गिरा देता है, ऐसे कामनाओं के फेर में पड़े रहकर एक भी क्षण अपना बर्बाद न किया जाये। परिवार में अगर प्रेम और विश्वास घटता है तो क्यों? अपनी कामनाओं की पूर्ति के आगे हम सब कुछ भूल जाते हैं।

समाज में इतना संघर्ष और इतना वैषम्य फैल गया तो क्यों? महाराज कहते हैं कि मनुष्य यदि एक परिवार के मोह में न फँसता तो क्या एक परिवार को श्रीसम्पन्न बनाने के लिये बृहद् समाज के साथ बेईमानी करता? नहीं करता। अगर समाज के साथ मनुष्य वह कर रहा है कि जो नहीं करना चाहिये तो मानवता के प्रकाश में नहीं कर रहा है-मोह के बंधन में बँध के कर रहा है। अज्ञानता के अंधकार में कर रहा है। कामना-पूर्ति के लालच में कर रहा है।

मानव-जीवन का जो सुन्दरतम चित्र हो सकता है, उस चित्र को मैंने आज कितना विकृत बना रखा है। क्या यह स्थिति शोचनीय नहीं है?

जी? हमें सोचना चाहिए और बहुत ऊँचे उठ सकते हैं हम लोग। यह जीवन बहुत सुन्दर बन सकता है। तो हम लोग आज से ही इस दिशा में प्रयत्नशील हो जायें। ऊँचे उठ सकते हैं तो आज से ही इस दिशा में कदम उठावें।

प्रवचन 48

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मानव का एक नाम साधक है और साधक का अर्थ है—हम सभी भाई-बहनों को इसी वर्तमान में, इसी जीवन में सफलता मिलनी चाहिये। सफलता मिलने का अर्थ क्या है? कि हम जन्मे हैं अनेक प्रकार की इच्छाओं से आबऋ होकर। शरीर की सहायता से व्यक्त जगत् का सुख लेंगे—इस इच्छा के रहने से शरीर धारण करके यहाँ आना पड़ा। सफलता का अर्थ क्या है—सब प्रकार की इच्छाओं से मुक्त होकर, जन्म-मरण की बाध्यता को तोड़ दें, सफलता का अर्थ है, कि रस का जो मूल स्रोत है, जीवन का जो मूल स्रोत है, जो प्रेरम रस है—उससे विमुख होकर अनेक प्रकार की अतृप्ति और नीरसता में बँधे हुए हम पैदा हुए हैं और उसी नीरसता से पीड़ित होकर संसार में जहाँ-तहाँ घूमते-भटकते फिरते हैं। कहाँ रस मिले? कहाँ तृप्ति मिले?—यह जो अपनी दशा है, इसी दशा को मिटा लेना इस जीवन की सफलता है।

यह दशा कैसे मिटती है? कि जीवन का जो मूल स्रोत है—रस का जो आनंद सागर है—उससे हम विमुख हो गये हैं तो इस विमुखता का नाश कर लें और उस जीवन के अनन्त स्रोत, मधुर रस के अनन्त सागर से अपने हृदय के भाव को जोड़ लें। प्रेम भाव को परमात्मा से जोड़ लेने से जन्म-जन्म की नीरसता का नाश हो जाता है और नीरसता का नाश हो जाना ही मानव-जीवन की सफलता है।

जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो जाये और नीरसता का नाश हो जाये तो हम कहेंगे कि मानव-जीवन सफल हो गया। जिसने सब प्रकार की इच्छाओं का नाश कर दिया, सब प्रकार की अतृप्ति का अंत कर दिया, वे स्वयं अपने आप में परम स्वाधीन हो जाते हैं। किसी प्रकार की पराधीनता उनके जीवन में शेष नहीं रहती है।

एक संत एक बार बातचीत कर रहे थे, तो कह रहे थे कि देखो भाई! किसी व्यक्ति को पकड़ करके बाँध दो। तो जो बँधुआ हो जाता है, वह एक ही जगह पर बँध जाता है, पिगमक हो जाता है। किसी खंभे से पकड़ कर

बाँध दो, किसी चीज से पकड़ कर आदमी को बाँध दो, तो बाहर का जो बंधन है वह आदमी को चलने-फिरने से रोक देता है। आदमी जहाँ बँधा है, वहीं खड़ा रह जायेगा। लेकिन विविध प्रकार की इच्छाओं से बँधा हुआ व्यक्ति जो है, वह तो बहुत दौड़ता है। तो कहने के लिये हम बऋ है। किससे बऋ है? अपनी ही अतृप्त वासनाओं से बऋ हो गये हैं। अपनी ही कामनाओं से बऋ हो गये हैं। और बऋ होने का परिणाम क्या है? कि हम अत्यन्त गतिशील हो गये हैं। अभी यहाँ, कभी वहाँ। कब किससे मिलें? कहाँ जायें? क्या करें? कैसे करें? और एक बात मन की पूरी हुई तो दस बातें उसकी जगह पर पैदा हो गई। श्री महाराजजी कहते थे कि देखो भैया, विचार करो—तुम रहे जहाँ के तहाँ। मुझे ऐसा रहन-सहन चाहिये, मुझे ऐसे संगी-साथी चाहिये, मुझे ऐसी संतान चाहिये, मुझे ऐसा मकान चाहिये, मुझे ऐसा पद चाहिये,

तदर्थ बहुत दौड़ रहे थे। बहुत दौड़ लगा कर, बड़ी शक्ति खर्च करके अगर कुछ पाया, तो पाने के बाद स्थिरता नहीं है। जितना पाया, उससे अधिक पाने की कामना पैदा हो गई। तो दौड़ की दौड़ बनी रह गई। तुम्हारा मूल्य कुछ बढ़ा नहीं। कभी-कभी हिसाब बताते तो कहते कि ७५/१०० लिखो, चाहे ३/४ लिखो, कोई फर्क नहीं पड़ता। ३/४ को ७५/१०० लिखो, तब भी मूल्य कुछ बढ़ता नहीं।। हाँ, संख्या जरूर बड़ी दिखाई देने लग जाती है।

यही हालत हुई हमारी। जन्मे थे तो अनेक प्रकार की इच्छाओं में आबऋ थे। ऐसा मैं दावे के साथ इसलिए कहती हूँ कि प्रकृति के विधान को मैं मानती हूँ। आप भी विचार करेंगे तो मानना ही पड़ेगा कि अगर इच्छायें शेष न रही होती तो जन्म लेने की बाध्यता खत्म हो गई होती। शरीर धारण करना पड़ा है तो इसी से यह प्रमाणित होता है कि वासनायें शेष रह गई थीं। उनसे बऋ होकर हम जन्मे और अब देखिये, कि जीवन का एक बहुत बड़ा भाग हम लोगों ने बिता दिया। कुछ इच्छाओं की पूर्ति में, कुछ उनका सुख भोगने में, कुछ इच्छाओं की अपूर्ति के क्षोभ और दुःख भोगने में बहुत बड़ा समय निकल गया।

इतना समय मैंने धरती पर रह कर निकाला, स्थान लिया, आकाश में अवकाश लिया, प्रकृति से सब शक्तियां ली। यह सब ले करके हमने यहाँ समय बिताया। उसके परिणाम से अपने में कोई विशेषता आ गई क्या? ऐसा सोच कर देखिये, तो मालूम होगा कि जिन मनुष्यों ने 'साधना के लिये मिला है यह जीवन'—ऐसा कह कर स्वीकार किया और इस स्वीकृति के फलस्वरूप इच्छाओं, वासनाओं का त्याग किया, उन्होंने तो जीवन का फल पा लिया और जिनकी दृष्टि इस बात पर नहीं गई, उनका क्या हाल है? उनका हाल ऐसा है कि जब जन्मे थे, उस समय जितनी शक्ति, जितनी चेतना उनमें थी—इच्छा पूर्ति के फेर में पड़ करके उनकी शक्तियाँ और थोड़ी शिथिल हो गई। शक्तिहीनता आ गई और इच्छाओं की वृद्धि हो गई।

साठ-पेंसठ वर्ष की उम्र जो इस धरती पर बिताई, उसके परिणामस्वरूप कुछ विकास हुआ कि ह्रास हुआ? क्या कहेंगे? ह्रास ही हुआ। अगर मनुष्य होकर भी अपने को साधक स्वीकार नहीं किया तो ह्रास हुआ। जन्म के समय जितनी इच्छायें थीं, वे और बढ़ गई। जड़ता का पर्दा थोड़ा और मोटा हो गया। मनुष्यता से हम थोड़े और पीछे हट गये। उन्नाति नहीं हुई—शांति नहीं मिली।

इच्छायें जितनी बढ़ती चली जाती है, मनुष्य के जीवन की शांति उतनी ही घटती जाती है। कुछ लोग कहते हैं, इच्छायें होती हैं तो बहुत प्रकार की उन्नाति होती है। इच्छायें नहीं रहेंगी तो जगत् में उन्नाति कैसे होगी? जीवन क्या रहेगा? ऐसा भ्रम लोगों को होता है। लेकिन इस भ्रम का निराकरण हमें करना ही पड़ेगा।

मन में कोई संकल्प उठा तो उस संकल्प की पूर्ति के लिये जिसको हम अपने बराबर का नहीं समझते हैं, उससे भी मीठी-मीठी बातें करनी पड़ती है। इससे अपना मूल्य बढ़ता है, कि घटता है? घटता है। हमने अपना मूल्य घटाना क्यों पसन्द किया? इसलिये किया कि भीतर में अपने एक बात बैठी है कि इच्छा पूरी हो जायेगी तो अपने को बड़ा सुख मिलेगा। सच पूछिये तो सुख के लालच से हम इच्छाओं को अपने में रखना पसन्द करते हैं। पर वह सुख नहीं मिलता है, इच्छायें पूरी नहीं होती हैं। पूरी होने के बाद भी नई-नई इच्छाओं की उत्पत्ति से मस्तिष्क में एक प्रकार का तनाव बना ही रह जाता है। भीतर-भीतर अतृप्ति की पीड़ा रह ही जाती है। तब व्यक्ति सचेत होने के कारण, विवेकयुक्त होने के कारण इस दिशा में विचार

करने लग जाता है कि अच्छा, इस प्रकार का सुख मैंने अनेक बार लिया, लेकिन सुख लेने की इच्छा खत्म नहीं हुई। इस प्रकार की सुखद परिस्थिति में मैंने बहुत समय बिताया, लेकिन उससे मुझको संतुष्टि नहीं हुई। जहाँ उसको भीतर विवेक के प्रकाश में अपनी दशा का दर्शन हुआ नहीं कि उसमें चेतना आ जाती है। व्यक्ति सजग हो जाता है। सावधान होकर अपने सम्बन्ध में विचार करने लग जाता है। उसे दिखाई देने लगता है कि क्या सत् है, क्या असत् है? क्या त्याज्य है, क्या ग्राह्य है—इस बात का उसको पता चलने लग जाता है। मानव-जीवन के विकास का आरम्भ हो जाता है।

इस दृष्टि से हम सभी भाई-बहनों को बहुत गंभीरता से विचार कर लेना चाहिये। हम अनेक जन्म बिता चुके तो क्या? और इस जन्म के भी बहुत से वर्ष निकल गये तो क्या? अगर इच्छाओं की पूर्ति के सुख को सामने रखेंगे तो सफलता नहीं मिलेंगी। फिर क्या करना चाहिये? इच्छाओं की पूर्ति के सुख का प्रलोभन छोड़ देना चाहिये। अरे भाई! दुनिया का काम निष्काम पुरुषों से हुआ, कि कामनाओं से पे्ररित लोगों से हुआ? सोचिये। जिन्होंने अपने व्यक्तिगत सुख की कामनाओं को तिलांजलि दे दी, वे दुःखी वर्ग के काम आये। जिन्होंने सब प्रकार के सुखों की वासनाओं का त्याग कर दिया, वे दुःखीजनों के काम आये। जीवन ऊँचा उठता है कामना-पूर्ति के सुख से नहीं, कामना निवृत्ति की शांति से।

शांति के सभी अधिकारी हैं, परम पे्रम के सभी अधिकारी हैं, अनन्त आनन्द के सभी अधिकारी हैं। कोई ऐसा नहीं है जो उस वास्तविक जीवन के अधिकार से वंचित रख कर इस दुनिया में भेजा गया हो। आप जीवनदाता, जन्मदाता के विधान में श्रद्धा रख कर जीवन के प्रति विचार करिये, तो बड़ा आनन्द आयेगा, बड़ा ही बल मिलेगा।

प्राप्त का सदुपयोग करना साधन है और अप्राप्त की इच्छा में फँसे रहना बंधन है। प्राप्त के सदुपयोग से बंधन से मुक्ति मिलती है और अप्राप्त की कामना में फँसे रहो तो बन्धन मिलता है। यह ऐसा जोरदार सत्य है मानव के जीवन का, कि इसकी अवहेलना करके किसी भी जप-तप से शान्ति मिल जाती हो, मुक्ति मिल जाती हो, भक्ति मिल जाती हो—ऐसी संभावना नहीं है।

अगर हम लोगों को मानव-जीवन को सफल बनाना है, तो आज जिस परिस्थिति में हम लोग हैं उसी परिस्थिति में से ही जीवन-मुक्ति की साधना निकलेगी। अगर मैं विशेष प्रकार की परिस्थिति आपके सामने रख दूँ और कहूँ, कि ऐसी परिस्थिति पहले बनाओ तो जीवन-मुक्ति की साधना बताऊँ, तो आप जैसा चाहेंगे वैसी परिस्थिति नहीं बना सकेंगे। अगर वैसी परिस्थिति नहीं बना पाये तो इसका मतलब है कि जीवन-मुक्ति से आप वंचित रहेंगे। सत्य का विधान ऐसा नहीं है। उसमें किसी प्रकार की परिस्थिति अपेक्षित नहीं है। उसमें काल अपेक्षित नहीं है। उसमें योग्यता और सामर्थ् अपेक्षित नहीं है। योग्यता से, सामर्थ् से और परिस्थितियों से सत्य नहीं मिला करता।

ये योग्यतायें, परिस्थितियाँ, सामर्थ् शरीरों के साथ जगत् में आती हैं—शरीरों के साथ जगत् में खत्म होती है। इनके आधार पर सत्य आधारित नहीं है। इसलिये हम सभी भाई-बहन यदि मुक्ति की साधना करना चाहते हैं, तो आज जिस दशा में हम लोग सत्य की चर्चा करने बैठे हैं, उसी दशा में से कदम उठाना पड़ेगा। बिना सिर घुटाये, बिना भेष बदले, बिना घर छोड़े, बिना दुकान बंद किये, बाल-बच्चों का लालन-पालन छोड़े बिना, रोटी

बनाना छोड़े बिना, वृक्ष माता-पिता की सेवा छोड़े बिना, हम चाहे गृहवासी या समाजसेवी हों या गृह त्यागी, समान रूप से कदम उठा सकते हैं।

बस एक ही बात है कि आज शरीर और संसार के सम्बन्ध से जो कुछ अपने को मिला हुआ-सा प्रतीत होता है उसका सदुपयोग करना, सेवा में लगाना तथा व्यक्तिगत रुचि-पूर्ति को जीवन में स्थान न देना—यह कदम है जो हर भाई-बहन आरम्भ कर सकते हैं। आज हम अप्राप्त की कामना और प्राप्त के दुरुपयोग में बँधे हैं। बहुत जोरदार सत्य है। मानव-जीवन के भौतिक स्तर का सत्य है। जीवन-मुक्ति का आनन्द जिसको चाहिये, उसको इन दोनों की भूलों को मिटा देना पड़ेगा।

एक बार मेरे पास बहुत-सा काम आ गया जो कि मैं ठीक प्रकार से कर नहीं सकती थी। समय पर खत्म करने के लिये ज्यों-त्यों करना था। स्वामीजी महाराज से मैंने पूछा कि क्या करना चाहिये साधक की दृष्टि से? कहने लगे कि तुम्हारा काम तुम जानो, लेकिन सच्ची बात मैं बताता हूँ कि अगर काम करने में गलती रह गई, तो करने का राग नहीं मिटेगा। जीवन मुक्त पुरुषों की श्रेणी में से नाम कट जायेगा। इतनी सूक्ष्मता से जीवन के इस वैज्ञानिक सत्य पर हम दृष्टि डालते नहीं है और आँख बन्द करके समाधि का आनन्द लेना चाहते हैं, जो कभी सम्भव नहीं है।

सहजोबाई के जीवन का प्रसंग है। उनका ग्यारह वर्ष की उम्र में विवाह हो गया था और द्विरागमन ;गौनाक्ष होने वाला था। बारात आने वाली थी, सखी-सहेलियाँ चोटी गंूथ रही थीं, श्रंृगार करा रही थीं, दुल्हिन बनायेंगी, ससुराल को विदा करेंगी। सड़क से होकर कोई संत जा रहे थे। सहजोबाई पर उनकी दृष्टि पड़ी, पास आये नहीं, उपदेश नहीं दिया, प्रवचन का इन्तजाम नहीं था। सड़क से जा रहे है सन्त। सहजोबाई को देखकर यह गाते हुए निकल गये—"क्षणिक सुहाग के कारणे कहा सजावति माँग"—सहजोबाई ने सुन लिया। सुनकर उनके ध्यान में आ गया कि बात तो सच्ची है। एक आदमी की लगन में क्षणिक सुहाग के लिये जिन्दगी कौन लगाये। बस शाम हुई और बारात आने से पहले सहजोबाई गायब हो गई। मिली ही नहीं फिर। वे बड़ी उच्चकोटि की वीतराग और ज्ञानवती महिला, प्रभु-पे्रम की प्रतीक बन गई।

ऐसा दृष्टान्त मैं इसलिये रख रही हूँ कि हम लोगों ने ऐसे-ऐसे उदाहरण सुने हैं कि जहाँ किसी संत के मुख से कोई वचन निकला, वे कह रहे हैं किसी और से, सुन लिया किसी और ने, जिसको सुना रहे हैं, उसकी समझ में नहीं आया और राहगीर की समझ में आ गया तो उसका काम बन गया। ऐसा हुआ है, होता रहा है। इसी आधार पर मैं कहती हूँ कि हम सभी भाई-बहन जो सत्संग में पे्रम रखते हैं और सुनने के लिये अपने को तैयार रखते हैं तो उनको इस बात को भी मानना चाहिये कि इसी वर्तमान क्षण में अगर आप कदम नहीं उठाते हैं तो फिर मौका मिलेगा कि नहीं—क्या ठिकाना है।

मानव-जीवन का दूसरा नाम साधक-जीवन भी हैै। महाराजजी ने तो ऐसा माना है कि बनाने वाले ने तुमको साधक रूप से ही बनाया है। ऐसा कभी मत सोचना कि कोई गुरु मिलेगा, मंत्र दीक्षा देगा, तब हम साधक बनेंगे या किसी प्रकार का विशेष विधि-विधान अपनायेंगे तब साधक बनेंगे। ऐसी बात नहीं है।

विवेक का प्रकाश तुम्हारे भीतर है और उसी में देख-देख करके आप मेरी बातों को समझने की चेष्टा कर रहे हैं। अपने को बड़ा डर लगता है 'जीवन-मुक्ति' शब्द सुनकर कि अरे, यह

तो बहुत बड़ी चीज है। हम तो संसारी हैं। संसारी, जो कि अपनी इच्छाओं में बँधा हुआ है, उसके लिये यदि जीवन-मुक्ति का प्रोग्राम नहीं है तो क्या जीवनमुक्त पुरुषों को मुक्ति चाहिये? भाई, जो बीमार है उसी के लिये न अस्पताल है। जो रोग से पीड़ित है उसी के लिये न औषधि है। इस दृष्टि से भी हम सभी जीवनमुक्ति के पथ पर कदम बढ़ाने के अधिकारी हैं।

आज अपने ही द्वारा अशांति को मिटा करके शांति में विश्राम लेने की अभिलाषा आपकी है, तो प्रयोग करके देखिये। प्राप्त का दुरुपयोग करेंगे नहीं और अप्राप्त के चिन्तन में फँसेंगे नहीं, तो बड़ी शान्ति मिलेगी। और जिसको भीतर से शांति मिल जाती है, उसको त्रिभुवन का वैभव धूल के समान लगता है।

मनुष्य इतने ऊँचे तत्त्व से बना है, कि एकबार उसको निज-स्वरूप की याद आ गई तो फिर उसे और कुछ नहीं चाहिये। महाराजजी ने बताया था कि जिस महापुरुष ने श्री महाराजजी को ईश्वर की बात बताई तथा संन्यास देकर उन्हें दीक्षित किया, वे महापुरुष उन्हें संन्यास देने के बाद जाते समय कह कर गये कि, 'देखो बेटा! यदि तुम अपने लिये किसी से कुछ नहीं चाहोगे, अचाह हो जाओगे तो खूंखार शेर गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे और यह प्रकृति और वनस्पति तुम्हें फल-फूल देने के लिये लालायित रहेगी।' ऐसी सलाह देकर वे चले गये और अपनी स्वरचित एक पंक्ति सुना गये कि—'जीते जी मर जावे, अमर हो जावे, दिल देवे सो दिलवर को पावे।'

स्वामीजी महाराज अपने गुरु की वाणी सुनाते थे हम लोगों को। ज्ञानपंथ की सिद्धि और पे्रमपंथ की सिद्धि—इन दो वाक्यों से हो जाती है। 'जीते जी मर जाने' का अर्थ है—अपनी अतृप्त वासनाओं का त्याग कर देना। जो कुछ नहीं चाहता है उसके अहं का नाश हो जाता है, अमरत्व से उसकी अभिन्नाता हो जाती है। जो भौतिक जगत् के सुख भोग को और अमर जीवन की स्वाधीनता को उस परम पे्रमास्पद पर न्यौछावर कर देता है, वह उनका प्रेमास्पद बन जाता है। अभी तो अपने लोगों के लिए उनकी याद ही दुर्लभ है। चेष्टा कर-कर के हैरान हैं। आँख-बंद करें कि कान बंद करें, कौन कमरा बंद करें, कौनसा सहारा लें, कौनसा ग्रन्थ पढ़े, कहाँ जायें, क्या करें?—किसलिए भाई? क्यों हैरान हों? क्या बतावें? भगवान की याद निरन्तर नहीं रहती है। बड़ा दुःख है। ईश्वर में विश्वास करने वालों के लिये मुसीबत हो गई है कि भगवान की याद बनी नहीं रहती है।

आज हम लोगों के लिये उनकी याद कठिन हो गई है जो एक पल के लिये भी हमारा साथ छोड़ते नहीं है। श्री स्वामीजी महाराज के गुरु महाराज ने एक अचूक औषधि बतादी कि—'जो दिल देवे सो दिलवर को पावे'। तो दिल दे दो और दिलवर को पा लो। इसका अर्थ निकलता है कि जो संसार के सुख भोगों को और परलोक की स्वाधीनता को उस पे्रमास्पद पर न्यौछावर कर देता है वह उनको पा लेता है। उनको पा लेने का अर्थ है कि वे इतने रसिक हैं और पे्रम तत्त्व को इतना अधिक पसन्द करते हैं कि अपने भक्तों के भक्त हो जाते हैं। उनके हृदय का आनन्द इस प्रकार भक्तजनों के आनन्द से संसार में फैलता रहता है कि उसके स्पर्श को पशु-पक्षी भी पसन्द करते हैं, वनस्पति भी पसन्द करती है और विवेकी पुरुष ने अनुभव किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ऐसे भी उदाहरण जगत् में हैं। इतना अच्छा लगता है मुझे। खूब आनंद आ जाता है।

भरतलालजी जा रहे हैं चित्रकूट, परम पे्रमास्पद प्रभु के चरणों के दर्शन के लिये। अपनी कुछ कामना ही नहीं, अपना कोई काम ही नहीं। बहुत लोगों ने बहुत प्रकार से समझाया तो शपथ लेकर कहते हैं—मैं क्या बताऊँ, संसार में मेरी बदनामी हो गई—इसका भी मुझको भय नहीं है, और मेरा परलोक बिगड़ जाये, इसकी भी मुझको चिंता नहीं है। मेरे कारण से मेरे प्यारे भाई नंगे पाँव वन में भटक रहे हैं—'सोहि दुःख दाह दहै नित छाती, भूख न वासर नींद न राती'—उसी ज्वाला से मैं जल रहा हूँ। प्रियतम की पीड़ा सहन नहीं हो रही है। उनके भीतर से प्रभु पे्रम की लहरें उमड़ करके उस वन प्रांत में हवा की लहरियों के साथ फैल जाती थीं तो वृक्ष के डोलते हुए पत्ते शांत हो जातेऋ नदियों की बहती हुई धार थम जातीऋ पक्षी चहकना छोड़कर चुप हो जाते, गौओं के बछड़े दूध पी रहे होते तो दूध पीने की गति बंद हो जाती। गोस्वामीजी ने बहुत अच्छी अभिव्यक्ति की है—'होत न भूतल भाव भरत को, अचर सचर चर अचर करत को।' मैं सोचती रही, ऐसा कैसे हुआ। तो उदाहरण मुझे मिल गया—सचर सब अचर हो जाते हैं पे्रम के प्रभाव से। उससे मंत्र मुग्ध हो जाते हैं। जहाँ पशु-पक्षियों की, वनस्पतियों की गति रुक जाती है तो भावग्राही विवेकवान मनुष्य, जिसको प्रभु ने अपना ही प्रतिरूप देकर गढ़ा, वह नहीं बदलेगा? उसके हृदय का ताप नहीं मिटेगा? उसकी नीरसता का नाश नहीं होगा? उसमें ईश्वरतत्त्व प्रकाशित नहीं होगा? अवश्य होगा।

तो इतनी बड़ी महिमा उस महामहिम ने दे करके हम लोगों को दुनिया में भेजा है। बहुत बढ़िया बात है।

जब कभी मामूली -सी बातों से मुझे किसी की मुख-मुद्रा क्षुब्ध दिखाई देती है, तो जी तिलमिला जाता है एकदम। हाय रे मनुष्य! परम पे्रम का अधिकारी होकर इस जड़ जगत् की तुच्छ वस्तुओं के लिये हृदय को ज्वाला में तपा रहा है। बड़ा दुःख होता है। इस बीमारी को हम सभी भाई-बहनों को वर्तमान में ही खत्म कर देना चाहिये। शरीर में रोग आ सकता है। कोई बात नहीं। लेकिन आपमें कितना विश्वास होना चाहिये, उस मंगलकारी प्रभु के मंगलमय विधान पर? अपने में हमको कितनी स्वाधीनता होनी चाहिये? एक शरीर के नाश की चिंता कौन करे? एक बात की अपूर्ति को कौन गिने? इतनी निश्ंिचता, इतनी निर्भयता, इतनी स्वाधीनता हमारे में आ सकती है कि आँखों के सामने प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाये, तब भी हम विचलित न हों। इतनी निश्ंिचता आ सकती है।

एक संत के पास मैं बैठी थी। उन्होंने पूछा कि इसके बाद आपको कहाँ जाना है? मैंने कहा—'उल्हास नगर।' मेरे मुख से निकला कि उल्हास नगर जाना है। तुरन्त बोले—'उल्हास नगर'। अहा! प्रभु-मिलन का उल्हास! उल्लास कितना मधुर नाम है! कितना मीठा है! जब कि मुझको जाना था उल्हास नगर और मेरे भीतर वह मधुर स्पन्दन नहीं हो रहा था। उन्होंने सुना कि देवकीजी उल्हास नगर जा रही हैं तो 'उल्हास' के उच्चारण से उनके भीतर प्रभु-पे्रम का उल्लास भर गया। उसकी मधुरता उनकी वाणी से, उनकी दृष्टि से टपकने लग गई। बड़ा आनन्द आ गया।

अब सोच लीजिये। एक शब्द अगर इस प्रकार से पे्रम के सागर में लहरियाँ उपजा सकता है, तब फिर यह संसार हमको प्रभु-पे्रम से दूर करने वाला नहीं है। हमारे पास वे आँखें नहीं हैं कि हम इसमें उन परम मधुर की मधुरता को देख सकें। वह हृदयशीलता नहीं है कि जिससे हम उनके बरसते हुए पे्रम को पशु-पक्षियों, वनस्पतियों की गतियों में अनुभव कर सकें।

ऐसी जड़ता मैंने अपने भीतर भर ली कि उस जड़ता के कारण अनेकों वर्ष बर्बाद किये। प्रभु की कृपा से, संत की कृपा से, उसके मंगलमय विधान से आज भी हमारे सामने उस अनन्त जीवन के अनन्त रस का मार्ग खुला हुआ है। बस इतनी-सी बात है कि उसे पसन्द कर लो, और चलना आरंभ कर दो। आरंभ करने में हमारा पुरुषार्थ है। पूरा करने के लिये वे हर प्रकार से लालायित हैं, तैयार हैं। उनकी ओर से कोई कमी नहीं है।

अब शांत हो जाइये।

प्रवचन 49

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

ईश्वर के अस्तित्व को हम सब लोग अनुभव करते हैं या नहीं करते हैं—इसमें अलग-अलग व्यक्तियों का अलग-अलग उत्तर हो सकता है। परन्तु अपने अस्तित्व को अनुभव करते हो कि नहीं? इसमें मतभेद नहीं हो सकता। ऐसा कोई भाई नहीं मिलेगा, ऐसी कोई बहन नहीं मिलेगी जो यह कहे कि हम अपने अस्तित्व को अनुभव नहीं करते। हर एक को इतना तो भासित होता है कि 'मैं' हूँ। अब सुखी हूँ कि दुःखी हूँ, धनी हूँ कि गरीब हूँ, विद्वान हूँ कि बेपढ़ा-लिखा हूँ—इसमें भेद हो सकता है। लेकिन 'मैं' हूँ—इस अनुभव में भेद नहीं हो सकता। हर एक मनुष्य अपने अस्तित्व को अपने द्वारा अनुभव करता है, और 'मैं' हूँ—ऐसा कह कर प्रकाशित करता है।

संत वाणी में मैंने यह सुना कि तुम अपने अस्तित्व को तो जानते ही हो। यह कोई मानने की बात नहीं है। तो जो अपने अस्तित्व को स्वीकार करता है वह व्यक्ति उसको कैसे नहीं स्वीकार करेगा जिसमें से उसकी उत्पत्ति हुई है? अपने आधार को कैसे नहीं मानेगा?

मैंने अपने को अपने से नहीं बनाया। ठीक है? हम लोगों के पास ऐसा कोई मेटिरियल ;सामग्रीऋ है क्या, जिसमें से "मैं" बनाया जा सके? तो जिसमें से यह 'मैं' बना है उसकी सत्ता को मानना अनिवार्य हो जाता है। 'मैं' हूँ—इस बात को हम लोग जानते हैं और जिसमें से इस 'मैं' की उत्पत्ति हुई है, उसको मानते हैं—ऐसा मानना पड़ेगा। नहीं जानते हैं तो कोई बात नहीं। आज नहीं जानते हैं, कल जान लेंगे। लेकिन मानना तो पड़ेगा ही।

जैसे प्रकाश जब फैलता है तो सूर्य के न दिखाई देने पर भी हम लोग इस बात को मान लेते हैं कि सूर्योदय हो गया और जैसे यहाँ अभी कोई खूब

सुगन्ध फैल जाये, तो जिस पुष्प में से सुगन्ध फैल रही है, उस पुष्प को न देखने पर भी हम लोग इस बात का अनुमान लगा लेंगे कि आस-पास में कोई बहुत बढ़िया फूल खिला होगा।

इसी तरह से 'मैं-पन' का अस्तित्व जो हम लोगों को भासित होता है, हर भाई को, हर बहन को, हर दशा में, इस 'मैं-पन' की उपस्थिति को देखकर हम सब लोग इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि 'परमात्मा है'। जिसमें से 'मैं' की उत्पत्ति हुई, उसी को परमात्मा कहते हैं। जिसमें से यह अहंरूपी अणु निकला है उसी को परमात्मा कहते हैं। उसी को सत्य कहते हैं, उसी को ब्रह्म कहते हैं, उसी को नित्य-तत्त्व कहते हैं, उसी को परम-तत्त्व कहते हैं। उसे अनेक नामों से संबोधित करते हैं, लेकिन है वह एक ही। और मेरे लिये उसके साथ सम्बन्ध मानने का बड़ा भारी आधार यह है कि हम सब लोग अपने अस्तित्व को स्वयं ही अनुभव करते रहते हैं।

इस तरह से जब 'मैं' हूँ। तो मेरी उत्पत्ति का आधार भी है, और मेरी प्रतीति का प्रकाशक भी है। इसलिये जब ईश्वर को मानने वाला है, तो ईश्वर भी है। इस तरह से और दूसरा कोई भी प्रमाण न खोजा जाये तो मेरा ऐसा विचार है कि मनुष्य के जीवन का जो अपना अस्तित्व भासित होता है, यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि परमात्मा है और दूसरा कहाँ खोजने जायेंगे? ग्रन्थों में तो बहुत मतभेद हैं, अनेक प्रकार के दर्शन हैं। कोई कुछ, कोई कुछ

विविध प्रकार की बातें कहते हैं। मतभेदों में न जा करके निर्विवाद सत्य को स्वीकार करं तो यह मानना पड़ेगा कि जब मेरा अस्तित्व है, तो यह अस्तित्व जिसमें से निकला है, वह अस्तित्व भी अवश्य है। इस तरह से हम दोनों का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

अब आगे क्या करना है? मेरा उसके साथ क्या सम्बन्ध है? उसके साथ मेरा क्या व्यवहार होना चाहिये, क्या लगाव होना चाहिये? तो अनुभवी भक्तजनों ने यह कहा कि वह तुम्हारा नित्य सम्बन्धी है, अर्थात् उसके साथ तुम्हारा ऐसा सम्बन्ध है जो कभी मिटेगा नहीं, घटेगा नहीं, टूटेगा नहीं। तो क्या करें? तो ऐसा करो कि संसार में रहते हुए और संसार का काम करते हुए, यदि तुम उस आनन्दस्वरूप से अभिन्ना होकर, आनन्दमय अस्तित्व को पसन्द करते हो, तो उसे अपना मानना आरम्भ करो। अपना क्यों मानें? अपना इसलिये मानो कि अपना माने बिना पेरम का भाव उदित होता नहीं है, और प्रेमभाव के बिना उस अनन्तस्वरूप परमात्मा से अभिन्नाता नहीं होती है। अपनापन जो है, वह पेरम का आधार है और पेरम का प्राकट्य जो है, वह परमात्मा से मिलने का साधन है।

चिर पुरातन, सनातन सत्य है यह परमात्मा को पाने का, उनसे अभिन्ना होने का। पाने का कहना भी नहीं बनता है। जो प्राप्त है उसको प्राप्त क्या करना है? उसकी प्राप्ति का अनुभव चाहिये अपने को, उससे अभिन्नाता चाहिये। इसके लिये आधार है पेरम और उस पेरम का आधार है अपनेपन का नाता। जिसको आप अपना माने लेते हैं वह अपने को प्रिय लगने लगता है, अच्छा लगने लगता है। इसमें इतनी दार्शनिकता की बात नहीं है, लेकिन यह मनोवैज्ञानिक स्तर की चर्चा है। चूँकि मनुष्य स्वयं को बहुत पसन्द करता है, अपने को बहुत प्यार करता है इसलिये उस अपनेपन के साथ जिसका नाता जुट गया, वही प्रिय लगने लगता है। वस्तु हो तो क्या? और व्यक्ति हो तो क्या?

भक्तजन कहते हैं कि घट-घटवासी, नित्य विद्यमान परमात्मा की विद्यमानता का आनन्दमय अनुभव तुम्हें लेना है तो उसे अपना मानना आरम्भ करो। अपना मानने से क्या होगा? कि वह अच्छा लगने लगेगा, प्रिय लगने लगेगा और उसके प्रति प्रियता जो है, वही उससे अभिन्ना होने की साधना है। यह खास बात है। नाम लेते हो कि नहीं? मंत्र जपते हो कि नहीं? मंदिर जाते हो कि नहीं? नित्य नियम पालते हो कि नहीं?—यह तो तुम्हारी रुचि, योग्यता, सामर्थ् पर निर्भर करता है कि क्या करोगे, क्या नहीं करोगे, सब कुछ करो। जो भी कुछ अपने को पसन्द आवे, जो भी कुछ अपने को ठीक लगे इस दिशा में, परमात्मा से अभिन्ना होने के लिये, वह सब कुछ करो, लेकिन सबका मूल आधार होगा कि परमात्मा को आप अपना मानते हैं कि नहीं।

पहली बार जब मैं इस प्रकार की चर्चा सुनने लगी तो उस समय तो मेरे ध्यान में नहीं आया। बहुत समय लगाना पड़ा। शक्ति लगानी

पड़ी, इस बात को ग्रहण करने के लिये। लेकिन अब मैं सोचती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है, कि सचमुच इस संसार में मनुष्य की सजातीयता और किसी से है ही नहीं, हो ही नहीं सकती। अपना है अगर कोई, तो वही परमात्मा है, जिसको कि अभी तक हमने देखा नहीं है, जाना नहीं है। लेकिन वह विद्यमान है और उसकी विद्यमानता का ही यह प्रभाव है कि बिना देखे, बिना जाने भी हम लोगों से उसकी चर्चा किये बिना रहा नहीं जाता है। बातचीत होती ही रहती है। नाम लेते ही रहते हैं। विविध प्रकार के विचार उसके सम्बन्ध में ऐसे प्रकट करते ही रहते हैं, जैसे कि वह एक अविभाज्य तत्त्व है हमारे जीवन का।

उस परमात्मा के साथ अपने को क्या करना है? मैंने अनुभवी संत के मुख से यह सुना कि मनुष्य सेवा के द्वारा संसार के लिये और पे्रम के द्वारा प्रभु के लिये उपयोगी होने आया है। बहुत बढ़िया बात है और बड़ी ऊँची बात है, कि भगवान के लिये भी यह मानव-जीवन उपयोगी होता है।

हमने तो यही समझा था कि हम तो जन्म-मरण के बन्धन में फँसे है, तो अपने उद्धार के लिये भगवान को मानेंगे। बहुत प्रकार के दुःखों में फँसे हैं, उनसे छुटकारा पाने के लिये भगवान को मानेंगे। स्वामीजी महाराज ने मुझे यह दृष्टिकोण दिया कि भाई, दुःख से छूटने के तो और भी उपाय है। जीवन-मुक्ति के तो और भी उपाय हैं, लेकिन अनन्त पे्रम-रस के माधुर्य से जीवन को भरपूर करने के और उपाय नहीं हैं। एक ही रास्ता है। वह क्या है? कि परमात्मा के साथ नित्य-सम्बन्ध को स्वीकार करो और अपनेपन के नाते से जब तुम्हारे जीवन में उसके प्रति प्रियता पैदा होगी, उसी प्रियता से तुम्हारी वे आँखें खुल जायेंगी जिनसे कि—'जित देखूँ तित तू ही तू' नजर आने लगेगा।

आज कैसा लगता है? आज हमारी दशा यह है, कि भगवान की चर्चा करते हुए भी जब आँखं खोलकर हम लोग देखते हैं तो संसार दिखाई देता है और आँखें बंद करलें तो अन्धकार दिखाई देता है। नाम लेते रहो भगवान का, तो मालूम होता है कि भगवान का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध ;ब्वददमबजपवदक्ष ही नहीं है। पता नहीं कहाँ है, कैसा है? हम तो जब आँखें खोलते हैं, तो सृष्टि के विविध रूप के दृश्य दिखाई देते हैं।

लेकिन, जो भक्तजन होते हैं, वे आँखें खोलते हैं तो कहते हैं—'जित देखूं तित तू ही तू'। वे आँखें बंद करते हैं तो भीतर भी वही है, और बाहर देखते हैं तो बाहर भी वही है—जित देखंू तित श्याममयी हैं। उससे भिन्ना और कुछ है ही नहीं। तो उनमें कौनसी विशेषता है? और हममें क्या कमी हो गयी कि हम नाम लेते हैं भगवान का, और आँख खोलते हैं तो संसार देखते हैं, और बन्द करते हैं तो घोर अन्धकार?

आप इस अन्तर को मिटाना चाहेंगे कि नहीं? पसन्द तो हम लोगों को भी यही आता है—'जित देखूँ तित श्याममयी है'। जिन भक्त का यह पद्य है, आगे चलकर वे कहते हैं कि आकाश में नीले बादल उमड़ रहे हैं तो उसमें घनश्याम का दर्शन हो रहा है। धरती पर यमुनाजी का नीला-नीला जल बह रहा है तो उसमें भी घनश्याम का दर्शन हो रहा है। हवा से वृक्ष के पत्ते हिल रहे हैं, तो उनमें भी श्याम का दर्शन हो रहा है। वृक्षों पर पक्षी बोल रहे हैं, तो उनमें भी श्याम का दर्शन हो रहा है। ऐसा कहते-कहते उस भक्त ने कहा कि क्या हो गया? अंत में कहते हैं कि—'नैन पुतरिया पलट गई है'। पुतरिया पलट गई हैं—इसलिये जित देखूं तित श्याममयी है।

हमारी यह दृष्टि, ये नेत्र, ये पुतली जो है देखने की—ये कैसे बदलेंगी? तो भक्तजन कहते

हैं कि भैया, जब तुम्हारे हृदय में परमात्मा के प्रति प्रेरम होगा, और प्रेरम भरी दृष्टि से जब तुम देखोगे, तो सिवाय प्रेरमास्पद के और कुछ भी दिखाई नहीं देगा। आज मेरी दृष्टि में क्या है? मनोविज्ञान और मानव दर्शन, इन दोनों के आधार पर यह बात प्रमाणित हो गई कि आज मेरी दृष्टि में संसार को देखने का राग है, इसलिये संसार दिखाई देता है। मनोविज्ञान के अध्ययन में बड़ा विवेचन होता था इस विषय पर, We do not see things as they are, we see things a we are.

संसार का जो दृश्य है, उसको हम लोग वैसा नहीं देखते हैं जैसा वह है। संसार को हम लोग कैसा देखते हैं? जैसे हम हैं।

हम में संसार को देखने की वासना है तो उस वासना के प्रतिरूप संसार हमें दिखाई दे रहा है। जो सुख का लोभी है, वह कहता है कि संसार बड़ा सुहावना है और कबीरजी से सलाह पूछो कि संतजी, बताइये कि संसार कैसा है? तो कहते हैं—'हाड़ जले जैसे लकड़ी, केस जले जैसे घास, सब जग जलता देखकर, कबिरा भया उदास।' उनको तो कुछ सुहावना, लुभावना दिखता ही नहीं। उनको तो सब काल की अग्नि में जलता-सा दिखाई देता है। भक्त से पूछो कि महाराज, बताइये, आप क्या देख रहे हैं? तो वे कहेंगे कि—'जित देखूं तित श्याममयी है।' न उनको दुःख दिखाई दे, न उनको सुख दिखाई दे, न उनको विविध रूप दिखाई दे। उनको तो एक ही रूप दिखाई दे रहा है और सब जगह उसी का दर्शन हो रहा है। आप क्या देख रहे हैं? प्यारे और प्यारे की लीला देख रहा हूँ। तो सचमुच दृश्य कैसे हैं? यह किसी को पता नहीं। वैज्ञानिक स्तर पर विश्लेषण करने से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति वही देखता है, जैसी उसकी देखने की पृष्ठभूमि है।

इसलिये मैं यह निवेदन करती हूँ, कि हम सब लोगों को मनुष्य होने के नाते केवल वैज्ञानिक पृष्ठभूमि को लेकर संसार को कभी नहीं देखना चाहिये। यह तो सृष्टि का एक पहलू है—एक अंश है। यह पूरा विवरण नहीं बता सकता है। उस पर भी अगर ध्यान दो, उसके सम्बन्ध में भी सोच-विचार करो, अनेक प्रकार के शब्द, विपर्यय और पससनेपवदे ;भ्रमात्मक दृश्योंऋ का अध्ययन करो, तो ऐसा लगता है कि दृश्य है कुछ और, व्यक्ति देख रहा है कुछ और। कुछ ठिकाना नहीं है।

यह दशा कब तक रहती है? जब तक हम सब लोग राग-द्वेष के फेर में पड़े रहते हैं, जब तक शरीर के द्वारा सुख भोग की वासना है, तब तक यही दशा रहती है। इन्द्रिय-दृष्टि के प्रभाव से प्रेरित हो, तो संसार सुख-दुःख का द्वन्द्व दिखाई देगा और विवेक की दृष्टि से देखना आरम्भ करो तो निरन्तर परिवर्तन दिखाई देगा, और सभी दृष्टियों के पार जाओ तो निजस्वरूप से भिन्ना कुछ दिखेगा ही नहीं और प्रभु के प्रेरम से दृष्टि भर जाये तो सर्वत्र प्रेरमास्पद ही दिखेगा। तो यह सृष्टि की विविधता है या हमारे देखने की विविधता है? देखने के यंत्र में फरक है न? और नहीं तो क्या जानें कि सृष्टि कैसी है।

आपने विवेकीजनों के मुख से यह भी सुना होगा कि सृष्टि त्रिकाल में न कभी हुई, न है, न होगी। आज हम लोगों को कैसा लग रहा? 'सृष्टि है'—ऐसा लग रहा है। आज हमें यह दिख रहा है कि दृश्य है, और सुख भोग से प्रेरित हो जाओ तो कैसा लगेगा? तो लगेगा कि बड़ा आकर्षक है।

एक साहित्यकार का वचन मैं महाराजजी को सुना दिया करती थी—

'माया के इस मोहक बन की, क्या कहूँ कहानी परदेसी।'

तो महाराजजी कहते कि अरे देवकीजी, यह सुख भोगी की दृष्टि है। सुख भोग से जो प्रेरित है, उस लालच में जो फँसा हुआ है, उसी को ऐसा दिखाई देता है कि बड़ा मोहक है, बड़ा आकर्षक है। और नहीं तो तुम सच मानो, महाराजजी ने मेरी समस्या को हल करने के लिये यह सलाह दी कि इस सृष्टि में, इस जड़ जगत में सामर्थ् नहीं है कि यह चेतन मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित कर सके। यह तो हमारी बेइज्जती हैै। हम जब अपना मूल्य घटा लेते हैं, अपने चेतन स्तर से नीचे उतर जाते हैं। तो संसार आकर्षक लगता है। नहीं तो संसार में है क्या? जो अमर जीवन का अधिकारी है, जो अमृत पुत्र है, जो अनन्त आनन्द का अधिकारी है, जो परमात्मा को पे्रम रस प्रदान करने वाला है, वह संसार के प्रति आकर्षित हो जाये, तो उसकी इज्जत बढ़ गई कि घट गई? सोचो।

महाराजजी ने यह बात मुझे बताई तो उसके बाद मैंने अपने को सँभालना आरम्भ किया। उतनी ही वस्तुओं से सम्बन्ध रखो जितनी कम से कम शरीर के भरण-पोषण एवं सेवा के लिये जरूरी हों और विधान से सहज से प्राप्त हों—ऐसा सोच करके जब मैं अपने को सँभालने लगी तो उसके बाद से सखी-सहेलियों के साथ आते-जाते, घूमते-फिरते, काम करते जहाँ भी कहीं मेरी दृष्टि किसी वस्तु पर जा कर टिक जाती, और ऐसा लगता कि यह बहुत सुन्दर है, तो थोड़ी देर में एकदम से याद आ जाता तो इतनी लज्जा लगती अपने भीतर-भीतर, कि मैं एकदम सकुचा कर रह जातीऋ कि अच्छा! अभी भी तुमको वस्तु में सुन्दरता दिखाई देती है? अभी भी तुम्हारी दृष्टि किसी वस्तु पर टिकती है? तो बड़ी सावधानी आ गई मुझमें और यह रहस्य बिल्कुल स्पष्ट हो गया, कि मनुष्य अपना सही मूल्यांकन करके संसार में रहे और ज्ञान के प्रकाश में अविनाशी जीवन से अभिन्ना होना अपना लक्ष्य बनावे या हृदय में ईश्वरीय पे्रम भरके उस पे,मस्वरूप परमात्मा को रस प्रदान करने की—अपनी उस महिमा को याद रखे, तो सचमुच संसार की कोई वस्तु उसको आकर्षित नहीं कर सकेगी। खिंच जाते हैं अगर हम, तो इसका मतलब है कि ज्ञान और पे्रम की दृष्टि से हमने अपने को हटा लिया। भोग की दृष्टि प्रधान हो गई, तभी किसी व्यक्ति पर या किसी वस्तु पर आँख जा करके टिकी है।

और नहीं तो आप सोचिये कि जो ब्रह्म को रिझा सकता है, जिसके पे्रम-भाव का आदर करने के लिये ब्रह्म, ब्रह्म-भाव का त्याग करके, जीव-भाव स्वीकार करके, शरीरधारी होकर आपके आगे उपस्थित हो सकता है; दो हाथ, दो पाँव वाला बन करके आपके साथ खेलने को मचल सकता है, उस मनुष्य की महिमा का क्या वारापार है?

रसखान का सवैया आप लोगों ने सुना होगा। पढ़ा भी होगाः-

"ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भर छाछ पे नाच नचावें"

यह तो अवतार की बात है। अभी भी ऐसा है कि मनुष्य जब संसार की ओर से मुख मोड़ करके परमात्मा को पसन्द करने लग जाता है, तो उसकी भावना का आदर करने के लिये वह परमात्मा कितना आनंदित होकर कैसी-कैसी लीलायें रचता है।

अभी थोड़े दिन पहले की बात है। एक भक्त मुझको सुना रहे थे।

अयोध्याजी में, कनक भवन में भगवान श्रीराम विराजमान हैं। एक भक्त वहाँ पर आते थे और आँगन में खड़े हो करके दूर से दर्शन करते थे। प्रणाम नहीं करते थे। भीतर-भीतर पता नहीं

क्या कहते होंगे, वह तो वे ही जानें। सब लोग देखते थे उनको। एक दिन पुजारी लोगों ने उन्हें पकड़ लिया। कैसा आदमी है! हमारे सरकार के सामने आता है, राघवेन्द्र सरकार के दरबार में आता है और प्रणाम नहीं करता है। पकड़ लिया उन लोगों ने, क्या करते हो जी? प्रणाम क्यों नहीं करते हो? तो हँसने लगे वे भक्त, मुस्कराने लगे। कहने लगे भैया, मेरा रिश्ता ही ऐसा है कि मैं प्रणाम नहीं कर सकता। पूछने लगे लोग कि भाई, ऐसी क्या बात है, आपको बताना पड़ेगा। आप क्या रिश्तेदार लगते हैं हमारे सरकार के, कि आप प्रणाम नहीं करेंगे? बताना तो वे नहीं चाहते थे। सच्चे भक्त अपना भेद खोलना पसन्द नहीं करते हैं। वे कहना तो नहीं चाहते थे, लेकिन पुजारियों ने बहुत तंग किया, तो बेचारे को कहना पड़ा— तुम्हारे सरकार मेरे शिष्य हैं और मैं तो आशीर्वाद देने आता हूँ। प्रणाम कैसे करूँ? इस पर पुजारी लोग बिगड़े। बड़े आये हैं हमारे सरकार के गुरु बनने। तुमको प्रमाण करना पड़ेगा। तुमको दिखाना पड़ेगा कि तुम कैसे सरकार के गुरु हो? तो बेचारा क्या करे? भक्त आदमी। कहने लगा कि अच्छा भाई, किसी दिन देख लेना। हम क्या बतायें। चले गये।

भक्त का अपना जो नियम है, वह रोज करते ही है। उसको तो छोड़ेंगे नहीं। तो पता नहीं, एक दिन क्या हुआ उन सज्जन को। वे पूजा करके घर में से आये होंगे। गले में फूल की माला पहन कर आये थे। आ करके कनक भवन के आँगन में खड़े हुए और प्रतिदिन की भाँति वैसे ही खड़े रहे। थोड़ी देर के बाद वे बढ़कर मंदिर में पहुँच गये, सरकार के पास भीतर, और अपने गले में से फूल की माला निकाली। अब गुरु महाराज आशीर्वाद ही तो देंगे, प्रसाद ही तो देंगे! और क्या करेंगे? फूल की माला उन्होंने निकाली भगवान को पहनाने के लिये। तो जितने लोग वहाँ उपस्थित थे, पुजारी भी और दर्शनार्थी भी, मंदिर और मंदिर का आँगन भरा हुआ था लोगों से, सब लोगों ने देखा कि इन्होंने जैसे ही अपने गले में से माला निकाली और अर्पण करने के लिये बढ़े तो कनक बिहारीजी ने सिर झुका कर गुरु महाराज की माला पहन ली। देख लिया सब लोगों ने। प्रमाणित हो गया कि यह हमारी सरकार के गुरु हैं। इन्होंने प्रसाद लिया और शिष्य ने स्वीकार कर लिया।

यह आज की बात है! अवतारी हो करके, भक्तजनों की भक्ति का आदर करने के लिये, प्रेमीजनों के प्रेमरस से अपने को आनंदित करने के लिये और अपने प्रेम से भक्तजनों के जीवन को भरपूर करने के लिये उन लीलाधारी ने क्या-क्या लीलायें नहीं की।? कोई इतना जान ही नहीं सकता है। किसी का उतना पता ही नहीं चलता है। लेकिन अपने आत्मीय भाई-बहनों को मैं निवेदन कर रही हूँ कि आज भी आप चाहें तो आपके पास वह अनमोल

निधि है कि जिसके आधार पर अनन्त परमात्मा से अपनी जान-पहिचान हो सकती है; मिलना-जुलना हो सकता है; अत्यन्त घनिष्टता हो सकती है। इतनी घनिष्टता हो सकती है, कि उनकी विभूतियाँ आप ही के भीतर में प्रकट हो करके आपके जन्म-जन्मान्तर का दुःख भी मिटा दें, अभाव भी मिटा दें, ज्ञान के प्रकाश से सब सन्देह का निवारण भी कर दें और प्रेम के रस से आपको सराबोर भी कर दें। आज भी ऐसा हो रहा है और सदैव ऐसा होता रहेगा।

अब तो मेरा जी होता है ऐसा कहने का, कि मनुष्य के जीवन में अगर कोई उपलब्धि है, तो यही है। इससे भिन्न और कोई उपलब्धि है ही नहीं। और क्या हो सकता है भाई? मैंने बहुत परिश्रम करके पढ़ना-लिखना किया।

प्राध्यापकी कर ली। उसको छोड़ने के लिए जिस दिन त्याग-पत्र लिख कर मैं प्राचार्या के सामने कार्यालय में हस्ताक्षर कर रही थी, तो भीतर-भीतर मन ही मन पूछ रही थी कि डिग्रियाँ किस काम में आयेंगी? क्या अर्थ है उनका? कोई अर्थ नहीं है। न कमाये हुए धन का कोई अर्थ है, और न बड़े जतन से पाले हुए शरीर का ही कोई अर्थ है। आज यह शरीर बड़ा अच्छा लग रहा है और अगर इसी में कोई भयंकर रोग प्रवेश कर जाये तो शरीर को रखना पसन्द करता है आदमी, कि खत्म करना पसन्द करता है? सुना है मैंने बीमारों के पास उनके दर्द में शामिल होते समय कि भाई, अब तो कुछ ऐसा उपाय करो, कि यह जल्दी से जल्दी खत्म हो जाये। अब बर्दाश्त नहीं होता है। ऐसा होता है न! तो क्या अर्थ है इसका? कि और किसी उपलब्धि का कोई अर्थ नहीं है सिवाय इसके कि इस जीवन में, सत्संग के प्रति रुचि उत्पन्न हुई है तो भाई, सही अर्थ में सत्संग करके सदा-सदा के लिये सब झंझटों से छुट्टी पाओ! क्या फायदा है फँसे रहने में? क्या फायदा है सुख-दुःख के द्वन्द्व में झूलते रहने में? आज अच्छा लग रहा है, अभी बुरा लग रहा है; अभी जीवन मालूम होता है, अभी मृत्यु का भय सता रहा है। अभी बहुत प्रिय लग रहे हैं प्रियजन, अभी बहुत दुश्मन लग रहे हैं। क्या दशा है हम लोगों की? भला सोचो तो!

आप बड़े भाग्यशील हैं। आपको प्रभु ने सत्संग का अवसर दिया है। आपके भीतर सत्संग के प्रति रुचि उत्पन्न हुई है-यह भी उनकी विशेष कृपा ही है। तो इस अवसर से हम सब लोग लाभ उठायें और इस सत्य को स्वीकार करें कि जिस ईश्वर की हम चर्चा करते हैं और जिसकी महिमा गाते हैं, वह ईश्वर नित्य-निरन्तर हम सब भाई-बहनों के साथ इसी वर्तमान में विद्यमान है।

जिस समय बैठकर हम लोग बातें कर रहे हैं और ईश्वर की चर्चा कर रहे हैं, तो सोच करके देखिये कि वह ईश्वर इसी समय हम सभी भाई-बहनों में विद्यमान है कि नहीं है? कहीं दूर से खोज-ढूँढ करके लाना तो नहीं है। उसके विद्यमान होते हुए भी जो विभूतियाँ हैं, उसका जो स्वरूप है, उसका जो अस्तित्व है, जिसमें अनन्त आनन्द है, जिसमें अनन्त माधुर्य है, उस आनन्द, उस माधुर्य का अपने लोगों को कुछ पता ही नहीं चल रहा है। पता चल रहा है किस बात का? कि मुझे अमुक-अमुक प्रकार का सुख है और मुझे अमुक-अमुक प्रकार का दुःख है। पता चल रहा है सुख और दुःख का और विद्यमान कौन है? जो सहज आनन्दस्वरूप है।

आप सब लोग रामचरित मानस के प्रेमी हैं। जगह-जगह पर मैं पढ़ती हूँ। सीताजी की खोज करते फिर रहे हैं। उसी बीच में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है-

'बैठे परम प्रसन्न कृपाला'

आश्चर्य होता है मुझे! उस परिस्थिति में भी "बैठे परम प्रसन्न कृपाला!" क्योंकि आनन्दस्वरूप ही हैं वे। उनका आनन्द हम लोगों की तरह परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। राज्याभिषेक की सूचना दी गई थी और अभी सेवेरा हो ही रहा है, तैयारी हो रही है तभी बनवास की सूचना आ गई। तो क्या लिखते हैं गोस्वामी-

'हर्ष विषाद न कछु उर आवा।'

राज्याभिषेक का समाचार पा करके कोई हर्ष नहीं है और बनवास का समाचार पा करके कोई उदासी नहीं है। आनन्दस्वरूप ही हैं वेऋ रसस्वरूप ही हैं। वे हमारे भीतर इसी क्षण में विद्यमान हैं। उस रसस्वरूप के विद्यमान होते हुए भी हमारे मस्तिष्क में तनाव क्यों है? आँखों में असंतोष का भाव क्यों है? चेहरे पर उदासी क्यों

है? क्या बात हो गई भाई? बात केवल इतनी हो गई, कि जिसके संयोग से सुख-दुःख आता है, जिसके संयोग से क्षति-वृद्धि होती है, उसी को मैंने पसन्द कर लिया है और जो आनन्दस्वरूप हैं, प्रेमस्वरूप हैं, उनको तो मैंने प्रतीक बनाकर मन्दिर में बैठा दिया है। इसका मतलब यह मत समझना कि मन्दिर में बैठाने का मैं विरोध कर रही हूँ। विरोध नहीं कर रही हूँ। हाड़-मांस के शरीर को रखने के लिए ईंट, पत्थर जोड़ करके महल बनाते हो तो जो भीतर है, बाहर है, कण-कण में व्याप्त है उस परमात्मा को रखने के लिये, उनके प्रतीक को सामने रखने के लिये मन्दिर क्यों नहीं बनाओगे? मन्दिर जरूर बनाओ, उसमें परमात्मा को जरूर बैठाओ और उनकी पूजा भी करो। लेकिन उनकी मन्दिर तक ही सीमा है कि तुम्हारे हृदय तक है? जी? हृदय तक है न। तो उनके प्रेम की जो अभिव्यक्ति है, वह मनुष्य के हृदय में होती है।

सारी सृष्टि में सबसे मूल्यवान तत्त्व जो है, वह मनुष्य का हृदय है। उसके समान और कुछ नहीं है, क्योंकि उसी हृदय में अनन्त परमात्मा का प्राकट्य होता है। सारी सृष्टि में सबसे मूल्यवान जीवन जो है, वह मनुष्य का है; क्योंकि उसी मनुष्य के माध्यम से ईश्वर अपने ईश्वरत्व को इस संसार में प्रकट करते हैं। खुद भी आ करके उनको काम करना पड़ा तो मनुष्य का शरीर धारण करके ही उन्होनं हम लोगां को सब कुछ कर दिखाया। कितना प्रभाव होता है इस बात का! कितना महत्त्व है इस जीवन का।

मैं कोई नई बात कहने के लिये आपके पास नहीं आई। अपने पूज्य अनुभवी महाराजजी से मैंने यह सुना था कि नई बात दुनिया में क्या हो सकती है? जो सत्य है वह चिर पुरातन है-वह सनातन है। उसमें नई बात कुछ नहीं हो सकती है। ये सब बातें आपकी पहले की सुनी हुई है, जानी हुई हैं, और आप इस विषय में सोचते-विचारते भी रहते हैं। मैं केवल इतना निवेदन कर रही हूँ कि अब तक हम जो कुछ परमात्मा के सम्बन्ध में सोचते आये, पढ़ते आये, कहते और सुनते आये, उन सारी बातों का स्पष्टीकरण, प्रत्यक्षीकरण अपने में अपने द्वारा हो सकता है। इस सत्यको आज स्वीकार करें। अब शान्त हो जाइये।

प्रवचन 50

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

संसार में जो समय हम लोगों ने बिताया, उससे अपने को इस बात का पता चल गया कि अपनी हर आवश्यकता की पूर्ति संसार नहीं कर सकता है, जैसे कि सदा-सदा का साथी संसार में नहीं मिलेगा। ऐसा मधुर, अलौकिक, परम पवित्र प्रेम का रस, जो जन्म-जन्मान्तर के विकारों को धो डाले, जो सदा-सदा के लिये मुझे कृत-कृत्य करदे, उसे प्रदान करने में यह जड़ जगत् असमर्थ है।

अब इस आवश्यकता की पूर्ति कैसे होगी?- यह एक जिज्ञासा होती है मनुष्य के भीतर। अनुभवी संतजन इसका उत्तर देते हैं। सद्ग्रंथों में इसका उत्तर लिखा हुआ है कि भाई, संसार में मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की सामर्थ् नहीं है। जो बातें संसार से हो सकती हैं, उन बातों की सीमा शरीरों तक है। अपनी जो आवश्यकता है, उसकी पूर्ति तो केवल परमात्मा से हो सकती है।

ईश्वर को मानने वाले भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन है, कि हम सब लोगों को ईश्वर तत्त्व और ईश्वर-विश्वास को जीवन का अनिवार्य अंग मानना चाहिये। अपनी आवश्यकता की पूर्ति

ईश्वर से ही हो सकती है, जड़ जगत् से नहीं। क्या चाहिये अपने को? मैंने अपना दुःख स्वामीजी महाराज को सुनाया था कि संसार में अपना कहने के लायक कोई दिखाई नहीं देता है, और मनुष्य के जीवन की रचना ऐसी है कि वह बिना किसी को अपना बनाए रह नहीं सकता। नीरसता का नाश नहीं होता, अपूर्णता का नाश नहीं होता।

संतजन सलाह देते हैं, कि सदा-सदा के लिये साथ देने के लायक अकेला परमात्मा ही है और सच पूछो तो उसी से तुम्हारा नित्य-सम्बन्ध है। नित्य-

सम्बन्ध कहने का अर्थ है, ऐसा सम्बन्ध जो कभी भी टूटता नहीं है। संसार में जितने सम्बन्ध हम जानते हैं, वे सब सम्बन्ध अनित्य होते हैं। उनका आरम्भ होता है और अन्त होता है। सम्बन्ध मान लिया और सम्बन्ध खत्म हो गया। जो सम्बन्ध ऐसा होता है कि बन भी जायें, और टूट भी जाये, उसको अनित्य-सम्बन्ध कहते हैं।

लेकिन, जो ऐसा सम्बन्ध है कि हमारे भूल जाने पर भी मिटता नहींक्र हमारी ओर से विस्मृति हो जाए, तब भी टूटता नहीं है, ऐसा सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध कहलाता है। मनुष्य के जीवन की जिज्ञासा को देखकर, मनुष्य की आवश्यकता को देखकर यह उत्तर संतजनों और सद्ग्रन्थों से मिलता है कि यदि तुमसे किसी को अपना बनाये बिना रहा ही नहीं जाताक्र किसी को प्यार किये बिना तुम रुक ही नहीं सकते और किसी के प्यारे बने बिना तुमसे रहा ही नहीं जाता तो तुम्हारी इस आवश्यकता की पूर्ति केवल परमात्मा ही कर सकता है। यह उत्तर है। अब क्या करें?

उस बिना देखे, बिना जाने को, अपना मानने का साहस आप में है। यह मनुष्य की विशेषता है, और किसी योनी में यह सामर्थ् नहीं है। मनुष्य में यह सामर्थ् है कि वह देखे हुए संसार को इन्कार कर देता है कि नहीं.... नहीं..., मुझे नहीं चाहियेक्र और बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा पर, बिना किसी शर्त के अपने को समर्पित कर देता है। बड़ी बहादुरी की बात है। सहज नहीं है। लेकिन है। किस आधार पर हम लोग ऐसा करते हैं? इस आधार पर करते हैं कि जन्मदाता ने विवेक का एक प्रकाश हम लोगों को दिया है। उसी प्रकाश में यह दिखाई देता है कि दृश्य जगत् में कहीं भी स्थायित्व नहीं है। सबमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। उत्पत्ति और विनाश का अनवरत क्रम चल रहा है। निर्माण होता जा रहा है, विनाश होता जा रहा है। संगठन होता जा रहा है तो विघटन भी होता जा रहा है।

मनुष्य, विवेकशील होने के कारण, संसार के इस स्वरूप को जान लेता है, और जान लेने का प्रभाव यह होता है, कि वह देखे हुए संसार की ओर से मुख मोड़ लेता है। फिर उसी की हृदयशीलता में यह विशेषता है कि वह बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को, बिना किसी शर्त के, अपने को समर्पित कर देता है कि संसार में अपना करके कहने के लायक कुछ है नहींक्र और आपको अपना माने बिना हम रह सकते नहीं। तो हे प्यारे! यह तुच्छ जीवन, अभावों से भरा जीवन, अपूर्ण जीवन, चाहे जैसा भी है, तुम्हारा ही है और तुम्हारी ही प्रसन्नता के लिये यह तुम्हें समर्पित है।

कितनी बड़ी बात है! सोचो। बहादुरी है कि नहीं? यह सुख के लोभियों का काम नहीं है। यह कामनाओं से प्रेरित रहने वालों का काम नहीं है। यह संसार को जो अपनी खुराक बनाना चाहता है, उसका काम नहीं है। जो प्रेम का पुजारी है, जो उस अनन्त रस से अपने जीवन को भरपूर करना पसन्द करता है, यह उसकी बहादुरी है। वह

कहता है-तुम्हीं से मेरा नित्य-सम्बन्ध है, तुमसे भिन्न और किसी से मेरा नित्य-सम्बन्ध नहीं है।

तो दो ही बातों में काम हो गया। परमात्मा से भिन्न और किसी से मेरा नित्य-सम्बन्ध नहीं है तो संसार से सम्बन्ध टूट गया। ममता, कामना, खत्म हो गई। मीराजी ने क्या कहा था?-

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरों न कोई'

'मेरे तो गिरधर गोपाल'-इतने कहने के लिये सब भाई-बहन बहुत राजी हैं। महाराजजी कभी-कभी कहते, "भाई, ऐसा कहने में कौन पीछे हटेगा। सामर्थ्वान है, अनन्त सौन्दर्यवान है, अनन्त रस का सागर है, अनन्त

माधुर्यवान है। ऐसा नातेदार किसी को मिले तो कौन इन्कार करेगा?"अरे भाई, छोटे-छोटे गुणों पर जो आप विवाह का सम्बन्ध बनाने के लिये जमीन-आसमान एक करते हैं- बड़ा अच्छा खानदान है, बड़ा अच्छा परिवार है, बड़े अच्छे लोग हैं, यह विशेषता है- छोटी-छोटी बातों पर सम्बन्ध बनाने के लिये आप इतने आतुर रहते हैं, तो जिसमें अनन्त ऐश्वर्य है अनन्त माधुर्य है, अनन्त सौन्दर्य है-उसको अपना बनाने में कौन पीछे हटेगा? हम सभी लोग राजी हैं यह कहने के लिये, कि हे प्रभु! तू मेरा, हे प्रभु! मैं तेरी। तुम्ही मेरे अपने हो और मेरी माता हो तुम्हीं, पिता हो तुम्हीं, मेरे बंधु हो तुम्हीं, सखा हो तुम्हीं-यह सब हम लोग कहने के लिये तैयार हैं, कहते ही रहते हैं। लेकिन उसमें बड़ी कठिनाई पड़ जाती है कि इस जीवन पर जो जड़ता का प्रभाव है, शरीर और संसार के संयोगजनित सुख भोग की वासना का जो प्रभाव है, वह मीराजी की तरह हमको यह नहीं कहने देता कि-'दूसरों न कोई'।

यह दूसरा हिस्सा जो है, यह मुझको बहुत महत्त्वपूर्ण मालूम होता है; क्योंकि जब मैंने कहा कि परमात्मा मेरा अपना है, तो इसमें मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। इसलिये नहीं हुई, कि उसकी तो मुझे बड़ी भारी जरूरत है। मृत्यु के भय से भयभीत जो है, वह अविनाशी को पसन्द कर लेता है। मीराजी ने संसार को सुना कर कह दिया-

'ऐसे वर को क्या वरूँ, जो जन्मे अरु मर जाय।

वर वरियो एक साँवरा रे, चुड़लौ अमर हो जाय।।'

जो अपनी अपूर्णता में पीड़ित है, वह सब प्रकार से पूर्ण को पसन्द कर लेता है। जो अपने भीतर प्रेम रस के अभाव में तृषित और तापित है, वह प्रेम रस के सागर को पसन्द कर लेता है। कौन बड़ी बात हो गई? अपने में जो अभाव है उसे सब प्रकार से भरेगा, उसे तो पसन्द करेंगे ही। लेकिन, उसके साथ एक बड़ी भारी शर्त है, और वह यह है, कि जिन्होंने केवल परमात्मा को पसन्द किया, वे तो उसको प्राप्त करके कृत-कृत्य हो गये और जिन्होंने संसार की पसन्दगी को तोड़े बिना परमात्मा को अपना कहना पसन्द किया, उनके भीतर वह नित्य, निरन्तर विद्यमान है, तब भी उसकी विद्यमानता का आनन्द नहीं आया। बस इतना ही अन्तर है, और कुछ नहीं।

संसार में बहुत कम लोग हैं जो ईश्वर-विश्वास के बिना अपने को सँभाल सकें। जीवन देने वाले ने हम लोगों को स्वाधीनता दी है। उसकी दी हुई

स्वाधीनता का हम लोग दुरुपयोग भी करते हैं, सदुपयोग भी करते हैं। ऐसी चर्चा चलती रहती है संसार में, कि भाई, हम तो बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा को नहीं मानते हैं। मेरे साथ एक अंग्रेजी पढ़ाने वाली अंग्रेज महिला थीं। सोलह वर्ष उन्होंने मेरे साथ महाविद्यालय में काम किया। वह एक बार आई अपने देश से, तो कहने लगी-

बहुत दुःखी हूँ। मैंने कहा, क्या बात है? आप क्यों दुःखी हैं?

मिसेज हैलन बर्नर्ड उनका नाम है, तो कहने लगी, देखो न, हमारे देश के जो नये लड़के हैं, नई पीढ़ी के, वे कहते हैं- भगवान का नाम क्यों लेते हो? बिना भगवान का नाम लिये सब काम हो जाता है। एक बच्चा पैदा हुआ। उसके मुख में दाँत नहीं थे। उसने तो भगवान का नाम ही नहीं लिया - उसके मुख में दाँत निकल आये। सब काम तो बिना नाम लिये हो जाता है, तो जबरदस्ती नाम के द्वारा जीवन में हस्तक्षेप क्यों करवाते हैं? भगवान को तुम अपने जीवन में क्यों हस्तक्षेप करने देती हो, ऐसा कहकर वह बहुत दुःखी होने लगी। कहने लगी, अब मैं तुम्हारे देश में नहीं रहूँगी। अब तो मैं जाऊँगी-अपनी नई पीढ़ी को सँभालूंगी। मैं कहूँगी कि भाई, ऐसा मत सोचो। ऐसा सोचने से बहुत गलती हो जायेगी, बहुत घाटा लग जायेगा। ऐसा वह महिला कह रही थी।

कुछ इस प्रकार की धारणायें भी बन जाती हैं कि भाई, देखा नहीं है, जानते नहीं हैं, कुछ उसके बारे में मालूम भी नहीं है, तो काहे को मान लें? लेकिन माने बिना रह भी नहीं सकते। इसलिये मानना तो पड़ता ही है। जो लोग मुँह-जुबानी ऐसा कहते रहते हैं, कि परमात्मा को मानने की जरूरत नहीं है, वे भी भीतर-भीतर डरते रहते हैं कि ऐसा कहने में कोई गलती तो नहीं हो जायेगी?

एक हमारे साथी थे। हमारे साथ के पढ़े हुए व्यक्तिऋ मैं राँची युनिवर्सिटी में थी और वे भागलपुर युनिवर्सिटी में थे। एक बार उनसे भेंट हो गई तो कहने लगे, मैं तो नहीं मानता हूँ। मैंने कहा, मत मानिये, कोई बात नहीं है। थोड़ी देर चुप रहकर कहते हैं-देवकी दीदी, डर भी लगता है। क्यों डर लगता है भाई? तो कहने लगे कि भगवान निकल आएगा तो क्या करूँगा।

तो भाई, नहीं मानते हो तो मत मानो, फिर डरते क्यों? कहने लगे, क्या जाने डर लगता है। ऐसा लगता है, निकल आयेगा तो क्या करेंगे। मैंने कहा, निकल आयेगा तो मान लेना, ऐसी क्या बात है।

उदाहरण रखा मैंने कि लोग केवल मुँह-जबानी चर्चा ही कभी-कभी कर सकते हैं कि हमको परमात्मा की जरूरत नहीं है, हम नहीं मानते हैं, लेकिन मैं तो कहती हूँ, मनुष्य के जीवन की रचना की योजना ही ऐसी है कि भगवान को बिना माने आपको काम भी नहीं चलता है। तब फिर कहेंगे कि इतने मानने वाले लोग हैं उनका कौनसा काम चल गया। सचमुच जिन्होंने उनको अपना माना, उनका तो सब काम चल गया।

आज भी, इस वर्तमान क्षण में भी, जो लोग सचमुच ईश्वर को मानने वाले हैं, उनका सब काम केवल इस विश्वास के आधार पर ही पूरा-का-पूरा चलता है, चल रहा है। बड़े-बड़े भक्त हो गये, बड़े-बड़े संत हो गये, जिनसे ईश्वर का इतना घनिष्ट सम्बन्ध हुआ कि उनसे बातचीत होती रही, उनसे प्रेम का आदान-प्रदान होता रहाऋ परस्पर एक-दूसरे को रिझाते रहे, खेलते रहे। ऐसे भक्त अभी भी धरातल पर हैं।

अब अपने लोगों का हाल देखो। अपनी दशा देखने के लिये इस तरह विचार करना पड़ेगा कि क्या मैंने सर्वसमर्थ परमात्मा को अपना नित्य

सम्बन्धी माना? ऐसा पूछो अपने से। अगर उसे ऐसे स्वीकार किया तो क्या मेरा जीवन भय और चिंता से मुक्त हो गया? अगर नहीं हुआ है, तो मैंने ईश्वर में विश्वास किया है, ऐसा जो मेरा कथन है, इस कथन में कहीं कुछ कमी है। नहीं तो चिंता नहीं होनी चाहिये थी, भय नहीं होना चाहिये था, जीवन में अभाव नहीं रहना चाहिये था,

नीरसता नहीं रहनी चाहिये थी, संसार में दृष्टि नहीं जानी चाहिये थी। कहीं कुछ कमी है।

मैं ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से ईश्वर-विश्वासी भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन करती हूँ कि भाई, अधूरा विश्वास लेकर हम लोग क्या करेंगे? अगर मानना ही है परमात्मा को, तो पूरा क्यों न मानो, कि सब काम इसी समय पूरा हो जाए। क्या कमी रह गई? मीराजी के समान हम लोगों ने यह कहना पसन्द किया कि 'मेरे तो गिरधर गोपाल'। बाकी हिस्सा जो मीराजी ने ग्रहण किया था, वह भी करलो- 'दूसरों न कोई'। ईश्वर-विश्वास के अतिरिक्त अन्य विश्वास जीवन में न रखना। ईश्वर- सम्बन्ध के अतिरिक्त और किसी से कोई सम्बन्ध न रखना।

आप कहेंगे, यहाँ के सम्बन्धियों का क्या करें? तो भाई, सब परमात्मा के हैं। परमात्मा के नाते सबकी सेवा करो, सबके प्रति सद्भाव रखो। सबके साथ आदरपूर्वक, प्रेमपूर्वक रहो। ऐसा थोड़े ही है, कि जिन लोगों ने ईश्वर से सम्बन्ध माना और संसार से संबंध तोड़ा, वे लोग संसार से रूठ कर भाग गये। अरे भाई, मेरा नहीं है, परमात्मा का है- इतना ही तो परिवर्तन करना है। सच्ची बात कौनसी है? 'मेरा' कहना सत्य है कि 'परमात्मा का' कहना सत्य है? परमात्मा का कहना सत्य है।

अब देखिये। आपको एक मजेदार बात बताऊं। एक साधक हैं। काफी पुराने सत्संगी हैं। उनके नगर में सत्संग हुआ। वहाँ के नागरिक उन सत्संगी भाई को बहुत आदर देते हैं। उनको बहुत मानते हैं। उन्होंने घर छोड़ दिया है। वानप्रस्थ हो गये हैं। उस नगर में जब मैं पहुँची तो वे सज्जन वहीं विद्यमान थे। सत्संग का कार्यक्रम चल रहा था। उनके संगी-साथी लोगों ने मुझे कहा कि माताजी, उनके घर पर चलना पड़ेगा। मैंने कहा, उनका घर कहाँ है? उन्होंने तो घर छोड़ दिया है। तो बोले कि 'वही पुराना घर जिसमें पहले रहा करते थे और जहाँ बैठकर हम लोगों को बीसों वर्ष सत्संग कराया है। हम लोग चाहते हैं कि उस स्थान पर आपको ले चलें।

हम गये उनके घर। वहाँ जब जाकर मैं बैठी, तो बुहत से बच्चे, स्त्रियां, सयाने और पुरुष, सब लोग आये मिलने के लिये। दो-चार बहुत ही सत्संगी और वेदान्त के पढ़ने-सुनने और कहने वाले संगी-साथी लोग बैठे थे। एक-एक महिला, एक-एक बच्चा, एक-एक पुरुष आकर बैठ जाये सामने और उनका नाम ले-ले करके उसका परिचय कराया जाये-यह उनके भाई की स्त्री है, यह उनके भतीजे की पत्नी है, यह उनका लड़का है। दो-चार मैंने सुना। सुन करके जो परिचय करा रहे थे समझदार लोग, उनसे मैंने कहा कि भाई- आप लोग ऐसी तकलीफ तो मत दीजिये उनको, तो देखने लगे मेरा मुँह। यह क्या बात है?

मैंने कहा, देखिये उन्होंने मिथ्या-सम्बन्ध को छोड़ दिया है। वानप्रस्थी हो गये, गृह-त्यागी हो गये। तो जिस सम्बन्ध को जिन्होंने छोड़ दिया साधना के लिये, कि भाई, अनित्य-सम्बन्ध खत्म करो और नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करो, अब उनको बिठा करके मिथ्या सम्बन्धों को याद क्यों दिला रहे हो? मुझे भीतर से बड़ा अटपटा लगने लगा।

हमने कहा कि जिस गृहस्थ ने घर छोड़ दिया, वानप्रस्थ हो गया उसके लिए तो अब भगवत्नाते सभी अपने हैं। पर सुख लेने के लिये कोई अपना नहीं है। यह शरीर भी अपना नहीं है।

ज्ञान की दृष्टि से देखो, तो निज-स्वरूप से भिन्न है ही नहीं। ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से नाता मानो, तो प्रभु के नाते सभी अपने हैं। हमने कहा कि आप लोग, जिस भूल को इन्होंने मिटा दिया, उसकी फिर से स्थापना क्यों कर रहे हो? तो हँस

पड़े। फिर और लोग आये तो फिर वही क्रम चलता रहा। यह इनके भतीजे का है, यह इनके भाई का है, यह इनके ताऊ का है। यह ऐसा, यह ऐसा। फिर दोहरा करके मैंने याद दिलाया और कहा कि आप सभी इन पर कृपा करो। तो हँस करके डाक्टर साहब कहते हैं ;वे डाॅक्टर हैंऋ कि माताजी, सच्ची बात तो कहनी पड़ेगी। मुझको बड़ा धक्का लगा। मैंने कहा, देखो तो वानप्रस्थी की मान्यता स्वीकार की इस सज्जन ने, वह झूठी बात थी और भाई-भतीजे का परिवार है-यह सच्ची बात है। अगर जीवन में यह भ्रम बैठा है तो वानप्रस्थी होने से सत्य का ज्ञान कैसे होगा? यह कितने आश्चर्य की बात है! आप लोग सोच कर देखियेगा।

जितनी साधनायं हैं, हम लोगों ने ऊपर से पहन ली हैं या ओढ़ ली हैं। जी चाहे तो उतार कर फेंक दो। यही अर्थ हुआ न? उन सज्जन ने वानप्रस्थ स्वीकार कर लिया, उनका नाम बदल गया और अबकी मैं गई तो मैंने देखा कि वे संन्यासी भी हो गये हैं। ये जितनी बातें हम लोग अपने लिये धारण कर रहे हैं कोई प्रभु को अपना पिता बना रहा है, कोई माता बना रहा है, कोई पुत्र बना रहा है, कोई सखा बना रहा है, कोई कुछ बना रहा है, उनके साथ नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करके अपने और उनके बीच की जो दूरी है सो हम लोग मिटाना चाहते हैं। ईश्वर-विश्वासियों की साधना की सिद्धि क्या है? कि जिस परमात्मा को हम लोगों ने विश्वासपूर्वक माना, उस परमात्मा से मेरी भेंट, मुलाकात हो जाये, जान-पहचान हो जाये अपनापन सिऋ हो जाये और संसार से पिंड छूट जाये। यही उद्देश्य है न।

इस उद्देश्य को लेकर आपने अनेक प्रकार का उपक्रम किया, स्वीकृतियां लीं, घर छोड़ उनके नाते को माना, दूसरे सारे नातों का त्याग किया। यह सारा कुछ करने का अर्थ क्या निकला, अगर अंत में यही कहेंगे, तो मुझको बड़ा दुःख हुआ। उस समय मैंने कुछ नहीं कहा। सोचा कि जब केवल सत्संगी लोग ही बैठे होंगे तब मैं पूछूंगी 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' का अर्थ भी होता है कुछ? कहने के लिये तुम्हीं माता हो, तुम्हीं पिता हो और जीवन में विश्वास रखने के लिये ये हाड़-मांस के पुतले डोल रहे हैं-ये हमारे माता-पिता हैं। जब मैंने याद दिलाई तो वे सज्जन एकदम से कह उठे कि माताजी, सच्ची बात तो कहनी पड़ेगी। तो सच पूछो तो जैसे मेरे पाँव के नीचे से धरती खिसक गई। मैंने कहा-हम साधकों का अगर यह हाल रहेगा कि जो सत्य की स्वीकृति है, उसको तो कहने के लिये रहने देंगे और जो असत् की निवृत्ति की बात है उसको सत्य कह कर पकड़े ही रहो, तो अंधकार कैसे मिटेगा?

अब देखो! कितना समय निकल गया हमारा देखते-देखते, सुनते-सुनते। स्वामीजी महाराज के पास बैठ करके सुनती रही। इक्कीस वर्षों तक का अवसर मुझे मिला। बड़े-बड़े साधक लोग उनके पास आते, बात करते। सबकी एक ही शिकायत रहती है। क्या शिकायत रहती? कि मन को जहाँ से हटाना चाहते हैं हटता नहींऋ जहाँ लगाना चाहते हैं, लगता नहीं है। अब यह शिकायत मिटेगी कैसे? सत्संग के प्रकाश में उनको यह कहा गया कि भाई, इस दृश्य जगत् में कुछ भी रहने वाला नहीं है। इसलिये वस्तु, व्यक्ति जो भी तुम्हारे सामने आयेऋ आदरपूर्वक, स्वागतपूर्वक वस्तुओं का सदुपयोग करो व्यक्तियों की सेवा में। लेकिन, चूँकि यह रहने वाला नहीं है, इसलिये इसमें से किसी को अपने जीवन का आधार मत बनाओ।

अब सुना हुआ परमात्मा देखने में क्यों नहीं आता है? क्योंकि हमारे पास उसको देखने

की आँखें नहीं है। ऐसा नहीं कि वह उपस्थित नहीं है। वह उपस्थित तो हैं, लेकिन दिखाई नहीं देता। अब क्या उपाय करें कि वह दिखाई दे? उसके लिये परमात्मा को अपना मानो और केवल उसी को अपना मानो। बाकी सब कुछ परमात्मा का है, सृष्टि परमात्मा की है, प्राणीमात्र परमात्मा के हैं और मैं भी परमात्मा का हूँ-ऐसा मानो।

जब लोग स्वामीजी महाराज के पास आते तो कहते, कि भगवान को याद करने बैठते हैं तो दूसरी-दूसरी बातें याद आ जाती हैं। महाराज पूछते कि अच्छा, बताओ, कौन-कौनसी बातें याद आ जाती हैं, सुनाओ जरा। तो सुनाते कि किसी को कुटुम्बी याद आ जाते, किसी को घर याद आ जाता या कोई समस्या याद आ जाती। किसी को कुछ तो किसी को कुछ। तो महाराजजी कहते कि आप अपने अस्तित्व को इन्कार नहीं कर सकते और ईश्वर को इन्कार नहीं कर सकते। दोनों ही अविनाशी सत्ताएँ आप ही के जीवन में आप ही के द्वारा स्वीकार की गईं, तो यह संभव है कि दोनों का मिलन हो। मिलन का न होना असम्भव है। मिलन सम्भव है। फिर क्या हो गया?

तो महाराजजी बता देते कि देखो भैया, सीधा हिसाब है। पहले से तुम्हारे जीवन में दस सम्बन्ध थे। मेरे कहने से तुमने एक और परमात्मा का

सम्बन्ध मान लिया तो ग्यारह हो गए न! अब दस बटा ग्यारहऋ 10/11 संसार की याद आती है और एक बटा ग्यारह 1/11 परमात्मा की। हिसाब बिल्कुल पक्का है तो शिकायत काहे को करते हो?

हिसाब है भाई! दस सम्बन्ध तुमने पहिले से दुनिया में बना रखे हैं-यह माता है, यह पिता है, यह पति है, यह पत्नी है, यह पुत्र है, यह पुत्री है, यह भाई है। ये सब सम्बन्ध संसार में पहले से जोड़ कर बैठे हो तुम। साधु संत के कहने से एक और मिला लिया उसमें। ये सब हमारे थे, एक परमात्मा भी मेरा है। तो ग्यारह सम्बन्ध जिस जीवन में हैं, तुम्हारे ही द्वारा माने गये हैं, तो दस बार याद आयेगी संसार की, और ग्यारहवाँ नम्बर परमात्मा का है। कभी-कभी जो उसकी याद आती है तुमको, तो यह बात बिल्कुल स्वाभाविक ही है। निरन्तर किसको याद आती है उसकी? निरन्तर उसी को याद आयेगी जिसे और किसी की याद नहीं आती, जिसके लिए "दूसरो न कोई"।

दूसरा नहीं, एक ही सम्बन्ध है। 'एक भरोसो, एक बल, एक आस-विश्वास' है उसी को दूसरी याद नहीं आती। मुझे इस बात का बहुत दुःख है कि हम लोग सब ईश्वर-विश्वासी हैं और ईश्वर-विश्वासी होने पर भी भय और चिंता से पीड़ित हैं। जिस ईश्वर-विश्वासी के हृदय में ईश्वरीय प्रेम का रस लहराना चाहिये था-उस ईश्वर-विश्वासी के हृदय में उदासी, भय आ जाये, तो दुःख की बात होगी कि नहीं? जी? ऐसा होना तो नहीं चाहिये।

इसलिये भाई, न मानो तो कोई चिंता की बात नहीं है। न मानो। बिना माने भी सत्य की खोज की जाती है। महाराजजी कहते, भाई देखो, हमारा सिद्धान्त तो ऐसा है कि ईश्वर को मानकर चलने वाले को भी ईश्वर मिलता है, और ईश्वर को न मानकर सत्य की खोज करने वाले को भी ईश्वर मिलता है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त में तो यह है कि ईश्वरवादी को भी ईश्वर मिलता है और अनीश्वरवादी को भी ईश्वर मिलता है। क्यों? क्योंकि प्राप्तव्य जो है, वह एक ही तत्त्व है।

ज्ञान कहकर विचार करो, चाहे प्रेमस्वरूप कहकर प्यार करो, चाहे परम तत्त्व, चाहे ब्रह्म मानकर विचार करो, प्राप्तव्य जो है वह

तो एक है और वही प्राप्त होगा। उसका नाम ईश्वर है, तो डर की, चिंता की कोई बात ही नहीं है कि आप क्या हैं और क्या नहीं है। न मानोगे तो कोई बात नहीं। जानने की चेष्टा करिये। खोजिये। अगर मानते हैं, तो मानने का इतना अर्थ अवश्य होना चाहिये कि हम लोगों के जीवन में निश्ंिचतता आ जाये। अनाथपन सदा के लिये मिट जाये। संसार का महत्त्व जीवन में से निकल जाये। उस विश्वव्यापी, उस सर्वव्यापी, उस अन्तरवासी परमात्मा की उपस्थिति का आनन्द हम लोगों को आ जाये। इतना हम सब भाई-बहनों को अवश्य करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में संसार के साथ क्या करें? यह बात हो चुकी। परमात्मा के साथ क्या करें - इस प्रश्न के उत्तर में अभी से जहाँ पर हम लोग हैं, जैसी हमारी स्थिति है, इसी वर्तमान दशा में हम क्या करें, कि जिस परमात्मा से अभी दूरी अनुभव हो रही है, उस दूरी का नाश हो जाये? -इस विषय पर और चर्चा होती रहेगी।

सत्संग का समय अब पूरा होने वाला है- थोड़ा समय रह गया है। अब थोड़ी देर के लिये हम लोग बिल्कुल शांत रहेंगे।

प्रवचन 51

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मानव-जीवन का उच्चतम विकास है, प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति। अभी हम सन्त वाणी में इसी तत्त्व के सम्बन्ध में चर्चा सुन रहे थे। यहाँ जितने भाई-बहन सत्संग के लिए उपस्थित हुए हैं सभी के जीवन में शान्ति,

स्वाधीनता और सरसता की माँग है।

हम सभी को परमशान्ति चाहिए। हम सभी को जन्म-मरण की बाध्यता से मुक्त जीवन चाहिये। वह जो अमर जीवन होगा, अविनाशी जीवन होगा, उसमें अनन्तरस की अभिव्यक्ति चाहिये-ऐसी आवश्यकता मानव-जीवन की होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हम सभी क्रियाशक्ति, विचारशक्ति और भावशक्ति-तीनों प्रकार की शक्तियों को साधन रूप बनाने के लिये विचार कर रहे हैं।

क्रियाशक्ति जो मिली है उसको हम साधन रूप में बदलें। कैसे? कि जो कुछ करना है इस दृष्टि से करना है कि करने के बदले में न करने का जीवन हमें मिल जायें। बिना कुछ किये हम आराम से रह सकें। विचार शक्ति का सदुपयोग क्या है? कि जीवन की घटनाओं का अध्ययन करने के बाद अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग कर सकें।

जिन्होंने क्रियाशक्ति का सदुपयोग किया, वे सेवापरायण हो गये, कर्त्तव्यनिष्ठ हो गये और उनके प्राप्त बल का सदुपयोग हो गया। जिन्होंने विचार शक्ति का उपयोग किया, वे जानी हुई भूल को करेंगे नहीं, की हुई भूल को दुहरायेंगे नहीं। इस व्रत के धारण करने से उनका जीवन निर्मल हो जायेगा। दोष-रहित हो जायेगा।

उसी प्रकार भावशक्ति के सदुपयोग का भी प्रश्न हम लोगों के सामने आता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, बड़ा ही सरस और आवश्यक अंग है-भाव शक्ति, श्रद्धा, विश्वास, स्नेह, प्रेम का भाव, निकटवर्ती जनसमुदाय के प्रति सहानुभूति, सहयोग, उदारता-ये सब मनुष्य-जीवन की शोभा के रूप में हम लोग पाते हैं। जब तक मानव के जीवन में भाव पक्ष प्रबल रहता है तब तक उसके व्यक्तित्व पर उसका बड़ा भारी प्रभाव होता है, सरसता बनी रहती है, उसके व्यक्तित्व का संगठन बना रहता है। भाव, विचार

और कर्म में एकता रहती है। प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है, विचारपूर्वक कर्म करता है और परिणामस्वरूप कर्म के क्षेत्र से अलग होने पर अपने आप में शान्तिपूर्वक रह सकता है। संसार के शरीरों को लेकर शारीरिक, आर्थिक, बौद्धिक योग्यता इत्यादि को लेकर हम विचारपूर्वक कर्म करें और प्रेम के भाव से भरे हुए कर्म करें। भाव से पूरित जो कर्म होते हैं वे पवित्र होते हैं। विचार से प्रकाशित जो कर्म होते हैं, वे पवित्र होते हैं। वे ममता और कामना के दोष से रहित होते हैं। क्रियाशक्ति का पूरा सदुपयोग कर लीजिये। भाव शक्ति का पूरा सहयोग कर लीजिये। स्वभाव से जो शक्तियाँ अपने को मिली हुई हैं, उन्हीं के सदुपयोग से चिरशान्ति, परमस्वाधीनता, परमप्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है।

बड़ा सुन्दर चित्र देखने को मिलता है- एक ही व्यक्ति है, उसी का अहंरूपी अणु हैं। उसने अपने को सुख का भोगी स्वीकार किया है तो सुख भोगने के लिये वह विविध प्रकार के कार्यों में लगा रहता है। अनेक प्रयासों में लगा रहता है। सुख भोग का विधान ऐसा है कि जो किसी प्रकार का सुख लेना पसन्द करेगा उसको दुःख में फँसना पड़ेगा।

जहाँ भी कहीं सृष्टि के किसी भी अंश का सुखद सम्पर्क अपने को पसन्द आ गया कि उस परिवर्तनशील नाशवान् परिस्थिति का एक प्रभाव अपने में अंकित हो जाता है। जो नाशवान् है, उसका तो नाश हो जायेगा। जो परिवर्तनशील है, वह परिवर्तित हो जायेगा। देखते-देखते उसका अभाव हो जायेगा। आधा घंटा पहले जो था, अब नहीं है। दो मिनिट पहले जो था, अब नहीं है। तो परिस्थिति बदल गयी। सुख भोगने की सामर्थ् घट गयी। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं और हममें उस दृश्य का, उस वस्तु का, उस व्यक्ति का आकर्षण बना रह गया। इस प्रकार व्यक्ति अभाव में आबऋ हो जाता है।

मनुष्य बीते हुए सुखों को वर्तमान में याद कर-कर के इतना दुःखी हो जाता है कि उसके लिये जो अमर जीवन का मार्ग खुला है, उसका भी वह कुछ उपयोग नहीं कर सकता। संतजन हम लोगों को सलाह देते हैं कि देखो, तुम ही हो। जब तुमने अपने को सुख का भोगी बनाया तो संसार तुमको बड़ा आकर्षक दिखाई देता है। जहाँ देखो वहीं सुख भोगने की वस्तुएँ दिखाई देती है। उनके पीछे दौड़-दौड़ कर तुम अपने जीवन के अलौकिक तत्त्वों की ओर से विमुख हो जाते हो, वंचित हो जाते हो। मिल गया सुख तो जड़ता में डूब गये। नहीं मिला सुख तो क्रोध और क्षोभ में डूब गये। बड़ी दुर्दशा हो गई। अब जीना चाहते हैं तो जी नहीं सकते।

शरीर में बड़ा भयंकर कष्ट हो रहा है। मरना चाहते हैं तो मर नहीं सकते। खाना चाहते हैं तो पचा नहीं सकते। चलना चाहते हैं तो पाँव साथ नहीं देते। बोलना चाहते हैं तो गले से ध्वनि नहीं निकलती। यह दशा हो गयी। बड़ी दयनीय दशा हो गयी। फिर भी मनुष्य, मनुष्य है। कितनी भी भूल कर डाले और कैसी भी दयनीय दशा उसकी हो गयी हो, उसके भीतर जो ज्ञान के प्रकाश और प्रेम के तत्त्व के रूप में अलौकिक तत्त्व विद्यमान हैं उनका नाश नहीं होता। उसमें चेतना आ जाती है। वह कहने लगता है कि संसार के सम्पर्क से मैंने अपनी दुर्दशा कर ली। अब मुझे यह नहीं चाहिये।

उसके भीतर सजगता आ जाती है। यह वही मनुष्य है जिसने अपने को सुख का भोगी कहा और दुःख में फँस गया। वही मनुष्य है जिसने सुख-भोग की प्रवृत्तियों का त्याग किया तो परमशान्ति में स्थित हो गया। थोड़ी देर पहले जो

कहता था कि मैं बहुत थका हूँ, मैं बहुत दुःखी हूँ, त्याग के व्रत को अपनाते ही नाशवान् संसार के पीछे मुझे नहीं दौड़ना है, किसी भी सुख-प्रवृत्ति में अपने को शामिल नहीं करना है, केवल इस निर्णय से ही उनके मस्तिष्क का असन्तुलन समाप्त हो जाता है। मस्तिष्क का तनाव खत्म हो जाता है। संकल्प-रहित होते ही व्यक्तित्व का सामान्य संतुलन सुरक्षित हो जाता है। उसी में जीवन भीतर ही भीतर से अच्छा-अच्छा लगने लगता है। निज-विवेक के प्रकाश में नाशवान और परिवर्तनशील की ओर से अपने को अलग करते ही उसी व्यक्ति में चिरशान्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है।

उस शान्ति में अगर वह रहना पसंद कर ले तो क्रमशः शान्त होते-होते तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ् आ जाती है और ऐसा सम्बन्ध टूटता है, ऐसा टूटता है, जैसे कभी था ही नहीं। सुख भोग की वासनाओं से भरी दृष्टि थी तो संसार बड़ा आकर्षक दिख रहा था। इस वासना के त्याग के बाद अब विवेक की दृष्टि है तो सारा संसार काल की अग्नि में जलता हुआ दिखने लगता है। शान्ति गहन होने पर शरीरों से तादात्म्य टूटने पर दृष्टि से संग छूटा नहीं कि सृष्टि लुप्त हो गयी। तो न काल है, न स्थान है, न सीमा है, न शरीर है, न अपने को किसी प्रकार की पराधीनता महसूस होती है, न बेबसी है, न अभाव है। इतनी जल्दी यह बदलता है।

मैंने अनुभवी संतों की वाणी सुनी। स्वामीजी महाराज ने कहा, कि भाई, अविनाशी, स्वाधीन, परमप्रेम से परिपूर्ण जीवन की माँग अति तीव्र हो जाये तो माँग की तीव्रता में ही माँग की पूर्ति निहित है। दूसरे संतों की वाणी में मैंने सुना कि फूल के तोड़ने में देर लगती है, मृत्यु´जय होने में देर नहीं लगती है, जन्म-मरण के पार पहुँचने में देर नहीं लगती है।

एक दिन की बात है। स्वामीजी महाराज गंगा में स्नान कर के अपने आनन्द में बैठे थे। सब समय वह अपनी मस्ती में रहा करते थे। शरीर और संसार से सम्पर्क उनका तब जुड़ता था जब हम लोग उनको घेरकर उनसे कुछ बात करना चाहते, कुछ काम लेना चाहते, कुछ दुःख सुनाना चाहते। नहीं तो वे कहाँ रहते हैं, हम लोगों को पता ही नहीं चलता था। बिल्कुल प्रस्तर की मूर्ति की तरह आराम से रहते, उनका शरीर जहाँ का तहाँ शान्त दिखाई देता था।

महाराज अपने पार पहुँच जाते। कहाँ रहते? क्या रहस्य था? मालूम नहीं। एक दिन मैं सवेरे-सवेरे उनके पास गई। रोज दस मिनिट का समय मिलता था मुझे अपनी साधना के लिये कुछ बात करने को। प्रश्न लिख कर ले जाती थी, सुना देती। जो उत्तर देते महाराज, मैं लिखकर चली आती।

उस दिन गई तो पता नहीं उनके आस-पास में इतनी शान्ति, इतना आनन्द छाया हुआ था, मुखमण्डल उनका ऐसे आनन्द से देदीप्यमान हो रहा था कि मैं चुपचाप खड़ी की खड़ी रह गयी पीठ की तरफ, सामने भी नहीं गई। बड़ा आनन्द आ रहा था उस दर्शन में, समय बीत रहा था। घड़ी देख रही थी आज तो स्वामीजी महाराज का ध्यान ही नहीं टूट रहा है। अब तो हमारा समय निकल जायेगा। अब कैसे होगा?

एकदम सावधान होकर और यों चुटकी बजाकर कहने लगे कि अरे लाली! तुम लोग कहाँ बुद्धि की सीमा में चक्कर काटते रहते हो? अरे भाई! यों चुटकियों में स्वाधीन हुआ जाता है, चुटकियों में। अब हम क्या जाने? हम तो उस समय तक देह के सुख-दुःख में इतने उलझे हुए थे कि स्वाधीन आदमी कैसा होता है, हमको क्या पता। मैं चुपचाप सुनती रही। उसके बाद और

अधिक आनन्दित होकर कहते हैं कि क्या देवकीजी! तुम बुद्धिमान लोग बुद्धि की सीमा में चक्कर काटते रहते हो? अरे लाली! मैं तो एक छलांग में बुद्धि के पार चला जाता था। तो बड़ा अच्छा लगा मुझे। बुद्धि के पार! बुद्धि क्या है? सूक्ष्म शरीर का व्यापार है।

जिन्होंने शरीरों की सहायता से किसी भी प्रकार का सुख लेना पंसद नहीं किया, उनके लिए बहुत आसान होता है कि स्थूल, शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर-तीनों के पार पहुँच जाये। पहुँच जाया करते थे महाराज। उनको कोई दिक्कत ही नहीं होती थी। यदि दृष्टियों के पार पहुँच जाओ, तीनों शरीरों के पार पहुंँच जाओ तो न वहाँ शरीर है न वहाँ दृष्टि है। दृष्टि नहीं है तो सृष्टि भी नहीं है।

इतना साफ है और इस प्रकार से बेदाग आदमी बिल्कुल स्वाधीन होता है। शरीर की आसक्ति में फँसा हुआ व्यक्ति तो उसकी कल्पना ही नहीं कर सकता। सोच ही नहीं सकता। लेकिन है यह सत्य। उससे पहले किसी को स्वाधीनता मिल जाये यह सम्भव नहीं। नगर में रहना छोड़ कर निर्जन में रहना आरम्भ करो तो निर्जन भी संसार का ही एक रूप है। शरीर का जो

सम्बन्ध संसार से है वह नहीं टूटेगा। महल से निकल कर गंगा तट पर बैठा दिया गया तो काम हो गया-सो बात नहीं है। महल में से निकाल कर फूस की कुटिया में बैठा दिया तो त्याग हो गया-सो बात नहीं... शरीर तो संसार में ही रहेगा। चाहे जहाँ ले जाओ। संसार की धातुओं से बनी हुई यह आकृति हमेशा ही संसार में हैं।

अणु-परमाणुओं के गठन से एक आकृति बन जाती है। अणु-परमाणुओं के विघटन से वह आकृति बिखर जाती है। जिन स्थूल और सूक्ष्म अणु-परमाणुओं के संगठन से यह दिखाई देने वाली आकृति बन गयी, वे संसार के ही अणु-परमाणु हैं। वे संसार के पार नहीं जा सकते। इसलिये शरीर तो कहीं नही जायेगा। किसी भी हालत में रखो। किसी भी स्थान में रखो। किसी भी समय में रखो। शरीर भौतिक सीमा के भीतर ही रहेगा। लेकिन आपके लिये यह सम्भव है कि शरीर के रहते-रहते बची हुई प्राणशक्ति से आप तीनों शरीरों से असंग होकर अपने अमरदेव के आनन्द में निवास कर सकें। यह आपके लिए सम्भव है। कौतुहलवश भी आप इस सत्य का प्रयोग आरम्भ करें तो शरीर के नाश होने से पहले अविनाशी जीवन के आनन्द को आप अपने में, अनुभव करके सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो सकते हैं। ऐसे सन्तजन हुए हैं, अभी भी हैं, पहले भी हुए, आगे भी होते रहेंगे।

मनुष्य के व्यक्तित्व में जो प्रेमतत्त्व है वह उसका भावपक्ष है। उसका विशुऋरूप, नित-नवरस प्रदान करने वाला है, उसके लिये आज जो हम भाई-बहन यहाँ बैठे हैं, वे क्या करें। प्रेम का मिठास आप सभी भाई-बहिनों के जीवन में है। किसी को प्रेम से अपने पास रखना भी अच्छा लगता है। किसी के साथ प्रेमपूर्वक बैठकर खाना भी अच्छा लगता है। किसी से द्वेषपूर्वक अलग होना भी जरूरी मालूम होता है। तो क्या हो गया, कि अविनाशी तत्त्व जो प्रेम के रूप में आपके व्यक्तित्व में विद्यमान है वह सुखभोग की तृष्णा से दूषित हो गया। उसमें आसक्ति आ गयी। प्रेम जब आसक्ति का रूप ले लेता है, जब हमारी ही भूलों से सुखभोग की तृष्णा के ताप से जलकर जीवन का रस-स्रोत सूख जाता है, तो व्यक्ति को बाहर से अपने लिये वस्तुओं और व्यक्तियों की आवश्यकता अनुभव होती है।भीतर के जीवन का वह जो अनमोल, अलौकिक तत्त्व प्रेमरस है, जिसका शरीरों के नाश होने से भी नाश नहीं होता, उस अनुपम अलौकिक तत्त्व को देकर जीवनदाता

ने हम लोगों को बनाया है। हमने सुखभोग की वासनाओं को उसमें मिश्रित कर लिया तो हम भोग की प्रवृत्तियों में प्रविष्ट होते हैं और नाम लेते हैं प्रेम का। इसका बड़ा ही बुरा फल होता है। जब हम प्रेम को आसक्ति के रूप में बदल देते हैं, दूषित और विकृत कर देते हैं, तो देखे हुए संसार के व्यक्तियों और वस्तुओं की पराधीनता में फँस जाते हैं। हमारे भीतर प्रेम तत्त्व का नाश नहीं हुआ है। हमारी भूल से वह दूषित हो गया है, विकृत हो गया है। अब क्या करें? उसमें से दूषण निकाल दो। विकृति निकाल दो। वह शुक्ररूप जब हो जाएगा तो वह स्वयं आपको स्वाधीन कर देगा।

जब हृदय में प्रेम-रस का अभाव होता है, तो बाहर से हम वस्तुओं के प्रति आक£षत होते हैं, व्यक्तियों के प्रति आकर्षित होते हैं। जिन पर अपना कोई वश न चले उनके पीछे दौड़ना-यह प्रेमियों का लक्षण नहीं है। कभी-कभी मैं अपने साथ के लोगों को ऐसा कहती कि देखो भाई, सुखभोग की तृष्णा से प्रेम का रस सूख गया। शीतलता की जगह पर, उसमें तपन पैदा हो गयी। जीवन का तत्त्व तुम्हारे भीतर था। उसको विकृत कर देने से तुम अभाव से पीड़ित हो गये। अब बाहर-बाहर दौड़ रहे हो। कौन मुझसे मीठा बोले? कौन मेरा आदर करे? कौन मेरी भूख मिटाए? कौन मुझको सम्मान दे? तुम सोचकर देखो तो सही। जैसे तुम भूखे-प्यासे हो, ऐसे अनेक मूर्तियाँ तुम्हारी तरह भूखी-प्यासी फिररही हैं।

कोई व्यक्ति पूर्ण पुरुष बनकर तुम्हारे सामने आया क्या, जो तुम्हारे अभाव को मिटा देगा। तुम भी अभावग्रस्त हो और दूसरा भी अभावग्रस्त हैं। अब एक भिखारी दूसरे भिखारी के आगे झोली फैलाए, तो झोली भरेगी क्या? नहीं भरेगी। यह दशा होती है। और होना क्या चाहिये? कि प्रेम तत्त्व की अलौकिकता को दृष्टि में रखो, वह तुम्हारे ही व्यक्तित्व में 'अगर' अभिव्यक्त हो गया तो सबसे पहला लक्षण यह होगा कि तुम अपने आप में कृत-कृत्य हो जाओगे। अपनी सन्तुष्टि के लिए अन्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। ज्ञान के प्रकाश में जिन्होंने शरीरों से तादात्म्य तोड़ लिया वे अपने ही आप में इतने संतुष्ट हो जाते हैं कि शरीर की आवश्यकता नहीं रहती। अपने लिए नहीं रहती है। सेवा के लिये विचरते हैं। उसी तरह से प्रेमीजन, जिनके हृदय में प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति हो गयी और उस रस से उनका रोम-रोम आप्लावित हो गया, वे अपने आप में इतने मस्त हो जाते हैं कि उनको अपने से भिन्न की आवश्यकता ही नहीं रहती।

पहिचानना क्या है प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति को? जिस हृदय में यह प्रेमतत्त्व अभिव्यक्त होता है उस व्यक्ति को सबसे पहले सबसे स्वाधीन बना देता है। अपने में स्वाधीनता आ जाये, तो समझना चाहिये कि अलौकिक तत्त्व की अभिव्यक्ति हो गयी। किसी भी प्रकार की पराधीनता दिखाई दे, तो सोच लो कुछ और रूप लेना होगा। उसका वह रूप विशुक्र प्रेम का तो हो नहीं सकता। महाराजजी कहते हैं कि देखो भाई! जिस हृदय में प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है वह स्वयं अपने आप में सरस हो जाता है।

उस हृदय में कोई ममता का दोष नहीं हैं। कोई कामना का दोष नहीं है। प्रेमी कौन होता है? जिसे कुछ नहीं चाहिये। पहली शर्त है प्रेमी होने की। एक सज्जन आये और उन्होंने कहा कि मैं भगवान से मिलना चाहता हूँ। उनको मैंने ये दो-चार उपाय बताये। वे जाते समय कहकर गये कि अभी नहीं मिलूँगा भगवान से, कुछ दिनों बाद मिलूँगा।

प्रेम अनुपम तत्त्व है। जिनको मिल गया वे सदा-सदा के लिये कृत-कृत्य हो गये। लेकिन

अभिव्यक्ति का जो मूल्य है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये जो पहली शर्त है उस पर हम लोगों को ध्यान देना चाहिये। पहली शर्त यह है कि जिसके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की कामना शेष रहेगी, किसी प्रकार की ममता का दोष रहेगा, उसमें पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होगी।

प्रेमियों के जीवन की कथा कैसी होती है? वह यह होती है कि उनको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। जो इतने स्वाधीन होते हैं, जो सब प्रकार की ममता और कामना से मुक्त होते हैं। उनके हृदय में प्रेमरस की धारा प्रवाहित होती है जो जन्म-जन्मान्तर के सब ताप को शीतल कर देती है। जिनका रोम-रोम उस रस से पुलकित होता रहता है।

फिर ऐसा मनुष्य जिसने भगवद् भक्ति के लिये, अनन्त परमात्मा के प्रेरेमी होने के लिये जगत् की वासनाओं का त्याग कर दिया, बड़ी ही बहादुरी की उसने। देखे हुए संसार को इन्कार कर देना और बिना देखें, बिना जाने, प्रेमस्वरूप परमात्मा का प्रेमी हो जाना-मानव-जीवन की सबसे बड़ी बहादुरी है। इस बहादुरी पर वे प्रेमस्वरूप परमात्मा अपने को न्यौछावर कर देते हैं।

संत कबीर आनन्द में मस्त होकर कहते हैं, "मन ऐसा निर्मल भया जैसा गंगा नीर।" ममता और कामना चली गयी तो निर्मल हो गया। "मन ऐसा निर्मल भया जैसा गंगा नीर, पीछे-पीछे हरि फिरे, कहत कबीर-कबीर।" परमात्मा उस प्रेमी के पीछे-पीछे फिर रहे हैं।

क्यों? क्योंकि उसने सुख का भोग और सुखभोग के त्याग का आनन्द-सब परम प्रेम के लिये न्यौछावर कर दिया। मेरा कुछ नहीं है; मुझे कुछ नहीं चाहिये-इस शर्त को जिन प्रेमियों ने पूरा किया, उनके हृदय में प्रेम तत्त्व पवित्र हो गया। आप देखेंगे कि पवित्र प्रेम का ग्राहक भी परम स्वाधीन है।

महाराजजी जब मानव-जीवन की महिमा बताते हुए आनन्द में आ जाते, तो कहते कि देखो भाई, सारी सृष्टि में प्रेम का दान केवल तुम्ही कर सकते हो और कोई नहीं कर सकता। पशु-पक्षी के जीवन में देहजनित सुख के भोग का त्याग करने की कोई सामर्थ् नहीं हैं। यह मनुष्य ही है जो दिखाई देने वाले जगत् की ओर से आँखें बन्द कर लेता है और कहता है नहीं-नहीं यह संसार का सुखद रूप मुझे नहीं चाहिये। और जो बिना देखे परमात्मा को कह देता है-हे प्यारे! यह सम्पूर्ण जीवन तुम्हें समर्पित है, तुम चाहे जैसे करो। जिस प्रकार से तुमको प्रसन्नता मिले, इस जीवन का उपयोग करो। तुम्हारी प्रसन्नता मुझको अभीष्ट है, मनुष्य की इस बहादुरी पर परमात्मा रीझ जाते हैं।

महाराजजी कहते हैं कि देखो भाई! इस दृष्टि में प्रेम का दान करने की सामर्थ् केवल तुम्हारे में हैं और तुम्हारे हृदय के पवित्र-प्रेम का पान करने की सामर्थ् केवल परमात्मा में है और किसी में नहीं है। कामनाओं से, वासनाओं से भरा हुआ मनुष्य, तुम्हारे हृदय के पवित्र प्रेम का पान कर ही नहीं सकता। वह तो तुम्हारे पास आयेगा तो मीठी वाणी के साथ तुम्हारी कुछ सामग्री भी माँगेगा। वह तो तुम्हारे पास आयेगा तो प्रेमपूर्ण व्यवहार से तुम जितना देना चाहोगे उससे कुछ ज्यादा ही वह खींच लेना चाहेगा। अगर वह तुम्हारे पास आयेगा और तुम्हारा एक संकल्प पूरा करेगा तो उसके बदले में वह अपने दस संकल्प तुम से पूरे करवाना चाहेगा। जो भूखा-प्यासा दरिद्र फिर रहा है, वासनाओं से, कानाओं से जला हुआ दुनिया में घूम रहा है, वह तुम्हारे प्रेम का आदर नहीं कर सकेगा, उसमें यह सामर्थ् कहाँ है?

मानव-हृदय के प्रेम का आदर तो अकेला वह पूर्ण परमात्मा ही कर सकता है, जिसको कि प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। यह बात समझ में आती है? बहुत नाते-रिश्ते बनाये आपने, एक से अनेक किया अपने कोऋ परन्तु एक भी कुटुम्बी, सम्बन्धी, रिश्तेदार ऐसा नहीं मिला होगा जो केवल प्रेम से प्रसन्न हो जाये।

प्रेम से बात करोगे, उसके बाद उसको मीठा ठंडा जल भी चाहिये, बैठने के लिये आसन भी चाहिये। भोजन का समय हो जाये, तो खाने को भी चाहिये। मन बहलाने को भी चाहिये। सोने को भी चाहिये। पता नहीं क्या-क्या चाहिये? वह अपने घर में कितनी भी तकलीफ में रहता होगा, तुम्हारे पास आये तो तुम्हारी ही हैसियत का सब सामान उसको चाहियेगा। उसमें अगर किसी प्रकार की कमी हो गयी तो नाराज हो कर चला जायेगा। मनुष्य की बड़ी भारी अज्ञानता है कि अपनी भूखी-प्यासी जिन्दगी को लेकर ऐसे ही कामनाओं, वासनाओं से तृषित व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़कर अपने को आनन्दित करना चाहता है और वह कहता है कि हम प्रेमीजन हैं। यह भूल है। ऐसा विलक्षण, ऐसा अलौकिक अभिव्यक्त तत्त्व जो मानव के व्यक्तित्व में विकसित होकर उसके जन्म-जन्मान्तर के सब दुःखों का अन्त कर देता है उसको स्वयं अपने आप में ऐसा भरपूर कर देता है कि उसमें किसी प्रकार की पराधीनता शेष नहीं रहती और ऐसा स्वाधीन जीवन लेकर भक्तजन प्यारे को समर्पित करते हैं और कहते हैं, हे प्यारे! यह जीवन है, यह जीवनरूपी पुष्प तुम्हारे चरणों पर अर्पित है। इसे तुम्हें जैसे प्रसन्नता हो वैसे ही रखो। भक्तिमती मीराजी आनन्द में आकर कहती है, "जित बैठावे तितही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ" उनका अपना कोई संकल्प नहीं रह गया।

अब अपनी कोई आवश्यकता शेष नहीं रह गयी। अपने भीतर कोई कामना शेष नहीं रह गयी। "जित बैठावे तित ही बैठूँ, जो दे सो खाऊँ, जा रंग राचे आप साँवरिया ताही में रंग जाऊँ।" उसी में उसको आनन्द आता है। ऐसा जो वीर पुरुष है, ऐसा जो वीर भक्त है, जो अपने लिये कुछ न चाहे, कुछ न माँगे, अपने पर अपना अधिकार न रखे, उस प्रेमास्पद को प्रेमरस प्रदान करने के लिये ही जीता रहे-ऐसे भक्त पर भगवान प्रसन्न होकर अपनी कृपा की अमृत वर्षा कर देते हैं। प्रेम के रस से उसको आप्लावित कर देते हैं। जैसे-जैसे उस रस की वृद्धि होती है, उसको संसार की विस्मृति होती जाती है। मैंने यह देखा है। अनुभवी सन्त की वाणी में सुना है। उच्चकोटि के भक्तजनों के पास बैठकर देखा है। जैसे उन्होंने जीवन के क्रम को बताया कि भाई, दूषण को मिटाओ। बुराइयों को छोड़ो। निर्मम, निष्काम होने का पुरुषार्थ करो। वैसे-वैसे करते जाने से प्रेमरस की वृद्धि होती जाती है। निर्भयता आती है, निश्चिन्तता आती है। शरीर और संसार का महत्त्व खत्म हो जाता है। अपने में ही विद्यमान वह जीवन तत्त्व अपनी विभूतियों को प्रकाशित करता चला जाता है। आप लोगों में से विश्वासपथ के साधकों को, बहुत से भाई-बहनों को यह लगता होगा। ऐसा सोचते होंगे कि मैंने भगवान की भक्ति की है, उनका प्रेमी होना स्वीकार किया है तो जब वे दर्शन देंगे तो हम समझेंगे कि हमारी भक्ति सिऋ हो गयी।

नहीं, ऐसी बात नहीं है। स्वामीजी महाराज ने कहा कि भाई, वह दर्शन दे कि न दे, यह तो उनकी मर्जी पर छोड़ दो। वह भक्त क्या जो भगवान को बाध्य करे कि तुमको दर्शन देने के लिये आना पड़ेगा? वह भी प्रेमी है, जो अपना संकल्प रखें, कि ऐसी-ऐसी मुद्रा में, कि

मुरलीमनोहर बनके, कि धनुषधारी बनके, कि चार भुजा वाले, कि अष्ट भुजा वाले, कि सहस्रभुजा वाले बनकर मेरे सामने खड़े हो जाओ। उसका नाम प्रेमी नहीं है जो अपना संकल्प अपने प्रेमास्पद पर लादे।

अपनी मस्ती में जब वे आ जाते, अपने प्यारे से गपशप करते तो खूब ताली बजाते। कहते कि जाओ यार, तुम भी क्या कहोगे। तुम भी आजाद रहो, मैं भी आजाद रहूँ। जो भक्तजन होते हैं वे भगवान से अपने किसी संकल्प की पूर्ति की बात कहते नहीं है कि तुम ऐसा करो। वे कहते हैं तुमको जिसमें आनन्द आये सो करो। एक बार एक ब्रजवासी रसिक व्यक्ति ने विचरण करते हुए ब्रज में स्वामीजी महाराज से पूछ लिया कि बाबाजी, लाला-लाली के प्रति आपके भाव क्या हैं? स्वामीजी महाराज ने कहा कि भैया! मैं तो उनका फुटबॉल हूँ। लाला-लाली का फुटबॉल हूँ। उनके खेलने का खिलौना हूँ मैं।

फुटबॉल का अपना कोई संकल्प नहीं। लाला फैंकते हैं लाली की ओर, लाली फेंकती है लाला की ओर। जिधर ठुकरा देते हैं प्यारे-प्यारी, उधर मैं चला जाता हूँ। मुझे इसी में बड़ा आनन्द है। दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। दोनों को मुझे ठुकराने में आनन्द आता है। मैं तो दोनों को रिझाने का खिलौना हूँ भैया। मैं और कुछ नहीं जानता। संतजन तो चाहते हैं कि ईश्वर में विश्वास करने वाला भाई-बहन जो हैं वे शरीर के नाश होने से पहले, ईश्वर के प्रेम से परिपूर्ण हो जायें। ईश्वर के मिलने का उनको आनन्द आ जाये। उस आनन्द में वे मस्त हो जायें। फिर शरीर का नाश कहीं भी होता रहे। उनको उसका कुछ आभास भी न मिले-ऐसा वे चाहते हैं।

'पाथेय' नाम का जो संकलन है वह महाराजजी के मुझे लिखे गये पत्रों का है। उसमें साधन के क्रम के हिसाब से आप देखेंगे कि जैसे-जैसे साधक की प्रगति होती जाती है साधना में, वैसे-वैसे स्वामीजी महाराज का

सम्बोधन बदलता जाता है। आखिर के पत्रों में, उन्होंने जगह-जगह, मुझको सम्बोधित किया-'मेरे प्राण प्यारे की प्यारी मुरलिया।' वे चाहते थे कि मैं भगवान की बंसी बन जाऊँ। कैसे? अहं-शून्य होकर। कभी-कभी पूछते कि देवकी जी, तुमने देखी हैं, बाँस की बाँसुरी? हाँ महाराज देखी है। तो लाली। उसके भीतर की सब गाँठें कटी हुई होती हैं कि कोई-कोई ऊपर उठी हुई होती है? महाराज सब कटी हुई होती है। सब गाँठे कट जाती हैं तब उसमें से बढ़िया स्वर निकलता है। हाँ, महाराजजी! ऐसे ही होता है। तो लाली देखो! अपने को भीतर से खाली कर दो। अहं-शून्य हो जाओ। अपना संकल्प रखकर, कोई अहं-शून्य हो सकता है क्या? जी नहीं, सुखभोग के संकल्पों को तो पशु श्रेणी के लिये ही छोड़ दो। मानव का जीवन आरम्भ होता है उसके बाद।

सुख भोगने के फेर में जो पड़ा रहा है उसकी तो मानव संज्ञा आरम्भ ही नहीं हुई। वह तो प्राणी की संज्ञा है। वह तो पशु की संज्ञा है। वह बहुत नीचे स्तर की बात है। उसको तो बहुत नीचे छोड़ दो। उसको तो पाँव के नीचे दबाकर उसके ऊपर खड़े हो जाओ। किसलिये? ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होने के लिये। प्रेम के रस से, परम मधुरता से, परम अनन्त माधुर्य से भरपूर होने के लिये। उसको तो छोड़ दो नीचे। जो तुम्हारा शुक्र रूप है अपने में, वह मालूम होने लगेगा। मैं परम शान्त हूँ, मैं परम स्वाधीन हूँ। मैं परम-प्रेमास्पद, प्रेम-स्वरूप प्रभु का प्रेमी हूँ। यह भी जो तुमको मालूम हो रहा है कि 'मैं प्रेमी हूँ' इस 'हूँ-पन' को भी उस अनन्त में समाहित करना है। इसलिये

मुरली के समान भीतर से खोखले हो जाओ। खाली हो जाओ। अहं-शून्य हो जाओ।

मेरा कुछ नहीं है। मुझे कुछ नहीं चाहिये। जरा-सा साहस और करो-मैं कुछ नहीं हूँ। जहाँ तुमने अपने को सूना किया कि अनन्त की अनन्त मधुरता स्वर लहरी बनकर तुम्हारे व्यक्तित्व के माध्यम से तपते हुये संसार मे प्रेम-रस की वर्षा करने लग जायेगी। ऐसा व्यक्तित्व हम सब भाई-बहनों का हो सकता है कि आपकी प्रीतभरी दृष्टि किसी दुःखी प्राणी पर पड़ जाये तो उसके दुःख का नाश हो जाये। आपकी प्रीतभरी दृष्टि किसी तृषित व्यक्ति पर पड़ जाये, तो उसकी तृष्णा शान्त हो जाये। आपकी प्रीतभरी दृष्टि किसीदुःखी पर पड़ जाये, तो उसके हृदय को सान्त्वना मिल जाये। ऐसा व्यक्तित्व आपका हो सकता है। ऐसे सन्तजन आज भी समाज में उपस्थित हैं, जिनके पास जाने लगो तो जैसे-जैसे निकट जाओ, तुम्हारे भीतर का भय मिटता जाता है, दुःख मिटता जाता है, तृष्णा मिटती जाती है, प्रश्न खत्म हो जाते हैं और उनके निकट जाकर बैठते ही ऐसा अनुभव होता है कि जैसे प्रेम-सरिता में किसी ने डालकर मुझको भर दिया हो। होता है ऐसा! सम्भव है ऐसा!! होना चाहिये!! हम सब भाई-बहन इसकी पात्रता की तैयारी करें।

इतना भर पुरुषार्थ अपने लोगों को करना है और बाकी सब-कुछ उस मंगलमय विधान से स्वतः ही होता है। आज जो साधक बनकर बैठा है कल वह परम-प्रेम से परिपूर्ण होकर, रसमय होकर इस धरती पर विचरण करे, ऐसा संकल्प उस सत्य संकल्प प्रभु का भी है और हमारा भी है। दोनों का एक सम्बन्ध हो गया तो काम बन गया। अब शान्त हो जाइये।

प्रवचन 52

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

वस्तु का आकर्षण धरती की ओर होता है। आपने देखा होगा कि वृक्ष में फल जब पक जाता है, तो धरती पर गिरता है। वस्तु, वस्तु की ओर खिंचती है। धरती की आकर्षण शक्ति वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। इसका अर्थ क्या है? कि सभी वस्तुएँ भौतिक तत्त्वों की रची हुई हैं। सजातीयता के कारण धरती का आकर्षण वस्तुओं पर प्रभावकारी होता है। स्वामीजी महाराज ने एक सूत्र लिखा। उसमें उन्होंने यह लिखा कि "वस्तु खिंचती है धरती की ओर, और 'मैं' खिंचता है दिव्य, चिन्मय, रसरूप, अनन्त तत्त्व की ओर।" बहुत बढ़िया बात है। भौतिक अणु-परमाणुओं से बनी वस्तुएँ सहज ही धरती की ओर आकर्षित होती है।

'मैं' तत्त्व जो बना है, जिसको हम लोग अहंरूपी अणु भी कहते हैं, वह भौतिक तत्त्वों का रचा हुआ नहीं है। वह अलौकिक तत्त्वों से रचा हुआ है। इसलिये उसका सहज आकर्षण उस ओर होता है जो दिव्य, चिन्मय, रसरूप है, जो अविनाशी है, जो ज्ञानस्वरूप है, उसकी ओर 'मैं' का आकर्षण होता है, और उसी में इस 'मैं' की सजातीयता है। उसी आकर्षण में स्वाभाविकता है। उसी से 'मै' का नित्य योग होता है।

अब अपनी दशा देखें हम लोग। कितनी बड़ी भूल है कि बड़ी बुद्धिमानी के साथ हम लोग यह कहने लग जाते हैं कि क्या बतायें, संसार का सुहावना, लुभावना रूप इतना बढ़िया है, इतना सुखद है कि मेरा सहज आकर्षण उसकी ओर हो जाता है। कई साधक भाई-बहन ऐसे हैं, जो अपनी तकलीफ बताते हैं, तो यह कहते हैं कि सत्संग सुनकर, सद्ग्रन्थों को पढ़कर तो सही बात कुछ और मालूम होती है, परन्तु संसार का सुखस्वरूप इतना आकर्षक है कि मुझसे छोड़ा नहीं जाता।

मालूम है कि शरीर सदा के लिये नहीं रहेगा, मालूम है कि जो दृश्य आज बहुत प्रिय लग रहे हैं, आगे रहेंगे नहीं- इस बात को जानते हुए भी, संसार की ओर से मन हटता नहीं है। यह अपनी वर्तमान दशा है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर यह जाना गया है कि मनुष्य जो स्वयं अपने आप में अलौकिक शक्ति भी रखता है, वह यदि अपने ही द्वारा किसी गलत बात को स्वीकार कर ले तो उसकी स्वीकृति के फलस्वरूप उसके जीवन में से वह भ्रम कभी निकलेगा नहीं। अपने ही द्वारा हम लोगों ने मान लिया है कि धरती की ओर, संसार की ओर, मेरा बड़ा भारी आकर्षण है। बात तो यह सच नहीं है। आप बनाये गये हैं अविनाशी तत्त्व से। आपकी रचना में अलौकिक जीवन की माँग है। आपका सहज आकर्षण उस अविनाशी तत्त्व की ओर है। लेकिन भ्रमवश जब शरीरों के साथ हम अपने को मिला लेते हैं तो वस्तु के साथ मिला लेने पर वस्तु के समान अपनी वृत्ति बन जाती है। मालूम होता है कि संसार की ओर बड़ा खिंचाव है।

अपने सम्बन्ध में अपनी धारणा को बहुत ही स्वस्थ और सत्य पर आधारित बनानी चाहिये, यह निवेदन कर रही हूँ मैं। या तो आप इस सत्य को अस्वीकार करिये, जिसको कि स्वामीजी महाराज ने अपने अनुभव के आधार पर स्थापित किया और यदि अस्वीकार नहीं कर सकते, कि मेरा सहज आकर्षण उस दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व की ओर है, तो इस बात को आप स्वीकार करेंगे। तो इधर का लगाव सहज से छूट सकेगा।

मान लो कि आप घूमने के लिये निकले हैं। एक सुन्दर-सा फूल खिला हुआ देखकर आपका खिंचाव उसकी ओर हुआ। आपने दृश्य में सत्यता, सुखरूपता स्वीकार की, इसलिये खिंचाव उस ओर हुआ। परन्तु उस पुष्प की सुगन्ध का प्रभाव, उस पुष्प के कोमल-कोमल स्पर्श का प्रभाव, उसके सुन्दर रंग का प्रभाव कहाँ तक रहेगा? केवल स्थूल और सूक्ष्म शरीर की सीमा तक। उसके आगे नहीं जायेगा। फिर अब आप अपने से पूछिये, कि इस आकर्षण के आधारपर अगर तुम किसी प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो जाओ, तो वह क्या सदा के लिये संतोष देने वाली होगी? नहीं होगी। उस पुष्प को तोड़कर हाथ में ले लीजिये। जहाँ से उसकी खुराक मिल रही थी, उससे उसे अलग कर लिया तो कितनी देर वह आपके हाथ में सुन्दर रह पायेगा? उसकी सुन्दरता की सीमा और भी छोटी हो गयी।

अगर उस पुष्प को आप अपने श्रृंगार की सामग्री बनालें, तो कितनी देर तक टिकेगा? बहुत थोड़ी देर के लिये। अगर संसार के दृश्यों पर दृष्टि जाती है और आपको लगता है कि इस ओर मेरा आकर्षण हो रहा है तो उस पर विचार करिये। उसी जगह बैठ जाइये, उस दृश्य के सामने ओर अपने

सम्बन्ध में सोचिये, कि क्या बात है? स्वामी रामतीर्थ के जीवन की एक सच्ची घटना है। उनको बहुत ही सुगन्धित पके हुए लाल सेब खाने का बड़ा शौक था। जब अपनी भूल मिटाने का प्रश्न उनके सामने आया, जब नाशवान् दृश्य से सम्बन्ध तोड़ने का प्रश्न आया तो वे बाजार से बहुत अच्छे-अच्छे सेब पसन्द कर खरीद लाते और अपने कमरें में जनकल जंइसम पर रख देते और उनको देखते रहते। दो दिन बीते, चार दिन बीते, दस दिन बीते! फिर क्या हुआ? उनका लाल-लाल रंग उड़ गया। छिलका धीरे-धीरे सिकुड़ गया! गुद्दी सूख गयी, सड़ गयी, उसमें से दुर्गन्ध आने लगी। सत्य के स्वरूप का दर्शन करके, सेबों को उठाकर फेंक दिया। यह किसका काम है! यह एक मानव का काम है। अपने लोगों की जो वर्तमान दशा है,

उस दशा को सामने रखकर उसके ऊपर उठने का प्रयास करती हूँ। जिससे कोई भाई, कोई बहन यह न कहे कि उनके तो संस्कार बड़े अच्छे रहे होंगे। बहाने बनाकर अपने को बचा न लिया जाये, इसलिये मैं नीचे के स्तर से कहानी शुरू करती हूँ।

कोइ भाई, कोई बहन कह सकती है कि क्या करें, हमारा बड़ा आकर्षण होता है। सच्ची बात तो यह है कि नाशवान् का आकर्षण नाशवान् को ही खींच सकता है। अविनाशी को कैसे पकड़ लेगा? अविनाशी को कैसे खींच लेगा? ऐसा नहीं हो सकता। यही कारण है कि 'अहं' का विश्लेषण मानव सेवा संघ की पऋति से करते हुए स्वामीजी महाराज ने बताया कि मनुष्य के 'मैं' की रचना ऐसी विलक्षण है कि मनुष्य जब अपने को नाशवान् के साथ मिला देता है, परिवर्तनशील के साथ मिला देता है तो उसी के सब लक्षण उस पर लागू हो जाते हैं। वही मनुष्य जब अपने को अविनाशीस्वरूप से मिलाता है, अविनाशी परमात्मा से मिलाता है, तो वह उनकी विभूतियों में समाहित होकर उनके समान हो जाता है। एक ही यह 'मैं' है जिसमें जगत् के प्रति आकर्षण भी रहता है और जिसमें सत्य की जिज्ञासा और परम-प्रेम की प्यास भी रहती है और दोनों ही बातें आप अपने में देख रहे हैं।

शरीर को लेकर, जब हम भौतिक दृश्यों की ओर आक£षत होते हैं, तो इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से जानना चाहिये कि अगर किसी वस्तु के प्रति खिंचाव होता हो, तो शरमाइये मत। अपने को बुरा मत समझिये। उस आकर्षण को दबा करके, छिपा करके, दूसरों के सामने त्यागी, वैरागी बने रहने की चेष्टा मत कीजिये। जो चीज आपको खींच रही है, उसके पास जा करके बैठ जाओ स्वामी रामतीर्थजी की तरह। उसके नाशवान् और परिवर्तनशील स्वरूप का अच्छी तरह से दर्शन कर लो। उसका परिणाम यह निकलेगा कि शरीरों से अपने को मिला लेने के फलस्वरूप यह आकर्षण उत्पन्न हुआ था। उसके परिणाम को विवेक के प्रकाश में देख लेने के बाद वह आकर्षण खत्म हो जायेगा। नहीं रहेगा। जो मिथ्या है वह मिट जाता है, जो सत्य है वह रह जाता है। यह प्रारम्भिक बात हो गई।

अब आगे चलो। क्योंकि अपने को जीवन की पूर्णता तक का प्रोग्राम रखना है तो जल्दी-जल्दी करना है। शरीर के नाश होने से पहले वह सारी तैयारी पूरी हो ही जानी चाहिये, जिससे कि नाशवान के साथ जो भूल के कारण मेरा लगाव बन गया था, वह टूट जाये और जिस अविनाशी स्वरूप से हम लोग रचे गये हैं उसके तीव्र आकर्षण के प्रवाह में अवगाहन कर उससे अभिन्न हो जायें। यहाँ तक का सब रहस्य अपने को अपने सामने रखना है।

बड़ी ही स्वाभाविक बात है कि सुखद घड़ियों में, भोग प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते रहने पर भी, अनेक प्रकार के सुखद साथियों के बीच में रहने पर भी मनुष्य का अपना जो अनुभव है वह यह है कि संसार के सम्पर्क से मिलने वाला ऊँचे से ऊँचा सुख आदमी को भीतर से संतुष्ट नहीं कर पाता। प्रभु के मंगलमय विधान से, जीवन के मंगलमय विधान से हम लोगों ने सुख की घड़ियाँ देखी हैं। अनेकों प्रकार के सुख अनेकों भाई-बहनों के सामने आये और गये। अब उन बीते हुए सुखों का प्रभाव देख लो अपने पर। क्या अनेकों बार सुखद प्रवृत्तियों में प्रवृत्त हो करके भी हम लोग सुख के लालच से मुक्त हो गये? यदि मुक्त नहीं हुए और लालच रह गया तो क्या हुआ? बड़ी भारी आपत्ति में फँस गये। किस आपत्ति में? कि अब सुख भोगने की शक्ति घट गयी। भोगने की इच्छा रह गयी। इच्छा रह जाये, और परिस्थिति

चली जाये, इच्छा रह जाये और भोगने की शक्ति घट जाये, तो कितनी दयनीय, दर्दनाक दशा है। कोई भी प्रतिष्ठित मनुष्य इस दशा को पसन्द करता है? नहीं पसन्द करता। बहुत बुरा लगता है। इसका अर्थ क्या है?

सत्संगी भाई-बहनों को, सजग व्यक्तियों को बहुत स्पष्ट रूप से अपनी इस दशा का अध्ययन करके यह मान लेना चाहिये कि मेरा व्यक्तित्व है वह सुखभोग की प्रवृत्ति से संतुष्ट होने वाला नहीं है। संतुष्ट क्यों नहीं हुआ भाई? भरा क्यों नहीं? इसलिये कि आप स्वयं, जिसको 'मैं' कह कर सम्बोधित करते हैं, वह अहंरूपी अणु भौतिक तत्त्वों से बना ही नहीं हे। अलौकिक तत्त्वों से बना हुआ है। वह जो बिना देखा, बिना जाना, दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व है, वह अस्तित्व निरन्तर हम लोगों को अपनी ओर खींच रहा है।

अब हम लोग अपनी बहुत ही सामान्य बुद्धि से शरीरों के साथ तादात्म्य जोड़कर धरती पर बैठे हैं अलौकिक प्यास से तृषित होकर अलौकिक जीवन की चर्चा करने। यह हम लोगों की वर्तमान दशा है। यहीं से आप सोच कर देखिये कि समग्र उत्पत्ति के मूल में जो अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व है उसकी विद्यमानता इसी क्षण में हम लोग स्वीकार कर रहे हैं या नहीं? अगर वह न होता तो उत्पत्ति का क्रम चल सकता था? नहीं चल सकता था। उत्पत्ति-विनाश का एक क्रम चल सकता था? नहीं चल सकता था। उत्पत्ति-विनाश का एक क्रम चल रहा है। बन-बन कर, तैयार हो-हो कर आकृतियाँ मिटती जा रही हैं। यह जो एक अनवरत क्रिया चल रही है, क्रम चल रहा है, किसी न किसी एक उद्गम से ही सम्बन्धित है। भौतिक तत्त्वों में से ही उत्पत्ति सबकी हो रही है और उन्हीं में विलय सबका हो रहा है। इस दृष्टि से आप देखे तो आपको इस बात को मानना ही चाहिये कि दिव्य, चिन्मय रसरूप अस्तित्त्व, जिसकी चर्चा हम लोग कर रहे हैं, जिसकी आवश्यकता हम सभी अनुभव कर रहे हैं, वह इसी क्षण में हमारे भीतर-बाहर सर्वत्र विद्यमान है। भक्त बन करके उसको भगवान कह दोऋ ज्ञानपंथ के साधक बन करके नित्य तत्त्व कह दो, निजस्वरूप कह दो, ब्रह्म कह दोऋ योग पंथ के साधक होकर परम तत्त्व कह दो। जो भाषा अच्छी लगे सो कहो। लेकिन है वह दिव्य, चिन्मय और रसरूप। ये तीनों विशेषण बड़े काम के हैं। इसलिये तीनों विशेषण मैं याद रखती हूँ। स्वामीजी महाराज ने भी इनको खूब प्रयोग में लिया है।

वह जो दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व है, वह समर्थ भी है, सर्वत्र भी है। जीवन स्वरूप भी है, प्रेमस्वरूप भी है। उसी की आकर्षण शक्ति हम सभी भाई-बहनों को जाने-अनजाने में, हर रूप में, सुख में, दुःख में, हर दशा में अपनी ओर खींचती रहती है। तरह-तरह के पत्र मेरे पास आते हैं। कुछ साधक ऐसे है, जिनकी परिस्थिति सुखमय है। जब उनको सुख मालूम होता है, तो घबरा करके मुझे पत्र लिखते हैं। कहते हैं, दीदी सब प्रकार की अनुकूलता की घड़ियाँ कट रही हैं, बड़ा डर लग रहा है, मैं नित्य से दूर न हो जाऊँ। अब बताइये, इसका मैं क्या उत्तर दूँ? दुःख में आदमी घबरा कर लिखता है, तो कहते हैं, भाई, धीरज रखो। दुःखहारी हरि को याद करो। उनका आश्रय लो। सुख की आशा छोड़ दो। बहुत-सी बातें मेरे पास कहने की हैं। अब सुख की घड़ी में, चारों ओर तुमको आराम मिलने लगता है तो घबड़ा करके लम्बा-लम्बा पत्र लिखते हैं और कहते हैं चारों ओर से सुख बरस रहा है। मुझे बड़ा डर लग रहा है कि मैं सत्य से विमुख न हो जाऊँ।

अगर आप कहेंगे कि मनुष्य का सहज आकर्षण सुख में है तो सुख की घड़ी में उसे

परमात्मा के उस सत्य की याद किसने दिलाई? सुख की घड़ी में चारों ओर, सुखद सामग्रियों से भरे होने पर भी उसकी ओर मुझको उसी ने खींचा। दुःख में तो आदमी सहज ही उसे याद करता ही है। दुःख की घड़ी में जब शरीर और संसार के साथ मिलकर के अपने को आराम नहीं लगता है, चैन नहीं मिलता है, तो घबड़ा करके सब उसको याद करते ही हैं।

मैंने ऐसे-ऐसे साधकों को देखा है। उनके पास व स्वामीजी महाराज के साथ भी रही हूँ। जब मैं किन्हीं की दुःख की कथायें सुनाती तो वे सज्जन सुख की कथायें सुनाते। कहते कि महाराजजी, जब से जन्मा हूँ तब से ऐसी परिस्थिति में पला हूँ कि मुझको किसी प्रकार की कठिनाई सामने अभी तक तो नहीं मिली। अब सत्संग के प्रकाश में मुझे सूझ रहा है कि सुख काल में भी सुख का भ्रम ही था। वह जो दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व है, उसके आकर्षण का प्रभाव आपके व्यक्तित्व को उस ओर खींचता है। आज की इस बैठक में, मैं अपने आत्मीय भाई-बहिनों को यह विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि आप इस बात को भूल जाइये कि संसार आपको आकर्षित कर रहा है। आप इस बात को याद रखिये कि वह अनन्त परमात्मा आपको आकर्षित कर रहा है। वही आपको अपनी ओर खींच रहा है।

भक्त होने के नाते उसे भगवान कह देना। विचारक होने के नाते दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व कह देना। जो पसन्द आये सो कह देना। लेकिन उसी का आकर्षण हम सब भाई-बहिनों को उस ओर खींच रहा है। स्वीकार कर रहे हैं? इस स्वीकृति से आपका बड़ा उपकार होगा। क्या उपकार होगा? कि एक बड़ी भारी भूल जीवन में हम लोग रख लेते हैं। कहते हैं कि भाई, परमार्थ के पथ पर चलना बड़ा कठिन हैं। तो तुम सोचो, कि नाशवान् शरीर के साथ जुटकर के नाशवान् धरती की ओर हमारा जो क्षणिक आकर्षण है यह अधिक जोरदार है, कि दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व का अविनाशी आकर्षण ज्यादा जोरदार होगा। वही ज्यादा जोरदार है न? मानते नहीं, अपने को भ्रम में डाल देते हैं। अगर आप स्वीकार कर लेंगे कि मैं दुर्बल हूँ तो दुर्बलता आपके सिर पर सवार हो जाएगी। आप स्वीकार कर लेंगे कि मैं अविनाशी तत्त्व का बना हुआ हूँ, मुझमें अविनाशी की माँग है और मेरा जो यह स्वयं का अस्तित्व है, यह उस दिव्य, चिन्मय, रसरूप के अस्तित्व से आक£षत है। यह तो स्वभाव से ही उस ओर जाने वाला है। यह तो स्वभाव से ही उस ओर खिंच रहा है। रास्ते में देर क्यों लग रही है? देर इसलिये लग रही है कि क्षण भर के सुखद आभास के लालच में अनन्त आनन्द पर परदा डालकर हम बैठ जाते हैं। इस भूल को मिटा दीजिये। अपने द्वारा अपने को सुख-भोग का लालची स्वीकार ही मत कीजिये।

प्रातःकाल सोकर उठें, तो याद करलें एकबार कि भाई, संसार में जो आकर्षण शक्ति है वह वस्तुओं को अपनी ओर खींच सकती है, मुझको तो वह अनन्त अविनाशी अस्तित्व आक£षत कर रहा है। अब हम तो इसकी ओर नहीं देखेंगे। उसकी ओर आगे बढ़ेंगे। आपने देखा होगा कि दुर्बल से दुर्बल, साधक, असमर्थ से असमर्थ, जो पढ़ा-लिखा भी नहीं है और जिसमें शारीरिक बल भी नहीं है, जिसका कोई संगी-साथी सहायक भी नहीं है, उसके भीतर भी जो अलौकिक माँग विद्यमान है, उसके आधार पर वह निर्बलताओं से मुक्त होना चाहता है, तो हो जाएगाऋ उसकी आवश्यकता अनुभव करता है, तो आवश्यकता की पूर्ति हो जाएगी। वह निर्विकार, निर्मम, निष्काम होना चाहता है, तो ये

सारी बातें उसके भीतर आ जाती है। वह प्रभु के शरणागत होकर, उनकी कृपा का आश्रय लेकर उनके प्रेम का पात्र बनना चाहता है, तो बन जाता है। ऐसा होता है।

एक बार एक साधक स्वामीजी महाराज को मिले। उनके दोनों हाथ, दोनों पाँव कटे हुए थे। बड़ी प्रसन्न मुद्रा थी। स्वामीजी महाराज उन दिनों में अकेले चम्बल नदी के किनारे पहाड़ की गुफा में रहा करते थे। कुछ लोग उन

साधक को पीठ पर लाद करके गुफा पर ले गये। पत्थरों का बना पहाड़ वह नहीं है। इटावा जिले में चम्बल नदी के किनारे मिट्टी का पहाड़ है। वहाँ सीढ़ियाँ भी नहीं बन सकतीं। मिट्टी काट कर लोग कुछ सहारा ले लेते हैं। रोज बनती रहती हैं, टूटती रहती हैं, ऊपर चढ़ना बड़ा मुश्किल हैं। लेकिन कुछ लोग ले गये उनको पीठ पर लाद करके स्वामीजी महाराज के पास। वे बड़ी प्रसन्न मुद्रा में थे। ले जाकर के वहाँ बिठा दिया, उनके पास। महाराजजी से बातचीत होने लगी। बड़े आनन्दित थे वह सज्जन। दोनों हाथ, दोनों पाँव कटे हुए थे। संग में कोई साथी नहीं और पैसा पास रखने का तो कोई प्रश्न ही नहीं। हाथ ही नहीं तो रखेंगे कैसे? कुछ नहीं था उनके पास। बड़े आनन्द में मस्त थे। स्वामीजी महाराज ने पूछा कि भैया, तुम आये कैसे? तो हँस के कहते हैं कि आपके पास पहुँच गया। जैसे लोगों ने वहाँ से उठकर यहाँ पहुँचा दिया, ऐसे ही लोग उठाकर एक जगह से दूसरी जगह रख देते हैं। ऐसा क्यों करते हो? यात्रा क्यों कर रहे हो? तो कहने लगे, मेरे गुरु महाराज ने कहा था, चारों धाम घूम आना। और सब यात्रा हो गई, बद्रिकाश्रम बाकी है। मैं टे᳭न से जा रहा था। आपके भक्त लोगों ने कहा मुझसे, कि चलो एक भगवत् अनुरागी संत से मिला दें। महाराज आपका दर्शन करने आ गया।

खूब आनन्द में आनन्दित थे। कोई दुःख नहीं, अभाव नहीं, पराधीनता नहीं, शारीरिक असमर्थता का कोई प्रभाव नहीं, ऐसा होता है, हो सकता है। तो मैं केवल इतनी-सी बात, पत्र-पुष्प के रूप में श्रोता भाई-बहनों की सेवा में अर्पित करना चाहती हूँ, कि कभी इस बात को भूलकर भी स्वीकार मत करो कि संसार का आकर्षण तुम्हें पकड़ लेता है। अगर अब तक यह आकर्षण तुम्हारे सिर पर चढ़ा रहा, तो केवल इस भूल से, कि तुमने उसको अपने पर चढ़ने दिया। नहीं तो नहीं रहता। अनन्त जीवन का जो स्रोत है, अनन्त माधुर्य का बहुत ही मीठा आकर्षण जिसमें है, उस आकर्षण से आक£षत होकर के भी थोड़ी-थोड़ी देर के लिये उधर से मुँह फेर करके संसार की ओर भटकते रहे हो। यह भी इसी कारण से, कि हमने मान लिया कि भगवत् प्राप्ति बड़ी दूर की बात है, कि जीवन मुक्ति बड़ी दूर की बात है, परमशान्ति बड़ी दूर की बात है, नित्य योग बड़ा कठिन है। कठिन कैसे हो सकता है? जिससे तुम्हारी सजातीयता है, जिससे बिछुड़ जाने के कारण से अनेकों बार शरीर धारण करके देहजनित सुख-दुःख का भोग करते हुए आज तक पल भर के लिये कहीं विश्राम नहीं मिला, तो उससे मिलना कठिन कैसे हो जायेगा? जिससे तुम्हारी सजातीयता है उससे अभिन्न होना कठिन कैसे हो जायेगा? जो अपने अनन्त माधुर्य से हमारा, आपका सबका प्राणिमात्र का भरण-पोषण, पालन, सम्भाल कर रहा है उसके पास पहुँचना कठिन कैसे हो जायेगा?

जो नित्य, निरन्तर अपने में ही विद्यमान है। उससे मिलना कठिन कैसे हो जायेगा? या तो यह कहिये कि यह सब बातें आप नहीं मानते हैं। हिम्मत है कहने की? नहंी कह सकते। जो खिंचाव मालूम होता है, वह भूल का परिणाम है।

उसमें आपको संतोष नहीं मिला और उसकी ओर दौड़-दौड़ करके अपना जो जीवन का मूल सत्य है उससे हम विमुख होकर अनेक प्रकार के दुःख भोग रहे हैं। उनकी ओर से आकर्षण है, उनकी ओर से याद दिलाया जाता है। संत के पास पहुँच करके मुझे जब इस बात का पता चला, तो कहीं-कहीं किसी-किसी लेख में लिखा भी है मैंने, और सत्संगी भाई-बहनों के बीच में तो बहुत बार निवेदन किया कि मैं तो समझती थी कि केवल जीवन मुक्ति और भगवत् भक्ति के लिये ही साधक होना जरूरी है।

ऐसा मानकर मैं सन्त के पास बैठी थी। लेकिन उनके बताये हुए मार्ग पर चलने का थोड़ा-सा प्रयास किया मैंने, पूरा-पूरा हो नहीं सकता मुझसे। लेकिन थोड़ा-सा जो प्रयास किया, तो उसी में मुझे अपने लिये बहुत ही स्पष्ट अनुभव हुआ कि कहाँ तो सुख-दुःख की लहरियों में डूबने-उतराने वाला एक व्यक्तित्व और कहाँ उस अनन्त परमात्मा की अनन्त कृपालुता! तो मैं कहने लग गयी, लिखने लग गयी। महाराजजी, मैं अपनी दुर्दशा से मुक्त होने के लिए जितनी व्याकुलता अपने में नहीं पाती हूँ उससे अधिक तत्परता उस परम कृपालु में है, हमको सुधारने की। यह मैंने अनुभव किया। जड़ता के साथ अपने को जड़ बनाकर हाड़-मांस के बने हुए शरीर के साथ अपने को मिलाकर अनेक प्रकार के दुःख, अनेक जन्मों से भोगते हुए भी अपने उद्धार के लिये उतने व्याकुल हम नहीं हैं जितना हमारे उद्धार का ख्याल उस परम कृपालु में है-ऐसा मैंने अनुभव किया। उसके आधार पर मैंने पाया कि केवल जीवन मुक्ति और भगवत् भक्ति का मार्ग खुला हो, ऐसा नहीं है। यह सुख-दुःख के उलझन में पड़े हुए साधक को जब आराम मिलता है, विश्राम मिलता है, प्रकाश दिखाई देता है, चलने का मार्ग मिलता है, अपने से अधिक अपना हितैषी, जब सब प्रकार से सहारा देने लगता है, तब इस प्रकार की बातें स्वतः ही अपने भीतर से उपजने लगती है। ऐसा अनुभव अनेकों भाई-बहनों को होगा। ऐसा आप पसन्द करेंगे तो जिनको अब तक नहीं हुआ होगा उनको भी आगे होने लगेगा। अब समय पूरा हो गया। थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाइये।

प्रवचन 53

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

जीवन की पूर्णता प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति में है- यह हम सभी साधक भाई-बहनों को जीवन के लक्ष्य के रूप में सामने रखना है। आरम्भ कहाँ से किया था? आरंभ किया था यहाँ से, कि जैसे ही अपन लोगों को पता चलता है कि मैं मनुष्य हूँ, मन की और तन की बहुत-सी इच्छायें और आवश्यकताएँ खड़ी होती हैं। हमारी दृष्टि आराम पर नहीं रह करके आराम देने वाली वस्तुओं पर टिक जाती हैं। अन्न चाहिये भूख मिटाने के लिए, वस्त्र चाहिये शरीर को ढकने के लिये। शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओ की पूर्ति में उसी समय उत्पन्न हुआ असंतुलन और तनाव खत्म होगा तो विश्राम मिलेगा, इस बात को हम भूल जाते हैं।

तो किसलिये अन्न का संग्रह करें? किसलिये वस्त्र का संग्रह करें? किसलिये धन का संग्रह करें? दृष्टि में से यह बात निकल ही जाती है कि अपने को आराम मिलना चाहिये। जो खास बात है वह दृष्टि में से हट गई, और आराम के लिये संग्रह की मनोवृत्ति बढ़ गई। अन्न का संग्रह, वस्त्र का संग्रह और धन का संग्रह-यह मनुष्यको कभी भी आराम से रहने नहीं देता है। थोड़ा-सा इस पर

ध्यान दिया जाये तो यह बहुत ही सामान्य वैज्ञानिक स्तर की बात है। अलौकिक जीवन की बात नहीं है।

शरीर और मन के साथ तादात्म्य रखते हुए हम लोग समाज में रहते हैं, परिवार में रहते हैं और संसार से संपर्क बनाकर जीवन-यापन करते हैं, उसके विषय में आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता यह कहते हैं कि मनुष्य के जीवन में स्वभाव से तो शान्ति रहती है। जब उसके भीतर कोई नया संकल्प उठा खड़ा होता है तो उस संकल्प की उत्पत्ति मात्र से मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। मन में एक प्रकार का तनाव पैदा हो जाता है। मनुष्य अपने भीतर बेचैनी अनुभव करने लगता हैं और संकल्प पूर्ति के सुख से प्रेरित होकर दौड़-धूप में, प्रयास में लग जाता है। ऐसा करेंगे तो यह वस्तु मिल जायेगी, वहाँ जायेंगे तो यह काम बन जायेगा। इस तरह मनुष्य अस्त-व्यस्त हो गया, शांति से हट गया और गतिशीलता में, क्रिया में, व्यस्तता में फँस गया।

विधि का विधान बड़ा विचित्र है। जिन-जिन संकल्पों की पूर्ति का लालच लेकर हम जगत् में प्रवृत्त होते हैं, तन से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, हाथ-पाँव से, सामान से, व्यक्तियों से, सबसे सम्पर्क जोड़ते हैं, उन सब संकल्पों की पूर्ति होती नहीं है। कभी-कभी पूर्ति हो भी जाती है। संकल्प की पूर्ति हो गई तो थोड़ी देर के लिये सुख मालूम होता है और संकल्पों की पूर्ति नहीं हुई तो थोड़ी देर के लिये बड़ा दुःख मालूम होता है। ऐसा आपने भी अनुभव किया होगा। यह एक दशा है। यह जीवन का सत्य नहीं है।

जिन वस्तुओं की सहायता से, जिन व्यक्तियों की सहायता से संकल्प पूरे हो जाते हैं, उन व्यक्तियों के प्रति एक राग बन जाता है। यह तो बड़ा अच्छा आदमी है, इसने मेरा यह काम निकाल दिया। जिन वस्तुओं से संकल्प पूरे हो जाते हैं, उन वस्तुओं के प्रति एक आसक्ति बन जाती है, एक ममता बन जाती है कि यह वस्तु तो ऐसे समय पर खूब काम आई मेरे। अब यह मेरे ही पास रहे तो बहुत अच्छी बात है।

वस्तुओं के प्रति लोभ और व्यक्तियों के प्रति राग क्यों पैदा हुआ? क्योंकि मैंने संकल्प-पूर्ति के सुख को पसन्द किया। उस सुख के लालच में पड़ कर मैंने शरीर और संसार से सम्बन्ध बनाया। अगर मेरी इच्छा पूरी हो गई तो परिणाम में मुझे क्या मिला? वस्तु का लोभ और व्यक्ति का राग। और उसका परिणाम क्या हो गया? शान्ति से दूर हो गये।

यह सोचकर आदमी चलता है कि यह मिल जाए तो बड़ा आराम रहेगा। लेकिन वस्तुओं के पीछे, व्यक्तियों के पीछे और परिस्थितियों के पीछे दौड़ने में व्यक्ति आराम से बहुत दूर हो जाता है। प्रयास सफल हो भी गयाऋ दौड़- धूप, चेष्टा करने से कोई पद मिल भी गया तो वस्तुओं के प्रति लोभ और व्यक्तियों के प्रति राग अपने में उपज जायेगा। लोभ तथा राग जब तक अपने भीतर रहेगा, आराम का तो कभी दर्शन होगा ही नहीं।

शरीर के सम्बन्ध से मेरे पिताजी से बचपन में मैं सुना करती थी-"आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास"। क्या करने आये थे और क्या करने लग गये। अरे भाई! इस दुनिया में दौड़-धूप तुमने आरंभ की थी आराम के लिये और सारी चेष्टाओं का परिणाम क्या निकला? राग और लोभ रूपी विकारों की उत्पत्ति और भीतर की नीरसता।

मनुष्य को संकल्प की पूर्ति से, इच्छा की पूर्ति से अपने भीतर बड़ा सुख मालूम होता है। मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि जिससे उसे सुख मालूम होता है उस वस्तु को मनुष्य पकड़ लेता है। यह वस्तु बड़ी सुखद है, यह स्थान बड़ा सुखद

है, यह व्यक्ति बड़ा सुखद है। बाहर-बाहर की वस्तु, व्यक्ति आदि को वह पकड़ लेता है।

लेकिन सच्ची बात क्या है? कि जब तुम्हारे भीतर कोई इच्छा पैदा नहीं हुई थी, तो स्वभाव से तुम्हारे अन्दर शान्ति थी। संकल्प के उठने से, इच्छाओं के पैदा होने से तुम्हारी वह स्वाभाविक शान्ति बिखर गई, मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ गया। एक तनाव पैदा हो गया। इच्छा की पूर्ति से वह तनाव थोड़ी देर के लिये ढीला हो गया। सुख जो तुमको मालूम हुआ, वह बाहर की वस्तु के कारण नहीं हुआ। भीतर उत्पन्न हुए संकल्प की पूर्ति के आधार पर थोड़ी देर के लिये मस्तिष्क का तनाव चला गया। मस्तिष्क में तनाव पैदा होने से हम बहुत गतिशील हो गये थे। मस्तिष्क का तनाव ढीला हो गया तो बड़ा सुख मिला। आराम भीतर के संतुलन के कारण से हुआ कि बाहर की वस्तुओं के कारण से हुआ-इस पर अपना कभी ध्यान जाता है? नहीं जाता है।

यह पद मिल गया तो बड़ा सुख मिला, इस व्यक्ति से भेंट हो गई तो बड़ा मजा आ गया, इस स्थान पर पहुँच गये तो बड़ा सुख हो गया। लेकिन इसका अर्थ वह है ही नहीं। अन्यथा उसका प्रमाण देख लीजिये। मनोविज्ञानवेता कहते हैं कि एक वस्तु के लिये आप बड़े लालायित थे, बड़ी दौड़-धूप कर रहे थे। चेष्टा करते-करते वस्तु आपको मिल गई। जिस क्षण वह वस्तु मिल गई उस क्षण आपके भीतर जितनी प्रसन्नता थी, दो-चार घंटे के बाद, दो-चार दिन के बाद उतनी खुशी रही क्या? वस्तु तो है आपके पास, खुशी उतनी क्यों नहीं है? अगर उस वस्तु में खुशी है, वह वस्तु अगर आपके लिये सुखद है तो वस्तु रहते-रहते आपकी खुशी जानी नहीं चाहिये। लेकिन जाती है। किसी पद के लिये आप बड़े लालायित हैं और पाने के लिये जो नहीं करना चाहिये सो भी कर रहे हैं। संकल्पों का वेग व्यक्ति के भीतर उठता है तो न उसे कर्त्तव्य सूझता है, न उसे परमात्मा की याद आती है। ऐसा व्यक्ति संकल्प-पूर्ति के सुख के आकर्षण से मनुष्यता के ैजंदकंतक आदर्श से नीचे उतर जाता है। होश ही नहीं रहता उसे कि मैं मनुष्य हूँ। याद ही नहीं रहता।

किसी तरह यह पद मुझे मिल जायेगा, बड़ा आराम हो जायेगा। मिल तो गया सही! प्रकृति का विधान बड़ा विचित्र है। सृष्टि कर्त्ता का विधान बड़ा विचित्र है। कभी-कभी मिल भी जाता है और कभी नहीं भी मिलता है। मिल तो गया लेकिन जिस समय वह मिला, उस समय आपको जितनी खुशी मालूम हुई भीतर से, जितना आराम लगने लगा, उसी पद पर प्रतिष्ठित हुए, उसी पद पर बैठे-बैठे एक दिन, दो दिन, चार दिन, दस दिन, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है वह प्रारम्भिक खुशी खत्म होती जाती है और एक समय ऐसा भी आ जाता है उसी मनुष्य के सामने, कि उस पद पर बैठे रहना ही उसके लिये बड़ा दुःखदायी हो जाता है। अगर उसमें सुख है, भीतर से जो आपको आराम मिला, अगर वह पद का आराम है तो पद के रहते-रहते बे-आराम आप क्यों अनुभव करने लगे? यह सोचने की बात है। यह हो गई वैज्ञानिक स्तर की बात।

आज के विज्ञानवेत्ता इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भाई, इच्छाओं की पूर्ति से जो सुख मालूम होता है, उस सुख को वस्तुओं पर आरोपित मत करो, व्यक्तियों पर आरोपित मत करो। विज्ञान के इस सत्य को जान लो कि आराम जो मिला वह मानसिक तनाव खत्म होने के कारण मिला। आगे चलकर कष्ट क्यों हो गया? आगे चलकर कष्ट इसलिए हो गया कि वह वस्तु तो आपके पास रखी है, भीतर कोई दूसरा संकल्प पैदा हो गया तो भीतर फिर नया टेंशन पैदा हो

गया। नया तनाव खड़ा हो गया। तो वह वस्तु भाड़ में जाए। अब आपको अच्छा ही नहीं लग रहा है, क्योंकि अब नया संकल्प उठ गया तो अब उसके पीछे लग गए। इससे काम चला नहीं। न वस्तुओं ने आराम दिया, न व्यक्तियों ने आराम दिया, न पद ने आराम दिया, न वस्त्राभूषण ने आराम दिया, न महल अटारी ने आराम दिया। इनसे आराम नहीं मिला। ये तो हमको मिलते गये और फीके प्रमाणित होते गये।

देखिये, सृष्टि का विधान कितना मंगलकारी है! संसार किसी को धोखे में नहीं रखता है। आप इनके पीछे दौड़ते हैं और परम कृपालु ने कृपा करके इतना बढ़िया विधान बना दिया है, कि कुछ इच्छायें तुम्हारी जरूर पूरी हो जायेंगी और कुछ इच्छायें तुम्हारी हरगिज पूरी नहीं होंगी। तो संसार किसी को धोखे में नहीं रखता है। संसार के किसी भी रूप को आप पकड़ कर बैठिये। थोड़ी ही देर में आपको इस बात का पताचल जायेगा कि इसमें सार नहीं है। क्यों नहीं है? कि जो आराम मैंने इस वस्तु में समझा था, वह आराम इस वस्तु में तो है नहीं, क्योंकि यह मेरे पास रखी हुई है, हर प्रकार से सुरक्षित है, फिर भी मेरे भीतर तनाव पैदा हो गया, फिर भी मेरे भीतर नीरसता पैदा हो गई, फिर भी मेरे भीतर विकार पैदा हो गये। बेआराम हो गया। तो संसार के स्वरूप का परिचय मिल गया अपने को।

मुझे जब परिचय मिल गया तो मैंने भीतर ही भीतर सोचा कि अपनी बुद्धि से जो-जो समझ में आता था, सब मैंने करके देखा। कहीं भी मुझको स्थिरता नहीं मिली, शान्ति नहीं मिली। अचल आधार नहीं मिला। तो अब क्या करें? जो कुछ पढ़ने-लिखने का शौक था, सब पूरा करने के बाद भीतर से एक राह सूझी और ऐसा लगने लगा कि अब तो कोई भगवानके घर का दरवाजा देखा हुआ संत मिले तो हमको दरवाजा दिखा दे। यह बात पैदा हो गई। जब संतों के पास व्यक्ति जाता है, अनुभवीजनों के पास व्यक्ति जाता है, जिनके पास कुछ भी नही हैं। न महल, न बैंक अकाउन्ट ; ठंदा।बबवनदज ऋ है, कुछ भी नहीं है, फिर भी वे मस्त हैं-ऐसा जब हम लोग देखते हैं तो उनके प्रति बड़ा आकर्षण होता है।

एक विनोद की बात याद आ गई। स्वामीजी महाराज एक गृहस्थ के घर में ठहरे थे। रात में उनके घर में चोर आ गये, कुछ सामान चोरी हो गया। स्वामीजी महाराज ने स्नान कर कटिवस्त्र शाम के समय धोकर आँगन में सूखने के लिए लटका दिया। चोरों ने कुछ सामान बाँधने के लिये वह वस्त्र ले लिया। सवेरे-सवेरे उठ करके घरवाले कहने लगे कि भाई, सामान चला गया, चोरी हो गई। महाराजजी ने अपने गृहस्थ मित्र को पास बैठाया और पूछा कि कहो भाई, क्या हाल है? तुम्हारी सारी सम्पत्ति का कितना प्रतिशत चोरी हो गया होगा? वे अच्छे सम्पत्तिशाली व्यक्ति थे। थोड़ी मामूली-सी चोरी हुई थी। कहने लगे कि स्वामी जी, कोई खास तो नहीं मालूम होता है यही बस, आठ-नौ हजार का सामान गया होगा। मैं समझता हूँ कि एक बटा बीस भाग भी नहीं होगा। स्वामीजी महाराज खूब हँसे और हँसकर कहते हैं- "अरे यार, तब क्यों मन को उदास करते हो? देखो तो, हमारा तो पचास प्रतिशत चला गया। दो कटिवस्त्र ही मेरी सम्पत्ति हैं। उसमें से एक उन लोगों ने ले लिया तो मेरी तो पचास प्रतिशत सम्पत्ति चली गयी।" बड़ा आकर्षण हम लोगों को होता है कि संत के पास कोई सामग्री नहीं है- कुछ नहीं है और वे कितने आनंदित है! तो चलकर उनके पूछें तो सही कि उनके आनन्द का आधार क्या है? उनको यह आनन्द कैसे मिला है?

जीवन में प्रधानता किस बात की है? प्रधानता वस्तु की नहीं है, प्रधानता इस बात की है कि तुमको आराम कितना है। प्रधानता सम्पत्ति की नहीं है, प्रधानता इस बात की है कि तुमको शान्ति कितनी है। प्रधानता बड़े भारी पद की और बड़े भारी सम्मान की और बड़े अच्छे कुटुम्ब की नहीं है, प्रधानता इस बात की है कि तुम्हारे चित्त में प्रसन्नता कितनी रहती है? ठीक है। अब इस दृष्टि से जीवन को देखना है।

किसी के पास कपड़ों का अंबार भरा पड़ा होगा और किसी के पास दो ही वस्त्र होंगे। अगर दोनों में दीनता और अभिमान की कोई बात नहीं आयेगी, तो बड़ा आराम मिलेगा। माताओं-बहनों का हाल तो मुझको ज्यादा मालूम है क्योंकि मैं उसी वर्ग में रही हूँ। थोड़ी-थोड़ी-सी बात के लिये दिल छोटा हो जाता है। जरा-जरा-सी बात के लिये परस्पर में कम्पीटीशन ;ब्वउचमजपजपवदक्ष करके किसी को अभिमान आ जाता है-तो किसी को दीनता आ जाती है। इसी आधार पर कि मेरे पास बहुत कपड़े हैं, मेरे पास बहुत गहने हैं, यह सामान है। सोचो भाई-हम लोग मनुष्य हैं और मनुष्य होने के नाते हर भाई, हर बहन को आराम चाहिये, शान्ति चाहिये, विश्राम चाहिये, प्रसन्नता चाहिये, निर्भयता निश्ंिचतता चाहिये। चाहिये कि नहीं?

अब सोच करके देखना। मुझको अपना चित्र दिखाई दे रहा है संत मिलने के पहले का। मैं देख रही हूँ कि छटपटी जो लगी रहती है- दौड़-धूप जो लगी रहती है, उसमें आदमी की दृष्टि शान्ति पर कम जाती है और वस्तुओं पर ज्यादा जाती है। यह सामान आ जायेगा तो अपने को बड़ा अच्छा लगेगा। अच्छा क्या लगेगा भाई? अच्छा लगने वाला जो जीवन है, वह तो तुम्हारे भीतर है। जो अच्छा लग सकता है और जो सदा के लिये अच्छा लग सकता है, जिसकी मधुरता कभी घटती ही नहीं, दिन-दिन बढ़ती जाती है, जिसकी प्रियता का रस कभी सूखता ही नहीं है, उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाता है, वह तो तुम्हारे भीतर है। इस बात का पता कब चलता है? जब अपने ही आनन्द में मस्त अनुभवी संतजन के पास बैठते हैं।

मुझे काफी समय लगा इस बात को सोचने में कि क्या करने से जीवन अच्छा लगेगा। तो बाहर से कुछ भी करने से अच्छा नहीं लगा। संत के पास बैठने से पता चला कि भाई, जो अच्छा लगने वाला है, जो कभी न मिटने वाला है, जो सदा ही साथ देने वाला है, जिसकी संगति सदैव ही प्रिय लगती है, वह तो तुम्हारे भीतर है। उस पर तुम्हारी दृष्टि गई नहीं। जो कभी भी स्थिर रह नहीं सकता, जो कभी तुम्हें प्राप्त नहीं हो सकता, उस प्रतीत होने वाले जगत् के पीछे दौड़ने से यह थकान है, नीरसता है, मृत्यु का भय है। यह सारी दुर्दशा हैं। इस बात का मुझे पता चला।

मुझे अच्छी तरह से याद है कि जिस दिन मुझे पता चला कि मुझे जो चाहिये, वह मेरे ही भीतर है उसी दिन से बाहरी वस्तुओं पर से दृष्टि हट जाने के कारण बड़ा आराम मिल गया। इसको मैं सत्संग कहती हूँ। आप भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ मैं, कि सत्संग कोई क्रिया नहीं है, कोई अभ्यास नहीं है कि साल-साल तक करते रहोगे। कोई सीमा बना दी जाए कि पन्द्रह बरस तक लगातार यहाँ पर आते रहोगे, सत्संग सुनते रहोगे तो तुम्हारे दुःख का भार हल्का हो जायेगा। पन्द्रह बरस पूरे न हो पाये और बीच में ही राम नाम सत् हो गया तो? ऐसा नहीं है। ऐसा कभी मत सोचना।

मैंने तो प्रत्यक्ष रूप से इस बात को अनुभव किया कि सत्संग कहते ही उसको हैं कि अपने ग्रन्थों में से पढ़ा, संतों के मुख से सुना,

परस्पर बैठ करके विचार किया और विचार करते ही करते जीवन का सत्य आपकी दृष्टि में आ गया और उसको आपने सही मान कर स्वीकार किया नहीं कि दुःख का भार हल्का हो गया। दुःख का भार उत्तर गया। तुरन्त का तुरन्त होना चाहिये।

संसार जो है, अपने स्वरूप का परिचय देता है अवश्य। अगर आप स्वतंत्रतापूर्वक जीवन की घटनाओं को देखेंगे, तो साफ-साफ दिखाई देता है कि संसार हम लोगों से मानो कहता हो कि भाई देखो, मुझमें विश्वास मत करो। कहता है कि नहीं? फिर भी हम लोग मानने को तैयार नहीं। फिर भी कहते हैं तुम चाहे भले नाशवान् हो, हम तो तुम्हीं को पकड़ कर बैठेंगे। प्रकृति का विधान यह है कि पकड़ कर बैठेंगे तो मुट्ठी में से वह भी छूट जायेगा और तुम्हारे भीतर की शांति भी चली जाएगी।

इसलिये मैं निवेदन कर रही हूँ कि सत्संगी होकर, सत्संग के नाते आप आकर यहाँ बैठते हैं तो सत्य की चर्चा में से आवश्यक बातों को इस प्रकार पकड़िये अपने लिये, कि आपके भीतर की दीनता और अभिमान खत्म हो जाए। बहुत वस्तु मेरे पास रहेगी, तो मेरा मूल्य बढ़ेगा। महाराजजी कहते कि अरे भैया, ऊँचे मकान में रहने से मूल्य बढ़ता है तो मकान मूल्यवान हो गया, तुम्हारी कीमत क्या रही। अगर अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण से तुम अपने को गौरवशाली मानते हो तो वस्त्र और आभूषण का मूल्य बढ़ गया। तुम्हारा मूल्य कम रहा।

जिस सजग मानव के भीतर ज्ञानस्वरूप विद्यमान है, जिसके भीतर प्रेमस्वरूप की मधुरता लहरा रही है, जिसके भीतर चिर-शांति मौलिक रूप में विद्यमान है, उसका मूल्य ईंट-पत्थर से बनेगा? उसका मूल्य मोटर और टेलीफोन से बनेगा? ये वस्तुएँ अगर तुम्हारे पास आ जायें तो ऐसा ही सोच लेना कि मुझमें करने का राग रहा होगा तो मेरे प्यारे ने अपने मंगलकारी

विधान के अनुसार मुझे राग मुक्त करने के लिये यह सब दे दिया है। लाओ, इनका जल्दी-जल्दी उपयोग करके इनके राग से मुक्त हो जाओ। और नहीं है ये सब सामान अपने पास, तो अपने को सावधान रखो। वस्तुओं के अभाव में अपने को भाग्यहीन मत मानो। जितनी कम वस्तुएँ आयेंगी, उतना ही कम प्रवृत्ति का दायित्व तुम पर आयेगा। तो वस्तुओं का कम आना हमारे लिये सौभाग्य की बात है।

वस्तुएँ कम आ रही हैं तो इसका मतलब है कि मेरे मालिक मुझको ज्यादा भार नहीं दे रहे हैं। थोड़ा-थोड़ा आवे, थोड़ा-थोड़ा बाँट-बूँट दिया, तो जल्दी प्रवृत्ति खत्म हो गई। जल्दी से उसकी स्मृति में खो गये। और ज्यादा सामान उन्होंने दे दिया तो ज्यादा-ज्यादा उसकी रक्षा करो, उसे ज्यादा-ज्यादा बाँटो, ज्यादा-ज्यादा काम में लाओ, सड़ न जाए, खो न जाए, बर्बाद न हो जाए। प्रकृत्ति की संपत्ति है तो उसे खोयेंगे भी क्यों, सड़ने भी क्यों देंगे, बर्बाद भी क्यों होने देंगे। परमात्मा की संपत्ति है तो उसकी संपत्ति को बिगाड़ेंगे भी क्यों।

भरतलाल जी के चरित्र में यह प्रसंग आता है। सोच रहे हैं भीतर ही भीतर चित्रकूट जाना है श्रीराम से भेंट करने के लिए, मिले बिना रहा ही नहीं जाता। तो कह रहे हैं कि राज्य-कोष, भंडार, सारी प्रजा सब कुछ तो रघुनाथजी का है। अगर मैं यों ही इसको छोड़ करके चला जाऊँ तो बड़ा भारी दोष लगेगा। सेवक-धर्म से मैं च्युत हो जाऊँगा। मुझको तो सब सँभालना ही चाहिये। दूसरे लोग देखेंगे तो कहेंगे कि देखो, उनके मन में राज्य का लालच तो था ही, सब षडयंत्र इन्हीं का रचा हुआ है। अब ये कितने प्रेम से सेना, भंडार, राज्य और राजधानी की रक्षा का इंतजाम कर रहे

हैं, जरूर इनको लोभ रहा होगा। भरतलाजजी कह रहे हैं कि लोग मुझको कुछ भी समझें और कहन वाले कुछ भी कहें, लेकिन-"सब सम्पत्ति रघुपति कै आही", ये सब कुछ उनका है तो इसको अरक्षित छोड़कर मैं चला जाऊँ तो सेवक-धर्म से च्युत हो जाऊँगा।

कोई-कोई भाई-बहन मुझको प्रश्न करते हैं कि अगर हम परिवार को अपना न मानें, बच्चों को अपना न मानें, संपत्ति को अपना न मानें तो उनकी रक्षा करने में, उनकी सेवा करने में हमारे भीतर क्या उतनी ही रुचि रहेगी। तो मैं कहती हूँ कि एकबार करके तो देखो, उससे सौ गुना अधिक चाव बढ़ जायेगा।

अनित्य सम्बन्ध मान करके अगर तुम्हारी इतनी रुचि उसमें लग रही है तो नित्य सम्बन्ध मानने के बाद, ममता और कामना से मुक्त होने के बाद उसमें कोई कमी आयेगी? कभी नहीं आती है। पर बड़ा भारी भ्रम है। मैं तो ऐसा सोचती हूँ कि किसी व्यक्ति को एक दिन के लिये भी सिर्फ बात करने का मौका न मिले, गंगा के तट पर बैठने का मौका न मिले तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं है। अगर वह मनुष्य है, और अपने ही जीवन की घटनाओं को देखकर विचार करे, तो उसे स्पष्ट पता चल जायेगा कि आराम कहाँ है, शांति कहाँ है, प्रियता कहाँ है, प्रसन्नता कहाँ है। बाहर-बाहर तो कहीं है नहीं भाई।

यदि वह समर्थ है और 'नहीं' को 'नहीं' जान कर अस्वीकार कर देगा तो उसमें 'है' की अभिव्यक्ति होकर जीवन की पूर्णता हो जायेगी और उससे ऐसा न किया जाय तो सद्ग्रन्थों का अवलोकन करलें, उनमें सब बातें लिखी हुई हैं, उनसे उसको पाठ मिल जायेगा। अगर पढ़ा-लिखा भी नहीं है, न योग्यता है तो किसी अनुभवी संत के पास बैठ जाये, उनसे विचार-विमर्श करलें, उनकी बातों में आस्था करलें, उससे भी उसका काम चल जायेगा। हर प्रकार से उसका विकास हो सकता है।

मैंने बहुत ही बेबसी में पड़ी हुई महिलाओं को देखा है उनके जीवन के उत्थान को देखा है। अगर किसी प्रकार से उनके परिवार के लोग साधु-संत के पास जाने के लिये, बैठने के लिये घर में से निकलने नहीं देते हैं और फिर उनके भीतर आवश्यकता है, जिज्ञासा है, ऊँचे जीवन की प्यास है तो परम कृपालु संत घूमते-घूमते उनके पास पहुँच जाते हैं और उनको सच्ची बात बताकर चले जाते हैं।

मैंने कई ऐसे उदाहरण देखे हैं कि जो घर में से किसी प्रकार से बाहर नहीं निकल सकते-असमर्थता के कारण या पारिवारिक प्रतिकूलता के कारण, तो उनको स्वप्न में सन्मार्ग दिखा दिया जाता है। स्वप्न में देखते हैं कि कोई संत आये और ऐसा-ऐसा कह करके चले गये। ऐसी बातें भी जीवन में होती हैं।

इन्हीं के आधार पर मैंने स्वामीजी महाराज की सलाह मान ली। कौनसी सलाह? कि अगर तुम्हें मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है तो आवश्यकता अनुभव करो तुम और उसकी पूर्ति का इंतजाम करेंगे जीवनदाता परमात्मा। अगर तुम्हारे भीतर साधन करने में असमर्थता है, तुमसे होता ही नहीं है किसी प्रकार से, तो जिस बुराई को छोड़ना चाहते हो, उसको न छोड़ सकने के कारण से बालक की तरह अधीर होकर रोने लग जाओ तुम। हाय, मैं क्या करूँ? मांसाहार अनुचित है पर उस स्वाद का रस मुझसे छोड़ा ही नहीं जाता है, वासना मेरे भीतर से निकली ही नहीं जाती है। तो जिस बुराई को न छोड़ सकने के कारण तुम व्याकुल हो जाओगे, वह बुराई स्वतः छूट जायेगी।

जिन अलौकिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति के बिना तुम व्याकुल हो जाओगे, वे अलौकिक तत्त्व स्वतः ही तुममें अभिव्यक्त हो जायेंगे। अपने ही में जो विश्राम विद्यमान है, अपने ही में जो शांति, स्वाधीनता और प्रेम का रस विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये मनुष्य बाहरी किसी बात पर पराधीन नहीं है। पारिवारिक प्रतिकूलताएँ भी इसमें बाधक नहीं बन सकती। तो सभी भाई-बहनों की सेवा में बहुत ही आत्मीयता के साथ मैं निवेदन कर रही हूँ कि सचमुच आप इस बात को जीवन का सत्य कह कर स्वीकार करिये कि आप जो चाहते हैं-शांति, स्वाधीनता, उदारता, निर्भयता, निश्ंिचतता, सरसता और अमरत्व-यह जो आपकी माँग है, इसकी पूर्ति संसार की किसी वस्तु से नहीं होगी, किसी व्यक्ति से नहीं होगी। पहली बात तो यह स्वीकार करलो। दूसरी बात यह है कि आपकी जो माँग है वह आप ही में विद्यमान है। उसकी अभिव्यक्ति के लिये केवल तीव्र आवश्यकता अनुभव करना जरूरी है। बाकी और कुछ नहीं। बाकी करने के जितने कार्य हैं, वे सेवा के लिये हैं।

सत्य की अभिव्यक्ति के लिये कुछ करने की बात है ही नहीं। करने चलोगे तो शरीर का सहारा पकड़ोगे। शरीर नाशवान् है। नाशवान् का सहरा पकड़ करके अविनाशी की अभिव्यक्ति होगी ही नहीं। जहाँ करने की बात नहीं है वहाँ पराधीनता काहे की? कोई पराधीनता नहीं है। घर में किसी प्रकार के खटपट व अप्रियता पैदा करने की कोई जरूरत नहीं है। अकेले-अकेले बैठ करके विचार करते जाओ, जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलते जाओ, जीवन के सत्य को स्वीकार करते जाओ। तुम्हारे ही भीतर से राग मिट जायेगा, क्षोभ मिट जायेगा, कामना मिट जायेगी, अभिमान मिट जायेगा, दीनता मिट जायेगी। भीतर तो शांति विद्यमान ही है। खोजने कहीं बाहर जाना ही नहीं है।

अब शांत हो जाइये।

प्रवचन 54

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मुख्य बात आज के प्रसंग की यह है कि ऐसा कर्म करो कि बस करने का अन्त ही हो जाये। अन्यथा करने की श्रृंखला समाप्त नहीं होगी तो इसमें

असाधन क्या है और साधन क्या है-भाई यह पूछ रहे हैं। महाराजजी के सूत्र इस प्रकार हैं। उन्होंने हम लोगों को सलाह दी है कि क्रियाशीलता तुम्हारे पास है और करने का राग भी है, तो ऐसा कर्म मत करो कि जिसे करने से करने की उत्पत्ति होती चली जाये। कर्म से कर्म उत्पन्न होता चला जाये-ऐसा मत करो। ऐसा करो कि जिससे करने का अंत हो जाये। यह उनका सूत्र है।

अब इसमें एक बहुत सीधी-सादी बात है। अगर क्रियाजनित सुख का भोग करते रहेंगे तो करने का राग नहीं मिटेगा। करने का राग नहीं मिटेगा तो शरीर की आवश्यकता समाप्त नहीं होगी। शरीर की आवश्यकता शेष रहेगी और प्राणशक्ति का नाश हो जायेगा तो मृत्यु होगी और राग ले कर मरने से पुनर्जन्म अनिवार्य है।

मूल भूल क्या हो गई? कि कार्य करने की क्षमता मिली है तो विवेक के प्रकाश में, प्रेम के भाव से, साधन-बुद्धि से ऐसा काम करो कि करने का राग समाप्त हो जाए। क्रियाजनित सुख का भोग असाधन है और राग निवृत्ति के लिये परोपकार साधन है। क्रियाजनित सुख का राग क्या है-वह भी देख लीजिये। थोड़ी देर के लिये

चुपचाप बैठने की कोशिश करो। बोलते-बोलते मुँह थक गया, तो चुप होना अच्छा लगेगा। चलते-चलते पाँव थक गये, तो बैठ जाना अच्छा लगेगा। अब कोई मुझको सलाह दे दे कि तुम चुप ही रहो, बोलना मत या आपको कह दिया जाय कि अब बैठ गये हो तो बैठे ही रहो, यहाँ से उठो मत। तो क्या होगा? कुछ देर के बाद, जी घबराने लगेगा कि भाई, यह बैठने का काम कब खत्म हो, कब यहाँ से उठें? तो राग की यह पहचान है कि प्रवृत्ति में लगे बिना अपने से रहा नहीं जाता।

स्वामीजी महाराज कह रहे हैं-तुम्हारे भीतर करने का राग था तो तुम्हें शरीर धारण करके जगत् में आना पड़ा। सही बात है। परम कृपालु ने कृपा करके तुम्हें मानव-जीवन दे दिया है। राग-निवृत्ति की सामर्थ् तुम में है। विवेक का प्रकाश तुमको दिया गया है। हृदय में उदारता तुमको दी गई है तो सुख-भोग की प्रवृत्ति में लगे रहोगे तो करने में से करने की उत्पत्ति होती रहेगी और राग की निवृत्ति की साधना में लग जाओगे तो करने का अंत हो जायेगा।

परम कृपालु ने मानव-जीवन दे दिया और मनुष्य हो करके हम लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि कुछ-न-कुछ साधन करना चाहिए। तो अब साधन क्या करें? साधन के सम्बन्ध में महाराज जी ने दो-चार बातें हम लोगों के सामने रखीं कि विवेक के प्रकाश में जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल डालो और यह निश्चय करो कि काम किया जाता है विश्राम के लिये और विश्राम होता है अपने लिये। काम किया जाता है सुंदर समाज के निर्माण के लिए और विश्राम लिया जाता है अपनी शान्ति, मुक्ति, भक्ति के लिये।

यह दृष्टिकोण जब अपने सामने स्पष्ट हो जायेगा तब आदमी सही काम करेगा। सही प्रवृत्ति के अंत में सहज निवृत्ति मिलती है सहज निवृत्ति की शांति में योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। करने का राग खत्म हो जाता है शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाती है, तो मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकती और अमर-जीवन से अभिन्न होकर मनुष्य सदा-सदा के लिये कृत-कृत्य हो जाता है।

तो पहला साधन, पहला उपाय क्या होगा? कि हम लोग अपने सम्बन्ध में जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलें। गलत दृष्टिकोण को छोड़े। सही दृष्टिकोण को ग्रहण करें। गलत दृष्टिकोण क्या है? कि कुछ करेंगे तो कुछ मिलेगा तो उससे जीवन का निर्वाह होगा। यह असाधन है। कुछ करेंगे तो कुछ मिलेगा यह सही बात है, लेकिन जो मिलेगा उससे तुम्हारा जीवन है, यह गलत बात है। जो मिलेगा, वह शरीरों के अर्पित कर दिया जायेगाऋ उससे आगे काम नहीं आयेगा।

काम किया जाता है करने के राग से मुक्त होने के लिये। श्रम किया जाता है सुंदर समाज के निर्माण के लिये। श्रम किया जाता है प्राप्त सामर्थ् का सदुपयोग करने के लिये और इन सबका फल होता है-विश्राम। स्वामीजी महाराज ने सूत्र रूप में कह दिया कि श्रम किया जाता है विश्राम के लिये और विश्राम होता है अपने लिये। 'अपने लिये' का अर्थ क्या है? कि जो अपने ही जीवन में चिर-शांति का तत्त्व विद्यमान है वह विश्राम काल में अभिव्यक्त होता है। अपने ही में जो अपने परम प्रेमास्पद विद्यमान हैं, उनकी प्रीति की जागृति होती है। अपने को शांति चाहिये, अपने को अमरत्व चाहिये, अपने को परम-प्रेम चाहिये।

सबसे पहला उपाय हम लोग क्या करें? कि अकेले-अकेले बैठकर अपने को खूब अच्दी तरह से समझा लो कि अपने को जो चाहिये, वह किसी कर्म का फल नहीं है। यह बात पकड़ में आती है? आप कहेंगे कि कैसे नहीं है। हम तो

इतनी इतनी तीर्थ यात्रा करेंगे तो फल मिलेगा। ठीक है, फल मिलेगा। लेकिन अगर फल की इच्छा रख करके करोगे तो अपने को जो चाहिये, वह नहीं मिलेगा। कर्म का फल हमेशा ही नाशवान् होता है। क्यों? कर्म का संपादन हमेशा ही नाशवान् कारक अंगों की सहायता से होता है। इस बात को मानियेगा कि नहीं? जी? स्थूल कर्म, चाहे सूक्ष्म कर्म, किसी भी प्रकार के कर्म का संपादन करो तो उसमें शरीरों की सहायता लेनी पड़ेगी कि नहीं लेनी पड़ेगी? और शरीर नाशवान् है कि अविनाशी है?

नाशवान् की सहायता लेकर जिन कर्मों का संपादन हुआ उन कर्मों का फल अविनाशी कैसे होगा? आपको अविनाशी जीवन चाहिये। ठीक है न? अरे भाई, नाशवान् को समेटने, बटोरने के प्रयास में आँख की रोशनी चली गई, सुनने की ताकत खत्म हो गई, रीढ़ की हड्डी झुक गई। कोई फायदा हुआ? जब से होश हुआ, जब से कुछ करने के लायक हुए, तब से कर रहे हैं कि बैठे हैं? कुछ न कुछ कर ही रहे हैं जिनमें आलस्य है, वे थोड़ी जड़ता में डूबे रहते हैं और जिनमें फुर्ती है वे जल्दी-जल्दी, ज्यादा से ज्यादा काम करते रहते हैं। पूरी जवानी भर काम किया। अब प्रौढ़ अवस्था आ गई। तब भी काम कर रहे हैं। शरीर नहीं चल रहा है, तब भी उसको घसीट रहे हैं।

इतना करके जो कुछ आपने प्राप्त किया, उसके द्वारा जिन्दगी की कमी पूरी हो गई कि अभी शेष है? ऐसा कह सकते हैं क्या, कि मैंने सब कुछ कर लिया, मुझे सब कुछ मिल गया, अब कुछ नहीं चाहिये? नहीं कह सकते। क्यों नहीं कह सकते? क्योंकि पूरी शक्ति जमाकर, नई उम्र में कमाया। अब इसको सँभाल कर रखने की चिंता लगी है। हिसाब याद नहीं रहता है तो खाता लड़कों के हाथ में देना ही पड़ेगा, लेकिन चिंता रहती है। तो आवश्यकता पूरी हो गई कि असमर्थता बढ़ने का दुःख बढ़ गया जी? दुःख बढ़ गया। आप असमर्थ होकर एक किनारे बैठ गये। नई पीढ़ी ने सारा कारोबार अपने हाथ में ले लिया। फिर भी आपको चिंता से छुट्टी नहीं है। आप पूछना चाहते हैं कि उस बही का काम पूरा हुआ कि नहीं? उस दुकान का क्या हाल है? नई पीढ़ी के लोग अपने ढंग से काम कर रहे हैं। आप उनको पूछ-पूछ कर हैरान हैं, उनको उत्तर देने के लिये फुर्सत नहीं है। कहते हैं-बाबूजी, बैठिये, राम-राम जपिये हम लोगों से पूछिये मत। यह दयनीय दशा देखने में आती है कि नहीं?

इसलिये स्वामीजी महाराज कह रहे हैं कि भाई, जो भी तुमको क्रियाशक्ति मिली है उस सारी शक्ति को ऐसे काम में मत लगा दो कि काम करते-करते फिर काम करने की उत्पत्ति होती रहे। तो करने का राग रखकर काम करना असाधन है। करने के द्वारा सुखभोग की इच्छा लेकर काम करना असाधन है। करने के द्वारा नाशवान् के संग्रह की इच्छा रखना असाधन है। यह सब छोड़ देना पड़ेगा।

साधन क्या है? किये बिना न रहा जाये तो इस ध्येय को सामने रखकर काम करो कि जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वह सब विश्राम की प्राप्ति के लिये है। अपने को चाहिये-विश्राम, योग, बोध और प्रेम। विश्राम में सहायक बनता है उचित श्रम। तो श्रम किया जाता है विश्राम के लिये। यह दृष्टिकोण ले कर आप काम करंगे तो आपको बहुत अच्छा रास्ता मिलेगा। भौतिक दर्शन की दृष्टि से जगत् की सेवा के लिए काम करो तो करने का राग मिट जायेगा। पर-पीड़ा से पीड़ित होकर दुःखी जनों की सहायता के लिये काम करो, तो करने का राग मिट जायेगा। अध्यात्मवाद की दृष्टि से तीनों शरीरों से

सम्बन्ध तोड़ने के लिये साधन बुद्धि से काम करो तो सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति आ जायेगी। आस्तिक दर्शन की दृष्टि से प्यारे प्रभु की प्यारी-प्यारी सृष्टि की सेवा के रूप में प्यारे की पूजा करो तो पूजा के पवित्र भाव से करने का राग मिट जायेगा। यह साधन हो गया।

मानव सेवा संघ की शैली में अति आधुनिक, अति सामान्य भाषा में स्वामीजी महाराज ने प्रकट किया कि शरीर में प्राणशक्ति के रहते-रहते व्यक्ति के भीतर से शरीर की आवश्यकता खत्म हो जाय तो यह जीवनमुक्ति है। स्वामी रामतीर्थ जी ने ऐसा अनुभव किया था। उन्होंने वेदान्त दर्शन पर निबन्ध लिखे। बहुत कुछ लिखा, बहुत कुछ कहा। शरीर के नाश होने से पहले आखिरी निबन्ध जब लिखा था उन्होंने, तो उसके नीचे अपना हस्ताक्षर किया और लिखना बंद करके कहने लगे अब 'राम' को शरीर की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, चाहे जब चला जाय। उस वीर पुरुष ने संसार के वैभव को ठुकरा दिया, और जीवनकाल में, थोड़े ही दिनों में, वे कृत-कृत्य हो गये। भीतर में तो उन्होंने अनुभव कर ही लिया था कि एक ही नित्य तत्त्व है। उसी में 'मैं' हूँ और वही मुझमें है इस आशय के बहुत सुंदर आठ दस पदों की कविता भी है कि राम मुझमें है, मैं राम में हूँ। उनको इसका प्रत्यक्ष अनुभव था, बोध था। इसको वे लिख रहे थे तो लिखने ही के लिये जैसे कलम उठाते हैं, उसी तरह से उनको वेदान्त प्रकाश लिखने के लिये शरीर से सम्बन्ध रखने की जरूरत थी और जिस दिन आखिरी निबन्ध खत्म हुआ, उसके बाद और नहीं लिखा। आखिरी मैं इसलिये कहती हूँ कि उसके नीचे उन्होंने अपना हस्ताक्षर किया है और उसके बाद उन्होंने कहा है कि बस, अब काम हो गया। अब 'राम' को शरीर की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, चाहे जब चला जाय।

शरीर के नाश से पहले मनुष्य यह अनुभव कर लें कि अब मुझे शरीर की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, ऐसा अनुभव करना कहलाता है-जीवन-मुक्ति। ऐसा अनुभव कौन कर सकता है? ऐसा अनुभव वह कर सकता है जिसने अशरीरी जीवन के आनन्द को अनुभव कर लियाऋ जिसने इन्द्रियों को विषय-विमुख करके, मन को निर्विकल्प करके, बुद्धि को सम करके, कारण शरीर की स्थिति की शांति को पार करके, तीनों शरीरों की असंगता में, अपने आप में संतुष्ट होने का अनुभव किया। उसको पूरा पता चल जाता है कि मुझे अपने लिये शरीर की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। अशरीरी जीवन में इतना हल्कापन है, इतना आनंद है, इतनी स्वाधीनता है कि वहाँ समय और स्थान की सीमा नहीं, कारक अंगों की शक्तियों की सीमा नहीं। असीम विस्तार अपना ही मालूम होता है और बड़ा आनंद भरा रहता है

जो साधक साधन-काल में शरीरों से असंग होने का अनुभव कर लेते हैं, शरीरों से तादात्म्य तोड़ने का अनुभव कर लेते हैं, उनको अशरीरी अस्तित्व में, अपने आप में बड़ी संतुष्टि मिलती है। सब प्रकार से वह शांति, वह आनंद, वह संतुष्टि, इन्द्रिय-मन-चित्त-बुद्धि निरपेक्ष है, इनकी सहायता से नहीं है। इनकी संगति के छोड़ने से जो आनन्द है उस आनन्द का अनुभव

साधनकाल में साधकजन करते हैं। एक बार जिनको ऐसा अनुभव हो जाता है, वे अपने को जीवनमुक्त अनुभव करते हैं। उनको अपने लिये शरीर को बनाये रखने की आवश्यकता नहीं लगती। तो प्राणशक्ति बची रहे और आवश्यकता पूरी हो जायऋ इसका नाम है जीवनमुक्ति। शरीर

बनाये रखने की कामना बनी रहे और प्राणशक्ति का ट्रास हो जाय, तो इसका नाम है मृत्यु।

आप लोगों ने, बहुत से भाई-बहनों ने शास्त्रीय विवेचन सुना होगा। समाधि के भी कितने भेद-विभेद होते हैं। जीवनमुक्ति की भी बहुत-सी परिभाषायें, बड़े लक्षण बताये गये होंगे। उन सबको आप मिला कर देखियेगा। इस सूत्र के भीतर सब कुछ समा जायेगा कि कामना रह गई और शरीर का नाश हो गया-इसी का नाम है मृत्यु। जिन संतजनों के जीवन में शरीरों की असंगता का बोध हो जाता है-अशरीरी अस्तित्व में संतुष्ट रहने का आनन्द आ जाता है, उनको पता ही नहीं चलता कि शरीर कब गया। इससे उनको कोई मतलब ही नहीं रहता, उनकी मृत्यु ही नहीं होती। उसका नाम है जीवनमुक्ति।

एक बार स्वामीजी महाराज के पेट में भ्मउवततींहम हो गया। पेट के भीतर रक्तपात हो गया, कोई नस फट गई होगी। शरीर की हालत बहुत खराब हो रही थी। शरीर अब गया, तब गया-ऐसा हो गया। जल्दी से डाॅक्टर बुलाये गये। उन्होंने आकर कहा कि घर में तो नहीं सँभलेगा। हम।उइनसंदबम भेजते हैं, अस्पताल ले आइये। मानव सेवा संघ का सम्मेलन चल रहा था। कार्यकारिणी की बैठक हो रही थी। बहुत-बहुत लोग बाहर से आये हुए थे। चारों ओर हलचल मच गई। स्वामीजी महाराज ने मुझको बुलाया और उनके एक मित्र संत हैं नाथ जी महाराज, उनको बुलाया और कहने लगे-।उइनसंदबम मत बुलाओ," हम सुन रहे थे, अस्पताल मत ले जाओ, हलचल बन्द करो, चिकित्सा के लिये परेशान मत होओ। मुझे उस जीवन में रहने दो, जहाँ रहने पर शरीर के रहने न रहने का पता नहीं चलता। हम लोग चुप हो गये। बाहर निकल करके सब लोगों को मैंने सुना दिया कि यह सन्देशा है स्वामीजी महाराज का। तो क्या करना चाहिये? हमने कहा, जो कहते हैं सो करना चाहिये। सोचने की तो कोई बात ही नहीं। शरीरों से उन्होंने अपने को असंग कर लिया और किस आनन्द में रहे, यह तो वे ही जानें। हम लोगों ने देखा कि लगभग चैबीस घंटे तक, उससे भी कुछ ज्यादा देर तक बिल्कुल मिट्टी के ढेले की तरह बिस्तर पर शरीर चुपचाप शान्त पड़ा रहा और स्वामीजी महाराज अपने आनन्द में रहे। उनको यह पसन्द नहीं आया कि हाय शरीर, हाय शरीर, किया जावे, तो उन्होंने सब कुछ बन्द करवा दिया और उस जीवन में रहे जहाँ रहने पर शरीरों का भास नहीं होता। खूब आनन्द में रहे।

अभी भी उच्चकोटि के कुछ संत हैं, जो कि उनके आनन्द को जान सकते हैं- उनके अस्तित्व को देख सकते हैं वे लोग देखते हैं और हम लोगों को बताते हैं कि महाराज जी खूब आनन्द में हैं और कह देते हैं कि देखो, मैं कितना आनन्द में हूँ। जिस शरीर में इतने प्रकार के रोग समा गये थे, उसी शरीर में तुम लोग हमको रखना चाहते थे। देखो, अब मैं कितना आनन्द में हूँ। यह सच्ची बात है।

मैं कहती हूँ कि भगवान ने, जन्मदाता ने मानव जीवन दिया है तो इस जीवन का, इस जन्म का अर्थ ही है कि जीवनमुक्ति प्राप्त करो। खा-पी करके, बच्चे पैदा करने का सुख भोग करने के लिये तो चैरासी लाख योनियाँ हैं ही। चैरासी लाख में से एक कम कर दूँ। नहीं तो हम लोग भी उसी में शामिल हो जायेंगे। तो कितना हो जायेगा? तिरासी लाख निन्यानवे हजार नौ सो निन्यानवे योनियाँ तो सुख-दुख भोगने के लिये हैं ही। बस, आप ही तो हैं जिनको इस बात में समर्थ बनाया गया है कि-"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।" ऐसा जीवन पाकर आप जल्दी से जल्दी जीवन मुक्त हो

जायें, भगवद् भक्त हो जायें। ऐसा होता आया है अनहोनी बात नहीं है।

स्वामीजी महाराज की महिमा मैं क्या बताऊँ। एक गृहस्थ का जीवन मैंने देखा। बड़े ऊँचे घराने में पैदा हुए, बड़ा ही उज्जवल चरित्र रहा उनका। अंग्रेजी राज्य ;ठतपजपी ळवअजण्द्ध के जमाने में 'राय बहादुर' का खिताब मिला उनको। बड़े आदमी थे। महाराज जी से मिलन जब हुआ उनको तो वे सब प्रकार से संत के समर्पित हो गये। स्वामीजी की गोदी में सिर रख दें और अधीर होकर कहें, "महाराजजी! मेरा उद्धार कैसे होगा? मुझको तो लड़के बहुत अच्छे लगते हैं, स्वामीजी। मेरी ये बहुऐं तो माँ के समान मेरी सेवा करती हैं। स्वामीजी! हाय, मेरा उद्धार कैसे होगा?" उन्हीं सज्जन को भवगत् शरणागति की साधना से, संत की वाणी में विश्वास करने से जीवनमुक्ति का अनुभव हो गया। "अब मैं जीवनमुक्त हूँ, मेरी मृत्यु नहीं होगी, मेरा जन्म नहीं होगा, मुझको संत ने आश्वासन दिया था, मुझको स्वामीजी महाराज ने कहा था। उस समय मुझको विश्वास नहीं होता था, अब मुझे अनुभव हो गया। मुझे प्रकाश ही प्रकाश दिखाई दे रहा है, मुझमें आनंद ही आनंद भरा है। मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ...." कहकर उन्होंने सबको कमरे में से विदा कर दिया और आनंद में चले गये। तो जीवन-मुक्ति असंभव बात नहीं है और जीवनमुक्ति किसी व्यक्ति विशेष के लिये नहीं है। जीवमुक्ति के अधिकारी सभी साधक हैं।

जो साधक बनेगा, अपने को साधक स्वीकार करेगा, ;साधक की स्वीकृति अनिवार्य हैऋ फिर वह साधक सबल है कि निर्बल है- इस बात का विचार जीवनदाता नहीं करते हैं। अब एकदम से अपनी आँखों पर परदा ही डाल दो, विवेक के प्रकाश का आदर करने से इंकार ही कर दो, विचार की शक्ति को बिल्कुल ही कुंठित करके रख दो, पशु की भांति भोग-बुद्धि से ही जीना पसन्द करो, तब तो मानव की संज्ञा ही नष्ट हो गई। तब तो हम मनुष्य रहे ही नहीं। लेकिन मनुष्य हो और भीतर थोड़ी-सी भी सजगता है कि यह जीवन मिला है जीवन-मुक्ति के लिये, भगवद्भक्ति के लिये-थोड़ी सी भी चेतना है तो अपने को सत्संगी बनाओ। अपने को साधक स्वीकार करो। अल्प सामर्थ् होगी तब भी और विशेष सामर्थ् होगी तब भी, जीवनमुक्ति, भगवद्-भक्ति मिलेगी जरूर।

अब आखिरी बात उन्होंने लिखी-'प्रभु चिंतन होवेऋ।' बहुत सही शब्द का प्रयोग किया है उन्होंने। करने के लिये लिख रहे हैं परोपकार और प्रभु-चिन्तन के लिये लिख रहे हैं-"होवे"। उसमें क्या रहस्य है? रहस्य यह है कि कुछ लोगों को आपने ऐसा कहते सुना होगा कि प्रभु-चिंतन करो, भगवद् चिंतन करो।' उनका विश्वास है कि शुभचिंतन करने से अशुभ चिंतन का नाश होता है। मेरा अपना जो समझा हुआ है, वह यह है कि चिंतन से चिंतन का नाश नहीं होता। स्वामीजी महाराज का जो अनुभव किया हुआ है, वह यह है, कि करने वाला चिंतन अखण्ड नहीं होगा, इसलिये जो चिंतन तुमको अभीष्ट है, उसको होने दो। करने का आरंभ करेंगे तो करने का अंत भी होगा।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि "भैया चिंतन करो मत, चिंतन को होने दो।" होने वाला चिंतन आपके पास है कि नहीं है? होने वाला चिंतन आपके पास है। किसका चिंतन हो रहा है भाई? तो परिवार का, कुटुम्ब का, शरीर का, सामान का, सम्पत्ति का, पद का चिंतन हो रहा है। होने वाले चिंतन से आप अपरिचित नहीं हैं। सब समय हो रहा है। बैठे-बैठे, लेटे-लेटे, चलते-चलते, खाते-पीते हो रहा है। किसका चिंतन हो रहा है?

नाशवान का चिंतन हो रहा है। जिसमें आसक्ति हो गई है, उसका चिंतन हो रहा है। जिसके मिट जाने का भय है, जिसकी प्राप्ति का लालच है, उसका चिंतन हो रहा है।

साधक जन की माँग यह है, कि नाशवान् का चिंतन मेरे भीतर से निकल जाये। कैसे निकलेगा भाई? जो सदा के लिये रहने वाला नहीं है, उसकी महिमा अस्वीकार करदो। जो नाशवान् है उसको जीवन का सहारा मत बनाओ। जिसने आज तक संतोष दिया नहीं उसकी कामना, उसकी ममता छोड़ दो। जिस चिंतन को आप नापसन्द कर रहे हैं। वह चिंतन खत्म हो जायेगा। सत् चिंतन चाहते हैं, भगवत् चिंतन चाहते हैं तो जिन-जिन कारणों से इस समय हम लोगों के मस्तिष्क में संसार का चिंतन चल रहा है, वही-वही उपाय भगवान के प्रति कर लेना होगा। जिस कुटुम्ब को आपने अपना माना, उसका चिंतन हो रहा है। अब आप चाहते हैं कि उसका चिंतन न हो, तो उसको अपना मानना छोड़ दीजिये। जिस परमात्मा के चिंतन को आप चाहते हैं कि वह होने लगे, तो उस परमात्मा को अपना करके स्वीकार कीजिये। कैसे अपना कहें? दिखाई तो देता ही नहीं है। बड़ी बढ़िया पहेली है। बड़ा जबरदस्त ठोस सत्य है। क्या जाने उन्होंने क्यों ऐसा किया? लेकिन कर रखा है। क्या कर रखा है? कि जो देखने में आया, सुनने में आया, जो समझने में आया, वह पकड़ में नहीं आया। शरीर में युवावस्था देखने में आती है, पर पकड़ में रहती है क्या? ठहराने से ठहरती है क्या? तो ऐसी चीज जो देखने में आये, लेकिन रुके नहीं, संतजन कहते हैं कि उसका सहारा छोड़ दो, उसको अपना मानना छोड़ दो। क्या करें उसका? जल्दी-जल्दी उसका सदुपयोग कर लेना। युवावस्था में शरीर में खूब बल रहता है। जब तक वह बल खत्म न हो जाये, काल की अग्नि में वह जल न जाये, काल की गति से वह मिट न जायेऋ उसी युवावस्था के बीच में बहती गंगा में हाथ धो लो। स्वामीजी महाराज कहते हैं कि भाई, युवावस्था तो निकलती ही जा रही है। ठहराने से ठहरेगी नहीं, रोकने से रुकेगी नहीं। इसलिये जब तक वह है तुम्हारे पास, तब तक जल्दी-जल्दी युवावस्था की सामर्थ् को लेकर असमर्थों की सेवा के द्वारा चित्त की शुद्धि करलो। शुद्धि जो होगी, वह आपके संग शरीर के नाश के बाद भी रह जायेगी।

तब क्या होगा? कि जिस तरह से धन को अपना माना तो धन का चिंतन होने लगाऋ पद को अपना माना तो पद का चिंतन होने लगा। उसी तरह से बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को अपना मनोंगे, तो चिंतन होने लगेगा। अब जो चिंतन होने लगता है, वह अखंड रहता है, मिटता नहीं है। कभी नहीं मिटता है।

चिंतन होने लग जाये, इसका उपाय क्या है? कि जिसके चिंतन को निरन्तर बनाये रखना चाहते हो, उसको अपना मानो। जो देखा हुआ मेरे सामने आया, वह मेरी पकड़ में नहीं आया। इसलिये परमात्मा को देखेंगे, तब मानेंगे, ऐसा मत सोचो। मानोगे, तो देखने में आ जायेगा, नाशवान् आँखों से नहीं, दिव्य दृष्टि से। दिव्य दृष्टि खुलेगी तो वह सदैव अपने लिये, अपने पास ही अपने अनुभव में आता रहेगा। प्रेम का आदान-प्रदान होता रहेगा, कभी मिटेगा ही नहीं, कभी छूटेगा ही नहीं, कभी हटेगा ही नहीं। वह दर्शन भी दिव्य है और देखने के लिये जो दृष्टि मिलेगी, वह दृष्टि भी दिव्य है और दोनों के बीच प्रेम का आदान-प्रदान भी दिव्य हैं।

जिसका कभी नाश ही नहीं होता है, न पूर्ति होती है, न क्षति होती है, जिसमें नित-नव रस रहता है-वह भगवत् चिंतन होने लगेगा, कब? जब

उनको अपना मानेंगे तब, जब उन पर अपने को समर्पित करेंगे, जब उनके आश्रित होकर रहना पसन्द करेंगे, जब उनके प्रेम को ही जीवन का लक्ष्य बनायेंगे, तब वह चिन्तन होने लगेगा! होने लगेगा!! तब तो सब काम पूरा हो जायेगा, फिर उसके बाद कुछ करणीय शेष नहीं रहता। वह चिंतन अपने आप में इतना मधुर होता है, वह स्मृति इतनी सजीव होती है कि मैं तो सभी प्रयासों का और सभी साधनाओं का पूर्ण होना मानती हूँ, अगर भीतर में वह स्मृति जाग्रत हो जाए तो। फिर उसके बाद तो साधक को कुछ करना ही शेष नहीं रहता। वह इतनी जोरदार होती है कि साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस स्मृति में ही समा जाता है। भगवत् चिंतन और भगवत् स्मृति के अतिरिक्त उस

साधक में और कुछ शेष रह ही नहीं जाता। ऐसा हो जाता है।

अब शान्त हो जाइये!

प्रवचन 55

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

हम सब लोग मानव है। मानव होने के नाते साधक हैं और साधक होने के नाते हम सभी भाई-बहनों को इसी वर्तमान में सफलता मिलनी चाहिए। इस दृष्टि से अपनी वर्तमान दशा पर विचार किया जाये। वर्तमान दशा कैसी है? वर्तमान दशा ऐसी है कि शरीर जो अपने पास मालूम होता है, उसकी सुरक्षा, उसके भरण-पोषण की चिंता हमें रहती है और उसको सँभाल के रखना हम लोग अपना दायित्व समझते हैं।

भोग-बुद्धि को छोड़ दीजिये। भोग-बुद्धि तो प्राणी संज्ञा के लिए उचित है। साधक के लिए भोग-बुद्धि की बात नहीं है। लेकिन शरीर की सेवा इस दृष्टि से करना कि उसको सँभाल कर रखना है और साधन-सामग्री के रूप में उसका उपयोग कर लेना है। इस दृष्टि से भी शरीर की रक्षा, सेवा और सँभाल हम करते हैं, परन्तु अन्य शरीरों के प्रति जो हमारा व्यवहार रहता है, उसमें बड़ा फर्क है। ज्ञान की दृष्टि से स्वामीजी महाराज हमें याद दिला रहे हैं कि अगर देखे हुए दृश्य से तुम अपना सम्बन्ध नहीं मानते हो, असंख्य-असंख्य शरीरधारी तुम्हारी आँखों के सामने से होकर गुजरते हैं उनसे तुम सम्बन्ध नहीं मानते हो, तो एक शरीर से सम्बन्ध क्यों मानते हो?

जैसे अन्य शरीरों से हम सभी स्वभाव से असंग रहते हैं। उसी प्रकार एक शरीर, जो अपने पास है इससे भी असंग रहते तो काम बन गया होता। योग सिऋ हो जाता। अब विचार करके देखिये, कि जिस समय आप विशेष प्रकार की मुद्रा, विशेष प्रकार के आसन में बैठकर विशेष प्रकार से शक्तियों को केन्द्रित करना चाहते हैं, उसमें तकलीफ दूसरे शरीरों के कारण से होती है कि एक शरीर जिसको लेकर के बैठे हैं उसी से होती है? उस एक से ही होती है। उसी में उथल-पुथल मच रहा है। वह ही परेशान कर रहा है और बाकी दूसरे भाई-बहनों के मन में क्या उथल-पुथल मच रही है उससे अपने को कोई परेशानी नहीं होती है। तो योगवित् होने में बाधा इस एक माने हुए शरीर के कारण है, अन्य शरीरों के कारण नहीं है।

एक बार मैं स्वामीजी महाराज से शिकायत कर रही थी कि महाराज! मन की हलचल बन्द नहीं हुई। ऐसा है, ऐसा है सब सुनाया करती थी उनको। तो वे कहने लगे कि कितने मनों में कितने चिंतन चल रहे हैं? असंख्य-असंख्य भाई बहनों के मन में तरह-तरह की उथल-पुथल मची हुई है तो सबकी चिंता क्यों नहीं करती हो? एक के पीछे क्यों पड़ी हो? सोचने में आता है?

देखो, कि समाधिस्थ होने में, योगवित् होने में, भगवान का ध्यान करने में बाधा अगर महसूस होती है अपन लोगों को बाहरी-भीतरी कारणों से, तो उस एक ही शरीर को आधार बना करके होती है। उस उलझन को मिटाने के लिए स्वामीजी महाराज ने उपाय बता दिये हैं।

प्रारम्भिक स्तर पर सत्संग के प्रकाश में हम लोंगों ने परम शांति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम को लक्ष्य माना। योगवित् होना, तत्त्ववित् होना, भगवत्-भक्त होना-अपना लक्ष्य माना। इस लक्ष्य की पूर्ति में बाधा क्या है? उस बाधा को मिटाने का उपाय स्वामीजी महाराज बता रहे हैं।

वे कहते हैं कि जैसे अन्य शरीरों से तुम तटस्थ रहते हो, असंग रहते हो, उसी प्रकार से एक शरीर, जिसको तुमने अब तक अपने पास समझा था, अपना माना था, उससे भी असंग रहो, तो तुम्हारी समस्या हल हो जाये। योगवित् होने में आसानी हो जाये, सहूलियत हो जाये, स्वाभाविक हो जाये। अगर ऐसा नहीं कर सकते तो और स्थूल स्तर पर जाओ। यह तो दार्शनिक आधार हुआ। अब भौतिकवाद के दर्शन का आधार ले लो। जगत् को जो सत्य मानता है उसको क्या करना चाहिए? उसको यह विचारना चाहिए कि क्या एक ही शरीर का नाम जगत् है? या जितने शरीर बनाये गये हैं, सबके समूह का नाम जगत् है? जगत् शब्द में सब शरीर शामिल हैं। तो अगर भौतिकवाद की दृष्टि से ही आप साधना में आगे बढ़ना चाहते हैं, तो इतना सा अपना विस्तार कर लीजिये कि जैसे एक शरीर अपना मालूम होता है, उसकी सुरक्षा और उसके भरण-पोषण का ध्यान अपने को है, वैसे ही अनेकों शरीरों को भी अपना मानना चाहिये।

अब आप कहेंगे कि एक ही को खिलाने-पिलाने की चिन्ता करते-करते जिन्दगी खत्म हो गई, सिर के काले बाल सफेद हो गये, अब सब शरीरों को अपना मान कर बैठें तो आफत हो जायेगी, तो आफत नहीं हो जायेगी। जो किसी न किसी नाते से, जगत् के नाते से, भौतिकवाद के नाते से, सभी को अपना मान लेता है उस पर सबको खिलाने की जिम्मेदारी नहीं आती है। उसके पास जितनी सामग्री आयेगी उतनी बाँट देने की जिम्मेदारी रहेगी, उससे ज्यादा नहीं।

लेकिन एक बड़ा भारी विस्तार उसके हृदय का हो जाता है-कि वह किसी भी शरीर के प्रति हानिकारक संकल्प अपने में नहीं रखेगा। सब अपने हैं। सबकी रक्षा अभीष्ट हो गई। सबका भला अभीष्ट हो गया। सहायता तो वह सीमित ही कर पायेगा और सीमित व्यक्तियों से ही उसका सम्पर्क जुट पायेगा, लेकिन वह अपने भीतर में यह सद्भाव रखेगा कि सबका भला हो, सब सुखी रहें। सबका भरण-पोषण हो, सबका कल्याण हो, सब साधकों को सिद्धि मिले, सब भक्तों को भगवान मिले। इस प्रकार की एक सद्भावना उसके भीतर बसेगी। इसका शुभ परिणाम यह होगा कि राग-द्वेष की बीमारी चली जायेगी।

एक को अपना और बाकी सबको पराया मानो, एक के नाते से दो-चार बच्चों को अपना और बाकी सबको पराया मानो, मोह के नाते से एक कुटुम्ब के दस-दस व्यक्तियों को अपना और बाकी सबको पराया मानो-ऐसा मानने का फल क्या होता है? कि जिनसे मोह का सम्बन्ध मान लिया है, उनके प्रति राग हो जाता है, और जब राग रहेगा तो उससे प्रेरित होकर बहुत से काम अपने को इस प्रकार के करने पड़ेंगे या ऐसे करने की प्रवृत्ति बन जायेगी कि द्वेष की उत्पत्ति के बिना रह नहीं सकते। तो कहीं राग हो गया कहीं द्वेष हो गया। जिस हृदय में प्रेम की गंगा लहरानी चाहिए उस हृदय में राग और द्वेष की अग्नि जल रही है

तो शान्ति कैसे मिलेगी? शान्ति नहीं आयेगी तो योगवित् कैसे होंगे? योगवित् नहीं होंगे तो तत्त्व का बोध कैसे होगा? बोध नहीं होगा तो परम-प्रेम की अभिव्यक्ति कैसे होगी?

यह जीवन का एक क्रमिक विकास है। भौतिकवाद की दृष्टि से जगत् के नाते सभी को अपना मानो। प्यास लगी है, एक शरीर को जल की जरूरत है, उसकी जरूरत आप पूरी कर रहे हैं तो अन्य शरीरों को भी जल की जरूरत है। आपके पास अवसर है, सामर्थ् है, जल है। परिस्थिति ऐसी है कि आप दूसरे शरीर को भी जल दे सकते है तो दीजिए। सेवा तो सीमित ही बनेगी, लेकिन भाव रहेगा असीम। भौतिकवाद के नाते से, भौतिक दर्शन के आधार पर अगर हम शरीर को सत्य मानते हैं और उसकी सेवा को अपनी साधना मानते हैं, तो एक शरीर और अन्य शरीरां में भेद रखने से काम नहीं चलेगा। जगत् के नाते सभी अपने हैं, इस सत्य को स्वीकार करिये।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से, भौतिकवाद से थोड़ा ऊपर उठिये। अध्यात्मवाद की दृष्टि से आप विचार करेंगे तो दार्शनिक दृष्टिकोण आपके सामने यह आयेगा कि 'दृश्य' मात्र से त्रिकाल में भी मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है। न पहले था, न आज है न आगे रहेगा। यह जो एक हाथ दिखाई देता है, यह 'दृश्य' है कि 'स्व' है? दृश्य है। अन्य दृश्य जो दिखाई दे रहे हैं,

विविध प्रकार की मूर्तियाँ मेरे सामने विराजमान हैं- इनसे मेरा नित्य

सम्बन्ध नहीं है। है क्या? नहीं है। तो अध्यात्मवाद की दृष्टि से जीवन का सत्य यह है कि किसी भी वस्तु से, किसी भी व्यक्ति से, किसी भी शरीर से आपका त्रिकाल में भी सम्बन्ध नहीं है। इस सत्य को स्वीकार करो तो सभी काम बन जाये और इतनी भी हिम्मत न होती हो कि भाई कैसे करें? तो फिर तीसरा एक और साधन है। उसमें, आस्तिकता का आधार, सर्व उत्पत्ति का आधार कोई है, सर्व प्रतीति का प्रकाशक कोई है। उसको हमने देखा नहीं है, जाना नहीं है, अनुमान लगाते हैं। क्यों लगाते हैं? इस आधार पर अनुमान लगाते हैं कि कोई भी उत्पत्ति बिना आधार के नहीं होती।

इस समग्र उत्पत्ति का आधार कोई होगा तो जरूर? पश्चिमी दर्शनकार भी इस बात को मानते हैं कि बिना कारण के कार्य नहीं होता है। अगर कोई कार्य दिखाई दे रहा है, तो उसके पीछे कोई कारण जरूर है। तो ब्नेम के बिना मि िमबज नहीं होता। कारण के बिना कार्य नहीं होता। आधार के बिना उत्पत्ति नहीं होती। प्रकाश के बिना प्रतीति नहीं होती। यहाँ तक तो अपनी

;अपना तर्कऋ लगा लीजिये।

अब उसके बाद विश्वास का नम्बर आयेगा, कि होगा तो जरूर, लेकिन उसका परिचय नहीं है। उसको हमने देखा नहीं है। वह जानने में नहीं आता है। तो आस्तिकवाद का आधार जिन साधकों ने जीवन में लिया, उन्होंने कहा कि सोचो मत कि वह कहाँ है? और कैसा है? अगर तुम अपने को उत्पत्ति मानते हो तो अपने उद्गम को तुम जान नहीं सकते।

अगर तुम अपने को कार्य मानते हो, तो अपने कर्ता को तुम जान नहीं सकते। जिसमें से इन आँखों की रचना हुई है, वे आँखे, उसको नहीं देख सकतीं। इसलिये वह दिखाई नहीं देता है। तो बिना देखे, बिना जाने, एक आधार हम लोगों के पास है कि जिससे हम उसकी सत्ता को स्वीकार कर सकते हैं।

वह कौन सा आधार है? कि हमारे व्यक्तित्व में विश्वास करने का एक स्वभाव है। दुनिया की बहुत-सी बातों को हम लोगों ने बिना जाने मान लिया है। अब किसी व्यक्ति का कोई

नाम ले लीजिये। एक नाम है देवकी। यह नाम कोई ज्ञान के आधार पर है या सुना हुआ नाम मान लिया? मान लिया न। जब होश हुआ, जब चलने फिरने लगे, जब पाठशाला में पढ़ने गये, जब नाम लिखने का समय आया तो मालूम हुआ कि यह नाम है। तो खोजा! कि नाम क्या होता है? यह क्यों है? इसको छोड़कर दूसरा क्यों नहीं है? खोजा तो मालूम पड़ा कि जब यह शरीर बना नहीं था तब यही नाम नहीं था। जब यह शरीर नाश हो जायेगा, तब यह नाम नहीं रहेगा। तो ऐसे छान-बीन की कि बिना छान-बीन किये मान लिया? मान लिया! तो मान लेने का स्वभाव हम लोगों का है।

भाव-पक्ष, हृदय-पक्ष, श्रद्धा-विश्वास का पक्ष-मनुष्य के व्यक्तित्व का एक बहुत ही आवश्यक और सरस पहलू है। हमें तर्क के साथ-साथ सरसता भी पसन्द आती है। प्रेम का भाव भी पसन्द आता है। श्रद्धा-विश्वास भी पसन्द आता है; क्योंकि हमारे व्यक्तित्व में यह अनिवार्य रूप से है। स्वामीजी महाराज कह रहे हैं कि भौतिक दर्शन के आधार पर सभी को अपना मानो। अध्यात्मदर्शन के आधार पर सभी से असंग हो जाओ। और ये दोनों तुमको जँचते न हों, यह भी संभव है, क्योंकि अलग-अलग व्यक्ति की बनावट अलग-अलग है, परन्तु कहीं न कहीं तो तुम्हें आधार लेना पड़ेगा।

तो भाई-आस्तिक दर्शन का अनुसरण करो। उसमें क्या है? कि सारी उत्पत्ति का एक आधार है। सारी दृष्टि का एक मालिक है जिसको भक्तजन भगवान कहते हैं। तो भगवत् नाते से सभी शरीरधारियों को अपना मानो। प्रभु तुम्हारे अपने हैं। उनके अपनेपन को जीवन में सजीव करना चाहते हो तो मानलो कि वे नित्य-निरन्तर विद्यमान है तो नित्य विद्यमान अपना कोई परम-प्रेमी हो और वह सब समय अपने साथ रहता हो, तो प्रेम और आनन्द की कभी कमी हो सकती है? जी, मीराजी ने कह दिया-"जाके पिया परदेश बसत हैं, लिख-लिख भेजत पाती। मेरे पिया मोरे हृदय बसत हैं, दरस करूँ दिन राती।"

आनन्दित हैं वह दिन-रात। क्योंकि उनका प्रीतम उनके हृदय में वास कर रहा है। एक दूसरी जगह कहा है उन्होंने-"पतिया तो सखी तब लिखूँ-जो पिया होय विदेश। मन में तन में नयन में ताको कहा संदेश। "जो मन में, तन में रम रहा है उसको संदेश क्या भेजना है?

भौतिक दर्शन के नाते सबको अपना मानो। अध्यात्म दर्शन के नाते किसी से त्रिकाल में भी मेरा सम्बन्ध नहीं है, इसलिए सबसे सम्बन्ध विच्छेद कर लो और प्रभु के नाते आस्तिक दर्शन के आधार पर भी सबको प्रभु का मान लो। तो जिन प्रभु के प्रेम की आपको अभिलाषा है, जिस प्रेम की अभिव्यक्ति के बिना दुनिया में रहना भी हम लोगों को सरस नहीं लग रहा है, उस प्रभु को अपना मानो और उनके नाते सभी को अपना मान लो।

भगवान का नाम लेना, भजन गाना, उनका कीर्तन करना, उनका चित्र देखना, उनके मन्दिर में जाना, उनकी कथा सुनना, उनके चरित्र की लीला देखना कुछ सरस तो लगता है। एक दम से अपने को वंचित हम लोग नहीं पाते हैं। लेकिन न दुनिया में इतना रस मिला कि इसी में हम रम जाते, न इससे हट कर परमात्मा का प्रेम ही इतना उमड़ा कि शरीर और संसार को भूल

जाते। यह दशा है, अब इस दशा से आगे चलो।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि यह उपाय तुम्हारे लिए सहज है। बाल-बच्चे आँखों के सामने खेलते-कूदते दिखाई देते हैं तो तुम्हारा यह कहने का साहस नहीं होता कि इनसे मेरा सम्बन्ध

नहीं है। बड़ा कठिन लगता है तो ठीक है। सम्बन्ध तोड़ने का साहस नहीं है तो फिर, परमात्मा जो सृष्टि का मालिक है, जो जगत्-पिता है, जगत्-जननी है उनके नाते से आस्तिक दर्शन के आधार पर सभी को परमात्मा का मान लो कि ये सब प्यारे के प्यारे हैं।

परमात्मा का प्रेम सब भाई-बहनों को चाहिए। समर्थ को भी चाहिए, असमर्थ को भी चाहिये। बीमार को भी चाहिए, नीरोग को भी चाहिए। श्रीमान को भी चाहिए, गरीब को भी चाहिए। दुःखी-सुखी जैसी भी बाहर की परिस्थितियाँ हों, इनसे कोई अन्तर इस आवश्यकता में नहीं आता।

परमात्मा का प्रेम, वह अविनाशी प्रेम रस है, जो कभी घटता नहीं है, मिटता नहीं है जो जन्म-जन्मान्तरों के सब अभावों को दूर कर देता है, ऐसे प्रेम रस की आवश्यकता हम सब भाई-बहनों को है उस प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए स्वामीजी महाराज ने सलाह दी कि भौतिक दर्शन मानो, आध्यात्मिक दर्शन मानो, आस्तिक दर्शन मानो-इसमें से किसी एक सत्य को तुम्हें मानना पड़ेगा इन तीनों बातों को छोड़कर कुछ और मानेंगे तो उसको सत्य का आधार नहीं होगा। जाति के नाते एक मानो। वर्ग के नाते एक मानो देश के नाते एक मानो। समूह के नाते एक मानो। ये सब सीमित सम्बन्ध हैं और राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले हैं। हृदय के रस को सुखाने वाले हैं। और आप सच मानिये, मनोविज्ञान के अध्ययन का एक बहुत बड़ा लाभ अपने जीवन पर मैं यह मानती हूँ कि यह बात मेरे ठीक समझ में आ गई कि यदि जीवन का रस सूख गया तो न दुनिया में रहने में अच्छा लगेगा, न दुनिया को छोड़ने की हिम्मत आयेगी और न प्रभु का प्रेम उपजेगा। जीवन का रस अगर सूख गया तो राग-द्वेष रहेगा और जीवन की सरसता कम हो जायेगी और मस्तिष्क में व्यर्थ चिंतन का तूफान उठता रहेगा।

इसलिए सत्संगी भाई-बहनों के सामने बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कि भाई, किसी भी मूल्य पर जीवन के रस को सूखने मत दो। राग-द्वेष को अपने जीवन में कोई स्थान मत दो। उसे मिटाने का एक ही उपाय है कि चाहे भौतिक दर्शन का सत्य स्वीकार करो, चाहे आस्तिक दर्शन का सत्य स्वीकार करो। सत्य की स्वीकृति के बिना राग-द्वेष का दोष मिटेगा नहीं। सत्य की स्वीकृति के बिना साधन की अभिव्यक्ति होगी नहीं। प्रभु के नाते सब अपने हैं-यह बात बहुत अच्छी है। यह सत्य भी है और आपके जीवन की शुष्कता, नीरसता को मिटाने वाली भी है। पहले लोग हमसे पूछते कि आप कितने भाई-बहन हैं तो मैं कहती कि भाई संसार का एक ही माता-पिता है। दो चार माता-पिता हों तो मैं बताऊँ कि मेरा अपना कौन है, और पराया कौन हैं।

सोचो न। यह हाड़-मांस की बनी, छोटी सी आकृति। इसके नाते से भाई-बहनां में भेद करोगे। एक विशेष आकृति से सम्बन्धित जो होगा वह मेरा, बाकी सब किसका? तो ऐसा तो नहीं है। अगर आप साधक हैं, अगर आप सत्य के शोधक हैं, अगर आप सत्य का प्रयोग जीवन पर करने चले हैं, तो इतनी सी बात भी अगर स्वीकार नहीं करेंगे कि सभी मेरे अपने हैं, तो विकास कैसे होगा?

यह सृष्टि अनन्त परमात्मा की सृष्टि है और उनके लिए एक विशेष बात हम लोगों ने सुनी है कि वह अनन्त माधुर्यवान् हैं। वह सारी सृष्टि को, सब शरीरधारियों को, जिनको उन्होंने उत्पन्न किया है, सबको अपनी मधुरिमा में रखते हैं और उससे पालते हैं उस अनन्त माधुर्यवान के प्रेमी होने आप चलें है, तो एक भी प्राणी अगर आप को पराया मालूम होता है और उसके अहित का

संकल्प आपके भीतर उठता है तो चित्त की अशुद्धि कैसे मिटेगी? माँ-बाप के पाँच बच्चे हैं। पाँच में से चार को आप भाई मानकर गले लगाइये और एक आपका कहना नहीं मानता है, तो उसको दुश्मन मानकर मारने चलिये, तो माँ-बाप को प्रसन्नता होगी क्या? नहीं होगी।

दुनियावी माँ-बाप इस बात को नहीं सह सकते हैं, तो वह अनन्त माधुर्यवान हमारी इस हिंसावृत्ति, हमारी कठोरता को कैसे सहेगा? इसलिए इस दार्शनिक सत्य को साधकों को जीवन में मूल आधार के रूप में स्वीकार करना ही चाहिये। एक शरीर अपना मानो, तो अन्य शरीरों को भी अपना मानो। औरों से विरक्ति हो गयी तो इससे भी विरक्त हो जाओ। एक को बचाकर के बाकी सब पराये हैं, तो काम नहीं बनेगा और इतना सोचते-समझते नहीं बनता है तो कोई बात नहीं, सीधी-सीधी बात मानलो। जगत् पिता की संतान सभी हैं, मैं भी हूँ, उनके नाते सभी अपने हैं। तो जो साधक, परमात्मा के नाते सबको अपना मानने लगता है उसमें एक बड़ी विशेषता आ जाती है! इस भावना से हृदय ऐसा शुऋ हो जायेगा, कि जिस किसी पर दृष्टि पड़ेगी तो सोचोगे कि यह किसका है, जिसका प्रेमी होकर मैं रहना चाहता हूँ। यह तो उसका है, जिसके प्रेम की मैं भिक्षा मांगता हूँ। यह तो उसका है, जो सबका रक्षक है। यह तो उसका है, जो मेरे भीतर-बाहर विद्यमान है। यह तो उसका है, जो उसमें भी विद्यमान है। तो परमात्मा का प्रेम हम लोगों को सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य करने वाला है।

उस प्रेमी परमात्मा के नाते से सभी भाई-बहिनों को अपना मानोगे तो जीवन में प्रीति बढ़ेगी? शरीर की आसक्ति के नाते जब सम्बन्ध बाँधते हो, मोह के नाते मानते हो, तो आसक्ति बढ़ती है, नीरसता बढ़ती है, विकार बढ़ते हैं और परम पवित्र प्रेम के अथाह सागर परमात्मा को अपना मानो और उनके नाते सबको अपना मानो तो हृदय में बहुत ही पवित्रता आती है और प्रेम बढ़ता है। आदर बढ़ता है। चित्त भी हर्षित होता है।

मेरे जीवन में बहुत ही नीरसता थी। मेरे दुःख से द्रवित होकर, करुणित होकर महाराज जी ने एक मन्त्र पढ़ाया। कहा कि देवकीजी! परमात्मा के लिए प्रेम की वृद्धि कराने का एक बड़ा अच्छा उपाय यह है कि संसार के सभी प्राणी उसके प्यारे हैं, तो प्यारे की प्यारी-प्यारी सृष्टि की सेवा करो। किस उद्देश्य से? कि सृष्टि की सेवा करोगी, प्राणियों को आराम पहुँचाओगी तो प्राणियों के जो पिता हैं, वे प्रसन्न होंगे। उनकी प्रसन्नता का एक बड़ा भारी प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है।

वे जब प्रसन्न होने लगते हैं तो उनके आनन्दस्वरूप में आनन्द की वृद्धि होने लगती है उस अनन्त स्वरूप परमात्मा में आनन्द की वृद्धि होने का अर्थ है कि बिना आँख, कान बन्द किये, बिना उनके दर्शन किए आपके भीतर अहं में ही आनन्द की लहर उमड़ने लगेगी और मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ-सब पर वह लहर फैलेगी। फिर क्या होगा? कि आप जिसके पास बैठेंगे उसको भी आनन्द की लहर का अनुभव होगा।

आप जिसको छू देंगे उसमें भी बिजली की तरह आनन्द की लहर दौड़ जायेगी। ऐसा होता है। आज यह भी सत्य है। पहले भी यह सत्य था। आगे भी यह सत्य रहेगा। मैंने अनुभवीजनों के पास बैठकर इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया है और उनके मुख से सुना है। तो मुझे उन्होंने मंत्र क्या पढ़ाया? कहा कि देखो, तुम प्रेम की आराधना करो। प्रेम स्वरूप परमात्मा को रस देना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है। तो क्या-क्या करो? कि बोलो तो प्रीतभरी वाणी से बोलो और आँखें खोलो तो

प्रीत भरी दृष्टि से देखो, ध्वनि सुनो तो प्रीतभरे कानों से सुनो और वस्तुओं का, व्यक्तियों का, जिस किसी से भी सम्पर्क हो, स्पर्श करो तो प्रेम भाव से स्पर्श करो। मैंने इसका अनुभव करके देखा है। मुझे तो अब यह एक वैज्ञानिक तथ्य प्रतीत होता है।

मैं पहले क्या करती थी? कि अगर लिख रही थी तो अब लिखना खत्म हो तो उठाकर किताब को यों डाल दिया जमीन पर, यों जाकर कॉपी गिरे। ऐसे उठा-उठा करके डालती जाऊँ अटैची में, तो जब आवाज हो जाये तो महाराज जी के कलेजे में धक्का लग जाये। कहें कि आह! पटक दिया तुमने! ऐसे उठाकर पटक देती हो, चीज को। मेरी समझ में नहीं आए कि क्या बात है। बहुत दिनों के बाद ध्यान में आया कि हर वस्तु प्यारे प्रभु की है। हर वस्तु उनकी है, हर व्यक्ति उनका है, सारी सृष्टि उनकी है। वे प्यारे कितने प्यार से सबका ध्यान रखते हैं और उनका प्रेम तुम पाना चाहती हो और उनकी वस्तु के साथ ऐसा कठोर व्यवहार करती हो।

एक दूसरे संत प्रेमस्वरूप हैं। निरन्तर प्रेम रस में सराबोर रहते हैं। नाम लिये बिना मैंने आप भाई-बहिनों को खूब सुनाया है। अनेकों घटनाँ उनके जीवन की हैं। मैंने बताया कि स्वामीजी महाराज ने मुझको ऐसे-ऐसे सिखाया कि प्रीतभरी दृष्टि से जगत् को देखो और देखने का अवसर न हो तो क्यों देखते हो? आँखे बन्द कर लो। भीतर में वह अपना प्यारा है। उसके प्रेम की प्रतीक्षा में बैठ जाओ। दुनिया को देखते ही काहे को हो? प्रीतभरी दृष्टि से देखो, प्रीतभरे कानों से सुनो, प्रीतभरी वाणी से बोलो-तो तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति का पुट लग जाये।

वे सन्त कहने लगे कि जब मैं छोटा था तो एक बार किसी बात से बिगड़ गया। दौड़ कर मैं कमरे में घुस गया और खूब जोर से दरवाजा बन्द कर दिया, बड़ी जोर से आवाज आई। तो उनके पिता, वह तो कोई संत नहीं थे लेकिन सद्गृहस्थ थे, सज्जन पुरुष रहे होंगे, अथवा पिता को प्रेरित करके भगवान ने ही उनको संवाद दिया होगा। बाद में जब कमरे से निकले तो पिता ने खूब प्यार किया उनको और कहने लगे, "हृदय में इतनी कठोरता रखते हो, इतने झटके से दरवाजा बन्द किया जाता है? क्या दरवाजे को इतना आघात लगाया जाता है? उन्होंने कहा कि मेरे ध्यान में आ गयी बात। तो स्वामीजी ठीक कह रहे हैं। बहुत छोटी-छोटी बातें हैं जिन पर हमारा ध्यान नहीं जाता। इतना दुःख होता है मुझे। अपने मिथ्या अभिमान को पालने के लिए कितने कटु वचनों का प्रहार आदमी कर डालता है। मैं तो बहुत बड़ी हिंसा मानती हूँ इसको।

किसी बात से, किसी व्यवहार से अपने भीतर किसी से नाराजगी हो गई। तो जिस हृदय में प्रेम की लहर आनी चाहिये थी उस हृदय में क्रोध-क्षोभ का आगार भर के बैठे हैं। अरे भाई! जिस पर तुम क्रोध कर रहे हो, उसको तो घाटा कम लग रहा है। तुम उस प्रेमास्पद के प्रेम की मधुर लहरियों से वंचित होकर बैठे हो तो घाटा तो तुमको लग रहा है कि दूसरों को?

मैं आप भाई-बहिनों को, जो समाज में रहते हैं, परिवार में रहते हैं उनको यह सुझाव दे रही हूँ, स्वामीजी महाराज ने मुझको यह समझाया था कि जो किसी के साथ भी कठोरता का व्यवहार करेगा उसके हृदय में प्रभु की लहर आयेगी ही नहीं। इसका मतलब यह नहीं है कि भगवान नाराज हो गये हैं कि उन्होंने अपने प्रेम का दरवाजा बन्द कर दिया है। ऐसा नहीं है। उधर से कुछ बन्द नहीं होता है। लेकिन आपके कठोर व्यवहार से, कठोर वचन से, राग-द्वेष के विकास

से आपका ही दरवाजा बन्द हो गया है। कठोरता ही छा गयी है कि उधर से अमृत बरस रहा है और आप पर कोई प्रभाव नहीं डाल रहा है। इसलिए आप सावधान रहियेगा।

अगर ईश्वरीय प्रेम की अभिलाषा है आप भाई-बहिनों को, तो प्रीतभरी दृष्टि से देखना आरम्भ करो। मीठी वाणी बोलना आरम्भ करो। महाराजजी ने बहुत बढ़िया बात बताई, देवकी जी, जब तुम प्रीतभरी दृष्टि से दृश्य जगत् को देखने लगोगी, जब तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति का पुट आ जायेगा, तब उस प्रेम-रस का पान करने के लिये परम प्रेमास्पद प्रभु ही व्याकुल हो जायेंगे और अपने जगत् रूप को छिपाकर प्रेमास्पद रूप में प्रकट हो जायेंगे।

कितनी बढ़िया बात है। क्यों? क्योंकि मानव-हृदय का प्रेम उनको बहुत पसन्द है। अपने प्रेम के विस्तार के लिए उन्होंने भाव पक्ष और विश्वास पक्ष देकर हम लोगों को बनाया। जब उसका सदुपयोग आरम्भ करोगे जब तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति का पुट आ जायेगा तो उस प्रेम-रस को पान करने के लिए वो ही परमात्मा जो आज जगत् के रूप में दिख रहा है, इस विविध रूप को छिपाकर प्रेमास्पद के रूप में प्रकट होकर के तुम्हारे प्रेम का आदर करेगा, उसको ग्रहण करेगा। उससे आनन्द लेगा और आनन्द देगा। ऐसा अपने प्रेमी संतजनों के जीवन में सुना होगा।

सब प्यारे के हैं। यह तो चतपउंतल ;प्रारम्भिकक्र पाठशाला का पाठ है। फिर आगे चलोगे तो तुमको वे आँखें मिलेगी कि सबमें प्रभु हैं, ऐसा दिखाई देने लग जायेगा। आरम्भ करो इससे कि सब प्यारे के हैं आगे चल कर के क्या होगा? सबमें प्यारे हैं-यह दिखाई देने लग जायेगा फिर और भी प्रीति बढ़ेगी। तब क्या होगा? सब छिप जायेगा और वही एक अकेला रह जाएगा। तो महाराज कहते हैं कि बड़ा आनन्द हैं। मैं हूँ और तुम हो, दोनों खूब आनन्द लेते हैं, देते हैं, आनन्द विहार करते हैं और तीसरे की कोई बात नहीं है। प्रेमास्पद है और प्रेम है! प्रेमास्पद और प्रेम है!! बस हो गया। उसी का सब स्वरूप। उसी की विभूति! वही रह गया और बाकी सब कुछ गलकर प्रेम की धातु में समा गया। अब शान्त हो जाओ।

प्रवचन 56

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

संतवाणी में मैंने एक बहुत अच्छा वाक्य सुना था। एक बार स्वामीजी को कुछ तकलीफ थी, दर्द हो रहा था। हम लोग सब आस-पास बैठे थे। हमने कहा, महाराज जी बड़ा दर्द हो रहा है आपके। तो हँस के कहते हैं कि अरे भाई! दर्द के बिना भी कोई जीवन है क्या? दर्द के बिना कोई जीवन नहीं है। अरे भाई, प्रेमियों का जीवन कैसा होता है? जो स्वभाव से कोमल हृदय के होते हैं, प्रेमीजन होते हैं, उनका जीवन दर्द से खाली नहीं होता। या तो पीड़ितजनों की पीड़ा देखकर परपीड़ा से करुणित होते रहते हैं या प्रेमास्पद से मिलने के लिए व्याकुल रहते हैं तो विरह की वेदना हो या परपीड़ा की व्यथा हो, व्यथा ही तो जीवन है।

दर्द के बिना कोई जीवन है क्या? बड़ा मजा आ गया सुनकर हम लोगों को। उनको शारीरिक कष्ट तो था ही लेकिन उसको कभी प्रधानता देते ही नहीं थे। तो हम सुन करके बहुत आनन्दित हो गये कि यह तो बहुत बढ़िया बात है।

प्रायः हम देखते हैं कि शरीरों के साथ सन्तजन, भक्तजन, उच्चकोटि के महापुरुष संसार

में जब विचरण करते हैं तो उनका कोमल चित्त, उनका प्रेम भरा हृदय जगत् के दुःखियों के दुःख से द्रवित होता रहता है। सुख देखकर आनन्दित होते हैं और दुःखीजन का दुःख देखकर वे द्रवित होते हैं। तो दुःखियों का दुःख अगर हृदय में भर जाये, पीड़ितजनों का दुःख हम लोगों को अपनी पीड़ा मालूम होने लगे तो यह बहुत बड़ी साधना हो जाती है। जो हृदय से, परपीड़ा से पीड़ित होता है उसमें अपने व्यक्तिगत सुख भोग की वासना शेष नहीं रहती।

अब आप देखिये, कितने-कितने दिनों तक इन्द्रिय-दमन का अभ्यास करने के बाद भी यह शंका बनी रहती है कि कहीं दबी हुई कोई वासना उदित न हो जाये और साधना से हटा न दे। तो व्यक्ति को हमेशा के लिए बहुत जोरदार पहरा रखना पड़ता है।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन में हमने मनुष्य के मस्तिष्क में यह एक विशेष क्रिया देखी कि उसके भीतर की दबी हुई अचेतन स्तर की बातों को चेतन स्तर पर आने से पहले एक बमदेवतीपच की छानबीन करने वाली शक्ति का मुकाबला करना पड़ता है। यह शक्ति अपने आप यह देखती रहती है कि कौन-कौन सी भीतर की दबी हुई बात को उभर कर चेतना में आना चाहिये और कौनसी बात को कभी नहीं आना चाहिये। इस प्रकार से एक शक्ति मस्तिष्क में काम करती रहती है। बहुत सी अनुचित बातें जो कि चेतना में आ जायें तो मनुष्य उनको सह नहीं सकता-ऐसी अनुचित बातों को वह शक्ति भीतर ही भीतर दबा कर रखती है, बाहर आने नहीं देती है। इस अभ्यास के बल पर जब हम अपनी भोग-वासनाओं को उनके वेग को दबाने की कोशिश करते हैं तो वे दब जाते हैं और साधक को उनसे आगे निकलने का मौका मिल जाता है परन्तु यह स्थिति खतरे से खाली नहीं है। किसी भी समय उस शक्ति में थोड़ा-सा ढीलापन आ जावे तो दबी हुई अंवाछनीय बातें प्रकट हो सती है। ब्मदेवतीपच थोड़ा शिथिल हो सकता है। उसकी क्रिया में कुछ बाधा पड़ सकती है। परन्तु भौतिक जगत् का रहने वाला व्यक्ति, शरीरों के साथ संसार में विचरण करता हुआ साधक हो करके यदि परपीड़ा के वरदान को अंगीकार करे तो उसको बड़ा लाभ होगा।

आज समाज में, परिवार में, देश में कितने दुःख हम लोग देख रहे हैं, सुन रहे हैं। देश के किसी हिस्से में कुछ हो रहा है, किसी हिस्से में कुछ हो रहा है। कहीं धर्म के नाम पर, कहीं राष्ट्र के नाम पर, कहीं वाद के नाम पर कितना अनर्थ हो रहा है। कितने भाई-बहन हमारे दुःखी हैं। उनके लिए कुछ कर सकते हैं तो अवश्य करें। लेकिन यदि कुछ न कर पायें तो भी दुखियों का दुःख अपने दुःख के समान अपने हृदय में धारण करने की बात मनुष्यता के नाते स्वीकार कर लें तो भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है। इस तरह से दर्द को अपने जीवन में रखना बड़ा लाभकारी है।

आप देखिये दोनों ही तरह से काम बन गया। अगर समाज की पीड़ा से आप पीड़ित हो गये तो आप समाज को मदद दिये बिना रह नहीं सकेंगे तो सुखी-दुःखी की एकता हो जायेगी। आज की दशा कैसी हो गयी है? मनुष्य ने मनुष्यता के लक्षण खो दिए हैं, क्या हुआ कि सुखी वर्ग सुख भोगने में लग गया। तो प्रकृति में एक प्रतिक्रिया पैदा हो गई। जो अपने को दुःखी वर्ग कहता है वह सुखियों से दूर होने लग गया। तो मालूम होता है कि मनुष्यता कहीं रही ही नहीं, ऐसी दशा हो गयी और किसी न किसी रूप में हमारी इस स्वार्थ बुद्धि ने अनेको प्रकार की विषमताओं और संघर्ष को पैदा कर दिया है। कोई बाहर के संघर्ष से परेशान

है, भयभीत है तो कोई भीतर के संघर्ष से परेशान है, भयभीत है। इस तरह भय और चिन्ता के दुःख और हिंसा का चारों ओर साम्राज्य छा गया है। मानव-समाज आज के युग में क्षत-विक्षत हो रहा है। केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं, दूसरे देशों में भी बड़ी दयनीय दशा हो गयी है तो ऐसी दशा में क्या करें हम?

मेरे दिल में देश के लिए दर्द है। धर्म के नाम पर, मजहब के नाम पर सबल व्यक्ति अपने बल का दुरुपयोग करके दुर्बलों को सता रहा है, तो यह पीड़ा मुझे सताती है। मेरे से जो हो सकता है सो मैं कर रही हूँ। साधु-सन्त भी कर रहे हैं। समाज सुधारक भी कर रहें हैं। जिससे जो बन पड़ता है, कर रहा है। चारों ओर दुःख हाहाकार देखकर दिल में दर्द तो है। यह दर्द बहुत ही कल्याणकारी हो जाये अगर इस दर्द को हम सब लोग ठीक प्रकार से देखें और उसके प्रभाव को अपने जीवन पर होने दें। यदि दुःखी जनों की पीड़ा हमारे भीतर प्रवेश कर जाये, तो हमसे सुख भोगा नहीं जायेगा। मुझे याद है जवाहर लाल जी जब पहली बार जेल गये थे तब मोतीलाल नेहरू इलाहाबाद में, आनन्द भवन में थे। सुख से भरा वह भवन था। उन्होंने सुना कि मेरा प्राणों से प्यारा पुत्र, आँखों का तारा जवार जेल में जमीन पर, कंकड़ पर सुलाया गया है तो मोतीलाल से आनन्द भवन में सुख दायक सेज पर सोया नहीं गया। कहने लगे कि हमारे सोने के कमरे में कंकड़ बिछाओ। मैं उस पर लेट कर देखूँगा कि मेरा प्यारा पुत्र जेल में किस प्रकार से सो रहा है। यह कल्पना नहीं है। सतयुग, त्रेता, द्वापर की कथा नहीं है। यह इस युग की घटना है और गृहस्थ और सुख वैभव में जिन्दगी बिताने वाले बाप की कथा है।

जो बेटे का दर्द समा गया दिल में, तो आनन्द भवन में सुख सेज पर सोया नहीं गया। तो सुख की वासना गई कि नहीं गई? इन्द्रियों का दमन करना पड़ा कि अपने आप छूट गया सुख। तो इस प्रकार की साधना, जिससे हृदय में से सुख की वासना निकल जाये घर-गृहस्थी वालों के लिए सुलभ है। घरों में, आस-पास में पड़ोसियों में दुःख देखने को मिलता है और अगर उधर से आँख न बन्द करो, हृदय को कठोर न करो तो सुख भोगा नहीं जायेगा। तो इस संसार में जो सचमुच जिन्दादिल व्यक्ति हैं उनका जीवन दर्द से खाली नहीं होता है।

बड़ा शुभ है वह। बड़ा कल्याणकारी है। बड़ा आनन्ददायक है। अनेको गृहस्थों की कहानियाँ मैं आप लोगों को सुना चुकी हूँ कि जिन्होंने माने हुए सम्बन्ध के दुःख से द्रवित होकर, सुख भोगना छोड़ दिया तो वे बड़े शान्त हो गये, त्यागी हो गये, सन्त हो गये, मुक्त हो गये। तो हम लोगों ने जीवन में सुख के प्रलोभन में पड़कर मनुष्यता के सामान्य लक्षणों से भी अपने को वंचित कर लिया है। उसको भी भीतर दबा लिया है, इसलिए स्वभाव से विकास नहीं हो रहा है। एक हिस्सा तो यह हो गया।

उसके बाद महाराज जी कहते हैं कि भाई! चाहे परपीड़ा से पीड़ित होकर द्रवित होते रहो और चाहे विरह की व्यथा में डूबते रहो, प्रेमी जनों को विरह की व्यथा में मिलन का आनन्द और मिलन के आनन्द में विरह की व्यथा अनुभव होती है। महाराजजी कभी-कभी यह वाक्य सुना देते थे "मिले रहे पर कबहूँ मिले ना।"

वह मिलन भी ऐसा है कि मिलने के बाद, हम दो मिल रहे हैं इस प्रकार का आभास ही नहीं होता। असीम से सीमित का मिलन, अनन्त से सान्त का मिलन, प्रेमास्पद से प्रेमी का मिलन। ऐसा अनोखा है, ऐसा अनोखा है कि महाराज जी कहते हैं कि देखो भाई, प्रेम की जो विद्या है न,

उसका गणित बड़ा विचित्र है, उसमें एक और एक मिल कर दो नहीं होते हैं, एक और एक मिल कर एक ही होता है तो इतनी एकता वहाँ होती है- स्वरूप की एकता, जातीय एकता, आत्मीय एकता। मैंने अपने को समझाने के लिए यह ढंग अपनाया कि जैसे चुम्बक के पास अगर लोहे की कोई चीज ले आओ, छोटी से छोटी एक सुई भी ले आओ तो वह अपनी आकर्षण शक्ति से खींच कर उसको अपने में चिपका लेता है, ऐसे ही मनुष्य की तरफ से प्रभु के प्रति होने वाले आकर्षण की अपेक्षा, प्रभु की ओर से होने वाला आकर्षण असंख्य गुणा अधिक प्रबल होता है। मुझको प्रभु की कृपालुता से, प्रभु के प्रेम के प्रभाव से उनके आकर्षण का अनुभव हुआ है। मुझे तो वह प्रत्यक्ष लगता है कि मुझमें, एक-एक इकाई में और उस पूर्ण में शक्ति का बड़ा अन्तर है। वह तो शक्ति का अथाह सागर है, वह तो प्रेम का अथाह सागर है, वह तो अनन्त माधुर्यवान है। उसने अपने में से, अपने एक अंश से मुझको बनाया और मैंने अपनी भूल से उसके दिए हुए अनमोल तत्त्वों को संसार की आसक्ति से दूषित कर दिया, गन्दा कर दिया, धूमिल कर दिया। फिर भी, चूँकि अलौकिक ने अलौकिक तत्त्व से मुझको रचा, इसलिए मेरे भीतर से प्रेम का भाव जो है, वह मिटा नहीं शून्य नहीं हुआ। तो गंदा-सा आसक्ति में लिपटा हुआ, कामनाओं से दूषित, विकृत हुआ अहं लेकर हम उसके सामने आते हैं, तो संत ने साहस दिया कि डरो मत। अनुभवीजनां ने आश्वासन दिया कि चाहे तुमने अपनी जो भी दुर्गति कर ली हो, वे परम उदार सदा ही अपनी उदारता से तुमको क्षमा करने के लिए, अपनी मधुरता से शीतल करने के लिए तैयार हैं। बड़ा आश्वासन दिया गया मुझको, तो मैंने ऐसा पाया कि मनुष्य अपनी ओर से अनेक त्रुटियों से भरा हुआ होने पर भी जब अनन्त परमात्मा, प्रेम स्वरूप परमात्मा की ओर उन्मुख होता है तो उनके भीतर इतना घना आकर्षण है, इतना जोरदार उनकी ओर से खिंचाव है कि व्यक्ति फिर अपने सीमित अहंभाव को सुरक्षित नहीं रख पाता है।

वे व्यक्ति को खींचकर अपनी ओर ले लेते हैं। और इस रस के अभाव में नाशवान संसार में भटकने वाले को जब इसका मधुर आस्वादन मिलने लग जाता है, उस प्रेम रस के प्रवाह में वह डूबने लगता है तो धीरे-धीरे करके उसका सीमित अहंभाव "मैं प्रेमी हूँ"-ऐसा भासित होने वाला अहंभाव, "मैं भगवान का भक्त हूँ"- ऐसा दिखाई देनेवाला अहंभाव जो है, उसकी सीमा टूट जाती है और प्रेमस्वरूप की विभूति में वह जाकर शामिल हो जाता है। फिर तो वह अपने को अलग अनुभव करता ही नहीं है। मिले हुए होने पर भी- मुझसे मिलन हो गया- ऐसा पता नहीं चलता और बिछुड़े हुए होने पर भी उनकी याद में, उस विरह की वेदना में वे स्वयं अपने आप ही रस रूप इतने घुले मिले होते हैं कि उनके विरह की वेदना भी उतनी ही रसमयी होती है कि जितना उनके मिलन का आनन्द। हम कब मिले और कब बिछुड़े-यह भक्तों को पता ही नहीं चलता। मिले हुए में भी मिलने जैसी सीमा नहीं है और बिछुड़े हुए में भी बिछुड़े हुए जैसी वियोग की दशा नहीं है। नीरसता नहीं है। बड़ा आनन्द का जीवन होता है वह।

महाराज जी कहते हैं कि भाई, दो ही दशायें तो सार्थक हो सकती हैं अगर जगत् पर दृष्टि पड़े तो उनके जगत् रूप को देखो। जहाँ-जहाँ पीड़ा दिखाई पड़े, उसको अपने लिए ग्रहण करो, पीड़ित के साथ तुम शामिल हो जाओ। उसकी पीड़ा के साथ अपने हृदय को मिलाकर उसकी सेवा करो, तो तुम्हारा जीवन सार्थक हो

गया। किस प्रकार से सार्थक हो गया कि सबल और निर्बल की एकता हो गई तो समाज का संघर्ष मिट गया।

हर सामर्थ्वान साधक में अल्प सामर्थ् है तो क्या? और विशेष सामर्थ् है तो क्या? सामर्थ् का करोगे क्या भाई? मृत्यु के पार कोई सामर्थ् तुम्हारी जा नहीं सकती है तुम्हारे साथ। सुख भोगने में लगाओगे तो दुःख भोगने से बच पाओगे? नहीं। मृत्यु के पार तो वह जायेगी नहीं और सुख भोग में उसका कोई उपयोग नहीं। तो सेवा के अतिरिक्त सामर्थ् का और क्या उपयोग हो सकता है? कुछ नहीं। तो थोड़ी सी सामर्थ् हो या बहुत सी हो, जगत् की ओर प्रीतिभरी दृष्टि फैलाइये।

अपनेपन की दृष्टि से जगत् को देखिये और जहाँ-जहाँ दुःख दिखाई देता हो, प्राप्त सामर्थ् को बाँटते जाइये, तो पीड़ितजनों की पीड़ा आपके हृदय में समा जायेगी और सुख-भोग की वासना सदा के लिये मिट जायेगी। इस प्रकार का साधन करने के लिए गृहस्थजनों, सामाजिकजनों को किसी विशेष परिस्थिति की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। कोई माँ-बहन, कोई भाई ऐसा कह सकते हैं कि क्या करें, संसार का इतना जंजाल है कि आसन-मुद्रा साधने के लिए, इन्द्रिय दमन का अभ्यास करने के लिए समय नहीं है। कोई नहीं कह सकता।

ऐसी साधना करो कि गृहस्थी में रहना तुम्हारे लिए तपस्या का अवसर बन जाये। यह बड़ी भारी भूल है कि हम लोग साधन के लिए खास समय खोजते रहते हैं कि भाई, अनुकूल समय मिले, अनुकूल परिस्थिति आवे और परिवार का जंजाल सिर पर से उतरे तो साधन शुरू करें। नहीं भाई, जिसने परिवार बनाकर, समाज बनाकर तुम्हारे सामने खड़ा किया है, उसने तुम्हारे कल्याण के लिए खड़ा किया है। तो जहाँ-जहाँ दुःख दिखाई देता है, अपना सुख देकर अधिक से अधिक दुःख खरीदो तो हृदय की शुक्रता हो जाये। परपीड़ा से भरा रहे हृदय, कभी छुट्टी ही न मिले कि उसमें सुख की वासना उदित हो, तब चित्त शुक्र हो जायेगा।

अब दूसरी बात रही। जब परिवार की, समाज की सेवा का अवसर आवे, क्रियाशीलता का समय आवे तो वह क्रिया, वह सेवा इतनी प्रियता और पवित्रता के साथ की जाये कि जैसे ही उसकी ओर से छूटो तो शरीर और संसार की ओर से छूट जाओ और अपने ही अन्तर में अपने प्यारे की याद बड़े जोर से जग जाये। और याद जगी, स्मृति जगी तो या तो प्रभु के मिलने के आनन्द में आप खो जायेंगे या उनके विरह की व्यथा में खो जायेंगे।

अभी हम लोग अध्यात्म की पाठशाला में किस कक्षा के विद्यार्थी हैं? अभी हम लोगों का यह प्रयास चल रहा है कि भूतकाल में की हुई भूलों से हृदय में जड़ता, कठोरता, नीरसता और अनेक प्रकार के जो विकार भर गये थे, उन विकारों को मिटाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। मोह में फँसे थे तो मोह-त्याग की तैयारी कर रहे हैं। सुख का प्रभाव मन पर अंकित हो गया था तो उस प्रभाव से मुक्त होने का उपाय कर रहे हैं परम प्रेमास्पद प्रभु की विस्मृति हो गई थी तो सन्तजनों के वचनों को सुनकर, गुरु की सलाह मानकर, गीता, रामायण, पुराण, कुरान के उपदेश मानकर अब हम भूले हुए प्रभु को याद रखने की चेष्टा में लगे हुए हैं अभी हम लोगों की यह दशा चल रही है कि भूतकाल की भूलों से जो भीतर में अशुद्धियाँ और दुर्बलताएँ पैदा हो गयी हैं, उन अशुद्धियों को मिटाने की चेष्टा में हम लगे हुए हैं।

कोई समाज के एक अंग की सेवा कर रहा है तो कोई संत-महात्मा की सेवा में लगा हुआ

है, कोई प्रभु की याद में लगा हुआ तो कोई कमाई हुई सम्पत्ति को बाँटने में लगा हुआ है, कोई कुछ, कोई कुछ। तरह-तरह के उपायों से हम सब भाई-बहन अहं की शुद्धि के प्रयास में लगे हुए हैं। अभी यह चमतपवक हम लोगों का चल रहा है। अब इसमें जितनी ही तत्परता से आगे बढ़ेंगे, उतनी ही जल्दी मन की, चित्त की शुद्धि हो जायेगी। उसमें एक खास बात है कि दुःखीजनों का दुःख, दूसरों की पीड़ा मेरी अपनी पीड़ा है। किसी दुःखी को देखकर उसकी जगह पर अपने को खड़ा करके देख लो कि जैसे दुःख में यह है ऐसे में अगर मैं होता तो कैसा लगता है? यह दूसरों के दुःख को अपने हृदय में धारण करने का एक तरीका है। अपने को उसकी जगह रखकर अपने से पूछो कि यह बहन जैसे दुःख में पड़ी है, उसकी जगह मैं होती तो मुझको कैसा लगता है? तो एकदम दर्पण के समान आपके भीतर उसका चित्र अंकित हो जायेगा, चित्रित हो जायेगा, दिख जायेगा।

लेकिन एक बड़ा भारी अन्तर है कि जो मोह के प्रवाह से दुःखी होता है उसके भीतर दुर्बलता आती है। वह दमतअवने होता है, घबड़ाता है और जो भगवत् नाते परपीड़ा को अपने में धारण करता है, उस व्यक्ति में दुर्बलता नहीं आती, उसमें नीरसता नहीं आती, उसमें घबराहट या बेचैनी नहीं होती अपितु दुःखी की मदद करने की सामर्थ् आती है।

सेवा कार्य के लिए प्रकृति भी देती है, परमात्मा भी देते हैं और समाज भी देता है। एक व्यक्ति जरा-सा यह भाव प्रकट करें कि हम समाज की सेवा के लिए व्याकुल हैं, कि हमको दुःखी वर्ग की सेवा करनी है तो आप देखिये, आज भी कलिकाल के प्रभाव से हम लोग व्याकुल है, ऐसे समय में भी सामर्थ्वान अपनी सामर्थ् को सेवक के आगे न्यौछावर करने में देर नहीं लगाते हैं।

अगर कोई सहाज की सेवा करने के लिये तैयार हो गया तो चारों ओर से सहयोग भी मिलेगा। पर पीड़ा को अपने हृदय में पालिये और जो सामर्थ् मिले उससे सेवा करिये। यह हो गया दृश्य जगत् के साथ साधन रूप व्यवहार और इसके बाद तो आप ही यह पायेंगे कि अब हमारे भीतर जो नित्य विद्यमान तत्त्व है, जो रस स्वरूप ही है, आनन्द स्वरूप ही है, शान्ति स्वरूप है उससे अभिन्न होने की सामर्थ् आप में आ गयी।

जिस दिन से सुख-भोग की दृष्टि आपने बदल डाली उसी दिन से अशुद्धि का नाश आरम्भ हो गया, जिस क्षण से दुःखियों की पीड़ा को अपने हृदय में धारण कर लिया उसी क्षण से सुख-भोग की वासनाओं की जड़ कट गयी और जिस दिन से सारे जगत् को प्यारे प्रभु का मानकर प्रभु की प्रसन्नता के लिये सेवा-कार्य किया उसी दिन से कार्यकाल में और कार्य के बाद प्यारे प्रभु की याद निरन्तर बनी रहने लगी है और जब साधक सेवा-कार्य से अलग हो अकेले जाकर कहीं बैठ जाता है तो उसके भीतर अलौकिक परमात्मा की विभूतियों का प्राकट्य अपने आप होता रहता है, जो उसको भरता रहता है। तब नीरसता मिटती जाती है, सूनापन मिटता जाता है, आनन्द बढ़ता जाता है और फिर तो रस की वृद्धि इस प्रकार से जादू करती है कि वह शुद्धातिशुक्र अहं का जो एक द्वैत का भास बना हुआ था कि मेरे परमात्मा हैं और मैं उनका आराधक हूँ, यह नित्य तत्त्व है और मैं उसका जिज्ञासु हूँ-इस प्रकार जो एक खास अलगाव-सा बना हुआ था वह कब और कैसे मिट जाता है, सो साधक को पता भी नही चलता।

इसमें बहुत तैयारी की बात नहीं होती है। बड़ी स्वाभाविक बात है। प्रेम तत्त्व ऐसा अलौकिक

तत्त्व है और ऐसा चमत्कार पूर्ण है कि परपीड़ा से पीड़ित हृदय शुऋ हुआ नहीं कि वह प्रेम रस से भर जाता है। प्रभु की याद भीतर जगी नहीं, कि स्मृति ही प्रीति का रूप धारण कर लेती है। उस मिलन का कभी अन्त नहीं होता और विरह में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती।

जैसे-जैसे विरह की वेदना तीव्र होती है रस की वृद्धि होती चली जाती है, इसलिए विरही को कोई घाटा नहीं लगता। स्वामीजी महाराज से मिलने एक भक्त आया करते थे। उनका गाया हुआ एक पद महाराज जी को बहुत पसन्द था। वह इस प्रकार था- "नींद मैं तोहे बेचूँगी।" भक्ति की बात हैं। क्योंकि नींद आ जाती है तो विरह की वेदना का पता नहीं चलता है। तो वह विरह भी इतना सरस है भाई। विरह क्या है? वह तो प्रेम के आदान-प्रदान का एक पथ ही है, एक लीला ही है, और महाराजजी इसकी बड़ी सुन्दर-सुन्दर व्याख्याएँ किया करते। कहते, कि देखो, प्रेम के रस को अनन्त रस कहा गया है, नित नव रस कहा गया है। हर समय इसमें वृद्धि होनी चाहिए। इसमें एकरूपता भी न आ जाय, इसलिए प्रेमास्पद विविध प्रकार की लीलायें रचते हैं। कभी मिलन का प्रसंग आ गया, तो कभी विरह का प्रसंग आ गया। हर समय उसमें एक नयापन आता रहता है। वह जीवन ही क्या, जो दर्द से खाली हो जाय।

बात तो ऐसी है। अब सोच के देखो कि अपने लोगों की दशा क्या है? भागे-भागे फिर रहे हैं। सुख की आड़ में मुँह छिपाते फिर रहे हैं। किसी तरह से दुःख हमें छुये नहीं तो बच गये। अब ऐसे करो तो दुःख न मिले। अब यहाँ रहो तो दुःख से बच जाओ। परन्तु इस तरह मुँह छिपाने से, दुःख से हम लोग आज तक बच तो नहीं सके।

इसलिए अगर दुःख लेना ही है तो इस नाशवान जगत् में रहते हुए भी जो दुःख दिखाई देता है, उसको साधनरूप दे दो। साधनरूप देने का अर्थ क्या है? कि भाई, अपने सुख को बाँट दो। पीड़ितों की पीड़ा को अपने में ग्रहण करना बहुत बड़ी साधना है। इससे बड़ा कल्याण होता है। बड़ी जल्दी उत्थान होता है और विरह और मिलन की बात जो है वह तो संगम पर गंगा-जमुना की लहर के समान है। कभी गंगा की लहर जोर मारती है तो जमुनाजी में चली जाती है तो कभी जमुनाजी की लहर जोर मारती है तो गंगाजी में चली जाती है।

दोनों मिलकर एक रूप भी हैं और दोनों अलग-अलग भी दिखाई देती हैं। यही प्रेम के मिलन का नितनव रस कहलाता है। अनुभवीजनों ने उस अनुभव को अनिर्वचनीय कहकर वर्णित किया है। क्योंकि उसको प्रकट करने के लिये भाषा बनती ही नहीं है। ऐसा मैंने सुना, कि कृष्ण कन्हैया जब शाम को वन से आने वाले होते, तो अपना-अपना काम-धाम छोड़कर बच्चे, सयाने, बुड्ढे, स्त्री-पुरुष सब दरवाजे-दरवाजे खड़े हो जाते। कन्हैया आ रहे होंगे, आ रहे होंगे। श्रीकृष्ण में इतनी मधुरता और इतना आकर्षण है कि सारे जगत् की ओर से सबका चित्त अपनी ओर खींच लेते। तब कौन घर का काम करें? कोई तवे पर रोटी डाले हुए है, तो उसे योंही छोड़कर भाग जाती। कोई बच्चे को दूध पिला रही हैं, तो उसे वहीं बैठा कर भाग जाती। सब अपना-अपना काम छोड़कर दरवाजे पर लग जाते। वे आ रहे हैं। दूर से वंशी की ध्वनि सुनाई दे रही है। उसकी मधुरता भीतर प्रेरेम की लहरियाँ उठा रही है। तो जैसे वंशी की ध्वनि सुनते जा रहे हैं, वैसे-वैसे व्रजवासी कन्हैया की मधुर स्मृति में खोते जा रहे हैं। रस बढ़ता जा रहा है, अहं-भाव डूबता जा रहा है। प्रीति उमड़ती जा रही है।

तो अदृश्य रूप से अपने आप में ही विद्यमान उस प्रेमास्पद की मधुर स्मृति में सब खोते जा रहे, खोते जा रहे हैं। तो इन्द्रियों से सम्बन्ध उनका टूट गया, शरीरों से सम्बन्ध टूट गया। हम कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं इसका भास खत्म हो गया। इसी बीच में वह भुवन मोहन अपने रूप और माधुर्य का रस फैलाते हुए सामने से निकल गया।

आँखे खुली हैं पर अपने को पता नहीं है कि मैंने देखा। किसको पता है? आँखों से तादात्म्य हो तो लगे कि हमने देखा या हम देख रहे हैं। परन्तु रस की अधिकता में लौकिक तत्त्वों से सम्बन्ध ही टूट गया। आँखें खुली हैं, तो खुली हैं और वे अपनी मदभरी दृष्टि से प्रेमियों को मोहते हुए चले गये।

कुछ देर बाद जब होश आता है तो कह रहे हैं कि बड़ी देर हो गई, कन्हैया आया नहीं। कोई कहता है कि पागल हो क्या, आँखें खोल कर देख रहे थे। तुम्हारे सामने से तो गया था। तुम कैसे कहते हो कि आया नहीं। कोई प्रेमिका अधीर हो करके कहती है कि हे सखी। मै क्या बताऊँ? इन आँखों ने जब से उनको देखा, मुझे छोड़कर चली गयी। मेरे पास हैं ही नहीं तो मुझको पता कैसे चले कि मैंने देखा।

कोई कहती है कि हाँ याद तो आता है, लेकिन मैं क्या बताऊँ, सखी! उनके एक अंग पर दृष्टि पड़ी, तो उसी की रस माधुरी में खो गयी। आज तक मैंने कन्हैया के पूरे स्वरूप को देखा ही नहीं। मुझे पता ही नहीं चला कि वै कैसा है? क्या हो गया? द्वैत खत्म हो गया। एक मैं हूँ और एक मेरा प्यारा है, जब तक यह भास बना रहता है तभी तक भक्तों को, प्रेमियों को पता चलता है कि मेरे भगवान हैं और मैं भक्त हूँ। मेरे प्यारे हैं और मैं प्रेमी हूँ।

जब उस प्रेम की वृद्धि में सीमित अहं डूब जाता है तो उसको कुछ पता ही नहीं चलता है। सदा-सदा के लिये उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व, प्रेम की धातु में परिवर्तित होकर, प्रेमास्पद में जुटकर प्रेम के नित-नव आदान-प्रदान में, नित-नव लीलाओं में लीन हो जाता है। तब आनन्द रह जाता है। कौन किसको आनन्द देता है? कौन किससे आनन्द लेता है? यह भेद ही खत्म हो जाता है।

प्रवचन(57)

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

हम सब लोग सत्संगी हैं, साधक हैं, साधना के पथ पर आगे बढ़ना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में एक आवश्यक बात हम सभी भाई-बहनों को जान लेनी चाहिये, उससे मदद मिलेगी। वह यह है कि हर व्यक्ति की बनावट अलग-अलग प्रकार की है। कुछ बातों में हम सभी लोग एक समान हैं और कुछ बातों में सभी एक दूसरे से भिन्न हैं। जीवन की जो मौलिक माँग है, वह सबकी एक समान है। परम शान्ति सबको चाहिए, परम स्वाधीन जीवन सबको चाहिये, परम प्रेम का रस सबको चाहिये। इसमें कोई भेद नहीं है। सब कोई एक समान है। परन्तु रुचि सबकी अलग-अलग, योग्यता सबकी अलग, परिस्थितियाँ सबकी अलग, माता-पिता की दी हुई सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि सबकी अलग-अलग, सेवा, त्याग, प्रेम की ओर बढ़ने की तैयारी सबकी अलग-अलग है।

इसलिये सबके लिये किसी एक साधन प्रणाली का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अब होता क्या है? कि जब सत् की चर्चा सुनने आप बैठते हैंऋ अलग-अलग ढंग से अलग-अलग साधन प्रणालियों का विवेचन सुनते हैं, तो कभी तो विश्वास-पथ की ओर दृष्टि जाती है। कि यह तो बड़ा आसान है, सब कुछ उनके समर्पित कर दो और निश्ंिचत हो जाओ। लगता है कि यह बहुत

सहज है। यही करना चाहिये। फिर कहीं पर आप निजस्वरूप के

बोध की चर्चा सुनते हैं, तो लगता है कि यह तो बहुत बढ़िया बात है। बस, अपने को छोड़कर और कुछ सोचने, करने की बात है ही नहीं। कभी ज्ञान की प्रधानता, कभी श्रद्धा-विश्वास की प्रधानता, कभी कर्म की प्रधानता, कभी विशेष प्रकार की विधि-विधान-अनुष्ठान की प्रधानता। ये सब-तरह की बातें सुनने को मिलती हैं। और प्रारम्भिक स्थिति के साधक जो हैं वे डगमगाते रहते हैं।

मानव सेवा संघ ने यह परामर्श दिया कि सभी औषधियाँ किसी न किसी रोग को मिटाने के लिये आवश्यक होती हैं। परन्तु एक ही रोगी सभी औषधियों को लाभदायक मान करके सब औषधियों को खाना शुरू करदे तो जिन्दा नहीं रहेगा, मर जाएगा। आप सभी सत्संगी हैं, साधना के पथ पर आगे बढ़ना चाहते हें। आपकी सहायता के लिए मैं यह सत्य निवेदन कर रही हूँ कि किसी भी दूसरे भाई-बहन की साधना को देखकर अपने विश्वास में, अपने विचार में, अपने नियम इत्यादि में खिचड़ी मत पकाओ, क्योंकि हर व्यक्ति की बनावट अलग-अलग है।

आपके लिये कोई एक ही प्रणाली होगी, जो बिल्कुल स्वाभाविक बैठेगी और आपकी सम्पूर्ण जीवनी शक्ति उसके साथ सम्मिलित हो करके साध्य से अभिन्न करा देगी। साध्य से अभिन्नता में जिस शांति, स्वाधीनता और सरसता का अनुभव होता है, वह सभी साधकों के लिये समान होता है। जब असत् का प्रभाव जीवन पर से उतर जाता है, और सत्य अपनी संपूर्णता से साधक के व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होता है, तो किसी भी बात की कमी नहीं रहती है। सब पूर्ण हो जाता है।

इसीलिए भक्ति-पंथ के साधक, यह कभी न सोचे कि अगर आसन मुद्रा नहीं साधेंगे, योग का अभ्यास नहीं करेंगे तो योगियों को जो आनन्द मिलता होगा, उससे हम वंचित रह जायेंगे। ऐसी बात नहीं होगी। जो लोग योग-पंथ के साधक है, उनको ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि न जानें भक्ति-पंथ वालों को क्या मजा आता होगा। अगर हम अपनी ही साधना में लगे रहें, भक्ति के बारे में कुछ न करें तो उस आनन्द से वंचित रह जायेंगे, ज्ञान-पंथ के साधकों को, विचार-प्रधान व्यक्तियों को ऐसा नहीं सोचना चाहिये, कि हम विचार के आधार पर असत् के संग का त्याग करना, इन्द्रियों को विषय-विमुख करना मन को निर्विकल्प करना, बुद्धि को सम करना, समाधि की शांति से भी आगे बढ़ना-इसी दिशा में लगे रहेंगे तो क्या जाने भगवद् भक्तों को प्रेम में रस का जो आनन्द आता होगा, उससे हम वंचित रह जायेंगे। ऐसा नहीं होता है।

बहुत आवश्यक बात है, आप सोच करके देख लीजिये, कि व्याख्यान के द्वारा सत्संग की जो प्रथा है, वह कुछ अंशों में लाभदायक भी है, कुछ अंशों में हानिकारक भी है। पहले से आपने एक यथ पकड़ा है। कुछ कर रहे हैं और दूसरी जगत जाकर किसी दूसरी साधन प्रणाली की जोरदार बात आपने सुन ली, तो आपका मन विचलित हो गया कि हम जो कर रहे थे, उससे भी बढ़िया-बढ़िया बातें हैं, उनको भी करके देखो। तो बस हो गया मामला गड़बड़। चाहे योग का साधक हो, चाहे ज्ञान-पथ का साधक हो, चाहे भक्ति-पथ का साधक हो आप सभी भाई-बहिनों की सेवा में बहुत ही दृढ़ता और विश्वास के साथ मैं निवेदन कर रही हूँ कि जो जीवन किसी पथ के सिऋ महापुरुष को मिला होगा, वही आपको मिलेगा

और जब मिलेगा तो संपूर्णता में मिलेगा। किसी प्रकार की कमी नहीं रह जायेगी।

प्रेम-पथ के साधक जो होते हैं, वे ज्ञान से शून्य नहीं होते हैं। उनको भी ज्ञान का जो पूरा फल हो सकता है, वह सब मिल जाता है। जो विचार-पथ के साधक होते हैं, वे प्रेम से शून्य नहीं रहते हैं। विचार के आधार पर भी जब उनके जीवन में पूर्णता आती है तो प्रेम का रस उनको भर देता है। चूंकि शान्ति, अमरत्व और परम-प्रेम-ये सत्य की ही विभूतियाँ हैं, परमात्मा के स्वरूप में ही ये अविनाशी तत्त्व विद्यमान हैं, इसलिये किसी भी रास्ते से चल करके अगर आप उस सत्य से अभिन्न हो जाते हैं, तो पूर्णता में सब कुछ मिल जाता है सभी साधकों को। किसी प्रकार की कमी नहीं रहती हैं। इस आधार पर आप सभी भाई-बहिन आज से ही बिल्कुल निश्ंिचत हो जाइये कि जो भी साधन-पथ आपने पकड़ा है, आपके जीवन को पूर्ण बनाने में वह समर्थ है। एक बात हो गई।

अब दूसरी बात देखो! समाज में, सत्संगियों में एक प्रथा प्रचलित है। वह प्रथा क्या है? कि जैसे ही सूझा कि भाई, नाशवान संसार में कब तक फँसे रहोगे, चलो कुछ परलोक का इंतजाम किया जाये। तो जैसे ही ध्यान में आया, उसको ऐसा लगता है कि साधन करो। साधन करने के लिये किसी संत महात्मा के पास चलो, उनसे पूछें, जो बतादें, सो करो। समाज में जो देखा-सुना है, सो करो। घर में जो दूसरे लोग करते आ रहे हैं, सो करो। जिसके बारे में सुना है कि यह अच्छी बात है, वह करो। तो साधन करो, साधन करो-यह बात प्रारंभ हो जाती है।

स्वामीजी महाराज ने कहा कि साधन करने वाली चीज नहीं है। होने वाली है। यह एक नई बात आपको मालूम होगी, लेकिन बिल्कुल सही बात है। करने वाली बात क्या है भाई? करने वाली बातों के दो भाग हैं। परिश्रम और पराश्रय के आधार पर सेवा करो। स्वाश्रय और विश्राम के आधार पर सत्संग करो।

सत्संग किया जाता है, स्वाश्रय और विश्राम के आधार पर। उसमें बाह्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, सामग्री, संगी, साथी यदि बातों की आवश्यकता नहीं है। केवल अपने द्वारा करने की बात है। क्या करने की बात है? कि जानी हुई भूल का त्याग करना है। जीवन के सत्य को स्वीकार करना है। करने वाली बात जो है वह स्वाधीनतापूर्वक की जा सकती है।

एक तो है शरीर और सामग्री, संगी-साथियों के सहयोग से परिश्रम और पराश्रय का साथ लेकर करना। जगत् की सेवा में इसका सदुपयोग हो जायेगा। दूसरा है, विवेक के प्रकाश में 'स्व' के द्वारा, अपने द्वारा-मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियों, शरीरों के द्वारा नहीं- 'अपने' द्वारा निज विवेक के प्रकाश में असत् के संग को, असत् का संग जान करके त्याग करना-यह सत्संग कहलाता है। अपने द्वारा जीवन के सत्य को मानकर उसको स्वीकार करना, स्वधर्म का पालन करना, सत्संग कहलाता है। सत्संग ही करने वाली चीज है।

तो करने में दो भाग हो गये। एक करने का हुआ, कि जिसमें शरीर भी काम आ जाये, सामग्री भी काम आ जाए, पढ़ना, लिखना, बुद्धि, योग्यता, पद, डिग्री आदि सब काम आ जायें। करने का एक क्षेत्र हुआ-सेवा, और दूसरा हिस्सा है-सत्संग। उसमें शरीर, सामग्री, साथी, समय-ये सब कुछ नहीं चाहिये। 'स्व' के द्वारा निज विवेक के प्रकाश में देखो कि कौनसी बात मानने के लायक है-कौन सी बात मानने के लायक नहीं है। जो अनित्य सम्बन्ध दिखाई दिये, आँखों के सामने से खिसकते हुए, मिटते हुए दिखाई दिये, उन अनित्य सम्बन्धों का त्याग करना पड़ता है।

फिर आस्था, श्रद्धा, विश्वास के तत्त्व के आधार पर, सर्वउत्पत्ति के आधार की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। यह करने वाली बात हैं। 'नहीं' को 'नहीं' कह कर इन्कार कर देनाऋ 'है' को 'है' मानकर स्वीकार कर लेना-यह सत्संग कहलाता है। इसलिये करने वाली बात जो हैं, वह बिना परिश्रम, पराश्रय, पराधीनता के सम्भव है, जिसमें सभी भाई-बहन समर्थ हैं, स्वाधीन हैं। सभी भाई-बहन इसके अधिकारी हैं। क्यों? क्योंकि जिन बातों में हमारे व्यक्तित्व की भिन्नता है, उनका प्रवेश सत्संग में नहीं है।

कोई पैसे वाला है, कोई बिना पैसे वाला है; कोई पढ़ा-लिखा है, कोई बेपढ़ा लिखा है। किसी में इतनी सामर्थ् है कि उसने घूम कर चारों धाम के दर्शन कर लिये। कोई इतना असमर्थ है कि घर में से निकल कर गंगा तट तक भी नहीं जा सकता। मैंने कई जगह कुटियाओं में रहने वाले लोगों को देखा है। ऐसे-ऐसे असमर्थ शरीर लेकर किसी-किसी जगह कुटिया में लोग मुझे दिखाई देते हैं, जो यहाँ रहते हुए भी गंगा जी के तट तक नहीं पहुँच सकते हैं। तो किसी में शारीरिक बल है, किसी में धन का बल है, किसी में योग्यता का बल है, किसी में बुद्धि का बल है। कोई सामाजिक दृष्टि से बड़ा प्रतिष्ठित व्यक्ति है तो कोई ऐसा है कि जिसको कोई भी नहीं जानता है।

ये सारी बाहरी परिस्थितियाँ जो है, ये परिश्रम और पराश्रयजनित सर्वहितकारी कार्य में, सेवा में सहयोगी बन सकती हैं। लेकिन, जो 'स्व' के द्वारा 'नहीं' को 'नहीं' करके इन्कार करने, और 'है' को 'है' मानकर स्वीकार करने का पुरुषार्थ है, उसमें पराश्रय नहीं है, पराधीनता नहीं है। संगी, साथी, सामग्री, योग्यता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वधर्म है। वह अपने द्वारा संभव है।

एक उच्च वर्ण में जन्मा हुआ व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में स्वाधीन है और एक निम्न वर्ण में जन्मा हुआ व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में स्वाधीन है। इस सत्य की स्वीकृति के फलस्वरूप जब उनके व्यक्तित्व में ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है, प्रभु की महिमा प्रकट हो जाती है, शरीरों से वे ऊपर उठ जाते हैं, अलौकिक परमात्मा के अलौकिक प्रेम से उनका जीवन भर जाता है, तब दुनिया यह नहीं पूछती उनसे, कि तुम किस कुल में जन्में थे? पैसा था कि नहीं? रूप था कि नहीं? पढ़ना-लिखना किया या नहीं? ऐसा कोई पूछता है किसी से? कुछ नहीं। "जात-पाँत न पूछे कोई-हरि को भजे सो हरि को होई" मान लेते हैं। यह भेद वहाँ काम नहीं करता है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। ये सारी बातें पीछे छूट जाती हैं और अनन्त परमात्मा की अलौकिक विभूतियाँ साधक के व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होकर उसको अलौकिकता से अभिन्न कर देती है।

इसलिये करने वाली बात जो है वह सत्संग की है, सेवा की है। पराश्रय और पराधीनता को लेकर चलो थोड़ी देर के लिये तो क्रियात्मक सेवा कर डालो। पराश्रय और पराधीनता को छोड़कर बैठ जाओ थोड़ी देर के लिये, तो सत्संग के प्रकाश में अपना कल्याण करलो। तो करने वाली चीज है सत्संग और सत्संग करने से साधन का निर्माण होता है। स्वामीजी महाराज ने अपनी स्वाभाविकता में कहा है-"साधन का निर्माण होता है। सत्संग किया जाता है और साधना अपने आप होने लगती है।"

जिसने अनन्त परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लिया, उसने आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक उनसे आत्मीय सम्बन्ध को मान लिया। तो आस्था करना, प्रभु की सत्ता को स्वीकार करना,

उनमें विश्वास करना, उनसे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना और अपने को उनके समर्पित करना। इन सबके साथ 'करना' शब्द जुटा हुआ है। यह सत्संग है, यह पुरुषार्थ है, जो सब साधकों को करना होता है। जो विश्वास-पथ के साधक हैं, उन सबको ऐसा करना होता है और ऐसा कर लेने के बाद जो साधन का तत्त्व है, वह स्वयं ही उनसे प्रकट होता है। वह क्या है? कि जिसने सब कुछ परमात्मा को मान लिया, उसके भीतर से ममता का दोष मिट गया। ममता का दोष जहाँ मिट गया, तहाँ संसार का चिंतन खत्म हो गया। चिंतन खत्म हो गया-यह साधना है। करना नहीं पड़ा। अब आप देखिये। प्रयास करके अभ्यास के द्वारा, चिंतन को दबाने की साधना करने में सफलता बहुत दूर मालूम होती है और ममता-रहित होने पर संसार का चिंतन स्वतः छूट जाता है। अचिन्त होने के फलस्वरूप साधन-तत्त्व अपने आप प्रकट हो गया।

सत्संग कर लेने पर साधना स्वतः होने लगती है। स्वामीजी महाराज ने किसी को ऐसा नहीं कहा कि यह करो, यह करो। करने वाली बात का विभाग अलग है और होने वाली बात को होने देना, हम सब लोगों के लिये आवश्यक है। पहले करनेवाली बात करलो, तब होनेवाली बात अपने आप होने लगेगी। पहले अनन्त परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करो। सत्ता की स्वीकृति से विश्वास करने में मदद मिलेगी। अब सत्ता में ही सन्देह है, क्या जाने, है कि नहीं है? अगर दूसरों को देख करके, विश्वासी भक्तों के चरित्र को देख करके उनकी नकल करना चाहेंगे हम, तो वह बड़ी जल्दी असफल हो जाता है। पहले सत्ता को स्वीकार करलो तो विश्वास करने में मदद मिलेगी। विश्वास कर लो तो आत्मीय सम्बन्ध जोड़ने का साहस बन जायेगा। आत्मीय सम्बन्ध जोड़ लो तो समर्पण का भाव सजीव हो जायेगा। समर्पण का भाव सजीव हो गया तो ममता, कामना से छुट्टी मिल जायेगी। जीवन निर्मम-निष्काम हो गया तो फिर उसमें परचिंतन नहीं रहेगा। कामनायें चली गईं, ममता चली गई, मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये-अगर इतनी-सी बात, चाहे ज्ञान-पंथ के आधार पर, चाहे प्रेम-पंथ के आधार पर, जीवन में आ गई तो शांति स्वाभाविक हो जायेगी। प्रसन्न रहना स्वाभाविक बन जायेगा। अपने आराध्य से अभिन्न होने की उत्कंठा स्वाभाविक हो जायेगी। उत्कंठा जाग्रत हो जाये, परम प्रेमास्पद प्रभु की स्मृति जाग्रत हो जाये, तो इसको स्वामीजी महाराज साधन का निर्माण कहते हैं।

इसका अर्थ क्या होता है? कि आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में साधना की

प्रधानता हो जायेगी, असाधन कुछ नहीं रह जायेगा। हम लोगों को इस बात को जानना चाहिये कि यदि आप किसी भी साधन को सजीव करना चाहते हैं, तो पहले से जो विविध प्रकार की साधनायें करते आ रहे हैं उनको बंद मत करिये, उनको छोड़िये मत, उनमें विकल्प मत कीजिये। वह सब अपना ठीक रखो। लेकिन उसमें अगर सजीवता नहीं मालूम होती है, जीवन में रस नहीं बढ़ रहा है, निश्ंिचतता नहीं आ रही है-अगर ऐसी तकलीफ मालूम होती है, तो एक काम उसके साथ और कर लीजिये। थोड़ी-थोड़ी देर के लिये, अकेले बैठ करके, व्यक्तिगत सत्संग करके सत्संग वाली बात को पहले पक्की कर लीजिये। तो वही साधना जो आज तक आप रूटीन अर्थात् दैनिक जीवन के नित्य-कर्म की तरह करते आये हैं, वही इतनी प्रभावशाली हो जायेगी कि आपको उसमें बहुत सजीवता और सरसता मालूम होने लग जायेगी। इतना अन्तर आ जायेगा।

किसी साधक को उसकी साधना में अविश्वास पैदा करा देना, उसके पथ में उसको सन्देह पैदा करा देना, विकल्प पैदा करा देना, विक्षेप पैदा करा देना-यह सत्संगी का काम नहीं है। मानव सेवा संघ का उद्देश्य यह है, कि जिस रास्ते को आपने पकड़ा है, उसी रास्ते पर चलते हुए आपका कल्याण हो जाये। प्रणाली अपनी वही रखो। उसमें संदेह मत करो, उसमें विकल्प मत करो। केवल एक बात है, कि सत्संग के आधार पर जाने हुए असत् के संग का त्याग करना अगर बाकी रह गया है तो उसे पूरा कर लीजिये। अगर आप विश्वास-पथ को पसन्द करते हैं तो सद्ग्रन्थों में लिखा है-परमात्मा हैंऋ भक्तजन कहते हैं-'भगवान हैं' आपको अपने जीवन में भीतर से जरूरत मालूम होती है कि ऐसा कोई हो जिसका आधार लेकर मैं निश्ंिचत रहूँ। तो जीवन की इस आवश्यकता को देख कर, संत-महापुरुषों के वाक्यों को सुन कर, सद्ग्रन्थों को पढ़ कर-इन सब आधारों पर एक बार आप अनन्त परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लीजिये, उनकी महिमा को स्वीकार कर लीजिये।

अपने जिम्मे का इतना काम अगर आप पूरा कर लेंगे तो जिस रूप में भी आपने साकार उपासना, निराकार उपासना जो भी आरम्भ की होगी, वह सब आपके लिये स्वाभाविक बन जायेगी, उसकी कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी। इस तरह सत्संग किया जाता है और साधन होता है।

किया हुआ जो साधन है, वह आधे घंटे का हो सकता है, दो चार घंटों का हो सकता है, आठ-दस घंटों का हो सकता है, बीस बाईस घंटों का हो सकता है। एक जगह पर स्वामीजी महाराज ने ऐसा कहा कि भैया! तेईस घंटे, उनसठ मिनिट और उनसठ सैकण्ड तक भी तुमने करने वाली साधना की और एक सैकण्ड के लिये सभी छोड़ करके तुम कुछ दूसरा करने को चले तो तुम्हारी साधना अखण्ड नहीं रहीं। चैबीस घंटों में से एक बटे साठ सैकण्ड के लिये भी साधना छूट गई तो खंडित हो गई।

ऐसी साधना होनी चाहिये हम साधकों के जीवन में, कि सोते-जागते, चलते-फिरते, काम धाम करते, उठते-बैठते प्रवृत्ति में, निवृत्ति में-कहीं भी वह तुम्हारे जीवन से अलग न हो। अच्छा, अब की जाने वाली कोई भी क्रिया विधि, किया जानेवाला कोई भी अनुष्ठान हमेशा के लिये अखण्ड नहीं हो सकता। करने वाली बात कभी भी छोड़नी पड़ेगी। करने में और न करने में सदैव आपके हृदय में प्रभु के प्रति समर्पण का भाव बना रहे तो पत्र-पुष्प लेकर मंदिर में प्रभु के श्रीविग्रह के सामने अर्पण करो तो, और झाड़ू लेकर सड़क पर झाड़ू लगाओ तो, प्याऊ पर बैठ कर प्यासे को जल पिलाओ तो, और रसोई में बैठ कर रोटी बनाओ तो-सारी क्रियाओं के भीतर प्रभु की पूजा की भावना अखण्ड बनी रह सकती है। उस भाव के स्तर पर साधना हमारी पक्की होनी चाहिये।

अब एक विचारशील व्यक्ति है, उसने निश्चय किया है कि दृश्य जगत् में किसी भी दृश्य से मेरा त्रिकाल में भी नित्य सम्बन्ध नहीं है। न पहले था, न आज है, न आगे होगा-यह विचार-पथ के साधक का जाना हुआ सत्य है। इस सत्य का उसने अनुसरण किया। इस शरीर में साँस चल रही है तब भी यह शरीर मेरा नहीं है, और इसमें साँस का चलना बंद हो जायेगा, तब भी यह शरीर मेरा नहीं रहेगा। जब अणु-परमाणुओं के संगठन से इस शरीर की रचना हो गई, तब भी मेरा इससे नित्य सम्बन्ध नहीं था। जब इसके अणु-परमाणु प्रकृति के तत्त्वों में बिखर जाएँगे, तब भी इस शरीर से मेरा सम्बन्ध नहीं रहेगा। विचार-पथ के जिस साधक ने, दृश्य मात्र से अपना सम्बन्ध नहीं है-इस

सत्य को जान लिया, इस सत्य को मान लिया, इस सत्य के प्रकाश में जीना जिसने आरम्भ किया, वह सभा में बैठे तो क्या, और गुफा में बैठे तो क्याऋ उसकी साधना में कहीं कोई विक्षेप नहीं हो सकता।

विचार-पथ के साधक के लिये जाने हुए असत् के संग का त्याग करना-यह प्रारंभिक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ को कर लेने के बाद आप कहेंगे कि फिर तो शरीर के आधार पर भूख लगती है तो उन्हें भिक्षा लेनी ही पड़ती है। भिक्षा लेने के लिये समाज के साथ सम्पर्क रखना पड़ता है, ठीक है आप एक गऊ पालते हैं और उसका उपयोग समाज की सेवा के लिये करने चलते हैं तो उसके चारे-दाने का, उसके रक्षण का, उसकी सँभाल का काम आप करते ही हैं। एक शरीर आपको मिला हुआ है-किसी राग के कारण शरीर बन गया है, वीतराग होने में इस शरीर का सदुपयोग करना है-तो जैसे गऊ की खुराक का आप इन्तजाम करते हैंऋ इस शरीर के भोजन का इन्तजाम आप क्यों नहीं करेंगे।

जब तक आपको शरीर के राग से मुक्त होने की साधना करनी है, तब तक सात्त्विक ढंग से, स्वाभाविक रूप में, साधन बुद्धि से शरीर में भोजन डाल देना-यह असाधन नहीं कहलायेगा और जिस दिन शरीरों से तादात्म्य टूट जायेगा, अशरीरी आनन्द में आप मस्त हो जायेंगेऋ जब आप इस शरीर पर से अपना अधिकार उठा लेंगे, इसकी आवश्यकता खत्म हो जायेगी तो भाई, उसके बाद शरीर की रक्षा और देख-भाल का दायित्व आप पर नहीं रहेगा। अनुभवीजनों ने करके देखा है। मैंने अनेक संतजनों के निकट रह कर भी देखा है। उनके जीवन-चरित्रों को पढ़ कर भी जाना है, जब आप शरीरों के स्तर से ऊपर उठ जायेंगे, इनसे असंग हो जायेंगे, उसके बाद आपको अशरीरी जीवन के प्रति इतना घना-इतना मीठा आकर्षण होगा, इतना जोरदार उस ओर खिंचाव होगा कि पीछे इस हाड़-मांस के शरीर का क्या हो रहा है, सो आपको ध्यान भी नहीं रहेगा। आपकी ममता इस पर हटी नहीं, आपकी आसक्ति कटी नहीं, कि प्रकृति इसका दायित्व ले लेती है। प्रकृतिपति इसका चार्ज ले लेते हैं और जितने दिन इसको रखना है, आपकी अपेक्षा बहुत बढ़िया ढंग से इसको रखते हैं।

अशरीरी जीवन का जो आनन्द होता है, चाहे प्रेम-पथ से मिले, चाहे ज्ञान-पथ से मिले, चाहे योग-पथ से मिले, कैसे भी मिले-वह आनन्द अवर्णनीय होता है। वर्णन नहीं किया जा सकताऋ क्योंकि वर्णन करने के लिये तो साकार और सीमित उपादानों का सहयोग लेना पड़ेगा। जब वह अपरिमित भाव, भाषाबऋ किया जाता है तो परिमित हो जाता है, सीमित हो जाता है। उसको बोल कर प्रकट करने के लिये जब शरीर की सहायता ली जाती है, तो अनुभवीजनों को उस अपरिमित आनन्द में से उतर कर अपने भावों को कहने में उतना अच्छा भी नहीं लगता है और वे पूरी तरह से उसे कह भी नहीं पाते हैं। हमारे जैसे भटकते हुए साधकों को सही रास्ते पर लगाने का जब उनके भीतर हितकारी भाव जगता है, तो वे छोटे-छोटे वाक्यों में सांकेतिक भाषा में कुछ-कुछ कह देते हैं। ऐसे संतों के भीतर से शरीरों की असंगता की स्वाधीनता कभी मिटती नहंी है। किसी क्षण में नहीं।

ऐसा नहीं है कि एकान्त में कुटिया बनाओ, 'साउण्डप्रूफ' कमरा बनाओ, जिसमें बाहर से कोई ध्वनि न आने पावे विशेष रूप से बैठ करके मूक-सत्संग साधो तभी कुछ देर के लिये शरीरों से असंगता की बात तुम्हारे अनुभव में आवे। देहातीत जीवन का आनन्द उन थोड़े से

क्षणों के लिये आवे और जब उठ करके पराश्रय और परिश्रम का सहारा लेकर सेवा करने चलो तो असंगता का आनन्द लुप्त हो जाये-ऐसा नहीं होता।

तो क्या करें? बैठ कर सोचते हैं तो बहुत अच्छा लगता है और काम करने चलते हैं तो सब भूल जाते हैं। तो भूलते नहीं हैं। जिन्होंने सत्संग कर लिया और उनके जीवन में असंगता के रूप में साधन तत्त्व की अभिव्यक्ति हो गई, उनका साधन अखण्ड हो गया। हमेशा के लिये हो गया। निज स्वरूप से अभिन्न कराके ही पूरा होगा। मिटेगा कभी नहीं, टूटेगा कभी नहीं। चलते-फिरते, काम-धाम करते हुए, शरीर का सदुपयोग करते हुए, सामग्री का सदुपयोग करते हुए, ईश्वर-विश्वासियों के भीतर से प्रभु की स्मृति लुप्त नहीं होती है।

ज्ञान-पंथ के साधकों में शरीरों की असंगता कभी खंडित नहीं होती है। शरीरों से स्वाधीनता का आनन्द कभी खंडित नहीं होता है। स्वामीजी महाराज ने सभी साधकों के लिये यह सलाह दी कि देखो, सत्संग करने वाली चीज है और साधना होने वाली चीज है। अब तक जो कुछ तुमने साधना आरम्भ कर ली है, उसको छोड़ो मत, उसको बदलो मतऋ क्योंकि जिस किसी महापुरुष ने, जिस किसी रूप में साधन प्रणालियों का प्रतिपादन कर दिया, किसी भाषा में, पद्य में, गद्य में, चाहे जैसे, जिससे जैसे बना, उसने वैसा कर दिया। किसी के कहने से नहीं, किसी के दबाव में आकर नहींऋ हृदय के आनन्द की उमंग में अनुभवी महापुरुषों ने अपने अनुभवों को, जैसे-प्रकट कर दिया वह सब ठीक है।

तुम समाज के सम्पर्क में आये, संत महापुरुषों के सम्पर्क में आये, अनुभवीजनों के सम्पर्क में आये और चाहे जौसा तुमने साधन का पथ पकड़ लिया, सो ठीक है। उसे छोड़ने की जरूरत नहीं, बदलने की जरूरत नहीं, क्योंकि उसमें कोई हानि नहीं है। गलती कहाँ है? अगर उसके पहले सत्संग किया गया होता, तो वह साधन-प्रणाली स्वाभाविक बन गई होती। परन्तु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अभी भी ठीक है। आज तुम अपनी साधना करते रहो और कल वह तुम्हारी साधना स्वयं होने लग जायेगी।

प्रवचन 58

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

अनुभवीजनों के अनुभव के अनुसार एक बड़ी अच्छी बात हम लोगों को जानने को मिली कि जो जीवन का सत्य है उस सत्य की अभिव्यक्ति, उसकी आवश्यकता अनुभव करने मात्र से होती है। परन्तु जब हम किसी 'पर' की आवश्यकता अनुभव करते हैं, देखे हुए दृश्य जगत् के किसी अंश की आवश्यकता अनुभव करते हैं, कि यह सामान मुझको मिल जाता, कि यह पद मुझको मिल जाता, कि इतनी सम्पत्ति मुझे मिल जाती, कि इतना सम्मान मुझे मिल जाता, कि ऐसा अच्छा शारीरिक स्वास्थ्य मुझे मिल जाता-इस प्रकार की आवश्यकता अनुभव करते हैं तो बड़ा अन्तर पड़ जाता है। ऐसी आवश्यकताओं की जागृति से भीतर-भीतर एक अभाव, पराधीनता और नीरसता सताती है। क्यों? क्योंकि दृश्य जगत् में सामर्थ् नहीं है कि मैं उसकी आवश्यकता अनुभव करूँ तो उसी समय वह मुझको प्राप्त हो जाये, ऐसी सामर्थ् जगत् में नहीं है। देखिये, किसी वस्तु की जरूरत आप अनुभव कर रहे हैं कि यह वस्तु मिल जाती तो अच्छा था और प्रकृति के मंगलमय विधान से आपको वह वस्तु मिल भी गई। लेकिन, वह वस्तु आपके हाथ में पहुँच गई तब भी, उसमें यह सामर्थ् नहीं है कि आपके

जीवन को भरपूर कर सके अथवा सन्तुष्ट कर सके अथवा अन्य सभी जरूरतों से मुक्त करा सके।

देखिये, नई बात क्या होती है कि पहले वस्तु की जरूरत मालूम हुई और किसी तरह वह आपके पास आ गई तो आपको मालूम होता है कि वह वस्तु मुझको मिल गई तो उसके मिलने से चिंता छूट जाये। निश्ंिचतता आ जाये, आराम मिल जाये, लेकिन ऐसा नहीं होता। एक वस्तु आ गई आपके पास, तो उसकी सुरक्षा की चिंता, उसको संभाल कर रखने की चिन्ता सताने लगती है। यह है देखे हुए दृश्य जगत् के साथ सम्पर्क बनाने का फल! लेकिन मनुष्य के जीवन की जो वास्तविकता है-परम शांति, अमरत्व, परम प्रेम-ये जीवन तत्त्व के रूप में हैं। इनकी आवश्यकता जब मनुष्य में जाग्रत होती है तो चूंकि ये तत्त्व सत्य है, नित्य हैं, अलौकिक हैं, अविनाशी हैं और नित्य विद्यमान हैं। इसलिये इनकी जरूरत जो भी कोई मनुष्य अनुभव करने लग जाता है, तो उस अनुभव मात्र से उसके भीतर-भीतर बल बढ़ने लगता है, शांति बढ़ने लग जाती है और उस अनुभव में इतना घना आकर्षण होता है कि एकबार उसमें लग जाने के बाद दूसरी सारी वस्तुओं से, सभी व्यक्तियों से सम्बन्ध टूट जाता है। शरीर से भी सम्बन्ध टूट जाता है, फिर अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों की कौन कहे।

अनेकों महापुरूषों ने अपने अनुभव के आधार पर यह बात हमको बताई है कि जो सत्य है, उसकी आवश्यकता अनुभव करने मात्र से उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है और उसकी आवश्यकता जाग्रत होने पर दूसरी सब इच्छायें एवं कामनायें स्वतः ही शांत हो जाती है। ऐसा होता रहा है। यह निर्विवाद सत्य है।

अब अपने लोगों की दशा क्या है? अन्य लोगों ने क्या किया, वह तो थोड़ा बहुत हम लोगों ने सुन लिया है जिस किसी में जिस समय सत्य की खोज की अभिलाषा उत्पन्न हुई, जिस समय परमात्मा के प्रेम की तीव्र प्यास लगी, उस समय उन लोगों ने शरीर और संसार की ओर नहीं देखा। स्वामीजी महाराज के मुख से हम लोगों ने सुना था। कभी-कभी अपनी ही बात बताते कि तीव्र प्यास लगी हो और हाथ में स्वच्छ, शीलत, मीठे जल का गिलास भी हो, तब भी साधक जल को पी नहीं पाता है। उसके भीतर ऐसी तीव्र व्याकुलता जाग्रत हो जाती है कि वह सोचता है कि परमात्मा से मिलें पहले, सत्य से अभिन्नता पहले हो, पीछे जल पीयेंगे।

उस सत्य से अभिन्न होने की, परमात्मा से मिलने की व्याकुलता में कितना जीवन है, कितना रस है, कितनी शक्ति है कि प्यास भी हो, जल भी हो, पर पीने की प्रवृत्ति न हो! अब आप सोच कर देखिये, जो नित्य तत्त्व है, जो भक्तों के भगवान हैं, जो विश्वासियों के परमात्मा हैं, परम प्रेमास्पद प्रभु हैं, उनके प्रेम की प्यास ही कितनी सरस और जोरदार है कि उस प्यास की लगन में बाकी सब कुछ निरर्थक हो गया है।

प्रारम्भिक समय में क्या होता है? हम, लोगों के लिये संसार में रहते हैं और संसार, समाज और गृहस्थी के नियम निभाते हैं। उसी बीच में सत्य की जिज्ञासा भी है और परम-प्रेम की प्यास भी है। जन्म-मरण का बन्धन भी अपने को अच्छा नहीं लगता है, उस बंधन से मुक्त होना भी हम चाहते हैं और अमरत्व से अभिन्न होकर सदा के लिये अविनाशी आनन्द में रहना भी हम पसन्द करते हैं और अलख, अगोचर, अविनाशी, प्रेम-स्वरूप परमात्मा के प्रेमी होकर उनके रस से भरे रहना भी पसन्द करते हैं। हमारे जीवन में वह आवश्यकता जाग्रत तो हैंऋ जिसकी पूर्ति से जन्म-जन्मान्तर की सभी समस्यायें हल हो जाती हैंऋ

वह आवश्यकता, वह माँग हम सब लोगों के भीतर है, उसी से प्रेरित होकर हम लोग सत्संग में लगे रहते हैं।

अब आप सोचिये, हमारे आपके लिये प्रश्न क्या है? प्रश्न यह है कि सत्य की जरूरत भी आप अनुभव करते हैं। शांति की माँग भी आप में है। परमात्मा के प्रेम की माँग भी आपके भीतर है और उसके साथ-साथ सुखभोग की वासनायें भी हैं। यह दोनों एक साथ कैसे चल रहें हैं भाई? होना तो चाहिये था यह कि प्रेम की प्यास इतनी बढ़ जाती कि सुखभोग की वासनायें खत्म हो जातीं। ऐसा तो हम नहीं कह सकते कि सुखभोग की वासना जब तक रहेगी तब तक सत्य की जिज्ञासा और प्रेम की अभिलाषा जगेगी ही नहीं, क्योंकि सुखभोग की वासना तो मेरी भूल से उत्पन्न हुई है। सत्य की जिज्ञासा और परम-प्रेम की प्यास यह माँग तो अविनाशी है। यह तो हमारे जीवन के मूल में ही विद्यमान है।

जो जीवन के मौलिक तत्त्व के रूप में विद्यमान है, उसका नाश तो कभी होगा ही नहीं। इसलिये भूतकाल में वासनाओं की ज्वाला में फँसे हुए होने पर भी, सुख-भोग की तृष्णा में बेचैन रहते हुए भी सत्य की जिज्ञासा मिटती नहीं है। परमात्मा की याद सर्वांश में खत्म हो जाये, ऐसा नहीं होता। हाँ, यह तो होता है कि सुखद परिस्थिति कोई आ गई, तो सुखभोग में व्यक्ति जड़ता में डूब जाता है शरीर और सामग्री के साथ, उतनी देर के लिये भले परमात्मा को भूल जायें, लेकिन हमेशा के लिये भूल जाये-ऐसा कभी नहीं होता।

बहुत से सावधान भाई-बहन ऐसे हैं कि सुखद घड़ियों में भी परमात्मा को भूलते नहीं है, याद रखते हैं और आये हुए सुख को प्रभु की कृपा का प्रसाद मानते हैं और दुःख की घड़ी में स्वभाव से ही परमात्मा की याद आती रहती है। संत कबीर तो इतने मस्त हो गये दुःख की महिमा से कि कहने लगे-

सुख के माथे सिल पड़े, नाम हिये तैं जाय।

बलिहारी वा दुःख की जो पल-पल नाम रटाए।।

महाराजजी ने भी दुःख के प्रभाव को बहुत महत्त्व दिया है; क्योंकि इसने दुःखनिवृत्ति का पथ दिखा दिया, दुःखहारी हरि से मिला दिया। हम सब जो सत्संगी भाई-बहन हैं और किसी न किसी प्रकार से सत्य के पथ पर, परमात्मा की ओर आगे बढ़ने की चेष्टा में लगे हुए हैं, प्रार्थना करते रहते हैं कि हे भगवान! कैसे भी दुःख का नाश हो जाये। हे भगवान् कैसे भी वासनाओं का अंत हो जाये। हे प्रभु! कैसे भी आपकी कृपा का दर्शन हो जाये। इस प्रकार सभी जी-जान से जुटे हुए हैं।

अब ऐसी दशा में लग रहा है हम लोगों को, कि भाई, क्या करें, जब कोई सुखद घड़ी आती है, तो उसमें हम लोग अपने को भूल जाते हैं। जब संसार के लोग सम्मान देने वाले, सहायता करने वाले, प्यार करने वाले, आदर देने वाले जुट जाते हैं तो उस समय कुछ 'अहं' की खुराक अच्छी लगने लगती है। सत्य और परमात्मा को भूल जाते हैं। अब इतना काम हम लोगों को करना है। उसी के लिये महापुरुषों ने सत्संग का इंतजाम किया कि प्रतिदिन प्रातःकाल सो करके जगते ही सबसे पहले और रात्रि में नींद में डूबने से पहले, थोड़ी देर के लिये बैठ करके व्यक्तिगत सत्संग कर लो।

हमारे भीतर प्रेम का तत्त्व विद्यमान तो है, लेकिन जिन भाई-बहिनों ने सुखभोग की रुचि से उसको दूषित नहीं होने दिया, भोग बुद्धि को हटा करके प्रेम की दृष्टि को खोलना पसन्द किया, उनके भीतर वही प्रेम तत्त्व विशुऋ होता गया, उसकी वृद्धि होती गई, जीवन की मलिनता मिटती

गई, प्रेम की प्यास तीव्र होती गई, प्रभु-मिलन की उत्कंठा बढ़ती गई और बाकी सारी दूसरी बातें धीरे-धीरे करके छूटती गई। हम लोगों को इस वर्तमान में अपने पर जोर डाल करके यह कार्यक्रम, यह साधन, यह नियम रखना ही है किसी न किसी रूप में। सोकर जगने पर पहले एकबार अपने लक्ष्य को याद करलो। जीवन को सामने रखकर अपने को याद दिला कर बिस्तर में से उठो कि भाई, मैं मनुष्य हूँ और यही मौका है, यही अवसर है, मानव योनि ही ऐसी योनि है कि जिसमें आ करके हम जन्म मरण का बंधन काट सकते हैं, सदा-सदा के लिये परम स्वाधीन जीवन पा सकते हैं, अलख, अगोचर, परमात्मा के प्रेमी होकर उन्हें प्रेमरस प्रदान करके उनके साथ प्रेम के आदान-प्रदान का आनन्द ले सकते हैं लंबी-चैड़ी बात नहीं है।

आपको संस्डुत का अध्ययन न हो, तो अध्ययन किये बिना सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी- ऐसी बात नहीं है कुछ श्लोक या मंत्र याद करने की बात नहीं है। उनमें भी ये सब चीजें भरी पड़ी हैं। लेकिन हमने नहीं पढ़ा है तो कोई बात नहीं है। मनुष्य हैं, उसके मौलिक तत्त्व में जीवन की जिज्ञासा है, सत्य की जिज्ञासा है, प्रभु प्रेम की अभिलाषा है तो इसी को अपने लिये मूल आधार मानकर इस दिशा में आप आगे बढ़ सकते हैं। कोई पढी-लिखी बहन हो तो भी और नहीं पढ़ी हो तो भी, कोई बहुत सम्पन्न परिवार में पैदा हुआ है तो भी, कोई बहुत ही विपन्न परिवार में पैदा हुआ है तो भी कोई चिंता की बात नहीं है। शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है तो क्या और बहुत प्रकार के रोग लगे है तो क्या। वे सब चीजें जहाँ हैं, वहीं है और आपकी अपनी मौलिकता अपनी जगह पर है। जीवन का मूल तत्त्व हर परिस्थिति में आपमें विद्यमान है। मैं विश्वासियों की भाषा में कहती हूँ कि मुझको सत्ता देने वाले अनन्त परमात्मा मुझमें विद्यमान हैं, मुझको प्रकाश देने वाले ज्ञानस्वरूप परमात्मा मुझमें विद्यमान हैं। उनके दिये हुए प्रकाश में जीवन का चित्र हम लोगों को दिखाई दे रहा है।

प्रतिदिन प्रातःकाल एक बार जरूर याद करिये कि भाई, मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य के नीचे जितनी बार शरीर धारण करके मैं इस संसार में आया, जन्म-मरण की बाध्यता को ढोता रहा। अब एक अवसर आया है। जो कि गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में 'साधनधाम मोक्ष कर द्वारा' है। यह दरवाजा है जिसमें प्रवेश कर जाओ तो फिर जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो जाये। मैं मनुष्य हूँ, इस नाते जन्म-मरण के बंधन को काटने का पुरुषार्थ मुझको आज ही करना है, अभी करना है-इसको याद करो। मैं मनुष्य हूँ और मुझे अपने ही स्वरूप में से प्रेम तत्त्व देकर प्रेमस्वरूप परमात्मा ने बनाया है। पश्चिम के दर्शनकारों ने भी इस बात को स्वीकार किया ओर लिखा कि ळवक बतमंजमक उंद पद भ्पे वूद पउंहमण् परमात्मा ने अपना ही प्रतिरूप देकर मनुष्य को बनाया है। नित्य सुबह सोकर जगते ही, हम लोगों को बिस्तर में बैठे-बैठे ही यह याद कर लेना चाहिये कि मैं मनुष्य हूँ, यही अवसर है कि मैं अपने भीतर सत्य की जो जिज्ञासा है, उसको तीव्र बनाऊँ मेरे भीतर प्रभु-प्रेम की जो अभिलाषा है, उसको जाग्रत कर लूँ। फिर ऐसा अवसर कब मिलेगा? मालूम नहीं हैं।

तो यह अवसर आँख खुलते ही इमक जमं की याद में ही नहीं गँवाना चाहिए। चाय के तरल पानी में क्या विशेषता है कि एकदम से जैसे चेतना आई, वैसे ही चाय की याद आती है। यह भी कोई मानव जीवन है? प्रकृति ने अपनी थकान को मिटाने के लिए नींद का इंतजाम कर दियाऋ नहीं तो भोग प्रवृत्तियों में लगा हुआ व्यक्ति

शारीरिक स्वास्थ्य की ओर भी ध्यान न देता और अधिक से अधिक भोग प्रवृत्तियों में रत होकर जल्दी से जल्दी अपनी प्राणशक्ति को गँवा देता। लेकिन प्रकृति ने प्रतिबन्ध डाल दिया कि जब भोग प्रवृत्ति में शामिल होओगे तो जैसे ही तुम्हारे भीतर शक्तिहीनता आयेगी वह तुम्हारे सब स्नायु मंडल को शिथिल बना देगी, और तुम नींद लेने के लिये बाध्य हो जाओगे और सो जाओगे।

प्रकृति ने शरीर, मस्तिष्क और स्नायु मंडल को आराम देने के लिये निद्रा का विधान बना दिया। भोग-बुद्धि से जीने वाले जो व्यक्ति हैंऋ वे तो सुख-भोग की प्रवृत्ति में और उसके न मिलने के क्षोभ में, दुःख में जीते हैं, जागते हैं और सोते हैं। स्वप्न में भी वही सब देखते हैं और उठने के बाद फिर उसी में दौड़ जाते हैं। यह तो मानव जीवन नहीं है।

मैं मनुष्य हूँऋ मानव जीवन मुझे मिला है, यह तो साधन का धाम है, मोक्ष का द्वार है, प्रेम स्वरूप परमात्मा को रस प्रदान करने का अवसर है। यह राग-द्वेष में हँसने या रोने, क्षोभ व क्रोध में बिताने के लिये नहीं मिला है। आप सच मानिये, कि अपने ,ारा जीवन में इस दार्शनिक दृष्टिकोण को सामने रख कर बिस्तर से पाँव उतारियेगा तो आपको भोग-वासनाओं से संघर्ष नहीं करना पड़ेगा।

अपने अहंरूपी अणु में अपार शक्ति है। आपकी स्वीकृति को, आपके निश्चय को, आपकी प्रतिज्ञा को सारा संसार मिल करके भी डिगा नहीं सकता। अपनी इस महिमा में विश्वास करो।

रात्रि में जब सोने के लिए आप तैयार हो जायें तो हाथ-पाँव धोने के बाद बिस्तर में थोड़ी देर बैठिये और फिर एकबार व्यक्तिगत सत्संग कीजिये। एक बार देखिये तो सही, कि प्रातःकाल सो कर उठे थे तो आपने अपना यह निश्चय किया था कि मैं मनुष्य हूँ, मुझे इसी वर्तमान में जन्म-मरण के

बंधन से मुक्त होना है। परम प्रेमास्पद, प्रेमस्वरूप परमात्मा का प्रेमी होना है-ऐसा निश्चय करके मैं उठा था। दिन भर का जो कार्यक्रम चला मेरा, तो उसमें मैंने भोगतृष्णाओं को बढ़ाया, राग-द्वेष को बढ़ाया, या कोई गलत-सलत काम किया या अपने उस लक्ष्य को सामने रखकर कुछ काम किया तो आपको दिख जायेगा। बहुत आराम मिलेगा कि बीच में दिनभर कभी उसको याद करने का मौका न भी मिला हो, तो भी अपने द्वारा स्वीकार किया हुआ सत्य व्यक्ति की इन्द्रियों को, मन को, चित्त को, बुद्धि को, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को, सबको प्रमाणित कर देता है। इसलिये आपको सोचना नहीं पड़ेगा कि अरे, हमारा मन कहाँ गया? उसको पकड़ के लाएँ, चित्त कहाँ गया, उसको पकड़ के लाएँ, आपको ऐसा करना नहीं पड़ेगा।

आपने मनुष्य होने के नाते अपने द्वारा इस सत्य को स्वीकार किया तो आपकी स्वीकृति सभी विभिन्न अंगों पर छा जायेगी और स्वभाव से ही ये सारी शक्तियाँ आपके निश्चय के अनुसार काम करने लग जायेंगी। इसे मानिये। यह तो आज के आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता भी कह रहे हैं। अपने पुराने)षियों, मनीषियों और महापुरुषों ने तो कहा ही है कि भाई, तुम अपने गुरु आप बन सकते हो, अपने उद्धारक आप बन सकते हो।

यह मैं याद दिला रही हूँ, कुछ मत करो। केवल सवेरे और रात्रि में सोने के समय याद कर लिया करो। मैं मनुष्य हूँ और मुझे यह जो जीवन मिला है, वह शांति, मुक्ति और भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए मिला है। आप देखेंगे कि आपके इस निर्णय के प्रभाव से जिज्ञासा तीव्र होती जाएगी, परम-प्रेम की प्यास तीव्र होती जायेगी

और सुख-भोग के साधनों से आपका ध्यान हटता चला जायेगा। नये सुख-भोग की प्रवृत्ति में पड़ेंगे नहीं। इसलिए इतना तो हमें अपनी ओर से जान बूझ कर सचेत होकर करना ही है।

हमारा उद्देश्य तो यह है कि भोग प्रवृत्तियों की ओर से हम अपने को हटा लें और सत्य की जिज्ञासा तीव्र हो जाये। प्रभु-प्रेम की प्यास खूब बढ़ जाये। इसके लिए मैं प्रारम्भिक उपाय आपको बता रही हूँ कि किसी नये भोग या भोगप्रवृत्ति में अपने को मत डालो। इतना तो कर सकते हैं कि नहीं? स्वाद के लिये शरीर की आवश्यकता से अधिक नहीं खाना। थोड़े में, कर्म खर्चे में काम चल सकता है तो वैभव विलास में अपने को शामिल मत करना। मनोरंजन के लिए जो नहीं देखना चाहिए उसे मत देखो। जो नहीं सुनना चाहिये, उसे मत सुनो। 'हम देखेंगे'-ऐसा करने में तो आप पराधीन है। 'हम नहीं देखेंगे'-इसमें कोई पराधीनता नहीं है। 'हम अमुक प्रकार की सुख सामग्री लेंगे'-इसमें तो आपकी पराधीनता है। 'लेकिन हम नहीं लेंगे'-'इसमें कोई पराधीनता नहीं है। आपके पास लाकर चाहे वह रख भी दिया जाये तो आप वह सुख नहीं भोगेंगे। इससे दुनिया में कोई नाराज नहीं होता। उल्टा, दूसरे लोभी लोगों को बड़ा आनन्द आता है कि यह तो नहीं खाती है, लाओ अपन बाँट कर खालो। इनको तो नहीं चाहिए, लाओ हम लोग बाँट लें, ले लें। दूसरे लोगां को खुशी होती है। इतना भी अगर आप करने के लिए राजी नहीं हैं तो सोचिए कैसे ध्यान लगेगा? कैसे भजन होगा? कैसे पूजन होगा? कैसे प्रेम की वृद्धि होगी? कैसे मानव-जीवन सफल होगा?

अगर मैं कहूँ कि घर छोड़कर तीर्थवास करना शुरू करो तो सब लोग नाराज हो जायेंगे और कहेंगे कि लो, देवकीजी ने हम लोगों का घर ही उजाड़ दिया। सो तो मैं नहीं कहती हूँ। उससे फायदा होने वाला भी नहीं है। उसकी सामर्थ् भी आपमें नहीं है। मैं केवल इतना कहती हूँ कि अगर आपके सामने यह लक्ष्य है कि सत्य की जिज्ञासा तीव्र हो जाये, परम-प्रेम की अभिलाषा तीव्र हो जाये तो इसके लिये उपाय है कि नई-नई भोग प्रवृत्ति में अपने को नहीं उलझाना चाहिये क्योंकि भूतकाल के भोगे हुए सुखों का स्टाम्प भी तो भीतर में लगा हुआ है। भोगे हुए सुखों का प्रभाव आज हम लोगों को शान्त नहीं रहने देता है, प्यारे प्रभु की याद में नहीं रहने देता है।

जो लोग जीवन के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना चाहते हैं, उनको नये-नये सुखों में फँसना नहीं चाहिये। नये विकार पैदा करेंगे नहीं तो विकार बढ़ेंगे नहीं, और पहले वाले जो बने हुए हैं, उन सबका नाश भगवत् कृपा से हो जायेगा, सत्य की जिज्ञासा से हो जायेगा। यह सब जरूर हो जायेगा। होता है ऐसा। हम कहाँ से कदम उठा सकते हैं यह आपकी सहायता के लिए निवेदन कर दिया मैंने। अब दो-तीन मिनिट का समय और रह गया है तो उकसे लिए एक और जरूरी बात मुझे याद आ गई है, जो कल की चर्चा में रह गई थी। वह यह है कि यह व्यक्तिगत सत्संग का क्रम तो ळमदमतंस अर्थात् सर्वसाधारण हो गया। सभी भाईयों के लिए, सभी बहनों के लिए, सभी मत, पंथ, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग के लिये एक समान है कि भाई, सवेरे उठों तो याद कर लो, रात्रि में सोने जाओ तो याद करलो तो ैजंउच स्टाम्प लग जायेगा अहं में, फिर वह तो प्रधान हो जायेगा और जो छूटने वाला है, वह छूट जायेगा।

अब एक बात रह गई थी, वह थी साधना के चुनाव के सम्बन्ध में। किसी व्यक्ति को विश्वास-मार्ग अनुकूल पड़ेगा, उसके लिए भक्ति-पथ ठीक है; किसी के लिये ज्ञान-पथ ठीक है। अनुभवी

संतजन के पास जाओ तो वे तुम्हारा अध्ययन कर लेते हैं कि इसकी रुचि कैसी हैं, इसकी बनावट कैसी है, इसकी तैयारी कैसी है, इसके संस्कार कैसे हैं। ये सब वे लोग अपने आप जान लेते हैं और जान करके बता देते हैं कि भाई ऐसा करो, ऐसा करो।

अब मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि एक ही साधक, एक ही समय में, एक ही वर्तमान जीवन में दो-चार पंथों का अनुसरण नहीं कर सकता। करने जायेगा तो उसको सफलता नहीं मिलेगी। मेरे लिये कौनसा पथ ठीक बैठेगा, इसके लिये अपनी स्वाभाविक रुचि को देख लीजिये। अगर आपकी समझ में आ जाये, तो ठीक है। बहुतों की समझ में आ जाता है तो वे अपने आप चुनाव कर लेते हैं कि मुझको विश्वास का पथ पकड़ना चाहिये, कि ज्ञान का पथ पकड़ना चाहिये। क्या करना चाहिये-उनको मालूम हो जाता है।

अधिकांश भाई-बहन ऐसे होते हैं कि उनको पता नहीं चलता कि हमको क्या करना चाहिये और यह दोष हमारे ग्रुप अर्थात् समुदायों का है। एक ही व्याख्यान में कभी योग की चर्चा हो रही हैं, कभी ज्ञान की चर्चा हो रही है, कभी प्रेम की चर्चा हो रही है। व्याख्यान की इस प्रथा ने सामान्य कोटि के साधकों को ब्वदनिम कर दिया। अर्थात् उनमें बुद्धि-भेद उत्पन्न कर दिया है। उनको पता ही नहीं चलता है कि हमको कैसे चलना चाहिये? क्या करना चाहिये?

तो क्या करोगे? बहुत ही स्वतन्त्र उपाय है। किसी तरह की पराधीनता नहीं है। स्वामीजी महाराज ने कहा था कि 'देखो, तुम्हारे पास बुद्धि है तो बुद्धि को संसार के स्वरूप को जानने में खर्च करों' क्या सत्य है? क्या असत्य है? यह नाशवान् है, यह परिवर्तनशील है, यह मिला था, यह छूट गया, यह बना था, यह मिट गया, इसमें तुम्हारी बुद्धि सब काम करेगी। ठीक है? इसमें तो कोई दिक्कत नहीं होगी, हम सब लोग बुद्धिमान हैं इस बारे में, कि अपने को छोड़कर बाकी सब लोगों के दोष देख लेते हैं। परन्तु अब तक दूसरों के दोष देखते-देखते अपना काम बना नहीं तो अब बुद्धि भगवती से प्रार्थना करिये ओर उसे अपने दोष देखने में लगाइये। सब समझ में आ जायेगा और बुद्धि का सदुपयोग हो जायेगा और जब भीतर से प्रभु-विश्वास की उमंग उठे, हृदय में भाव हो और ऐसा लगे कि कितना अच्छा होता कि हम एक ही विश्वास रखते! कितना अच्छा होता कि हम एक ही से सम्बन्ध रखते! कितना अच्छा होता कि प्रभु के प्रेम से जीवन भर जाता! तो जब भाव पक्ष आपके भीतर प्रबल हो जाये और ईश्वर के विश्वास और भक्ति के पथ का अनुसरण करने की लालसा आपके भीतर जगे, तो फिर उस विश्वास में बुद्धि को शामिल मत होने देना। यह तर्क मत करना कि परमात्मा कहाँ है? कैसा है? क्या करता है? किसी को मिला है कि नहीं मिला है? जो लिखा गया है, वह सब सत्य है कि नहीं है? बड़े-बड़े लोग सब अटक कर रह गये तो हमारा क्या होगा? इस प्रकार संकल्प, विकल्प और विवेचन करना बुद्धि का कार्य है, इसको प्रभु-विश्वास में शामिल मत होने देना। रोककर अलग रखना। विश्वास करना तो हृदय के भाव-पक्ष का काम है। मुझे तो बिल्कुल, सम्पूर्ण विश्वास ही करना है। विश्वास में तर्क मत लगाओ और तर्क में विश्वास मत लगाओं। बुद्धि का क्षेत्र जितना है, पूरी तरह से, ईमानदारी से, सत्य-असत्य का विवेचन करके उस प्रक्रिया को वहीं पर खत्म कर दिया जाये। अगर जीवन में विश्वास न कभी आया तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। 'नहीं' को 'नहीं' करके अस्वीकार करने से भी सत्य की अभिव्यक्ति होती है।

अब कोई कह सकता है। कि क्यों मानूँ परमात्मा को? क्योंकि आपके गुरु ने कहा है- इसलिये मानों। क्योंकि सद्ग्रन्थों में लिखा है, इसलिए मानो। क्योंकि उनके माने बिना आपका काम नहीं चल रहा है इसलिये मानो। सदा के लिए साथ देने वाला साथी नहीं मिल रहा है। परम प्रेम से जीवन को भरपूर कर दे, ऐसा भरपूर करदे कि फिर किसी और की जरूरत न रहे-ऐसा कुछ संसार से मिला नहीं है। अचल आधार नहीं मिला, केवल प्रेम-भाव से संतुष्ट होने वाला कोई सगा सम्बन्धी नहीं मिला। इसलिए जरूरत है परमात्मा की। तो अपनी जरूरत से परमात्मा को मान लीजिये, गुरु के कहने से परमात्मा को मान लीजिये, ग्रन्थों में उनकी चर्चा है, उनके आधार पर मान लीजिये। मान लीजिए तो मान ही लीजिए। फिर उसमें बुद्धि न लगाइये।

तो आज की चर्चा के दो भाग अलग-अलग करके रखिये। विचार का उपयोग विचार के क्षेत्र में हो जायगा। विश्वास का उपयोग विश्वास के क्षेत्र में हो जायेगा और आपके व्यक्तित्व की रचना के अनुसार एक की प्रधानता हो जायगी, दूसरा उसमें सहयोगी बन जायेगा। इस प्रकार स्वतः ही आपकी साधना का पथ निर्धारित हो जायेगा। अपने द्वारा हो जाये तो अपने द्वारा करलो। गुरु के कहने से मान सको, तो गुरु के कहने से मान लो। जैसे भी हो, अपने को एक निर्णय पर आना ही चाहिये। एक पथ का अनुसरण करके, एकनिष्ठ होकर अपनी साधना की गहराई में उतरना ही चाहिये। यह काम आज ही होना चाहिए। इसी वर्तमान में होना चाहिए।

अब शांत हो जाइये!

प्रवचन 59

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

सन्तवाणी में हम लोगों ने सुना, अकिंचन और अचाह हो जाने से चित्त शुक्र हो जाता है और शान्त हो जाता है। चित्त शुक्र हो जाने से फिर उसमें नये विकार उत्पन्न नहीं होते और शान्त हो जाने पर वह परमात्मा से लग जाता है, अथवा ऐसा कहें कि जहाँ लगना चाहिए वहाँ लग जाता है, जहाँ से हटाना चाहिये वहाँ से हट जाता है।

साधक समाज का एक बड़ा प्रश्न है कि चित्त को जहाँ लगाना चाहते हैं, वहाँ लगता नहीं है और जहाँ से हटाना चाहते हैं, वहाँ से हटता नहंी है। ऐसा हम सब लोग अनुभव करते हैं। स्वामीजी महाराज का सुझाव इस सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का है। पहली बात तो यह है कि किसमें हमारा मन लग गया, किसमें हमारा चित्त लग गया- इस बात को थोड़ा सावधानी से आप देखिये। मानव सेवा संघ का सबसे पहला नियम है आत्मनिरीक्षण। आप सभी भाई-बहन किसी भी मत के, किसी भी पक्ष के साधक हों, कोई अन्तर नहीं आता है। मन सबके पास हैं, मन की चंचलता का अपने को आभास भी है और उसको निश्चित करने का औचित्य, निश्चित करने का प्रश्न भी सभी साधकों के सामने है। इसलिये आप ज्ञान मार्गी हैं, कि प्रेममार्गी हैं, साकार उपासक हैं कि निराकार उपासक हैं, योग के साधक हैं, कि तत्त्व के शोधक हैं- किस प्रकार के साधक आप हैं इस भेद से कोई अन्तर नहीं आता। जब यह साधक मात्र का प्रश्न है, सबके जीवन में यह समस्या आती ही है, तो इसके समाधान का उपाय भी ऐसा ही सार्वजनिक और सार्वभौम होना चाहिये तो किसी खास साधक के लिये हो और किसी खास के लिये नहीं हो ऐसी बात नहीं है।

पहला नियम महाराज जी ने यह बताया कि सभी भाइयों को, सभी बहिनों को, जिनको

ऐसा दिखाई देता है कि मेरे चित्त में विकार उदित हो रहे हैं, मेरा मन शांत नहीं है इससे अपने को बचाना है। हटाना है तो पहला इन्तजाम यह करना चाहिये कि प्रातः काल थोड़ा जल्दी उठें। तीन, साढ़े तीन बजे के बीच में नींद खुले तो बहुत बढ़िया बात है। उसका इन्तजाम कर लें। रात्रि को देर से भोजन न किया जाये, गरिष्ठ भोजन न किया जाये, हल्का भोजन लिया जाये तो आलस्य कम होता है और चेतना रहती है और समय पर निद्रा खुल जाती है।

प्रातः काल जैसे ही आँख खुले, आप मुँह धोकर, आँखें धोकर कुल्ला करके बैठ जाइये। थोड़ी देर के लिये आत्म-निरीक्षण कीजिये। मूक-सत्संग उसके बाद आरम्भ होगा। लेकिन पहले अपना निरीक्षण और अध्ययन थोड़ी देर के लिये कीजिये तो कुछ-कुछ बातें आपको दिखाई देंगी। ऐसा लगेगा कि बाहर से हम चुपचाप होकर बैठे हैं लेकिन भीतर मन में कुछ गतिशीलता दिखाई दे रही है, चित्त में कुछ अशुद्धि मालूम हो रही है। कुछ विकार उदित हो रहे हैं-ऐसा लगेगा, पर उससे डरना नहीं चाहिए, घबराना नहीं चाहियें। बहुत सावधानी से, अगर आप पढ़ना लिखना जानते हैं और आपको पसन्द आए तो डायरी और पैंसिल लेकर बैठिये।

मैंने ऐसा किया है कि ऐसा करने से मुझको मदद मिली है। दो-चार मिनिट का मामला है, लम्बा चैड़ा काम नहीं है। मन में, चित्त में दिखता है, उपजा तो अहं में से ही है परन्तु प्रकट होता है मन में, चित्त में। मन कहाँ-कहाँ जा रहा है, किन-किन बातों की याद आ रही है, किन-किन व्यक्तियों की याद आ रही है। थोड़ी देर के लिए आप अध्ययन करके देख लीजिये। घबराइये नहीं कि यह सब क्या हो रहा है और उसको डायरी में नोट कर लीजिये। अगर कोई जरूरी काम है जो आज दिन में आपको करना है तो नोट कर लेने से दिमाग का चिन्तन खत्म हो जायेगा। तनाव ज्मदेपवद मिट जायेगा। भीतर का जो चित्र आपको दिखाई दे उसको छिपाना नहीं चाहिये, उसको ढकना नहीं चाहिये, उसको दबाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। बिल्कुल निर्भय होकर के उसे देख लेना चाहिए। क्योंकि अपने सम्बन्ध में अपनी जानकारी जितनी सही होगी, उतनी ही साधना के मार्ग पर आगे बढ़ने में सहायता मिलेगी।

अगर अपनी वर्तमान स्थिति का अपने को पता नहीं है और सन्तजनों की बड़ी-बड़ी बातों को लेकर हम हठ पूर्वक बैठ जाते हैं कि अब ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे तो होता ही नहीं है। कठिनाई पड़ जाती है। तो पहला काम है आत्म-निरीक्षण करो, और अगर उसमें कहीं कोई भूल दिखाई देती है तो भूल को जान लेने के बाद, कि मेरे भीतर यह गलत बात है, उसको छोड़ने की प्रतिज्ञा करो। की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेना-हम सब भाई बहनों के लिए बहुत जरूरी बात है। ऐसा मत सोचिये कि भूलों का त्याग हम नहीं कर सकेंगे। निर्दोष जीवन अपने को पसन्द है, अगर हम अपने को निर्दोष बनायेंगे तो उससे अपना हित होगा बाद में, उसका लाभदायक प्रभाव समाज पर दिखाई देगा पहले। एक-एक परिवार में, एक-एक समाज में अगर एक-एक निर्दोष व्यक्ति खड़ा हो जाता है तो उससे परिवार और समाज का कितना भला हो जाता है।

अब मान लो कि तुम्हारा ध्यान नहीं लग रहा है, मान लो कि हमारे भीतर अभी निज-स्वरूप की स्मृति नहीं आई, निज प्रभु की मधुर स्मृति जाग्रत नहीं हुई। फिर भी हम लोग साधक हैं और सफलता चाहते हैं तो एक बात सोच करके देखिये, कि कौनसा जाप जपेंगे, आपको कौनसा

विधि-विधान आपके गुरु बतायेंगे-ये सब जहाँ के तहाँ बिल्कुल ठीक हैं। लेकिन एक बात सोच करके देखो, कि बैठे-बैठे भी चित्त में उद्विग्नता हो रही है, रहा नहीं जाता, उठ-उठ कर आदमी टहलने लग जाते हैं, सोचने लग जाते हैं, कि कहाँ जायें, किससे बात करें, क्या करें, बैठे-बैठे तो आदमी पागल हो जायेगा-ऐसा क्यों होता है? चित्त में इतनी उद्विग्नता है जिससे अपने को शांति नहीं मिलती है और उसके कारण से जीवन में सरसता नहंी आती है। नीरस और अशान्त जीवन किसी को अच्छा लगता है क्या? नहीं लगता है। तो साध्य से अभिन्नता होने पर सारा जीवन आनन्द से भर जायेगा, रस से भर जायेगा-इस अपने उद्देश्य को सब समय हम लोगों को दृष्टि में रखना ही चाहिये।

अगर जीवन से अभिन्न होने के लिये पुरुषार्थ करना है, परम प्रेम से भरपूर होने के लिए पुरुषार्थ करना है, तो अकेले में प्रातःकाल बैठते ही अपना चित्र देखें। तो अपने चित्त में कुछ अशुद्धि दिखाई देगी। कुछ ऐसे विचार उदित होंगे कि जिनको हम लोग पसन्द नहीं करेंगे और कुछ ऐसे व्यर्थ चिन्तन उदित होंगे कि जिनको आप मिटाना पसन्द करेंगे।

इसके आगे क्या करें? व्यक्तिगत सत्संग करें। अपने लक्ष्य को याद करें, कि कोई चिन्ता नहीं, ऐसा दिख रहा है तो दिखने दो। लेकिन अपना लक्ष्य क्या है? यह याद रखें। अपना लक्ष्य है परम शान्ति! अपना लक्ष्य है अमर जीवन!! अपना लक्ष्य है परम प्रेम!! वास्तविक जीवन का स्वरूप भी यही है। जो नित्य तत्त्व हैं उसकी विभूतियाँ भी ये ही हैं। जो प्रेमस्वरूप परमात्मा हैं उनकी विभूतियाँ भी ये ही हैं और यही हम लोगों के अहंरूपी अणु में बीज तत्त्व के रूप में विद्यमान है।

परम शांति भी भीतर विद्यमान है, स्वाधीनता भी है, परम प्रेम भी है। यह सब विद्यमान होते हुए भी अपने लोगांे को आराम नहीं मिल रहा है तो क्यों नहीं मिल रहा है? क्योंकि जानी हुई भूल को करते गये और की हुई भूलों को दुहराते गये। भूलों को करते जाने से, दुहराते जाने से, चित्त में और मन में अशुद्धि बढ़ती जाती है। अशुद्धि के रहते अन्दर का जो अपना वास्तविक स्वरूप है, नित्य-तत्त्व की विभूतियाँ हैं अपने ही में विद्यमान हैं वे प्रकट नहीं होतीं और आराम नहीं मिलता है। यह बात आपको जँचती है तो पहला काम आपको क्या करना चाहिए?

पहला काम करना है अपने जीवन को निर्भूल बनाना। जानी हुई भूल करेंगे नहीं, की हुई भूल को दुहरायेंगे नहीं। मैंने ऐसा अनुभव करके देखा कि प्रकृति का बनाया हुआ शरीर है, साँस चल रही है, रक्त-संचार हो रहा है, आप लोग थोड़ा बहुत-कुछ हल्का जलपान करके आये होंगे तो उसकी पाचन क्रिया सहज भाव से चल रही है। तो इन क्रियाओं को करने का अपने को कोई भार या श्रम मालूम नहीं होता है। अगर पेट में वायु विकार पहले से हो तो तकलीफ होगी। पता चलेगा कि हमारे पेट में कुछ क्रिया हो रही है। ऐसे ही मन और चित्त, जो समष्टि शक्तियों के अंश हैं, स्वभाव से ही शुक्र हैं। बहुत ही निश्चित और प्राकृतिक ढंग से इनकी बनावट भी है और प्राकृतिक ढंग से इनका संचालन भी है। इसलिए जब तक मनुष्य अपनी ही भूल से विविध प्रकार के विकारों से मन और चित्त को खराब नहीं कर देता, तब तक यह प्राकृतिक शक्तियाँ आदमी को तकलीफ नहीं देती हैं।

मैंने तो इस विषय में अध्ययन और अध्यापन में तीस-इकतीस वर्षों का समय लगाया। प्राकृतिक क्रियाओं का भार या दबाव अपने पर

कब पड़ता है जब इनमें किसी प्रकार का विकार हो और अगर कोई विकार नहीं है तो बहुत सहज से सब काम होता रहता है और अपने पर दबाव नहीं पड़ता है। इस तरह से मन और चित्त को जब हम अपनी भूलों से गंदा कर देते हैं, उसमें तरह-तरह के संस्कार अंकित कर देते हैं तब वे विकृत हो जाते हैं। और जब विकृत हो जाते हैं तो अपने को पता चलता है कि मेरे पास मन है, या मेरे पास चित्त है। काम करने को दो, तो आदमी काम नहीं कर सकता, क्योंकि मन नहीं लगता है। काम छोड़कर आराम करने को कहो, तो आराम से नहीं रह सकता है, क्योंकि भीतर भीतर बड़ी बेचैनी है। तो काम दो तो काम नहीं कर सकें, आराम दो तो आराम न ले सके-यह स्वाभाविक बात नहीं है। यह सब।इदवतउंसपजल के लउचजवउे हैं अस्वाभाविक के चिहन् हैं। असामान्यता के लक्षण है।

तत्त्व तो एक ही है। एक ही अव्यक्त तत्त्व, असंख्य-असंख्य व्यक्त दृश्यों में व्यक्त हुआ। उसी में से सब कुछ बना है। उसी में से हम भाई बहन भी बनें हैं। उसी में से स्थूल आकृतियाँ बनी हैं। उसी में से सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियाँ निकली हैं। जैसे स्थूल शरीर की स्थूल क्रियायें हैं, ऐसे ही सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म क्रियायें हैं। सूक्ष्म शक्तियाँ जिनके द्वारा मन, चित्त आदि की रचना हुई और उनकी सूक्ष्म क्रियायें, जिनसे हम लोग परिचित होते रहते हैं, जिनका भार और दबाव अपने पर पड़ता रहता है-ये मौलिक रूप से कभी अशुऋ थे नहीं। एक बात पक्की हो गई। अब अच्छी तरह से जान लीजिये, कि जानी हुई भूल को करते ही जाओगे तो उसके परिणामस्वरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण-सब स्तरों पर विकार पैदा होता चला जायेगा। उससे अशुद्धि आ जायेगी अशुद्धि आने से अपने को पता चलने लगेगा कि मेरे पास मन है, मरे पास चित्त है, और उसकी यह दशा है।

अब शुऋ की पहचान क्या है? शुऋ की पहचान यह है कि जब आप साधक के रूप में आँखें खोल कर जगत् की ओर देखें तो जगत् दिखई दे और सेवा के रूप में राग-निवृत्ति का साधन करने का प्रश्न आवे तो सर्वेन्द्रियों की शक्तियाँ, बाह्म इन्द्रियों और अन्तः इन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ ैमदेम वतहंदे ंदक उवजवत वतहंदे सबकी सब शक्तियाँ इकट्ठी होकर आपके साथ जुट जायें और आप सेवा में तल्लीन हो जायें और कार्य से फुरसत पायें, तो एक दम उधर से छूटते ही आपको अपने भीतर ही भीतर से विश्राम की अभिव्यक्ति होने लगे, शान्ति की अभिव्यक्ति होने लगे और जिस पन्थ के साधक आप हैं, उसी के अनुरूप निजस्वरूप में स्थित हो जायें, अथवा निज प्रभु के प्रेम के भाव में मग्न हो जायें। तो काम करते समय भी 'स्व' से भिन्न मन को जाता हुआ हम लोगों को महसूस नहीं करना चाहिये। यह मन तो कहीं और जा रहा है-ऐसा विभाजन अपने अनुभव में नहीं आना चाहिये। शान्त होने पर, विश्राम में आने पर, मूक सत्संग में, समर्पण योग में, कोई भी बात जो आपको पसन्द आवे, आप करेंगे।

उस शुऋ चित्त में, उस शांत चित्त में, उसी शुऋ और शांत मन में यह सामर्थ् है कि उसकी जो शक्तियाँ हैं, वे आपके साथ जुट जायें। अभी कैसा लग रहा है! अभी तो विभाजन लगता है। मनोविज्ञान में इसे डनसजपचसम चमतेवदंसपजल कहते हैं, अर्थात् एक ही मनुष्य का व्यक्तित्व कई टुकड़ों में बँट गया है। कभी लगता है कि धन कमाने में पूरा मन लगाना चाहिये। कभी लगता है कि भाई, ठीक है बहुत कमा लिया, खा लिया, तो अब कमाये हुए धन से

समाज की सेवा करने में लगना चाहिये। कभी लगता है कि भाई, कब तक करते रहेंगे। चलो एकान्त में शान्त बैठकर भजन करेंगे, तो कभी कुछ, कभी कुछ, थोड़ी-थोड़ी देर में गतिविधि बदलते रहते हैं। एक ही मनुष्य है, उसका एक ही व्यक्तित्व है और उसकी एक ही शक्ति है और जब यह टुकड़ों-टुकड़ों में, विभिन्न भागों में बँट जाती है तो आदमी बहुत परेशान हो जाता है। दुर्बल हो जाता है, किसी काम में पूरी तरह से लगने की सामर्थ् उसकी खत्म हो जाती है।

आपने सभी सन्त महानुभावों से सुना होगा, गुरुजनों से सुना होगा, सद्ग्रन्थों में पढ़ा होगा। साधक के लिए किसी भी साधना में एकनिष्ठ होने की बात कही जाती है। एक निष्ठ होने का मतलब क्या है? कि आपकी सम्पूर्ण जीवनी शक्ति सत्य की एक ही दिशा में प्रवाहित हो। टुकड़ों-टुकड़ों में बँटे नहीं, लेकिन चित्त की अशुद्धि के कारण, विकृति के कारण से, की हुई भूलों के परिणाम से जो विकार उत्पन्न हो गये-उनके कारण से मनुष्य की वृत्ति एक दिशा में नहीं रहती और एकनिष्ठ नहीं हो पाती है। जीवनी शक्ति का टुकड़ों टुकड़ों में बँट जाना तो योग के विपरीत दशा है और सारी शक्तियाँ मिल करके एक ही दिशा में गतिशील हां तो यह योग की दिशा हो गई। योग में और कोई खास बात नहीं है। बात केवल इतनी सी है कि जीवनी शक्ति विभाजित न रहे, टुकड़ों में बँटी हुई न रहे। एक केन्द्र पर केन्द्रित हो जाये तो आपका जो साध्य है, उसको याद कर लीजिये, जिस रूप में आपने स्वीकार किया है। आपका जो वर्तमान चित्र है उसको देख लीजिये। उसमें जो गलतियाँ मालूम होती हैं उनको छोड़ने का प्रयास कीजिये।

जीवन की दुर्बलताओं को मैंने अनुभव किया है। मैं जानती हूँ कि विवेक का अनादर करते जाने से ऐसी दुर्बलता व्यक्ति में आ जाती है। आँखों से दिख रहा है साफ-साफ कि पर-निन्दा में, पर-चर्चा में समय नहीं गँवाना चाहिये। फिर भी बातचीत के प्रवाह में हम पर-चर्चा में शामिल हो गये। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है, कि वर्तमान में भीतर-भीतर नीरसता सताती है तो वृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है। दूसरों की बातचीत करने में मन बहलाव हो जाता है। अपने भीतर अपनी प्दमितपवतपजल हीनता की भावना सता रही है। क्या बताऊँ, इतने दिन हो गये मैंने अपने को प्रभु-विश्वासी स्वीकार किया था। लेकिन आज तक मेरी प्रभु से भेंट नहीं हुई तो प्रभु विश्वासी साधक के लिए, भगवत् भक्त के लिए, यह कम दुःख की बात नहीं है कि मैं 'भक्त' भी मौजूद हूँ, मेरे आराध्य भगवान भी मौजूद हैं और फिर भी हमारी उनकी भेंट नहीं हुई। तब भी मुझे भूख लग रही हैं, खा रही हूँ, सो रही हूँ और मिथ्या अभिमान लेकर सिर ऊँचा करके समाज में घूम रही हूँ। यह मेरे लिए लज्जा की बात नहीं है क्या?

अपने भीतर जब अपनी हीन भावना आदमी को सताती है तो वह उसको छिपाने, दबाने के लिए दूसरों की निन्दा में रस लेने लगता है। इन सब दशाओं का जब परिचय अपने को मिल जाता है तो साधक सावधान होता है और सावधानी इसमें हम क्या करेंगे? मैं तो अधीर होकर सर्वसमर्थ प्रभु को पुकारती हूँ कि महाराज! आपने बढ़िया-बढ़िया शक्ति, बढ़िया-बढ़िया बुद्धि सब अच्छा-अच्छा दिया था, लेकिन मैंने विवेक का अनादर करके, अपनी दुर्दशा करके इन सबको बीमार बना दिया। सबमें विकार पैदा कर दिया। मैं अब अत्यन्त दुर्बल हूँ। इसलिए हे समर्थ स्वामी! मेरी मदद कीजिये। इतना तो अपने लिए सम्भव है ही।

जिन्होंने विश्वासपथ को नहीं अपनाया है वे ज्ञान के प्रकाश में, विवेक के प्रकाश में की हुई

भूलों को मिटाने के लिए तत्पर है। भूतकाल की भूलों के कारण दुर्बलता तो उनमें भी आ गई थी। वे क्या करेंगे? उनके लिए भी बहुत सहज बात है कि वे अपना चित्र देखें और अगर कोई त्रुटि स्पष्ट दिखाई दे, तो उस भूल को पहले मिटा दें। जबर्दस्ती अपने को अपराधी न मानें। अगर सचमुच भूल मालूम पड़े तो जिस भूल को मिटाये बिना आप शरीरों से तादात्म्य तोड़ने में असमर्थ हो गये हैं। तो पहले उस अशुद्धि को मिटा करके उसे शुऋ करना पड़ेगा, तब उसका संग छूटेगा-तो जिनभूलों को न मिटाने के कारण शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ् अपनी घट गई है, उन भूलों को अपने में देख करके जो सत्पथ के साधक हैं, उनको बड़ी वेदना होती है, गहरी लज्जा होती है, तब ये विश्वासियों के समान परमात्मा को पुकारते नहीं हैं लेकिन जीवन का जो सत्य है, जीवन का जो वास्तविक तत्त्व है वह बिना पुकारे ही उन निर्बल साधकों की मदद कर देता है। उसमें बल आ जाता है, उनके दोष मिट जाते हैं और उनको भी आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता है।

इस प्रकार आप सभी भाई-बहन थोड़ा-थोड़ा प्रयोग अभी से आरम्भ कर दीजिये। अभ्यास यहीं पर हो जायेगा। घर जाने पर भी कठिनाई नहीं होगी। किस प्रकार का कपड़ा पहनेंगे, किस प्रकार का भोजन करेंगे, किस प्रकार के मकान में रहेंगे, किस तरह की आसन मुद्रा करेंगे-इसमें तो आपकी अपनी स्वाधीनता है और गुरु ने जिसको जैसी सलाह दी हो, उसमें खूब विश्वास करके, उसका अनुसरण करते हुए आप व्यक्तिगत सत्संग को अपने जीवन का एक आवश्यक, परमावश्यक प्रोग्राम बना लीजिये तो बहुत मदद मिलेगी।

अब आगे क्या होगा? बहुत बढ़िया बात हो जायगी। मैंने ऐसा अनुभव करके देखा है कि शरीरों से तादात्म्य से भी पहले अगर शरीर के भीतर की, स्थूल शरीर की बात मैं कह रही हूँ, कि स्थूल क्रियाओं में ठीक सन्तुलन चल रहा है तो अपने ही जीवन के मूल में विद्यमान जो शान्ति है, वह भीतर-भीतर प्रकट हो करके सब अंगों पर छा जाती है। यह योगवित् होने से पहले की तैयारी है। फिर क्या होता है? बड़ी शांति भी मिलती है, बड़ी शक्ति भी मिलती है। इसी प्रकार से अपने लक्ष्य को याद कर लेने पर उसको प्रधानता दे देने से संसार के दूसरे सारे कार्य सहयोगी साधन बन जाते हैं, बाधक नहीं रहते हैं।

अभी भी वर्तमान दशा क्या है? वर्तमान दशा यह है, कि ठीक तरह से रहने का इन्तजाम हो जाय, ठीक तरह से खाने का इन्तजाम हो जाय, घर से पत्र आया हो तो समय से उसके मिल जाने का भी इन्तजाम हो जाना चाहिये और म्उमतहमदबल में, जल्दी में जाना पड़े तो उसकी भी तैयारी होनी चाहिये, इतना घनिष्ट लगाव नाशवान जगत् से रख करके हम थोड़ी देर के लिए समाधि का आनन्द लेना चाहते हैं, तो मिल नहीं पाता है। क्यां नहीं हो पाता? दिमाग तो लग गया इस सारे इन्तजाम में। क्यों लग गया भाई? क्योंकि हम लोगों ने इस बात को प्रधानता दी है कि घर में सब कुशलता से बीत रहा है तो हम यहाँ बैठ के थोड़ा सा भजन कर लें। अगर जरूरत पड़ेगी तो हम चले जायेंगे। तो प्रधानता किसकी हुई? प्रधानता हुई भौतिक जगत् व्यवहार में सन्तुलन बनाने की। इसकी प्रधानता हो गई और मन की, चित्त की शान्ति और शुद्धि और भगवद् भजन और योगवित् होना, समाधिस्थ होना-यह कहाँ रह गया? कि बाहर का सब ठीक-ठाक रहेगा तब इसकी चेष्टा करेंगे। यह तो

मदेमसमे बात हो गई। अब बाहर का सब ठीक-ठाक है, तो देर में बाहर का सब इन्तजाम उलट-पुलट हो जायेगा। उसकी थोड़ी चिन्ता में फँसा हुआ आदमी गंगाजी के तट पर बालू पर बैठ करके समाधि का आनन्द लेना चाहता है। तो आप कहेंगे कि क्या करें, अरे, करोगे क्या? जीवन का दृष्टिकोण बदलो! सोचो कि मैं क्यों साँस ले रही हूँ? मैं क्यों धरती पर पाँव रख रही हूँ? मैं क्यों समाज का दिया हुआ अन्न ग्रहण कर रही हूँ। मैं क्यां प्रकृति की सहायता ले रही हूँ? मैं क्यों प्रभु के दिये हुये अवसर को यहाँ गँवा रही हूँ? इन सारी बातों के उत्तर में एक ही वाक्य आपको मिलना चाहिये कि भाई, मुझे तो साध्य से अभिन्न होना है। मुझे तो परमात्मा के प्रेम से जीवन को भरपूर करना है।

जीवन का जो लक्ष्य है उसको च्तपउंतल मानेंगे तब न सब चिंतन उसमें जुट जायेगा, सब कर्म उसमें जुट जायेगा, सब कुछ उसमें लग जायेगा। प्रधान मानते हैं हम लोग भौतिक व्यवस्था को, और सोचते हैं कि यह सारी व्यवस्था ठीक-ठाक रहेगी, और मौका मिलेगा तो थोड़ा भजन कर लेंगे। ज्यादा करेंगे सांसारिक व्यवस्था, थोड़ा सा करेंगे भजन तो उसका परिणाम भी वही होगा। थोड़े भजन का थोड़ा फल और संसार के साथ ज्यादा लगाव करने का ज्यादा फल मिलेगा। तो बदलना चाहिये। क्या बदलियेगा? सामान बदल दीजिये तो काम चल जायेगा? वेष बदल दीजियेगा तो काम चल जायेगा? स्टील की थाली हटा कर केले के पत्ते में खाना शुरू करियेगा तो बदल जायेगा? यह सब नहीं है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलना चाहिये। दृष्टिकोण बदल गया तो बाकी सब अपने आप ही बदल जाता है। रहन-सहन सब अपने आप ही बदल जाता है। तो दृष्टिकोण बदलना-यह मेरी भाषा है। यह स्थूल जगत् के विज्ञान के आधार पर बनी हुई भाषा है।

अब स्वामीजी महाराज के मुख से मैंने क्या सुना? उन्होंने कहा कि "भैय्या, कपड़ा बदलने से और सामान बदलने से पहले, इन सबको बदलना जरूरी तो होगा लेकिन पीछे, पहले क्या करोगे? पहले अहं बदलो।" अहं कैसे बदलता है? भाई, अभी हम जी रहे थे सुख-भोग की दृष्टि से, अभी हम जी रहे थे हाडमांस के पुतले के साथ, आंशिक के साथ सुख लेने के लिये। अब हम जी रहे हैं परम पवित्र, परम-मधुर, प्रेमस्वरूप परमात्मा का प्रेमी होने के लिए। अन्तर मालूम होता है? सुख के भोगी बने रहो और साधन पसन्द करो तो सिऋ नहीं होता है साधना तो अपने आप ही जीवन में प्रकट हो जाने वाली चीज है। की हुई साधना अखन्ड अर्थात् ठोस होती ही नहीं है। जब अपने आप बन जाती है तो निरन्तर चलती रहती है। जिन भगवत् विश्वासियों ने प्रभु के प्रेम को जीवन में प्रधानता दी, बाकी सब उसके भीतर समाहित कर दिया, उनको याद करना नहीं पड़ता था। उनको क्षण-क्षण में प्यारे की याद आती ही रहती थी। ऐसी कोई घड़ी नहीं, ऐसा कोई क्षण नहीं, कोई काम नहंी कि जिसके भीतर से उनको अपने प्यारे प्रभु की याद नहीं आती है। सब समय वह मधुर स्मृति-भीतर भीतर अहं को कोमल बनाती रहती है, तरल बनाती रहती है और मैंने प्रेमीजनों के पास बैठकर देखा है कि भीतर प्यारे की

मधुर स्मृति जाग्रत हो गई, तो उनके लिए वृत्ति को बाहर करना कठिन होता है, स्वाभाविक रहता है भीतर-भीतर डूबे रहना। मैं बैठे-बैठे दर्शन करती रहती हूँ, आनन्दित होती रहती हूँ। अपने को कहती रहती हूँ, देख लो, एक तुम्हारी दशा है कि वृत्ति को अन्तर्मुख करने के लिए कितना प्रयास करना पड़ता है। इसलिये प्रयास

करना पड़ता है कि जीवन के लक्ष्य को प्राथमिकता नहंी दी है।

तो आज का पाठ मैं यहीं खत्म करती हूँ। आज का समय बीत गया है। मुख्य-मुख्य बातें आप अपने लिए याद करलें। चलते-फिरते, विचार करते हुए आप अहं में परिवर्तन ला सकते हैं। सुखभोग की दृष्टि की जगह पर योगवित् होने को प्रधानता दे सकते हैं। असत् के संगजनित सुख का त्याग करके सत्संग के प्रकाश को प्रधानता दे सकते हैं। बैठे-बैठे फैसला हो जाता है, चलते-चलते फैसला हो जाता है, बातचीत करते-करते फैसला हो जाता है। समय नहीं लगता है। कोई कठिनाई नहीं होती है। कुछ नहीं। केवल आपकी सजगता इसके लिए पर्याप्त है। अब शान्त हो जाओ।

प्रवचन 60

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

हम सब लोग मानव हैं। मानव होने के नाते साधक हैं और साधक के जीवन में वर्तमान में सफलता मिलनी चाहिए-यह एक आवश्यक बात है। सफलता कैसे मिलती है? इसी प्रश्न पर पिछले कई दिनों से हम लोग बातचीत कर रहे हैं। स्वामीजी महाराज की प्रणाली में एक शब्द का प्रयोग किया गया है-मूक सत्संग। इस शब्द का अर्थ कई साधक भाई-बहन पूछते हैं। जिन्होंने यह शब्द पहले से सुन रखा है, "मूक सत्संग और नित्य योग" नाम की एक पुस्तिका भी महाराज जी की लिखाई हुई है, उसको भी जिन लोगों ने पढ़ा है, उन्हें कुछ-कुछ परिचय है। कुछ अपरिचित भाई बहन हैंऋ वे पूछ रहे हैं तो थोड़ा सा मैं उसका परिचय देती हूँ।

"मूक सत्संग-इस शब्द का अर्थ है, कुछ न करने के द्वारा सत्य के संग में होने का अनुभव करना। 'मूक' शब्द का अर्थ सामान्यतया न बोलने से लिया जाता है, कोई बोलना बन्द कर दे तो कहते हैं कि आजकल वो मूक हो गये हैं तो केवल वाणी के द्वारा बोलने की क्रिया को बन्द कर देना-मूक होना कहलाता है। परन्तु स्वामीजी महाराज ने मूक सत्संग का यह अर्थ किया है कि किसी भी कारक अंग के द्वारा कुछ न करना-मूक हो जाना। अर्थात् केवल वाणी से बोलना छोड़ दो, ऐसा नहीं है; आंँखों से देखना छोड़ दो, कानों से सुनना छोड़ दो, मन से सोचना छोड़ दो, कुछ भी करने की बात मत रखो, सब कुछ करना छोड़ दो-इसको उन्होंने मूक शब्द से प्रकट किया है और दूसरा शब्द रह गया सत्संग। तो सत्संग का अर्थ क्या है।

सत् के संग में हम सभी भाई-बहिन सदैव रहते ही हैं। सत् का संग कभी छूटता ही नहीं है। सत्य आपके अस्तित्व से कभी अलग होता नहीं है। सत्य की सत्ता से हम लोग कभी अलग हुए ही नहीं। तो वस्तुतः सत्य का संग नये सिरे से करना नहीं है। लेकिन असत् के संग से सत् की उपस्थिति का अपने को पता नहीं चलता। इसलिए असत् के संग को छोड़ने का नाम सत्संग रखा स्वामीजी महाराज ने। हम लोग सत्य की चर्चा करते हैं। यह सत् चर्चा कहलाती है और ग्रन्थों को पढ़ो और उसमें से सद्विचारों को ग्रहण करो, मनन करो, सोचो, विचारो तो वह सत् चिन्तन कहलाता है; अच्छे काम करो, दूसरे लोगों के साथ भलाई का व्यवहार करो-यह सत्कर्म कहलाता है। तो सत्कर्म, सत्-चिन्तन, सत् चर्चा-ये सब पृष्ठभूमि है। सत्संग की तैयारी है।

सत् कर्म करने से हृदय उदार बनता है। सत् चिन्तन के द्वारा सत्-असत् के विभाजन की बात अपने सामने स्पष्ट होती है। सत् चर्चा के द्वारा

हमारी पृष्ठभूमि तैयार होती है। यह सब कुछ करने के बाद अपने जाने हुये असत् का त्याग कर देना सत्संग कहलाता है। जिस कारण से हमारे ही भीतर विद्यमान सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हो रही है उस कारण को मिटाना सत्संग कहलाता है, यह एक हिस्सा हुआ। अब दूसरी बात देखिये। जिस कारण से अपने ही में विद्यमान सत्य की उपस्थिति का हम लोगों को पता नहीं चल रहा है उस कारण को मिटा देने का बहुत ही स्वाभाविक फल यह होता है कि अपने ही में विद्यमान सत्य की उपस्थिति का अपने को पता चल जाता है। क्या-क्या पता चलता है? कि जीवन के मूल में शान्ति विद्यमान है। इसलिए शान्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है। बिना किसी बाहरी आधार के अपने ही में जीवन तत्त्व के रूप में शान्ति विद्यमान है और वह प्रकट हो जाती है, तो भीतर बाहर सब तरफ एकदम शान्ति छा जाती है।

शान्ति तत्त्व का प्राकट्य क्या प्रमाणित करता है कि बाहर से अपने जाने हुये असत् के संग का त्याग कर दिया तो अपने जीवन में मौलिक तत्त्व के रूप में जो शान्ति विद्यमान है वह प्रकट हो गई तो सत्य और उसकी उपस्थिति का अनुभव अपने को हो जाता है, ऐसा होता है।

मैं राँची में रहती थी। वहाँ शहर के बाहर एक संत का स्थान बना हुआ था। जहाँ वे रहा करते थे। वे महापुरुष अपने ही निज स्वरूप में, अपनी ही शांति में सब समय प्रतिष्ठित रहते थे। जब-जब वे वहाँ होते तो महाराज जी उनसे मिलने जरूरत जाते। उस आश्रम में प्रवेश करते ही ऐसा लगता था कि वहाँ की हवा में शान्ति भरी हुई है। वृक्ष के पत्ते जैसे हिलना बन्द कर एकदम स्थित हो गए हों-ऐसा दिखाई देता था। शान्ति का तत्त्व उनके भीतर-बाहर ऐसा भरा रहता कि जैसे ही हम वहाँ जाकर बैठते, तो बिना चेष्टा किये, अपने आप भीतर की सब गतियाँ शांत होने लग जाती, जैसे किसी ने जादू कर दिया हो। तो जैसे ही आकर के उनके सामने खड़े हुए स्वामी जी महाराज, तो जहाँ के तहाँ खड़े ही रह गए। न हिलें, न डुलें, न वे आकर के इनको मिले, न ये आगे बढ़कर उनके पास पहुँचे। हम लोग खाली यह दृश्य देख रहे थे। बड़ा आनन्द छा रहा था। इधर वे अपनी शांति में मग्न हो गये, उधर स्वामीजी महाराज अपनी शांति में आप मग्न हो गये।

फिर आगे बढ़कर प्रज्ञानपादजी ने स्वामीजी को हृदय से लगाया। दोनों खूब मिले। उन सन्त का शरीर भी महाराजजी से करीब 7, 9 इंच ऊँचा था। बड़े भव्य पुरुष दिखते थे। फिर वे स्वामीजी का हाथ पकड़कर भीतर ले गये और जाकर के आसनों पर बैठ गये और फिर शांति में डूब गये।

स्वामीजी महाराज ने कहा, कि मुझे तो सबसे बढ़िया बात यही लगती है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, अहं अभिमान शून्य हो जाय, हृदय परम-प्रेम से परिपूर्ण हो जाय। यही जीवन की सार्थकता है। प्रज्ञानपादजी बड़े प्रसन्न हुए और कहा, बहुत बढ़िया बात है। समर्थन कर दिया और कहा, "महाजनों येन गतः स पन्थाः" और फिर चुपचाप हो गये। कुछ देर तक ऐसे ही रहा।

यह कथा सुनाने का तात्पर्य मेरा यह है, कि मूक-सत्संग का अर्थ यह लेना होगा हम लोगों को कि सब प्रकार की भीतरी-बाहरी सूक्ष्म और स्थूल क्रियाओं को अपनी ओर से करना छोड़ दो, जो होना है, वह तो होगा। साँस चल रही है, तो उसको रोकना नहीं है। रक्त का संचार शरीर में हो रहा है, तो उसको रोकना नहीं है। अपने आपसे जो हो रहा है उसको रोकना नहीं है। लेकिन, तुम जो कर रहे हो उसे करना बंद कर दो केवल वाणी की क्रिया नहीं, सब इन्द्रियों की क्रियाओं से असंग

होने का अर्थ यह हुआ कि तीनों शरीरों से असंग हो जाइये। शरीरों की असंगता में एक बड़ी विलक्षणता यह है कि जो सत्य जहाँ का तहाँ विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का आपको पता चलने लग जाता है।

यह तो मैंने अपनी भाषा बनाई है, अपने को समझाने के लिये। "सत्य प्रकट हो गया" या "सत्य की प्राप्ति हो गई" ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं निकलता। सत्य अप्राप्त है ही नहीं तो उसकी प्राप्ति क्या होगी? और अगर मैं कहूँ, कि सत्य की प्राप्ति हो गई, तो यह भाषा गलत हो जायेगी ऐसे कहने का अर्थ निकलेगा कि पहले सत्य अप्राप्त था। लेकिन नहीं, ऐसा नहीं है।

अभी यहीं पर बैठे-बैठे अपने व्यक्तित्व का आप अस्तित्व अनुभव कर रहे हैं कि 'मैं हूँ' और श्रोता हूँ ऐसा आपने स्वीकार किया है। तो 'मैं हूँ' मैं श्रोता हूँ, मैं सुन रही हूँ, मेरी समझ में आ रहा है। इस प्रकार भरी सभा में होते हुए भी हर भाई-बहन अपने एक स्वतन्त्र अस्तित्व का अनुभव कर रहा है या नहीं? जी? आपमें से बहुत से भाई-बहन ऐसे भी हैं, जो आस-पास में बैठे हुए लोगों की चंचल गति-मति देख करके भी उनके प्रति बेपरवाह होकर एकाग्र चित्त से सुन रहे हैं तो निश्चय ही वे अपने को एक स्वतन्त्र इकाई अनुभव कर रहे हैं। किस समय कर रहे है? परिवार से लगाव बना हुआ है, तब भी कर रहे हैं। समाज से सम्बन्ध जुटाये हुए हैं, तब भी कर रहे हैं। शरीर में अनेकों प्रकार के रोग लगे हुए हैं, तब भी कर रहे हैं चित्त में कई तरह का दुःख भरा हुआ है तब भी अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को आप अनुभव कर रहे है और अपने को इतना स्वाधीन मान रहे हैं कि मैं चाहूँ तो आस-पास के व्यक्तियों से, भाईयों से, बहनों से सम्बन्ध बनाकर रख सकता हूँ, उनके साथ मिलकर काम कर सकता हूँ और मैं नहीं चाहूँ, तो मैं एकदम बिल्कुल अकेले अपने ढंग से विचार कर सकता हूँ, सुन सकता हूँ। इतनी स्वाधीनता आपको इसी वर्तमान में मालूम हो रही है। तो यह प्रमाण है कि उस परम स्वाधीन की सत्ता पर आपकी अपनी सत्ता आधारित है इसलिये सारे विश्व के बीच में शरीरों के साथ रहते हुए भी आप अपनी एक स्वतन्त्र सत्त को अनुभव करते हैं।

जब कभी बाह्य जगत् की ओर आपकी दृष्टि जाती हैं और किसी भी दृश्य को आप देखते हैं, तो यह नहीं कहते हैं कि यह दृश्य मैं हूँ। आप यह कहते हैं कि यह मेरा दृश्य है। सच पूछिये तो दो ही विभाग दिखाई देते हैं- आपकी अपनी सत्ता और आपसे भिन्न प्रतीत होने वाला एक जगत्। ये दो ही हैं समग्र प्रतीति दृश्य की जाति में। आप उसको देखते है और अनुभव करते हैं कि मैंने देखा, यह मेरा दृश्य है, यह मेरा देखा हुआ है तो आप प्रतीत होने वाले जगत् से भिन्न अपनी एक सत्ता को अनुभव करते हैं। इसी से यह प्रमाणित होता है कि आपका उद्गम एक परम सत्ता से है जो इस समय भी आपके भीतर विद्यमान है। जीवन का जो मूल आधार है, उसी पर आधारित हमारा जीवन है, और उसका जो अनन्त प्रकाश है उसी प्रकाश के आधार पर हमारी प्रतीति है। दोनों में स्पष्ट भेद हम लोगों को दिखाई देता है।

बाहर का दृश्य आप देखते हैं, तो बाहर का दृश्य भी आपको अपने से भिन्न दिखाई देता है। मैंने आकाश देखा, मैंने गंगा की धारा देखी, मैंने पक्षी की ध्वनि को सुना, मैंने हवा को चलते हुए उसका स्पर्श अनुभव किया-यह सब दृश्य आप देखते हैं। उसी तरह से आँखें बन्द कर लीजिये, कान बन्द कर लीजिये, बाहर की भौतिक उत्तेजनाओं को ग्रहण करने वाले सब दरवाजे बन्द कर लीजिये, तो सूक्ष्म शरीर के आधार पर, सूक्ष्म

जगत् के आधार पर पहले की प्रतीतियों के जो चित्र अंकित हैं, वे भी दृश्य के रूप में आपको दिखाई देने लग जाते हैं।

अब आप देखिये, कि यह भीतर का दृश्य भी आपसे भिन्न है। अगर भिन्न नहीं होता तो आपका दृश्य नहीं बनता। जो 'स्व' होता है, वह दृश्य नहीं बनता। अब यह स्वामीजी महाराज का सैद्धान्तिक सूत्र है, जीवन का दृश्य नहीं बनता, दृश्य जीवन नहीं होता। पकड़ में आती है बात? जो 'स्व' में है वह आपका दृश्य नहीं बनेगा और जिसको आप दृश्य के रूप में देखते हैं,वह आपके 'स्व' में नहीं है। अलग ही है अपने से। जिस उद्गम में से समस्त उत्पत्ति होती है, उसी उद्गम में से हम लोगों की उत्पत्ति हुई है, और जिसके प्रकाश में भीतरी-बाहरी समस्त दृश्यों की प्रतीति होती है, उसी के प्रकाश में हम भीतरी दृश्यों को देख रहे हैं। तो जब तक आपको बाहरी दृश्य की प्रतीति हो रही है, जब तक आपको भीतरी चित्रों की प्रतीति हो रही है, तब तक आप कैसे कह सकते हैं कि वह उद्गम नहीं है? कह सकेंगे? कोई सत्ता सबकी परम प्रकाशक, समस्त प्रतीति की प्रकाशक है। जब तक आपको प्रतीति हो रही है तब तक उस प्रकाशक को इन्कार कैसे करियेगा? नहीं कर सकेंगे।

अभी सूर्योदय हो गया, प्रकाश और ताप भौतिक वायुमण्डल में फैल गया। उस प्रकाश और ताप को अनुभव करते हुए कोई कह सकता है कि सूर्य का उदय नहीं हुआ? जी? नहीं कह सकता। उसी तरह से अपने 'मैं पन' का अनुभव करते हुए और भीतरी-बाहरी दृश्यों की प्रतीति के होते हुए कोई कह सकता है कि सर्व उत्पत्ति का आधार विद्यमान नहीं है कि सर्वशक्ति का प्रकाशक कहीं चला गया है? कह सकता है कोई? नहीं कह सकता। तो देखिये, किसी भी क्षण में आपको यह कहने का कोई अवसर नहीं है कि अलख, अलौकिक, अगोचर, अविनाशी, अनन्त तत्त्व का हमको पता नहीं है। ऐसा कहने का बींदबम अवसर नहीं है भाई।

मूक सत्संग के द्वारा स्वामीजी महाराज ने इस तथ्य को हम लोगों के सामने रक्खा कि चूँकि तुमने प्रतीत होने वाले जगत् से अपना सम्बन्ध मान लिया तो तुम्हारा सम्बन्ध मानना असत् है दृश्य तो दृश्य ही है। 'पर' तो पर ही है, वह 'स्व' हो नहीं सकता और जो तुम्हारा 'स्व' नहीं है, उससे तुमने तादात्म्य जोड़ लियाऋ जो तुम्हारा 'स्व' नहीं है उससे तुमने सम्बन्ध मान लिया तो यह सम्बन्ध मानना सर्वथा असत्य है। इस असत्य को छोड़ दो तो तुम्हारे ही भीतर इसी क्षण में जो सत्य विद्यमान है उसकी विद्यमानता का तुमको अनुभव हो जायेगा, अपना लगाव असत् से तोड़कर, सत्य के संग में होने का अनुभव करना 'मूक सत्संग' कहलाता है।

मूक सत्संग बड़ी जोरदार साधना है। किसी भी पंथ से चलिये, किसी भी प्रणाली से चलिये। चलते-चलते चित्त की शुद्धि होते-होते आखिरी बात यही होगी, कि जब असत् से आपका लगाव छूटेगा तो भीतर ही जो सत्य विद्यमान है, उसकी विभूतियों से अभिभूत होकर, सब प्रकार से भरपूर होकर, आपका सीमित अहं भाव जो बना हुआ है, वह भी उस अनन्त में समाहित हो जायेगा और जीवन पूर्ण हो जायेगा। सीमित अहं भाव की सीमा का गल जाना जीवन की पूर्णता कहलाती है।

महाराजजी ने एक क्रम बताया। जिससे मुझको सहायता मिली वह मैं आपको बता रही हूँ कि अपने जीवन का दृष्टिकोण बदलिये कि "श्रम है

साधना, और विश्राम है साधन तत्त्व, जिससे साध्य से अभिन्नता होती है" श्रम से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है विश्राम। श्रम किया जाता है शरीर को ठीक रखने के लियेऋ और विश्राम लिया जाता है, अलौकिक जीवन से अभिन्न होने के लिए, श्रम किया जाता है सुन्दर समाज के निर्माण के लियेऋ विश्राम लिया जाता है अपने कल्याण के लिये। श्रम किया जाता है शरीर के राग की निवृत्ति के लियेऋ विश्राम लिया जाता है राग-रहित जीवन में योग की अभिव्यक्ति के लिये। श्रम किया जाता है प्रभु की क्रियात्मक पूजा के लिये। विश्राम होता है भाव में सीमित अहम् को गलाने के लिये। अब आप बताइये कि आप श्रम कीजियेगा कि विश्राम लीजियेगा। अधिक महत्त्वपूर्ण कौन है? विश्राम है। इस विषय में अधिक कह दिया है मैंने, इसलिये आप घबरा न जायें कि हे राम, श्रम बेकार हो गया, तो चलो अब आलस्य में पड़े रहेंगे तो बात नहीं है। वास्तव में विश्राम ही में जीवन है। श्रम मृत्यु है। मैं कोई अतिशयोक्ति की भाषा नहीं बोल रही हूँ, अतिरंजित नहीं कर रही हूँ मैं। श्रम में मृत्यु है-इस बात को आप अनुभव कर रहे हैं। श्रमित होते-होते शरीर में मृत्यु के लक्षण सब दिख रहे हैं। शक्तिहीनता आ रही है, वृद्धावस्था आ रही हैं, स्मरण शक्ति कमजोर पड़ रही है, अब सब बातें याद नहीं रहती हैं। घर का हिसाब किताब छोड़ने का इरादा तो नहीं था लेकिन हिसाब याद ही नहीं रहता। क्या करें, बेबसी में लड़कों को काम सौंपना ही पड़ैगा। वे चाहे जैसे करें। इस प्रकार धीरे-धीरे श्रम से मृत्यु की ओर बढ़ रहे हैं तो श्रम में मृत्यु है।

दूसरी ओर विश्राम में शांति है, विश्राम में अलौकिक शक्तियों का प्राकट्य है, अलौकिक शक्तियों का प्रवाह है, जो जीवनी शक्ति को समेट कर, ले जाकर के उद्गम में विलीन कर देती है। जो सीमित था वह असीम में समाहित हो गया तो जीवन पूर्ण हो गया-इसका नाम मूक-सत्संग है।

एक प्रश्न यह भी है कि विश्राम का महत्त्व है जीवन की अभिव्यक्ति के लिये, तो फिर श्रम का क्या होगा? तो श्रम का भी महत्त्व है। किसलिये? विश्राम सम्पादन में सहयोगी होने के लिये। श्रम किये बिना तुम रह नहीं सकते। तो श्रम किस ढंग से करें? ऐसे ढंग से करो कि तुम्हारा सारा श्रम विश्राम में समाहित हो जाये। जो कहना है सही ढंग से कह दो, जनहित की भावना से कह दो, प्रियता और मधुरता से कह दो, सत्यता से कह दो। ठीक ढंग से कहने का काम कर दो तो वाणी की शक्ति विश्राम में लीन हो जायेगी। और दूसरों का दोष देखकर, दूसरों को छोटा समझ कर, अपने में अभिमान लेकर दूसरों की बातों का खण्डन करने के लिए बोलोगे तो वाणी से लगाव नहीं टूटेगा। अभिमान का पोषण होता जायेगा, वाणी की शक्ति का दुरुपयोग होता जायेगा। इसलिये मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में बोलना भी

साधन हैं, सुनना भी साधन है। बोलने का श्रम भी आप लोगों को सुनने के श्रम से विश्राम देने के लिये है और सुनने का श्रम भी विश्राम देने के लिये है।

यहाँ से उठने के बाद चलते-फिरते, दूसरे-दूसरे कार्यक्रमों में लगे हुये भी यदि आपने अपने दृष्टिकोण को बदला कि भाई, श्रम का स्थान जीवन में क्या है? कि विश्राम सम्पादन में सहयोगी होना चाहिये। भोग प्रवृत्तियों का श्रम आपको असाधन में आबऋ करेगा। मिथ्या अभिमान के पोषण का श्रम आपको सत्य से दूर करेगा। अनावश्यक बातचीत में लगे रहना, पर-चर्चा में, पर-निन्दा में दूसरों की आलोचना में जिससे किसी का भी लाभ नहीं होने वाला है, इस तरह की चर्चा में साधक समाज को शामिल नहीं होना चाहिये।

यदि आप मूक सत्संग को किसी भी प्रकार की साधना की सफलता के लिये आवश्यक मानते हैं तो श्रम और विश्राम का संबंध ऐसा बनाइये कि सब श्रम विश्राम में जाकर खत्म हो जाये। यह वैज्ञानिक सत्य भी है कि शान्ति में से सारी गतियों की उत्पत्ति होती है और सब गतियों का अन्त भी शान्ति में होता है। सब प्रकार की गति जाकर शान्ति में ही डूबेगी। अगर शांति में नहीं डूबेगी तो गति अखण्ड हो ही नहीं सकती, तो कहाँ जायेगी? अब बोलना शुरू किया है मैंने, तो अखण्ड रूप से बोलती रह सकती हूँ मैं? छोड़ना पड़ेगा। तो बोलने का अन्त कहाँ होगा? न बोलने में। करने का अन्त कहाँ होगा? न करने में। यह क्रम इतना वैज्ञानिक है और इसमें दार्शनिकता क्या है? कि आपको अपने अलौकिक अस्तित्व में विलीन होना है। आपको अपने अविनाशी जीवन का अनुभव करना है तो नाशवान् शक्तियों से संचालित न होना और नाशवान् शरीरों से असंग होना अनिवार्य है। जब तक कुछ करने की बात सोचते रहेंगे तब तक कारक अंगों से असंग नहीं हो सकेंगे। इसलिये भी सब कुछ करने के बाद न करना आवश्यक है।

इसी सिलसिले में मैंने ईश्वरविश्वासी की दृष्टि से क्रियात्मक सेवा पूजा के बाद भावात्मक जीवन में रहने की सलाह दी थी। भाई, ईश्वरविश्वासी हैं तो उनकी दी हुई शक्ति के द्वारा उनकी प्यारी-प्यारी सृष्टि की सेवा करो और सेवा-पूजा के अन्त में उनकी याद में शान्त हो जाओ। समर्पण भाव को लेकर,उनकी कृपा शक्ति का आश्रय लेकर, कुछ समय के लिये चुपचाप रहो। कुछ न करो। समर्पण योग भी ईश्वरविश्वासियों का मूक सत्संग है। इन्द्रियों को विषय विमुख करना, मन को निर्विकल्प करना, बुद्धि को सम करना, कारण शरीर की स्थिति की शान्ति में भी आबऋ न रहना-यह विचार पन्थ के साधकों का मूक सत्संग है। मूक सत्संग में यह सब शामिल है। विचार के पंथ से भी, विश्वास के पंथ से भी। किसी भी प्रकार से जो कुछ करने वाला भाग है उसको विश्राम का सहयोगी साधन मान कर ऐसे बढ़िया ढंग से सांगोपांग किया जाये कि करने के बाद न करने की स्थिति में हम सब कर सकें।

और एक रहस्य की बात मालूम हुई। स्वामीजी महाराज ने कहा, "देखो, बहुत अधिक समय नहीं लगता है। केवल तुम्हारी भीतरी, बाहरी वृत्तियों को शान्त होने में जो समय लगे सो लगे। अगर तुम अहंकृति रहित होकर गिन करके केवल पन्द्रह मिनिट के लिये शान्ति में स्थित रह सको, तो उतनी ही देर में तीनों शरीरों से लगाव छूट जायेगा। शरीरों के अतिरिक्त तुम्हारा अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है जिसकी कोई सीमा नहीं है, जिसमें धरती आसमान नहीं है, जिसमें काल और स्थान की कोई परिधि नहीं है। उस प्रकार के एक स्वाधीन आनन्दमय अस्तित्व का अनुभव तुमको हो जायेगा।" तो मैंने उनके कहने के अनुसार किया हो,-ऐसा दावा मैं नहीं कर सकती।

लेकिन मूक सत्संग की घड़ी में संत के पास बैठे ही बैठे, उनकी कृपा से, परम कृपालु प्रभु की कृपा से इस प्रकार के अनुभव आते रहे कि सत्य के संग में होने का प्रत्यक्ष अनुभव अपने को हो जाता था। लेकिन अभी क्या है? अभी तो शरीर के संग में होने का ऐसा अनुभव होता है कि बैठे-बैठे बहुत देर हो गई तो अंग दुखने लगा। परन्तु यदि आप शान्त हो गए तो कारक अंगों की सब क्रियायें जीवनी शक्ति के स्रोत में आकर समाहित हो जायेंगी। वही तो अपना उद्गम है, अपना वास्तविक जीवन है, अपने परम प्रेमास्पद ही तो हैं ऐसा अनुभव मूक सत्संग की घड़ी में हो सकता

है। मेरे साथ कई बार हुआ है। इस प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर आप भाई-बहिनों को विश्वास दिलाने की चेष्टा कर रही हूँ। पत्र-पुष्प के रूप में, सन्त और भगवन्त का दिया हुआ जो सत्य मेरे पास है, वह आपकी सेवा में अर्पित है, कृपा पूर्वक स्वीकार करें।

प्रवचन 61

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

साधक, साधन, साध्य और सिद्धि-इन चार शब्दों से हम सब लोगों का बड़ा सम्बन्ध है। सबसे पहली बात है कि हम अपने को साधक स्वीकार करें। साधक की स्वीकृति का अर्थ क्या है? कि जिस समय से अपने को साधक कहकर स्वीकार करें, उस समय के बाद फिर कभी किसी प्रकार के

असाधन के कार्य में हाथ नहीं डालना चाहिये।

जिस समय आपने वैवाहिक जीवन को स्वीकार किया, अपने को गृहस्थ माना, वैवाहिक सम्बन्ध में अपने को डाला, उसके बाद कभी यह ख्याल नहीं किया कि मैं विवाहित नहीं हूँ। जी-? ऐसा तो नहीं हुआ न? तो अपने को साधक स्वीकार करना बहुत जरूरी है इस बात के लिये, कि मरे जीवन में साधना सजीव हो जाये। भूल क्या होती है? कि थोड़ी देर के लिये हम अपने को साधक कहते हैं, थोड़ी देर के लिये हम साधना में लगते हैं निश्चित समय जैसे हम लोगों ने टाइम-टेबिल बना लिया है कि सवेरे एक घन्टे, दो घन्टे, हम साधना में रहेंगे। शेष समय दूसरी तरह चलेगा।

जीवन में असाधन के रहते हुए किसी भी प्रकार की साधना कभी सफल नहीं होती है। तो पहली बात यह है कि आप सभी सत्संग में आते है और अपने भीतर के दुःख-द्वन्द्व को मिटाना चाहते हैं। चिन्ता, भय से मुक्त होना चाहते हैं, परमानन्द चाहते हैं, योगानन्द चाहते हैं, ब्रह्मानन्द चाहते हैं, निजानन्द चाहते हैं, प्रेमानन्द चाहते हैं यह सब हम लोगों के साध्य के रूप में है। यह सब चाहिये अपने को-ऐसा जीवन का लक्ष्य है। पर जीवन में साधना हम थोड़ी देर के लिये रखते हैं ओर शेष समय में मालूम नहीं और क्या-क्या करते हैं। एक बात आप सभी भाई-बहन ध्यान में रखिये कि मनुष्य होने के कारण अपने को साधक स्वीकार करना बहुत जरूरी है। स्वामीजी महाराज ने तो यहाँ तक कहा-"जो मनुष्य सत्संग के द्वारा सत्संग के प्रकाश में साधक के ढंग की जिन्दगी नहीं बिताता है वह मनुष्य संज्ञा से हीन हो गया, वह प्राणी संज्ञा में आ गया।

मनुष्य के जीवन की महत्ता तभी चरितार्थ होती है जबकि वह अपने को साधक स्वीकार करे! उन्होंने यों लिया है कि मानव माने साधक, साधक माने मानव। मानव शब्द से जिसको सम्बोधित किया जाता है, स्वभाव से ही उसको साधक होकर रहना चाहिये। इस हिसाब से हम लोगों को क्या करना चाहिये? यह बात छोड़ दीजिये कि अब तक हम लोगों ने क्या किया। सत्संग सुना, उसका भी प्रभाव है। सद्ग्रन्थों को पढ़ा, तो उनका भी अपने पर प्रभाव है और उन सारी बातों को लेकर के आज हम लोगों ने साहस किया है कि हम अपने को साधक कहकर स्वीकार करेंगे। तो साधक होने के नाते एक बड़ा भारी असर यह होना चाहिये कि शरीरों के साथ, परिवार और समाज के व्यवहार करने में किसी तरह का असाधन न आने पावे। दूसरी बड़ी-बड़ी बातों को अभी छोड़ दीजिये, शरीर की बात ले लीजिये।

अगर अपने को साधक स्वीकार किया है तो क्या आप शरीर को आलस्य में पड़े रहने देंगे?

आलस्यजनित सुख लेंगे, कि शरीर श्रमी बनायेंगे? आलस्य त्याग देना चाहिये! शरीर की सेवा के लिए सफाई और स्नानऋ भोजन और विश्राम-यह सब जिस शरीर को जितनी आवश्यकता है, उतने ही में उसका काम पूरा करना है। अब हमको जो खाद्य पदार्थ अनुकूल नहीं पड़ता है परन्तु स्वाद के वश होकर हम खा लेते हैं तो शरीर में रोग प्रवेश कर जाता है। फिर उसके लिये दवाई, इलाज का इन्तजाम करते हैं। तो यह साधक का जीवन नहीं है।

इस युग के महापुरुष महात्मा गाँधी ने अपने स्वास्थ्य सम्बन्धी विचारां में एक जगह लिखा है कि बीमार होना मनुष्य के लिये लज्जा की बात होनी चाहिये। क्योंकि स्वास्थ्य के नियमों का उसने उल्लंघन किया, तो बीमार हुआ। तो सर्वांश में यह बात पक्की न भी उतरे तब भी, साधक होने के नाते, कम से कम हमको इतना ध्यान तो जरूर ही रखना चाहिये कि मन की खुशी के लिये, मन की उमंग को पूरा करने के लिये शरीर को रोगी न होने दें। शरीर के सुख को ध्यान में रखकर जो नहीं करना चाहिये, सो करते हैं हम, तो मन रोगी हो जाता है, दूषित हो जाता है। अपने व्यक्तिगत सुख की सामग्री जुटाई है आपने। परिवार में, पड़ोसियों में, कुटुम्बियों में, सम्बन्धियों में कोई ऐसा व्यक्ति भी आपकी जानकारी में है कि जिसको सहायता की ज्यादा जरूरत है? तो अपने सुख का ख्याल करके हम खायेंगे, पहनेंगे, सुख से रहेंगे-इस बात का ध्यान करके अगर आँखों के सामने आये हुए दुःखी को देखकर आँख बन्द कर ली जाये तो हृदय कठोर और मन दूषित हो जायेगा कि नहीं?

इन बातों पर सामान्यतः ध्यान नहीं दिया जाता है। साधन शब्द का अर्थ यह लिया जाता है कि आप सिऋ आसन पर बैठते हैं कि नहीं? प्रतिदिन काम करते हैं कि नहीं? अगर साकार के उपासक हैं तो पूजा पाठ करते हैं कि नहीं? अध्ययन करते हैं कि नहीं? गुरु के मन्त्र की दीक्षा ली है कि नहीं? ठीक है, मनुष्य मनुष्य है। देहधारी होने के कारण शरीर के तादात्म्य से बुद्धि उसकी स्थूल स्तर पर आ गई है तो इन सब बातों का भी अर्थ है। अपनी स्वीकृति को दृढ़ करने में ये बातें सहायक होती हैं। लेकिन जो खास दिनभर का 'रूटीन' है जीने का, उसमें अगर ऐसा व्यवहार रखे कि भाई, यह ठीक है कि पूजा तो हम दो घन्टे करते हैंऋ ध्यान और भजन, स्वाध्याय और मनन तो हम सवेरे तीन-तीन घन्टे तक करते हैं-बहुत अच्छी बात है। विधि-विधान से करते हैं लेकिन दिन-भर के व्यवहार में इस बात का ध्यान नहीं रखते कि शरीर की सेवा के लिये मन को दूषित न करें। मन की खुशी के लिये शरीर को रोगी न होने दे। एक शरीर को खुशी रखने के लिये दूसरों के दुःख की ओर से आँखे बन्द कर लें तो हृदय की कठोरता बढ़ जायेगी। स्वामीजी महाराज ने कर्त्तव्य-विज्ञान में इस बात को बड़ा महत्त्व दिया कि जो सुख दूसरों को दुःख देकर प्राप्त होता है वह सर्वनाश करता है।

अब कितनी प्रकार की खाद्य सामग्री है जिसमें कई प्रकार की मिलावट कर दी जाती है, सिर्फ इस उद्देश्य से कि किसी तरह जल्दी-जल्दी सेठ बन जायें, अधिक आमदनी कर लें, व्यापार में खूब लाभ हो जाये। हो गया लाभ। अब मुझे दया आती है, बड़ा दुःख लगता है। मैं सोचती हूँ कि कितने भी करोड़पति हो जाओ, खाओगे तो दो रोटी ही। अरे, दो नहीं तो चार, चार नहीं तो छः। उससे ज्यादा एक समय में, करोड़पति होने से, कोई बहुत ज्यादा खा-पी लेता है, क्यां? शरीर की आवश्यकताएँ तो लगभग सब किसी की एक-सी ही है। एक सीमा के भीतर ही हैं। लेकिन केवल

अपना एक झूठा सन्तोष, कि मैंने खूब धन कमा लिया, मैंने बढ़िया सामान बना लिया, मैंने बच्चों के लिये काफी इन्तजाम कर लिया-ऐसा सोच कर कि दूसरों को मेरे काम से क्या तकलीफ हो रही है-इस पर जो ध्यान नहीं देता वह धर्मात्मा नहीं हो सकता।

स्वामीजी महाराज ने मनुष्य के जीवन में साधना के प्रारम्भ से ही धर्मात्मा होने पर बहुत जोर दिया है।

धर्मात्मा होने का अर्थ क्या है? कर्त्तव्यनिष्ठ होना। धर्मात्मा होने का अर्थ क्या है? कि थोड़े से मोह के सम्बन्धियों को सुख देने के लिये बृहत् समाज को नुकसान न पहुँचाना। जो सुख दूसरों को दुःख देकर आता हो वह सुख धर्मात्मा पुरुष को नहीं चाहिए। दूसरों से आप कर्त्तव्यपालन की आशा रखते हैं। दरवाजे पर पहरेदार बैठाते हैं और आशा रखते हैं कि वह ईमानदारी से पहरा दें। पिता होकर पुत्र से आशा करते है कि वह आज्ञाकारी हो। पुत्र होकर पिता से आशा करते है कि पिता मेरी रक्षा करे। मेरी जरूरत पूरी करे। मेरे काम में मदद दें। तो बाकी सब बातों को छोड़ दीजिये। शुक्र भौतिकवाद की दृष्टि से विचार करिये।

भौतिकवाद की दृष्टि क्या है? कि प्रकृति की रचना में दुर्बल और सबल, दोनों प्रकार के प्राणी हैं। सबल और दुर्बल एक ही सृष्टि में एक साथ, एक समय में रहते हैं। तो सबल के द्वारा दुर्बलों की रक्षा होनी चाहिए। अगर सबल व्यक्ति दुर्बल की रक्षा करने की नहीं सोचता है तो उसको भौतिकवादी नहीं कह सकेंगे। बड़ा भारी भ्रम हो गया समाज को। लोग सोचते हैं कि जहाँ-जहाँ अधिक सुख दिखाई देता है सब छीन करके बाँट दें और छीनते न बनें, रखते न बने तो आग लगा के जला दें। हम भौतिकवादी हो गये। यह गलत बात है। प्रकृति की सम्पत्ति आपने बरबाद कर दी। सुखियों को देखकर दर्द हो रहा है। तो जिन-जिन महापुरुषों के दिल में दुःखीजनों के प्रति दर्द पैदा हुआ, वे महापुरुष अपना व्यक्तिगत सुख भूल गये। जिन-जिन कर्त्तव्यनिष्ठ, धर्मपरायण व्यक्तियों के जीवन में दुःखीजन का दुःख भर जाता है, वे अपने व्यक्तिगत सुख को भूल जाते हैं, व्यक्तिगत सुख ले ही नहीं सकते, क्यों? क्योंकि वे मानव हैं शुक्र भौतिकवाद की दृष्टि से आप विचार करें तो यह देखा हुआ जगत्-अगर इसी को सत्य माना जाये, तो इसमें से दो प्राणियों को, दो व्यक्तियों को सुख देने के लिये दस को नुकसान पहुँचाना कहाँ का न्याय हुआ? गलत बात हो गई न।

स्वामीजी महाराज ने भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और आस्तिकवाद तीनों के दार्शनिक दृष्टिकोणों को मानव जीवन को सुन्दर बनाने के लिए बहुत आवश्यक माना। शरीर लेकर संसार में हम रह रहे हैं तो भौतिकवादी का पहला मन्त्र क्या है? कि जगत् के नाते सभी को अपना मानो। प्रकृति चला रही है तो प्रकृति के रचे हुए जो भी प्राणी हैं, जो भी शरीरधारी हैं, मनुष्य हैं, पशु-पक्षी हैं, लता-पेड़ वनस्पति, पौधे हैं, सबके प्रति अपनेपन का भाव-भौतिकवाद का मूल मन्त्र है। दूसरों को दुःखी देखते हुए स्वयं अकेले सुख भोगना भौतिकवाद नहीं है, भोगवाद है। दूसरों को सुखी देखकर, उसे छीन झपट कर विध्वंस कर देना, नाश कर देना-भौतिकवाद नहीं है, बदतमीजी वाद है। स्वामीजी महाराज के शब्दों का प्रयोग कर रही हूँ मैं। इसलिए

निधड़क बोलती हूँ। मुझे डर नहीं लगता है। मेरा विश्वास है कि महाराज जी को दिव्य-दृष्टि थी, और उन्होंने जो देखा, जो सही माना, सो कह दिया।

अब अपने लोगों के लिये इस समय कौन सी बात ग्रहण करने के लायक है? अपन लोग न भौतिकवादी हैं, न शुऋ अध्यात्मवादी हैं, न शुऋ आस्तिकवादी हैं। मिला-जुला हुआ-सा मामला चल रहा है। थोड़ा गरीबों के लिये दिल में दर्द भी है, थोड़ा ज्ञान-वैराग्य के लिये भी गूँजाइश है और थोड़ा ईश्वर के लिये भी स्थान है। जी? मिली-जुली हुई बातें हैं। थोड़ा भगवान को भी मानते हैं हम लोग। थोड़ा ज्ञान का प्रसंग जब सुनते हैं तो विरक्ति भी आती है, निजस्वरूप की चर्चा भी होती है-लेकिन कर्त्तव्यपरायणता, धर्मपरायणता मनुष्य के साधक होने के लिए बहुत उपयोगी है।

थोड़ा-सा इस अन्तर की बात आप सुन लीजिये, क्योंकि हम लोग सभी अभी तक शरीर से तादात्म्य नहीं तोड़ सके हैं। मैं गृहस्थ हूँ-इस स्वीकृति को अभी तक हम लोगों में से बहुतों ने बदला नहीं है। कुछ लोगों के गृहस्थी होने की आयु चल रही है और कुछ लोगां के गृहस्थ होने का समय निकल चुका है, और फिर भी वह अपने को गृहस्थ मानने की भूल करते जा रहे हैं। यह सब प्रारम्भिक बातें है, परन्तु इन बातों पर ध्यान न दिया जाए, अपने को

साधक स्वीकार न करो, जीवन में से सब प्रकार के असाधनों को खत्म न कर दो, तो किया हुआ ध्यान, किया हुआ जप, की हुई साधना, किया हुआ नित्य-नियम ऐसा सजीव नहीं होता कि आपको लगे-कि मेरा जीवन पूर्ण हो गया, अब कुछ करना शेष नहीं है।

साधन के जो विध्यात्मक रूप हैं, जिनकी महिमा हम लोगों ने सुन रखी है, उसके साथ अगर असाधन को मिटाने का प्रयास भी रहेगा तो किया हुआ ध्यान, किया हुआ जप सब आपके जीवन में फलित हो जायेगा, पूरा हो जायेगा। बहुत मदद मिल जायेगी। और असाधन को मिटाने का ध्यान नहीं रखा, तो जीवन के भीतरी तह में असाधन बैठा है और ऊपर से साधन की चेष्टा कर रहे हैं, तो अपने को सफलता नहीं मिलेगी। क्या करें, ध्यान करना चाहते हैं तो अपने पर ध्यान स्थिर होता ही नहीं हैं? क्या करें, भगवत् चिन्तन करना चाहते हैं तो जबरदस्ती संसार का चिन्तन उसमें घुस जाता है? क्या करें, भगवान को याद करना चाहते हैं तो मरे हुए कुटुम्बियों का शोक हृदय में भर जाता है, बेचैनी हो जाती है, उनकी याद आने लगती है। कैसे करें?

स्वामीजी महाराज ने यह दृष्टिकोण दिया साधक समाज को, कि भाई देखों, संसार की नश्वरता से, संसार की परिवर्तनशीलता से और उसके सम्पर्क में रहने से जो असन्तोष जीवन में पैदा हुआ, उस असन्तोष से दुःखी होकर, जैसा सुखमय परिवार देखना चाहते थे, नहीं मिलाऋ जैसी पत्नी चाहिये थी वैसी पत्नी नहीं मिलीऋ जैसा पति चाहिये वैसा पति नहीं मिलाऋ जैसी सन्तान चाहिये थी वैसी सन्तान नहीं मिली, जैसा मकान चाहिये वैसा मकान नहीं मिला। अनुकूल परिस्थिति नहीं मिली, तो दुःखी होकर आदमी साधक बनने चला है। सोच रहा है कि भाई, संसार के सम्पर्क से आराम तो मिल ही नहीं रहा है। अब चलो, जरा सन्तों के पास चल करके बैठें। कुछ साधन करें तो मन की अशान्ति मिटे। यह बात है कि नहीं? मैंने तो ऐसे ही सन्त के शरण में बैठना पसन्द किया। दुनियामें अपने लिये बहुत कुछ किया, उससे सन्तोष नहीं मिला तो मैंने कहा चलो, अब जरा सन्तों के पास बैठकर देख लें कि उनके पास भी कुछ बढ़िया चीज है कि नहीं है।

श्रद्धा-भक्ति से मैं नहीं आयी थी। आदमी को इसकी भी आवश्यकता होती है। तो महाराजजी कहते हैं भाई, संसार की ओर से थका हुआ, काम, क्रोध, लोभ मोह से पीड़ित हुआ,

परिस्थितियों की प्रतिकूलता से परेशान होकर के आदमी सन्तजनों के पास आता है कि साधक बनेंगे, साधन करेंगे तो दुःख मिटेगा। संसार की पराधीनता से पीड़ित होकर के आए। अब मैं भी साधना के नाम पर भार और लाद दूँ तुम्हारे सिर पर, कि तुम ऐसी हो, वैसी हो। अनुभव करो कि जितना धन कमाना चाहते थे उतना नहीं कमा सके। अब उससे ऊँचे दर्जे की बेबसी अनुभव करो कि जितना जप करना चाहते हैं उतना नहीं कर पाते। सभी बच्चों को खुश नहीं रख सके। बहिनों की ओर से सुनने को मिलता है कि जिन्दगी खपा दी हमने पति के परिवार के लिए, लेकिन परिवार के लोग प्रसन्न नहीं हुए। एक बेबसी तो संसार की हो सकती है और थका हुआ आदमी इधर की ओर से आ करके चला है साधक बनने। तो

साधना भी इस प्रकार का भार हो गयी आपके सिर पर कि ध्यान लगाना चाहते हैं तो नहीं लगता है भगवत् चिन्तन करना चाहते हैं तो संसार की याद आती है। स्वामीजी महाराज कहते हैं कि भैया, संसार से तो तुम्हारे सिर पर भार लद गया था। मेरे पास तुम आए हो भार से मुक्त होने के लिये तो मैं

साधना को डबल भार के रूप में तुम्हारे ऊपर कैसे लाद दूँ। कैसे कह दू कि ऐसा करो, वैसा करो। और तुम करने बैठों और हारते रहो। इधर भी भार से थके थे, उधर भी भार से थक जाओगे। ऐसा होता है कि नहीं? जी?..... होता है।

शरीरों की अधीनता स्वीकार कर जहाँ सुख लेना पसन्द किया, वहाँ से मुझे दुःख मिला। लेकिन सत्संग के प्रकाश में जब अपने को साधक स्वीकार करेंगे और जीवन को साधन में बदलना चाहेंगे तो तत्काल ही हमारे जीवन में हल्कापन आना चाहिये, पराधीनता मिटनी चाहिये, दुःख का भार उतरना चाहिये, जीवन में रस आना चाहिये। सबसे पहली बात है कि शान्ति मिलनी चाहिये। उसी का नाम है साधन। नहीं तो क्या है? मैंने अनुभव करके देखा है। पराधीनताओं से परेशान हुई मैं जब सन्त की शरण में बैठी, उनसे मैंने प्रश्न किये, तो मैंने देखा कि उनके उत्तरों से मेरी समस्या हल होती जा रही है। वहाँ बैठे ही बैठे मैंने पूछा कि शरीर में बल नहीं है तो क्या करें? उस पर सन्त ने कहा कि सत्य की अभिव्यक्ति के लिये शारीरिक बल नहीं चाहिये। यह सुनते ही मेरा शरीर के निर्बल होने का दुःख खत्म हो गया। चलो इसमें बल की जरूरत नहीं है। किसी के पास धन नहीं है, अनुभवी सन्त सुना देते हैं- "भैया, भगवत् प्राप्ति के लिये धन की अपेक्षा नहीं है" तो निर्धन आदमी उसी समय आश्वस्त हो जाता है।

मैंने एक सभ में ऐसे ही एक बार सुनाया कि ऐसे-ऐसे व्यक्ति जिनके शरीर में बल नहीं है, जिनके पास धन नहीं है, जिनके कुटुम्बी अनुकूल नहीं हैं उनमें भी सत्य की अभिव्यक्ति होती है। खत्म होने पर एक बीमार महिला उठकर आई और मुझसे चिपट कर खूब रोने लगी। मैंने कहा- क्यों रो रही हो? क्या बात है? तो कहने लगी कि आप कहती हैं कि रोगी शरीर है तो भी कोई बात नहीं, भगवान मिलते हैं। मैंने कहा, हाँ मिलते हैं। तो कहने लगी आठ बरस से मैं बीमार हूँ। सास और पति मेरी सेवा में लगे हैं, मेरे दिल में बड़ा दुःख है कि सास की सेवा मुझे करनी चाहिये, पति की सेवा मुझे करनी चाहिये थी और उल्टे मैं इन लोगों की सेवा ले रही हूँ। तो मैं बहुत दुःखी हूँ मेरा क्या होगा? आज मेरे दिल में परेशानी हुई तो मैंने सास से कहा कि मुझे सवारी में बैठाकर सत्संग में ले चलिए। मेरा मन बहुत बेचैन है। आज मैं आई तो यह सुनने को मिला। बोली 'सच बताइये, बीमार को भी भगवान मिलत हैं?' मैंने कहा, 'हाँ, जरूर

मिलते हैं'। 'कैसे मिलते हैं?' तो सत्संग में जो सुनाया था उसे फिर दुहरा दिया कि वे सर्वसामर्थ्वान हैं, तुम उनकी शरणागति ले लो, उनको अपना मानो। वे बहुत ही आश्वस्त हो गईं। कहने लगीं "मैं मरने की सोच रही थी। अब नहीं मरूँगी, भगवान मुझको मिल सकते हैं। आप सच कहती हो, मिल सकते हैं।" मैंने कहा "हाँ सच कहती हूँ।" उसके बाद वह निश्ंिचत होकर चली गयी। तीन बरस बाद फिर मिली। खूब तन्दुरुस्त हो गई थी और आकर उसने कहा कि मुझको जीवन मिल गया, शरीर भी ठीक हो गया, सास-पति की सेवा भी बन रही है और प्रभु की कृपा का भी आश्रय हो गया। तो सत्संग का प्रभाव मैंने ऐसा देखा है अपने लिये भी और दूसरों के लिये भी।

जिस समय आप बैठे हैं सत्संग में, चर्चा सुन रहे हैं, सुनते-सुनते उसी समय आपके भीतर का द्वन्द्व मिटना चाहिये। शंकाएँ दूर होनी चाहिये।

अब जिस बात को ग्रहण करना है उसको देखिये। सामाजिक और पारिवारिक व्यक्तियों को धर्मपरायणता पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

धर्मपरायणता का अर्थ क्या है? कर्त्तव्यनिष्ठ होना। कर्त्तव्यनिष्ठ का मन्त्र क्या है? कि मेरे द्वारा मन से, वचन से, कर्म से किसी भी प्रकार से किसी को कष्ट न पहुँचे। आराम कितना पहुँचेगा, यह तो प्रकृति के विधान पर है कि आप रास्ते पर चलते हुए प्यासे व्यक्तियों को जल पिला देंगे, कि जगह-जगह प्याऊ बैठा देंगे। यह तो अलग-अलग सामर्थ् की बात हो गई। तो आराम कितना पहुँचायेंगे, यह आपकी वर्तमान सामर्थ् पर निर्भर है।

लेकिन धर्मपरायण, कर्त्तव्यपरायण होने का एक अचूक मन्त्र जो सभी भाई-बहन ग्रहण कर सकते हैं, वह यह है कि मन से, वचन, से कर्म से, हम किसी को क्षति नहीं पहँुचायेंगे। अगर किसी के प्रति बुराई आपके जीवन में नहीं रह गई तो केवल भलाई रह जायेगी। बुराई मिट सकती है। अगर मनुष्य होने के नाते हम सभी धर्मपरायण होना पसन्द करें तो।

मनुष्य के जीवन का विज्ञान पढ़ते समय एक पाठ पढ़ाया जाता था भ्वू सपमि इमहपदे जीवन आरम्भ कैसे होता है? उसी तरह से सन्त के पास बैठकर साधना का एक बड़ा बढ़िया क्रम सीखा मैंने उन्होंने बताया कि अगर तुम मनुष्य हो, पारिवारिक व्यक्ति हो, सामाजिक व्यक्ति हो तो जब तुम्हारी आँखें खुलती हैं, तब सामने परिवार और समाज दिखाई देता है तो पहला विचार तुम्हारे भीतर यह उठना चाहिये कि हम किस प्रकार समाज व परिवार के लिये उपयोगी हो सकते हैं? यह पहला लक्षण है। कैसे हम दूसरों के काम आ सकते हैं? बाल-बच्चों के काम आना, पति-पत्नी को एक-दूसरे के काम आना, माता-पिता के काम आना, भाई-बन्धुओं के काम आना-अगर दूसरों के काम आने का विचार आपका है और दूसरों के लिये उपयोगी होने का विचार आपका है और सभी के प्रति अपनेपन का भाव आपका है तो कर्तव्यनिष्ठा सिक्र हो जायेगी।

जो व्यक्ति अपना अधिकार त्याग कर दूसरों के प्रति कर्त्तव्य का पालन करते हैं उनमें संसार की ओर से विरक्ति अपने आप आ जाती है। कर्त्तव्यपालन से सुखभोग की इच्छा का नाश होता है। करके देखो। आज अपनी दशा क्या है? कि जहाँ हम परिवार और समाज के काम आने का अवसर देखते हैं तो उस पर ध्यान नहीं देते और व्यक्तिगत साधना की बात सूझती है। आलस्य को पालते हैं। तरह-तरह की बातें कहकर परिवार को, समाज को समझाते हैं और फिर जब विरक्ति नहीं आती सुखभोग की वासना

भीतर-भीतर तंग करती है, तो परेशान होते हैं कि साधना सजीव कैसे बनें? नहीं बनती है।

कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति की आवश्यकता संसार को रहती है। धर्मात्मा पुरुष की जरूरत संसार अनुभव करता है। छोटे से छोटा काम अगर अच्छी तरह से करने वाला कोई व्यक्ति हो तो उसकी जरूरत समाज के सभी लोग अनुभव करते हैं। धर्मपरायण पुरुष की आवश्यकता संसार को रहती है। और जो

धर्मपरायण हो जाता है, उसको अपने लिये संसार की आवश्यकता नहीं रहती है। उसके भीतर संसार से ऊपर उठने की सामर्थ् आ जाती है। उसके भीतर शरीरों की पराधीनता से मुक्त होने की सामर्थ् आ जाती है। कितनी बड़ी बात हो गई। क्या-क्या विधि-विधान तुमने किया साधना के नाम पर? कितना उपवास किया? कितना अनुष्ठान किया? यह सब कुछ जरूरी नहीं है। ये सब करो तो बढ़िया बात है। तुमसे हो सके तो अच्छा है। लेकिन बुराई रहित हो करके, समाज के प्रति, परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करो तो तुम्हारी आवश्यकता संसार को रहेगी और जिस व्यक्ति की आवश्यकता संसार को रहती है, उस व्यक्ति को अपने लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। उसके शरीर की रक्षा, उसकी जरूरतों की पूर्ति समाज खुद ही करता है। उसको सँभालता है। तो ऐसे ही वह थ्तमम हो गया, स्वाधीन हो गया, और कर्त्तव्यपरायणता, धर्मपरायणता के फलस्वरूप उसमें स्वयं में इतनी सामर्थ् आ जाती है कि उसे अपने लिये संसार की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्या होगा? आप सोचते होंगे कि क्या उसको अब भूख लगना बन्द हो जायेगा? या प्यास लगना बन्द हो जायेगा? या कपड़े की जरूरत खत्म हो जायेगी? सो नहीं। भोजन, पानी, वस्त्र और दवा-ये तो समाज अपने आप ही उस पर बरसाएगा। शरीर के बनाए रखने की जरूरत खत्म हो जाएगी। कितनी बड़ी बात हो गई। बरसों तक आपने मन को बस में करने का अभ्यास किया। मन को ऐसे वश में करो और ऐसे चित्त को वश में करो व ऐसे इन्द्रियों को वश में करो। ठीक है भाई! इनको वश में करना तो है ही, इनके प्रभाव में पड़ना नहीं है। लेकिन यह सब करते-करते भी अगर परहित की भावना को लेकर, बुराई रहित होकर, असाधन को छोड़ कर आपने कर्त्तव्यनिष्ठता नहीं अपनायी, कर्म-परायणता नहीं अपनाई तो सफलता में बहुत देर लग जायेगी।

भौतिक दृष्टि से भौतिक जगत् के साथ सही व्यवहार नहीं करने से भौतिक जगत् की पराधीनता भीतर से नहीं निकलेगी। बाहर से तो जगत् जैसा है वैसा ही है। उसमें कोई फर्क नहीं होता। शरीर का स्वरूप जैसा है वैसा ही है। उसमें कोई अन्तर नहीं आता। अन्तर आता है साधक में स्वयं में। एक समय था जब वह आँखों से सुन्दर दृश्य देखे बिना नीरसता अनुभव करता था। एक समय आता है जब उसे ज्ञान के प्रकाश में सभी दृश्यों में परिवर्तनशीलता दिखाई देती है और वह सबकी ओर से उपराम हो जाता है। सन्त कबीर ने कहा-

"हाड़ जले जैसे लकड़ीऋ केश जले जैसे घास।

सब जग जलता देखकर कबिरा भया उदास।।"

काल की अग्नि में सारा निर्माण विनाश की ओर चला जा रहा है। यह देख कर वही मनुष्य जो ज्ञान के प्रकाश में जगत् की परिवर्तनशीलता, नश्वरता को देखता है, तो सबसे उपराम हो जाता है। प्रभु की प्रीति से भर जाता है। 'जित देखूँ तित श्याममयी है।' जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़े वहाँ-वहाँ

प्रीतम खड़े हैं। उसकी प्रीति भरी दृष्टि का आदर करने के लिये वे परम प्रेमास्पद, रस-स्वरूप परमात्मा अपने जगत् रूप को छिपा करके प्रेमास्पद के रूप में प्रकट हो जाते हैं। दोनों के बीच में प्रेम के आदान-प्रदान का अनन्त विहार चलने लगता है।

मनुष्य तो वही है। उसने वासनाओं की दृष्टि से जगत् की ओर देखा तो कितनी पराधीनता में आबऋ हो गया। उसने सत्य की दृष्टि से संसार की ओर देखा तो सबके बन्धन से मुक्त हो गया। उसने प्रीति भरी दृष्टि से जगत् की ओर देखा तो 'जित देखूँ तित तू ही तू।' ये सभी बातें हमारे जीवन की हैं। आप ही में होने वाली हैं। और किसी को इनकी आवश्यकता नहीं है। परमात्मा सब प्रकार से पूर्ण हैं। उनको जरूरत है नहीं। जड़ जगत् प्रकृति के नियम पर चल रहा है, उसको जरूरत नहीं है। हम ही लोग एक अनोखे

शरीरधारी इस समग्र सृष्टि में हैं कि कभी संसार के क्षणिक सुखों के लालच में पड़ करके अपनी दुर्दशा कर लेते है। और वही मनुष्य सत्संग के प्रकाश में साधक बनकर साधना के माध्यम से अनन्त आनन्द-स्वरूप, अनन्त प्रेम-स्वरूप साध्य से अभिन्न हो जाता है।

प्रवचन 62

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

सन्तवाणी में हम लोगों ने बहुत ही आवश्यक बातों को सुना। पहली बात तो यह है कि काम किया जाता है विश्राम के लिये और विश्राम होता है अपने लिये। यह बहुत आवश्यक बात है। काम करने से विश्राम मिलता है और विश्राम मिलने से जीवन मिलता है। बड़ा सुन्दर क्रम है।

दूसरी बात महाराजजी ने सुझाई हम लोगों को, कि भौतिक दर्शन के

आधार पर ऐसा मानो कि सभी अपने हैं। आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर यह जानो कि त्रिकाल में भी किसी से तुम्हारा नित्य सम्बन्ध नहीं है और इसमें सिद्धि होने पर क्या होता है? कि एक के अतिरिक्त और कुछ कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं। अर्थात् ईश्वरवाद की दृष्टि से यह मानो कि प्रभु के नाते सभी अपने हैं। आत्मा के नाते सभी निजस्वरूप हैं, अथवा एक के अतिरिक्त कोई है ही नहीं और ईश्वर के नाते सभी प्यारे के प्यारे हैं। सत्य के आधार पर हम लोग अपना यह दृष्टि कोण रखें तो भेदभाव नहीं रह सकता, राग-द्वेष नहीं रह सकता, लेकिन न भौतिक दृष्टि मानो, न आध्यात्मिक दृष्टि मानो, न आस्तिक दृष्टि को मानो, तब तो असाधन की दृष्टि रह जायेगीऋ और दो- चार लोग अपने मालूम होंगे, बाकी पराये मालूम होंगे तो राग-द्वेष की अवश्य उत्पत्ति होगी। राग-द्वेष की उत्पत्ति से जीवन का रस सूखेगा ही। जीवन में नीरसता आयेगी तो कामनाओं की उत्पत्ति होगी ही और उसमें हमारा वश नहीं चलेगा, तो लोभ, क्रोध, मोह, मृत्यु आदि में से हम लोगों को गुजरना ही पड़ेगा।

तीसरी बात उन्होंने कही कि ईश्वर विश्वासी के जीवन में फिर अन्य विश्वास नहीं रहता है, अन्य सम्बन्ध भी नहीं रहता है। अन्य सम्बन्ध और अन्य विश्वास आपने त्याग दिया तो फिर कोई अन्य चिन्तन भी मस्तिष्क में नहीं आयेगा। यह आपके लिये एक बहुत काम की बात है। प्रायः भाई-बहन इन समस्या में उलझे रहते हैं, परेशान रहते हैं, प्रश्न करते ही रहते हैं। अब सोच करके देखिये, एक ऐसा विश्वास, जो सत्य पर आधारित है, यह है कि परमात्मा सत्य है। और जो सत्य नहीं है उसको परमात्मा कहेंगे? नहीं कहेंगे। तो हमारी,

आपकी, सबकी मानी हुई बात है, कि परमात्मा सत्य है। इसलिए परमात्मा के प्रति जो विश्वास होता है वह सत्य पर आधारित विश्वास होता है। वह इतना जोरदार होता है कि दूसरे सारे विश्वास उसमें विलीन हो सकते हैं। जो ईश्वर में विश्वास कर लेता है उसका ईश्वर से सम्बन्ध बन जाता है। जो नित्य सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने से दूसरे सारे

सम्बन्ध उसमें विलीन हो सकते हैं। यही बहुत बढ़िया बात है। मनुष्य को आराम देने वाली चीज है, कि विश्वास किये बिना रहा नहीं जाता तो अनन्त परमात्मा में ही विश्वास करो और कोई विश्वसनीय है नहीं।

सर्व उत्पत्ति जो है उसमें से थोड़े से दृश्य हम लोगों ने देखे। सारी सृष्टि को कोई एक आदमी देख नहीं सकता। थोड़ा-सा हम लोगों ने देखा, तो यह दृश्य जगत् जो हम लोगों के सामने दिखाई दे रहा है, इस देखे हुए, सुने हुए और बुद्धि के आधार पर जाने हुए जगत् के अतिरिक्त, इससे परे, इसका मूल उद्गम जो है, उसी को विश्वासीजनों ने भगवान कहा। तो उनके साथ जिसने आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया, उसके लिये स्वाभाविक बात है कि वह अन्य सारे विश्वासों को उसी में विलीन कर दे। अब आप मनुष्य के

सम्बन्ध को देखिये। पति-पत्नी दो हैं। अब इन दोनों के बीच अगर सन्तान नहीं है तो सन्तान की कमी ये लोग आपस में एक-दूसरे से पूरी नहीं कर सकते। पति है तो पति ही होकर रह सकता है, पत्नी पत्नी ही होकर रह सकती है, वह पुत्र नहीं बन सकती। तो पुत्र की कमी उनको खटकती ही रहेगी, पुत्री की कमी खटकती ही रहेगी। माता-पिता हैं तो वे केवल माता-पिता ही होकर रह सकते हैं। पिता जो है वह भाई भी बन जाये, सबकी कमी पूरी कर दे-ऐसा कोई सम्बन्धी इस संसार में नही मिलेगा, जो आपके साथ सारे सम्बन्धों के भाव अपने में जोड़ दें।

अब दूसरी स्थिति देखो। जीवन में कमी खटक रही है, बुरा लग रहा है। घर सूना लग रहा है। क्या हो गया? कहीं पिता नहीं है तो कहीं माता नहीं है, कहीं पति नहीं है तो कहीं पत्नी नहीं है, कहीं बेटा नहीं है तो कहीं बेटी नहीं है, कहीं कुछ नहीं है। ऐसे बहुत खटक रहा है। तो आप देखिये, कि एक हिस्सा अगर कम हो गया तो बाकी जितने भी सम्बन्धी हैं आपके सारे के सारे मिलकर आपको भरपूर कर देना चाहें, कमी को भर देना चाहें तो नहीं भर सकेंगे। कितनी बार मैंने बहुत दर्द-भरी कथाएँ अपनी माताओं से, बहनों से सुनी हैं। स्वामीजी महाराज ने इस काम के लिये मुझको लगा दिया था कि माताएँ पुरुष शरीर वाले सन्त के पास जाती हैं, दिल खोलकर सब बातें नहीं कह सकतीं तो तुम बैठो, तुम सुना करो। मैं सुनती रहती। तो पीहर भी भरा है, ससुराल भी सब भरा है। बहुत लोग हैं, बहुत धन है, बहुत कुछ है और अगर पति नहीं है तो उस स्त्री का जो दुःख है, वो सारा कुटुम्ब, पीहर, ससुराल के सब मिल करके भी नहीं मिटा सकते। यह है संसार का हाल! परमात्मा का हाल देखो। जिस किसी ने उस सर्वसमर्थ में विश्वास किया, उसके लिए वह अकेला ही सब कुछ और सबसे अधिक हो जाता है। उससे सम्बन्ध मानने के बाद, उसके प्रति प्रियता जाग्रत होने के बाद लोक-परलोक की, जन्म-जन्मान्तर की सब समस्यायें खत्म हो जाती हैं।

सब कुछ देकर वह आपको भरपूर कर सकता है। एक उस नित्य

सम्बन्धी से सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने के बाद भक्तों के लिये बड़ा सहज हो गया और उन्होंने सारे सम्बन्धों को उसमें विलीन कर दिया।

सब उसमें समाहित हो गये। जिसके सारे सम्बन्ध एक नित्य सम्बन्ध में विलीन हो गये, जिसके अन्य सब विश्वास एक प्रभु विश्वास में विलीन हो गये, उसके जीवन में फिर और किसी का चिन्तन कभी नहीं होता है। और आप चाहते क्या हैं? यहाँ जितने भाई-बहन बैठे हैं, ईश्वर में विश्वास करने वाले ही ज्यादा होंगे। वे चाहते क्या हैं? चाहते तो यही हैं कि हमारे मन में से अन्य चिन्तन सब निकल जायें और प्रभु की याद निरन्तर बनी रहे। ऐसी अभिलाषा है कि नहीं है? तो स्वामीजी महाराज ने उपाय बता दिया। ईश्वर विश्वास करो तो अन्य सारे विश्वास उसी में विलीन कर दो और विश्वास के आधार पर ईश्वर से सम्बन्ध को स्वीकार करो, तो अन्य सम्बन्ध उसमें विलीन कर दो, फिर कोई अन्य चिन्तन नहीं रहेगा।

संसार के चिन्तन से आप मुक्त होना चाहते हैं तो भाई, संसार जिसका है उसको दे दो न। मुझे तो मजा आ जाता है जब मैं यह कहती हूँ, हे प्रभु! तुम्हारी सृष्टि तुम्हें मुबारक हो? वह तो है ही उनकी, उसको सँभालते भी वे ही हैं। मेरी बेईमानी है कि उसमें से दो-चार व्यक्तियों को अपना मानकर अपनी आसक्ति में उनको बाँध लेती हूँ। अपनी ममता में उनको बाँध लेती हूँ। उनकी भी मिट्टी-पलीत होती है, अपनी भी बरबादी होती है। बहुत सीधा-सादा उपाय है। हमेशा इस प्रश्न को लेकर साधक न जाने कितने-कितने वर्षों तक उलझे रहते हैं। क्योंकि जहाँ कहीं भी भगवत् भजन के सम्बन्ध में चर्चा आयी है, सद्ग्रन्थों में अथवा सत्पुरुषों ने बताई है, सब जगह पर यह बात लिखी हुई है कि भगवान का निरन्तर भजन करो, और आप क्या करते हैं? कि 23-23 घण्टे पर, साढ़े तेइस घण्टे के अन्तर पर आधे घण्टे के लिये बड़ी तैयारी से, याद करने बैठते हैं तो याद भी पूरी नहीं हो पाती है। रोते रहते हैं, क्या करें, संसार का चिन्तन नहीं छूटता। भूतकाल के भोगे हुए सुखों का चिन्तन नहीं छूटता। यह एक नई बीमारी हम लोगों ने पैदा की है अपने में। जो समय हमारा जगत् की सेवा में गया वह तो सार्थक हो गया। लेकिन सेवा भी नहीं कर रहे हो, काम भी नहीं कर रहे हो और आराम भी नहीं मिल रहा है। उस समय जो जीवनी शक्ति खर्च हो रही है वह तो व्यर्थ हो गई ना। प्राणशक्ति का अपव्यय हो गया।

प्राण-शक्ति का सद्व्यय कब हुआ? जब आप राग-निवृत्ति की दृष्टि से, प्यारे प्रभु की प्रीति की वृद्धि की दृष्टि से, जगत् की सेवा में लगे हुए हैं। माने हुए सम्बन्धियों की सेवा में लगे हुये हैं। भगवत् नाते प्यारे के प्यारों की सेवा में लगे हुये हैं। उस समय जो शक्ति, खर्च हो रही है, वह तो सार्थक हो रही है, क्योंकि प्राण-शक्ति खर्च हो रही है और चित्त की शुद्धि हो रही है, अन्तःकरण शुऋ हो रहा है, राग-निवृत्ति हो रही है, तो अलौकिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति की तैयारी हो रही है। उसमें अगर प्राणशक्ति का व्यय हुआ तो सद्व्यय कहलायेगा। अच्छा, अब श्रम का समय ;चमतपवकऋ खत्म हो गया। उचित परिश्रम जो कि पारिवारिक हित के लिये है, सामाजिक हित के लिए है वह परिश्रम पूरा हो गया। उसके बाद सही काम किया जाता है विश्राम के लिये और विश्राम होता है अपने लिये।

विश्राम की घड़ी में मुझे योगवित् होना नहीं आया, तत्त्ववित् होना नहीं आया, भगवत् भक्ति के रस में अपने को खोना नहीं आया, तो क्या हुआ उस समय? विश्राम की उस घड़ी में मस्तिष्क में भोगे हुए सुखों का स्मरण हो आया, फिर मरे हुए कुटुम्बियों की याद सताने लगी, छूटे हुए पद के लिये मन में दुःख हो रहा है, गए हुए सुखों की याद आई, बिछुड़े हुए साथियों की याद आई, मिले हुए सामान की याद आई, भुगते हुये

अपमान की याद आई, भविष्य की कल्पनायें आ रही हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिन व्यक्तियों के जीवन में, वर्तमान में सरसता नहीं रहती है उनका मस्तिष्क वर्तमान में टिकता ही नहीं है। एकदम उड़ता रहता है। चाहे भूतकाल में भोगे हुए सुखों में रमण करेगा और चाहे भविष्य की सुनहरी कल्पना में भ्रमण करेगा। इसी सबको साधक-संत सत्संग की भाषा में "व्यर्थ चिन्तन" कहा करते हैं। भूतकाल के बीते हुये दिनों की याद आई, तो यह भी व्यर्थ चिन्तन है, और भविष्य की कल्पना में आप डूबे है, तो यह भी व्यर्थ चिन्तन है। कल्पना तो कल्पना ही है। वर्तमान में अधिक नीरसता रहती है तो भविष्य की कल्पना अधिक काम करती है। और जब बहुत ज्यादा मानसिक कमजोरी बढ़ जाती है, तो आदमी वर्तमान के कर्त्तव्य कर्म करने में असमर्थ हो जाता है और फिर वह दिवा-स्वप्न में डूबा रहता है। अंग्रेजी में उसको कंल.कतमंउपदह कहते हैं। जाग करके बैठा है और भीतर से नीरसता से व्याकुल है तो झूठी-झूठी कल्पनाओं से दिल बहलाता रहता है।

ऐसा एक उदार व्यक्ति आ जायेगा और वह मुझे अच्छा काम दें देगा, उससे धन मिलेगा तो ऐसा मकान बनाऊँगा, तो ऐसा सोचते-सोचते कहाँ से कहाँ चला जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक ;चेलबीवसवहपबंसऋ रोग है। इसको कंल.कतमंउपदह अर्थात् दिवा-स्वप्न कहते हैं। वर्तमान में जो नीरसता है, वह मनुष्य को भूतकाल की सुखद स्मृतियों में फँसाती है अथवा भविष्य की सुनहरी कल्पनाओं में फँसाती है। वर्तमान में उसको रहने ही नहीं देती। उसकी विचार शक्ति इतनी घट जाती है कि वह व्यक्ति बेचारा प्राप्त वस्तुओं का भी उपभोग नहीं कर सकता, अलौकिक जीवन में पुरुषार्थ का तो कहना ही क्या? ऐसी दशा हो जाती है।

स्वामीजी महाराज इस प्रकार के सभी रोगों का अचूक उपचार हम लोगों को बता रहे हैं। कह रहे हैं कि भाई, अगर तुम नीरसता का नाश करना चाहते हो तो उस रसस्वरूप परमात्मा में विश्वास करो। विश्वास करोगे तो सम्बन्ध बन जायेगा। सम्बन्ध बन जाने का अर्थ यह है, कि जिसमें हमारा विश्वास हो जाता है उसकी याद सब समय आती रहती है, और याद आ गई तो लगाव हो गया और उससे सम्बन्ध बन गया। और तुमने सत्संग के प्रकाश में भक्तों के वचनों को सुन करके सारे सम्बन्ध उसमें विलीन होकर दिये। साहस कर दिया न। मीराजी ने कहा, "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" दूसरा कोई मेरा नहीं है, दूसरे किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यह कहने का साहस उनको तब हुआ जब उन्होंने 'मेरे तो गिरधर गोपाल' कहा। गिरधर गोपाल मेरे अपने हैं इस निज विश्वास से, इस नित्य सम्बन्ध से उनमें इतना बल आ गया कि सारे संसार से उन्होंने अपना सम्बन्ध हटा लिया। कोई मेरा नहीं है और किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं है-ऐसा जब कोई व्यक्ति कर लेता है, एक नित्य विश्वास में सारे अनित्य सम्बन्धों को मिटा देता है तो उसके जीवन में से अन्य चिन्तन सदा के लिये खत्म हो जाता है।

अब आप सोच कर देखिये। जिस चिन्तन से बीते हुए सुखद अवसरों की याद आती है, वह चिन्तन आपके वर्तमान की नीरसता की पीड़ा को थोड़ा घटाता है, तो रह-रह करके उसको याद करना आपको अच्छा लगता है। बीते हुए अच्छे दिनों की याद अनेक बार आती है। मैंने देखा है। घर छोड़ दिया, स्वीकृति बदल दी और कभी-कभी भेष बदले हुये भी मैंने देखा है, ताकि साधक बात करते-करते कहने लग जाता है कि पहले मैं

अमुक पोस्ट पर था, पहले मैं ऐसा था, पहले मैं वैसा था।

एक जगह एक व्यक्ति के घर में मैं गई तो उनके घर में एक चित्र लगा हुआ था। बड़ा तगड़ा शरीर दिखाई दे रहा था। उन्होंने कहा, "बेटी, तुम यह चित्र देखती हो, पहचानती हो किसका है?" बड़े ही वृऋ सज्जन थे। बाबूजी कहती थी मैं उनको। मैंने कहा, बाबूजी! मैं तो नहीं पहचान सकी हूँ। तो कहने लगे-"यह मैं हूँ।"

बाबूजी यह आपका चित्र है? "हाँ बेटा, यह मेरा चित्र है। तब मै इतनी घुड़सवारी करता था, इतना दूध पीता था, इतना दंड-बैठक करता था, इतना काम कर सकता था।"... तब उन्होंने सब पुरानी कथा सुनाई। मनोविज्ञान का अध्ययन किये हुए व्यक्ति को सामने वाले के हाव-भाव पलकों का उठना बैठना, हाथ-पाँव हिलाना, सबका अर्थ अपने आप दीखता रहता है। तो मेरे भीतर ही भीतर बड़ी करुणा उपजी। मैंने सोचा, देखो, तर्वमान में यह सब बातें नहीं है। लेकिन वर्तमान की नीरसता इनको सता रही है। शान-शौकत चली गई, रूप चला गया, पद चला गया, नौकर-चाकर चले गये, बाहर से सुख देने वाली सब सामग्री अब खत्म हो गई हैं। अब वृद्धावस्था की असमर्थता को भुगत रहे हैं तो इस वर्तमान दयनीय दशा की पीड़ा को ढकने के लिये पुरानी बातों को दुहरा रहे हैं। मैंने मन ही मन कहा। हे प्रभु! दया करो इस वृऋ पुरुष पर। अभी भी इसका ध्यान आपकी ओर चला जाये तो अपना गौरव कितना बढ़ जाये।

मैं किसी बड़े मिनिस्टर का भाई हूँ, यह कहने में तो आदमी की इज्जत मेरी दृष्टि में घटती है और यदि वह कहे कि मैं तो त्रिलोकीनाथ का बालक हूँ तो इज्जत बढ़ती है? फिर उस सम्मान को घटाने की कोई बात दुनिया में कभी होगी? जी? नहीं होगी। तुलसीदासजी ने विनय पत्रिका में, कवितावली में कितने पद लिखे हैं। बड़ा गौरव है उनको कि मैं कैसा भी तुच्छ हूँ, उससे क्या होता है? एक पद में उन्होंने लिखा है कि तुम जानते नहीं हो कि मैं उनके गोत्र का हूँ। अब मुझसे क्या पूछोगे कि तुम्हारी क्या दशा है? जन्म लेने के बाद जल्दी ही माता-पिता मर गये और द्वार-द्वार की ठोकरें खाता फिरा, जाति-कुजाति सबकी रोटियाँ मैंने खाईं। लेकिन उससे क्या हुआ। भगवान का जो गोत्र है, सो ही सेवक का गोत्र है। तो मेरे गोत्र का गौरव कभी घट सकता है? मेरा सेवक पद कभी जा सकता है? उसके बाद भी कोई कमी रह सकती है?

इस जीवन में अखण्ड आनन्द का भण्डार भरा है। अनन्त रस का स्रोत भरा है और छोटी-छोटी बातों के लिये हम प्यासे-प्यासे फिर रहे है? संसार में कितनी ठोकरे खाते हैं, कितना अपमान सहते हैं और दूसरों को तो छोड़ दो। समाज फिर भी उदार हैं। मैं तो देखती हूँ जगह-जगह पर, माता-पिता किस प्रकार पुत्रों और पुत्र वधुओं के वश में पड़कर के अपमान सहते रहते हैं, दुःखी होते रहते हैं, कोई रास्ता नहीं सूझता है। बड़ी दया आती है देखकर मुझे। क्या हो गया मनुष्य को? क्यों इतने दीन-हीन होकर समय बिता रहे हो? सत्संग के प्रकाश में अपने लिये रास्ता निकालो। बना बनाया रास्ता है। अनेकों महापुरुषों ने अपने जीवन में शोध किया। अपने पर सत्य का प्रयोग किया, उनका दुःख मिट गया, उनकी पराधीनता मिट गई, उनकी नीरसता मिट गई। अलख, अगोचर, परमात्मा उनका अपना सगा सम्बन्धी हो गया, प्रत्यक्ष हो गया। उन लोगों ने अपनी सब बातों को हम लोगों के सामने रख दीं। खोज करने की बात तो है नहीं। अब इतनी-सी बात है कि जो बने-बनाए मार्ग हैं, जो सिऋ साधन

प्रणालियाँ हैं उनमें से जो अपने लिये उपयुक्त मालूम हो उसको अपना करके हम लोग चल पड़ें। इतनी-सी बात है।

अब आप देखिये, व्यर्थ चिन्तन के नाश के लिये आदमी कितना थकता रहता है। स्वामीजी महाराज इनती सीधी-सादी बात कह रहे हैं कि भाई, सम्बन्ध नहीं मानोगे तो चिन्तन नहीं होगा। उन सज्जन ने प्रश्न किया था कि मैं आत्मीयजनों के चिन्तन से मुक्त कैसे होऊ? स्वामीजी ने कहा कि भाई, दो ही वस्तुओं का चिन्तन आता है तुम्हारे दिमाग में। संसार के इतने सारे बच्चे भरे पड़े हैं, किसी का चिन्तन तुम्हारे दिमाग में नहीं आता है तो सबसे तो मुक्त हो ही। महाराज जी ने कहा कि इन दो पोतियों को छोड़ करके, बाकी सारे बच्चे जो दुनिया के हैं सबके चिन्तन से तो तुम मुक्त ही हो। तो यह उदाहरण हम सभी भाई-बहिनों पर भी लागू होता है। दुनिया में इतने असंख्य

शरीरधारी व्यक्ति भरे पड़े हैं। सबके चिन्तन से हम लोग मुक्त हैं। तो बऋ कहाँ हो गये? कैद कहाँ हो गये? दो-चार गिने गिनाये व्यक्तियों से ममता का

सम्बन्ध मान लिया। मोह का सम्बन्ध मान लिया, देह की आसक्ति मान ली। उनके सुख की आशायें कर लीं, उनके दिये सुखों के संयोग का भोग कर लिया तो वहीं पर बऋ हो गये। कहने के लिये हम लोग कहते हैं कि संसार का चिन्तन सता रहा है। लेकिन सारा संसार नहीं आता है सताने। संसार का दोष इसमें नहीं है। दो-चार व्यक्तियों के साथ मैंने अपने को ममता की रस्सी में बाँध दिया तो उन्हीं का चिन्तन सताता है। उनके चिन्तन से मुक्त होने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। कितना भी आँख बन्द करो, कान बन्द करो, गुफा में घुस जाओ, जंगल में चले जाओ। स्वामीजी महाराज कहते हैं कि सातवें आसमान में कुटिया बना लो, चाहे धरती खोद कर जमीन के भीतर दब जाओ। चिन्तन से मुक्त होने का दूसरा उपाय नहीं है।

गंगा के तट पर सत्संग मास चल रहा था, पुरुषोत्तम मास पड़ा होगा, एक दिन बड़ा हल्ला हुआ कि एक महाराज आए हैं जो भूमि के अन्दर रहेंगे। उनके लिये गड्ढा खोदा जा रहा है। महात्माजी बैठे हैं गंगाजी के तट पर। स्वामीजी महाराज का हृदय तो माँ की तरह था। करुणा से द्रवित हो जाते थे। पूछा-"क्या-क्या होगा?" तो "कुछ नहीं, कुछ नहीं महाराज! वह तो जमीन के भीतर बैठ जाएँगे और उनको ऊपर से बन्द कर दिया जायेगा और वे खाएँगे, पीएँगे नहीं।" उसके बाद हम लोगों ने सुना कि वे बन्द हो गए।

सारे सम्बन्धों को आप विवेक के प्रकाश में अस्वीकार कर सकते हैं। भगवत् सम्बन्ध की स्वीकृति और नाशवान् जगत् के साथ माने हुए

सम्बन्धों की अस्वीकृति-यह धरती की बात है कि आसमान की बात है? गुफा की बात है कि हवा की बात है? यह तो लौकिक जगत् की बात ही नहीं है। शरीर के द्वारा यह सम्भव ही नहीं है। अगर असत्य की अस्वीकृति एवं सत्य की स्वीकृति-इस रूप में आप सत्संग नहीं करते है, तो शरीर को लेकर के कहीं भी चले जाइये। ब्ीसंसदहम है कि संसार का चिन्तन छूट जाये। नहीं छूटेगा। बलपूर्वक अभ्यास करके थोड़ी देर के लिये संसार के चिन्तन को रोका जा सकता है। तो साइकोलोजिस्ट कहते हैं कि अगर जबरदस्ती करके मन के चिन्तन को रोकोगे तो क्या होगा? कि अचेतन स्तर में जाकर दिन-दूना रात-चैगुना बढ़ता चला जायेगा। उसका नाश नहीं होता है। प्रकृति की सहायता हम लोगों को है कि हमने भूल से जो बातें भीतर जमा कर ली हैं मौका मिलते ही वह सब प्रकट होने लगती हैं। आप सब लोगों का

अनुभव है, लोग कहते हैं मुझसे कि देवकीजी, काम करते समय तो पता नहीं चलता है और चुप होते ही भीतर से एकदम तूफान उठता है, तो ऐसा क्यों होता है? ऐसा होता है आपकी सेवा के लिये। ऐसा होता है आपकी सहायता के लिये। आपने बवदेबपवनेसल याने इरादा करके काम करना छोड़ दिया तो न्दबवदेबपवने समअमस पर अर्थात् अचेतन मन में भरे हुए कूडे-कबाड़े को प्रकृति निकाल-निकाल कर फेंकना शुरू करती है। इससे आप घबरा जाते हैं। कहते है, जरा-सा चुप बैठो तो भीतर तूफान बन गया। वह तूफान मिटेगा कैसे? थोड़ी देर के लिये आप भजन करते हैं, कहते हैं, भजन से शान्ति मिली है। जरूर शान्ति मिली है। जो शान्ति स्वरूप परमात्मा है, उस परमात्मा का भजन करेंगे तो आपको शान्ति क्यों नहीं आयेगी? जरूर आयेगी। लेकिन, भजन करने के बाद उठे वहाँ से और दूसरे-दूसरे काम में लगे तो क्या हुआ? तब तो फिर से अशान्ति मन में आ गई। क्यों आ गई भाई? यह दुबारा क्यों आ गई? इसलिए आ गई कि जिससे सम्बन्ध मानने के कारण अशान्ति पैदा हुई है उसके सम्बन्ध को आपने इन्कार नहीं किया। उसे तोड़ा नहीं है। ऊपर से शान्ति के उपाय करते जाओ और भीतर अशान्ति का कारण बना रहेगा, तो नई-नई अशान्ति पैदा होती ही चली जायेगी।

इसलिये महाराजजी कहते हैं कि जब तुम्हारे हृदय से माने हुए प्रभु

सम्बन्ध के फलस्वरूप वर्तमान में तुम्हारे जीवन में सरसता आएगी तो उस रस की निष्पत्ति मात्र से नीरसता कट जायेगी। जीवन में रस बढ़ता है तो नीरसता खत्म हो जाती है। तो फिर तुम्हारे भीतर नई कामनायें पैदा नहीं होतीं। निष्कामता की भूमि में ही पूर्णता निहित है।

प्रवचन 63

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाइयों!

मानव जीवन का चित्र हम देख रहे हैं, इस उद्देश्य से, कि कैसे इसको सफल बनाया जाये? कैसे इसको पूर्ण किया जाये? कैसे इसको सार्थक किया जाए? अब तक जो कुछ हमने सन्तवाणी में सुना है, सद्ग्रन्थों में पढ़ा है जीवन का अध्ययन किया है, उससे कुछ बातें आपके लिए स्वतः ही स्पष्ट है। उन पर विचार करें।

हम लोगों के व्यक्तित्व में विचार करने की शक्ति है और कुछ न कुछ कार्य करने की शक्ति भी है। साथ ही, प्रेमभाव, विश्वास, श्रद्धा - यह भी एक अनिवार्य तत्त्व है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता भी इस बात को मानते हैं कि क्रियाशक्ति और विचार शक्ति के साथ भावशक्ति की भी अनिवार्यता है मनुष्य के व्यक्तित्व में। शक्ति है हम लोगों के पास और उसी आधार पर खाने, पीने, सोने और शरीर को सुरक्षित रखने के साथ-साथ प्रेम भाव के विस्तार की भी हम लोगों ने आवश्यकता महसूस की है। उसके आधार पर बहुत से व्यवहार भी हमारे होते हैं। बहुत से सम्बन्ध माने जाते हैं, मित्र-मण्डली भी बनाई जाती है अनेक ऐसी सांस्कृतिक गोष्ठियाँ हैं, जो केवल मनुष्य के स्वार्थ भाव को मिटाकर प्रेमभाव के विस्तार करने का इन्तजाम करती हैं। अब इस आधार पर देखिये। साधक होकर, सत्संगी होकर हम लोग विचार करें, तो यह स्पष्ट होता है कि दृश्य जगत् में जितनी भी वस्तुएँ और जितने भी व्यक्ति हमारे सम्पर्क में आये, जिनसे हमने सम्बन्ध माना और विश्वास किया, उनसे हमारा सम्बन्ध मानना और विश्वास करना सफल नहीं हुआ, सार्थक सिद्ध नहीं हुआ। मनुष्य के जीवन में माता-पिता, सन्तान और पति-पत्नी का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ माना जाता

है, वह विश्वास और सम्बन्ध भी हमेशा के लिए निभ नहीं सका। जब देखे हुए दृश्य जगत् में विश्वास सफल नहीं हुआ तो जिज्ञासा जाग्रत हुई कि किसमें विश्वास करें ? कौन विश्वसनीय है? किसके साथ मेरा सम्बन्ध सदा के लिए निभ सकता है? सन्त जनों ने, अनुभवीजनों ने कह करके सुना दिया। हमारे)षियों, मनीषियों ने जीवन की शोध की और सद्ग्रन्थों में लिखकर रख दिया कि भाई! बिना देखा हुआ, बिना जाना हुआ जो सर्व का आधार है, उस परमात्मा में विश्वास करो। यह बात आज पहली बार आप सुन रहे हैं, ऐसा नहीं है। अनेक बार सुना हुआ है और दृश्य जगत् में विश्वास करने का परिणाम जो है वह भी किसी के कहने-सुनने से जानने में नहीं आया, वह भी अपने जीवन का अनुभव है जहाँ-जहाँ विश्वास किया, सबको सुरक्षित न रख सकें। आज भी जहाँ-जहाँ विश्वास कर रहे हैं, सम्बन्ध मान रहे हैं उनके बारे में भी कोई निश्चित नहीं है कि हमेशा के लिए निभेगा। यह क्षेत्र ही ऐसा है कि जिसमें निश्चिन्तता नहीं आ सकती, निस्सन्देहता नहीं आ सकती, सदा के लिए आधार नहीं मिल सकता और विवेक के प्रकाश में उसको दिखाई देने लगता है कि यहाँ कुछ भी विश्वसनीय नहीं है। यह किसी व्यक्ति विशेष की बात नहीं है, यह मानवमात्र की विशेषता है कि वह दृश्य जगत् में विश्वास भी करता है और उसमें सम्बन्ध भी मानता है। लेकिन थोड़े ही समय में उसको पता चल जाता है कि जहाँ-जहाँ मैंने विश्वास किया, जिस-जिस से सम्बन्ध माना, वह सब कमचमदकंइसम नहीं है, निर्भर रहने के लायक नहीं है, आश्रय लेने के लायक नहीं है।

मैंने श्री महाराज जी के पास विदेश से आया हुआ एक पत्र पढ़ा है। एक घोर भौतिकवादी और बड़े ही कर्मठ वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता ने पत्र में लिखा था -

''हमने जो कुछ किया और जो कुछ पाया, वह सब हवा में डोलता हुआ दिख रहा है। Our findings are baseless hanging in air.~ इसलिए मैं भारत वर्ष में सन्तों के पास आना चाहता हूँ। भारतीय सन्तों के पास कुछ ठोस हो तो मुझे मिल जाये। I want something solid.k~ I want something more dependable. यह मनुष्य की विशेषता है। उसको किसी ने परमात्मा की भक्ति की चर्चा नहीं सुनाई थी। प्रहलादजी की कथा नहीं सुनाई थी। मीराजी की कथा नहीं सुनाई थी। लेकिन वह एक मनुष्य है। मनुष्य में यह एक विशेषता है कि वह स्थूल दृष्टि से देहबुद्धि लेकर जगत् की ओर देखता है, उसकी ओर आकर्षित होता है, उसमें विश्वास करता है और जब उसका विश्वास टूटता है तो उसे इस बात का साफ पता चल जाता है कि यह सब विश्वसनीय नहीं है। यह सब संबंध मानने के लायक नहीं है। इसमें स्थिरता नहीं है। यह रुकेगा नहीं, यह टिकेगा नहीं। यह मेरा साथ नहीं देगा। इस बात का पता मनुष्य को चल जाता है, चाहे वह किसी युग का, किसी देश का रहने वाला हो, चाहे किसी मजहब सम्प्रदाय का मानने वाला हो, इन बातों से उसके इस मौलिक प्रकाश पर कोई फर्क नहीं पड़ता।

अब हम लोगों पर तो कुछ ज्यादा जिम्मेदारी है, क्योंकि हम लोगों ने माता-पिता, प्रकृति, सरकार, परमात्मा-सबका सहयोग लेकर, यहाँ बैठकर जीवन पर विचार करना पसन्द किया है। अपने को सत्संगी कहा है और सब लोगों ने मिलकर हमारी सहायता की है। किसी बात के लिए? इस बात के लिये कि अच्छा आ जाओ, तुमको रहने के लिए जगह भी देंगे, बीमार होगे तो दवा का इन्तजाम भी कर देंगे, सब इन्तजाम कर देंगे, आओ बैठों सत्संग करो। सब ने मिलकर

सहायता की है। अनेकों महापुरुषों का संकल्प इस क्षेत्र को बनाने में काम कर रहा है। जहाँ भी जाकर देखों इन बड़े-बड़े महात्माओं, महापुरुषों का यह शुभ संकल्प, कि संसार में भटकता हुआ पुरुष आकर बैठे, सत्संग करे, उसको सुविधायें मिलें, उसको प्रकाश मिले! इन लोगों की, इन महात्माओं की कर्मठता, सद्भावना, इनकी सूक्ष्म शक्तियाँ इस पूरे सत्संग क्षेत्र में काम कर रही हैं।

अब देखिए, प्रकृति, परमात्मा, सन्त-महात्मा, सरकार, समाज, परिवार, सबका सहयोग हम ले रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि हम लोगों पर एक बड़ा दायित्व भी है। क्या दायित्व है? कि जीवनदाता ने विश्वास करने की सामर्थ्य देकर दुनिया में भेजा और संसार की बदलती हुई परिस्थितियों का प्रभाव ग्रहण करने के लायक, विवेक का प्रकाश भी देकर भेजा और उसके द्वारा अब तक के जीवन में हमने देख लिया कि दृश्य जगत् की प्रत्येक आकृति में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। कुछ भी उसमें विश्वसनीय नहीं है, कुछ भी उसमें सुरक्षित (Safe – Secure) नहीं है। यह बदल रहा है। इसको देखा, अनुभव किया। अपने को चाहिए एक अचल आधार। जो कभी बदले नहीं कभी मिटे नहीं, कभी छूटे नहीं। जिसमें विश्वास करें, तो वह विश्वास का केन्द्र हमारा अचल हो, अविनाशी हो, अनन्त माधुर्यवान् हो और हमारे माने हुए विश्वास को सदा के लिए निभा दे। ऐसा केन्द्र चाहिए। जैसे क्तण् Boss ने पत्र लिखकर पूछा - i~ want some thing solid rks mldks something solid चाहिए था। ऐसे ही हम लोगों को विश्वास करने के लिए और सम्बन्ध मानने के लिए एक अचल आधार चाहिए कि जिसमें विश्वास करो तो वह कभी टूटे नहीं और जिससे सम्बन्ध मानों तो कभी छूटे नहीं। अब आज इन महापुरुषों के संकल्प से अभिषिक्त इस धरती पर बैठकर अपना और आपको दायित्व मैं याद दिला रही हूँ। सोचकर देखो - ग्रन्थों में भी पढ़ लिया, सन्तों से भी सुन लिया, अपने जीवन में भी देख लिया। इन सारी बातों का प्रभाव आज तक अपने पर कितना हुआ? जो विश्वसनीय नहीं है, उसमें से हम लोगों ने अपना विश्वास उठा लिया है क्या? सोचो।

अब दूसरी ओर देखो। अनन्त परमात्मा में जिन्होंने विश्वास किया, जिन्होंने उनसे सम्बन्ध माना वे सदा-सदा के लिए निर्भय हो गये, निश्चिन्त हो गये, उनको कोई भय नहीं रहा, कोई चिन्ता नहीं रही, कोई अभाव नहीं रहा। उन्होंने डंके की चोट पर घोषित करके दुनिया को सुना दिया कि भाई, वे ही एक अचल आधार हैं, वे ही विश्वास करने के लायक हैं, वे ही सम्बन्ध मानने के लायक हैं। अगर तुम जीवन को रस से भरपूर करना चाहते हो तो उस रस स्वरूप परमात्मा में विश्वास करो और उसी से सम्बन्ध मानों ऐसा सन्तों ने हम लोगों को बताया। इधर का सारा सहारा तो डगमगाता हुआ दिखाई दे रहा है। संसार ने अपने स्वरूप का दर्शन कराके, आधा काम तो हम लोगों का करा ही दिया है। अब केवल इतना हिस्सा रह गया है कि बिना विश्वास किए रह नहीं सकते और विश्वसनीय केवल एक ही है, जिसका नाश नहीं होता है। अपना सम्बन्धी मानने के लायक केवल एक ही है जो सदा के लिए सम्बन्ध निभा देने में समर्थ है। तो उसी को अपना मानो, उसी में विश्वास करो। यही सफलता का आधार है।

अब अपने लोगों की दशा देखिए। हम लोगों में से बहुतों ने विधि-विधान से, कायदे से वैष्णव मत के अनुसार ईश्वरीय सम्बन्ध की दीक्षा ली होगी और कुछ लोगों ने विधि-विधान से नहीं, अपितु मेरी तरह जीवन की आवश्यकता देखकर सम्बन्ध माना होगा। तो सभी भाई-बहिन जो यहाँ

बैठे हैं, ईश्वर में विश्वास करने वाले, ईश्वर का आश्रय लेने वाले और ईश्वर के सम्बन्ध की मानने वाले सभी अपना चित्र अपने सामने रखकर देखिये, कि आज भी ईश्वर विश्वास और ईश्वर सम्बन्ध की जीवन में प्रधानता है या अभी भी नाशवान का सम्बन्ध और नाशवान में विश्वास प्रधान है। कौन ज्यादा जोरदार लग रहा है, देखों तो सही। अगर अभी भी नाशवान का विश्वास ज्यादा जोरदार लग रहा है, तो यह बड़ी भारी भूल है। यह भूल जब तक हम लोग मिटायेंगे नहीं, तब तक मस्तिष्क में से व्यर्थ चिन्तन मिटेगा नहीं।

समझाने वाले ज्यादा समझा देंगे तो काम बनेगा? नहीं बनेगा। समझाने वालों ने अपनी तरफ से उठा नहीं रखा। स्वामी जी महाराज ने पच्चीस दिसम्बर को, मोक्षदा एकादशी को निश्चय कर लिया था शरीर त्याग देने का। उसके एक दिन पहले तक भी जो जो उपयोगी बातें हमारे लिए उनके ध्यान में आई, वे कहते ही रहे, रुके ही नहीं किसी प्रकार से। डॉक्टर लोग मना कर रहे थे, हम लोग प्रार्थना कर रहे थे कि महाराज जी! अब बोलना बन्द कर दीजिए, अब बोलना बन्द कर दीजिये। पर वे कभी-कभी मौज में आ जाते तो हँस देते और कहते - अरे भाई! जाने वाला जा ही रहा है, जो बन पड़े इससे काम ले लो यह रहेगा तो है नहीं, यह जायेगा ही। अतः उपयोगी बातें कहते ही रहे अन्त समय तक और जब कोई ज्यादा आग्रह करे कि स्वामीजी महाराज, अब आपको विश्राम लेना चाहिए। तो एकदम से उनका हृदय उमड़ आता ओर कहते - ये जो मेरे चारों और मेरे संगी-साथी, मित्रगण खड़े हैं उनमें से एक भी मित्र मुझे पराधीन दिखाई देता है तो मैं आराम कैसे लूँ?

कहने वालों ने कम नहीं कहा, लिखने वालों ने कम नहीं लिखा।

सृष्टिकर्त्ता, विधाता ने सृष्टि बनाई तो विधान पहले बनाकर प्रस्तुत किया, पीछे हम लोगों को सृष्टि में भेजा। इन्तजाम करने वालों ने सब इन्तजाम किया। इसलिए मैं तो इस बात में विश्वास करती हूँ कि अपनी जिम्मेदारी अपनी आँखों से बिल्कुल स्पष्ट करके देखिये, तो आपके भीतर जागृति आएगी। अच्छी बातों की जानकारी कम नहीं है हम लोगों को। दूसरों को सुनाना हो तो बहुत-सी अच्छी बातें सुना सकते हैं। बहुत सी बातें हम लोग जानते हैं। कुछ नहीं भी जानते हैं, ऐसा भी है लेकिन कम से कम जितने से अपना विकास हो सकता है, उतनी अच्छी बातों को तो सभी भाई-बहिन जानते हैं। सन्त महापुरुषों की सद्भावना की कमी नहीं है। प्रभु की कृपालुता की कमी नहीं है। फिर भी सत्संग में आकर सुनने का आनन्द लेने के बाद भी समस्या हल नहीं होती है तो ऐसा सोचना चाहिए कि दूसरे सबने अपना-अपना काम, अपनी-अपनी जगह पर ठीक-ठीक कर दिया। केवल मेरी ही कमी है, मैं ही अपना दायित्व पूरा करने में पीछे हूँ इसलिए काम पूरा नहीं हुआ। अगर आपको यह बात जँचती हो तो मानो, और मानो तो इससे चेतना आयेगी, जागृति आयेगी।

एक दिन बैठकर मैं सोच रही थी तो मेरे ध्यान में आया कि शबरीजी के गुरुजी महर्षि मतंग ने एक ही बार तो कहा था कि मेरे शरीर त्यागने का समय आ गया है, मैं शरीर त्याग दूँगा और शबरीजी! आप इसी आश्रम में रहियेगा। भगवान आयेंगे तो यहाँ आकर आपको दर्शन देंगे।

एक बार का गुरु का कहा हुआ वाक्य, उस भक्त महिला के जीवन का महामन्त्र बन गया। मैंने तो अनेकों बार सुना - प्रभु तुम्हारे अपने हैं। प्रभु तुम्हारे अपने में है। महाराज जी ने यहाँ तक कहा - मैं! मानती नहीं थी सहज से, तो यहाँ तक कहा, लाली! देखो, परमात्मा तो जानते ही हैं

कि तुम उनकी अपनी हो। तुम भूल गई हो इसलिए मेरे कहने से स्वीकार कर लो। कितनी करुणा, कितनी लगन है, भटके हुए व्यक्ति को सही रास्ते पर लगाने की। ऐसा, जैसे कोई आदमी किसी से निहोरा करता हो कि मेरा यह काम कर दो। ऐसी निहोरे की वाणी में स्वामीजी महाराज हमको सुनाते थे। बार-बार कहते थे - 'परमात्मा को मालूम ही है, वे तो जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। उनमें विस्मृति का कोई दोष नहीं है।' उनको तो अच्छी तरह से मालूम है कि हम सभी उन्हीं के बच्चे है। हम सब उनके अपने ही हैं - मैं भूल गई और दुनियाँ में अनाथ बनकर दुःखभरी दृष्टि से खोजती फिर रही हूँ। सन्तों के हृदय में करुणा द्रवित होती है उन्होंने अनेक ढंग से एक ही बात को कहकर सुनाया।

अब आज, अपने लिए, हर भाई-बहिन के लिए बड़ा आवश्यक प्रश्न है कि हम जानते हैं कि संसार विश्वास करने के लायक नहीं है तो उसमें से विश्वास उठाया क्यों नहीं? सोचिए! यह प्रश्न अपने से पूछिए। हमने सुना है कि परमात्मा ही विश्वसनीय है, वे ही एक हमारे विश्वास के केन्द्र हैं उन्हीं में किया हुआ विश्वास सदा-सदा के लिए निभता है। वे ही सर्वज्ञ हैं। वे ही समर्थ हैं। वे ही परम-प्रेम के अथाह सागर हैं। उन्हीं का प्रेम-रस हमारे जीवन के जन्म जन्मान्तर के अभावों को मिटा सकता है। सुख भोग की तृष्णा ने जीवन का रस सुखा दिया, नाशवान में आसक्त होकर अपनी दुर्गति कर ली। आपको मालूम है, यह बिल्कुल वैज्ञानिक सत्य है, कि जिसके जीवन में परम-पवित्र मधुर प्रेम-रस का संचार नहीं हो जाता उसकी नीरसता का नाश नहीं होता है और नीरसता का नाश नहीं होता तो व्यर्थ चिन्तन नहीं मिटता। व्यर्थ चिन्तन नीरसता की प्रतिक्रिया है। व्यर्थ चिन्तन को देखकर अपने मन को गाली देने से लाभ नहीं होता है। जो रस का अथाह सागर है उससे अपने को जोड़ने से काम बनता है। अब अपने पर दायित्व कितना बड़ा है देखो। कितने दिन हो गये। कितनी बार हमने सुन लिया, कितनी बार ग्रन्थों में पढ़ लिया। विश्वास करने के लायक केवल परमात्मा ही है। अब और कितना समय लगायेंगे हम लोग इस दिशा में अब इसलिए हमें उस अनन्त परमात्मा में विश्वास कर ही लेना चाहिए। कभी-कभी गोस्वामी तुलसीदास जी की वाणी याद आ जाती है, तो अपने को कहती रहती हूँ मैं 'एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास' यह सन्तवाणी मेरे जीवन का मंत्र कब बनेगी? बड़ा गहन सत्य है यह जीवन का, बड़ा ही गम्भीर विषय है यह जीवन का। इसको हल्के हल्के ढंग से कहते सुनते रहने से काम नहीं बनेगा।

अब आपकी कठिनाई पर आती हूँ। कोई साधक कहे कि क्या करें? परमात्मा में विश्वास करना चाहते हैं, लेकिन कर नहीं पाते हैं डर लगता है। क्या डर लगता है भाई? कि देखने में आया नहीं, समझ में आया नहीं, क्या जाने है कि नहीं-ऐसा सन्देह किसी में हो सकता है। तो सोचो भाई-सत्ता में ही सन्देश कर लो, तो विश्वास कैसे जमेगा। अरे देखने की चेष्टा मत करो, परमात्मा को पसन्द करो। मुझे यह बात बहुत अच्छी लगी थी। मैं सोचती कि बड़ा अच्छा हुआ कि देखे हुए दृश्यों में परमात्मा शामिल नहीं हुए। देखा हुआ दृश्य जिस प्रकार से मेरी आँखों के सामने से ओझल होता चला जा रहा है, अगर परमात्मा भी इन दृश्यों में ही शामिल हो जाता, वह भी भाग जाता, तो मैं क्या करती? इसलिए उनका अदृश्य होना मेरे लिए बड़ा कल्याणकारी है यह तो हुई मेरे मन की बात। और सामान्य बात क्या है? सामान्य बात यह है कि भाई! समझने की कोशिश मत करो क्योंकि परमात्मा तुम्हारी बुद्धि की सीमा

में समायेगा नहीं। बुद्धि तो सूक्ष्म शरीर का व्यापार है। जो नाशवान शरीर का व्यापार है, उसमें वह अविनाशी अँटेगा कैसे? समझ में नहीं आता है क्योंकि वह समझने का विषय नहीं है और देखने में नहीं आता है क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। इसलिए देखने की चेष्टा मत करो। समझने की चेष्टा मत करो। बिना देखे, बिना समझे बहुत सी बातों को जीवन में हम लोगों ने धारण किया है। गलत सलत बातों को मानने से कष्ट पाते रहे हैं। अब गुरु की वाणी में विश्वास करके, ग्रन्थों के वाक्यों में श्रद्धा करके, बिना देखे, बिना जाने को मान लिया जाये एक बार। मान लेने का फल यह होता है कि, माना हुआ जाना हुआ बन जाता है।

परमात्मा को मान लेने से, उनमें विश्वास कर लेने से अपने अहंरूपी अणु में ही ऐसा परिवर्तन आ जाता है कि आज हमारी भोग बुद्धि होने के कारण, स्थूल दृष्टि से जीवन को देखने के कारण से उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सर्वव्यापी, समर्थ, सर्वज्ञ का पता नहीं चल रहा है। परन्तु इस स्थूलता से जब हम ऊपर उठते हैं, जब इस जड़ता से हम मुक्त होते हैं, तो स्वयं अपने अहं में ही इतनी विलक्षणता आती है कि अत्यन्त रहस्यमय जो है वह अत्यन्त प्रत्यक्ष हो जाता है। इसके बाद तो फिर ऐसा लगता है कि उसके सिवाय और कुछ है ही नहीं। इतना छा जाता है वह, भीतर-बाहर व्यक्त में, अव्यक्त में। सब प्रकार से ऐसा हो जाता है, कि कुछ वर्णन नहीं किया जा सकता, अनुभवीजनों ने ऐसा कहा है। साधन काल में इन सब बातों का परिचय, वे परम कृपालु, हमारे जैसे भटकते हुओं को सँभालने के लिए दिला देते है।

साधन काल में वे परम कृपालु सत्पथ पर चलने वाले साधकों का उत्साह बढ़ाने के लिए, कि घबड़ा कर फिर यह यहाँ से भटक न जाये इस बात के लिए, वे बड़ी सावधानी रखते हैं और जितना ही मैंने पहले उनकी आलोचना की थी, उतना ही अब मैं उनकी अभ्यर्थना करती हूँ। उनकी बड़ी कृपालुता है। वे बड़ा ध्यान रखते हैं, अब आपकी आगे की सहायता के लिए सन्तवाणी सुना दे रही हूँ। इतना तो आपको मालूम हो ही गया, कि भाई, जिसमें विश्वास नहीं करना चाहिए, उसमें से विश्वास उठाना जरूरी है ओर जो वस्तुतः विश्वास को निभाने वाला है, उसमें विश्वास करना जरूरी है। इतना आपने मान लिया तो फिर पीछे लौट के नहीं जाना। अब आगे बढ़ो। आगे आपकी समस्या यह है कि क्या करें। मानना तो चाहते हैं पर माना नहीं जाता। विश्वास करना पसन्द तो है, पर किया नहीं जाता। ऐसे असमर्थ साधकों के लिए श्री स्वामीजी महाराज ने यह कहा कि परमात्मा में विश्वास करना और उनमें विश्वास करने को आवश्यक मानना। ये दोनों ही समान फल देने वाले हैं। डरों मत तुम विश्वास माँगों, तुम्हें मिलेगा और तुम्हारा काम बन जायेगा। अगर तुमसे संसार के सम्बन्ध का त्याग करते नहीं बनता है, दृश्य जगत् का आकर्षण बारम्बार तुम्हें खींचता है, तो सोचो भाई, त्याग करना आवश्यक मानते हो, तो समर्थ स्वामी से सामर्थ्य माँगों, मिल जायेगी। अपनी स्वीकृति बहुत काम देती है। आप अपने द्वारा स्वीकार कर रहे हैं कि भगवान में विश्वास करने की जरूरत है। ऐसे आपके द्वारा जो स्वीकार किया हुआ है, वह विफल नहीं जायेगा। उसका जादू काम करेगा। अपने द्वारा जिस बात को मनुष्य स्वीकार कर लेता है वह स्वीकृति मिटती नहीं है। उसका प्रभाव होता है इसलिए आपकी सेवा में पत्र पुष्प अर्पण करने की लिए बैठी हूँ। आपका कल्याण हो, इसी में मेरा कल्याण है। इस दृष्टि से मैं कह रही हूँ आपसे। नाशवान में से विश्वास उठाना जरूरी है।

नाशवान की सेवा करना ठीक है, लेकिन उसको जीवन का आधार नहीं बनाना है। परमात्मा को जीवन का आधार बनाना जरूरी है। उसमें विश्वास करना आवश्यक है। ऐसा आप अपने भीतर से अनुभव करिये। चैबीस घण्टे में से दो, चार, पाँच, दस बार भी याद आता रहे कि आवश्यक बात तो यही है, पर अभी तक हम कर न सके। न कर सकने की एक पीड़ा जी में उठेगी तो सफलता मिल जायेगी। और भी, इससे भी नीचे दर्जे पर उतर आओ और छोटे क्लास के विद्यार्थी बन जाओ, कि ऊँचे क्लास में नहीं पहुँच सके तो कोई चिन्ता नहीं। मान लो भीतर में दुविधा रहती है, और बार-बार खिंचाव संसार की ओर होता है तो अकेले में बैठकर फिर परमात्मा के सामने रोओ - क्या करूँ? महाराज! मैं चाहती हूँ विश्वास करना, मेरे से हो नहीं सका। हे कृपालु! अब आप अपनी कृपा से ही अपना विश्वास मुझे दे दें। वे दे देंगे। आपको पता ही नहीं चलेगा कि कैसे-कैसे उन्होंने विवेक-विरोधी विश्वासों को तोड दिया। कैसे-कैसे सजाया हुआ खेल सब बिगाड़ दिया। और कैसे-कैसे उन्होंने अपना विश्वास दिलाकर, आपको निश्चिन्त और निर्भय कर दिया। यह सब होता है। मेरी प्रार्थना केवल इतनी ही है कि प्रति दिन जो भी अपने को जहाँ से मिल जाये, ग्रहण करने के लायक, उसे हम ग्रहण करें। छोटा से छोटा कदम उठाएँ जरूर। जैसे हम बैठे थे वैसे ही न उठे। अहं में परिवर्तन होता है तत्काल होता है, सुनते-सुनते ही जीवन बदलता है। पढ़ते-पढ़ते ही बड़ा भारी परिवर्तन आ जाता है। महापुरुषों के जीवन में ऐसा हुआ है। हम सभी भाई-बहिनों को वह अभीष्ट है। इसलिए अपने को तैयार करके सुनने बैठे हैं और बोलना सुनना खत्म हो तो किसी न किसी प्रकार के फैसले से जीवन में अधिक उजाला लेकर अधिक प्रकाश लेकर इस भवन से बाहर निकले। ऐसा हो सकता है।

अब शान्त हो जाइये।

एक भाई को एक शंका हो गई है। उन्होंने प्रश्न पूछा है कि:

प्रश्न: जब हमें प्रभु से भी कुछ नहीं चाहिए तो प्रार्थना क्यों ?

अच्छी बात, उनके भीतर यह शंका उठी है। स्वामी जी महाराज से जैसे मैंने सुना है, समाधान देने की कोशिश कर रही हूँ। प्रार्थना उसको नहीं कहते हैं जो किसी चाह की पूर्ति करने के लिए की जाए।

प्रार्थना का अर्थ है, जीवन की आवश्यकता अनुभव करना- मुझे सत्य चाहिए, मुझे अविनाशी जीवन चाहिए, मुझे नित्य योग चाहिए, मुझे प्रभु-प्रेम चाहिये। जो सत्य है, जो नित्य विद्यमान है, उससे अभिन्न होने की आवश्यकता जब जगती है, उसका नाम है - प्रार्थना और वह अनिवार्य है। वह प्रार्थना तभी प्रारम्भ होती है जब भगवान से कुछ और नहीं माँगा जाता। धन चाहिए या स्वास्थ्य चाहिए, वस्तु चाहिए या मकान चाहिए, सुख-भोग चाहिए या लम्बी जिन्दगी चाहिए - ये सब जो लोग चाहते हैं उसके लिए भगवान से जो कुछ कहा जाता है उसका नाम प्रार्थना नहीं है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए स्वामी जी महाराज ने प्रार्थना शब्द के दो अर्थ बना दिये। एक कहा वैधानिक प्रार्थना और एक को कहा अवैधानिक प्रार्थना। यह महाराज की अपनी शब्दावली है। वैधानिक प्रार्थना उसको कहते हैं कि जो अवश्य पूरी होती है। जीवन की माँग पूरी होती है। सत्य की जिज्ञासा पूरी होती है। प्रेम की अभिलाषा पूरी होती है। तो इनकी जो आवश्यकता अनुभव करता है, उसका नाम है वैधानिक प्रार्थना और सांसारिक बातों के लिए जो

प्रार्थना की जाती है, उसका नाम है अवैधानिक प्रार्थना। अवैधानिक प्रार्थना पूरी हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है, और पूरी हो भी जाये तो फिर सब कुछ मिट सकता है। इसलिए मानव के जीवन में अवैधानिक प्रार्थना का स्थान नहीं हैं।

प्रश्न: विधान के आधार पर विधायक की सत्ता और विधायक के नाते विधान की सत्ता मानना - इनमें से हमारे लिए कौन अधिक हितकर है?

इसका तो सहज उत्तर है - जो तुम्हें पसन्द आए सो तुम्हें हितकर है। एक ईश्वर विश्वासी विधायक की सत्ता को स्वीकार करता है और वह विधान को मान लेता है। यह परमेश्वर की आज्ञा है। क्या आज्ञा है? कि तुम अपनी रक्षा चाहते हो तो किसी को हानि मत पहुँचाना। विधायक को मान लिया, विधान को मान लिया और एक विचारक है जो खोज के आधार पर चलना चाहता है। वह देखता है कि संसार में इतना जबरदस्त विधान चल रहा है तो विधान को देखकर के विधायक को मान लेता है। एक साइंटिस्ट का उदाहरण मैं आप लोगों को सुनाया करती हूँ। चार-छः वर्ष पहले की बात है। बातचीत हो रही थी मेरी। एक साइन्स के लैक्चरर थे तो उन्होंने अपने मित्र की कथा सुनाई थी। वे ऐस्ट्रोनोमी में रिसर्च कर रहे थे। देखा उन्होंने, शून्य आकाश में ग्रह, नक्षत्र, तारे अपनी-अपनी धुरी पर चलते ही जाते हैं। चलते ही जाते हैं। शून्य आकाश, उसमें इतने असंख्य यात्री ओर फिर भी कहीं पर एक्सीडेंट (Accident) नहीं हो रहा है तो कौन सँभाल रहा है उनकों, कौन चला रहा है? किस विधान पर चल रहे हैं? ये किसकी आज्ञा पर चल रहे हैं ? Traffic Controller तो कोई दिखाई ही नहीं देता। उसने अपने Research के विषय को छोड़ दिया। एकान्त में जाकर बैठ गया, कहने लगा कि अब ग्रह-नक्षत्रों की गतिविधि कौन नापता रहे, चलो उस Controller से मिल लो, सब समाचार मालूम हो जायेगा। यह अभी इसी आधुनिक युग की बात है और मेरा विश्वास है कि उस भाई को Controller मिल ही गये होंगे। जो अपना सब कुछ छोड़ कर बैठेगा, उससे परमात्मा को मिलने में क्या देर लगेगी। अब देखिए उस भाई ने क्या किया ? विधायक की सत्ता उसने नहीं स्वीकार की थी। विधान देखा, ऐसा कैसे हो रहा है? कौन सँभाल रहा है? किसके संकेत पर इतने ग्रह नक्षत्र अबाध गति से असंख्य असंख्य वर्षों तक युगों-युगों तक चलते रहते हैं, चलते रहते हैं। Fraction of second (क्षण भर) के लिए भी कभी उनकी गतिविधि में अन्तर नहीं आता। धीमापन या तेजी नहीं आती है। असंख्य असंख्य बरस बीत गये। अपनी-अपनी धुरी पर यह ग्रह-नक्षत्र चल ही रहे हैं कभी कोई फर्क नहीं हुआ। अतः कोई Controller होगा जरूर, दिखाई नहीं देता भले ही। परन्तु इससे मिलना आवश्यक है - ऐसा सोचकर ग्रह-नक्षत्र की गतिविधि में एक निश्चित विधान देखकर, उस वैज्ञानिक ने विधायक को मान लिया और काम बन गया। तो विधायक को मान कर उनका विधान मान लीजिए अथवा विधान को देखकर विधायक को मान लीजिए - ये दोनों बातें मानव-जीवन के लिए हितकर हैं अहितकर इसमें से कोई नहीं है, जिसको जो रुचे पसन्द कर ले। विधायक में सहज से विश्वास होता हो तो विधायक की सत्ता स्वीकार करके विधान मान लीजिये और विधायक को मानने की इच्छा न होती हो तो विधान को देखकर विधायक को स्वीकार कर लीजिए। इसमें भी आपका विकास हो जायेगा। कोई घाटा नहीं लगेगा। बड़ी सुन्दर बात है। मंगलकारी प्रभु का बड़ा ही मंगलमय विधान है। हर प्रकार के साधकों के लिए उन्होंने

मार्ग बनाए हैं। चाहे जैसे भी हो अपने विचार का अनुसरण करो। सफलता मिलेगी अवश्य। (अब हम लोग शान्त हो जाएँ)

प्रवचन 64

सत्संग प्रेमी माताओं, बहनों और भाईयों !

हम सब लोग मानव जीवन का विश्लेषण कर रहे है। इस दृष्टि से, कि इसको सफल बनाने के उपाय निकालें। विश्लेषण करने से ऐसा स्पष्ट हुआ कि इस व्यक्तित्व में भौतिक पहलू भी हैं और अलौकिक तत्त्व भी हैं भौतिक पहलुओं को लेकर हमारा जगत् से संबंध बनता है; अलौकिक तत्त्वों के आधार पर अविनाशी जीवन की माँग रहती है अपने में। यह हमारा एक चित्र है।

अब सत्संगी होने के नाते, साधक होने के नाते, सत्य की खोज करने वाले जिज्ञासु होने के नाते, देखना है, कि कैसे हम एक ऐसा सामंजस्य स्थापित करें, कि कुशलता पूर्वक संसार में रहना भी हो जाएऋ संसार के बन्धन से मुक्त भी हम हो जाएँ और अलख, अगोचर, अदृश्य अज्ञात परमात्मा के प्रेम से भरपूर भी हो जाएँ। इसके लिए एक जीवन शैली हम लोगों को चाहिए। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर - इन दोनों के सहारे जगत् के साथ सम्पर्क हम बनाते हैं और दोनों तरह के व्यवहार मानव समाज में चलते हैं। अन्न-जल इत्यादि वस्तुओं की आवश्यकता स्थूल शरीर की भूख कहलाती है, और मेरा कोई समर्थक हो, मेरा कोई साथी हो, कोई मुझसे प्यार करे, कोई मेरा दिया हुआ प्यार स्वीकार करें, कोई मुझे वस्तुएँ दे, कोई मुझसे वस्तुएँ ले, कोई मेरे संकल्प की पूर्ति में सहायक बने, किसी की संकल्प पूर्ति में मैं सहायक बनूँ, कोई मेरे सुख-दुःख में शामिल होवे, किसी के सुख-दुःख में मैं शामिल होऊँ - यह सब मानसिक भूख कहलाती है। मनौवैज्ञानिक भाषा में एक को Physiological दममक कहते हैं और दूसरे को Physiological दममक कहते हैं मान बड़ाई प्रशंसा पाने की इच्छा सब 'साइकोलोजिकल नीड' कहलाती है इनकी पूर्ति के लिए संसार के साथ सम्पर्क बनता है।

अब सत्संगी होने के नाते जीवन के लक्ष्य के रूप में हम लोगों ने रखा - चिरशान्ति, दुःख निवृत्ति, भगवत्भक्ति। यह हमारा लक्ष्य हुआ। यह वास्तविकता है और इनके बिना किसी भी प्रकार से कभी भी हम लोगों को सन्तुष्टि नहीं होगी। जो अपने आप में सन्तुष्ट होना पसन्द करें, जो पराश्रय और पराधीनता से मुक्त होना पसन्द करे, जो अनन्त परमात्मा का प्रेमी होकर प्रेम-रस में मस्त रहना पसन्द करे - उसके लिए आवश्यक है कि इस बात पर विचार करे, कि शरीर और संसार को लेकर वह क्या करें? चिर शान्ति न शरीर दे सकता है, न संसार ही दे सकता है। क्योंकि यह इनके दायरे की बात नहीं है और चिर-शान्ति, दुःख निवृति, जीवन-मुक्ति के बिना जीवन की पूर्णता नहीं होती। तब क्या होना चाहिए? एक अपनी भूल विचार करने के लिए आप भाई-बहिनों के सामने रख रही हूँ आप देखिए - जब तक हम लोग अपने को शारीरिक और मानसिक भूख मिटाने की सीमा में सीमित रखते हैं, तब तक क्या होता है? कि सेवा, त्याग, प्रेम, उदारता, करुणा-जितनी अच्छी बातें हैं, मानव जीन के जो ऊँचे मूल्य हैं, उन पर हमारा ध्यान नहीं जाता। उनकी उपेक्षा करके हम शारीरिक और मानसिक भूख मिटाने में लगे रहते हैं। उलटा-सीधा काम कर देने से अधिक सम्पति आ सकती है, तो जो नहीं करना चाहिए

सो भी करेंगे। इसलिये कि अधिक सम्पति आ जायेगी। अब कोई पूछे - क्या करोगे भाई अधिक सम्पत्ति लेकर? अधिक सम्पत्ति लेकर हम अधिक सुख से रह सकेंगे, और बहुत दिनों तक हमारे बाल बच्चों को अधिक धन कमाने की तकलीफ नहीं उठानी पड़ेगी। ठीक है अब सोचिए, कि जिस सम्पति को बढ़ाने के लिए आपने हृदय के ऊँचे मूल्यों को घटा दिया, सत्य का सहारा छोड़ दिया, सामाजिक हित की परवाह नहीं की, उससे आन्तरिक मूल्य बढ़ गया है कि घट गया? घट गया न।

अब देखो, कितनी बड़ी भूल हम लोगों से होती है। किसी से पूछो कि बहुत-सी वस्तुएँ लेकर क्या करोगे भाई? इतनी सामग्री का क्या करोगे? तो कहेगा कि उसके सहारे मैं आराम से रहूँगा। अच्छा, अब बताओ कि वस्तुओं का महत्व हैं, या आराम का, आपके जीवन में सुख की सामग्री का महत्व है, या हृदय की शान्ति का? तो आप कहेंगे कि आराम का, शान्ति का महत्व है। तो भाई, देखो! सत्य का सहारा खोने से शान्ति मिलती है, या सत्य के सहारे रहने से शान्ति मिलती है? अब हम लोग क्या करते हैं? भौतिक उपादानों को जुटाने में, सुख की सामग्री को जुटाने में, उसको बनाए रखने में अपनी जो दैवी सम्पदा है उसको हम घटाते चले जाते हैं और फिर कहते है कि क्या बताएँ, कहीं शान्ति नहीं है, कहीं आराम नहीं है। यह बहुत जरूरी बात है। आप क्या साधना करेंगे? साकार उपासक बनेंगे कि निराकार उपासक बनेंगे, कहाँ जायेंगे, कहाँ रहेंगे? सो सब बहुत महत्वपूर्ण बात नहीं है। कर लीजियेगा जैसी आपको सुविधा मिले, जो जी में आए। लेकिन ध्यान देकर देखिए कि शारीरिक और मानसिक भूख की अपेक्षा शान्ति, मुक्ति और भक्ति को प्रधानता नहीं दीजियेगा, तो काम नहीं बनेगा।

अब आदमी करता क्या है? देखो, भीतर-भीतर बहुत तकलीफ पर रहे हैं। आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं है, लेकिन ज्यों-त्यों करके सही-गलत तरीके से इन्तजाम करके भी त्यौहार तो उसी ढंग ;ैजंदकंतकऋ से मनाना चाहिए जिससे कि समाज में प्रतिष्ठा बनी रहे। यह मानसिक भूख है कि समाज में प्रतिष्ठा बनी रहे तो अच्छा लगेगा। तो उसकी कोई सीमा है? नहीं है। सदा के लिए प्रतिष्ठा बनी रहेगी? नहीं बनी रहेगी। उसको छोड़कर के आपको हटना पड़ेगा कि नहीं। आपको छोड़कर वह हट जायेगी कि नहीं? जो बात बदलती हुई परिस्थितियों के आधार पर आपके सामने आई है, वह बात बदल जाती है कि नहीं बदलती? अगर उस बदल जाने वाले के लिए, उस छूट जाने वाले के लिए आपने सत्य का पल्ला छोड़ दिया, धर्म का, कर्त्तव्य का पल्ला छोड़ दिया, परमात्मा का सहारा छोड़ दिया - तो लाभ हुआ या हानि हुई? स्पष्ट है कि हानि हो गई।

काफी समय तक एक ऐसी मण्डली में मुझे रहना पड़ा कि जिन लोगों के सामने ईश्वर की ओर धर्म की चर्चा ही नहीं थी और दुनियाँ के एक बुद्धिमान आदमी ने कहा दिया कि त्मसपहपवद पे जीम वचपनउ व ि्वबपमजलण् उसको अपनी बुद्धिमानी का अभिमान था। तब उसने धर्म को समाज के लिए अफीम के समान बता दिया कि लोगों को खिलाकर नशे में सुला दो तो वे किसी प्रकार की तकलीफ की शिकायत नहीं करेंगे। अब यह पागलपन है या नहीं? जो सदा के लिए रहने वाला है, उसको तो आँखों के सामने से हटा दो, और जो दिन-रात बदलता हुआ हमारी आँखों के सामने से जलप्रवाह के समान एक तरफ से आ रहा है दूसरी तरफ निकलता जा रहा है। उसी को

पकड़ने की बात कहकर आदमी बुद्धिमानी का परिचय देता है। उससे लाभ नहीं होता।

हम लोगों का तो उतना पता नहीं है, चकाचैंध की दुनिया हम सब लोगों ने देखी नहीं है, सुनते ही रहते हैं दूर से। लेकिन जहाँ बहुत सम्पत्ति है, वहाँ के रहने वाले, जिन्होंने प्रचुर मात्रा में भौतिक सामग्रियों को इकट्ठा कर लिया है सुख के लिए, उन्हें भी आराम नहीं है। वे लोग भी बहुत परेशान हो रहे हैं और अपना देश छोड़-छोड़ कर भारतवर्ष की ओर भाग रहे हैं इस आशा में, कि भारतवर्ष जाकर कुछ शान्ति का मार्ग खोजें। जिन लोगों ने बहुत सारे कपड़े बनवा लिये और खूब पसन्दगी के ढ़ंग-ढ़ंग के ड्रैस पहन लिए, शोक पूरा कर लिया, उनके जीवन में भी इतनी नीरसता छा गई है कि वे बिल्कुल विपरीत ढंग से रहने लग गये हैं। मैले फटे कपड़े बदन पर पड़े हैं, बटन खुले हुए हैं, अस्त व्यस्त दिखाई देते हैं वे। उनको कुछ अच्छा ही नहीं लग रहा है। तो भौतिक सामग्री जो है, वह शरीरों की सेवा के लिए उपयोगी अवश्य है, लेकिन उस भौतिकता के आधार पर कोई मनुष्य जीवन को सरस बनाना पसन्द करे तो जो आज तक हो नहीं सका, वह कभी होगा भी नहीं।

अब अपनी-अपनी दशा हम लोग देख ले। सत् चर्चा के आधार पर हम लोगों ने यह स्वीकार कर ही लिया कि अब तक का समय जो हमें मिला, उसका अधिकांश भाग और अपनी अधिकांश शक्ति संसार में सुख रहने का इन्तजाम करने में बिता दी हैं तो क्या हृदय की नीरसता मिट गई? अभाव मिट गया? नहीं मिटा। दस बरस पहले ऐसा लगता था कि हमें बहुत कुछ चाहिए और हमने उसकी पूर्ति के लिए बहुत कुछ किया भी। अब आप सोचकर बताइये कि हमारी इच्छायें पूरी हो गई या अभी शेष हैं? पहले से कम हैं या ज्यादा हैं? सोचो तो देखो भाई कम हों या ज्यादा अगर एक भी इच्छा रह गई तो भौतिक सीमा के बन्धन में बाँधने के लिए वो पर्याप्त है। अपने लोगों के सामने मैं अगली बात जो रखने जा रही हूँ वह यह है कि सत्संग करना भी आवश्यक है। सन्त महापुरुषों के वचनों को सुनना भी आवश्यक है। सद् ग्रन्थों का पाठ करना भी आवश्यक है। लेकिन उसमें से जो सुनने में आवे, अपनी समझ में आवे, उसको मानना भी आवश्यक है। तभी आराम मिलेगा।

बड़े-बड़े समझदार लोगों को मैंने देखा है जब वे व्यवहार के स्तर पर आते हैं, कहते हैं कि भाई, आदर्श तो आदर्श हैं, व्यवहार व्यवहार है। व्यवहार ऐसा ही होगा। आप सोचिए कि अगर व्यवहार वैसा ही होगा तो फिर जीवन भी वैसा ही रहेगा। ऊँचे कैसे उठेगा? अगर आज अनेक प्रकार की चिन्ताओं से और भय से कोई भरा हुआ है तो इन चिन्ताओं से और भय से छुट्टी कैसे मिलेगी।

जो नहीं करना चाहिए उसे करना बन्द करो, तो जीवन में शान्ति आवे। आप अपने को देखिए। मानव जीवन में बड़ी विलक्षणता है। इसमें एक ओर अनेक प्रकार की इच्छाएँ हैं तो दूसरी ओर सत्य की जिज्ञासा और परम-प्रेम की अभिलाषा भी है। अविनाशी जीवन की माँग भी है। जन्म-मरण के बन्धन से स्वाधीन होने की आवश्यकता भी है। पराश्रय और परिश्रम से सदा के लिए मुक्त होने की माँग भी है। अब आप ही विचार कर बताइये कि इच्छाओं की पूर्ति के लिए वास्तविक जीवन की माँग को छोड़ना चाहिए? कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

महापुरुषों ने अपनी वास्तविक जीवन की माँग की पूर्ति में ही शरीर और समाज की सेवा को एक साधन बना लिया। ऐसा नहीं किया कि शारीरिक और मानसिक भूख मिटाने के लिए सत्य

पर से दृष्टि हटा ले। धर्म पर से दृष्टि हटा लें। जो नहीं करना चाहिए सो करने लग जाएँ। ऐसा उन्होंने नहीं किया। संसार में जितने भी सच्चे साधक हुए, सन्त हुए, महापुरुष हुए, भक्त हुए भगवान के उन लोगों ने क्या किया। उन लोगों ने शारीरिक सेवा ओर समाज की सेवा को अपनी वास्तविक माँग की पूर्ति में एक सहयोगी साधन बनाया। हम लोगों के जीवन में अगर जल्दी-जल्दी उन्नति नहीं हो रही है, शान्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो रही है, ईश्वर विश्वास के आधार पर निश्चिन्तता और निर्भयता हम लोगों को नहीं मिल रही है; तो इसका कारण क्या है? कारण यही है, कि हमने वास्तविक जीवन की माँग को प्रधानता नहीं दी है, अभी तक सुख और सम्मान के पीछे पड़े हैं। आज से, इसी क्षण से, हम सभी भाई-बहिनों को इस बात पर दृष्टि रखनी पड़ेगी कि इच्छाओं की पूर्ति के सुख के लिए हम सत्य का सहारा नहीं छोडेंगे। अकरणीय कर्म नहीं करेंगे झूठ का सहारा नहीं लेंगे। दूसरों को तकलीफ देकर अपने सुख का सम्पादन नहीं करेंगे। दूसरों को दुःख देकर अपने सुख का सम्पादन बहुत बड़ी हिंसा है। फिर भी सुख के प्रलोभन में पड़ा हुआ आदमी ऐसा करता है, तो सोचो, इसको शान्ति कैसे मिले?

सत्संगी लोगों के बीच अहिंसा की चर्चा चलती है। मक्खी, मच्छर मारने की बात भी चलती है। मारना चाहिए या नहीं? ऐसा कभी-कभी मैं सुनती हूँ लेकिन देखो भाई दस व्यक्तियों के साथ मिलकर आप एक परिवार में रहते हो और आपके मन की एक बात पूरी नहीं हुई तो क्रोधित होकर, क्षोभित होकर, कठोर वचन बोलकर, मुख बिगाड़ कर वायुमण्डल में क्षोभ, क्रोध और उदासी फैलाते हो, तो यह हिंसा नहीं है? बड़ी हिंसा है। अपने संकल्प की पूर्ति के लिए दूसरों की खुशी की परवाह न करना, अपने मन को खुश करने के लिए, जो नहीं करना चाहिए सो करना, सच्चाई को छोड़ देना, ईमानदारी को छोड़ देना असाधन है। व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में अशान्ति भर गई हो, पारिवारिक जीवन में अविश्वास और प्रेम की जगह कलह भर गया हो और सामाजिक जीवन में सहयोग की जगह पर संघर्ष भर गया हो तो सबके मूल में आप इस बात को जानिये कि मनुष्य होकर हम लोगों ने सत्य का, धर्म का, परमात्मा का महत्त्व नहीं माना और शारीरिक तथा मानसिक भूख मिटाने में ऐसे लग गये, कि जीवन के ऊँचे मूल्यों का हमारी दुष्टि में कोई स्थान नहीं रहा। फिर आदमी कहता है कि बड़ी अशान्ति है, बड़ा संघर्ष है। मानसिक रोगों की वृद्धि हो रही है। ज्तंदुनपसप्रमते की खपत बढ़ती चली जा रही है। क्या हो गया भाई? हो गया यह कि आप मुख से तो कहते हैं कि मुझे शान्ति चाहिए और जिन्दगी बिताते हैं अशान्ति की वृद्धि के ढंग से हृदय में असन्तुष्टि की पीड़ा आप अनुभव करते हैं, असन्तुष्टि को मिटाना पसन्द करते हैं, लेकिन अपने आपमें सन्तुष्ट रहने के जो उपाय हैं, उनको मानने को तैयार नहीं हैं।

जो सामूहिक सत्संग होता - जैसे अभी हम लोग बैठे हैं, सत्संग की चर्चा हो रही है - इसको पूरा कर लेने के बाद, सभी भाई-बहिनों को कुछ देर के लिए, अकेले-अकेले चुपचाप बैठकर फिर इन बातों पर मनन करना चाहिए। आप में बल आ जायेगा। किस बात के लिए बल आ जाएगा? कि हम इच्छाओं की पूर्ति के लिए सत्य का सहारा, प्रेम का सहारा नहीं छोड़ेंगे। आप उसकी आवश्यकता महसूस करें और आप मान लें कि त्याग की बात और भगवद्-भक्ति की बात तो प्रार्थना मन्दिर में बैठकर करने की है। चतुराई चालाकी व्यवहार में करनी ही चाहिए। उसको आप उचित समझेगें तो कैसे उसको छोड़ेंगे? और

नहीं छोड़ेंगे तो उससे ऊपर कैसे उठेंगे? इतनी छोटी-छोटी बातों में मैंने आदमी को अपना मूल्य घटाते हुए देखा है बड़ा दुःख होता है मुझे! जैसे किसी को कोई वस्तु चाहिए तो भाई! यदि यह अर्थ सम्पन्न है तो कायदे से खरीद कर ले आए। धन नहीं है तो अपना मूल्य घटाते चले जाओ किसी सम्पत्तिशाली के आगे हाथ फैलाओ, उससे कहो कि हमको यह चाहिए। उससे नहीं हो सका ओर कहीं दुर्बलता दिखाई देती है तो लड़ झगड़ के ले लो, उससे भी काम नहीं चल सका तो आँख छुपाकर, चुराकर ले लो। किसी भी प्रकार से उसको लेकर ही चैन लो। वस्तु लेकर तुमको लगता है कि मैं समर्थ हूँ, लेकिन उसके बदले में तुम्हारे हृदय में शुष्कता आ गई। सत्य से दूर होने के कारण तुम नीरसता, कठोरता की पीड़ा अनुभव करते हो - तो घाटा लगा कि लाभ हुआ? सोचो - बड़ा भारी घाटा लगा।

बहुत पुरानी बात है, 1931 में नमक-कर आन्दोलन के समय गाँधीजी जब जेल में थे तो जेल में से वह अपने लोगों के लिए प्रवचन लिख-लिखकर भेजा करते थे। 'मंगल प्रभात' के नाम से प्रकाशित किया गया है उन्हें। उसमें लिखा हे कि परमात्मा सत्य है, ऐसा कहने की बजाय सत्य ही परमात्मा है - यह कहना अधिक मौजू लगता है आगे उन्होंने कहा कि परमात्मा की आराधना के लिए हमारे जीवन में भीतर-बाहर सब तरफ सत्य की ही घालामेली है। यह वाक्य लिखा है उन्होंने। वचन में, व्यवहार में, चिन्तन में, दूसरों के प्रति अपना सम्बन्ध बनाने में, बनाये रखने में, एक-एक सुई की नोक के बराबर भी सत्य का सहारा जो छोड़ता है, वह परमात्मा से दूर हो जाता है। समझ में आया?

अब देखो, धन-सम्पत्ति के लिए या झूठी मान-बड़ाई प्रतिष्ठा के लिए अगर आपने सत्य का सहारा छोड़ दिया, तो इससे आपको सन्तुष्टि नहीं मिलेगी। परन्तु जिन महानुभावों ने परमात्मा के प्रेम को बनाए रखने के लिए जगत् का सहारा छोड़ा तो परमात्मा इतने समर्थ, इतने उदार और इतने प्रेमी स्वभाव के हैं कि उस व्यक्ति को अपने गले लगा लेते हैं और जहाँ-जहाँ उसने जो कुछ त्याग किया था, वह सारा उसका वैसे ही भरा-पूरा कर देते हैं। उससे भी अधिक कर देते हैं उनकी उदारता की सीमा ही नहीं होती है - इतनी उदारता से दे देते हैं। स्वामीजी महाराज ने बार-बार मुझको कहा था कि देवकीजी! माँगने की बात नहीं रहेगी, सोचना मत, अगर तुम माँगोगी तो तुमको घाटा लगेगा। तुम कुछ मत कहना। वे परम उदार अपनी उदारता से देना आरम्भ करेंगे तो इतना देंगे, इतना देंगे जितने की तुम कल्पना भी नहीं कर सकतीं, सोच भी नहीं सकती।

अब मैं आपको एक गृहस्थ का उदाहरण सुनाती हूँ जिन्होंने लौकिक लाभ की अपेक्षा ईश्वर के आश्रय को प्रधानता देना पसन्द किया -

हमारी जान-पहचान के एक सत्संगी भाई थे। उनका नौजवान लड़का बहुत बीमार, मरणासन्न। दवा खरीदने को आदमी भेजा तो दुकानदार ने ;ठसंबाऋ ब्लैक का दाम माँगा। उनके घर का नियम है कि ब्लैक का सामान नहीं खरीदेंगे। दवा नहीं आई डाॅक्टर ने कहा कि अगर यह टीका ;प्दरमबजपवदऋ आज रात तक नहीं लगेगा तो लड़का सबेरे तक नहीं बचेगा। बाप ने कहा कि भाई ठसंबा में दवा तो हमको मँगानी नहीं है। अब रात में प्दरमबजपवद नहीं लग सकता। भगवान को रक्षा करनी होगी तो करेंगे और वे जो चाहेंगे सो होगा। उस समय लड़के के दादा भी जिन्दा थे, दादी भी थीं, माँ-बाप भी थे। बड़े भाई, छोटे भाई, बहन सभी थे। सारा परिवार

बीमार बच्चे की चारपाई के चारों ओर बैठकर भगवान को पुकार रहे हैं। यह गृहस्थ के घर की चर्चा है। इन्होंने सोचा दवाई देने पर भी रक्षा करने वाला परमात्मा ही है, तो चलो बैठ करके उसे ही पुकारेंगे। अगर उसने रक्षा कर दी तो बिना दवाई के भी रक्षा हो जायेगी। अगर उसके विधान में लड़के को मरना ही है तो दवाई भी क्या करेंगी? ऐसा सोचकर बैठ गये, भगवान को पुकारने लगे। भगवान ने लीला की। उन्होंने बारह बजे रात को दुकानदार के घर पर दो व्यक्तियों को भेज दिया। दुकानदार ने पूछा, भाई! क्या बात है? तो उससे कहा गया कि तेरी दुकान में यह दवाई है? उसने कहा - हाँ है, ग्राहक आये थे खरीदने के लिए तो तुमने दिया क्यों नहीं? तो उसने कहा - देता क्यों नहीं? बेचने के लिए दवाई रखता हूँ जरूर देता, लेकिन मैं जो दाम माँग रहा था, उन्होंने नहीं दिया। उससे कहा गया कि तुम्हें मालूम नहीं है, भगवान के भक्त का काम बिगड़ गया तो तेरा सर्वनाश हो जायेगा। चल तू दुकान खोल और दवाई दे और सही दाम पर दे। दुकानदार को दूसरों को नुकसान पहुँचाकर लाभ लेना पसन्द था, लेकिन अपना सर्वनाश तो उसे पसन्द नहीं था। वह डर गया। उसने जाकर दुकान खोलकर सही दाम पर दवा दे दी। दवा आ गई। प्दरमबजपवद ;टीकाक्र लग गया और लड़का अभी भी भला-चंगा जीता-जागता है। अच्छी तरह से अपने माँ-बाप को व परिवार को पाल रहा है।

एक उदाहरण रख रही हूँ मैं आप लोगों के सामने कि मनुष्य के जीवन में सत्य का मूल्य है, परमात्मा का मूल्य है, उदारता का मूल्य है, सेवा का मूल्य है। किस बात के लिए? हमारी माँग की पूर्ति के लिए, लक्ष्य की पूर्ति के लिए मुझे चाहिए चिरशान्ति! मुझे चाहिए जीवन मुक्ति!! मुझे चाहिए भगवत् भक्ति!!! तो इसके लिए जिन बातों का मूल्य है, उनको अगर सँभाल करके रखोगे नहीं, तो किसी जादू-मन्तर से शान्ति-मुक्ति-भक्ति मिलेगी? नहीं मिलेगी।

अब एक दूसरा उदाहरण सुनिये। एक परिवार में दो भाई थे। साथ-साथ कारोबार करने वाले। एक का देहान्त हो गया। उसका छोटा लड़का रह गया। बच्चा छोटा ही था। चाचा ने उसको पालकर सयाना कर दिया। पढ़ा-लिखा दिया, ब्याह कर दिया। सम्पत्ति काफी थी। लेकिन चाचा ने एक मकान और दस हजार रुपये देकर उसको अलग कर दिया कि तेरा काम हो गया, अब तू अपना कमा खा। उसने कहा कि चाचा जी! सम्पत्ति तो काफी है, हिस्सा करके मुझे दीजिए। चाचा ने कहा - हिस्सा कैसा? तेरे को पालने में, पढ़ाने में ब्याह करने में काफी खर्च मैंने कर दिया, अब इससे ज्यादा नहीं दूँगा। उस लड़के ने सोचा ठीक बात है, बाप की अनुपस्थिति में चाचा ने सब काम किया है। मुझे इनके प्रेम को सुरक्षित रखना है। पैसे के लिए इनसे लडूँगा नहीं। धन-सम्पत्ति को उसने कम महत्त्व दिया और प्रेम को अधिक महत्त्व दिया। वो ही आदमी स्वामी जी महाराज को बता रहा था खुद ही, कि महाराज जी! बहुत समय नहीं लगा। थोड़ा ही पैसा लेके मैंने कारोबार किया और दो तीन वर्षों के भीतर ठीक उतनी ही सम्पत्ति मेरे पास हो गई, जितनी में मेरे हिस्से में आ सकती थी। देता है ऐसा। हम लोगों के लिए बहुत आवश्यक बात है कि ऐसी घड़ी आ जाए अपने सामने, तो ईश्वर विश्वास के लिए उत्तम घड़ी आई है - ऐसा मानकर आनन्द लेना चाहिए। सत्य का सहारा पकड़ो। उसी सत्य में से सारा संसार बना है। उसके लिए कोई बात असम्भव है क्या? ऐसा कैसे हो सकता है कि आपने सत्य के सम्बन्ध में सजीव बनाने के लिए मिथ्या सम्बन्धों का त्याग

किया, तो जो सत्य है, जो नित्य है, जो समर्थ है, जो सर्वज्ञ है, वह आपको निराधार छोड़ देगा?

तो दोनों चित्र मैं आप लोगों के सामने रख रही हूँ। एक चित्र ऐसा देखिए। जैसा हम लोगों ने अब तक बहुत बार किया होगा कि अब क्या करें, प्रतिष्ठा की बात है, मौके की बात है सब लोग इकट्ठे हुए हैं, ऐसा करना है, वैसे करना है। तो सही गलत जैसे भी ढ़ंग से हो, इन्तजाम करके काम कर लो। एक तरीका हो गया। और एक दूसरा देखिये, एक चित्र ऐसा भी सामने रखो। जब भी संकट सामने आया, ईश्वर के विश्वास को सजीव रखना पसन्द किया। वस्तु विश्वास और व्यक्ति-विश्वास को महत्त्व नहीं दिया। तो दोनों में कौन-सा श्रेष्ठ है। अवश्य ही ईश्वर विश्वास सबसे श्रेष्ठ है और अगर हमारी साधना सफल नहीं हो रही है, मन्त्र-जाप में रस नहीं आ रहा है, ध्यान लगाने बैठते हैं तो ध्यान नहीं लगता है; मूक सत्संग में बैठते हैं तो शान्ति सुरक्षित नहीं रहती है - अगर यह तकलीफ है, तो सोच लो कि क्यों है क्या गलती है कि सत्संग में बैठकर सत्य का महत्व सुना और व्यवहार के क्षत्र पर उतर गये तो नाशवान को महत्वपूर्ण मान लिया। बस यही गलती है। अविनाशी पर से दृष्टि हट गई यही भूल है। इसे मिटाना होगा। सफलता अवश्य मिलेगी। नई बात कुछ नहीं है। भाई! बात इतनी ही सी है।

उपसंहार के रूप में एक बार और दोहरा लें। अभी से, आज से, इसी समय से, चलते-फिरते, उठते-बैठते बातचीत करते हुए सब समय इस बात का ध्यान रखो, कि भाई! शारीरिक और मानसिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए दैवी सम्पदा को नहीं छोड़ेंगे। धर्म का पल्ला नहीं छोड़ेंगे। सत्य का सहारा, परमात्मा का सहारा नहीं छोड़ेंगे। अगर यह बात आपको जँच रही है, और आज से ही इसके अनुसरण का प्रयास करें, तो वे परम कृपालु सर्वज्ञ जो हमारे ही में नित्य निरन्त विद्यमान हैं, उनकी विद्यमानता का इतना प्रत्यक्ष आभास आपको मिलता रहेगा, कि साहस बढ़ता जायेगा, शक्ति बढ़ती जायेगी और हम सब लोग अपने जीवन को पूर्ण बना सकेंगे।

दुःख-निवृत्ति, मानव-मात्र को चाहिए। दुःख-निवृत्ति जीवन की मौलिक माँग है। इसकी पूर्ति अनिवार्य है इसमें साधक मात्र सर्वथा स्वाधीन एवं समर्थ है।

अब सोचिये! जिस दुःख का कारण कोई और होगा, उसको आप मिटा कैसे सकेंगे? मिटा ही नहीं सकते। परन्तु सन्तजनों के जीवन का यह अनुभूत सत्य है, कि सर्व दुःखों की निवृत्ति होती है। अतः अपने दुःख का कारण किसी और को मत मानों।

सुख की आसक्ति से दुःख की उत्पत्ति होती है। सुख की आसक्ति अपनी भूल है। इस भूल को मिटाने से दुःख मिट जाता है। सुखासक्ति का त्याग करने में मानव सर्वथा स्वाधीन एवं समर्थ है।

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि अपने दुःख का कारण कोई और नहीं हो सकता।

श्री स्वामीजी महाराज के जीवन का एक प्रसंग है। एक बार वे एक मित्र के साथ टहलने गये थे। चलते-चलते जल की आवश्यकता पड़ी। सड़क के किनारे एक बगीचा था। उसमें जल था। स्वामी जी के मित्र ने स्वामीजी महाराज को बगीचे में ले जाकर जल के पास बैठा दिया। स्वामी जी महाराज हाथ मुँह धोने लगे, कुल्ला करने लगे। इतनी देर में उनके मित्र दौड़े हुए आये और कहने लगे कि स्वामी जी महाराज! बगीचे का माली बहुत गाली दे रहा है। स्वामी जी महाराज ने सुना और हँस करके कह दिया कि भैया वह गाली दे रहा है न! तुम जाकर उससे कह दो कि हम गाली नहीं

लेते हैं। अपने में यदि देह का अभिमान नहीं है तो दूसरा कोई किसी भी प्रकार से अपमान का दुःख दे ही नहीं सकता। अपमान का दुःख अपने को क्या होता है? इसलिए होता कि देह का अभिमान लेकर समाज में हम रहते हैं तो सम्मान सुखद लगता है और अपमान दुःखद लगता है। तो न कोई सम्मान देकर हमें प्रभावित कर सकता है, न कोई अपमान के द्वारा हमें दुःखी कर सकता है। हम अपमान और सम्मान से आक्रान्त जो होते हैं तो अपनी भूल से ही होते हैं, अपनी भूल मिटा दें तो सर्व दुःखों से मुक्त हो जाएँ।

प्रवचन 65

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनो और भाइयों!

आज सन्तवाणी में हम लोगों ने ईश्वर-विश्वास सम्बन्धी चर्चा को सुना। उसमें एक बड़ी अच्छी बात यह निकली की भगवान में मन जब लग जाता है, तो लगने का और हटने का प्रश्न सदा के लिए खत्म हो जाता है। उनमें मन किस प्रकार लग जाए? ऐसा लग जाये कि लगने के बाद फिर अपने को पता भी न चले कि कब लगा और कब हटा। अर्थात् मेरा मन है, अब भगवान में लगा है - इस क्रिया का भास भी साधक को न हो। ईश्वर को मानने वाले हम भाई-बहिनों के जीवन में अपना अनुभव होना चाहिए कि मैंने ईश्वर विश्वास की साधना को अपने लिए अपनाया तो उसका फल यह निकला कि भगवान में मन लगने का और हटने का प्रश्न सदा के लिए खत्म हो गया। ऐसा अनुभव हम लोगों का होना चाहिए। अगर ऐसा नहीं है, किसी समय अपने को यों लगे कि कितनी देर से हम संसार की उधेड़बुन में लग गये, भगवान को भूल गये - ऐसा लगे, तो फिर इस दशा को मिटाने का उपाय भी अपने लोगों को करना चाहिए।

मानव सेवा संघ की पऋति को पसन्द करने वाले आप भाई-बहिनों ने अब तक चैबीस घंटों में समय-समय पर पाँच-दस मिनट के लिए भी अकेले होकर, अपने सम्बन्ध में विचार करना तो आरम्भ कर ही दिया होगा क्योंकि यही एक साधन का स्वरूप अपने यहाँ दिखाई देता है। कुछ करने वाली बात तो है नहीं। करने वाली बात में महाराज जी ने कहा कि अगर शरीर में बल है, स्फूर्ति है, करने का राग खत्म नहीं हुआ है, तो सेवा करो। साधन करो - ऐसा आपने कभी नहीं सुना होगा। महाराज जी का यह अनुभव है और सर्वमान्य सत्य भी है कि जो साधन किया जायेगा वह अखण्ड नहीं होगा। करना अखण्ड नहीं हो सकता। करने का आरम्भ होगा, तो करने का अन्त भी होगा। जो साधन हम करना आरम्भ करेंगे, वह जब खत्म हो जायेगा, उसका अन्त हो जायेगा तो उस समय क्या हमारा जीवन साधनहीन नहीं होगा? अगर करने वाली साधना को ही महत्त्व देंगे, तो जिस समय करना खत्म हो गया, उस समय जीवन साधन से शून्य हो गया। इसलिए मानव सेवा संघ की पऋति में करने वाली बात पर जोर नहीं डाला जाता। लेकिन करने वाली बातों को मना कर दिया जाता है कि मत करो - ऐसा भी नहीं है। ऐसा इसलिये नहीं है कि किसी किसी साधक में पहले के किए हुए के फलस्वरूप कुछ करने का राग इतना तीव्र होता है कि जब तक वह उसको करके पूरा न कर ले, तब वह उसको किए बिना रह ही नहीं सकता। इसलिए स्वामीजी महाराज ने मना नहीं किया। लेकिन उस पर जोर भी नहीं डाला। अगर कोई बात ऐसी है आपके जीवन में कि उसको किये बिना आप रह ही नहीं सकते तो कर ही डालिए।

ऐसा भी होता है कि पहले के कुछ किये हुए कर्मों का न्दबवदेपवने उपदक में उस दबी हुई बात का अचानक ही कभी प्रकाशन हो गया, किसी खास क्रियात्मक साधना के प्रति बड़ा जोरदार खिंचाव हो गया, तो ऐसी हालत में मानव सेवा संघ मना नहीं करता कि मत करो। उसमें साधक की हानि भी नहीं होती। क्यों नहीं होती? क्योंकि उस प्रकार की साधना को करने में उस पर भार भी नहीं पड़ता है, उसका जी भी नहीं ऊबता है और उसमें से हटता भी नहीं है, क्योंकि वो स्वभाव से उपजा है, आकर्षण है उसमें। वह सब करके, उसके फल को देखकर साधक उसके आगे बढ़ जाता है - इतनी बात हम सब भाई-बहिनों को ध्यान में रखना चाहिए। जब दूसरे लोगों को आप परामर्श देते हैं, मानव सेवा संघ की पऋति के सम्बन्ध में जब दूसरों से बातचीत होती है तो उसमें भी आपको आग्रह नहीं करना चाहिए किसी के लिए क्रियात्मक करो ही मत। अगर तुमसे बिना किए नहीं रहा जाता है, करने में तुम्हें प्रसन्नता है, भले करो। अपने पर दबाव डाल के साधन को बोझ मान के करने में थके जा रहे हो तो मानव सेवा संघ तुम्हें इस थकावट से मुक्त थ्तमम कर देगा और कहेगा कि कोई बात नहीं, अगर तुमसे नहीं होता है, इसे छोड़ दोगे तो तुम्हारा कुछ नुकसान नहीं होगा। यह दृष्टिकोण है जो कि सबको अपने सामने स्पष्ट रखना चाहिए।

अब अपने च्वपदज पर आ जाएँ हम लोग, कि यदि हमने ईश्वर में विश्वास किया है तो हमकों पूरी तरह से, सब प्रकार से उनके ही होकर रहना आ जाए और कभी भी उनकी विस्मृति न हो। मन सदा के लिए उनमें लग जाए। उसका लगना और हटना अपने को पता न चले। ऐसा अब तक नहीं हुआ है तो जो दो चार बातें इसके पीछे ठंबाहतवनदक में स्वामी जी महाराज बता रहे हैं उन पर भी विचार कर लीजिए। उसमें एक खास बात विचारणीय है कि किस की विस्मृति अपने को नहीं होती है? कौन हमारे मन में, इन्द्रियों में अहं में निरन्तर बसा रहता है? किसका चिन्तन सब समय चलता रहता है? ऐसा अगर अपने सामने प्रश्न रखें तो सन्तवाणी के आधार पर यह उत्तर मिलेगा कि भाई, जिसको तुम अपना मानते हो, अपना मानकर जिसको स्वीकार करते हो, उस पर से तुम्हारा ध्यान नहीं हटता। अपना तो हमने बहुत को माना। यह अपना मानना सही नहीं था। विवेक-विरोधी सम्बन्ध था। जो अपना है नहीं, अपना हो नहीं सकता और अपना होकर रह नहीं सकता, उसको अपना मानते रहना, यह विवेक-विरोधी सम्बन्ध है। इससे काम नहीं बनेगा। लेकिन सन्तवाणी में सुना है, वेद के वाक्यों में पढ़ा है, कि अपना मानने के योग्य केवल परमात्मा है। वही सदा-सदा के लिए अपना होकर रह सकता है। इसके अतिरिक्त और किसी के साथ हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है।

जो अपना है वह अपने को प्रिय लगेगा, जो अपने में है उससे मिलने के लिए हमें कुछ करना नहीं पड़ेगा और जो अभी मौजूद है उससे मिलने के लिए भविष्य की आशा नहीं करनी पड़ेगी। तो अपना है, अपने में है, अभी है - ये तीन बातें परमात्मा के सम्बन्ध में सर्व मान्य हैं। जितने लोग इस संसार में ईश्वरवादी हैं वे सभी इस बात को मानते हैं हिन्दू, मुसलमान, ईसाई - सभी ईश्वरवादी है, परमात्मा को मानने वाले हैं और परमात्मा के सम्बन्ध में ये तीन बातें सबके यहाँ है। सभी ईश्वरवादी इस बात को भी मानते हैं कि परमात्मा सर्वत्र है और सदैव है। इस बात को मानने का एक बड़ा अच्छा प्रभाव हमारे जीवन पर यह होना चाहिए कि हमारा ईश्वर विश्वास सजीव हो जाये।

गाँधी जी को राम नाम में बड़ा विश्वास था। राम को वे सर्वव्यापक ईश्वर के रूप में लेते थे और दशरथनन्दन हो करके उन्होंने बहुत लीलाएँ की, तो इससे भी गाँधी जी को कोई एतराज नहीं था। वे कहते थे, जो सब कुछ कर सकता है उसके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसे उन्होंने राम-नाम को माना और अपने जीवन में बड़ी प्रधानता दी। वे सच्चे साधक थे। उनका कहना था कि राम का नाम याद आए, उसको तुम मुख से बोलो चाहे मत बोलो, राम का नाम याद आवे, तो हृदय में प्रेम की लहरियाँ न उठें, हिलकोरे न लगने लगे तो प्रार्थना निर्जीव है। प्रार्थना के लिए समय तो निश्चित होता ही था गाँधी जी काऋ एक तो भावात्मक प्रार्थना उनके भीतर की होती थी और एक क्रियात्मक प्रार्थना बाहर से भी होती थी। इसके अलावा ओर जो कुछ काम उन्होंने किया संसार के कल्याण के लिए वो सब उनकी ईश्वर की प्रार्थना ही थी, पूजा ही थी। तो यह अनुभव की बात है, प्रियता की बात है जो अनुभव करता है, वो ही इस तरह के वाक्यों को लिख सकता है, बोल सकता है। तो लिखा उन्होंने कि ऐसी लहरियाँ न उठें, प्रेम के हिलकोरे न उठने लगे तो वो प्रार्थना निर्जीव है। उसमें कोई जान ही नहीं है।

ऐसा कैसे होता है? अब अपने को सामने रखकर सोचिए, कि हम लोगों ने कुछ सांसारिक व्यक्तियों से, शरीरधारियों से सम्बन्ध माना और अभी भी कुछ कुछ माना हुआ है। शरीर के कारण शरीरधारियों से सम्बन्ध होता ही है। जन्म होता है शरीर का, तो उस जन्म से ही माता-पिता सम्बन्ध बन जाते हैं। ऐसे हम लोगों ने नाशवान शरीरों के सम्बन्ध से कुछ शरीरधारियों को अपना सम्बन्धी करके माना। अब शरीर से माने हुए सम्बन्ध आपसे दूर हैं, देश-काल की दूरी है उनसे और किसी तरह से उनकी याद आई, तो उससे आप प्रभावित हो उठते हैं। अगर उनकी प्रसन्नता याद आ गई तो प्रसन्न हो जाते है अगर उनकी पीड़ा सुनने को मिल जाए तो दुखित हो जाते हैं।

माने हुए सम्बन्ध का प्रभाव हम लोगों को प्रभावित करता ही है। कुछ संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ म्उवजपवदंस तमंबजपवदे अपने भीतर पैदा हो जाती है, आप उनको प्रकट करें अथवा न करें, उसके अनुसार कुछ एक्शन ले अथवा न लें, अथवा उसको विवेक के प्रकाश में अन्दर ही दबा के रख दें। लेकिन रिएक्शन होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं और इस बात का अनुभव यहाँ बैठे सब भाई बहनों को है। तो यह किसकी हालत हो गई? यह उसकी हालते हो गई जिसने शरीर के नाते से शरीरधारी से सम्बन्ध माना। अब ज्ञान के प्रकाश में देखो, तो यह दिखाई देता है कि शरीर के नाते से शरीरधारियों से माना हुआ सम्बन्ध नित्य सम्बन्ध नहीं है, वह सत्य नहीं है, वह सदा के लिए निभेगा नहीं और उसके कारण जो संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ अपने में पैदा होती हैं, वे जीवन को पूर्ण बनाने वाली नहीं होती है। आसक्ति बढ़ जाती है, पराधीनता बढ़ जाती है। बड़ी-बड़ी पराधीनता की पीड़ा को मैंने अनुभव किया है, आप लोगों ने भी किया होगा। विवेक-विरोधी सम्बन्धों के प्रभाव से अपनी भीतर पराधीनता की पीड़ा जो सताती है उससे आदमी सचेत हो जाता है और सत्संग के आधार पर नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करके सदा-सदा के लिए कृतकृत्य हो जाता है।

जो अपना है, अपने में है, अभी है उसकी स्वीकृति के बाद साधक को पराधीन नहीं रहना पड़ता। मुझे तो ऐसा दिखता है कि ईश्वरीय प्रेम का तत्व जब भक्त के जीवन में अभिव्यक्त होने लगता है तो वह इतना व्यापक होता है ओर मनुष्य के सीमित अहंभाव को अनन्त का अनन्त प्रेम इस

प्रकार से भीतर बाहर चारों ओर से अभिभूत कर देता है कि उस प्रेम-रस से छके हुए व्यक्ति को किसी वस्तु-व्यक्ति की याद ही नहीं आती। वह काहे को पराधीन होगा?

कथा आपने सुनी होगी सुतीक्षण जी की, बहुत दिनों से सब ऋषिमुनि लोग प्रतीक्षा कर रहे थे कि भगवान अवतार लिए हैं हम लोगों का दुःख दूर करने के लिए और राक्षसों का संहार करने के लिए वन में आएँगे। बड़ी उत्कण्ठा है सब ऋषि-मुनियों को, सब भक्तों को, भगवान के भजन करने वालों को, कि कब पहुँचे तो दर्शन करें। सुतीक्षणजी ने सुना कि इधर से होकर भगवान वन में आ रहे हैं, तो वे उठे बड़े उत्साह से मिलने के लिए। अब देखिए! जैसे ही उनके दिल में यह उत्कण्ठा बढ़ी कि अहा! जिसके दर्शनों के लिए मैं इतने दिनों से प्रतीक्षा कर रहा था, इन नयनों से जाकर उन भगवान को मैं देखूँगा, उनके उन चरणों के दर्शन करूँगा, उनके उस मुख-कमल का दर्शन करूँगा, उनसे साक्षात् मिलूँगा, तो हम जैसों पर वे दया करेंगे क्या? हमको प्यार से देखेंगे क्या? हमको अपनाएँगे क्या? ऐसी कल्पनाएँ इतना उत्साह, कि भीतर प्रेम का प्रवाह बढ़ गया और अपने आपको वे भूल गये। गोस्वामीजी ने बड़ा अच्छा वर्णन किया है कि कभी नाचें, कभी गावें, कभी ताली बजावें, कभी रोवें, कभी दौड़कर वनपथ पर जावें, फिर हर्ष के उन्माद में रास्ता भूल जावें तो आगे जाने के बदले पीछे लौट आवेंऋ और जब प्रेम का अतिरेक बढ़ गया तो सब गति बन्द हो गई और वे बीच रास्ते में चुपचाप बैठ गए। अब सब क्रियाएँ खत्म हो गई क्रियाएँ कब तक हैं? जब तक अहम् है। क्रियाएँ कब तक हैं? जब तक भीतर में कुछ पाना शेष है और प्रेम के अतिरेक में जब भीतर से भरपूर हो गये, सब क्रियाएँ खत्म हो गई, तो बैठ गये बीच रास्ते में अचल होकर। और जो अपना है, अपने में है, अभी है, उस प्रेम के रस से वो भीतर ही भीतर प्रकट हो गया। अपने में उसे प्रेमास्पद को पाकर वह सुध-बुध खो गया। अब कहाँ रही पराधीनता? कहाँ रही क्रिया? कहाँ रही मिलन के लिए एक अलग से आवश्यकता? कुछ रहा नहीं। सब पूरा हो गया। वृक्ष की आड़ में से भगवान भक्त को देख रहे हैं भक्ति और खून आनन्दित हो रहे हैं। प्रेम से भरा हुआ भक्त उन्हें बहुत प्रिय लगता है। उसी रास्ते से आते-आते सुतीक्षण को प्रेम की समाधि में बैठे देखकर भगवान को बहुत प्रिय लगता है। उसके भीतर भी वही, बाहर भी वही है और उन्हीं के प्रेम में वह खोया हुआ है, बहुत आनन्द ले रहा है। लेकिन भाई, अब दुनियाँ का काम भी उनको करना है, आगे भी जाना है, तो आ गए पेड़ की आड में से निकल कर सुतीक्षण के पास और उसे पुकार रहे हैं। पर वह अपना नाम भी नहीं सुन रहा है, ध्वनि भी नहीं सुन रहा है। देहधर्म उसका खत्म हो गया, अलौकिक प्रेमतत्व से अभिन्न हो गया। उसको पता ही नहीं चला और भीतर ही में, अपने में जो परमात्मा विद्यमान है उसके मिलन के आनन्द में वह डूबा हुआ है, तो बाहर की ध्वनि वह सुनेगा भी कैसे? न उसको कुछ सुनाई दे रहा है, न दिखाई दे रहा है, न अपने-पन का कोई भास है। तब भगवान ने विनोद किया। उसके हृदय में जो अन्तर स्थित रूप से प्रकट हुए थे, वो भीतर का रूप उन्होंने समेट लिया। तब वह एकदम व्याकुल होकर उठ गया और देखा कि सामने खड़े हैं। मिलन हो गया, बहुत आनन्द आ गया।

यह भक्त के जीवन का उदाहरण है। केवल इस बात को स्पष्ट करने के लिए कि प्रेमीजन जो होते हैं उनको पराधीनता का दुःख नहीं सहन करना पड़ता, अभाव का दुःख नहीं सहन करना पड़ता। उनको किसी प्रकार की

कमी नहीं होती। क्यों? क्योंकि वह प्रेम ही ऐसा विलक्षण तत्व है जो कि जीवन को सब प्रकार से भरपूर कर देता है। इसलिए सभी अनुभवीजनों ने हम लोगों को सलाह दी कि यदि प्रेम भाव के आधार पर जीवन को पूर्ण करना ही चाहते हो तो परमात्मा को अपना मानने का साहस करो। बहुत बड़ी बात है। हम ईश्वर को इतनी सजीवता से अपना मानें कि उनके अपने-पन के कारण से हमारे भीतर उनके प्रति भक्ति आ जानी चाहिए। सर्वत्र हैं, इसलिए मुझमें भी है। तो अपने में जब हैं तो उनसे मिलने के लिए बाहर का कोई प्रयास जरूरी नहीं है। और अभी हैं, अभी तत्काल, इसी क्षण में सभी के भीतर विद्यमान है। अतः अपने हैं, अपने में हैं, और सभी हैं - ये तीन बातें हैं ईश्वर विश्वासियों को निश्चिन्त और निर्भय करने के लिए। चुन-चुन कर सब जगह से जीवन का सारांश निकाल कर सत्य स्वामीजी महाराज ने हम लोगों के आगे रख दिया।

अपने को शुऋ करने के लिए, अपने राग की निवृति के लिए जिसको जब समय मिलें, किसी न किसी सेवा-प्रवृत्ति में भाग लेना चाहिए, और उससे से भी जो समय मिले, उसमें अकेले रहना, शान्त रहना और अपना आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। अपनी जो भी हमारी साधना है, उससे हमारा जीवन जीवन्त हुआ कि नहीं, उसके साथ मिलकर एकाकार हुए कि नहीं - इस पर विचार करिए। अब जैसे गाँधी जी ने लिखा है कि प्रभु का नाम, राम का नाम हृदय में आते ही अगर हलचल नहीं मचती है प्रेम की लहरियाँ, लहरियों का हिलकोरा नहीं लगता है, तो भजन-प्रार्थना निर्जीव है। यह दूसरों को दिखाने की बात नहीं है, न दूसरों से पूछने की बात है। यह चीज जो है केवल अपने सिर का सौदा है। किसी अन्य बात से इसका कोई मतलब नहीं है। मतलब तो केवल इतने से है, कि मैंने अपने को साधक स्वीकार किया। मैंने सन्त की सलाह से परमात्मा के साथ अपने-पन का सम्बन्ध जोड़ा तो मेरा सम्बन्ध सजीव हुआ कि नहीं? स्वयं देखने की बात है। अगर होगा, तब तो आपको पता चलेगा ही तब तो आप उस आनन्द में ऐसे मस्त हो जाएँगें कि कोई पुकारेगा भी तो उत्तर देना आपको अच्छा नहीं लगेगा, कोई मिलने जुलने आवे तो प्रभु के नाते अपने पर जोर डालकर वृत्ति को बहिर्मुख करके आदर-सत्कार प्रेमपूर्वक मिलेंगे-ऐसा होगा तब तो जीवन कुछ का कुछ होगा। लेकिन अगर उससे जीवन सूना है तो भाई, उस पर तो विचार करना पड़ेगा। जिस ईश्वर-विश्वास को जीवन का आधार बनाकर इसको पूर्ण बनाने चले हैं, और शरीर के नाश होने से पहले अपने आप को उस अविनाशी से अभिन्न करने चले हैं हम लोग, यदि उस विश्वास में सजीवता नहीं आती है तो क्या दुःख की बात नहीं है? अगर भीतर में ज्योति नहीं जगी, अहं में चिंगारी नहीं लगी तो सब फीका है। सब व्यर्थ है।

यह सुनकर आप हार मान जाएँ, इसलिए मैं ऐसा नहीं कह रही हूँ आपको। बल्कि हम सब लोग मिलकर अधिक सचेत हो जाएँ, अपनी ओर अधिक देखना आरम्भ करें। परचर्चा, पर-दोष दर्शन से हमारा जीवन बच जाए, हमारा समय उसमें खराब न हो। अधिक से अधिक हमारी दृष्टि इस बात पर जाए कि किस प्रकार स्वामीजी महाराज ने अपने देहातीत जीवन के आनन्द से उतर कर प्रवृत्तियाँ सजाकर, सेवा के कई विभाग बनाकर और अनेक प्रकार के कष्ट पाकर संस्था बनाई। उसका हमें पूरा लाभ उठाना है। इसलिए सावधानी से हमें जीवन लेना है। एक-एक दिन मुझ पर प्रगतिशील प्रभाव डाले- इस चेष्टा में रहना है। एक-एक दिन। आज का दिन गया तो हम कितना अपने साध्य के निकट हुए? हम कितनी

अपनी भूलों से अपने को बचा सके - यह देखना मानव सेवा संघ की साधना हैं इसमें बहुत बल मिलेगा, चेतना मिलेगी। सन्त की सद्भावना, प्रभु की कृपालुता हमारे साथ है। अगर वास्तविक जीवन की आवश्यकता अनुभव करोगे तो वह आवश्यकता ही तुम्हारी सफलता में साधक बन जाएगी - यह विधान भी काम कर रहा है। इसलिए डरना नहीं चाहिए। निराश नहीं होना चाहिए। एक भी दिन ऐसा नहीं जाने देना चाहिए कि बैठकर कुछ देर के लिए हम अपने को देखें नहीं अथवा देखने पर भूल दिखाई दे तो अधीर होकर उस सर्वसमर्थ की शरणागति, कृपा की भिक्षा न माँगे। ऐसा एक भी दिन नहीं जाना चाहिए।

जो अपना है, अपने में है और अभी है उससे अभिन्न होने की माँग अपने में जाग्रत होनी चाहिए, क्योंकि अभिन्न होने की माँग की अत्यन्त तीव्रता ही माँग की पूर्ति में हेतु है - यह स्वामी जी महाराज के निज का अनुभव था। उन्होंने बताया कि एक बार उनका स्वास्थ्य कुछ बिगड़ा हुआ था। गर्मी के दिन थे और एक गृहस्थ के घर में, तिमंजिले मकान के ऊपर शैड के नीचे दिन में आराम कर लिया करते थे। एक बार कुछ ज्वर आ गया था, उल्टी भी हुई थी, प्यास लगी थी जोर से। पास में ठंडा जल था, लेकिन पीने की इच्छा नहीं होती थी। ऐली लगन लगी कि जी में आता कि शरण्य से मिलें पहले और जल पियें पीछे। पूछने पर बताते कि दिल में यह लगता कि मैं पानी पीने लग जाऊँ तो शरण्य से मिलना नहीं हो पाएगा। इसको उन्होंने सिद्धान्त के रूप में हम साधकों के सामने रखा और यह कहा कि परम-व्याकुलता ही परम प्रेमास्पद से अभिन्न कराने में अचूक साधना है। जब और कुछ भी अच्छा नहीं लगता है - साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही मिलन की व्याकुलता में बदल जाता है तो तत्काल उसी क्षण में प्रेमी और प्रेमास्पद का मिलन होता है।

प्रवचन 66

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाईयों!

संत-वाणी में हमारे जीवन के लिए उपयोगी तीन वाक्य हमको मिले। पहली बात है कि हम सभी को अपना मानें। यह जीवन का सत्य है जो भौतिक दर्शन से सिऋ होता है। दूसरी बात है कि हम किसी को भी अपना न मानें यह अध्यात्म दर्शन का सत्य है। और हम प्रभु को अपना मानें, केवल प्रभु को अपना मानें, यह आस्तिक दर्शन का सत्य है।

किसी न किसी दार्शनिक सत्य के आधार पर हमारा सम्पूर्ण जीवन नियन्त्रित होना चाहिए। शुऋ भौतिकवाद के दृष्टिकोण से आप देखें तो सम्पूर्ण जगत् एक इकाई है। इसमें भी हम अपने-पराए का भेद नहीं कर सकते। स्थूल पहलू भी हमारे व्यक्तित्व में है, कुछ भौतिक तत्व भी हमारे साथ हैं। जिन तत्वों से एक-एक इकाई, एक-एक यूनिट शरीरों का तैयार होता है उन्हीं तत्वों से ब्रह्माण्ड बना हुआ है। इस दृष्टि से इकाई और समष्टि में एक बहुत ही घनिष्ठ एकता है। स्थूल दृष्टि से देखकर जब हम जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं तो सम्पूर्ण जगत् को एक जीवन मानकर, सब प्राणियों को अपना मानना चाहिए। कैसे? कि एक ही धरती पर सबको आश्रय मिलता है, एक ही प्राण-वायु सबको साँस लेने देती है, एक ही आकाश के नीचे सबको अवकाश मिलता है एक ही सूर्य से सबको प्रकाश मिलता है। प्रकृति ने भौतिक जगत् में अपने प्राणियों में कोई भेद नहीं रखा। अपने व्यक्तित्व के एक पहलू के हिसाब से जिस अंश में भौतिक दर्शन को स्वीकार करने

वाले हम है, उसी ढंग से सोचें तो भी हमें प्राणियों में भेद नहीं करना चाहिए। तो क्या करना चाहिए?

भौतिक जगत् की एकता को स्वीकार करना चाहिए। इस संबंध में एक साहित्यकार की रचना मुझे याद आ गई, उसने लिखा था कि राज्य सिंहासन पर बैठा हुआ एक राजा प्रजा का रक्षण कर रहा है, शासन का कार्य चला रहा है, और एक भिखारी भिक्षा का पात्र लेकर दरवाजे-दरवाजे घूमता हुआ भिक्षा माँग रहा है। एक पक्षी वृक्ष पर बैठकर अपनी चहक से प्रकृति को गुंजारित कर रहा है। एक शिकारी शिकार के लिए सामान लेकर घूम रहा है, इस फिराक में कि कोई शिकार मिले और वह अपनी कला का प्रयोग करे। एक साधु अपनी आराधना में लगा हुआ है। एक व्यसनी अपने व्यसन से प्रेरित होकर वासना की पूर्ति के लिए दौड़धूप में लगा हुआ है। रात हुई और पक्षी सो गया, वृक्ष पर बहेलिया सो गया वृक्ष के नीचे, राजा सोया है महल में और भिखारी सोया है झोंपड़ी में सो गए जब सब, तो सबके भीतर एक ही जीवन स्पंदित हो रहा है सबके भीतर, हृदय में धड़कन हो रही है, सबकी साँस चल रही है और उस साँस की गति में, उस हृदय के स्पन्दन में कोई भेद नहीं मालूम होता। सब एक समान है। और मुझे लग रहा है जैसे कोई एक ही महाप्राण एक ही निद्रा में आराम से साँस ले रहा हो। मुझे आश्चर्य है और बड़ा भारी दुःख भी है इस बात का, कि इस समय तो सबके सब एक समान हैं, लेकिन भाई! आँख खुलने के बाद संसार में जब काम करने को चलते हैं तो क्यों एक-दूसरे के विपरीत हो जाते हैं? जगत् की जो शक्ति है उसकी एकता का कितना सुन्दर दर्शन है?

अब प्रश्न यह है कि एकता के होते हुए भी जब हम एक दूसरे के आमने-सामने होते हैं तो भेद क्यों मान लेते हैं? एक दूसरे के घातक क्यों हो जाते हैं? इस सबका फल क्या होता है? भेद मानने का फल यह होता है कि हमारे भीतर विकार पैदा हो जाते हैं राग-द्वेष बन जाता है और बाहर उसके परिणाम से संघर्ष हो जाता है। देश-देश में, जाति-जाति में, व्यक्ति-व्यक्ति में संघर्ष हो जाता है। आज समाज में अनेक प्रकार के संघर्ष चल रहे हैं मेरी दृष्टि जब इस मनोवैज्ञानिक दशा पर जाती है तो मुझे ऐसा लगता है कि एक ही व्यक्ति के भीतर भी संघर्ष चलता रहता है। विचार कहता है कि किसी को नुकसान मत पहुँचाओ, विवेक-विरोधी काम मत करो, मिथ्या आचरण मत करो। रुचि कहती है कि ऐसा करो। अतः व्यक्ति के भीतर भी संघर्ष चलता रहता है विचार कहता है कि किसी को नुकसान मत पहुँचाओ, विवेक-विरोधी काम मत करो, मिथ्या आचरण मत करो। रुचि कहती है कि ऐसा करो। अतः व्यक्ति के भीतर भी संघर्ष चलता रहता है। जब सत्संग का प्रकाश जोर मारता है, तो हम लोग कहते हैं कि अब से कभी नहीं करेंगे। उसके बाद जब सुख का प्रलोभन, दुःख का भय, मिथ्या अभिमान, झूठा सम्मान सताता है तो कहते हैं कि कोई बात नहीं एक अकेले मैं ही थोड़े हूँ। सारी दुनियाँ ऐसे कर रही है, तुम भी कर डालो।

आज हमारा आपका अपने ही द्वारा किया हुआ निर्णय हमारे पर फलित नहीं हो रहा है। सुना हुआ सत्संग, सुनी हुई चर्चा हमारे काम नहीं आ रही है। सोचो तो मनुष्य के भीतर कितनी विषमता आ गई? उसी भौतिक जगत् में एक ही सूर्य से प्रकाश लेने वाले, ताप लेने वाले, एक ही प्राणवायु में साँस लेने वाले परस्पर एक दूसरे के घातक बन गए हैं। राग-द्वेष की अग्नि जल रही है, हृदय में शुष्कता और कठोरता भर रही है और माँगते हैं प्रभु- प्रेम! अनमोल तत्व चाहिए अपने को जिसका कि संसार में मूल्य ही नहीं चुकाया जा

सकता - ऐसा अलौकिक भगवत् अनुराग अपने को चाहिए, लेकिन करनी तो बहुत छोटी है। एक ही धरती पर रहने वाले हम सब भाई-बहन एक दूसरे के प्रति अपनेपन का भाव नहीं रख सकते तो हमें धरती पर पाँव रखने का अधिकार कैसे हैं? अगर तुमने एक को अपना और दूसरे को पराया करके माना, एक को सुख देने के लिए दूसरे को दुःख देना पसन्द किया तो उसी के परिणाम स्वरूप राग-द्वेष में फँस गए। उसी ज्वाला से हृदय का रस सूख गया और अब साधु-सन्तों के पास फिर रहे हो कि महाराज, हमें कोई सरल उपाय बता दीजिए कि हम गृहस्थियों को भी परमात्मा मिल जाए।

किसी भी स्टैंड पर व्यक्ति को खड़ा तो होना चाहिए। भौतिक तत्वों को लेकर हम जगत् में विचरण कर रहे हैं तो हमारे जीवन का एक अनिवार्य पहलू है जिसका निर्वाह हम लोगों को भौतिक सत्य के दर्शन पर ही करना चाहिए। जब अपने में अमरत्व की माँग है और अपना आध्यात्मिक विकास चाहते हैं तो जीवन के दार्शनिक सत्य को सामने रखना ही चाहिए। अगर परम प्रेम की प्यास है, प्रेम स्वरूप परमात्मा के रस से अपने को सींचना चाहते हैं तो आस्तिक दर्शन के सत्य को लेकर चलना चाहिए। मैंने तो मनुष्य के व्यक्तित्व को सम्पूर्णता में देखा। यह कहना गलत बात है कि कोई केवल भौतिकवादी डंजमतपंसपेज है कोई अध्यात्मवादी ैचपतपजनंसपेज और कोई केवल ईश्वर-विश्वासी ळवक मिंतपदह है ऐसा नहीं है। भौतिकता निकाल दो तो व्यक्तित्व बनेगा आपका? आध्यात्मिकता को निकाल दो, अपने में से अनुत्पन्न अविनाशी तत्व को निकाल दो तो अस्तित्व रहेगा आपका? श्रद्धा भक्ति प्रेम का हिस्सा निकाल दो तो मनुष्य रहेंगे आप? नहीं रहेंगे। तो यह बड़ा भारी भ्रम है कि किसी को भौतिकवादी गुरप में रखते हैं, किसी को अध्यात्मवादी सीमा में बाँधते हैं, तो किसी को ईश्वरवादी सीमा में बाँधते हैं, यह बिल्कुल भ्रमात्मक बात है।

व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व तीनों ही प्रकार के सत्य पर आधारित है और जब हम संसार के साथ व्यवहार करने चलते हैं तो हमको पूरा-पूरा भौतिकवादी होना चाहिए। किस दृष्टि से? कि सारी सृष्टि एक है। अब आप सोच कर देखिए कि सभी को अपना मानना भौतिक दृष्टिकोण से सबके लिए कितना कल्याणकारी है। आप डरिएगा नहीं। माताएँ डर जायें कि सबको अपना मानेंगे तो हम तो सब के लिए रोटी नहीं बना सकतीं और भाई लोग डर जाएं कि सब को अपना मानेंगे तो हम सबके लिए कमाई नहीं कर सकते। सो नहीं। प्रकृति की शक्ति कम नहीं है। आपके भरोसे उसने प्राणियों को पैदा नहीं किया है कि तुम्हीं सबको खिलाओगे, तुम्हीं सबके लिए रसोई बनाओगी तो हमारी सृष्टि चलेगी। प्रकृति की शक्ति कमजोर नहीं है यह सलाह, इस सत्य का आधार आपको इसलिए दिया जा रहा है कि जगत् की ओर आपकी दृष्टि जाए और विश्व एकता को सामने रखकर व्यवहार नहीं करेंगे तो संसार में संघर्ष पैदा करेंगे, अपना पतन करेंगे। यह अभीष्ट है किसी को? नहीं है न। तो जब सामाजिक व्यक्ति होकर समाज में विचरण करते हैं तो आपको विश्व जीवन की एकता को लेना ही पड़ेगा तभी विश्व शांति सुरक्षित रहेगी। और चूंकि आपके साथ अभी तक शरीर लगा हुआ है, इसलिए सबको अपना मान करके जब भीतर से दुर्भावना का अन्त करेंगे तभी आपके चित्त की शुद्धि होगी। तभी आप आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश पायेंगे। अतः व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण

के लिए आवश्यक बात है कि हम विश्व जीवन की एकता को ध्यान में रखकर सबको अपना मानें।

सबको अपना मानने का अर्थ क्या है? कि क्रियात्मक सेवा करेंगे निकटवर्ती जन समुदाय की और भावनात्मक सेवा करेंगे सारे विश्व की। कठिनाई पड़ेगी? नहीं पड़ेगी। कमाई हुई सम्पत्ति लगा दो अपने बच्चों के लालन-पालन शिक्षण में। उन्हीं को अधिकारी मान कर उनके जरूरी काम में लगा दो। कोई दोष नहीं लगेगा। लेकिन भला मनाओं सब बच्चों का। फिर जब पैदा हुए बच्चे समर्थ हो जाएँ तो मोह के अन्धकार में मत पड़े रहो। अब जो शक्ति, जो सम्पत्ति बाकी बच गई है, वो उन बच्चों की मानों जिनके माता-पिता नहीं है, अथवा जिनके माता-पिता असमर्थ हैं, अथवा उन बच्चों की मानो जो अधिक प्रतिभावान है; जो तुम्हारे बच्चों से अधिक होनहार है; जो तुम्हारे बच्चों से अधिक उन्नतिशील होकर संसार की सेवा कर सकते हैं उनकी मानो, तो आपके हृदय इतना संकीर्ण हो गया है कि जगत्पति परमात्मा के प्यारे होना पसन्द करते हैं और अपने बच्चों को और भाई के बच्चों को समान दृष्टि से नहीं देख सकते तो 'तुम्हीं हो माता, पिता तुम्हीं हो' यह कथन में रह जाता है और दो बच्चों का बाप मैं हूँ, दो बच्चों की माँ मैं हूँ - यह जीवन में रह जाता है। इस तरह सोचेंगे तो राग-द्वेष नहीं मिटेगा। राग-द्वेष नहीं मिटेगा तो चित शुऋ नहीं होगा, तो सामाजिक कष्ट भी नहीं मिटेगा, व्यक्ति का कल्याण भी नहीं होगा। आपने सुना होगा, कितनी फैक्ट्रियाँ बन गई है दवा बनाने की, जिनमें कैप्सूल के आधे हिस्से में दवाई है तो आधे हिस्से में हल्दी का पाउडर है। मैं कल्पना की बात नहीं कह रही हूँ। कैमिस्ट लोगों की संस्था में जो बड़े नेता हैं उनकी कही हुई बात बता रही हूँ - क्या हो गया? उसी धरती पर तुमको आश्रय मिला, उसी हवा से साँस लेकर जी रहे हो और उसी प्रकृति का पदार्थ लेकर प्रकृति के दूसरे प्राणी को मारना चाह रहे हो। तो एक को अपना मानना, दूसरों का पराया मानना उसका यही फल होगा। अपने बच्चों के मोह से प्रेरित होकर उनके लिए बहुत धन इकट्ठा करके जाएँगे - ऐसा सोच करके एक परिवार को श्रीसम्पन्न बनाने के लिए प्रकृति के अनेकों परिवारों को बर्बाद करने का काम आप कर रहे हैं और फिर चाहते हैं कि आधा घण्टा आँख बन्द करें तो समाधि का आनन्द मिल जाए - तो यह सम्भव नहीं है। इसलिए साधक को जगत् के नाते शुऋ भौतिकवादी होना चाहिए।

भौतिकवाद एक दर्शन है उसका एक सत्य है और आजकल की हवा में भौतिकवादी दृष्टिकोण डंजमतपंसपेजपब चवपदज व िअपमू की जो धूम मची है उसको तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि भैया, यह तो भोगवाद है, यह दार्शनिक सत्य नहीं है। खाओ, पीओ, मौज करो - जो अपने पास है सो भी अपना, और जो दूसरों के पास है वो भी छीन झपट के लाओ, यह भौतिकदर्शन नहीं है, यह भोगवाद है। यह बर्बादी का तरीका है। आप सत्संगी भाई-बहन, भौतिकवाद का अर्थ अपनी दृष्टि में रख लें कि जो इस भौतिक जगत् में रहते हुए भगवत् भक्त बनना चाहता है उसको भी और जो निजस्वरूप से अभिन्न होना चाहता है उसको भी प्राकृतिक विशालता के साथ भाई-बन्धुओं के संग व्यवहार करना पड़ेगा। मोह के प्रभाव से आक्रान्त संकीर्ण हृदय वाले लोगों को तो छोड़ दो। यदि साधक लोग, सत्संगी लोग यह सोंचे कि ये आस्तिक लोग तो मेरे अपने हैं, निकटस्थ है और ये अध्यात्मवादी ैचपतपजनंसपेजे दुनियाँ के बेकार लोग हैंऋ ये ईश्वर को मानने वाले तो हमारे प्रिय बन्धु हैं और ईश्वर को नहीं मानने वाले अनीश्वरवादी बहुत बुरे लोग हैं - ऐसा करके यदि दिल में भेदभाव हो जाए कि ईश्वरवादी को

ईश्वावादी तो प्यारा लगे और भौतिकवादी दुश्मन के समान लगने लगे तो तुम्हारे ही जीवन में तुम्हारा ईश्वरवाद सिक्र नहीं हो पाएगा। क्यों? स्वामीजी महाराज कहते थे कि अरे भइया, वो ईश्वरवादी कैसा, जिसको अनीश्वरवादी प्राणों के समान प्रिय नहीं लगता? अनीश्वरवादी भी तो अपने प्यारे का प्यारा ही है।

मेरे सामने जब ये विचार आए तो ऐसा लगा मुझे कि जब मेरे प्यारे की मौज है कि पाँच साधक बनाएँगे - एक को राम का उपासक, एक को कृष्ण का उपासक, एक को अनीश्वरवादी, एक को अध्यात्मवादी, एक को योगाभ्यासी। अगर उनको मंजूर है कि पाँच प्रकार के साधक, पाँच ढंग से मेरी आराधना करें तो मेरा क्या अधिकार है जो कहूँ कि सब हमारी ही तरह मान्यता करो। इस तरह यदि मैं साधकों के वर्ग में घेरा डाल देती हूँ तो मेरे अपने ही दिल में घेरा पड़ गया कि नहीं? और दिल में जब सीमा बँध गई - दिल में जब भेद की दीवार खड़ी हो गई तो उस असीम अनन्त से मिलना कभी सम्भव होगा? घेरा डालना दूसरे के लिए कैसा हुआ, यह तो दूसरे जानें। लेकिन अपना सर्वनाश हो गया कि नहीं? जिस उद्देश्य को सिक्र करने चले थे उसी उद्देश्य की पूर्ति में बड़ी भारी बाधा हो गई इसलिए महाराज जी ने चुन-चुन कर तीन वाक्य, ब्रह्म वाक्य की तरह कह दिया कि भाई! तीनों ही दार्शनिक दृष्टिकोण से सत्य हैं - और अगर तुम अपना भला चाहते हो तो हर स्तर पर उस सत्य को स्वीकार करो। पहली बात मानो - सारी सृष्टि में कोई भी पराया नहीं है। सब मेरे अपने हैं, इसलिए सबका भला मनाओ, सबके प्रति सद्भाव रखो। जो आदमी जिसको अपना मान लेता है, उसकी बुराई नहीं कर सकता है। जब भौतिकवाद की दृष्टि से सारी सृष्टि के सब शरीरधारियों को आप अपना मान लीजिएगा तो भलाई कीजिएगा। किसी प्यासे को एक गिलास जल पिलायेंगे तो भलाई तो करेंगे सीमित रूप में, लेकिन भला मनाना सब के साथ होगा। किसी की तकलीफ सुनकर भीतर-भीतर कष्ट हो जाएगा। किसी की बुराई आपको अभीष्ट नहीं रहेगी। तो न किसी का बुरा चाहेंगे आप, न किसी की निन्दा करेंगे और न किसी को बुरा समझेंगे, तो इससे चित्त शुक्र हो जाएगा।

अपने चित्त की शुद्धि अभीष्ट है आपको, तो सबको अपना मानो और हृदय में से बुराई का नाश कर दो। इस व्यापक साधना को अपनाए बिना कोई व्यक्तिगत जीवन को लेकर कोठरी में बन्द हो करके कुछ को अपना, कुछ को पराया मानते हुए अगर किसी मन्त्र के जाप से अपने को शान्त करना चाहे तो वैज्ञानिक सिद्धान्त के विपरीत पड़ेगा। कभी शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिए भी नहीं मिलती कि कठोर अभ्यास से अपने साधक होने का एक झूठा अभिमान भी हो जाता है। लेकिन शरीर धर्म से कहीं ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति होती है? भूखे प्यासे, नंगे रहने से कहीं अलौकिक जीवन का अलौकिक तत्व अभिव्यक्त होता है? अरे, मरणशील शरीर है, उसके हित के लिए जो व्रत चाहिए, जो तप चाहिए, सो करो और जिन शरीरों का आश्रय छोड़ देने से अशरीरी जीवन में प्रवेश होता है, उन शरीरों के तप का अभिमान लेकर अध्यात्मवादी बन जाओगे? नहीं बनोगे।

एक बार मैं स्वामी जी महराज के पास कुछ सीखने के लिए बैठी थी। दस मिनट का समय महराज मुझको देते थे। मैं एक प्रश्न पूछ लेती, महाराज उत्तर दे देते, मैं लिखकर चली जाती, फिर चैबीस घंटे उसी प्रश्नोत्तर पर विचार करती रहती। एक दिन मैं गई तो स्वामी जी महाराज मस्ती में देहातीत जीवन मे आनन्द में थे

बहुत शांत और बहुत प्रसन्न मुद्रा में। मैं दर्शन करने लगी, बोली कुछ नहीं रह-रह कर घड़ी देख रही थी कि हमारा दस मिनट निकला जा रहा है, आज का पाठ रह जाएगा, तो मेरे संकल्प को उन्होंने जान लिया, आँखें खोली। उसी आनन्द की मस्ती में चुटकी बजाकर बोले अरे लाली तुम लोग क्या बुद्धि के चक्कर में पड़े रहते हो? अरे! मैं तो एक छलाँग में बुद्धि के पार चला जाता था। तो जहाँ इन्द्रिय-दृष्टि बनी है, वहाँ जगत् की प्रतीति हो रही है। जहाँ बुद्धि-दृष्टि बनी है वहाँ जगत् के स्वरूप पर विवेचन चल रहा है। बुद्धि की सीमा के भीतर अगर हम अपने को सीमित रखते हैं तो देहातीत जीवन में प्रवेश सम्भव नहीं है। भीतर में वर्ग का भेद, व्यक्ति का भेद, मोह की सीमा, वर्ग की सीमा न जाने किन-किन सीमाओं में हमने अपने को बाँध लिया है। और उन सारी सीमाओं को रखते हुए उस असीम अनन्त से मिलना चाहते हैं तो यह सम्भव नहीं है। इसलिए भौतिकता की उपेक्षा करके आध्यात्मिकता सिऋ नहीं हो सकती।

अनुभवी संतजन संसार की निन्दा करने की सलाह नहीं देते। आलोचना करने मात्र से काम चलेगा - ऐसा नहीं सिखाते। बुरा मानो, उसकी ओर से रूठ कर बैठ जाओ तो संसार से तुम्हारा पिण्ड छूटेगा - यह सम्भव नहीं है। जगत् के प्रति जो तुम्हारा देय है, वह देना भी है। जगत् के लिए जो सही दृष्टिकोण है उसको अपनाना है और अपने भीतर से भेदभाव की सीमा को समाप्त करना है। इस भौतिक दर्शन के सत्य को जो लेकर चलेगा, उसके द्वारा समाज में शान्ति का विस्तार भी होगा दुर्बल-निर्बल की एकता भी स्थापित होगी और उसके भीतर की भेद-भाव की सीमा भी टूट जाएगी। उसका चित्त शुऋ हो जाएगा तो उसे समाधिस्थ होने में भी सहायता मिलेगी।

अब दूसरा 'स्प्रिच्यूलिज्म' ैचपतपजनंसपेउ जो है अध्यात्म-दर्शन का सत्य जो है, वह ऐसा है कि जो मेरा दृश्य बन गया वह तो 'पर' है। दृश्यों से अतीत अस्तित्व जो है वह मेरा 'स्व' है। जो मुझे चाहिए अलौकिक जीवन और शरीर को चाहिए संसार का सम्पर्क। एक ही व्यक्तित्व के इन दोनों पहलुओं को जो अलग-अलग ढंग से इनकी स्वाभाविकता के अनुसार साधना में नहीं लगाएगा वह शरीरों से असंग नहीं हो सकेगा। शरीरों से तादात्म्य टूटेगा नहीं तो अमर जीवन की कल्पना रह जाएगी - अमर जीवन का आनन्द नहीं मिलेगा। सोचो इस पर भी।

एक दक्षिण भारतीय सन्त है - माँ चिन्नम्मा। उनके एक बड़े अच्छे भक्त हैं, बिल्कुल विरक्त संत। वे जब स्वामी जी महाराज को मिले तो उन्होंने कहा, मेरे गुरु महाराज अर्थात् चिन्नम्मा जी ने कहा था कि उत्तर भारत के प्रज्ञाचक्षु संत मिलेंगे तब मेरा कल्याण होगा। मैं प्रतीक्षा में था महाराज, और आप मिल गए हैं तो अब मेरा कल्याण करिए। बताइए रास्ता। उन्होंने अपने गुरु का संवाद सुनाया और कहा कि वो ऐसी विवेकवती माँ थी कि गृहस्थ जीवन में तीन बच्चों की माँ और ज्ञान का प्रकाश उनके भीतर सब समय। देह-देही विभाजन का खूब स्पष्ट ज्ञान रहता था। एक दिन वो तीनों बच्चों को भोजन कराने बैठी तो सोचने लगीं कि ये तीन बच्चे तेरे हैं तो बाकी किसके हैं? और बाकी तेरे नहीं है तो ये तीन भी तेरे कैसे हैं? खाना परोसते-परोसते उनके ध्यान में आ गया कि नहीं, नहीं त्रिकाल में भी मेरा किसी से भी सम्बन्ध नहीं है। तो अध्यात्म-जीवन का दर्शन आपके सामने आ गया कि त्रिकाल में भी इस प्रतीत होने वाली सृष्टि से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है। बच्चों ने जब खाना शुरू किया तो वो निकल कर के वहाँ से चली गई। घर से बाहर

दरवाजे पर थोड़ी दूर पर एक वृक्ष के नीचे बैठ गई। सास, पति और बच्चे सब जानते थे कि इनके भीतर जब ज्ञान का प्रवाह आता है तो यह ऐसे हो जाती हैं दस ग्यारह बजे रात तक सबने प्रतीक्षा की कि अब उठ कर आ जाएगी तो दरवाजा बन्द करेंगे सायेंगे, पर वे आई नहीं, तो धीरे-धीरे जाकर लोगों ने मनाना शुरू किया कि भाई, बहुत देर हो गई, अब चलिए। कहाँ जाऊँ शरीरों से तादात्म्य टूटा तो कहाँ जाए, कौन जाए, क्यों जाए? सास बेचारी क्या उत्तर दे, पति बेचारे क्या उत्तर दे? किसी से कुछ उत्तर देते बना नहीं। इसके बाद से चेन्नाम्मा माँ को फिर किसी ने घर में नहीं देखा। बहुत विरक्त सत्त। शरीर पर कपड़ा है तो ठीक है नहीं है तो ठीक है देहातीत जीवन में ऐसी मस्त रहने वाली माँ! जब नगर के लोग दुःख से दुःखी, सत्य के जिज्ञासु, साधक समाज के लोग - सब चले जाते जंगल में, जहाँ पता चलता कि आजकल माँ वहाँ हैं, तो सब लोग दूर-दूर घेरा डाल करके बैठ जाते। जब कभी वो मस्ती में आ जाती उठकर बैठती, लोगों की ओर देखकर पूछती - बोल तेरा क्या दुःख है, दुःखी का दुःख खत्म हो जाता। जिज्ञासु जिज्ञासा लेकर गया, बहुत व्यग्र होकर गया। भीतर प्रश्न लेकर चुपचाप बैठा है। माँ अपनी मस्ती में मस्त हैं - न शरीर है, न संसार है - निज स्वभाव की मस्ती है, आनन्द है और कुछ नहीं है। आनन्दमय अस्तित्व के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं और जगत् के कल्याण के लिए सृष्टि कर्ता के मंगलमय विधान से उनकी आँख खुली, उन्होंने जगत् की ओर देखा तो बिना आपके कुछ कहे अपनी ओर से पूछेंगी - 'बोल तेरा प्रश्न क्या है?' तो प्रश्नकर्ता के भीतर उत्तर आ जाता। 'माँ, प्रश्न का उत्तर मिल गया।' 'जा उठ जा, भाग जा, हो गया।' तो अध्यात्म दर्शन का जो सत्य है कि सचमुच मेरा कभी प्रतीत होने वाले जगत् से, किसी से त्रिकाल में भी सम्बन्ध नहीं है - यह सत्य इतना जोरदार होता है और इसी को मैं मानव-जीवन का सबसे बड़ा चमत्कार मानती हूँ। सबसे बड़ा चमत्कार! कि एक छोटे से शरीर का आकार लेकर धरती में नगण्य होकर हम विचरण कर रहे हैं और इस सीमित नगण्य शरीर के रहते हुए ज्ञान के प्रकाश में, शरीरों से तादात्म्य तोड़कर, अशरीरी आनन्द का अनुभव आप कर सकते हैं यह कोई मामूली बात है? लेकिन उस पर दृष्टि जाती नहीं तो हम लोग अजीब-अजीब चीजों को इकट्ठा करके उनके बल पर मन बहलाना चाहते है। कितना धोखा है! सोचो! तुम्हारा मन जड़ जगत् की वस्तुओं से बहल जाएगा? अध्यात्म दर्शन का जो सत्य है उसको अगर सामने रखकर प्रवृति को अनिवार्य रूप से जीवन में न रखो, तो कौन सा उपाय है कि शरीर की सीमा पार करके उस असीम आनन्द का अनुभव कर सकोगे? अरे भाई! बढ़िया-बढ़िया सुन्दर वस्त्राभूषण से नहीं सजाया तो भभूती लगाकर उसको विशेष बना लो! हो गया काम। हीरा मोती उतार दिया तो तुलसी के दाने बाँधकर कर लो श्रृंगार। आ गया महत्व? नहीं आया तो। जो दार्शनिक सत्य है वह बड़ा जोरदार है, आँख बन्द करने से नहीं होगा, भागने से नहीं होगा। विवेक के प्रकाश में देखकर तीनों शरीरों से सम्बन्ध तोड़ने से होगा।

प्रवचन 67

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनों और भाइयों!

सन्तवाणी में जीवन का सत्य हम लोगों ने सुना। दो बातों पर स्वामी जी महाराज विशेष रूप से हमारा ध्यान दिलाते हैं। एक यह कि

सचमुच इस जगत् में मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है और दूसरी बात यह, कि वस्तुतः मुझे अपने लिए कुछ चाहिए नहीं।

मेरा कुछ नहीं है - इसको हम लोग बड़ी कम कठिनाई के साथ स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि देखने में आता ही है कि जिसको हमने अपना करके माना, वह हमारा होकर रह न सका - इस बात को हम सब लोग अपने द्वारा अपने जीवनकाल में जान लेते हैं जैसे हमने प्रारम्भ से ही ऐसा मान लिया कि ये मेरी आँखें है और उनको बहुत पसन्द किया, उन्हें बहुत आवश्यक माना। शरीर रह गया, जगत् को देखने की जरूरत रह गई और जिन आँखों को हमने अपनी करके माना था और उनकी बड़ी आवश्यकता भी महसूस की थी वे आँखें हमें छोड़कर चली जा रही है। उनकी रोशनी घटती जा रही है अब ऐसा लगता है कि कुछ दिनों के बाद जो बची-खुची रोशनी है वो भी खत्म हो जाएगी, तो हम कुछ भी देख नहीं पायेंगे। तो उन आँखों को ये मेरी है, ऐसा करके कहने में कोई बुद्धिमानी नहीं है।

जिन कुटुम्बियों के साथ शरीर के नाते हम माता-पिता, पति-पत्नी होकर अथवा बाल-बच्चों के सम्बन्ध से हम अपनापन मानते हैं, वह अपनापन भी सदा के लिए निभता नहीं है। अत्यन्त प्रिय लगने वाले, अपने कहे जाने वाले कुटुम्बियों को या तो हम ही छोड़कर चल देते हैं या वे ही हमें छोड़कर चले जाते हैं - इस प्रकार उनके साथ भी माना हुआ सम्बन्ध निभता नहीं है। ऐसे ही आप वस्तुओं के सम्बन्ध में भी देख लीजिए। जिन वस्तुओं को हम बहुत महत्व देते हैं, बहुत सँभालकर रखते हैं, उनका भी या तो नाश हो जाता है या फिर हमीं उन्हें छोड़ देते हैं।

एक साधक थे। उन्होंने अपनी सुविधा के लिए बहुत-सी वस्तुएँ इकट्ठी कर रखी थीं। धीरे-धीरे जब उनकी शारीरिक असमर्थता बढ़ने लगी तो उन्होंने सोचा कि शरीर के कारण से इन वस्तुओं का महत्व था और मैंने इनका खूब उपयोग भी किया। लेकिन अब ऐसा मालूम होता है कि शरीर इन वस्तुओं का उपयोग करने अथवा उन्हें सँभालकर रखने के लायक नहीं रहेगा - ऐसा सोचकर शरीर के बिगड़ने से पहले उस भले आदमी ने अपनी प्यारी-प्यारी सुरक्षित वस्तुओं को बाँटकर अपने को खाली कर लिया कि अब इनको रखने से नुकसान होगा। क्या नुकसान होगा? कि हम सँभाल नहीं सकेंगे तो वस्तुएँ बर्बाद होगी और वस्तुएँ बर्बाद होंगी तो भीतर-भीतर उनका लोभ सतायेगा, तो दोनों तरफ से गए। सँभाल न सके तो वस्तुएँ गई और वस्तुएँ गई तो उनके लोभ से पीड़ित होकर खुद डूबे। तो दिल में वस्तुओं, व्यक्तियों का चिन्तन रहता है। लेकिन हमारे मन में किसका चिन्तन होना चाहिए? किसकी याद हमारे लिए कल्याणकारी है? निःसन्देह परमात्मा की याद ही हमारे लिए कल्याणकारी है।

तो जिसकी याद हम भाई-बहनों के लिए कल्याणकारी है, उसकी जगह पर बर्बाद होती हुई वस्तुओं का चिन्तन सतावे तो बहुत बड़ी हानि हो गई। उन साधक भाई को समय पर यह बात सूझ गई तो उन्होंने अपनी सब वस्तुएँ बाँटकर अपने को खाली कर लिया।

अब आप सोचेंगे कि इसी प्रकार से हम सब लोगों के लिए बड़ा सहज पड़ता है इस बात को स्वीकार करना कि सचमुच संसार में मेरा करके कुछ नहीं है। केवल ममता के दोष से ही हम वस्तुओं को इकट्ठा करते रहते हैं, उनके सदुपयोग की बात अलग है। जन-हितकारी कार्य में लगाने के लिए जो सामग्री हम जुटाते हैं, वह अलग है।

ऐसे ही एक दिन मैं एक सभा में बोल रही थी। एक टेप रिकार्डर मेरे सामने रखा हुआ था जिसे कि स्वामी जी महाराज के वचन सुनाने के लिए मैं सब जगह अपने साथ ले जाती थी। सन्तवाणी सुनाने के बाद मैं बोलने लगी और ऐसे कहने लगी कि हमारे कल्याण के लिए सन्त के वचन में यह सुनाया जा रहा है कि मेरा करके कुछ नहीं है कि थोड़ी देर बाद एक भाई ने एक ेसपच लिखकर भेजी कि हम लोग सुन रहे हैं कि मेरा करके कुछ नहीं है, तो जिस टेप-रिकार्डर से आप काम लेती हैं, वह मैं माँग रहा हूँ। आप मुझे दे दीजिएगा? यह मेरी परीक्षा ली उन्होंने, कि मुख से तो कह रही हो कि मेरा करके कुछ नहीं है, मेरे माँगने पर टेप-रिकार्डर ;ज्ंचम त्मबवतकमतत्र मुझे देकर प्रमाणित करो कि सचमुच मेरा कुछ नहीं है। इस पर मैंने कहा कि वह तो मैं नहीं दे सकती। इसलिए नहीं कि मशीन मेरी है। वस्तुतः यह मेरी नहीं है। लेकिन सार्वजनिक कार्यों में इसका उपयोग होता है, इसलिए मैं आपको नहीं दे सकती। इसका अर्थ यह भी नहीं कि मैं इस पर अधिकार मानती हूँ। लेकिन आपको इसलिए नहीं दे सकती कि इस वस्तु का सदुपयोग हजारों सत्संगी भाई-बहनों की सेवा में हो रहा है।

वस्तु मेरी नहीं है - इसका मतलब यह नहीं कि इसको खुले छोड़ दो कि चोर उठाकर ले जाए, कोई छीनकर ले जाना पसन्द करें, कोई दुरुपयोग करने वाला ले जाना पसन्द करे या कोई उठाकर फेंक देना पसन्द करे, तो तुम इस व्रत को पालो कि मेरी नहीं है तो जिसके जी में जो आए सो कर डाले। सो अर्थ नहीं है। आप उसके प्रति ममता मत रखिए। एक बात और। आप उसको सँभालकर हिफाजत से रखिए। क्यों? क्योंकि वह सामूहिक जीवन के लिए हितकारी है और हितकारी कार्य में उसका सदुपयोग करना है।

जो भौतिकवादी हैं वो कहेंगे कि जगत् की वस्तु है तो मेरी नहीं है, इसलिए उसके प्रति ममता करने का अधिकार मेरा नहीं है। ठीक है। यदि उसके प्रति ममता करने का अधिकार मेरा नहीं है तो बर्बाद करने का भी अधिकार मेरा नहीं है। ठीक है न? पराई चीज को तुम अपने कब्जे में सँजोकर नहीं रख सकते तो उसे बर्बाद भी तो नहीं कर सकते। इसलिए जगत् की वस्तु है तो उसे बर्बाद नहीं करना है।

जो ईश्वर विश्वासी हैं, वे हर वस्तु को भगवान की मानते हैं। तो अपने प्यारे की वस्तु है तब भी इसे बर्बाद नहीं करना है। मैंने तो प्रभु के प्यारों को वस्तुओं के साथ व्यवहार करते देखा है। वे किसी भी वस्तु के साथ थोड़ा सा भी सख्त व्यवहार नहीं कर सकते। अगर कोई वस्तु उठाकर आप जमीन पर पटक दें तो प्रभु-प्रेमी वस्तु को यों पटक देना पसन्द नहीं करते। क्यों नहीं करते है। क्योंकि उनको धक्का लगता है। अरे प्यारे की चीज है उसका अनादर कैसे कर दिया तुमने? उसको पाँव कैसे लगा दिया? उसको पटक कैसे दिया तुमने - ऐसा होता है। तो प्यार की वस्तु है, मेरी नहीं है, ममता खत्म हो गई है और काम में लाने के लिए साधक मात्र की है, तो सदुपयोग करो उसका। वस्तुओं का उपार्जन करना, उनका सदुपयोग करना और उनकी सुरक्षा करना मना नहीं है। उपार्जन भी करो, वितरण भी करो, सदुपयोग भी करो और सुरक्षित भी रखो। यह सब ठीक है। केवल अपनी व्यक्तिगत मानोगे तो फँस जाओगे।

बड़े-बड़े ऊँच सन्त जो होते हैं वे हर वस्तु को परमात्मा की मानकर उनको खराब करने देना पसन्द नहीं करते हैं। आनन्दमयी माँ के जीवन की बात है। मैंने ऐसा सुना है कि उनके आश्रम में एक बार किसी ने थाली में चावल-दाल

खाया और खाते-खाते कुछ हिस्सा उसमें छोड़ दिया जिसे उसने ले जाकर पानी डालकर गिरा दिया। चावल-दाल पानी के साथ नाली में बहने लगा। माता जी उधर से निकली। उन्होंने देखा कि नाली में पका हुआ चावल-दाल बह रहा है, तो उन्होंने उस दाने को चुनकर उठाकर खा लिया। यह कोई कल्पना या कथा - कहानी नहीं है, यह सच्ची घटना है। उन्होंने ऐसा क्यों किया? क्योंकि वे किसी भी वस्तु को बर्बाद करना देख नहीं सकती, सहन नहीं कर सकती। क्यों? क्योंकि हर एक वस्तु परमात्मा की है। जब हर एक चीज हमारे प्यारे की है तो कोई चीज खराब क्यों होगी?

वस्तु को अपनी मानकर उसकी ममता में आबऋ हो जाना और पराई मानकर उसका दुरुपयोग करना - दोनों ही असाधन है। व्यावहारिक जीवन में हमें इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए। अब देखिए, आप पर मंगलमय विधान से, भगवान की कृपा हो गई तो एक सन्त को प्रेरित करके उन्होंने संस्था बना दी। किसलिए? कि कमाई करने की चिन्ता से मुक्त होकर, आराम से बैठकर तुम साधन कर सको। तो जिस संस्था के आश्रय से तुम अपने साधन में निर्विघ्न आगे बढ़ सकते हो, उस संस्था की सम्पत्ति की सुरक्षा का भार अपने पर ले लो तो साधन होगा। इन छोटी-छोटी बातों की ओर मैं ध्यान इसलिए दिलाती हूँ कि प्रायः लोग सोचते हैं कि माला अपना साधना है, चुप होकर बैठकर ग्रन्थ का पाठ करना, दोनों समय मन्दिर में दर्शन करने जाना, प्रभु की लीला का दृश्य-रास देखना साधना है। ये सब अच्छी बातें हैं। इनकी निन्दा नहीं है, इनको बेकार नहीं बताया गया है। लेकिन आप इन बाहरी बातों में तो खूब लगे रहिये और व्यावहारिक जीवन में जो छोटे-छोटे दोष हैं, त्रुटियाँ हैं, उनसे अपने को न बचाइये तो चित्त शुऋ नहीं हो सकता। दर्शन करने जाओ और परमात्मा की वस्तु परमात्मा की न मानकर अपनी मानकर उस पर अधिकार जमाओ तो तुम वस्तु के हाथ बिक गए।

एक प्रश्नकर्ता ने एक प्रश्न लिखकर भेजा है कि सब प्रकार से पे्रम-पात्र के कैसे होवें? तो इस चर्चा से इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाएगा कि मन्दिर में जाकर हम भगवान के दर्शन करें, उनको प्रणाम करें - यह भक्ति और प्रेम को बढ़ाने के लिए अच्छी बात है, लेकिन यहाँ आकर व्यवहार जगत् में वस्तुओं के प्रति लापरवाही करें, व्यक्तियों के प्रति दुर्भावना रखें तो वह ईश्वर पूजा हो गई? नहीं हुई। मन्दिर में जाकर सिर झुकाने का मतलब होता है 'समर्पण' और उस समर्पण को जीवन के हर क्षेत्र में निभाना चाहिए। स्वयं भगवत् समर्पित हो गई थी - ऐसा तो मैं नहीं कह सकती। लेकिन मैंने अपनी ही समस्याओं को सुलझाने के लिए काम करना आरम्भ किया तो अन्तर्दृष्टि रखने वाले सन्त ने उसको इस प्रकार से लिया, इतना सुन्दर उसका सम्पादन करा दिया कि युग-युग के लिए आने वाले साधकों के लिए उसको उपयोगी बना दिया तो उस तरह से काम में लग जाने पर भी अगर समाज की उदारता साथ देती हैं, तो सोच विचारकर जो लोग सामूहिक कार्य में हाथ डालते हैं उनके शरीर की जरूरत पूरी नहीं होगी? एक बात हो गई।

अब दूसरी बात जो मैं सोच रही हूँ वह इसके विपरीत है। मान लीजिए कि मंगलकारी परमात्मा ने सामाजिक कार्य में हाथ डालते ही आपके व्यक्तिगत शरीर का सब भार अपने हाथ में ले लिया तो आपकी सब आवश्यकताओं की पूर्ति समय पर हो जाती है। लेकिन अगर कभी आवश्यकता की पूर्ति समय पर न हो या आपकी रुचि के अनुरूप न हो तो आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। आपके भीतर क्षोभ पैदा नहीं होना

चाहिए, अपितु यह भाव आना चाहिए कि क्या जाने मेरे परम हित-चिन्तक मुझे दृढ़ करने के लिए यह खेल कर रहे हों कि कहीं मैं समाज की वस्तु पर अपना अधिकार तो नहीं मानने लगी। यदि ऐसी कोई परिस्थिति आए तो क्षुब्ध होने के स्थान पर हर्षित होना चाहिए, आनन्दित होना चाहिए। स्वामी जी महाराज कहते हैं कि इस प्रकार की कोई कठिनाई साधक के सामने यदि आए और उस कठिनाई को वह हर्ष पूर्वक सहन कर लें तो उसे बड़े भारी तप का फल मिलेगा।

सार्वजनिक कार्य करने पर जहाँ समाज व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन करता है, वहाँ उनकी सेवा और त्याग की भावना के लिए उसे सम्मान भी खूब देता है। लेकिन वह सम्मान उसकी खुराक नहीं बन जानी चाहिए। यदि समाज में उसके लिए कभी अपमानजनक या प्रतिकूल परिस्थिति बन जाती है तब भी उसे क्षुब्ध न हो कर हर्षित होना चाहिए कि समाज के दिए हुए सम्मान की खुराक से बचाने के लिए और उसमें सम्मान और अधिकार की लिप्सा या अपने कर्तव्य के अभिमान का दोष तो नहीं आ गया, यह दिखाने के लिए , उसके प्यारे ने यह परिस्थिति तो नहीं बनाई।

ऐसी कठिन परिस्थितियों में साधक को सतर्क हो जाना चाहिए। ऐसे में उसे अकेले बैठकर अपने भीतर झाँककर देख लेना चाहिए कि वहाँ क्या हो रहा है। तो उसे पता चल जाएगा कि इतने दिन के आश्रमवास और सेवाव्रत का कितना फल हुआ, उसका चित्त कितना शुऋ और शान्त हुआ? अगर भीतर का सन्तुलन ठीक है, कर्त्तव्य की याद है, व्रत की याद है, प्यारे की याद, सन्त और सन्तवाणी की याद है तो शान्ति रहेगी। और अगर शान्ति भंग होती है तो इसमें इन सबका दोष है या अपना दोष? यह समझ में आ जाएगा तो सुधार हो जायेगा। इसी का नाम साधना है।

अब अन्तिम सूत्र है कि सब प्रकार से प्रभु के होकर रहना इसके मूल में क्या है? एक ही बात है, जो तन का होकर रहेगा, जो धन या कुटुम्ब का होकर रहेगा वह प्रभु का होकर नहीं रह सकेगा। यह खास बात हैं प्रभु के होकर रहने के लिए इन सारी ममताओं को छोड़ना पड़ेगा और कभी-कभी महाराज जी ऐसे भी कहते थे कि देवकीजी, वे इतने विशाल हैं, इतने विशाल हैं कि तुम्हारे हृदय में एक सुई के लिए भी ममता रह गई तो वे उसमें समायेंगे नहीं। वे इतने बड़े हैं कि पूरा हृदय एकदम खाली कर दो, तब वे समा सकेंगे।

सत्य से अभिन्न होने के लिए जिन मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन महाराज जी ने किया, वो उनके जीवन के शोध का परिणाम है। एक बार का प्रसंग है। 1956 में फरवरी महीने में चम्बल तट पर सम्मेलन हो रहा था मानव सेवा संघ का। बहुत बड़ी सभा थी। कितने हजार लोग खुले मैदान में चम्बल के तट पर बैठे थे। बड़ा ऊँचा मचान बना था, जिस पर बैठकर हम लोग सत्य की चर्चा करते थे। एक दिन प्रातः काल की बैठक में सर्दी भी खूब थी, तो स्वामीजी महाराज मंच पर बोलने के लिए खड़े हुए। एक तो मंच ही बहुत ऊँचा था और उस पर स्वामी जी महाराज की काफी ऊँचाई थी और खादी की धोती गेरू रंग में रँगी हुई पहन कर ऊपर खड़े होकर बोल रहे थे। मुझे बड़ा अच्छा लगा। मैं देख रही थी दूर से, बहुत प्रसन्नता हो रही थी। बातचीत हो गई तो महाराज जी उतरकर आ गये गुफा में बैठगए। हम सब लोग भी उनके पास बैठ गए। हँसते-हँसते मैंने कहा कि स्वामीजी महाराज आज तो खादी की धोती पहनकर राजनैतिक नेताओं की तरह व्याख्यान दे रहे थे। तो महाराज जी हँसे। कहने

लगे कि देखो ये कैसे बात करती है, उसके बाद एकदम गम्भीर मुख-मुद्रा में मुझसे कहने लगे कि देवकी जी, मैं साधक समाज को यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि लंगोटी पहनने से अगर सत्य मिलता है तो धाती पहनने से भी सत्य मिलता है। सत्य की अभिव्यक्ति में धोती और लंगोटी का भेद नहीं है। बड़ी क्रान्तिकारी बात थी। कटिवस्त्र धारण करने वाले सन्यासी उन्होंने सत्य की अभिव्यक्ति की मौलिक बात को समाज के सामने रखा और केवल मुखसे कहकर नहीं, करके दिखाया। वस्तुतः इन बाहरी बातों में साधक-समाज उलझ जाता है। स्वामी जी महाराज के भीतर इस बात की बड़ी व्यथा थी कि साधक को सीधे सत्य की अभिव्यक्ति की सच्ची और मौलिक बात बता दी जाए, जिसमें कि वह सर्वथा स्वाधीन है। बाहर का रहन-सहन, विधि-विधान, खान-पान यह सब बाहरी बातें हैं। सत्य की अभिव्यक्ति से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रवचन 68

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनों और भाइयों!

सब प्रकार से प्रभु के होकर रहना - यह एक बहुत बढ़िया बात है मनुष्य की ओर से। जिस समय कोई साधक इस बात को अपनी ओर से मानकर ठान लेता है कि अब हम हर प्रकार से उन्हीं के होकर रहेंगे, तो उसके जीवन में बड़ा भारी परिवर्तन आता है। ऐसा कौन कर सकता है कि अब हम हर प्रकार से उन्हीं के होकर रहेंगे? सोच कर देखिये। तो ऐसा परमात्मा के प्रेमीजन, उनके अनुरागी भक्त ही कर सकते हैं।

स्वामीजी महाराज ने कहा कि भाई! सन्त के कहने से, भक्त के कहने से, तुम मान लो कि परमात्मा से ही मेरा नित्य सम्बन्ध है। वही मेरा अपना है अथवा मैं केवल उन्हीं का हूँ। अपनी ओर से मान लो। यह मत पूछना कि भगवान कहाँ हैं? कैसे हैं? कब मिलेंगे? क्या करते हैं? हम उनके समर्पित हो जायेंगे तो इसके बदले में वे हमारे साथ क्या-क्या करेंगे? ऐसा कुछ मत पूछो। क्यों? इसलिए कि हम लोगों ने सुना है कि परमात्मा सर्व सामर्थ्यवान हैं। दुर्बल आदमी को कोई सामर्थ्यवान सहारा मिले तो कौन इन्कार करेगा। वे सृष्टि के मालिक हैं, अनन्त सौन्दर्यवान हैं - अगर किसी को ऐसा सम्बन्धी, मित्र या रक्षक मिलता हो तो कौन इन्कार करेगा? सबको स्वीकार हो जायेगा। क्यों? क्योंकि मैं दुर्बल हूँ और वे अनन्त सामर्थ्यवान है, तो उनका बल मेरे काम आ जायेगा। मैंने अनेक प्रकार के अपराध किये हैं और वे पतित-पावन हैं तो उनकी पतित पावनता मेरे काम आ जायेगी। मेरे भीतर दरिद्रता है और वे सृष्टि के मालिक हैं तो उनकी सम्पत्ति मेरे काम आ जायेगी - ऐसा ध्यान में आयेगा। इसलिए महाराज जी कहते हैं कि पूछो ही मत कि वे कहाँ, कैसे हैं, क्या कहते रहते हैं? और यह भी ध्यान में मत रखों कि मैं उनका हो जाऊँगा तो वे हमको क्या-क्या देंगे। इसलिए कि अगर ऐसी बातें सोचोगे और पूछोगे तो जिस चाह और संकल्प को लेकर तुम संसार में फँसे हुए हो, उन्हीं संकल्पों को लेकर परमात्मा के बारे में सोचोगे, तो संकल्पपूर्ति की दुर्दशा से ऊपर नहीं उठ सकोगे।

स्वामीजी महाराज का कहना है कि अपना संकल्प लेकर जाओ, अपनी कामनाएँ लेकर जाओ तो भगवान भी संसार है। और कामनाओं से रहित होकर जाओ तो संसार भी भगवान है। एक दूसरी जगह उन्होंने लिखाया है कि जो कुछ चाहता है भगवान उसके पीछे खड़े रहते हैं और जो कुछ नहीं चाहता है उसके वे सामने आ जाते हैं। एक बार इलाहाबाद में एक

लड़के ने उससे पूछा, कि बाबाजी! आप भगवान को दिखा सकते हैं? तो स्वामी जी ने कहा - हाँ, मैं दिखा सकता हूँ। तो बताइये भगवान कहाँ है? उन्होंने कहा कि तेरे पीछे हैं। उस लड़के ने पीछे मुड़कर देखा तो उसको तो कुछ दिखा नहीं। उसने कहा - कहाँ दिखते हैं पीछे? तो स्वामीजी ने कहा कि तू पीछे कहाँ देख रहा है? यों करके देखा तो सामने ही तो हुआ। पीछे देख तो तुझे भगवान नजर आएँ। इन बातों में बड़ा रहस्य है। क्या रहस्य है? कि जो कुछ भी चाहता है, संसार से न चाहता हो, परमात्मा से ही सही, उसे परमात्मा मिलेंगे तो संसार के रूप में ही मिलेंगे। क्योंकि कामना तो संसार की ही होती है। लोभी अगर धन की कामना लेकर भगवान से मिलने जायेगा तो भगवान धन होकर उसको मिलेंगे तभी उसको सन्तोष होगा। इसी तरह से जो कुछ भी चाहता है उससे परमात्मा मिलते हैं तो संसार होकर मिलते हैं।

बढ़िया प्रश्न है कि हम सब प्रकार से उनके होकर रहें - एक प्रकार से नहीं, सब प्रकार से। सब प्रकार से उनके होकर रहने का अर्थ क्या है? कि उनके अतिरिक्त मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए। बड़ी भारी कसौटी है। जिसको कुछ भी चाहिए उसके लिए अपने ही में विद्यमान परमात्मा का अनुभव दुर्लभ है। अपने पर अपना अधिकार नहीं है। मुझ पर मेरा अधिकार नहीं है। क्यों? क्योंकि मैंने अपने को तो उनके समर्पित कर दिया और कोई वस्तु अपने किसी प्रियजन को दे दें तो उसके बाद, उस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं रह जाता है। जिसने अपने को ही परमात्मा को दे दिया, वह अपने पर अपना अधिकार कैसे मानेगा। और अपने पर अधिकार न मानने का अर्थ क्या होगा कि व्यावहारिक जीवन में अपना कोई संकल्प न रहे, अपना कोई सुख न रहे। हम सब प्रकार से प्रभु के होकर रहेंऋ तो जिनके होकर रहते हैं, बस उनकी कृपा का ही आश्रय हो और उनके मंगलमय विधान से ही जो हो, सो हो। वो जहाँ रखेगे, वहाँ रहेंगे, जो खिलायेंगे सो खायेंगे, जो करायेंगे सो करेंगे। तो ऐसा कौन कर सकता है? ऐसा वो ही कर सकता है जिसमें सचमुच अपनी कोई कामना, वासना शेष नहीं है। बड़ा प्यारा लगता है वह आदमी भगवान को - ऐसा मैंने सुना है।

जिसने परमात्मा की प्रियता के लिए उनके आश्रित होकर रहने में, देखे हुए संसार की चमक-दमक को छोड़ दिया, उस पर परमात्मा बहुत प्रसन्न हो जाते हैं और उस आनन्द स्वरूप में आनन्द की लहरियाँ उठती हैं, तो उस साधक के जीवन को ऐसे भरपूर बनाती हैं कि वह सब प्रकार की अतृप्ति और अभाव को मिटाकर एकदम आनन्द स्वरूप ही हो जाता है। जिस मनुष्य ने देखे हुए सुहावने-लुभावने संसार की ओर से अपने को हटाया कि नहीं-नहीं, मुझे यह नहीं चाहिए, मुझे तो उस प्यारे प्रभु की प्रसन्नता हो सो करो मेरे साथ। तो परमात्मा कहते हैं कि हे भक्त! तेरी प्रसन्नता जिसमें होगी, सो सब करूँगा मैं तेरे साथ।

स्वामीजी महाराज प्रिया-प्रियतम के लीला-विहार की चर्चा करते हुए कभी-कभी सुनाया करते थे 'जोई-जोई प्यारो करे, सोई-सोई मोंहि भावे, जोई-जोई मोंही भावे, सोई-सोई प्यारों करे।' प्रेमी कहता है कि प्यारे जो करते हैं, उसी में मुझको आनन्द आता है, वही मुझको अच्छा लगता हैं इतना ही नहीं। 'जोई-जोई मोंही भावे, सोई-सोई प्यारों करें।' जो-जो मुझे प्रिय लगता है, वही-वही प्यारे करते हैं सब प्रकार से उनके होकर रहने का पुरुषार्थ किया भक्त ने, तो उसके प्यारे जो कहते हैं उसी में उसे बड़ा आनन्द मिलता है। क्यों? क्योंकि भक्त का अपना कोई संकल्प

नहीं है, भक्त की अपनी कोई इच्छा नहीं है, उनका अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है। क्योंकि उसने सर्व-उत्पत्ति के आधार, जीवन के मूल स्रोत पर ही अपने सीमित अहम् को न्यौछावर कर दिया। तो अब उसको जो अच्छा लगता है वही भगवान करते हैं क्योंकि उसी में उनको प्रसन्नता है। वे तो आप्तकाम हैं। वे तो सत्य संकल्प हैं। वे तो सब प्रकार से पूर्ण हैं। उनको अपने लिए तो कुछ चाहिए ही नहीं।

कामनाएँ लेकर हम संसार में रहते हैं, तो उन्होंने सृष्टि के संचालन का एक मंगलकारी विधान बना दिया। हमारी किसी-किसी कामना को तो पूरा कर दिया और किसी-किसी को पूरा नहीं किया और पूति-अपूर्ति से सुख-दुःख का चित्र दिखाया। लेकिन जिसने प्रभु-प्रेम से प्रेरित होकर और अन्य किसी भी तरह से अपना परित्राण न देखकर उन महामहिम की महिमा को स्वीकार कर अपने को सब प्रकार से उन पर आश्रित कर दिया ऐसा भक्त भगवान को अत्यन्त प्रिय लगता है। भगवान उसकी प्रसन्नता के लिए, सब लीलाएँ करना शुरू कर देते हैं। तो यह अपने-पन का भाव जो है, परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है। अपने-पन का भाव कहाँ से आयेगा? मनुष्य की ओर से आयेगा। मनुष्य ने संसार में रहकर संसार को देखा। संसार की सुन्दरता, वैभव और विपन्नता को देखा। इसके अनेकों रूप अपनी आँखों देख लेने के बाद उस स्वयं प्रकाश के दिये हुए प्रकाश में, विवेक के द्वारा उसने जाना कि सचमुच कभी सुन्दर और कभी असुन्दर, कभी वैभव, कभी विपन्नता, कभी आपत्ति-विपत्ति ये जितने रूप बन रहे हैं, सब बनने बिगड़ने वाले हैं और इन बनने बिगड़ने वालों के भीतर जो सत्ता रूप से विद्यमान है, वही सदा-सदा के लिए रहने वाला है। इस प्रकार के विचारों से, सन्तों की वाणी से सुनकर, ग्रन्थों के वाक्यों के आधार पर कुछ महामानव ऐसे हुए कि जिन्होंने सब कुछ उनके अर्पित करके, अपने को उनकी कृपा के भरोसे छोड़ दिया क तुम्हें जैसे अच्छा लगे, जिसमें तुम्हारी प्रसन्नता हो सो करो। तो यह है सब प्रकार से अपने को उन पर अर्पित कर देना। मनुष्य के हृदय का यह अपनापन पवित्र हो जाता है। क्योंकि इस अपने-पन के पीछे कोई कामना नहीं है, कोई उद्देश्य नहीं है। केवल प्रेम का नाता है और जब वह उनकी प्रसन्नता के लिए ही अपने को छोड़ देता है तो प्रभु को इतना प्यारा लगता है, कि वे अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं।

एक दिन स्वामी जी महाराज कह रहे थे कि उनको तुम कृपा सिन्धु पतित पावन अथवा जगत्पति कहो तो उनको इतना अच्छा नहीं लगता है, क्यों? क्योंकि जिसकी शक्ति की कोई सीमा ही नहीं है, उसको तुम शक्तिमान कहोगे तो उससे उसको कोई खुशी नहीं होती। उनके गुणों का गान इस तरह से तरह-तरह के नाम लेकर करो तो उन्हें उसमें इतनी प्रसन्नता नहीं होती, लेकिन जब तुम उनके साथ अपनेपन का सम्बन्ध बनाते हो तो यह आत्मीयता उनको बहुत प्यारी लगती है। ऐसे अनुरागी भक्त को वे इतना अधिक प्यार करते हैं कि अपना सारा वैभव भी उस पर लुटा दें। इतने से भी सन्तोष नहीं होता तो फिर अपने को ही उस पर न्यौछावर करते हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण हम लोगों ने सुने हैं। मनुष्य के साथ अपनेपन के सम्बन्ध को कितना आदर दिया है उन्होंने। कितनी तरह से अपना मानने वाले, अपने आश्रित होने वाले भक्तों को रिझाया है।

एक लीला मैंने देखी थी एक बार। बहुत पुरानी बात है एक भक्त था, जाति का कुम्हार। बहुत प्रेमी था भगवान का। भगवान के प्रेम की बाढ़ भक्त के हृदय में आती है तो किसी भी प्रकार

की वासना शेष नहीं रहती। मनोविज्ञान में हमने यह पढ़ा कि मनुष्य के जीवन में नीरसता सताती है तो उसके भीतर काम वासना का उद्वेग होता है। व्यक्ति के भीतर जितनी नीरसता होती है, उतनी उसमें वासना उग्र होती है। इसके विपरीत जिनका सम्बन्ध प्रभु से हो जाता है और जिनके भीतर उनकी प्रीति का रस आने लगता है, उनके भीतर सब वासनाएँ अपने आप गायब होने लग जाती है। फिर वासना उनमें जगती ही नहीं है, काम उनमें रहता ही नहीं है।

तो उस कुम्हार के जीवन में जब प्रभु का प्रेम बढ़ने लगता तो उससे उसका हृदय पवित्र होने लगा, उस पवित्रता से उसमें अपने-पराए का भेद मिटने लगा। ऐसा होते-होते एक दिन प्रभु के प्रेम में मगन होकर कीर्तन कर रहा था कि इतने में उसकी स्त्री किसी जरूरी काम से उसके पास आई। उसको देखकर वह कहने लगा कि देखो, अब तुम हमको छूना मत। अब हम लोग स्त्री पुरुष नहीं है, अब तो हम भगवान के हैं। इस तरह से स्त्री पुरुष का सम्बन्ध भी उसके भीतर से निकल गया और पवित्र भाव से भगवान की भक्ति में अधिकाधिक रमने लगा।

एक दिन वह भक्त अपनी मस्ती में भगवान के गुण गा रहा था। कि इतने में उसकी स्त्री बिगड़ती हुई आई। उसने क्रोध में उसके दोनों हाथ पकड़ कर उसे हिला दिया कि यही सब करते रहोगे या घर की भी कुछ सुध लोगे? उसके छू देने पर वह चैंक उठा। सामने अपनी स्त्री को देखकर बोला कि मैंने तो तुमसे कहा था कि अब हम भगवान के बालक हैं, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध नहीं रहा। अब तुमने छू दिया तो बड़ी मुश्किल हो गई और उस भक्त ने अपने हाथ कटवा दिये। फिर अपने भजन में मस्त रहने लगा। हाथ कट गए तो अब बर्तन कैसे बने? घर में गाँव में तकलीफ होने लगी। जब बाल बच्चे भूखे मरने लगे तो भगवान से कैसे देखा जाए। वे आए कुम्हार बन कर, फटे-पुराने मैले कपड़े की पगड़ी सिर पर बाँधकर साथ में बोझ ढोने के लिए गधा लेकर आए और कहने लगे कि भाई, मेरे देश में अकाल पड़ा है। मैं बर्तन बनाना जानता हूँ हमको कोई नौकर रख लें। गाँव के लोगों ने सुना और कुम्हार के घर का रास्ता बता दिया। उसके पास आकर वही सब दोहरा दिया कि भाई अकाल के कारण कमाई करने को निकला हूँ, तुम मुझे नौकर रख लो। कुम्हार आनन्दित हो गया।

भगवान का प्रेमी जो है उसे रोटी सूझती है पीछे और भजन सूझता है पहले। तो वह कहने लगा कि अच्छा भैया, ठीक है तुम गधे को हमारे दरवाजे पर बाँध दो और आओ जरा पहले भगवान का भजन कर लें, फिर काम शुरू करेंगे। ज्योंही उसने अपने कटे हाथों से उनका आलिंगन किया कि उसको तो एकदम रोमांच हो आया। वह तो आनन्द से भर गया। चैंककर खड़ा हो गया और कहने लगा कि भैया तुम कौन हो? तुम्हारे स्पर्श मात्र से हमको इतना आनन्द आया है सच बताओ तुम कौन हो? तो भगवान बोले कि भैया मैं तो तुम्हारी ही जाति का हूँ।

इस बात की ओर स्वामीजी महाराज ने मेरा ध्यान दिलाया कि भगवान ने कहा कि मैं तुम्हारी ही जाति का हूँ। मैं सच कहता हूँ कि मैं कुम्हार हूँ। और मैं कुछ नहीं जानता भैया, मैं केवल मिट्टी का बर्तन बनाना जानता हूँ।

जिसके संकल्पमात्र से अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड की रचना हो जाती है उनको मिट्टी के बर्तन बनाने में क्या देर लगती। लेकिन वे तो अपने भक्त की खुशी से खुश थे। भक्त पाँव से मिट्टी गुँधता और वे बर्तन गढ़ देते। जब काम हो जाता तो उसके बाद उसके भजन में, उसके आनन्द में

मस्त रहते। जब वह थक जाता तो खूब प्यार करते उसको, सिर सहलाते, पीठ सहलाते। जब वह लेट जाता तो इतने प्यार से उसके चरण दबाते-दबाते उसको आराम कराते कि मैं क्या बताऊँ? कहने सुनने के लायक कुछ नहीं है। जिससे ऐसा प्यार किया और जिसने ऐसा प्यार पाया, उसको क्या अनुभव होग, सो तो हम अनुमान ही कर सकते हैं, अनुभव तो उन्हीं के पास है।

तो यह बात इस सत्य को प्रकाशित करने के लिए है कि जो सब प्रकार से उनका होकर रहना पसन्द करता है, प्रभु सब प्रकार से सचमुच उस भक्त के ही हो जाते हैं। उसकी चाकरी भी करते हैं, सेवा भी करते हैं, उसको आराम भी दिलाते हैं और उसके चरण भी दबाते हैं, उसको हर प्रकार से प्रसन्न करने की बात रहती है उधर से। और हमारी भावना जो है कि मैं सब प्रकार से प्रभु का होकर रहूँ - यह भावना तो दुर्बल होगी और बहुत सीमित होगी लेकिन केवल अभिलाषा मात्र परमात्मा को इतनी प्रिय लगती है कि वह साधक के भीतर की दुर्बल अभिलाषा को अपनी प्रियता देकर, खूब पोषित पक्का कर देते हैं। यह अपने लिए बहुत बढ़िया बात है। अगर मुझको ही अपनी सफाई करनी पड़ती तो क्या जाने हम कर पाते कि नहीं कर पाते? लेकिन हमारी दुर्बल अभिलाषा को वे अपनी प्रियता का रस देकर पूरा कर देते हैं और भक्त जब सब प्रकार से भरपूर होकर कह देता है कि हे प्रभु! तुम्हारी प्रसन्नता जिसमें हो, तुम्हें जो अच्छा लगे सो करो। तो वे भी आनन्दित होकर कहते हैं कि अब तुम जो कहो सो मैं करूँ। बड़ा आनन्द आता है एक दूसरे को। स्वामीजी महाराज तो अपने अनुभव की ही बात कहते होंगे लेकिन अपने को कभी प्रकट नहीं करते थे। इतना ही कहते कि कुछ नहीं पता चलता है कि कौन प्रेमी है और कौन प्रेमास्पद है। प्रेमी कहता है तुम मेरे प्रेमास्पद, तो प्रभु भक्त को कहते हैं तू मेरा प्रेमास्पद। तो भक्त कभी प्रेमी और प्रभु प्रेमास्पद बनते हैं तो कभी प्रभु पेरमी और भक्त प्रेमास्पद बनता है और भक्त की जो अपनी भावना है, वह तो प्रेम स्वरूप होकर उन्हीं में मिल जाती है। फिर तो दोनों को एक-दूसरे की पहचान ही नहीं रहती। वह कहेगा हम तेरे तो वे कहेंगे हम तेरे।

जनकपुर में विदाई से पहले जब बहुत बातें हो रही थीं सखियाँ बैठी थीं और सब अधीर हो रही थी। हे लालन, आप चले जायेंगे तो हम देखे बिना कैसे रहेंगे? उस समय श्री किशोरीजी की बारह बहिनें थी, अपनी और चचेरी, और सखियाँ भी बहुत-सी थीं। उन सब प्रेमीजनों को इस बात का पता था कि ये मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। एक छोड़कर दूसरा विवाह नहीं हो सकता। विवाह करने की तो कोई बात ही नहीं थी। फिर भी वे अत्यन्त अधीर होकर कहती हैं कि हे लालन, आप चले जायेंगे तो हम देखे बिना कैसे रहेंगी। हम तो किशोरीजी को छोड़कर रह ही नहीं सकेंगी, इसलिए हम आपके साथ जायेंगी और आपके महल के पीछे फूँस की कुटिया बनायेंगी और लाडिली लाल के दर्शन से हम जीवन बिताएँगी। हमें कोई सुख नहीं चाहिए, कोई सम्मान नहीं चाहिए। किसी प्रकार से हम लोगों को आप केवल अपने दर्शन से आनन्दित होने का अवसर दे दीजिए। जब उन्होंने उनकी प्रियता के लिए सब प्रकार से अपने को उनकी प्रसन्नता पर छोड़ दिया और केवल उनके प्रिय दर्शन से ही सन्तुष्ट रहकर, सब असुविधा, सब दुःख सहन करने को अपने को तैयार कर लिया तो बहुत ही प्रेम भरे हृदय से कहते हैं कि हे सखियों! मैं सब प्रकार से आपका ही हूँ, मैं आपका ही होकर रहूँगा। आपने जो किया सो किसी ने नहीं किया। क्या हो गया? और कुछ

नहीं हुआ, प्रेमी जनों ने प्रेम का नाता निभाने के लिए संसार के वैभव को ठुकरा दिया तो संसार के सृष्टिकर्ता होने से अनन्त ऐश्वर्यवान ने अपने सारे ऐश्वर्य को भुलाकर उन प्रेमी जनों पर अपने को न्यौछावर कर दिया। वो कहती हैं कि हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकतीं। सब प्रकार से हम तुम्हारी हैं अपनी शरण में रख लो। और ये कहते हैं कि हे सखियों! आपने जो किया सो किसी ने नहीं किया। सब प्रकार से मैं आपका ही हूँ। आपका ही होकर रहूँगा और मैंने ऐसा सुना है कि कुछ प्रियजनों के लिए सचमुच वे कभी मिथिलापुरी से गये नहीं। उस भाव के जो भक्त हैं वहां के वे यही भाव मानते हैं कि ये नित्य किशोर-किशोरी सदैव इसी पुरी में रहते हैं और बहुतों को प्रातःकाल जैसा उनका भाव है, जैसी उनकी सेवा है, नित्य किशोर-किशोरी के दर्शन वहाँ मिथिलापुरी में होते ही रहते हैं।

तो जिस मनुष्य ने मरणशील शरीर को लेकर, उस अजन्मा अविनाशी को प्यार करना पसन्द किया, उसका देह-धर्म छूट गया। वह मृत्यु पर विजयी हो गया। मृत्यु उसका स्पर्श नहीं कर सकती, और इस धरातल पर दो पाँव से विचरण करता हुआ जीव, प्रभु के प्रेम का प्रतीक होकर, स्वयं आनन्दित रहता है और उस आनन्द स्वरूप को आनन्दित करता है। तो जिस साधक के भीतर की यह अभिलाषा है कि मैं सब प्रकार से उनका होकर रहूँ वह साधक धन्य है। वह घड़ी धन्य हैं, जब उसके हृदय में यह अभिलाषा पैदा हुई और वे प्रभु धन्य हैं जो दीन से दीन, हीन से हीन, तुच्छ से तुच्छ साधक के हृदय की इस अभिलाषा की पूर्ति में अपने आप को न्यौछावर करते हैं।

मानव सेवा संघ और क्रियात्मक साधना

उपासना का अर्थ है ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति। स्तुति का अर्थ है ईश्वर की सत्ता औ महत्ता को स्वीकार करना।

प्रार्थना का अर्थ है उनकी कृपा की आवश्यकता अनुभव करना।

साधना का अर्थ है, बुराई रहित होना। भजन का अर्थ है - प्रभु की स्मृति का जाग्रत होना। पूजन का अर्थ है, सर्व हितकारी कार्य प्रभु की प्रसन्नता के लिए करना। यह सब स्वधर्म है। शरीर धर्म नहीं। अन्य आशा, अन्य विश्वास, अन्य भरोसा और अन्य सम्बन्ध जीवन में से निकालकर एक ईश्वर विश्वास एवं सम्बन्ध पर सम्पूर्ण जीवन को आधारित करना ईश्वर के नाते से सर्व हितकारी कार्य जीवन को आधारित करना ईश्वर के नाते से सर्व हितकारी कार्य द्वारा सेवा के रूप में प्रत्येक प्रवृति पूजा-भाव से करना अपने सहित अपना सब कुछ प्रभु के समर्पित कर उनके शरणागत होना प्रवृति में सेवा और निवृति में समर्पण योग - यह मानव सेवा संघ के अनुसार भक्ति-पंथ की साधना है। यह मानव जीवन में प्रेम तत्व की अभिव्यक्ति का मूल मंत्र है। इसको अपनाये बिना किसी भी देश, युग, मजहब, सम्प्रदाय का साधक क्यों न हो, भक्ति-पंथ में सफलता पा नहीं सकता। अतः मानव सेवा संघ के प्रणेता सन्त ने सभी के लिए भक्ति पंथ में सफलता पाने के लिए अकाट्य एवं अनिवार्य तत्वों को हमारे सामने रख दिया। किसी भी साधक को इन अनिवार्य तत्वों को अपनाकर भगवत-प्रेम से पूरिपूर्ण होने में न असमर्थता है न पराधीनता है। संघ के द्वारा उन्हीं मूलभूत साधनों का प्रतिपादन किया गया है जो प्रत्येक युग, वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय एवं मजहब के साधकों के लिए अनिवार्य है तथा प्रत्येक साधक, प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनता पूर्वक उन्हें अपनाकर सिक्र हो सकता है। जैसे, जीवन के

सत्य को स्वीकार करना, जाने हुए असत् के संग का त्याग करना, निज विवेक का आदर करना, प्राप्त बल का सदुपयोग करना, प्रभु विश्वास के विकल्प न करना, आत्म निरीक्षण करना, व्यकितगत सत्संग करना सही प्रवृत्ति एवं सहज निवृत्ति को अपनाना, मूक सत्संग एवं समर्पण योग में रहना, सुख-दुःख को साधक सामग्री मानना, इन्हें जीवन नहीं मानना, सुख में सेवा तथा दुःख में त्याग को अपनाना, सुख-दुःख से अतीत के जीवन में चिरशान्ति पाना, कर्त्तव्यनिष्ठ होना। अचाह, अकिंचन एवं अप्रयत्न होकर भौतिकवादी-विश्व प्रेम से, अध्यात्मवादी नित्य जीवन से तथा ईश्वरवादी प्रभु-प्रेम से अभिन्न होगा। अतः सेवा, त्याग और पे्रम को मानव-जीवन का सुन्दरतम चित्र बताया गया। अचाह, अकिंचन एवं अप्रयत्न हुए बिना किसी भी साधक के लिए सिद्धि संभव नहीं। अचाह, अकिंचन एवं अप्रयत्न होना स्वधर्म है इसमें किसी प्रकार की पराधीनता नहीं है।

संसार की निन्दा करते हैं, परन्तु छोड़ते नहीं हैं, भगवान की बहुत स्तुति करते हैं परन्तु उनको पसन्द नहीं करते। जो अनुभव-सिऋ है उसके लिए प्रमाण नहीं चाहिए। जो श्रद्धा से साध्य है उसमें विकल्प नहीं करना चाहिए। यह अनुभव-सिऋ बात है कि पराश्रय में जीवन नहीं है और यह श्रद्धा की बात है कि जीवन अपने में है। अनुभव से लाभ उठाओ। क्या करो? पराश्रय से सुख मत लो, नहीं तो दुःख नहीं जायेगा। सुख की वासना से जन्म होगा और दुःख भोगना पड़ेगा। सत्ता रूप में सत्ता है परमात्मा की उसमें कल्पित हूँ मैं और जगत्। जो कल्पित है उसे चाहिए कि परमात्मा की सत्ता में आस्था कर ले। कल्पित को कल्पित में आस्था करनी नहीं चाहिए, सेवा करनी चाहिए। जगत् को अपना मानने से जगत् मिल नहीं जाता और परमात्मा को नहीं मानने से परमात्मा अलग नहीं हो जाता। अतः परमात्मा में आत्मीय सम्बन्ध मानने से परमात्मा मिल जाते हैं और जगत् को अपना न मानने से जगत् छूट जाता है।

प्रवचन 69

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनों और भाइयों!

मानव सेवा संघ की प्रणाली के अनुसार योग परमात्मा की सामर्थ्य है, ज्ञान उनका स्वरूप है और प्रेम उनका स्वभाव है। तो स्वभाव, स्वरूप और सामर्थ्य - यह सब बहुत प्रकार के शब्दों का प्रयोग न करके हम लोग केवल एक ही बात कह सकते हैं कि ये सब उनकी विभूतियाँ है और ईश्वर की विभूतियाँ ईश्वर के समान ही अनन्त हैं। अब स्वामीजी महाराज ने अपनी खोज के आधार पर हम लोगों के विकास की जो चरम सीमा बताई है, वह है अनन्त की विभूतियों के समान अनन्त हो जाना। जीव कभी ब्रह्म हो जायेगा, ऐसा स्वामीजी महाराज ने नहीं कहा है और लोग क्या कहते होंगे उसका मुझको पता नहीं है।

बम्बई में एक बार एक बड़े सन्त से बातचीत हो रही थी महाराज जी की, तो उन्होंने पूछा - 'स्वामी जी महाराज! ब्रह्म का बोध किसको होता है? यह प्रश्न किया पूछने वाले ने, तो स्वामीजी महाराज ने बहुत प्यार-दुलार से उनको थपथपाया और कहा कि अरे यार! ब्रह्म का बोध ब्रह्म को होता है। इसका मतलब क्या हुआ? कि हम सब लोगों में से जो भाई बहन जिज्ञासु हैं, उनको इस बात में बहुत ही निःसंशय हो जाना चाहिए कि उनके अहम् रूपी अणु का विकास कहाँ तक होगा कि उसके सब विकार नष्ट हो जायेंगे। असत् में

सद्बुद्धि करने के फलस्वरूप जो दोष पैदा हुए हैं, वे दोष मिट जायेंगे।

असत् में सद्बुद्धि-क्या मतलब है? कि दृश्य में सद्बुद्धि, शरीर में सद्बुद्धि। सद्बुद्धि का अर्थ है कि सत्य करके मानना। शरीर सत्य है, संसार सत्य है; शरीर और संसार के संयोग से जो सुख मिलता है वह सुख सत्य है - ऐसा कहकर प्रमाद काल में हम जो दृश्य में सद्बुद्धि रख रहे थे, सत्संग के प्रभाव से उसको मिटा देना अर्थात् यह सब सत्य नहीं है, स्थायी नहीं है, नित्य नहीं है - ऐसा करके जान लेना। इस सत्संग के प्रभाव से अहम् रूपी अणु में से सब प्रकार की विकृतियों का नाश हो जाता है। शरीर को सत्य मानने से, संसार को सत्य मानने से, सुखद परिस्थितियों को सत्य मानने से, साधक के जीवन में अनेक प्रकार की विकृतियों की उत्पति हो जाती है और जब सत्संग के प्रभाव से इनमें से सद्बुद्धि को छोड़ दिया जाता है, अपनी ओर से निकाल दिया जाता है, तब उसके बाद अहम् रूपी अणु में से विकृतियों का नाश हो जाता है। जब विकृतियों का नाश हो जाता है, जब केवल शुऋ अहम् रह जाता है, तो उस अहम् में अपने आप ही उस विचार का उदय होता है, जो उसे नित्य तत्व का बोध करा देऋ उस अप्रत्याशित गति का आरम्भ होता है, जो अविनाशी से अविनाशी योग करा देऋ उसमें उस पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति होती है जो भक्त को भगवान से मिला दे - ये सब होता है। तो भगवान से मिला दे इसका मतलब क्या होता है। इसका मतलब यह हुआ कि अहम् रूपी अणु जिस धातु से बना हुआ था उसमें ईश्वरीय प्रेम के प्रवाहित होने से उसके दोष युक्त जितने विकार पैदा हुए थे उन सबों के हट जाने के बाद वह अहम् स्वयं ही गलकर प्रेम के धातु में बदल गया तो क्या हो गया? कि प्रेम रह गया और प्रेमी उसके बीच में से लुप्त हो गया? कि प्रेम रह गया और प्रेमास्पद रह गया और प्रेमी उसके बीच में से लुप्त हो गया। यह अहं रूपी अणु का विश्लेषण जब होता है, तो इस तरह से उसका अन्तिम विकास माना जाता है।

महाराज जी ने कभी यह नहीं माना कि जिज्ञासा पूरी हो जायेगी तब क्या हो जायेगा? जीव तो है वह ब्रह्म हो जायेगा - नहीं, ब्रह्म नहीं हो जायेगा, अनन्त नहीं हो जायेगा, ईश्वर नहीं हो जायेगा, ईश्वर की विभूतियों से अभिन्न हो जायेगा। भक्त होकर भगवान के प्रेम से अभिन्न हो जायेगा। जिज्ञासु होकर नित्य तत्व के प्रकाशमय ज्ञान से अभिन्न हो जायेगा। इस प्रकार से जो ईश्वर की विभूतियाँ हैं, उन विभूतियों के रूप में हमारा आपका अहं रूपी अणु परिवर्तित होकर उसमें मिल जायेगा। ऐसा स्वामीजी महाराज ने व्यक्त किया है और मानव सेवा संघ की प्रणाली में इसे ही विकास की चरम सीमा माना गया है।

तो अब आज की अपनी दशा को सामने रखकर हम लोग देख ले किस तरह से हम मिलना चाहते हैं। स्वामी जी महाराज ने जगह जगह पर ऐसे लिखाया है कि साधक की साधन-तत्त्व से अभिन्नता होती है और साधन-तत्व में और साध्य में कोई भेद नहीं रहता। जब प्रेम और प्रेमास्पद - ये ही रह जाते हैं, प्रेमी कहलाने वाला लुप्त हो जाता है तो प्रेम और प्रेमास्पद का नित्य विहार होता है। उसको गौरी-शंकर का विहार, सीता-राम का विहार और राधेश्याम का विहार ऐसे कहकर महाराज ने वर्णन किया है। इन सबका अर्थ मैंने यह निकाला कि आज जो अहम् है मेरा, जिसके आधार पर मुझसे यह अभिव्यक्ति निकलती रहती है कि मैं साधक हूँ, मैं रास्तें में हूँ, मैं खोज में हूँ, मैं चिन्तन में हूँ, मैं सत् चर्चा में हूँ - यह सब ध्वनि निकलती रहती है। जिसमें से यह सब ध्वनि निकल रही है, उसके विकास की

अन्तिम सीमा कहाँ पर पहुँचेगी, जहाँ पर सब के साथ जुड़ा हुआ यह मैं खत्म हो जायेगा। विकास होता जायेगा, इसका प्रमाण क्या है? कि मन की बात अगर पूरी नहीं हुई, तो क्षोभ नहीं आयेगा। मन की बात अगर पूरी हो गई तो यह बड़े हर्ष की बात है - ऐसा नहीं मालूम होगा। क्यों? क्योंकि अहम् रूपी अणु का विकास हो रहा है। इसका अर्थ यह है कि आप में से, मुझ में से अर्थात् अहम् रूपी अणु में से संकल्प की पूर्ति-अपूर्ति का महत्व खत्म हो रहा है। यह विकास तो समझ में आयेगा ना?

जीव का इतना विकास हो गया कि वह ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न हो गया - यह बात हम लोगों की समझ में आने की नहीं है जिन महापुरुषों का यह विकास पूरा हो गया, उन महापुरुषों ने उसको अनुभव किया। हम वर्णन करें तो उस वर्णन का कोई अर्थ नहीं निकलेगा। अपनी ओर से मैं सोचती हूँ तो मुझे यह लगता है कि सत्संग के प्रभाव से अहम् रूपी अणु में परिवर्तन आया, उसमें कठोरता और विकृति का नाश हुआ और वह शुक्रता की ओर विकसित हो रहा है - इसका प्रमाण हम लोगों के पास क्या है? कि अगर मनचाही कोई बात पूरी हो गई और उससे हम एकदम हर्ष में भर गये और मन की बात कोई पूरी नहीं हुई और उससे हम अत्यन्त खिन्न हो गये तो इसका अर्थ यह है कि अभी तक मुझ पर असत् का रंग चढ़ा हुआ है। ओर मन की बात पूरी हो गई तो भी आपके सन्तुलन में कोई फर्क नहीं पड़ा, तो इसका अर्थ है कि आपका विकास हो रहा है।

हमारे व्यक्तित्व की एक सहज स्थिति है। उस सहज स्थिति में संकल्प पूर्ति के लिए हर्ष से कोई लहर पैदा न हो - उसको मनोवैज्ञानिक भाषा में मुनपसपइतपनउ कहते हैं उस सहज स्थिति में संकल्पपूर्ति के सुख से कोई हलचल पैदा न हो, तो इसको सत्संग का प्रभाव माना जाए और मन की बात कोई पूरी नहीं हुई कोई बहुत बड़ी घटना हो गई, उस परिस्थिति में भी हमारा सन्तुलन बना रहे, हमारी सहज स्थिति बनी रहे, तो हम कहेंगे कि अहम् रूपी अणु में इतना विकास हो रहा है कि वह बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से क्षुब्ध नहीं हो रहा है। स्थिरता की ओर जा रहा है, योगवित् होने की तरफ उसकी गति हो गई, ऐसा हम लोगों को जानना चाहिए और मानना चाहिए।

ऐसे अवसर आते हैं जीवन में कि अधिक से अधिक संकल्पों की पूर्ति का सामना अपने पास जुड़ा हुआ हो, ऐसी परिस्थिति में दस बात आपके मन में अनुकूल हो गई, एक अगर प्रतिकूल हो गई, तो धरती, आसमान में आग लग जाती - यह क्या हो गया भाई? एक सैकिण्ड के लिए कहीं ठहराव नहीं दिखाई देता। उथल-पुथल, रोना-गाना, चिल्लाना, धूम मचाना, आपे से बाहर हो जाना और वायुमण्डल में एकदम हिन्द महासागर की लहर उठा देना - यह मैंने देखा है। यह साधक की दशा नहीं है। बेचारे जिन भाई-बहिनों के जीवन में संकल्पपूर्ति की ज्यादा सुविधा नहीं है, वे उतना आपे से बाहर नहीं होते हैं। लेकिन जिनको आशा रहती है, जिनको इस प्रकार का एक आभास रहता है कि मैं कोई खास आदमी हूँ मेरी हर बात मानी ही जानी चाहिए, मेरा हर हुकुम पूरा होना ही चाहिए, इस तरह की उनकी जो दशा होती हे, उसे मैं कहूँगी कि अहम् रूपी अणु की वो विकृत दशा है। मन की बात पूरी नहीं हुई तो उसमें मुनपसपइतपनउ कपेजनतइ हो गया, व्यक्तित्व की सहज स्थिति में संक्षोभ पैदा हो गया। मनो विज्ञान में दोनों ही बातों को संक्षोभ कहा जाता है - हर्ष के मारे हलचल पैदा हो गई एक दम उसको भी संक्षोभ कहा जाता है और संकल्प पूरा नहीं

हुआ तो भीतर से क्रोध आ गया, बेचैनी पैदा हो गई तो उसको भी संक्षोभ कहा जाता है।

प्रकृति का विधान है कि आपने संकल्प पूरा करके भी संकल्प पूर्ति के सुख का राग नहीं छोड़ा तो प्रकृति आपके हित-चिन्तन से प्रेरित होकर आपके संकल्प पूर्ति के संयोग में बाधा खड़ी करेगी। अब आपूर्ति-काल में साधक का काम क्या है? कि आपूर्ति-काल को देखे तो हर्षित हो जाए, कि अच्छा, यह मंगलकारी प्रभु का मंगलकारी विधान है। संकल्प पूरा करते-करते हमने अपने राग को नहीं छोड़ा तो हितकारी प्रकृति ने अब संकल्प की आपूर्ति-काल का समय ला दिया है। तो अब क्या करना चाहिए? आपूर्ति में क्षुब्ध न होकर के शान्त रहते हुए संकल्प की निवृत्ति की तैयारी कर लेनी चाहिए। बस छुट्टी मिल जायेगी सब तरफ से। ऐसा हो जायेगा, सहज से हो जायेगा। तो मैं कहती हूँ कि भगवान का दर्शन मुझे हो गया और भगवान से मेरी बातचीत हो गई और अब तो हम सन्त कबीर की भाँति भगवान के प्रेम में भुला गये हैं। अब तो भगवान ही मेरी बंतम करने के लिए, मेरी रक्षा करने के लिए मेरी पीछे-पीछे फिरते हैं - यह बात कहने की घड़ी कब आयेगी वो तो भगवान जाने। लेकिन सत्संग में बैठने का, सत् चर्चा करने का, सन्त की शरण में आने का कम से कम तात्कालिक प्रभाव तो इतना होना चाहिए कि हम लोग अपने आसपास के वातावरण में घटित होने वाली घटनाओं से अपने में संक्षोभ न पैदा होने दे। तो क्या होगा? अगर ऐसा होता है, तो हमें कहना चाहिए कि अहम् रूपी अणु का विकास हो रहा है। किस ओर विकास हो रहा है? भोग के नाशकारी मार्ग से हटकर योगवित् होने की ओर विकास हो रहा है। मनचाही बातों के न होने पर जो शान्त रह सकता है, उसमें योगवित् होने की सामर्थ्य आ जाती है। बाहर की उथल पुथल से जो व्यक्ति अपनी सहज स्थिति से डोलता नहीं, उसमें शान्त, स्थिर स्थित रह सकता है, उसमें शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ सकती है। और थोड़े-थोड़े मान अपमान के प्रभाव पर हम बिक जाते हैं जरा सा किसी ने मेरे खिलाफ कह दिया तो उसकी जड़ काटने के लिए कटिबऋ हो गये। थोड़ा सा मुझको खुश करने के लायक कोई बात कह दिया तो उस पर लट्टू हो गये। उसकी खातिरदारी करने में अपना नियम, संयम, मर्यादा सब भूल जायेंगे। इस तरह की दशा जो है हमारी यह क्या प्रमाणित करता है? कि मुझ पर इस दृश्य जगत् का बहुत गहरा रंग चढ़ा हुआ है।

सत्संग में हम सब लोग आये है और साधन के पथ पर अपनी दुर्बलताओं से संघर्ष करते हुए ैजतनहहसम करते हुए आगे बढ़ने की चेष्टा में लगे हैं तो हम सब लोगों के लिए करणीय क्या है? विचारणीय क्या है? करणीय-विचारणीय यह है कि भाई आज, यदि मैंने यह पाठ लिया कि शरीर ओर संसार का प्रभाव मुझ पर नहीं रहना चाहिए तो क्या होना चाहिए, अगर इसके प्रभाव से हम प्रभावित नहीं होंगे, तो साधन-सामग्री के रूप में इसका उपयोग कर सकेंगे और प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं, तब क्या होता है? तब उपयोग नहीं कर सकते हैं तब वस्तुओं का संग्रह होने लगता है। तब शरीर की पूजा होने लगती है।

हम सब भाई, बहनों को जिन्होंने सत्संग को जीवन में महत्व दिया है, उसको प्रधानता दी है, उनको इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि सत्य के संग का प्रभाव जोरदार है, या देह के संग का या फिर धन के संग का प्रभाव जोरदार है। यदि सचमुच इस दिशा में हम लोग आगे बढ़ते हैं, तो मैं कहती हूँ कि अहं रूपी अणु का सत्य की और विकास हो रहा है। परमात्मा के प्रेम के रूप में बदलने जा रहा है। इस दिशा में हमारी कितनी

प्रगति हो रही है? यह सब अपने को देखना चाहिए। समाधि लग गई कि नहीं और दृष्टि, दृश्य और द्रष्टा की त्रिपुटी का नाश हुआ कि नहीं यह तो दूर की बात है। अभी अभी की, तत्काल की बात देखें हम लोग, किखाना ज्यादा प्रिय लग रहा है या सोना ज्यादा प्रिय लग रहा है। परपीड़ा में शामिल होना ज्यादा अच्छा लग रहा है या अपने संकल्प-पूर्ति के सुख को छोड़कर अन्य के हितकारी संकल्प की पूर्ति में भाग लेना ज्यादा अच्छा लग रहा है। इससे यह पता चल जायेगा कि सचमुच हम लोग उत्थान की ओर जा रहे है या जहाँ के तहाँ अटके हुए हैं।

अपने अहम् रूपी अणु के विकास के सम्बन्ध में हम लोगों को बहुत जागरूक रहना चाहिए। रात्रि का समय हो चाहे प्रातःकाल का समय हो, चाहे आधी रात के समय नींद खुल जाए, तब जो भी कुछ समय अपने पास एकान्त में शान्ति में मिल जाए उस शान्त एकान्त की घड़ी में देखना चाहिए कि हम किस तरफ जा रहे हैं। तो इससे आपको बहुत बल मिलेगा, रास्ता मिलेगा।

ईश्वर-विश्वासी साधक को जीवन में अपना कोई संकल्प इतना जबरदस्त पकड़ करके रखना ठीक नहीं है। क्या जाने विधान की दृष्टि में मेरे लिए क्या हितकारी है। अगर कोई बात मेरे जानते बहुत जरूरी लग रही है और नहीं पूरी हो रही है। तो सावधानी तो मुझे अवश्य रखनी है, लेकिन उसका क्या परिणाम हो रहा है, उसमें बहुत सन्तुलित रहना चाहिए। यह तो सभी लोग चाहते हैं, सभी महापुरुषों ने बताया है कि भाई! करने में अपना अधिकार है और सफलता भगवान के हाथ है। तो क्या हो रहा है, क्या नहीं हो रहा है - इन बातों से अपने को उलझना नहीं चाहिए। और मैं देखती हूँ कि जब प्राकृतिक विधान पर दृष्टि चली जाती है, प्रभु के सर्वहितकारी विधान पर दृष्टि चली जाती है तो भीतर बहुत शान्ति रहती है।

मैंने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकाण से अपना विश्लेषण करके देखा है, जो कि सार्वजनिक सत्य है कि यदि आप होने वाली घटनाओं को महत्व नहीं देते है, अपनी सहज स्थिति में शान्त होकर रह सकते हैं, तो आपके विचार इतने स्पष्ट हो जाती हैं कि किसी के साथ किसी प्रकार का व्यवहार करने में आप प्रेम और सावधानी के खिलाफ नहीं कर सकते। प्रियता भी बनी रहेगी, सावधानी भी बनी रहेगी, कोई गड़बड़ी नहीं हो सकती है और व्यक्ति संकल्प-आपूर्ति से क्षुब्ध हो जाए कि मेरे को कोई चीज ही नहीं समझता, मेरा कोई स्थान नही नहीं है, मेरा कोई महत्व ही नहीं है, मुझको कोई कुछ गिनता ही नहीं है। हम तो इतना करके छोड़ेंगे, हम तो इतना करके ही रहेंगे - इस प्रकार की बात अगर आ जाती है। तो डपदक इतना ब्वदनिम हो जाता है बुद्धि इतनी सीमित हो जाती है कुण्ठित हो जाती है कि एक गलती के प्रभाव से जो एक संकट आया था। उस संकट से अस्त व्यस्त हो जाने के कारण हजार संकट आदमी मोल ले लेता है। यह दशा हो जाती है। तो सत्संग का प्रभाव अचूक है, जिस किसी ने किया वह अवश्य ही सफल हुआ।

स्वामीजी महाराज ने कहा कि एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है। एक बार किसी ने परम प्रेमास्पद से आत्मीय सम्बन्ध को स्वीकार किया तो वह सम्बन्ध उसको परम प्रेमास्पद के प्रेम में मिला करके ही खत्म होगा। बीच में कहीं वह छोड़ेगा नहीं आपका साथ। कभी नहीं। तो एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है। कितना अच्छा होता कि हम सब लोग अपनी वर्तमान दशा में जहाँ हैं वहीं से आगे कदम बढ़ाने के लिए किसी

भी रूप में किसी एक सत्य को स्वीकार कर लेते तो अभी से इसी क्षण से हमारी आपकी प्रगति आरम्भ हो जाती। घटनाओं का प्रभाव, परिस्थितियों का प्रभाव, इच्छाओं की पूर्ति अपूर्ति का प्रभाव, तो तत्काल ही खत्म हो जाना चाहिए। हर प्रकार से अचाह और अकिंचन हम हो गए कि नहीं इसका विश्लेषण जरूरी नहीं है। लेकिन होने वाली घटनाओं को, आने जाने वाले दृश्यों को निस्सार जानना- यह बहुत जरूरी है। उसकी निस्सारता से ही अपने में यह बल आता है कि उसके बनने-बिगड़ने की परवाह नहीं करते।

स्वामी जी महाराज ने एक घटना सुनाई थी हम लोगों को, एनीबेसैन्ट के आश्रम की घटना, कि आग लग गई और करीब सवा लाख डेढ़ लाख की सम्पत्ति जल गई। तो सब लोग, आश्रम वासी लोग घबड़ा गये। माता जी अब क्या होगा? अब क्या होगा? माताजी चुपचाप गंभीर, देख रही हैं दृश्य सब। कई घण्टों के बाद दो-चार दिन तो नहीं बीते, दो चार घण्टे बीते होंगे, कोई व्यक्ति आया और तीन लाख की सम्पत्ति खर्च करने के लिए माताजी से कहने लगा कि अच्छे काम में यह धन लगा दीजिये। देने वाला तो चला गया। माताजी अकेले में उमड़े हुए हृदय से परमात्मा से कहने लगी। कि अरे भाई! इतनी जल्दी क्या थी? इतनी जल्दी आपने क्यों भेज दिया? थोड़ा ठहरते, हमारी क्या दशा हो रही है उसको जरा हम और देखते।

ईश्वर विश्वासी निःस्पृह सेवा भावी होते हैं। वे इस प्रकार की प्रतिकूल घटनाओं में भी विचलित नहीं होते कि हाय! अब क्या होगा? अरे अब क्या होगा? अगर मैंने अपना अहम् जोड़ा होगा सेवा कार्य के साथ, संस्था के साथ, आश्रम के साथ अपना अहम् लगाया होगा कि मेरे करने से चल रहा है मेरे सँभालने से सँभल रहा है तो कोई प्रतिकूलता आयेगी, घाटा लगेगा तो हमारे होशहवास गुम हो जायेंगे। मैंने अपने को परमात्मा का सेवक माना होगा। मालिक की दी हुई सम्पत्ति का साधन दृष्टि से उपयोग करना है मुझे ऐसा अपने को माना होगा, तो वे आर्थिक क्षति से अनजान हैं? मालिक क्या उस क्षति की पूर्ति में असमर्थ हैं? जी- नहीं है मालिक अनजान भी नहीं है और असमर्थ भी नहीं है। ये बातें हम लोगों पर यह प्रकाश डालती है कि हम इतने उच्च कोटि के साधक अभी तक नहीं बन सके कि राजकुमार सिद्धार्थ की तरह एक मृतक को देखा, तो सब जीवित शरीरों में मृत्यु का दर्शन हो गया। मान लीजिए इस कोटि के साधक हम नहीं हुए तो हम जिस स्तर के हैं उस स्तर से हमारे विकास के लिए परमात्मा ने इन्तजाम कर दिया कि भाई प्रवृति का राग नहीं छोड़ सकते तो मोह का कुटुम्ब का छोड़कर भगवत् नाते आश्रम के कुटुम्ब में रहो। कमाई हुई सम्पत्ति का लोभ छोड़ दो, तो सार्वजनिक सम्पत्ति के ट्रस्टी बनकर काम करो। किसने किया यह इन्तजाम? प्रकृति ने किया है, परमात्मा ने किया है। एकदम से सहारा छोड़ने का साहस तुम में नहीं है, तो व्यक्तिगत सम्पत्ति, उसका संग्रह और लोभ छोड़ दो और राग-निवृत्ति के लिए सार्वजनिक सम्पत्ति के ट्रस्टी बनकर काम करो। यह इन्तजाम हमारे उसी मालिक ने किया जिसको मेरा विकास अभीष्ट है। ऐसा जब हम करते हैं तो हानि और लाभ से व्यक्तित्व में सन्तुलन खोएगा नहीं। इतनी छोटी-छोटी बातों से अहम् रूपी अणु की विकृति का नाश होता, उसमें उदारता आती है, उसमें निर्दोषता आती है, उसमें कोमलता आती है और वो जब शुक्र हो जाता है, बिल्कुल शुक्र हो जाता है तो अनन्त की विभूतियों से मिलकरके अनन्त के समान अनन्त हो जाता है।

अनित्य तत्व भी नित्य प्रेम के धातु में बदल जाते हैं। यह इतिहास प्रसिऋ सत्य है।

मीराजी द्वारिकाधीश में विलीन हो गई यह कलियुग के भक्त की चर्चा है इतिहास प्रसिऋ सत्य है। ऐसे अलौकिक तत्व को अपने में रखते हुए भी हम संसार की ठोकरें खाते फिरते हैं, अपमान सहते फिरते हैं, दुःखी होते फिरते हैं - यह बड़े दुःख की बात है। इसको हम सब लोग छोड़ दें और सचमुच प्रभु के प्रेम का पात्र बनना चाहते हैं तो जहाँ हमारा कदम है जितना विकास अब तक हो चुका है, उसके आगे के लिए जो कर सकते हैं, करते जाएँ पात्रता प्राप्त होते ही उनके प्रेम की लहरियों का स्पर्श हमें अनुभव होने लगेगा और वह जब आ जाता है, उनकी स्मृति की मधुरता से जब जीवन भर जाता है तो संसार की विस्मृति अपने आप हो जाती है। फिर भक्त और भगवान मिलकर एक हो जाते हैं।

प्रवचन 70

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनों और भाइयों!

हम लोग सत्य की चर्चा करने बैठे हैं। चर्चा चर्चा है। उसका अनुसरण जब हम करते हैं तब वह सत्संग कहलाता है। सतवाणी में मैंने ऐसा सुना - एक बार महाराज जी ने कहा कि एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है, बार-बार सत्संग की जरूरत नहीं पड़ती। एक बार यदि सत्य को किसी रूप में हमने स्वीकार कर लिया तो वह सदा के लिए हो जाता हे। सुना है मैंने, आनन्दमयी माँ के पास भी अगर कोई साधक जाता है तो पहले वे पूछ लेती हैं कि तुमने गुरु बनाया है? अगर वह कहे कि हाँ तो उसको वह सलाह देती है कि तुम्हारे गुरु ने जो बताया है उसी को करो। मैंने शबरी जी की कथा सुनी है, उनके गुरु मतंग ऋषि ने कह दिया था कि शबरीजी! मेरा तो अब शरीर छोड़ने का समय आ गया है, आप इसी आश्रम में रहियेगा, भगवान यही मिलेंगे आपको। तो बातचीत ही है न। ऐसी बातचीत कितनी बार हम लोगों ने की है। गुरु ने ऐसे कह दिया और उन्होंने पकड़ लिया, तो सारी जिन्दगी हम लोगों की तरह appointed hour नहीं पूछा कि कौन तिथि को, कौन घड़ी में कितने बजकर कितने मिनट पर आयेंगे सो नहीं पूछा। केवल सुन लिया कि गुरु ने का है कि आप यही रहियेगा। इसी आश्रम में भगवान यहीं मिलेंगे आपको। तो प्रभु आ रहे है, प्रभु आ रहे हैं, ऐसी अखण्ड प्रतीक्षा कि सन्ध्या समय दीपक जला के कुटिया के दरवाजे पर बैठ रही है चटाई बिछा के कलश में जल रखकर फल दोने में भर के। तो प्रभु आ रहे हैं, अब आ रहे हैं, अब आ रहे हैं करते-करते सन्ध्या का सबेरा हो जाता है उनको पता ही नहीं चलता कि कब रात बीत गई। तो उस श्रद्धा ने गुरु के वाक्य की स्वीकृत ने उनको भगवान से मिला करके ही छोड़ा। प्रभु से मिलकर इस पार्थिव शरीर का अन्त करते ही वे अनन्त से मिलकर अनन्त हो गई। जब तक ऐसा नहीं हुआ, तब तक एक बार का सुना हुआ गुरु का वाक्य उनके साथ रहा। तो महाराज जी ने ऐसे-ऐसे अनमोल वचन हम लोगों को सुनाये, एक बार का सुना हुआ सदा के लिए हो जाता है।

अब एक और शिष्य की कथा सुनिये! साधक थे, गुरु के पास गये। यह कल्पना नहीं है, महाराज जी की जानी हुई कथाएँ है। बहुत दिनों तक उन्होंने गुरु की सेवा की, पात्रता प्राप्त करने के लिए। पहले के लोग जाकर के गुरु से प्रश्न नहीं करते थे, उन पर दबाव नहीं डालते थे कि मुझको शिष्य बना लो। प्रतीक्षा करते रहते थे कि कब गुरु

मुझे शिष्य बनाने के योग्य समझेंगे। जब दीक्षा देंगे तब मैं जाऊँगाा। तो वो गुरु की सेवा में रहे, कुछ समय बीता तो गुरु ने बुलाया उनको और मन्त्र दे दिया। शिष्य की बनावट के अनुसार निराकार सर्वव्यापी महाराज ब्रह्म की उपासना का मन्त्र उनको दे दिया। कह दिया के सिवाय ब्रह्म के और कुछ नहीं है। जब जाने लगे वापस तो गुरु ने फिर से बुलाया ओर कहा कि बेटा देखो जो गुरु का मंत्र होता है वह किसी को बताया नहीं जाता। शिष्य को बड़ा आश्चर्य हुआ। आश्चर्यचकित होकर गुरु की ओर देखने लगा, कहने लगा महाराज! आपने कहा कि सिवाय ब्रह्म के कोई और है नहीं तो मैं किससे कहूँगा? आप मना कैसे कर रहे हैं कि किसी को कहना मत ओर तो कोई है ही नहीं तो मैं किससे कहूँगा? तो कहने के लिए कोई नहीं हैं मुझको तो किसी से नहीं कहना है। एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है और हम लोग साल में दो चार बार आयोजन जो कर रहे हैं, बैठकर सत् की चर्चा कर रहे हैं, भगवत चर्चा कर रहे हैं, यह क्या है? बार-बार कहने की और बार-बार सुनने की क्यों जरूरत पड़ रही है? तो मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार यह जो सामूहिक रूप से बैठकर सत्य पर विचार करने की बात है वह सत्संग नहीं है, यह सत् की चर्चा है। हम लोग तैयारी कर रहे हैं, विचार को स्पष्ट कर रहे हैं, साफ कर रहे हैं। जिस दिशा में अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर सकें, उस समाधान की चर्चा कर रहे हैं। जहाँ पर अपने जीवन में साधन के जिस स्तर पर अपने में रुकावट मालूम होती है उस रुकावट का कारण खोज रहे हैं, उसके निवारण के उपाय सोच रहे हैं। यह सब साधक के जीवन के लिए आवश्यक बात तो जरूरी है, परन्तु ऐसा समझना चाहिए कि अभी तक हमारी तैयारी पूरी नहीं हुई। इसीलिए बार-बार कहना भी है बार-बार सुनना भी है और बार-बार विचार भी करना है। अन्यथा एक बार का किया हुआ सत्संग सदा के लिए हो जाता है। वह साधक का साथ छोड़ता नहीं है। उसके साधन का निर्माण जब हो जाता है, साधक अपने द्वारा किसी सत्य को स्वीकार कर लेता है तो उस स्वीकृति मात्र से साधक के स्वतः अपने ही जीवन में अपने आप उन्नति होती जाती है, उसे शान्ति मिलती जाती है और बिना प्रयास किए उसके सामने अन्तःकरण के पर्दे हटते चले जाते हैं। उसे सत्य का अधिकाधिक निकट अनुभव होने लगता है, इसी कारण फिर वह किसी से न तो कुछ पूछता है, न किसी से कुछ कहता है, न किसी का कुछ सुनता है। तो इस प्रकार की एक पकड़ होती है सत्य की, कि साधक को वह बरबस अपनी ओर खींच लेता है।

हम सभी साधक समुदाय, भाई-बहिन नये पुराने जो भी इस ज्ञान यज्ञ में सम्मिलित हुए हैं, हम लोगों का अपना एक वर्तमान का कर्त्तव्य हो गया है। हमारी अपनी एक जवाबदेही हो गई। वह क्या? कि जो भी चर्चा हम करते हैं, सुनते हैं सत्संग की बैठक पूरी हो जाने के बाद जगह-जगह निवास स्थान में जहाँ भी हम ठहरे हैं, थोड़ी देर के लिए चुप होकर, शान्त होकर अपने सम्बन्ध में सोचना चाहिए, अपनी दशा को मिटाने के लिए जो कुछ सुना है उसमें से कौन सा ऐसा उपाय है जो अभी हम कर सकते हैं - ऐसा चुनना चाहिए, जिनती बातें शास्त्रों में लिखी गई हैं, कोई एक साधक सभी शास्त्रों को न पढ़ सकता है न समझ सकता है, न सबको अनुसरण कर सकता है। संतजन जितनी बातें हम लोगों को बताते हैं, उन सारी बातों का अनुसरण कोई एक साधक एक जीवन में न समझ पायेगा न कर पायेगा और न उसको जरूरत है।

महाराज कभी-कभी उदाहरण देते तो कहते कि कोई रोगी किसी औषधालय में जाए तो वहाँ अनेक प्रकार की दवाइयाँ हैं अगर सब दवाइयों को खाना शुरू कर दे तो उसका रोग छूटेगा? वह जियेगा कि मरेगा? जी? मरेगा। तो इसी प्रकार संसार में विभिन्न बनावट के साधक हैं रुचि, योग्यता, परिस्थिति, तैयारी, समझदारी सब एक-दूसरे से भिन्न हैं तो हरेक साधक के लिए कोई एक ही साधना उपयुक्त हो सकती है और एक ही से उसका कल्याण हो सकता है। हाँ जीवन का विधान इतना सुन्दर है कि किसी एक ही साधना के द्वारा जब उसे सिद्धि मिलेगी तो सिद्धि में उसको सब बातें मिलेगी जो किसी भी सिऋ पुरुष को मिलती हैं। योग की सामर्थ्य भी मिलेगी बोध का आनन्द भी मिलेगा और प्रेम का रस भी मिलेगा, क्योंकि योग, बोध, प्रेम - यह सत्य की विभूतियाँ हैं। ब्रह्म का स्वरूप है परमात्मा का स्वभाव है। तो योगवित् होकर उन्हें प्राप्त करो। तत्ववित् होकर उन्हें प्राप्त करो, भक्तियुक्त होकर उन्हें प्राप्त करो। जब प्राप्ति हो जायेगी तो प्राप्ति में अपने जीवन में उन परमात्मा का, उन परब्रह्म परमेश्वर का जो स्वरूप है, उनकी जो विभूतियाँ हैं, उनका जो स्वभाव है वह सब अपने को एक साथ ही प्राप्त हो जायेगां यह बड़ी सुन्दर बात है।

आज के वर्तमान साधक समाज के लिए भी बहुत छोटा करके सारांश लेकर सब शास्त्रों का निचोड़ बनाकर, गीता और रामायण की भी रचना कर दी गई। थोड़े में सब बता दें, तो बहुत कुछ बताया गया है। आज गीत,ा रामायण में श्रद्धा रखने वाले साधकों के लिए भी मैं यह निवेदन करती हूँ कि उसको भी अगर कोई समझने वाला हो तो उसे इन दोनों महाग्रन्थों में विश्वव्यापी साधन प्रणालियों का दर्शन होगा। वह भी सारा का सारा पढ़ जाने, समझ जाने और याद कर लेने की चेष्टा मत करिये, कोई जरूरत नहीं है। उनको भी पढ़ कर देखिये कि आपकी जो अपनी तैयारी है, अपनी पृष्ठभूमि है। उसमें वह कहाँ तक फिट बैठता है। उनकी कौन सी ऐसी बात है छोटी से छोटी, जिसको कि आप अपने द्वारा अभी, इस वर्तमान में ग्रहण कर सकते हैं, अनुसरण कर सकते हैं। ऐसा कर लेने पर जो शास्त्र का प्रकाश है, जो गीता रामायण का उद्देश्य है वह सब अपने आप ही प्रकट हो जायेगा।

प्रारम्भ में जब मैं महाराज जी की वाणी सुनने के लिए गीता भवन में जाने लगी तो अनेक प्रकार के बहुत प्रश्न करती थी और यथा संभव मेरा समाधान भी महाराज जी ने किया। करने के लिए तो उन्होंने कुछ भी बाकी नहीं रखा, लेकिन उससे से जितना मैं ग्रहण कर सकी उतना मेरे काम आया। एक दिन और कोई भाई गीता के ज्ञान के सन्दर्भ में प्रश्न कर रहे थे, मेरा प्रश्न नहीं था मैं बैठकर सुन रही थी तो महाराज जी ने कहा कि देखो भाई! गीता किसकी समझ में आई? गीता श्रीकृष्ण ने किसको सुनायी? तुमको मालूम नहीं है अपने मित्र को सुनायी। तो गीता मित्र को सुनायी। तो अगर तुम्हें गीता के ज्ञान की अभिलाषा है तो श्रीकृष्ण के मित्र बनो, तब गीता समझ में आयेगी। ऐसे ही समझ में आ जायेगी? सस्ते छापेखाने में खूब गीता की प्रतियाँ छाप दी तो इससे गीता थोड़े ही समझ में आती है। कृष्ण के मित्र बनो, और देखो मैं एक रहस्य की बात बताता हूँ कि जो सृष्टि के मालिक से मित्रता कर लेता है सृष्टि का सारा रहस्य मालिक उस मित्र को बता देते हैं तो जब तक तुम उनको मित्रता नहीं करोगे, उनके मित्र नहीं बनोगे, उनकी आत्मीयता नहीं स्वीकार करोगे, उनकी घनिष्ठता नहीं प्राप्त करोगे तब तक उनकी वाणी कैसे समझ में आयेगी कहते-कहते कभी भाव में आ जाते तो अपना और भी कुछ

रहस्य बोल देते कि मैं भी उनका मित्र हूँ न तो मुझको भी वह कभी-कभी अपना रहस्य बता देते थे। इसलिए मैं कहता हूँ कि अगर रहस्य जानना चाहते हो तो उनके मित्र बनो।

अब इसका मतलब क्या है? जिस दिन से मैंने महाराज जी को ऐसा कहते हुए सुना, मेरी सारी जिज्ञासा शान्त हो गई। मैंने कहा कि महाराज जी ने मेरे सब प्रश्नों का उत्तर दे दिया। जिस दिन से मैंने सुना, महाराज जी ने कहा कि भाई सृष्टि का और सृष्टि के मालिक का रहस्य बुद्धि के स्तर पर तो समझ में आ ही नहीं सकता। वइ इतना छोटा नहीं है कि तुम्हारी बुद्धि की सीमा में समा जाये। कितना विवेचन करोगे बुद्धि के बल पर? बुद्धि भी तो भौतिक तत्व है न तो भौतिक तत्व के माध्यम से अलोकिक तत्व का ध्यान तुमको कैसे होगा, बौद्धिक विलास तो हो सकता है। फिर विवेचन करने लगता है। पंडितों की सूची में नाम लिखा गया। शास्त्रार्थ में दो चार जगह जीत करके मैडल पाकर आ गये - यह तो हो सकता है, लेकिन बुद्धि की सीमा, में बुद्धि जो भौतिक शक्ति नदपअमतेंस मदमतहल का एक च्तज है, समष्टि शक्ति का एक अंश है, उस बुद्धि की शक्ति में वह अलौकिक रहस्य उतरेगा कैसे? उस अलौकिक रहस्य को कौन जानता है? जो बुद्धि के पार जाता है, जो बुद्धि से असंग हो जाता है जो शरीरों से ऊपर उठ जाता है, जो संसार की दासता से मुक्त हो जाता है।

खुद ही अचाह हुए बिना, जीते जी मर जाने का संकल्प लिये बिना, अपने अस्तित्व को, सीमित अस्तित्व को बनाए रखने का मोह छोड़कर अनन्त से अभिन्न होने के लिए व्याकुल हुए बिना वह सत्य उद्घाटित होता ही नहीं है। दूसरा कोई करेगा क्या? शरीर में कोई रोग हो तो कोई औषधि पिला सकता है, यह भौतिक पहलू है ना! तो इसमें भौतिक जगत् के संगी-साथी, कुटुम्बी सहायक हो सकते हैं बहुत तेज भूख लगी हो और अपने में सामर्थ्य नहीं है तो कोई दूसरा भोजन करा दे सकता है, जल पिला दे सकता है। तो भगवान भौतिक शरीर की क्षति-पूर्ति जरूरत की पूर्ति में भौतिक जगत् सहायक हो सकता है, लेकिन अलौकिक तत्व के विकास में भौतिक जगत् सहायक कैसे होगा? हो ही नहीं पायेगा। इसलिए मानव सेवा संघ ने कहा - बहुत छोटे और बहुत मार्मिक वाक्यों में 'अपनी आँखों देखों अपने पैरों चलो।' उस साल देश के विभाजन के समय जब धर्म के नाम पर बड़ा भारी नरसंहार होने लगा, तो स्वामीजी महाराज बहुत पीड़ित होने लगे, कहने लगे कि एक एक नेता ने अपनी झक पूरी करने के लिए करोड़ों निरपराध और निर्दोष व्यक्तियों का संहार करा दिया। तो मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा क्या है? मानव सेवा संघ के भीतर जो उनका उद्देश्य रहता था, जो उनका दर्द रहता था, उन्होंने कितनी बार मुझसे कहा - कि देवकीजी, मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा यह है, प्रभु ने तुम्हें सामर्थ्य दी, तु कर सको तो यह सेवा जीवन भर करना - कि मानव को अपने विकास में यह विश्वास हो जाए कि वह स्वाधीनता पूर्वक चल सकता है। बड़ी भारी सेवा है। आज हम लोगों के जीवन में धन का बड़ा महत्व स्थापित हो गया, अधिक धन होगा तो हम बड़े आदमी होंगे। वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर भौतिक शक्तियों का उपयोग करने में बड़ा विश्वास हो गया। मोटरकार हो जाए, टेलीफोन हो जाए, टेलीविजन हो जाए बड़ा मजा आयेगा। तो जड़ जगत् की वस्तुओं में एक चेतन विश्वास कर ले, यह उसका उत्थान हुआ कि पतन हुआ? जी पतन हुआ। कितनी बड़ी भूल है कि हम अपने अलौकिक तत्व-ज्ञान और प्रेम को नहीं बढ़ाते और जगत् की

वस्तुओं के आधार पर अपना मूल्यांकन करते हैं। तो महाराज जी ने बारम्बार मुझे प्रेरणा दी और सब साधक समाज को वे प्रेरित करते रहे, कोई भी उनके पास आ जाए उनका समर्थन करने वाला आ जाए, उनका विरोध करने वाला आ जाए, उनकी बातों का खण्डन करने वाला आ जाए, प्रेमपूर्वक गले लगायेंगे, अरे भैया! तू मुझको अपना नहीं मानता है तो तेरी भूल है। मैं क्या करूँ? मैं तो जानता हूँ तू मेरे प्यारे का प्यारा है। विरोध करने वाले, खण्डन करने वाले को भी गले लगा लें और यही कहते हैं अरे भैया! तू मुझको अपना नहीं मानता है तो तेरी भूल है। मैं क्या करूँ? मैं तो जानता हूँ कि तू मेरे प्यारे का प्यारा है। तो मेरी बात मत मान, भगवान न करें कि कोई दूसरे की बात मानने के लिए तैयार हो, मैं एक ही निवेदन करता हूँ कि प्यारे मेरे, तू अपनी ही बात मान लें। तेरा कल्याण हो जायेगा।

तो स्वामीजी महाराज ने मानव समाज की सबसे बड़ी सेवा बताई कि मानव समाज को यह विश्वास हो जाए कि संसार का जो छोटे से छोटा काम है, वह संसार की सहायता के बिना नहीं हो सकता, परन्तु इस व्यक्तित्व में जो अलौकिक तत्व है उसके विकास में किसी की सहायता की जरूरत नहीं है। जब इस शरीर से स्म्बन्धित प्राप्त बुद्धि की ही जरूरत नहीं है तो इससे भिन्न और किसकी जरूरत पड़ेगी आपको? नहीं पड़ेगी।

एक दिन की बात है। महाराजजी उस समय शरीर और संसार से असंग होकर अपने प्रेमास्पद की अभिन्नता में आनन्दित होकर दुनियाँ से त्रिगुणातीत अवस्था में बैठे थे, ऐसा उस समय मुझको आभासित हुआ। मुखमण्डल से अद्‌भुत छटा निकल रही थी, बड़ी प्रसन्नता छाई हुई थी। वह दर्शन मुझको इतना प्रिय लगा कि मैंने कुछ कहा नहीं और इधर समय का हिसाब करने की आदत, बार-बार घड़ी दे रही हूँ, समय बीतता जा रहा है, ये महाराज तो अपने आनन्द में मग्न हो रहे हैं, मेरे पढ़ने का समय बीत जायेगा, मुझको प्रश्न का उत्तर कब मिलेगा? ये तकलीफ थी। महाराज अपनी मसती में मस्त बैठे हैं, तो पीछे खड़ी थी मे।, आगे स्वामी जी महाराज बैठे थे। दर्शन का आनन्द ले रही थी तो बार-बार मेरे प्रश्न, मेरे मन में प्रश्न टकरा रहे थे। इससे स्वामी जी महाराज ने आँखें खोल दीं और बिना मेरे कुछ बोले और मैं आगे भी नहीं गई थी पीछे दरवाजा पकड़ के खड़ी थी, बिना किसी के कुछ कहे, मेरा नाम लेकर पुकार कर कहने लगे, देवकी जी, क्या तुम लोग बुद्धि के क्षेत्र में विचरण करते रहते हो? क्या बुद्धि के पार चला जाता था और मुझको मालूम नहीं हैं? आदमी यों चुटकी में स्वाधीन होता है, चुटकियों में। अब तो कहने को तो कह गये अपनी मस्ती में, मैंने सुना, तो बुद्धिमानी का अभिमान तो था ही, मैं सोचने लगी कि देखो इनको बनाने वाले ने इतनी सामर्थ्य देकर भेज दिया कि ये जब सत्य का संग करते तो एक छलांग में असत् का संग छोड़ देते, शरीर और बुद्धि के पार चले जाते। सृष्टिकर्ता ने हमारे को तो वैसी सामर्थ्य दी नहीं है। तो मैं बुद्धि के फेर में पड़ी रहती हूँ। शिकायत मेरी गई नहीं। उस समय मैं चुप हो गई, और बाद में फिर मैं चर्चा करने लगी। तो यह उदाहरण मैंने अपने लोगों के सामने इसलिए रखा कि जो सत्य का प्राकट्य है इस जीवन में वह असत् के माध्यम से नहीं होगा। सत्य का जो प्राकट्य है उसकी अभिव्यक्ति उसी व्यक्तित्व में अभिव्यक्ति होती है, वह असत् की सहायता से किसी हालत में नहीं होगा। यह मानव सेवा संघ की देन है। मानव सेवा संघ की खोज है। महाराज जी ने सत्य के सम्बन्ध में यह विचार प्रकट किया कि सत्य को कोई बनाता नहीं है, उसका

निर्माता कोई नहीं होगा। वह स्वतः सिऋ होता है। सत्य की खोज होती है। सत्य का प्राकट्य होता है। तो उन्होंने शोध किया, उनके जीवन में सत्य प्रकट हुआ। और चूँकि वे अपने को न कुछ करके मानते थे, सत्य को ही प्रतिष्ठा देना पसन्द किया उन्होंने इसलिए अपनी शोध को, अपने जीवन में जो सत्य का प्राकट्य हुआ, उस अनुभव को अपने नाम से न कहकर मानव सेवा संघ के नाम से कह दिया। तो आज महाराजजी की वाणी को आपकी सेवा में इस रूप में रख रही हूँ मैं कि उन्होंने कहा कि मानव सेवा संघ एक ऐसा होगा च्संजवितउ होगा, यह एक ऐसी विचार प्रणाली है कि जिसमें सब मत सम्प्रदाय वर्ग के भाई-बहन बैठकर सवाधीनतापूर्वक परस्पर विचार-विनिमय करें और स्वाधीनतापूर्वक सत्य के मार्ग पर आगे बढ़ें। तो आज मानव सेवा संघ के प्रेमियों का यह परम कर्त्तव्य होता है, कि वह स्वयं अपने आप में स्वाधीन होकर आगे बढ़े और जितने भी भाई-बहिन हमारे निकट सम्पर्क में आते हों उनको भी उनके जीवन में यह अन्तदृष्टि दिलायें कि भाई, तुम अपने विकास में पूर्ण स्वाधीन हो, इसमें अपने को पराधीन मत मानो, ऐसा मत सोचो कि कोई सद्गुरु मिलेगा, तब मेरा साधक का जीवन आरम्भ होगा। तो सद्गुरु के मिलने की प्रतीक्षा में समय मत गँवाओ। मंगलमय विधान इतना सुन्दर है कि सचमुच तुम सद्गुरु के सलाह के अधिकारी जिस क्षण हो जाओगे सद्गुरु के रूप में वे अनन्त अपने आप ही तुम्हारा मार्गदर्शन कर जायेंगे। प्रतीक्षा में समय मत गँवाओ। सद्गुरु के रूप में जो ज्ञान का प्रकाश तुम्हारे ही में विद्यमान है, वह प्रकाश तुमको जो दिखता है उतना तुम चलो। और जितना चाहिए वह भी दिखा देगा और हाथ पकड़ के मंजिल पर पहुंचा भी देगा।

अनन्त परमात्मा सभी का है, इसलिए वह में भी मिल सकता है, उससे कभी निराश मत हो। और सुख-दुःख साधन सामग्री है, उसको जीवन मत मानो। ये दो बातें महाराज जी ने बताई। सुख-दुःख साधन सामग्री है, उसको जीवन मत मानो और अनन्त परमात्मा सभी का है, इसलिए उससे मिलने से निराश मत हो। और अपनी वर्तमान दशा देखने से क्या मालूम होता है कि हम लोग बिल्कुल उल्टा करते हैं। जो अनन्त परमात्मा सभी का है, सभी में है, अभी है वर्तमान में, उससे मिलने में थोड़ी निराशा भी रहती है, कुछ अपने में हीन भावना भी रहती है। अरे, मैं तो बहुत मामूली आदमी हूँ और गृहस्थी के प्रपंच में रहने वाला हूँ, मुझे परमात्मा कैसे मिल सकता है। तो अपनी ओर से अपने को अनधिकारी मान लेना, परमात्मा को अपने से बहुत दूर मान लेना - यह परमात्मा से मिलने वाले भक्त कोटि के साधक के लिए बहुत हानिकारिक बात है कि मैं परमात्मा को अपने से बहुत दूर मानूँ।

दूसरी भूल यह होती है कि सुख-दुःख जो साधन सामग्री है उसको हम जीवन मान लेते हैं। जीवन मान लेने का अर्थ क्या है? कि उसको सत्य मान लेते हैं। सुख आया तो उसको भी सत्य मान लिया। सुख और दुःख को सत्य मानकर दुःख से बचने के लिए और सुख को बनाए रखने के लिए हम बहुत उपाय करते हैं।

सन्तजन की सलाह क्या है? सन्तजन सलाह यह देते हैं कि भाई! सुख और दुःख के भोगी मत बनो, यह पहली बात है और जो सुख का भोगी नहीं बनता है उसे दुःख भोगना नहीं पड़ता है। जो सुख-भोग की तृष्णा का त्याग कर सकता है उसके जीवन में से सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। कभी-कभी मैं साधक की दृष्टि से सोचने लगती हूँ अपने लिये, तो मुझे ऐसा लगता है

कि साधक कोटि के लोगों को दुःख से बचने के लिए ज्यादा परेशानी नहीं उठानी पड़ेगी। सुख-भोग की वासना से बच जाएँ तो काम बन जाये - यह खास बात है। दुःख से बचने के लिए तो बहुत सोचा-विचारा, पर हुआ नहीं कोई काम, लेकिन सुख-भोग के स्तर से हम ऊँचे उठ जाएँ तो सर्व दुःखों की निवृत्ति हो सकती है। मानव सेवा संघ की प्रणाली में साधक भाई-बहिनों को यह सलाह दी गई कि सुख और दु5ख अपने आप आते हैं, विधान से आते हैं, तो आने दो उनको। स्वयं क्या करो? दोनों से अपने को ऊपर रखो, न सुख के भोगी बनो, न दुःख के भोगी बनो। दोनों से ऊपर रहकर आये हुए सुख और आए हुए दुःख दोनों का उपयोग करो। उपयोग क्या करें? सुख का उपयोग है सेवा, दुःख का उपयोग है त्याग। जिस-जिस हिस्से में सुख मालूम होता हो, उस-उस हिस्से से सेवा करो। जैसे-शरीर में काफी बल मालूम होता है तो निर्बलों की सहायता में उसका उपयोग करो, धन-सम्पत्ति अन्य सामग्री अपने पास ज्यादा आ गई तो उसके भोगी न बनकर उस सामग्री से निकटवर्ती जन-समुदाय की सेवा करो। योग्यता बढ़ गई है, कोई पद मिल गया है, तो यह सब भी सामर्थ्य है, प्राकृतिक विधान से प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ सेवा-सामग्री मिलती है, तो अगर ये सब मिल गया है तो इसके द्वारा भी, जो आस-पास में रहते हैं जिनसे निकट सम्पर्क है उनकी सेवा करो। तो सुख का उपयोग है सेवा और दुःख का उपयोग है त्याग। मूल बात एक बार मैं फिर दोहराऊँ। कौनसी? कि सुख-दुःख साधन-सामग्री है इसको जीवन मत मानो। अपनी एक बड़ी भ्रमात्मक धारणा है, सुख मिलने से उसका श्रेय हम लोग अपने पर ले लेते हैं, मैंने अपनी बुद्धिमानी से ऐसा इन्तजाम कर लिया, ये मेरी बड़ी बहादुरी है कि हमारे पास इतने प्रकार के सब सुख आ गये, मैं बड़ा पुण्यात्मा पुरुष हूँ, पूर्वजन्म में मैंने बड़े-बड़े पुण्य कर्म किये थे, इसलिए सब सुख मेरे सामने आ गये। तो सुख मिलने से सारा श्रेय अपने पर ले लेना-यह अपने को अभिमानी बना देता है। दुःख मिलने से अपने को हतभागा समझ लेना-यह प्राणी को, व्यक्ति को बहुत ही दीन बना देता है। कभी ऐसा मैं सुनती हूँ तो मुझे बड़ा कष्ट होता है कि एक तो जो क्षति हो गई उसको बरदाश्त करो और दूसरे उस क्षति को हो जाने का कारण अपनी दुष्कृति को सोच करके और दुहरा दुःख सहो। इस प्रकार से दुःख का भार अपने पर लाद करके जो दुःख रहित जीवन है, उससे विमुख हो जाना, जो आनन्दमय जीवन है उससे वंचित रह जाना, जो प्रेममय-रसमय जीवन है उससे निराश हो जाना, मानव के लिये कलंक है। ऐसा नहीं होना चाहिए। होना क्या चाहिए? जैसे प्रातःकाल की चर्चा में मैं निवेदन कर रही थी कि दुःख सुष्टि का एक अनिवार्य अंग मानकर साधन दृष्टि से इनको देखना चाहिए और इनका ठीक उपयोग करना चाहिए। तो मैंने ऐसा देखा है कि दुःख की घड़ी में जितनी चेतना रहती है, अगर उस चेतना का अनुसरण किया जाये तो बड़ा विकास हो सकता है। दुनियाँ में ऐसे महापुरुष भी हुए जिन्होंने सुख की घड़ियों में भी अपने को सचेत रखा और बहुत से साधक सिऋ ऐसे हुए जिन्होंने दुःख की घड़ियों में आई हुई चेतना का आदर करके अपने को बहुत ऊँचा उठा लिया।

एक बार स्वामी जी महाराज ने कहा, 'देवकीजी! तुम नहीं जानती हो, दुःख की घड़ी में व्यक्ति का अहंकार गलता है, विपत्ति आ जाए तो विपत्ति की घड़ी में बड़े से बड़े अहंकारी व्यक्ति का अहंकार भी गल जाता है।' बुद्धि काम नहीं कर रही, शरीर साथ नहीं दे रहा, साथी साथ नहीं दे रहे हैं, चतुराई-चालाकी से काम नहीं बन रहा

है। विपत्ति आ ही गई सिरपर, सामने ही तो गई तो आदमी करे क्या? तो उस समय उसकी अहंकृति टूटती है, अभिमान छूटता है और सुख-भोग की ओर से स्वभाव से ही उसका जी हटता है। आपने देखा होगा कि सगे-सम्बन्धी हों, अपने कोई कुटुम्बी हों किसी प्रकार की आपत्ति-विपत्ति में फँस गये हों, तो सहानुभूति में आकर के ही आपको राग-रंग अच्छा नहीं लगता है, स्वभाव से सुख की ओर से जी हटता है। अब आप लोग सोच करके देखिये कि साधक के जीवन में कितनी बड़ी बाधा खड़ी होती है, सुख के आकर्षण में। उस सुख का आकर्षण दुःख की घड़ी में सहज से ही घट जाता है तो बहुत बड़ऋा उपकार हो गया आपका। एक सुख-भोग का आकर्षण चला गया। थोड़ी देर के लिए, कभी-कभी वो, कहने के लिए जिसे शमशान का वैराग्य भी कहते हैं न, हो जाता है। दुःख की घड़ी में सुख का राग चला जाता है और अभिमान घट जाता है, अहंकृति टूट जाती है। फिर तीसरी बात महाराज जी ने कही कि इनका प्रभाव क्या होता है? कि दुःखी व्यक्ति का हृदय काफी कोमल हो जाता हे। सुख की ओर से अरुचि हो गई, इसलिए भी हृदय में कोमलता आ गई। सुख का भोगी दुःखियों को देखते हुए भी सुख भोगता है तो उसे हृदय को कठोर करना पड़ता है। अपना जी कठोर किये बिना कोई सुख नहीं भोग सकता है। तो सुख के भोगी का हृदय कठोर हो गया। अपने गुणों के अभिमान का अभिमानी हृदय को कठोर बना लेता है। उसको परमात्मा की महिमा याद नहीं आती, उसको समाज की उदारता याद नहीं आती, उसको प्राकृतिक विधान में मंगलकारिता दिखाई नहीं देती। अपने अभिमान के आगे उसको सच्ची बातें नहीं सूझती हैं तो अभिमानी का हृदय भी कठोर हो जाता है। परन्तु दुःख की घड़ी में जब अभिमान गल जाता है, सुख की वासना से अपने आप ही जी कुछ देर के लिए हट जाता है, हृदय कोमल हो जाता है तो उस घड़ी अगर कोई सच्ची और अच्छी बात सुनने को मिले तो उसका बड़ा जोरदार ैजंउच लगता है व्यक्ति के व्यक्तित्व पर।

हम लोगों को अपनी वर्तमान दशा में सुख और दुःख दोनों को देखना चाहिए। बहुत गहराई से देखना चाहिए और देखकर के अपना मूल्य सुख और दुःख दोनों से अधिक बढ़ाकर रखना चाहिए। आपका जो मूल्य है वह अविनाशी सत्य के आधार पर है। अविनाशी प्रेम के आधार पर है। तो सत्य का कितना अनुसरण है मेरे जीवन में, प्रेम का कितना प्रभाव है मेरे हृदय पर, कठोरता किस अंश से मिट गई मेरे जीवन से, मन से, वचन से, वाणी से, कर्म से, भाव से कठोरता कितनी निकल गई मेरे जीवन में से, इस पर अपना मूल्यांकन करें। मुझको अपने सुख की अपेक्षा प्राप्त सामग्री को, पर-पीड़ा को दूर करने में, लगाने में कितना अच्छा लगता है। इसके आधार पर अपना मूल्यांकन करें। हमने कितना लगा दिया - इसका अभिमान पालने से काम नहीं चलेगा और मैं आपकी बहुत प्रशंसा कर दूँ कि आप बड़े उदार हैं और आप बड़े सेवाभावी हैं, तो मेरे ऐसा कहने से भी आपका कोई काम नहीं बनता है। आप अपना दिल टटोल करके देखिये कि कोई सुखद सामग्री मेरे सामने आती है तो उसका भोग करना मुझको अच्छा लगता है कि उस सामग्री को देखकर के किसी पीड़ित की याद आती है? समझ में आता है? सुख-भोग पतन है, सेवा उत्थान है। इस प्रकार से जो ज्ञान और प्रेम के आधार पर अपना मूल्य बड़ा कर सकता है, उस साधक के द्वारा बड़ी कुशलतापूर्वक सुख-दुःख का सदुपयोग हो जाता है और आप सच मानिये, सुख का लालच और दुःख का भय, अगर

यह हम लोगों के जीवन में से निकल जाता तो परम-प्रेमास्पद का प्यार इस जीवन में भर जाता। सुख का लालच और दुःख का भय - ये दोनों इस प्रकार से हम लोगों के जीवन में भरे पड़े रहते हैं कि फुरसत ही नहीं मिलती है कि कभी शान्त होकर, दो घड़ी चुप होकर, अहंकार रहित होकर, चिन्तन से मुक्त होकर हम अपने सम्बन्ध में सोच सकें, अपने प्रेमास्पद के संबंध में सोच सकें। इस जीवन को शरीर और संसार की दासता से मुक्त करके परम-प्रेमास्पद का प्रेम भर सकें, इस ओर दृष्टि डालने के लिए फुर्सत ही नहीं रहती। और ऐसा मत सोचिए कि घर-गृहस्थी में लगे रहने का अर्थ होता है कि हम सत्य और प्रेम से वंचित रहें, ये बात नहीं है। यदि दिल में सुख-दुःख के प्रति सद्भाव है तो चाहे गृहस्थी बन के रहिये, चाहे वनस्थी बन के रहिये, उस सुख-दुःख का चिन्तन चलेगा ही। सुख-दुःख का मूल्य सेवा और त्याग के रूप में लेने पर चाहे घर में रहिए, चाहे गृहत्यागी बनिये, दृष्टि हमेशा ही अविनाशी जीवन पर जाती है।

अविनाशी जीवन के सम्बन्ध में आपने क्या सुना? अविनाशी जीवन के सम्बन्ध में जो सबसे अच्छी और सबसे ऊँची बात मेरे ध्यान में आई, वह यह है कि अविनाशी जीवन से अभिन्न होने के लिए साधक को किसी प्रकार की दौड़-धूप नहीं करनी है, परिश्रम नहीं करना है, पराश्रय नहीं लेना है। परिश्रम और पराश्रय से रहित उसकी आवश्यकता अनुभव करना पहली शर्त है। उसके लिए प्रतिपल लालायित रहना, उसकी विद्यमानता में अटूट श्रद्धा और विश्वास रखना - ये ही सत्य है। उसके लिए कुछ करना पड़ेगा, सो नहीं। अभी हम लोग जो प्रवचन सुन रहे थे, महाराज ने कहा न, कि कोई पढ़ा लिखा आदमी होगा तो हमको डाँट देगा, कहेगा कि अनेक जन्मों में सिद्धि मिलती है तो महाराज जी कहते हैं कि तुम्हारे पास इसकी कोई सूचना आई है? क्या चिट्ठी लिखकर आई है कि तुम्हारा पहला जन्म है कि आखिरी जन्म है? यह कौन जानता है कि पहले-पहल आदमी बने हो या यह आखिरी जन्म है। इसी में तुमको सिद्धि मिलने वाली है इसकी कोई सूचना आई है? मतलब क्या है? मतलब यह है कि भाई, न जाने किस तरह से मानव जीवन मिल गया। सन्त लोग तो ऐसा ही कहते हैं कि यह जीवन किसी पुण्य का फल नहीं है, परम कृपालु अपनी कृपालुता से, अपनी अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन दे देते हैं। तो मिल गया है तो इसी वर्तमान में इसका पूरा-पूरा लाभ उठा लो, यह क्यों सोचो कि अभी से हम आरम्भ करेंगे तो बहुत दिनों तक करते-करते अनेक जन्मों के बाद मुझको सिद्धि मिलेगी। अगर प्रारम्भ में मैं ऐसा सोच लूँ तो मेरा सारा प्रयास बहुत ही शिथिल रहेगा।

स्वामी जी महाराज को साधकों के जीवन की शिथिलता और उनकी असफलता बिल्कुल सहन नहीं होती थी, और जैसे-जैसे मैंने जीवन की चर्चा को सुन करके अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण किया, तो मुझे यह स्पष्ट रूप से मालूम होने लगा कि जो बात अपने ही में विद्यमान है, जो सत्य अपने ही में विद्यमान है वह सत्य स्वयं प्रकाश है। आप यह भी देख लीजिये, जैसे - एक किताब यहाँ रखी रहे और हम कहें कि किताब कहाँ है? यहाँ हैं, यह मालूम न हो तो इस किताब में सामर्थ्य नहीं है कि वो कह दे कि मैं यहाँ हूँ, नहीं है न। यह पर-प्रकाश्य है, स्वयं-प्रकाश नहीं है। तो खोजते-ढूँढते आपको इस जगह पर आना पड़ेगा, इसको देखना पड़ेगा, तब आप इसे उठा सकेंगे। लेकिन जिस नित्य तत्व की आराधना हम लोग करना चाहते हैं, जिस प्रेम तत्व की आराधना हम लोग करना चाहते हैं, जिस प्रेम के द्वारा प्रेमास्पद को

पाना हम चाहते हैं, वह सत्य तत्व, वह नित्य तत्व, वह परमात्म तत्व पर प्रकाश्य है, किताब की भाँति, कि स्वयं-प्रकाश है? जी? स्वयं-प्रकाश है। इसलिये आपको खोजने-ढूँढ़ने के लिये उसके पास जाना नहीं पड़ेगा। आपसे कहीं दूर होता, कहीं छिपा हुआ होता, कहीं खोया हुआ होता, किसी अन्धकार में डूबा हुआ होता तो प्रयास अपेक्षित था। वह तो नित्य निरन्तर सदा सर्वदा स्वयं-प्रकाश अपने को प्रकाशित करने में स्वयं समर्थ, ऐसा आप ही में विद्यमान है। इसलिए जब हम लोग उसकी जरूरत अनुभव करते हैं, तो उसको प्रकट होते देर नहीं लगती है। वह स्वयं-प्रकाश है ना, खुद अपने आप साधक पर प्रकट कर देता है। मेरे प्यारे मेरे लिये व्याकुल क्यों हो रहे हो, मैं तो तुम्हारे में ही हूँ, मैं तो तुम्हारे ही पास हूँ।

पराश्रय छोड़ दो, परिश्रम छोड़ दो, अहंकृति समाप्त करो, अपने संकल्प छोड़ दो, थोड़ी देर के लिये शान्त होकर, अप्रयत्न होकर, शरीर और संसार से असंग होकर रहना सीखो। जो सत्य है वह स्वयं प्रकाश है, वह नित्य तत्व है, वह आनन्दमय है, वह प्रेममय है। केवल मेरी हलचल और मेरी बाह्य प्रवृतियाँ, मेरे सुख-दुःख का लालच और भय - इन्हीं ने मुझको उस नित्य तत्व से वंचित कर दिया है। तो अपनी भूलों को छोड़ देना पुरुषार्थ है। भूल रहित जीवन में सत्य का प्रकाश स्वतः होता है, ऐसा सभी अनुभवी सन्तों का मत है।

प्रवचन 71

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनों और भाइयों!

सन्तवाणी में जीवन की सफलता का एक उपाय हम लोगों ने सुना, बहुत ही स्वाभाविक। स्वामी जी महाराज कह रहे हैं कि जिस जीवन की माँग है तुम में, उसकी तीव्रता बढ़ाओ, उसके अतिरिक्त और कुछ मत चाहो। इस सम्बन्ध में प्रारम्भिक दिनों में काफी सोचा मैंने, तो मुझे ऐसा लगा कि विश्राम हम लोगों को कहाँ मिलता है? जो शान्तिस्वरूप है, जो ज्ञानस्वरूप है, जो प्रेमस्वरूप है, उसी में अपने को विश्राम मिलता है। उससे बिछुड़कर अर्थात् विमुख होकर जब हम उत्पत्ति-विनाश-युक्त परिवर्तन दृश्यों की ओर आकर्षित हो जाते हैं तब विश्राम नहीं मिलता। इसलिये नहीं मिलता कि जो स्वयं ही निरन्तर परिवर्तित हो रहा है, जिसमें एक क्षण के लिए भी ठहराव नहीं है उसके पीछे दौड़ने में, उसको पसन्द करने में, उसको अपने जीवन का सहारा बनाने में, कभी सफलता मिल ही नहीं सकती, इस कारण से विश्राम नहीं मिलता।

दूसरी बात यह है कि जो बनने, बिगड़ने, बदलने वाली परिस्थितियाँ है उनके द्वारा अपने को सन्तुष्टि भी नहीं मिलती। आपने जीवन में बहुत-सी विकट घड़ियों को देखा होगा और अनुकूल परिस्थितियों में भी कुछ समय रहने का अवसर सब भाई-बहिनों को मिलता है। प्रकृति का विधान ही ऐसा है, सुख भी आता है, दुःख भी आता है। सुखद परिस्थितियाँ हम लोगों के जीवन में आई है, एक बार नहीं अनेक बार। फिर भी आज की वर्तमान की दशा देखकर सोचिए कि सुखद परिस्थितियों में रहने के बाद भी अन्दर से सन्तुष्टि हो गई कि भीतर-भीतर अभी कुछ बाकी है। कैसा लगता है? सुखद परिस्थितियों ने हम लोगों को सन्तुष्ट नहीं किया, आई और चली गई। अगर सुखद परिस्थितियों के भीतर से होकर निकलते समय ज्ञान का प्रकाश लेकर निकली तब तो वे साधन में सहायक बन जायेंगी और यदि उनके

साथ खूब आसक्त हो जाओ, उनका सुख लेना पसन्द करो, तो सुखद परिस्थितियों का सुख भोगने वाला व्यक्ति बहुत ही दुःखी हो जाता है। उन परिस्थितियों के बदल जाने से बहुत दुःखी हो जाता है, बहुत परेशान हो जाता है। यह सब अनुभव अपने लोगों को है।

सत्संगी होने के नाते हम सभी भाई-बहिनों को जीवन के इस सत्य पर ध्यान देना चाहिए कि भाई, शरीरों की सहायता से, संसार के संयोग में बहुत प्रकार के सुख और दुःख हम लोगों ने देख लिये और दोनों में से किसी का ऐसा परिणाम नहीं निकला कि जिससे हम सन्तुष्ट हो जाते। इसलिए वैधानिक आधार पर सुखद-दुःखद परिस्थितियाँ आती रहेंगी, उन्हें आने दिया जाये, उनके पीछे पड़ने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन अपने भीतर जो सन्तुष्टि चाहिए - अपने को परम स्वाधीनता की माँग है, परम-प्रेम के रस की माँग है - अपनी जो माँग है उसको अपने सामने रखना चाहिए। किस आधार पर? इस आधार पर कि जीवन की जो माँग है वही वास्तविक जीवन है। अनुभवीजनों ने हम लोगों को उसके बारे में बताया है। सद्ग्रन्थों में उसके सम्बन्ध में लिखा है और स्वयं अपने आप में हम उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। अपने को परमशान्ति कीऋ परम-प्रेम की आवश्यकता है। इस आवश्यकता को अगर सामने रखा जायेगा तो अपना बड़ा उपकार होगा। क्या उपकार? मैंने एक बहुत अच्छा परिणाम देखा है। आप भी देखिये, विचार कीजिये, आपको भी अच्छा लगेगा। देखिये, संसार के किसी व्यक्ति का संयोग आपको अच्छा लगता है, वह आपको आदर देता है, प्यार देता है, सहयोग देता है, मीठा बोलता है, आपके दुःख में खड़ा होता है - तो ऐसा आदमी अच्छा लगता है। अब शरीर से दूरी तो उसकी हमेशा ही है तो परिस्थितिवश किसी दूर देश में वह चला गया और आपको उसकी याद आ रही है तो याद आने से आपके भीतर की प्रसन्नता घट जाती है। उसकी याद आई तो वियोग सताने लगा, उससे मिलने की इच्छा हुई और मिलने का संयोग नहीं है तो बेबसी सताने लगी। आपने अपने को समझाया कि भाई, जरूरी काम से गया हुआ है, धीरज रखो, चार-छः महीने बाद आने वाला है, दो-चार साल बाद आने वाला है - तो किसी तरह से मन मारकर बेबसी को सहन करते हुए वियोग में दुःखी होते हुए आप भीतर-भीतर खिन्न हो जाते हैं, दुर्बल हो जाते हैं, काम में मन नहीं लगता है, हालत बिगड़ जाती है। यह तो होता है उसको पसन्द करने से, जो सदा के लिये अपना साथ दे नहीं सकता है।

अनुभवी संत अपने जीवन के अनुभव के आधार पर हम लोगों का दुःख मिटाना चाहते हैं। इस दुर्दशा का अन्त करना चाहते हैं। वे सलाह देते हैं कि देखो भाई, यह संसार जो दिखाई देता है यह तो तुम्हारी सेवा का क्षेत्र है और जो सदा के लिये तुम्हारा साथ देने वाला है और जिसकी संगति उत्तरोत्तर अधिक से अधिक प्रिय और मधुर होती चली जाती है, वह जो है, वह तो तुम्हारे ही भीतर विद्यमान है। वह अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता। सर्वव्यापी है, तुमको छोड़कर कहीं दूर नहीं जाता। सर्वज्ञ है, उसको कुछ कहकर सुनना नहीं पड़ता। समर्थ है, वह तुम्हारी जरूरत के अनुसार सब कुछ कर सकता है। ऐसा हम लोगों ने सुना है न। तो ऐसा साथी किसको नहीं चाहिए? सभी को चाहिए। अच्छा! और उनकी ओर से किसी को इन्कार नहीं है, कि तुम ब्राह्मण कुल में जन्मे हो कि नहींऋ कि तुमने अध्ययन किया है कि नहींऋ कि तुमने इतना व्रत-उपवास किया है कि नहीं - उनके यहाँ ऐसा कोई भेद-विचार नहीं है। जो भी उनको पसन्द करे, जो भी उनकी आवश्यकता

अनुभव करे, उसी को उनकी उपस्थिति का अनुभव हो जाता है। जो भी उनकी आवश्यकता अनुभव करे, उसी की आवश्यकता पूरी हो जाती है और कोई भी व्यक्ति दुर्बल से दुर्बल, अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर उनकी कृपा की आवश्यकता अनुभव करे तो उन पर कृपा बरसती है, इस अनुभव से वह आनन्दित हो जाता है।

प्रारम्भिक दिनों की बात है, जब जीवन की समस्या को सुलझाने के लिए मैं संत के पास बैठी थी तो यह अच्छी-अच्छी बातें, सच्ची बातें सुनने को मिली। मैंने इन बातों पर विचार किया तो मुझे बड़ा भारी अन्तर मालूम हुआ। अन्त क्या मालूम हुआ? कि जिस प्रतीत होने वाले दृश्य जगत् से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं हे, उस जगत् में से कोई दृश्य जगत् से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, उस जगत् में से कोई दृश्य मैंने अपने लिए पसन्द किया तो उसने मुझे पराधीन बनाया, अतृप्त बनाया, वियोग की पीड़ा में तड़पाया, आसक्त बनाया, विवश बनाया, दुर्बल बनाया और बीमार बनाया। होता है कि नहीं। चिन्ता में आदमी बीमार भी हो जाता है। शरीर भी रोगी हो जाता है। मन भी रोगी हो जाता है। लेकिन हम इस प्रकार की बेबसी में दुःख भोगते हुए मरने के लिए पैदा नहीं हुए। हमारा अस्तित्व तो उस पर आधारित है, जो अनादि है, अनन्त है, जिसमें बिछुड़ने का भय नहीं। उसमें वह सब कुछ है जिसकी हम लोगों को आवश्यकता मालूम होती है। आपको शान्ति की आवश्यकता मालूम होती है? आपने सुना है, परमात्मा शान्तिस्वरूप है, तो अपने को जिसकी जरूरत मालूम होती है वह सब उनका स्वरूप ही है। अज्ञानता से मोह की पीड़ा में, लोभ की पीड़ा में हम दुःख पा रहे हैं, तो हमको ज्ञान का प्रकाश चाहिए, जिससे लोभ का नाश हो जाए, मोह का नाश हो जाए। अपने को ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता मालूम होती है, तो अनुभवी सन्त कहते हैं कि वह परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही है। फिर अपने को प्रेम का रस चाहिए, नीरसता का भार सहन नहीं होता है, भीतर-भीतर अभाव सताता रहता है। हर भाई को, हर बहिन को प्रेम का रस चाहिए, तो भगवद् भक्तों ने हम लोगों को बताया कि परमात्मा प्रेमस्वरूप ही है। तो देखिये, कितनी सीधी-सी बात है और अपने लिए रास्ता कितना साफ है कि जिस शान्ति स्वाधीनता और प्रेम के बिना, इस संसार में एक रात भी शान्ति से हम सो नहीं सके, जिसकी आवश्यकता हम महसूस करते हैं वह अस्तित्व, वह परम सत्ता, वह सनातन सत्य, सदा-सदा से विद्यमान है। कितनी अच्छी बात है कि जो है, उसी की आवश्यकता हम लोगों को मालूम होती है। ऐसा नहीं है कि जो नहीं है, उसकी आवश्यकता पैदा हो गई। तो मुझको धीरज देते हुए, विश्वास दिलाते हुए स्वामी जी महाराज कहने लगे कि देखो देवकीजी! सृष्टि के बनाने वाले इतने नासमझ नहीं है कि तुम्हारे में जरूरत तो पैदा कर दें और उसकी पूर्ति का इन्तजाम न करें। अरे भाई! संसार का बनाने वाला कोई मालूमी आदमी तो हो ही नहीं सकता है। जिसने सृष्टि बनाई, जिसने हम लोगों को बनाया, उसकी बड़ी मंगलकारिता है कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भौतिक तत्वों में से बहुत से पदार्थ बना दिये। भौतिक शक्तियों से तीनों शरीरों का निर्माण हुआ और भौतिक तत्वों से उनकी खुराक बना दी और आपको बनाया अपने तत्व से। तो इसमें शान्ति की आवश्यकता मालूम होती है, स्वाधीनता की आवश्यकता मालूम होती है, परम प्रेम की आवश्यकता मालूम होती है, तो बड़ी बढ़िया बात है।

सन्तवाणी के आधार पर हम लोग बहुत ही आश्वस्त हो सकते है कि जिन अविनाशी तत्वों

की जरूरत हमें महसूस होती है वह सब उस सुने हुए परमात्मा का स्वरूप ही है, जो उसमें विद्यमान है। उसकी हमें लालसा है, जो उसमें विद्यमान है। उसकी हम आवश्यकता अनुभव करते हैं, जो वे स्वयं है। उसकी सत्ता पर हमारी सत्ता आधारित है, इसलिये हमारे व उनके बीच में दूरी जो मालूम हो रही है यह केवल मेरी अपनी भूल से मालूम हो रही है। वास्तव में दूरी है नहीं। यह बात पकड़ में आती है? वस्तुतः दूरी नहीं है। अतः उस भूल को मिटाना मेरा अपना काम है। मैंने ऐसा देखा कि जब मनुष्य अपने सम्बन्ध में अपनी ओर से निश्चय कर लेता है कि अब बनने-बिगड़ने वाले दृश्यों के पीछे मैं नहीं पड़ूँगा तो जिस दिन से उसने ऐसा निर्णय लिया उसके भीतर से दृश्य का प्रभाव उतर जाता है और जिस दिन उसने निश्चय किया कि कभी न बिछुड़ने वाले, सदा-सदा के लिये मेरा साथ देने वाले, मेरे परम हितैषी, करुणा-सागर, प्रेम स्वरूप परमात्मा जो हैं, उन्हीं का सहारा लेकर हम रहेंगे, उन्हीं को अपना मानेंगे, उन्हीं के होकर रहना पसन्द करेंगे - ऐसा जिस दिन से साधक अपनी ओर से निर्णय लेता है,उसी दिन से उसके भीतर का अभाव मिटने लगता है। अब प्रत्यक्ष होकर किस दिन आपके सामने आकर खड़े होंगे अथवा किस दिन आपकी वो आँखें खुलेंगी कि उनकी विद्यमानता को देखकर आप आनन्दित होंगे।' यह तो मैं नहीं जानती। यह किसी साधक के सम्बन्ध में लकीर नहीं खींची जा सकती। लेकिन यह निश्चय है और इतना मुझको पक्की तरह से मालूम है कि असत् के महत्व को जहाँ आपने अस्वीकार किया कि उसका रंग उतर जाता है। बड़ा भारी काम हो जाता है। अनन्त परमात्मा की आवश्यकता आपने अनुभव की तो उसकी विभूतियाँ आपके भीतर तत्काल प्रकट होने लगती हैं। इतना तो मैंने जाना है। तत्काल, देर नहीं लगती और बड़ा भारी अन्तर मुझे मालूम हुआ कि संसार को अपना मानते-मानते उसकी पराधीनता में उसके वियोग में आदमी पागल हो जाये, तब भी वह साथ नहीं दे सकता, खोया हुआ मिल नहीं सकता, गया हुआ वापस आ नहीं सकता। यह दशा आ जाती है। और बिना देखे, बिना जाने केवल अपनी आवश्यकता को सामने रखकर गुरु के वाक्यों को सुनकर संतवाणी में श्रद्धा करके, ग्रन्थ के वाक्यों में श्रद्धा करके यदि उनको मान लिया जाता है और उनकी आवश्यकता अनुभव की जाती है तो इतने मात्र से मनुष्य के भीतर का सूनापन मिटने लगता है। अभाव मिटने लगता है। पराधीनता मिटने लगती है। भय और चिन्ता का नाश हो जाता है। ऐसा होता है। बहुत ही स्वाभाविक विकास मनुष्य का होता है। केवल सत्य की स्वीकृति मात्र से स्वीकृति क्या है?

जिस समय साधक जीवन के इस सत्य को स्वीकार कर लेता है कि जीवन परिस्थितियों पर आधारित नहीं है। वस्तुओं पर, व्यक्तियों पर, योग्यताओं पर आधारित नहीं है। उस समय उसके भीतर से दृश्यों का सहारा निकल जाता है। तो इसका सहारा छोड़ दिया तो यह अस्तित्वविहीन अपने आप हट जाता है। हमने छोड़ दिया तो छूट गया। हमने पकड़ लिया तो वह पकड़ में नहीं आता है। उसका लोभ, मोह गले का ढोल बन जाता है। न निकाल सको, न बजा ही सको। यह दशा हो जाती है। यह तो हो गई बाहर की बात। और जिस समय सत्य को स्वीकार करके हम बिना देखे, बिना जाने हुए उस नित्य जीवन की आवश्यकता अनुभव करते हैं उस नित्य सम्बन्धी की प्रीति की आवश्यकता अनुभव करते हैं, उस सामर्थ्यवान की कृपा-शक्ति की आवश्यकता अनुभव करते हैं, उसी समय से

अहंरूपी अणु में एक अद्‌भुत परिवर्तन आरम्भ हो जाता है।

महाराज जी ने शरणागति के बड़े अच्छे क्रम बताये। व्यक्ति कामनाओं की पीड़ा से हार जाता है, इच्छाओं की आपूर्ति से, प्रियजनों के संयोग से, वियोग से हार जाता है। हारा हुआ व्यक्ति सजग तो होता ही है, चेतना तो उसमें होती हो तो सचेत होकर जब वह देखता है कि इधर तो कुछ काम लायक है नहीं, तो संतवाणी सुनकर ठान लेता है कि भाई, इधर तो कुछ काम के लायक है नहीं, तो अब हम उसी के सहारे होकर रहेंगे। जब उसे ईश्वर-विश्वास के आधार पर प्रभु की शरणागति लेने की सलाह दी जाती है तो कहा जाता है कि तुम दुर्बल हो, निर्बल हो, असमर्थ हो, भूतकाल में बहुत से अपराध किये हो, दुनिया में कोई तुम्हारा साथी नहीं है, सब सहारे छूट गये हैं तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं हे। तुम जैसे हो वैसे ही सही, बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा को विद्यमान मान करके, स्वीकार करे उसकी शरण ले लो ओर अपनी ओर से एक बार कह दो, 'हे प्रभु! मैं तेरा।' महाराज जी कहते हैं कि प्रारम्भ में विश्वास-पंथ का जो साधक होता है, वह यही कह सकता है कि हे प्रभु। मैं तेरा, ओर इसका मुझे पूरा औचित्य मालूम होता है, क्योंकि वे अनन्त माधुर्यवान हैं, तो प्रारम्भ में उनका सहारा लेकर दुःख-सुख के द्वन्द में फँसा हुआ व्यक्ति थोड़ा रिलीफ चाहता है, थोड़ी राहत पसन्द करता है।

मैंने महाराज जी से ऐसे ही माँगा था। मैंने कहा था उनको कि बदलती हुई परिस्थितियों में बेबसी में जीना मुझको पसन्द नहीं आता है और इनका सामना करते-करते मैं थक गई हूँ तो महाराज! मैं कुछ ऐसा अचल आधार चाहती हूँ कि जिसके सहारे सिर टेक करके थोड़ी निश्चिन्तता की साँस ले सकूँ। अपने ढंग से मैंने ऐसे ही उनको बताया था ओर इसी के उत्तर में उन्होंने अनन्त माधुर्यवान-सर्वसमर्थ प्रभु की शरणागति लेने की बात कही थी। उनका सहारा लेने की बात बताई गई मुझे। तो आरम्भ होता है ऐसे। फिर आगे चलकर क्या होता है, कि जैसे ही उस नित्य विद्यमान का सहारा व्यक्ति जीवन में स्वीकार करता है तो बड़ी ही विचित्र बात यह होती है कि वह अपने ही भीतर-भीतर बल का अनुभव करने लगता है। निर्भयता का अनुभव करने लगता है। अनाथपन का दुःख तो तत्काल उसी समय खत्म हो जाता है। पहिले इस रहस्य को मैं जान नहीं सकी। लेकिन साधन-काल में कुछ दिनों के बाद मुझे बहुत सहज लगने लगा। क्यों? इसलिए कि जिसका सहारा लिया मैंने, वह तो अपने में पहले से विद्यमान है ही। उससे विमुख हो गई थी तो पता नहीं चलता था। उनके प्रिय मित्र ने - स्वामीजी महाराज की मित्रता थी भगवान के साथ - उनके प्रिय मित्र ने मुझे सलाह दी कि उनका सहारा स्वीकार करों मेरी स्वीकृति मात्र से मुझमें ऐसा परिवर्तन हो गया कि उनकी विद्यमानता का बल मुझको सबल बना रहा है। उनकी सरसता का रस मेरे भीतर के अभाव को मिटा रहा है। उनके दीन-बन्धु होने का स्वभाव की कोमलता से ही उन्होंने मुझको सँभाल लिया। सँभालते तो पहले भी थे। जब उनसे विमुख रहता है व्यक्ति, तब भी वही सँभालते हैं। अपने को पता नहीं कि अपने को सँभालने वाला समर्थ है। तो उसके सर्वसामर्थ्यवान होने में विश्वास नहीं किया था तो दौड़-दौड़ करके व्यक्तियों के पीछे आदमी हैरान रहता है। बड़े आदममियों से जान-पहचान कर लो तो समय पर काम हो जायेगा। अरे, क्या बड़ा आदमी भाई? कितना बड़ा आदमी दुनियाँ का होगा। उसको अपनी साँस पर अपना नियन्त्रण होगा क्या? जो अपने को ही नहीं सँभाल सकता है, तुमको कौन

सा सहारा दे देगा? यह भूल है न। इसी भूल में दीनता, अभिमान, क्षोभ, असन्तोष, अपमान सहते-सहते न जाने कितना समय बिता दिया हम लोगों ने। प्रभु की कृपा से, सन्त की कृपा से अब प्रकाश मिला है, जीवन में चेतना आई है और क्या जाने कौन-सी शुभ घड़ी उदित हुई कि किस प्रकार से आप उस सामर्थ्यवान की शरणागति को पसन्द कर रहे हैं। बड़ी अच्छी बात हो गई।

केवल ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से ही विचार किया जाये तो हमारे आपके लिये बड़े दूर की बात नहीं हैं, कि हम अपने में ही विद्यमान उनकी सरसता से, उनकी कृपालुता से, उनकी विद्यमानता से ऐसे अभिभूत हो जाएँ कि बाहर की चिन्ता, बाहर का भय, सब तत्काल समाप्त हो जाये। तो बल बढ़ता जाता है, निर्भयता और निश्चिन्तता बढ़ती जाती है, संदेह मिटता जाता है, विश्वास दृढ़ होता है। साधन काल में सब होता है और इसके बीच में वे परम कृपालु भटके हुए बच्चों को सँभालने के लिये विविध प्रकार की घटनाएँ रचते हैंऋ लीलाएँ रचते हैंऋ जिससे कि नया-नया साधक जो उनके सहारे रहने का साहस करके खड़ा हुआ है उसका बल बढ़ जायेऋ उसमें दृढ़ता आ जाये। यह सारी जिम्मेदारी प्रभु अपने में रखते हैं और ऐसी बढ़िया-बढ़िया बातें करते रहते हैं, जिसमें कि डगमगाता हुआ विश्वास अचल हो जाये। मनुष्य के व्यक्तित्व को सुगठित रखने के लिये और अपने प्रेम का पात्र बनाने के लिये बहुत-सी कलायें उनको मालूम हैं और बिगड़ी से बिगड़ी हुई जिन्दगी अगर उनके हवाले कर दी जाये एक बार, तो फिर वे छोड़ते नहीं है।

मैंने तो संत के पास बैठकर परमात्मा की चर्चा को सुनना इसलिये पसन्द किया था कि मैं प्रयोग करके देखूँगी, अगर मुझे अच्छा लगेगा तो मानूँगी, नहीं तो छोड़ दूँगी। प्रयोगशाला में से निकलकर आई थी और प्रयोग ही करने का विचार था, लेकिन स्वामी जी महाराज बड़े दूरदर्शी थे। अन्तदृष्टि थी उनकी, सो देख लेते थे साधक के भीतर। थोड़े-थोड़े दिन में मुझको याद दिलाते रहते थे। देवकीजी, हाथी को गन्ना पकड़ा देना आसान है, उसके मुख से छुड़ा लेना संभव नहीं है। हाथी को गन्ना बहुत पसन्द है न, तो गन्ना उसके मुँह में पकड़ाओ, यह बहुत आसान पड़ता है। वह एकदम लपक कर उसको पकड़ लेता है वह जब खाने लगे, जब उसका मीठा रस चखने लगे, तब उसके मुख में से निकाल लेना चाहो तो यह तुम्हारे बस की बात नहीं है। महाराज कहते कि भैया! वह पकड़ करके छोड़ना नहीं जानते हैं। तुम चाहो कि एक बार तुमने अपने को समर्पित कर दिया, अब फिर वहाँ से निकलकर भागना चाहो तो यह नही होगा। वे छोड़ेंगे नहीं किसी प्रकार से। तुम कितनी भी देर लगाओ, तुम कितना भी कुछ करो, वे पकड़ कर छोड़ना नहीं जाते हैं। यह तो उनके अपने विश्वासी होने की बात थी, भक्त होने की बात थी। मित्रता में इतनी घनिष्ठता हो जाती है कि सारी बातें इस तरह की होने लगती हैं, परन्तु यह सच्ची भी है। बिना किसी प्रकार के सन्देह किये, बिना किसी प्रकार के विकल्प किये, इस सत्य का अनुभव, हम सब लोग कर सकते हैं। जब मैंने सोचा तो मुझे ऐसा लगा कि उनमें इतनी आकर्षण शक्ति है, कि उससे खिंच जाने के बाद कौन उसमें से निकल सकता है?

इस तुच्छ जड़ जगत् को देखो तो। अगर इसकी सुन्दरता पर लुभा जाओ तो इसके आकर्षण में व्यक्ति ऐसे खिंच जाता है थोड़ी देर के लिए कि कर्त्तव्य को भी भूल जाये, माँ-बाप को भी भूल जाये, उचित-अनुचित को भी भूल जाये। जब उधर से नीरसता मिलती है, ठोकर मिलती है तो फिर इधर आता है। लेकिन उधर के आकर्षण

मेंऋ उधर की स्मृति मेंऋ उधर के सम्बन्ध में तो इतना तारतम्य है कि एक बार जिसने अपनी ओर से अवसर दिया - 'हे प्रभु! मैं तेरा' - उसके बाद फिर किसी को हटने का चांस नहीं आयेगा। बल बढ़ता जाता है, रस बढ़ता जाता है; घनिष्ठता बढ़ती है, अपनापन बढ़ता जाता है और फिर आगे चल के उसी साधक में इतना विश्वास बढ़ जाता है कि वह कहने लग जाता है कि 'हे प्रभु! तू मेरा!' प्रारम्भ में अपने असमर्थता के कारण, हम आरम्भ करते हैं 'हे प्रभु, मैं तेरा।' और आगे चलकर मित्रता-घनिष्ठता हो जाती है तो कहने लग जाते हैं, 'तू मेरा'। इस प्रकार उस सत्य का प्रभाव जो है, हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को शुऋ बनाता जाता है, हमारी सब विकृतियों को मिटाता जाता है और वह सर्वश्रेष्ठ कलाकार हमारे व्यक्तित्व को अपने प्रेम का पात्र बना लेता है। फिर जब प्रेम-रस जीवन में भर जाता है तो इसके बाद और कुछ करना शेष नहीं रहता। ऐसा होता है। इतना विकास हम सब भाई-बहनों का इसी वर्तमान में हो सकता है। इस मरणशील शरीर को लेकर नाश्वान धरती पर विचरण करते हुए भी इतना विकास हो सकता है। यह मानव-जीवन की बड़ी महिमा है।

थोड़े दिन पहले-करीब दो महीने पहले - महाराज जी का एक प्रवचन मुझे मिला, थोड़ा लिखा हुआ भी था और थोड़ा टेप किया हुआ भी था। बड़ी अच्छी बात मिली उसमें, कौन-सी अच्छी बात? कि भूतकाल में मैंने जो कुछ भी किया होगा, जो भी उसका दुष्परिणाम बना होगा, सबके सहित उस परम-पवित्र के हवाले अपने को कर दो तो हमारे जन्म-जन्मान्तर के सब अपराधों को मिटा करके, सब अपवित्रता का नाश करके, वे परम-पवित्र बना लेंगे और फिर प्रेम के आदान-प्रदान से हमें मस्त कर देंगे। बड़ी बढ़िया बात है। उत्साह जगता होगा। इस दिशा में पहले भी आपने प्रयास किया होगा विश्वास को दृढ़ करने के लिये और फिर जब नित्य-नियम के समय पूजा-पाठ और ध्यान के समय जब भीतर से रस की उत्पत्ति नहीं होती तब विश्वास-पथ का साधक थोड़ा परेशान होता है। विधि-विधान सब पूरा तो कर देता है, लेकिन थोड़ा परेशान होता है, तब क्या होता है, कि उसको अपनी साधना में ही सन्देह होने लगता है। मुझको भी हुआ था।

समर्पण के आद अगर चिन्ता होती है तो अपने में अपनी साधना में सन्देह होने लगता है कि मैंने समर्पण का पन्थ भी लियाऋ भगवत् समर्पित होने की साधना भी ली फिर भी अपने बारे में चिंतित हूँ। ये दोनों बातें तो नहीं होनी चाहिए। ऐसे सन्देह काल में स्वामी जी महाराज से मेरी बातचीत होती रहती थी। मैं अपने सब सन्देह सुनाती रहती थी। एक जगह पर उन्होंने ऐसे बताया है कि देखो भाई! तुम अपनी साधना में सन्देह मत करो। बिल्कुल ही सन्देह मत करो। पहले बात तो यही है कि अगर एक बार भी तुमने सच्चाई के साथ कह दिया है कि ''हे प्रभु! मैं तेरा' तो इसके बाद वे छोड़ेंगे नहीं तुमको। ठीक जगह पर लाकर के ही, अपने प्रेम का पात्र बना करके ही रहेंगे, इसलिये डरो मत। दूसरी बात उन्होंने कही है कि देखो, प्रभु में विश्वास करना और मेरा विश्वास दृढ़ हो जाये - इसकी आवश्यकता अनुभव करना, दोनों समान फल रखते हैं। कितनी बड़ी बात हो गई! उनके प्रेमी हो जाना, हम लोगों के लिए तो बहुत दूर की बात मालूम होती है क्योंकि प्रेमियों ने प्रेम की बड़ी ऊँची कसौटी सुना दी। क्या सुना दिया। सन्त कबीर ने कहा,

'यह तो धर है प्रेम का, खाला का घर नाँहि।

शीश उतारै भुईं धरै, सो पैठे घर माँहिû'

अरे बाबा! शीश उतारने की हिम्मत न हो तो क्या करें? अहं का नाश करने की हिम्मत न हो तो उस घर के दरवाजे पर कैसे जाएँ? और त्याग करना और त्याग के अभिमान का भी त्याग करना - इतनी हिम्मत न हो तो कैसे उनके प्रेमी कहलाएँ? हम लोगों को बड़े दूर की बात मालूम होने लग जायेगी तो कहीं हम डर न जाएँ, कहीं कदम पीछे न हटा लें, इसके लिये परम कारुणिक संत ने अपने प्रिय मित्र की और रहस्य भरी बात सुना दी और कह दिया कि देखो, प्रभु का प्रेमी होना ओर प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करना - दोनों समान अर्थ रखते हैं। अब तो नाम नहीं कटेगा? अरे भाई, यह मन तेरा, यह धन तेरा, यह सब कुछ तेरा, मुझ पर तेरा पूरा अधिकार है। मुझ पर मेरा अब कोई अधिकार नहीं है क्योंकि मैंने अब अपने को दे दिया। तो दे देने के बाद फिर अपने पर अधिकार रहता है क्या? नहीं रहना चाहिये न? और दे देने के बाद फिर उसको सँभालने की जिम्मेदारी रहती है क्या? जिसको आपने समर्पित कर दिया, दे दिया, उस पर कोई शर्त लगाई जाती है क्या? कि देखो मैंने दिया है अब तुम सँभाल कर रखना। वह उठाकर वापस कर देगा कि तुम ले जाओ अपना। तो शर्त नहीं लगाना है, अधिकार नहीं मानना है और ऊँचे-ऊँचे भक्तों ने अपने से यह सब हम लोगों को करके दिखाया।

प्रवचन 72

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

इस व्यक्तित्व में जो भौतिक तत्व है, उसे अपना मत मानो, अपने लिये मत मानो, उसे संसार की सेवा में लगा दो तो फिर शरीर की सुरक्षा, शरीर की जरूरतों को पूरा करने की चिन्ता - यह सब अपने को नहीं करना पड़ेगा। अपने सिर पर यह भार नहीं आयेगा। समाज किसी का ऋणी नहीं होताऋ भगवान किसी के ऋणी नहीं रहते_ कर्त्तव्य किसी का निष्फल नहीं जाता। इसका अर्थ यह है कि संसार की वस्तु संसार की सेवा में लगा देने पर उसकी देखभाल का अपने को भार नहीं लेना पड़ता_ चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

अपने सम्बन्ध में महाराज जी ने हम लोगों को यह सलाह दी कि अपने को ईश्वर की मर्जी पर छोड़ दो। ईश्वर-विश्वासी जो साधक होते हैं, जिन्होंने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया ओर ईश्वर की आराधना के द्वारा अपने सर्व-दुःखों की निवृत्ति, चिरशान्ति की प्राप्ति ओर उनके प्रेमी होना भक्त होना पसन्द किया, उनके लिये सन्त की सलाह है कि वह फिर अपना करके अपने में कुछ मत रखे। अपने पर अपना कोई अधिकार नहीं है। अपना कोई संकल्प नहीं है। अपनी कोई कामना नहीं है। अपने में किसी गुण का अभिमान नहीं है - इन्हीं सब बातों को इकट्ठा करके महाराज जी ने दो-तीन शब्द बताए - अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न।

अकिंचन किसको कहते हैं? अकिंचन उसको कहते हैं जो अपना करके कुछ नहीं रखता। किसी वस्तु पर जो अपना अधिकार नहीं मानता - वह अकिंचन है। अचाह कौन है? जो किसी से कुछ नहीं चाहता। न संसार से, न संसार के मालिक से। यह नहीं कि संसार से कुछ नहीं चाहते हैं, लेकिन भगवान से चाहते हैं, सो नहीं। जो किसी से कुछ नहीं चाहता, वह अचाह होता है। और अप्रयत्न कौन होता है? जो प्राप्त सामर्थ्य को संसार की सेवा में लगाकर, स्वयं कर्म और कर्त्तापन के अभिमान - दोनों से ही मुक्त रहता है। वह अप्रयत्न होता है। अप्रयत्न का अर्थ होता है कि जिसने सब शक्ति भगवान की मानी और सब

काम भगवान का माना, और सेवा का अवसर भगवान का दिया हुआ माना। तो प्रभु की दी हुई शक्ति, प्रभु का दिया हुआ अवसर, प्रभु की बनाई हुई सृष्टि की सेवा में लग गया, इसमें मेरा अपना करके कुछ नहीं है - ऐसा जो जानता है, वह अप्रयत्न होता है।

अकिंचन होना, अचाह होना, अप्रयत्न होना जिसे आ गया, वह अपने को भगवान की मर्जी पर छोड़ सकता है। जिन लोगों ने हृदय की भावुकता के आधार पर, हृदय की कोमलता के आधार पर अपने को ईश्वर के समर्पित किया, उन्होंने अपने जीवन में अपना करके कोई सुख नहीं रखा। और जिसको अपना सुख पसन्द है, वह भक्त नहीं हो सकता। ईश्वर-विश्वासी तो हो सकता है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना, बिल्कुल अलग बात है। ईश्वर का भक्त होना बिल्कुल भिन्न बात है। सत्ता में विश्वास बहुत लोग करते हैं और महाराज जी कभी-कभी अपनी विनोदी भाषा में हम लोगों को कह देते थे कि भाई! ईश्वर में विश्वास तो चोर-डाकू भी करते हैं। जब चलते हैं, चोरी-डकैती करने के लिए, तो ईश्वर को मना के चलते हैं और महाराज जी ने एक बार ऐसे लोगों की बातों को सुना था। बता रहे थे कि एक बार मैं निर्जन में एक कुटिया में रहता था। अकेले रात्रि के समय बैठा था - दो बजे रात से जगने की आदत महाराज जी की शुरू से ही थी, नई उमर में जब से साधु हुये तभी से, क्योंकि साधना का यही समय सबसे बढ़िया होता है - दो बजे रात को बैठे थे-अपनी साधना में, अपनी आराधना में। तो रास्ते से होकर निकल रहे थे ऐसे ही रात में विचरण करने वाले लोग, आपस में कुछ-कुछ बातें कर रहे थे और डर भी रहे थे कि कुटिया में साधु जग रहा है, कहीं सुन न ले। स्वामी जी महाराज ने सुनी उनकी बात, अब जब से सामने से निकलने लगे, महाराज जी ने देखा। देखने से उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा होगा। कहने लगे कि बाबा! तुम चुपचाप बैठ करके भजन करो। हम लोग चोर हैं। चोरी करने जा रहे हैं। स्वामी जी महाराज बता रहे थे, ईश्वर में विश्वास करना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। चोर भी चोरी करने जाता है तो ईश्वर को मना के जाता है। भगवान उसकी यात्रा सफल करें, अर्थात् जहाँ वो सेंध मारने जा रहा है वहाँ उसकी यात्रा में सफलता हो।

ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से, भगवद् भक्ति की दृष्टि से, महाराज जी के पास आकर मुझे यह सुनने को मिला कि ईश्वर में विश्वास करना बिल्कुल अलग बात है और ईश्वर का भक्त होना बिल्कुल उससे भिन्न बात है। विश्वास तो हम लोगों में से बहुत लोग करते हैं और कभी-कभी मैं सोचती हूँ तो मुझे ऐसा लागता है कि शरीर से तादात्म्य रखकर संसार-जनित सुख भोगने वाला व्यक्ति हर बात में अपने को पराधीन और असमर्थ अनुभव करता है और जिसको पराधीनता सतायेगीऋ जिसको असमर्थता सतायेगी, जिसको असहायपन सतायेगाऋ वह ईश्वर की सत्ता को माने बिना रह ही नहीं सकता। क्या करेगा ओर? कुटुम्बीजनों ने साथ छोड़ दिया। अपने दल के लोगों ने अपनी पार्टी से नाम काट के बाहर निकाल दिया। कमाई हुई सम्पत्ति डूब गई। बड़ा सुन्दर स्वस्थ शरीर रोगी, असमर्थ हो गया। अब क्या करें? अब बाहर कोई सहारा नहीं दिखाई देगा, तो हारकर, पछताकर व्यक्ति को एक ऐसे सामर्थ्यवान् में विश्वास करना ही पड़ता है, जो कि ऐसी दशा में भी साथ दे सकता हो।

मैंने ईश्वर में विश्वास क्यों किया था? बचपन की बात तो जानती नहीं हूँ। माता, पिता, भाई, बन्धु परिवार के लोग क्या बातचीत करते थे, किस प्रकार का संस्कार देते थे, वो तो अनजान

अवस्था की बात में नहीं कर सकती। लेकिन मुझको ईश्वर की सत्ता को मानने के लिये इसलिये बाध्य होना पड़ा कि उन्होंने मेरे लिए कुछ योजना ही सोच रखी थी कि मैं तुमको मनवा के ही छोडँ़ूगा। जब कोई अपनी ओर से विचार करो, जब कोई अपनी ओर काम करने चलो, जब कोई अपनी ओर से योजना बनाओ, तो अपनी ओर से मेरा सब किया कराया उलटा-पुलटा हो जाता। मैं ऐसा सोचूँ तो हो जाए कुछ दूसरा, मैं ऐसे करूँ तो हो जाए कुछ और, तो मुझे बाध्य होकर के एक सामर्थ्यवान् की सत्ता को स्वीकार ही करना पड़ा कि भाई! कोई है जरूर, जो मुझसे ज्यादा जबरदस्त है। मैं करना चाहती हूँ कुछ, वह उलट-पुलट कर देता है सब। तो मनुष्य अपने आप में असमर्थता अनुभव करता है, बेबसी अनुभव करता है और जो अपने में असमर्थता अनुभव करेगा, वह एक सामर्थ्यवान् की सत्ता को स्वीकार किये बिना रह ही नहीं सकता है। तो सत्ता को स्वीकार करना एक बात है और उसके प्रेमी होना बहुत ऊँची बात है। बहुत मीठी बात है और बड़े ऊँचे विकास की चर्चा है।

ईश्वर में विश्वास करना - यह तो बहुत मामूली बात है। मनुष्य की रचना में, जहाँ विवेक का बल है, जहाँ शरीर का बल है, वहाँ एक विश्वास करने का तत्व भी है। तो जैसे हम लोग बहुत-सी बातों में विश्वास करने का तत्व भी है। तो जैसे हम लोग बहुत-सी बातों में विश्वास करते हैं, ऐसे ही ईश्वर में विश्वास करते हैं, बिना देखे, बिना जाने भी। तो विश्वास करना कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु सन्त ने बताया कि यदि जन्म-जन्मान्तर की नीरसता का नाश ही करना चाहते हो, यदि सदा-सदा के लिए अपनी असमर्थता को मिटा ही देना चाहते हो, यदि जन्म-मरण की यातनाओं का अन्त ही करना चाहते होऋ यदि परम प्रेम से अपने को भरपूर करना ही चाहते होऋ तो ईश्वर के प्रेमी बनो। और ईश्वर प्रेमी बनने का अर्थ क्या है? कि अपने को उसकी मर्जी पर छोड़ दो। यह ईश्वर-विश्वासी से बहुत ऊँची चीज है।

हम लागों में से बहुत से भाई-बहिन ऐसे बैठे हैं, जो कसी न किसी कारण से ईश्वर में विश्वास तो करते ही हैं। अब साधन की दृष्टि से भक्ति-पथ के साधकों के लिये सन्त की सलाह यह है कि विश्वास करो ओर उसके आगे एक बात और रख लो कि केवल उसी में विश्वास करो। यहीं पर आकर कठिनाई पड़ जाती है। ईश्वर में विश्वास करो और अगर भक्त होना चाहते हो, उनकी कृपालुता, महिमा के भरोसे सदा के लिये निश्चिन्त और निर्भय होना चाहते हो, तो विश्वास करो और केवल ईश्वर में विश्वास करो। ईश्वर-विश्वास के साथ फिर अन्य विश्वास मत रखो। अब यहाँ से भक्ति-पथ की साधना का आरम्भ होता है। ईश्वर-विश्वास किया, यह तो बहुत सामान्य स्तर की बात है और स्वभाव की बात है, परिस्थिति की बात है, बनावट की बात है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। लेकिन अगर हम लोग विशेषता लाना चाहते हैं और अनेक ईश्वर-विश्वासियों ने जैसा कहा, संत कबीर ने कहा -

'भगतबछल हरि नाम सुन, दियो कबीरा रोय।

अधम उधारन नाम सुन, गयो कबीरा सोय।'

सन्त कबीर ने सुना कि प्रभु भक्तवत्सल हैं, उनको रोना आ गया। रोने लग गये कि मैं भक्त होऊँ तब तो उनकी भक्त वत्सलता मेरे काम आवे। बड़ी कठिन शर्त हो गयी। उन्होंने फिर सुना कि नहीं-नहीं भगवान केवल भक्तवत्सल नहीं हैं, भगवान अधम-उद्धारन भी है, तब कबीर तान करके सो गये। अब बात बन गई। केवल

भक्तवत्सल होते तब तो मेरे लिये मुश्किल था भाई, भक्त हो पायें, तब उनका सम्बन्ध जुटे। नहीं-नहीं, केवल भक्तवत्सल नहीं है, वे तो अधम-उद्धारन भी हैं। तब निश्चिन्त हो गये। दूसरे भक्त ने कहा,

'माला जपूँ न कर जपूँ, मुख से कहूँ न राम,
हरि मेरा सुमिरन करैं, मैं पायो विश्राम।'

एक दूसरे भक्त ने कह दिया, उसको मिल गया विश्राम। उसने कविता करने का मजा लेने के लिये यह बात नहीं कही थी। उनके लिये उनके जीवन का सत्य हो गया था। किसी प्रकार की क्रिया का कोई लेश नहीं है ईश्वर की भक्ति में। मुख से राम कहना जरूरी नहीं है। मन में, तन में रम रहा है। कहेंगे क्या? जिस प्रकार उनको निश्चिन्तता आ गई, जिस प्रकार उनको निर्भयता आ गई, जिस प्रकार उन्होंने अपने आप में इस बात का अनुभव कर लिया, इस तरह की बातें हम लोगों को सुना दीं।

मैंने सन्त शहंशाह जी की जीवनी पढ़ी थी। उसमें उन्होंने पैतृक सम्पत्त जो दी है सत्संग-भवन बनाने के लिये, सत्संगी लोगों के लिए दान कर दी, अब रख कर क्या करेंगे, अचाह हो गये थे। स्वयं कृतकृत्य हो गये थे। भगवान के साथ उनका सीधा सम्बन्ध हो गया था। अब दुनिया की सम्पत्ति रखकर क्या करेंगे? उन्होंने अपने भतीजे से सलाह की, बड़ी प्रशंसा लिखी है भतीजे की, कि उसने बड़ी उदारता की, मैंने ऐसे कहा तो उसने मान लिया। भतीजा नहीं मानता तो उसका हक होता न, तो आधा बाँटना पड़ता। बहुत सम्पत्ति नहीं थी तो उसने मान लिया। तो दिया है उन्होंने, और जो कागज लिखा जाता है, सरकारी लिखा-पढ़ी होती है, उस कागज में जब लिखने के लिए उनसे कहा गया तो उनको तो और कुछ सूझा नहीं, बड़ी अच्छी अंग्रेजी भाषा में चार पंक्तियां लिख दीं - लिखा हुआ है - 'My property all is truth and peace. – All struggle of life in me do cesae. – I; care for God. – He cares for me, My thoughts and actions are entirely free.' ये लिखा है उसमें। ऐसा मजा आया मुझ को पढ़ करके। लिखा उन्होंने, मेरी जितनी सम्पत्ति है वह सत्य और शान्ति है। और मेरे भीतर का जितना संघर्ष था वह अब समाप्त हो गया है। अशान्ति मिट गई ना। ममता का भार चला गया। कामना का विकार चला गया। बेचैनी तो रही नहीं। मेरे भीतर जितना संघर्ष था वह सब खत्म हो गया। अब कुछ नहीं है। और बिल्कुल बेपरवाह।

स्वामीजी के साथ उनका कभी घना परिचय था। महाराज कहते, अगर उनको कभी किसी चीज की जरूरत पड़ी, उन्होंने कभी किसी से माँगा नहीं, दुकानों में घुस जाते और दुकानदार से कहते, अरे देख, यह मैं उठा रहा हूँ, कह करके जो लेने का मन हो, उठा करके वहाँ से चल देते। ठीक जैसा कि उन्होंने अपने में अनुभव किया कि मैं भगवान को प्यार करता हूँ और भगवान मुझको प्यार करते हैं। मेरा उनसे जब इतना सीधा सम्बन्ध हो गया, और अपने में भगवान से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध का अनुभव हो गया, तो वे बिल्कुल निर्भय, निश्चिन्त हो गये, बिल्कुल निर्भय निश्चिन्त, ऐसे फक्कड़ और इतने निद्रवन्द्व रहने वाले वे सन्त। जिन लोगों ने उनका निकट सम्पर्क पाया है वे ही इस आनन्द को जानते हैं। हम लोगों में से जितने भाई-बहिन यहाँ बैठे हैं, ईश्वर में विश्वास भी करते हैं, और ईश्वर-विश्वास के माध्यम से जीवन को सफल बनाना भी चाहते हैं। ओर यह भी चाहते हैं कि चिन्ता भी छूट जाये, दुःख भी मिट जाये, आवागमन की चिन्ता भी छूट जाए, और हृदय में प्रेम भी भर जाये, ईश्वर से मेरा साक्षात्कार हो जाये,

ईश्वर का प्रेमी मैं हो जाऊँ, मेरे प्रेम भरे जीवन से, मेरे प्रेमपूर्ण पूजन से, मेरी प्रियता भरी आराधना से, भगवान को भी आनन्द आ जाए - इस तरह की अभिलाषा रखते हैं। इस प्रकार की अभिलाषा रखने वाले साधकों के लिए सन्त ने यह सलाह दी कि भाई, ईश्वर के प्रेमी होना चाहते हो ओर प्रेम-पन्थ के माध्यम से जीवन को सफल बनाना चाहते हो, तो फिर अपने को ईश्वर के संकल्प पर छोड़ दो, संसार से भी कुछ मत चाहो, ईश्वर से भी कुछ मत चाहो।

एक बार स्वामी जी महाराज से ईश्वर के सम्बन्ध को सजीव बनाने की चर्चा कर रही थी। मुझको निर्जीव ईश्वर-भक्ति पसन्द नहीं आती है। ऊपर से सब विधि-विधान से पूजा भी किये जा रहे हैं, सब करते जा रहे हैं और सचमुच जो नित्य निरन्तर दिव्य चिन्मय अविनाशी तत्व मुझमें ही विद्यमान है, उसके साथ अपना अगर कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मालूम होता, उसकी विद्यमानता का अपने को आभास नहीं मिलता, उसकी विभूतियों से अपना अनुभव शून्य है, उसके प्रेम से अपना हृदय शून्य हैं, तो केवल तवनजपदम वाला, विधि-विधान, क्रियाकलाप वाला साधन, मुझको बिल्कुल भी पसन्द नहीं था। जब तक भीतर से कुछ लगाव न मालूम हो तब तक ऊपर से मैं उसका नाम लेती रहूँ - ऐसा साधन मुझको बचपन से ही पसन्द नहीं था। मैं बहुत छानबीन किया करती थी, तीन-पाँच लगाया करती थी, कितना भी स्वामी जी महाराज हृदय की कोमलता से सत्य को कहते जाएँ। भक्त की वाणी में भगवान की महिमा होती है।

महाराज जी के सामने जब कभी मैं अपने व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कोई त्रुटि जनक बात कहूँ, कुछ और बताऊँ तो महाराज जी को अच्छा नहीं लगता था। एकदम इन्कार करते थे। कहते थे कि देखो भाई! मैं रचयिता में तो दोष स्वीकार कर नहीं सकता। उन्होंने रचना में तो कोई कमी रखी नहीं है और आप अब अपनी भूल से प्रकार-प्रकार के दोषों का वर्णन करती रहे तो इसके लिये मैं रचयिता को दोषी नहीं बना सकता। पहले तो उनकी ओर से अच्छी तरह से मुझको समझा देते, फिर मैंने देखा कि भक्त की वाणी में भगवान की महिमा भरी रहती है, हर समय, बारम्बार, स्वामीजी महाराज ने मेरा ध्यान ईश्वर की महिमा पर ही दिलाया। जब कभी मैं ईश्वर की महिमा को स्वीकार करने से पहले की बात, अपनी तैयारी की चर्चा करूँ, तो उसमें एक बार बहुत ही सजीवता के साथ महाराज जी ने मुझसे यह कहा कि देवकीजी! तुम परमात्मा से कुछ माँगना मत। तो माँगने का मतलब क्या? मेरे सामने धन-वैभव, मान-प्रतिष्ठा माँगने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। यह सब तो सूची में से पहिले ही कटा दिया था महाराज ने, अब माँगने का रह गया था कि मुझमें बल दे दो। किसे बात के लिये? कि हम अपनी यह सफाई कर लें, कि हम अपना यह झाड़-पोंछ कर लें - फिर बड़े-बड़े भक्तों के चरित्र में जो ईश्वर की विभूतियों का दर्शन हुआ करता है, उस पर भी दृष्टि जाती है। महाराज जी ने मुझसे कहा कि देखो, तुम उनसे कुछ माँगो मत। क्यों? एक बात तो सबके लिये सामान्य रूप में उन्होंने कहा कि जो साधक को चाहिए, सबको बिना माँगे देते हैं। जानते हैं कि किसको क्या चाहिये। जिसको जो चाहिये बिना माँगे दे देते हैं, तो उनसे माँगने का अर्थ क्या है?

दूसरी बात उन्होंने जो निम्न स्तर की, जो हम लोगों की दशा होती है उसके बारे में कहा कि देखो सारे संसार की सुखद सम्पत्ति से कहीं ऊपर ईश्वर का विश्वास है और ईश्वर-विश्वास का ऊँचा से ऊँचा फल, ईश्वर के प्रति प्रेम है। जीवन की जो सबसे ऊँची उपलब्धि है, उसके मार्ग पर चलते

हुये, जीवन में जो सबसे महत्वपूर्ण तत्व है ईश्वर का विश्वास ओर ईश्वर का प्रेम उसको अपनाने के बाद, फिर तुमने अगर कोई संसार की वस्तु माँगी तो इससे बढ़कर घाटा और कुछ नहीं हो सकता। सारे संसार के वैभव से अधिक मूल्यवान है मनुष्य के जीवन में ईश्वर के प्रति प्रेम और ईश्वर के प्रेमी होकर फिर संसार माँगना, इससे बढ़कर घाटा और कुछ हो नहीं सकता। इसलिये तुम ईश्वर से कुछ माँगना मत। मैं चुप हो गई, सोचने लगी कि देखें सन्त की कही हुई इस बात को मैं पकड़ सकती हूँ कि नहीं। मुझको सोचते हुये देखकर महाराज जी ने एक आपका यह साहस है। बिना देखे, बिना जाने हुये पर बिना किसी शर्त के अपने को छोड़ देना - यह बहादुरी आप ही कर सकते हैं, और आपकी इसी बहादुरी पर भगवान अपने को न्यौछावर करते हैं।

मैंने वैष्णव-सम्प्रदाय की एक गूढ़ रहस्य की बात सुनी। महाराज जी ने कहा कि वह परमात्मा, वह परम तत्व, वह दिव्य चिन्मय, अनन्त, मनुष्य के हृदय के प्रेमभाव को वरण करने के लिये लालायित रहता है। कहते-कहते महाराज जी ने यह कह दिया कि जिस प्रेमभाव को ग्रहण करने के लिये ब्रह्म के प्रेम को पाने के लिये तुम अपनी तुच्छ कामनाओं को भी नहीं छोड़ सकते। यह कहा ब्रह्मा अपना ब्रह्म भाव छोड़कर जीव भाव को स्वीकार कर लेता है तुम्हारी बराबरी में आकर, तुम्हारा मित्र बनकर, तुम्हारा पुत्र बनकर, तुम्हारा सखा बनकर, तुम्हारे हृदय के प्रेम-भाव को ग्रहण करने के लिये, उसका आस्वादन करने के लिये। तो ब्रह्म अगर ब्रह्मपद को छोड़ सकता है मानव-हृदय के प्रेम-भाव को लेने के लिये, तो क्या हम लोग अपनी तुच्छ कामनाओं को नहीं छोड़ सकते, उस ब्रह्म को आनन्द देने के लिये?

मानव सेवा संघ का ईश्वर वाद, मानव सेवा संघ की भक्ति-भावना विश्व-व्यापी है। यह साम्प्रदायिक सीमाओं में बँधा हुआ नहीं है। किसी को अपना पन्थ छोड़ने को नहीं कहता। किसी को नया पन्थ पकड़ने को नहीं कहता। जो जैसा है, जहाँ है, ठीक है। यह जीवन का सौदा है, बाकी बाहरी बातें तो बाहर की हैं। इसलिये इसमें कोई भेदभाव है ही नहीं।

महाराज जी से किसी ने पूछा, भगवान ने सृष्टि क्यों बनाई? तो महाराज ने कहा, मेरे लिये। आदमी बड़ा आश्चर्यचकित हो गया कि यह क्या बात? महाराज ने कहा, बिल्कुल ठीक कहता हूँ, भगवान ने सृष्टि बनाई थी मेरे लिये, मुझको बनाया था अपने लिये। बाइबिल की कथा मैंने खूब पढ़ी है, बड़ी सुन्दर-सुन्दर कथायें हैं। भगवान ने मनुष्य को बनाकर, जैसे एक समर्थ पिता अपनी सन्तान के लिये सब कुछ सुन्दर से सुन्दर, बढ़िया से बढ़िया, सुखद से खुद कर देना चाहता है, बाइबिल की कथा में इसी प्रकार से सब कुछ लिखा है। भगवान ने मनुष्य को बनाया और बड़ी सुन्दर धरती, खूब सुन्दर आकाश, ऋतुएँ, वर्षा, हवा और अन्न, फल-फूल कि किस तरह से मेरी सन्तान इस सृष्टि में जाकर आनन्दित होकर रहे-ऐसा सब उन्होंने किया। कभी-कभी मैं वस्तुओं को लेकर परमात्मा की पूजा के लिये, बाह्य रूप से भी और अन्तर से भी प्रवृति में लगती हूँ तो भीतर-भीतर मुझे लगता है कि अरे, परमात्मा ने तो यह सब बना दिया था तुम्हारे लिये, उनको यह सब थोड़े चाहिये। ये सब तो तुम्हारे लिये बनाया था। इन भौतिक तत्वों को छोड़ दो, सब वस्तु सामग्री भेंट में जो हम लोग ले जाते हैं, इन सब भौतिक तत्वों को छोड़ दों। तुमको तो उन्होंने एक अपनी अलौकिक विभूति देकर के रचा था, तुम्हारे पास जो परमात्मा का दिया हुआ एक अलौकिक हृदय

तत्व है, इसके लिये वह परमात्मा लालायित रहता है। तो तुम उनको अपने को दो और जो वस्तु सामने आती है उन वस्तुओं के द्वारा उनकी सृष्टि में प्राणियों की सेवा कर दो। वस्तु लेकर क्या करेंगे भगवान?

कभी-कभी सोचने से ऐसा लगता है कि जिसके संकल्प मात्र से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना हो जाती है, वह मेरी वस्तुओं को लेकर क्या करेगा? वस्तु की जरूरत उसे नहीं है। उसे तो चाहिए, हमारे हृदय का प्रेम-भाव। प्रेम-भाव जो है, वह लौकिक वस्तु नहीं है और साधक का अहम् ;मैं-पनऋ जिसको हम लोग 'मैं-पन' कहते हैं - यह 'मैं-पन' का भास जो होता है, यह सीमित अहम् साधक का, जब प्रेम की धातु में परिवर्तित हो जाता है, तभी प्रेमास्पद से उसका मिलन होता है। तो हम लोगों के पास यही एक अलौकिक तत्व है, जिसको पाने के लिये वह परमात्मा लालायित रहता है।

हम सब लोग, सचमुच यदि भक्त होना चाहते हैं तो उन्हीं का दिया हुआ यह हृदय तत्व जो है, उसी को जड़ता से रहित, कठोरता से रहित, विकारों से रहित बनाने के लिये पुरुषार्थ करें और जब यह उनके प्रेम का पात्र हो जायेगा, तो वे स्वयं इसको अपना लेंगे, वे स्वयं इसको अपनी अनन्त मधुरता से भर देंगे। उनकी ओर से जब उनकी विभूतियाँ साधक के व्यक्तित्व में बरसने लगती हैं, भरने लगती हैं, तब उसका कोई अन्त नहीं होता, कोई सीमा नहीं होती। अपने को छोड़ दो ईश्वर की मर्जी पर - इसका यह अर्थ मैंने समझा। अब समय पूरा हो गया।

प्रवचन 73

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

मानव जीवन का एक बड़ा ही रहस्य है और वह यह है कि जो जीवन का मौलिक तत्व है, जो सत्य है जिसक हम सभी भाई-बहिन आवश्यकता अनुभव करते हैं, वह मारे लिए अलख-अगोचर-अगम्य है, समझ में नहीं आता। और ज्ञानेन्द्रियों से - आँख, नाक, कान इत्यादि इन्द्रियों से - जो देखने में आता है, वह किसी की पकड़ में नहीं आता। तो है, जिससे कभी सम्बन्ध-विच्छेद सम्भव नहीं है, वह अलख, अगोचर, अगम्य होने के कारण से अपने लिये बड़ा ही दुरूह मालूम होता है। अपने से बहुत दूर मालूम होता है, बहुत रहस्यमय और छिपा हुआ मालूम होता है और जो दृश्य जगत् कभी किसी की पकड़ में नहीं आया, वह प्रतीत हो रहा है।

अब अपने सामने पुरुषार्थ क्या है? जिसकी प्रतीति हो रही है, जिसमें स्थिति नहीं है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसके प्रभाव को अपने जीवन पर से हटा दिया जाये - यह पुरुषार्थ है हम लोगों का। दृश्य जगत् किसी की पकड़ में आता नहीं है। पाँच-भौतिक तत्वों से रचे हुए शरीर किसी की पकड़ में रहते नहीं हैं। अपने स्वभाव से बनना, बदलना, बिगड़ना और मिटना - अनवरत क्रम चल रहा है - निर्माण और विनाश का। किसी भी क्षण में निर्माण और विनाश के क्रम में कोई रुकावट नहीं आती है, न किसी प्रकार लाई ही जा सकती है। इसके प्रभाव में हम स्वयं फँस जाते हैं। कौन-सा प्रभाव? शरीर बना रहेगा, तो दिन सुख से कटेंगे। बना रहेगा - इसका तो कोई आधार नहीं है। स्वयं हम देख भी रहे हैं कि यह जो बदलता ही जा रहा है; छूटता ही जा रहा है। एक शरीर जो अपने पास है, इसके समान न जाने कितने शरीरों का नाश प्रतिदिन हो ही रहा है। इस बात को जानते हुये भी, इस शरीर के माध्यम से, सुख लेने का प्रलोभन अपने भीतर हम रखते हैं,

इसलिये शरीर से तादात्म्य नहीं तोड़ पाते। इसकी आसक्ति नहीं छोड़ पाते, तो इसके नाश के भय से भी अपने को मुक्त नहीं कर पाते। इन बनने-बिगड़ने वाले शरीर को अपना मानने से इसके स्वभाव में कोई फर्क होता है? नहीं होता है। वो जैसा है, वैसा है।

अब प्रतीत होने वाले जगत् के साथ अपने को क्या करना है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। अनुभवी सन्त की वाणी में, मैंने ऐसा सुना कि जगत् के साथ सम्बन्ध रखना भी साधन रूप बन सकता है, ओर सम्बन्ध तोड़ना भी साधन रूप बन सकता है। यह बात हम भाई-बहिनों के लिये बहुत उपयोगी है। इसलिये इस पर विचार कर लिया जाये। अनुभवी सन्त कहते हैं कि संसार के साथ सम्बन्ध मानना साधन रूप हो सकता है - शरीर धर्म के पालन से। शरीर क्या है? जगत् का एक छोटा नमूना है। जिसकी उत्पत्ति हो, जिसमें परिवर्तन हो, जिसका नाश हो, उसी को संसार कहते हैं। तो यह लक्षण शरीर पर भी घटित होते हैं। इसकी उत्पत्ति हुई है, इसमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है और उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से शरीर भी संसार ही है। संसार का एक छोटा नमूना है। इसको लेकर जब इस जगत् में हम रहते हैं, तो हमारे लिये शरीर और संसार की सम्बन्ध को निभाना, साधन रूप होना चाहिए।

साधन रूप होने का अर्थ क्या है? कि इन दोनों के सम्बन्ध के निर्वाह में मेरा अपना उत्थान हो जाना चाहिए। ठीक है? अब उपाय कैसे करें? कैसे सम्बन्ध को निभायें? बहुत सीधी-सादी सहज-सी बात है। आपको आवश्यकता है, अविनाशी जीवन की। शरीर और संसार दोनों सजातीय हैं अर्थात् दोनों नाशवान स्वरूप के हैं। इसलिये इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्वाह तो अपने को करना है, लेकिन अपने लिये इन दोनों की आवश्यकता नहीं है। दोनों का निर्वाह कैसे होता है? जो लोक शरीर को संसार की धरोहर मान लेते हैं, भौतिकवादी दृष्टिकोण से जो व्यष्टि और समष्टि की एकता को स्वीकार कर लेते हैं, उनके लिये सहज होता है कि शरीर और संसार के सम्बन्ध का सुन्दर निर्वाह कर सके।

यह मेरा नहीं है, यह मेरे लिये नहीं है, यह मेरे काम नहीं आ सकता है - यह भौतिकवाद का सिद्धान्त है; व्यष्टि और समष्टि की एकता का सिद्धान्त है। जब शरीर और संसार की सजातीयता है, दोनों को एक-दूसरे से अलग कर ही नहीं सकते हैं, तो एक शरीर को अपना मानना और अन्य शरीरों को पराया मानना - इसी भ्रम से हम एक शरीर की आसक्ति में फँस जाते हैं और एक को सुख देने के लिये, एक को बनाए रखने के लिये अनेकों की हानि पहुँचाने में हिचकते नहीं हैं। परिणाम क्या होता है, कि अपने भीतर राग और द्वेष आ जाता है। राग-द्वेष के विकार से अनेकों असाधन जीवन में आ जाते हैं। इस भूल को मिटाये बिना किसी भी प्रकार की कोई विध्यात्मक साधना सिऋ नहीं होती। जिस जीवन में राग-द्वेष रहेगा, उसमें विश्व जीवन के साथ एकता नहीं बनेगी, विश्व-प्रेम जीवन में नहीं उपजेगा। जहाँ राग और द्वेष रहेगा, वहाँ अहं का नाश नहीं होगा। सीमित अहं के मिटाये बिना अमर जीवन की अभिव्यक्ति नहीं होगी। सीमित अहं भाव के मिटाये बिना निजस्वरूप में स्थिति नहीं होती। जिस हृदय में राग-द्वेष का विकार रहेगा उस हृदय में परम-पवित्र प्रेम-तत्व की अभिव्यक्ति नहीं होती।

अब देखिए। यह बात जब ठीक है तो पहला पुरुषार्थ अपना क्या है, कि हम सब लोग सत्संग के प्रकाश में, 'शरीर धर्म' का और 'स्वधर्म' का पालन करें। शरीर धर्म क्या है? पहली बात कि शरीर में बल है तो संसार को मदद देना, सहयोग

देना, किसी को क्षति न पहुँचाना और अगर अपने पास बल नहीं है, क्रियात्मक सहयोग नहीं दे सकते तो भावात्मक सेवा करना। भावात्मक सेवा क्या है? सबके प्रति सद्भाव - हे प्रभु! सबका कल्याण हो, हे संसार! तुम्हारा कल्याण हो, हे संसार! तुम कुशल से रहो।

एक अच्छे थियोसोफिस्ट सन्त मिले थे मुझे, उन्होंने एक बार कहा था कि देखो, संसार पर दृष्टि जाए और किसी के लिए कोई भी सेवा करते न बने तो कम से कम इतनी सेवा अवश्य करना कि तुम्हारे भीतर से, हृदय से, संसार के प्रति कल्याण की भावना उपजती रहे बारम्बार। हे प्रभु! संसार का कल्याण करो। सभी उन्नतिशील हो जाएँ॰ सभी प्रसन्न रहें - ऐसी सद्भावना रखो। सद्भावना और सहयोग के द्वारा संसार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन-शरीर धर्म का पालन कहलाता है।

जब मैनं सामाजिक दृष्टि से और भौतिकवाद की दृष्टि से मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन पर विचार किया तो मुझे ऐसा लगा कि बड़ी बड़ी योजनायें मानव समाज में विश्वशान्ति को सुरक्षित रखने के लिये बनाई जाती हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद U.N.O. की स्थापना हुई। इतनी बड़ी संस्था बनाकर संसार के बड़े-बड़े विचारशील और हृदयशील व्यक्ति सोचते हैं कि यहाँ बैठकर विचार से हम संसार की शांति को सुरक्षित कर लेंगे। तो बीसों बरस बीत गये। श्रीमती कृष्णमैनन उसकी ैमबतमजंतल थी। एक बार वह हमारे विश्वविद्यालय में आई तो हम लोगों ने उनसे पूछा कि संयुक्त राष्ट्र संघ में बैठकर विश्वशान्ति को सुरक्षित रखने के लिये आप लोगों ने क्या सोचा है? तो कहने लगी कि सोचने से एकसा मालूम होता है कि बाहर से युद्ध होता है पीछे और युद्ध की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर राग-द्वेष की प्रवृत्ति में होती है पहले। अब क्या करियेगा? मनुष्य के हृदय में से, राग-द्वेष निकल जाए - यह बात किसी कानून से हो सकती है क्या? इस पर हमने सोचा तो ऐसा लगा कि यह बात तो सत्संग के प्रकाश में सिद्ध हो सकती है। मनुष्य, मनुष्य होकर, अविनाशी जीवन की अभिलाषा लेकर, परम-प्रेमास्पद प्रभु के प्रेमी होने की अभिलाषा लेकर अपने हृदय को राग-द्वेष से मुक्त कर सकता है। व्यक्ति स्वयं चाहे तो ऐसा कर सकता है। कोई दूसरा तो कर नहीं सकता।

अब सोचिये, कि हम लोग अपने को सामाजिक व्यक्ति कहते हैं और विश्वशान्ति की सुरक्षा में हाथ बँटाना चाहते हैं, तो ऐसा करने में, पहिले स्वयं को शुद्ध करना पड़ेगा। अपने भीतर के राग-द्वेष को जो मिटा सकेगा, वही विश्वशान्ति में कुछ सहयोग दे सकेगा। जो व्यक्तिगत शरीर की आसक्ति में बँधा हुआ है, जो एक शरीर की रक्षा में अनेकों की हानि सह सकता है, उसके द्वारा विश्वशान्ति कैसे सुरक्षित होगी? नहीं हो सकती है। मुझे तो मानव-जीवन की सभी समस्याओं का समाधान एकमात्र सत्संग के प्रकाश में मिला। चाहे कोई सामाजिक समस्या हो, चाहे व्यक्तिगत, चाहे भौतिक स्तर पर हम कुछ काम करना चाहें, चाहें आध्यात्मिकता और आस्तिकता के आधार पर अपने को धन्य करना चाहें, किसी भी रूप में आप मनुष्य हैं तो मुनष्य से सम्बन्ध रखने वाली जिनती समस्यायें हैं, सत्संग के प्रकाश में ही सुलझ सकती हैं।

अनुभवी सन्त ने हमें सलाह दी कि तुम्हारे पास कुछ भौतिक तत्व है और कुछ अलौकिक तत्व है। जो भौतिक तत्व हैं, उनको लेकर तुम भौतिक जगत् की सेवा में लगा दो। तो हमारा शरीर धर्म क्या हो सकता है? दृश्य जगत् को सहयोग देना और उनके प्रति सद्भाव रखना।

सहयोग देने की भावना यदि अपने में है तो हम किसी को नुकसान नहीं पहुँचा सकते। सब का कल्याण हो - अगर यह सद्भाव अपने भीतर है तो हम किसी के साथ बुराई करने की सोच भी नहीं सकते। अतः सुन्दर समाज के निर्माण के लिये, लोक के कल्याण के लिये भी और अपने व्यक्तिगत उत्थान के लिये भी, राग-द्वेष को मिटाना बहुत जरूरी बात है। कैसे मिटायेंगे? एक शरीर को अपना और अन्य शरीरों को पराया मानों तो नहीं मिटा सकेंगे। शरीर संसार का है, उससे संसार का अविच्छिन्न समबन्ध है - ऐसा मान करके सभी का हितऋ सभी के प्रति सहयोगऋ सभी के प्रति सद्भावनाऋ यह हमारा एक व्रत होना चाहिये। ऐसा मैंने सोचा तो मुझको लगा कि इस धरती पर रहने का उसी का अधिकार है जो सारे संसार के प्रति सद्भावना रख सके। इसका फल क्या होगा? आप कहेंगे कि दिल में तुम सद्भावना ही रखो कि सबका भला हो जाये, तो तुम्हारे सद्भावना रखने से क्या होगा? बहुत से लोग तो भूखों मर रहे हैं। उनको रोटी कैसे मिल जायेगी? तो मैं कहती हूँ कि जितने शरीरों के लिए प्रकृति का काम है, उसकी चिन्ता अपने को नहीं करनी है। लेकिन हम केवल इतना ही व्रत ले लें कि भाई, हम किसी के प्रति कोई बुराई नहीं करेंगे तो सबके प्रति सद्भावना हृदय में रहेगी। मेरी तरफ से बुराई नहीं होगी तो प्रकृति के विधान के अनुसार संसार बहुत कुशल से रहेगा। खुराक की कमी का प्रश्न प्रकृति के दोष से नहीं आता है। मनुष्य ने मनुष्यता को छोड़ दिया, शरीर और जगत् की एकता को हम भूल गये। इसलिये समाज में अनेक प्रकार की विषमतायें और संघर्ष की उत्पत्ति हो गई।

अब हम सब लोग सत्संगी होकर स्वधर्म और शरीर धर्म के पालन करने वाले बन जायेंगे, तो आप सच मानिये कि एक-एक भाई, एक-एक बहिन केवल भौतिक दर्शन के आधार पर शरीर और संसार की एकता को स्वीकार कर लें तो सामाजिक संघर्षों का अन्त हो जायेगा, फिर उसका बड़ा शुभ परिणाम होगा। क्या होगा? कि जब शरीर को आपने समाज की धरोहर मान लिया, उसकी सेवा की सामग्री मान लिया तो उस सामग्री से फिर व्यक्तिगत सुख भोगने की बात जीवन में से निकल जायेगी। 'बापू के आशीर्वचन' नामक एक छोटा-सा संग्रह मैंने पढ़ा। उसमें एक जगह पर लिखा था कि जब मैं ईश्वर का हूँ और मेरा समय ईश्वर का है, तो इस जीवन में व्यक्तिगत सुख भोगने का कौन-सा स्थान है? और जब सारा समय परमात्मा का है तो एक भी क्षण आलस्य में कैसे बीते? जिन्दगी का कोई हिस्सा व्यक्तिगत सुख-भोग के लिये नहीं है। यह किस का व्रत हो गया? एक सही ईश्वरवादी का। जिसने ईश्वर को मानाऋ जिसने अपने को ईश्वर का मान लियाऋ उसके जीवन में से व्यक्तिगत सुख-भोग निकल गया और आलस्य निकल गया। कितना बड़ा काम हो गया।

अब अपनी दशा देखें हम लोग। जितने भाई-बहन यहाँ बैठे हैं, मेरा अनुमान है कि उनमें से अधिक संख्या उनकी है जो ईश्वर को मानते हैं। अब सोच करके देखो तो, कितनी बार हम लोगों ने उस सर्वज्ञ परमात्मा के सामने बैठ करके यह कह दिया कि 'हे प्रभु! यह मन तेरा, यह तन तेरा, यह धन तेरा, यह सब कुछ तेरा, मैं तेरा।' तो क्या अपने कहे हुये पर हम अचल हैं? नहीं है। कह दिया था, हे प्रभु! यह तन तेरा। गाँधी जी ने कहा कि हे प्रभु! यह सब कुछ तेरा, तो उन्होंने उसको निभाया। साफ शब्दों में उन्हों ने कहा कि जब सब कुछ परमात्मा का है, यह तन भी उनका है तो इस तन के द्वारा सुख भोगने को कौन सा स्थान है? दूसरे की पराई वस्तु हो गई न। किसी को समर्पित

कर दिया, चाहे आस्तिक दर्शन के अनुसार परमात्मा का मान करके, परमात्मा को समर्पित कर दिया और चाहे भौतिक दर्शन के अनुसार जगत् का मान करके, जगत् को समर्पित कर दिया। किसी भी सही दृष्टिकोण से हम लोग विचार करेंगे तो अपने पास मिला हुआ जो एक शरीर है, इस शरीर को लेकर किसी प्रकार के सुख भोगने का स्थान मनुष्य के जीवन में नहीं है। कहीं भी किसी भी दर्शनिक दृष्टिकोण से किसी भी सत्य के Stand पर खड़े हो जाओ तब तो जीवन का उत्थान दिखाई दे और नहीं तो कहने के लिये, हे प्रभु! सब कुछ तेरा और उपयोग में लाने के लिये सब कुछ मेरा। मैं जैसे चाहूँ वैसे इस शरीर का उपयोग करूँ। अधिक से अधिक सुख भी मैं इस शरीर से लूँ और अधिक से अधिक सम्मान का भोग भी मैं ही करूँ, इसी कारण से कथन में और जीवन तें इतना अन्तर हम लोग रखते हैं, इतना भेद रखते हैं। इसलिये मेरा लिया हुआ व्रत मेरे जीवन को उज्जवल बना नहीं रहा है। थोड़ी देर के लिये यह कह देना कि हे प्रभु! यह तन तेरा, यह धन तेरा, यह मन तेरा, यह सब कुछ तेरा - यह कहना आसान लगता है, लेकिन जैसा मैंने कहा, वेसा माना भी क्या? ऐसा सोचना।

प्रतिदिन प्रातःकाल सबसे पहिले आँख खुले तब, प्रतिदिन रात्रि में सोने से पहले आखिरी प्रोग्राम - यह सत्संग होना चाहिये, कि जैसे मैंने जीवन के सत्य के आधार पर मान्यता स्वीकार की है, वैसा ही जीवन बनाया क्या? अगर नहीं बनाया है तो अपने सुधार के लिये वही सब से अच्छा क्षण है, जब कि अपने को दिखाई देता है कि हे प्रभु! मैंने सचमुच जैसा तुम्हारे आगे निवेदन किया, वैसा अब तक किया नहीं है। मेरी इस भूल को आप क्षमा करें और इस भूल को मैं न दोहराऊँ, इसके लिये मुझे सामर्थ्य दें। तो उन्हीं सामर्थ्यवान से सामर्थ्य माँगिए। उन्हीं करुणा सागर की करुणा के आश्रित हो कर अपने को उनके आश्रित रखने का व्रत पूरा करिये। कहीं से कुछ सुधार की घड़ी जीवन में आनी चाहिये।

अनुभवी सन्त हम लोगों को सलाह देते हैं कि देखो, तुम्हारे पास शरीर है, शरीर धर्म का पालन कर सकते हो। तुम स्वयं हो, 'मैं हूँ' - ऐसा कहकर अपनी सत्ता का अनुभव कर रहे हो इसलिये तुम स्वधर्म का पालन भी कर सकते हों। तो शरीर के द्वारा जगत् की सेवा करते हुये, जगत् का भला मनाते हुये, शरीर धर्म का पालन हम कर सकते हैं और 'स्व' के द्वारा, विवेक के प्रकाश में शरीर और संसार का संबंध तोड़कर, स्वधर्म का पालन भी कर सकते हैं। अलख अगोचर, अविनाशी को अपना मानकर, स्वधर्म का पालन हम कर सकते हैं। स्वधर्म के पालन से सत्संग सिद्ध होता है। शरीर धर्म के पालन से विश्व-शान्ति सुरक्षित होती है। हम लोगों को दोनों ही बातें अभीष्ट हैं। जिस संसार में हम रह रहे हैं उसकी शान्ति बनी रहे - यह भी अपने को अभीष्ट है। शरीर और संसार की आसक्ति से छूटकर इनके बन्धन से मुक्त होकर, अविनाशी जीवन से अभिन्न हो जायें - यह भी अपने को अभीष्ट है। दोनों ही बातें अपने को अभीष्ट हैं। इसलिये दोनों ही प्रकार के व्रतों का पालन, हम भाई-बहिनों को करना चाहिये। स्वधर्म में कौन-कौन सी बातें आ गई? स्वधर्म में एक बात यह आ गई कि जो तुम्हारा दृश्य है वह तुम्हारा जीवन नहीं है। इस सत्य को स्वीकार करो। जीवन का दृश्य नहीं बनता है, जिसके आप द्रष्टा हो सकते हैं वह आपका जीवन नहीं हो सकता। जो आपका दृश्य बन गया, वह 'स्व' से अभिन्न नहीं हो सकता। वह 'स्व' नहीं है। जो 'स्व' है वह दृश्य नहीं है। जो दृश्य है वह 'स्व' नहीं है।

अब आत्मदर्शन के स्टैण्ड (Stand) पर खड़े होकर जीवन को देखिए। बाहर का दृश्य दिखाई देता है, तो क्या? और आँखें बन्द कर लेने पर सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं में, बाहर के जो चित्र अंकित हो गये हें, वे दिखाई देते हों तो क्या? बाहर का चित्र भी चित्र ही है और मानस-पटल पर अंकित चित्र भी चित्र ही है। आँखें खोलकर देखते हो तो दृश्य दिखाई देते हैं। आँखें बन्द करके देखों तो सूक्ष्म शरीर में जो चित्र अंकित हो गये हैं वह भी दृश्य ही हैं। तो दार्शनिक सत्य क्या है जीवन का? कि जो दृश्य है तुम्हारा, जिसके तुम द्रष्टा बन सकते हो, वह तुम्हारा 'स्व' नहीं है। तो उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लो। वह मेरा नहीं है, वह मेरे लिये नहीं है - इस सत्य को माने बिना देहातीत जीवन में प्रवेश किसी का हो सकता है? नहीं हो सकतां तो इस स्वधर्म का पालन अनिवार्य हो गया। अब कितना भी संसार की आलोचना किये जाओ, और कितनी भी उसकी निन्दा करते रहोऋ अगर प्रतीति से सम्बन्ध नहीं तोड़ते, दृश्य में से महत्व बुद्धि नहीं निकालते, तो निन्दा करने से संसार का चिन्तन छूट जायेगा? संसार नाशवान् है - इस बात की पुनरावृत्ति करने से संसार का चिन्तन नहीं छूटता। संसार का चिन्तन कब छूटता है? जब आप उसको अपने लिये आवश्यक नहीं मानते तो छूट जाता है। ऐसा हुआ है। मैंने इसको अपने जीवन में अनुभव किया है।

जब डिग्रियों का बड़ा महत्व था, तो डिग्री लेने में बड़ी विशेषता मालूम होती थी। जिस दिन विश्वविद्यालय को त्याग-पत्र लिखने लगी, हस्ताक्षर करने लगी तो मैंने अपने से पूछा कि जिन डिग्रियों को तुमने बड़ा महत्वपूर्ण माना था, प्राणपन से जिसकी रक्षा की थी, जिसमें बड़ी विशेषता मालूम होती भी, अब पद का त्याग करने के बाद उन कागजों का कोई महत्व है तुम्हारे लिये? उनकी कोई कीमत है तुम्हारे लिए? कोई जरूरत है? वह कभी काम आयेगी? तो मुझे भीतर से लगा कि कुछ नहीं। अब उनका कोई मूल्य नहीं है। जिस समय व्यक्ति दृश्य जगत् के महत्व को अपनी दृष्टि से निकाल देता है फिर उसके बाद उसका न कोई मूल्य रह जाता है उसके लिये, और न कभी भूलकर मस्तिष्क में उसका चिन्तन ही आता है। कभी नहीं आता है। जब चीज को आपने अपने लिये निस्सार मान लिया, तो खत्म हो गई। फिर उसका कोई चिन्तन नहीं रहता हे। ऐसे ही यदि आप सत्संग के प्रकाश में अपने देहातीत जीवन के आनन्द का अनुभव पसन्द करते हैं, अपने अलख-अगोचर, परम-प्रेमास्पद के प्रेम-पात्र होना पसन्द करते हैं तो स्वधर्म का पालन अनिवार्य होगा।

स्वधर्म का इन्हीं दो रूपों में हम लोगों को ले लेना चाहिये। जो नहीं है, उसकी महत्ता का अस्वीकार कर देना और जो सदा-सदा से है, उसको स्वीकार कर लेना! यह दो ही वाक्य हैं, स्वधर्म के सम्बन्ध में। विवेक के प्रकाश में देखकर जो नहीं है उसको अस्वीकार कर देना। जो नित्य है, सत्य है, जिसमें सातत्य है, जिससे कभी सम्बन्ध-विच्छेद हुआ नहीं है, हो नहीं, हो सकता नहीं, जिसकी उपस्थिति को, अपने में अनुभव किये बिना, जीवन पूर्ण हो नहीं सकता - उसके होनेपन को अपने द्वारा स्वीकार कर लेना। तो 'नहीं' को नहीं करके, और 'है' को 'है' करके, स्वीकार कर लेना-इसी का नाम स्वधर्म है। इस स्वधर्म के पालन से ही, सभी प्रकार के साधनों की अभिव्यक्ति होती है।

हमारा अपना पुरुषार्थ क्या है? असाधन के नाश का उपाय मुझे करना है और साधन की अभिव्यक्ति स्वभाविक होती है। जो साधन जीवन में अभिव्यक्ति होता है, उसी से साधक की एकता

होती है। साधक की साधना से एकता होती है, तब साधन-तत्व की अभिव्यक्ति होती है। साधन-तत्व से साध्य की अभिन्नता होती है। तो अपना पुरुषार्थ उतनी ही दूर तक चलाना है जहाँ तक असाधनों के नाश का प्रश्न है। उसके बाद की पूरी प्रक्रिया (Process) स्वभाव से अपने आप होती चली जायेगी। असाधन का नाश हो जायेगा, साधन का निर्माण हो जायेगा, साधन-तत्व की अभिव्यक्ति हो जायेगी, साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व साधन-तत्व से मिल जायेगा।

साधन-तत्व जो है वह साध्य का स्वभाव है। वह साध्य का स्वरूप है। जिसमें मिल जाने के बाद न फिर कहीं द्वैत का खतरा रहेगा, न फिर कभी दुःख, अभाव और मृत्यु का कहीं दर्शन होगा। सब समस्यायें समाप्त हो जायेंगी - ऐसा सोचकर अगर आप भाई बहिनों को यह ढंग पसन्द आए तो अकेले-अकेले बैठकर स्वधर्म पालन और शरीर धर्म के पालन के सम्बन्ध में सोचते रहना, विचार करते रहना। जहाँ-जहाँ अपनी कमी मालूम होती हो, उसकी पूरी करने की चेष्टा करते रहना। तो चेष्टा में लगे रहना हमारा काम है और आवश्यक शक्ति प्रदान करके मेरे जीवन को पूर्ण बनाना - यह जीवनदाता का काम है। अब शान्त हो जाइये।

प्रवचन 74

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

मानव-जीवन के सम्बन्ध में बहुत अच्छी और आवश्यक बात अभी हम लोगों ने सन्तवाणी में सुनीं। पहली बात जो हमारे लिये बहुत ही उपयोगी है, वह यह है कि विवेक के प्रकाश में देखकर इस बात को अपने द्वारा स्वीकार करो कि इस जगत् में मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है। जब हम इस बात को स्वीकार कर लेंगे कि मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, तो फिर इस जगत् से कुछ पाने की कामना भी खत्म हो जायेगी।

जो मिला हुआ-सा दिखाई देता है, वह अपना नहीं है, अपना होकर रह नहीं सकता, तो जो नहीं मिला है, उसकी इच्छा का कोई अर्थ ही नहीं है ओर यही खास बात है कि जो अपना नहीं है उसको अपना मान लेते हैं हम। फिर जिन कामनाओं की पूर्ति के फेर में पड़े रहते हैं। विविध प्रकार के राग-द्वेष इत्यादि विकारों का जन्म होता रहता है। उसी में परेशान रहने के कारण अपने ही में नित्य विद्यमान परमात्मा की विद्यमानता का कोई आनन्द नहीं आता। केवल इतनी-सी बात है। और दूसरा कुछ कारण नहीं है। जो इतना विशाल है कि जिससे बड़ा और कुछ हो ही नहीं सकताऋ जो इतना मधुर है कि उससे अधिक मधुर कोई हो ही नहीं सकता, जो सब प्राणियों का जीवनदाता है, जो सर्वज्ञ है - जिससे कुछ छिप ही नहीं सकता, जो सर्वत्र है - जिससे कोई स्थान खाली नहीं है, ऐसा जो हमारे-आपके जीवन का आधार है, वह सत्य है, इसलिये ज्ञानस्वरूप है; आनन्द स्वरूप है, रसस्वरूप है। ऐसे परमात्मा के विद्यमान होते हुए भी हमारे भीतर उदासी क्यों है? चिन्ता, दुःख और मृत्यु का भय क्यों है? अनुभवी सन्तों, भक्तों, ऋषियों, मनीषयों ने हमें बताया कि देखिये - आप राग-द्वेष में फँसे हुये हैं। उसकी विद्यमानता का आनन्द लेने के लिये पहला पुरुषार्थ अपना क्या होगा? पहला पुरुषार्थ यह होगा कि हम लोग अपने को राग-द्वेष से मुक्त करें।

इसके लिये सब से बढ़िया तत्व जो हर मानव को मिला हुआ है, वह है उसका निज विवेक का प्रकाश। यह वहीं से आ रहा है जो स्वयं-प्रकाश, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा है। उसी में से यह प्रकाश आ रहा है। जिसमें देखकर हम लोग इस

बात को जान गये कि भाई! मुझमें किसी न किसी वस्तु, किसी न किसी व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष बन गया है, उसी के प्रभाव से मेरी दृष्टि में, मेरे चिन्तन में, मेरे जाग्रत में, स्वप्न में वस्तु ओर व्यक्ति भरे हुये हैं। नित्य विद्यमान परमात्मा के आनन्दस्वरूप का कोई आनन्द ही नहीं आया। यह अपनी दशा हो गई। यह मानवमात्र के जीवन का सत्य है। किसी मजहब का मानने वाला हो, किसी सन्त का अनुयायी हो, किसी गुरु से दीक्षा लेकर आया हो, कुछ भी उसका मतवाद हो - कोई अन्तर नहीं आता। सबके लिये समान रूप से, यह मानव के जीवन का वैज्ञानिक सत्य है कि वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति राग-द्वेष रखने के कारण से, उसके विचार में, उसके व्यवहार में, उसके चिन्तन में, उसके जाग्रत और स्वप्न में, वस्तु ओर व्यक्ति ही भरा हुआ है। नित्य विद्यमान परमात्मा का कहीं पता नहीं है। इस तरह यदि रोग का निदान हो गया तो चिकित्सा आसान हो जाएगी।

अब इस बीमारी को दूर कैसे करें? ईश्वरवादी हैं तब भी और अध्यात्मवादी हैं तब भी, भौतिकवादी हैं तब भी, साकार उपासक हैं या निराकार उपासक हैं - किसी भी प्रकार के साधक हों आप, आपके भीतर जो सत्य विद्यमान है, यह सबके लिये समान है और उस सत्य की अभिव्यक्ति जब होगी, तो उसके बाद का जीवन समान होगा। कोई भेदभाव नहीं रहेगा। केवल व्यक्तिगत भिन्नता की दृष्टि से, साधन काल की अनुभूतियों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर हर भाई-बहिन का रहता है। बीमारी सबकी एक-सी है और उसका कारण भी सबके लिये एक समान है। कौनसा उपाय है? कि भाई, विवेक के प्रकाश का आदर करो और उसमें देख करके जैसे बने वैसे अपने को समझा लो कि हमारे पास जो कुछ दिखाई दे रहा है, यह सब मेरा व्यक्तिगत नहीं है। केवल इतनी-सी बात। इसके आगे अगर सोचेंगे हम लोग तो दार्शनिक झंझट में पड़ जायेंगे। व्यक्तिगत मेरा कुछ नहीं है - यहाँ तक सोच लेने में बहुत ैं◌ंमि हैं हम लोग। कोई कहेगा कि मेरा नहीं है फिर किसका है? तो किसी की दृष्टि से हो जायेगा - कि प्रकृति का है, और कोई कहेगा जगत् का है, कोई कहेगा समाज का है, कोई कहेगा राष्ट्र का है, कोई कहेगा परमात्मा का है, कोई कहेगा कि नहीं है। ये सब मतभेद सामने आ जायेंगे। इसलिये मानव सेवा संघ की पऋति में सभी साधकों को समानरूप से स्वाधीनता पूर्वक आगे बढ़ाने के लिये स्वामीजी महाराज ने कहा कि भैया! बस, तुम्हारे लिये इतना ही काफी है कि यह मेरा नहीं है। किसका है वो जानने वाले जाने, सृष्टि जाने, सृष्टिकर्ता जाने। मेरा काम इतने से बन जायेगा कि मैं इस ठोस सत्य को स्वीकार कर लूँ कि यह सब कुछ मेरा नहीं है।

अब थोड़ी-सी कठिनाई आती है। मेरे सामने आयी थी। वट वृक्ष के नीचे बैठकर स्वामीजी महाराज के मुख से मैंने सुना बड़े स्पष्ट शब्दों में कि लाली! तुमको जीवन में अचल आधार चाहिये, ऐसा नित्य-साथी तुमको चाहिये, कि जिसका सहारा लेकर सदा-सदा के लिये निश्चिन्त हो सके। तो ऐसा साथी तो है। ऐसा एक मित्र मेरा है कि जिसको कोई अपना बना लें, तो वह सदा-सदा के लिये उसका साथ देता है। फिर कभी भी तुमको अनाथपन की पीड़ा सतायेगी नहीं, कभी तुमको सूनापन सतायेगा नहीं - ऐसा एक मित्र मेरा है। लेकिन एक शर्त तुम मान लो, तो मैं सगाई की बातचीत करूँ। मैंने कहा कि बताइये महाराज। उन्होंने कहा कि देखो, झोली में जो जो कुछ भर के रखा है तुमने, सब झाड़ दो। खाली कर दो अपने को। इतनी हिम्मत तुम कर लो, तो मैं सगाई करा दूँगा। तो अपने को जरूरत तो थी ही,

निराधार जीवन पसन्द नहीं था। दुनियां में कोई आधार काम के लायक दिखा नहीं। जीवन का आधार लेने की आवश्यकता तो थी। लेकिन जब उन्होंने कहा कि शारीरिक बल और बौद्धिक योग्यता और अध्ययन की डिग्रियों और राष्ट्र का दिया हुआ पद, कमाई हुई सम्पत्ति, जोड़ा हुआ कुटुम्ब - यह सब जो तुमने अपना-अपना करके झोली में भर रखा है, सब झाड़ दो इसी जगह इसी जगह, इसी वट वृक्ष के नीचे खाली कर दो। जब तुम्हारा पात्र खाली हो जायेगा, तब मैं सगाई की बातचीत कर दूँगा तो एक बार भीतर से बड़ी जोरदार ममता का आक्रमण हुआ मुझ पर। इसीलिये मैं जानती हूँ कि हमारी तरह और भी दुर्बल-निर्बल भाई-बहिन बैठे होंगे, जिन पर ममता का आक्रमण होता होगा। तो बड़ी जोर से आक्रमण हुआ और ऐसा लगा भीतर-भीतर कि मैंने सन्तों की मण्डली में आकर अच्छा नहीं किया। इसको सत्य मानना, यह बीमारी के लक्षण (Symptoms) हैं। तो मैं बता देती हूँ कि तुम लोग भी थ्तमम हो जाओगे। तो क्या लगा मुझे भीतर से? कि इतना परिश्रम करके, इतनी कठिनाई से, सम्मानपूर्वक पद पाया, योग्यता पाई, धन कमाया और कुटुम्ब जोड़ा - इतना सब किया कष्ट उठा के, तो महाराज जी कहते हैं कि यब सब छोड़ दो। तो हाय! यह सब मेरे हाथ से चले गये। अब मैं क्या करूँ। तो सब छोड़ना कठिन लगा भीतर-भीतर। यह ममता का आक्रमण व्यक्ति पर होता है। लेकिन सन्त की कृपा, भगवत् कृपा दुर्बल साधकों का साथ देती है।

एक जगत नारायण शर्मा पण्डित जी रहते थे स्वामी जी महाराज के पास, तो वह कहा करते थे -

'जब तेरी रहमत ने दिया, हम गुनाहगारों का साथ।
चीख उठे बेगुनाह, हम गुनाहगारों में हैं।'

यह सुनाया करते थे। तेरी रहमत, तेरी कृपा ने, जब दुर्बल, निर्बल, पतित साधकों का साथ दिया अर्थात् इनका उद्धार तुमने अपनी कृपा से किया तो निर्दोष जो थे वे भी चिल्लाने लगे कि हम भी दोषी हैं, हम भी दोषी हैं। हमारा भी कल्याण करो। तो ऐसा होता है। सन्त की कृपा होती है। भगवत् कृपा होती है और मुझ पर कृपा हुई।

ममता के जोरदार आक्रमण के कारण मेरे भीतर कुछ देर तक द्वन्द्व होता रहा। हाथ-पाँव ठण्डे हो गये। वट वृक्ष के नीचे बालू पर बैठे-बैठे वहाँ पर से मुझ से उठा नहीं गया। थोड़ी देर तक मैं बैठी रही। लेकिन जीवन की आवश्यकता इतनी जोरदार थी कि मेरी उस द्वन्द्व की दशा में से सन्त ने, भगवन्त ने मुझको उबार दिया और मैंने निश्चय कर लिया कि अब चाहे जो भी कुछ हो, जिस जीवन की माँग है मुझ में, उसके लिये यह सन्त जो कहते हैं वह एक बार करना ही पड़ेगा। तो फैसला हो गया। फैसला हो गया तो द्वन्द्व खत्म हो गया। ममता का आक्रमण बेकार हो गया। सन्त की कृपा का प्रभाव हो गया। सत्संग का प्रकाश मिल गया। ऐसा होता है। ऐसा होना चाहिये।

इस बात से हम भाई-बहिनों को बहुत शक्ति मिलती है कि भाई! जिन्दगी में जो भी कुछ आपने अपना करके जोड़ा है, वे वस्तुयें तो आपको उपलब्ध नहीं है। लेकिन उन वस्तुओं के प्रति जो ममता है, उस ममता की बीमारी के कारण से भगवत्-चिन्तन की जगह पर वस्तुओं का चिन्तन हो रहा है। जिन व्यक्तियों से आपने नाता मान लिया है वे व्यक्ति आपके नातेदार हैं नहीं। रहेंगे नहीं। इस शरीर के उत्पन्न होने के पहिले, वे माँ-बाप, माँ-बाप नहीं थे और शरीरों के नाश हो जाने के बाद नहीं रहेंगे। तो यह सच्चे नातेदार हैं नहीं। क्यों मिले हैं आपको, पहिले जो भूल की गई थी,

उस भूल के परिणाम से जो राग उत्पन्न हुआ था उस राग को मिटाने के लिये मिले थे ओर अब नया राग बाँधना आरम्भ किया। तो भूल कुटुम्ब की है कि अपनी है? अपनी है। इसलिये वस्तु और व्यक्ति के चिन्तन से आप मुक्त हो जायें - यह जरूरत आपकी है।

हर किस्म का साधक, इसी बीमारी में आकर फँस जाता है। शान्त होकर बैठना चाहता है, भगवत् चिन्तन का लाभ लेना चाहता है, प्रभु की मधुर स्मृति में अपने को सराबोर करना चाहता है, लेकिन होता ही नहीं है। क्या होता है? कि इन सब अच्छी-अच्छी उपलब्धियों की जगह पर उसको संसार, वस्तुओं और व्यक्तियों का चिन्तन सताता रहता है। बस यहीं आकर साधक अटके रहते हैं, और बहुत-सा समय खराब हो जाता है। इसलिये आपकी पीड़ा से पीड़ित होकर साधक समाज की दुर्दशा से, करुणा से द्रवित होकर स्वामीजी महाराज ने इस मूल मन्त्र को पढ़ाया कि भाई, इसमें फँसने की बात नहीं है। जिस कारण से वह चिन्तन तुम्हारे भीतर भरा हुआ है, उस कारण को मिटा दो तो तुम फ्री हो जाओ। वह कैसे मिटेगा? जो कुछ तुम्हारे आस-पास जमा हो गया है, उसे अपना मत मानो।

ज्ञान-पन्थ के साधक जो होते हैं, बड़े सामर्थ्यवान होते हैं। उनमें इतनी शक्ति होती है कि वह 'नहीं' कहकर इन्कार कर देते हैं और हमारे जैसे दुर्बल साधक, जिनकी हिम्मत ही नहीं होती है इन्कार करने की, उनके लिये एक बड़ा अच्छा रास्ता है। बड़ी कठिनाई से पैसा जोड़ा था, अब कैसे कह दें कि मेरा नहीं है। तो उनको भक्तजन दया करके एक मन्त्र पढ़ा देते हैं। कहते हैं - इसको फेंकना थोड़े ही है। इसको फेंको भी मत, इसको बर्बाद भी मत करो, और देवकीजी! अपने कमजोर हाथों में रखकर क्या करोगी? सामर्थ्यवान् को सौंप दो। तो ममता को मिटाने के लिये एक बड़ा अच्छा आधार मिल गया। बड़े कष्ट से बाल-बच्चे पैदा किये थे, बड़ी लगन से उनको पाला था, नाता कैसे तोड़े? तो भक्तजन कहेंगे कि अरे! नाता तोड़ कर, तुमको इनसे कुछ लड़ाई थोड़े ही करनी है। तुम अपने कमजोर हाथों में लेकर क्या करोगे? रोग से, बीमारी से अलाय-बलाय मृत्यु से रक्षा करते तो तुमसे बनता नहीं है। तुमसे बड़ा एक रक्षक है जो सदा-सदा से इनकी रक्षा करता आया है। उसके हाथों में इनको सौंप दो तो आदमी के दिल को थोड़ा-सा सहारा मिल जाता है। अच्छी बात, मेरा तो है ही नहीं। मेरे वश में तो रहेगा नहीं। लेकिन फेंकना नहीं है। मुझसे अधिक बलवान जो है ओर सबसे अधिक ऐश्वर्यवान् जो है, जिस पर कोई विजयी हो ही नहीं सकता, ऐसा जो सामर्थ्यवान् परमात्मा है, वह रक्षा करता है, लाओ, उसी के हवाले कर दो। और सच पूछिये तो सब कुछ उनका ही है। उन्होंने थोड़ा-थोड़ा हम लोगों को दिया था। हमारी हैसियत के हिसाब से - थोड़ा सुख दे दिया, थोड़ा सम्मान दे दिया, थोड़ा सामान दे दिया। वे दे सकते हैं, अपार दे सकते हैं। जिसके संकल्प-मात्र से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की रचना हो सकती है, वह अपने प्यारे पुत्रों को, प्यारी पुत्रियों को क्या नहीं दे सकते हैं, सोचो तो!

सुदामा जी के साथ कैसा खेल किया था! नहलायें, धुलायें, कपड़े पहनायें, खिलायें, पिलायें अच्छी तरह से। और अपने प्रेमी के प्रेम का आदर करने के लिये उससे पूछा नहीं कि हे मित्र! तुमको कुछ चाहिये? और वह प्रेमी भी बड़ा वीर था, उसने भी माँगा नहीं। 'देखि सुदामा की दीन दशा, करुणा करके करुणा निधि रोये। पानी परात को हाथ छुयो नहीं, नैनन के जल सों पग धोये।' इतना प्रेम किया और पूछा नहीं कि मित्र तुमको कुछ

चाहिये? और चलने के समय, जो राजसी ठाठ के कपड़े वगैरा पहना दिये थे वह भी उतरवा लिये। कैसे मजेदार है! उनकी लीला का कोई अन्त नहीं है। आनन्द ही आनन्द है। बस, जो एक बार उनसे नाता-रिश्ता जोड़ ले, वह मजा ही लेता रहे। तो उतरवा लिये यह कह करके कि मित्र! बड़ा लम्बा रास्ता है तुम्हारा, कितने दिनों बाद तुम नगर में पहुँचोगे, यह राजसी कपड़े, रास्ते में तुमको चोर-लुटेरे मार-पीट कर छीन न लें! इसलिये जो पहले पहनकर तुम आये थे, वहीं पहन कर जाओ। कहा तो यह, और था उसमें उस मित्र के प्रेम का आदर। कृष्ण भगवान अत्यन्त प्रसन्न थे सुदामा जी से। सुदामा जी को सिवाय मित्र की मित्रता के उनके राज्य के ठाट-बाट, वैभव से कोई मतलब ही नहीं था। हृदय के पारखी भगवान! उस प्रेमी हृदय के प्रेम का आदर करते हुये, वस्तुओं को नगण्य करके, अपने आस-पास के पार्षदों को दिखला दिया कि देखो! यह मेरा ित्र है और कितना ऊँचा है। इसको मेरी किसी भी वस्तु की कोई जरूरत नहीं है। रानियाँ, महारानियाँ, पटरानियाँ खड़ी-खड़ी तमाशा ही देखती रहीं कि महाराज करते क्या हैं? बेचारे गरीब ब्राह्मण मित्र है तो क्या है? गरीब तो है, जो कपड़े पहनाये थे सो भी उतरवा लिये। उनको तो आश्चर्य हो रहा है। ऐसा करके विदा तो किया। लेकिन क्या नहीं दिया?

इसलिये मैं सोचती हूँ, वे विश्वम्भर क्या नहीं दे सकते हैं? सब-कुछ दे सकते हैं। लेकिन हम लोगों की हैसियत के मुताबिक थोड़ा-थोड़ा देते हैं। ज्यादा देंगे तो हम पागल हो जायेंगे, तो उनको फिर सँभालना पड़ेगा। धन की अभिमान में, तन के अभिमान में योग्यता के अभिमान में, पद के अभिमान में क्या-क्या अनर्थ हम कर डालेंगे? इस कारण से वे सोच-सोच के, नाप-तौल करके, थोड़ा-थोड़ा सा हम लोगों को देते हैं, अगर सत्संग के प्रकाश में हमने इस बात को स्वीकार कर लिया कि मेरे पास जो कुछ है मेरा नहीं है? उसी का दिया हुआ है - अगर ऐसा मान लिया, तो केवल इस सत्य को स्वीकार करने मात्र से चित्त में से राग मिट जायेगा।

अब दूसरी बात यह है कि देखे हुये संसार को, बुरा मत समझो, निन्दा मत करो, छोड़कर भागों नहीं, उससे रूठो मत। तुम्हारा नहीं है, संसार के मालिक का है। मालिक का कहकर मालिक को सौंप दो। और फिर प्यारे के नाते प्रियतापूर्वक सेवा करते रहो। डायरेक्ट (Direct) सम्बन्ध बनाने से हम लोग फँस जाते हैं। उनके जीतवनही सम्बन्ध बनाने में बहुत आराम है। बोझ भी अपने पर नहीं रहता और बनने-बिगड़ने की चिन्ता भी अपने को नहीं रहती - प्रभु तुम्हारी सृष्टि! प्रभु तुम्हारा सृष्टि कार्य! और मेरा हिस्सा कितना है? तुम्हारी प्रसननता के लिये इनकी सेवा। इतना-सा परिवर्तन अपनी दृष्टि से हम लोग कर लें तो बीमारी छूट सकती है।न घर बदलो, न कपड़ा बदलो, न नौकरी-चाकरी छोड़ों - यह सब कुछ नहीं। यह सब काम अपनी जगह जैसे के तैसे होंगे। केवल हमारा attitude बदल जायेगा। अब तक हम इनकी सेवा कर रहे थे, किये हुये कार्य के बदले में, इनसे सहयोग लेने के लिये। अब हम इनकी सेवा कर रहे हैं, इनसे लिये हुये सुख का राग मिटाने के लिये। समझ में आया?

राग रहित होना, बहुत ही आवश्यक और पहला कदम है। ज्ञान-पन्थ के साधक, प्रेम-पन्थ के साधक, साकार उपासक, निराकार उपासक, विभिन्न मजहबों के मानने वाले अनेकों साधक होंगे - किसी भी साधक के जीवन में राग को मिटाये बिना सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी। राग की उत्पति होती है, सुख के भोग से सुख के लालच से। सुख लेना छोड़कर सेवा करना आरम्भ

करो, नया राग बनेगा नहीं, पुराना राग मिट जायेगा। मुक्ति का पन्थ भी खुला है, भक्ति का पन्थ भी खुला है, योग का पन्थ भी खुला है। हर दृष्टि से आपका उपकार हो जायेगा।

मानव सेवा संघ किसी से पूछता नहीं है कि आप किस इज्म ;पेउऋ के मानने वाले हैं। किस मजहब के अनुयायी हैं। कुछ नहीं। मानव मानव है। उसके जीवन का वैज्ञानिक सत्य है कि वह भौतिक जगत् के प्रति सुख की दृष्टि रखेगा तो भौतिक जगत् के चिन्तन से नहीं छूटेगा। आपको मानसिक शान्ति चाहिये कि कोई विशेष सिद्धान्त चाहिये? मानसिक शान्ति चाहिये। तो भाई! दवा के बारे में विचार करके हम क्या करेंगे, हमें तो आरोग्य चाहिये। इसलिये हम लोग कुछ नहीं पूछते हैं कि किसी से। कोई भी साधन-प्रणाली घटिया नहीं है। कोई भी मजहब कोई गलत बात बताता नहीं है। हम क्यों उस पर विचार करें? सीधी-सी बात है कि राग-मुक्त होने का उपाय करो, जगत् में रहते हुये करो, कुटुम्बीजनों के बीच में खड़े होकर करो। संसार की सेवा में लगाकर करो, विवेक के प्रकाश में देखकर करो। प्रभु के समर्पित होकर करो। दार्शनिक दृष्टिकोण को भी जीवन में रखिये। अस्तिकता के भाव को भी जीवन में रखिये और जगत् की सेवा को भी जीवन में रखिये।

भौतिकता, दार्शनिकता और आस्तिकता - ये तीनों ही दृष्टिकोण हर मनुष्य के जीवन में सदैव विद्यमान हैं। शरीर है तब तक भैतिकता को क्यों नहीं देखोगे, कैसे काम चलेगा? अमर-जीवन की माँग है तो दार्शनिकता को महत्व क्यों नहीं दोगे, अमर-जीवन कहाँ से मिलेगा? प्रेम की प्यास है तो प्रेम-स्वरूप परमात्मा को क्यों नहीं मानोगे? दूसरे कौन से रस से तृप्ति होगी? ठीक हैं न। तो मानव के जीवन को सम्पूर्णता में देखना चाहिये। मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि अध्ययन काल में मेरे आचार्यों ने मुझको सलाह दी थी कि तुम्हारा जैसा स्वभाव है, जैसी बनावट है, जिस प्रकार का गठन है, उसमें मनोविज्ञान का अध्ययन बहुत लाभदायक रहेगा। उस विज्ञान से तुमको मनुष्य के जीवन पर विचार करने की शक्ति मिलेगी। तो उससे मुझे बड़ी मदद मिली। जरा भी कहीं भी, मानव-मानव के बीच में भेदभाव की दीवार है ही नहीं। सुख भोग के परिणाम से, रागग्रसित सब बीमार हैं और विवेक के प्रकाश के रूप में औषधि सबके पास है। किसी मजहब का माननेवाला हो, जन्मजात विवेक का प्रकाश उसको प्राप्त है। गलत बात को गलत करके सब लोग जानते हैं। दूसरे गलत काम करते हों तो किसी मजहब का मानने वाला क्यों न हो, झट से कहेगा कि यह गलत काम है, नहीं करना चाहिये। विवेक का प्रकाश सबके पास है और अनन्त परमात्मा जो मानव-मात्र का जीवनदाता है, जन्मदाता है, उससे सीधा सम्बन्ध (Direct Connection) सब किसी का है कि नहीं? सबका है। कोई भगवान कहेगा, कोई राम कहेगा, कोई खुदा कहेगा, कोई गॉड (God)कहेगा, कोई कुछ कहेगा, तो जिसके मन में जो आये वो कहो। है तो एक ही। इसलिये बहुत ही आवश्यक बात है कि आप अपने जीवन के मौलिक सत्य पर दृष्टि रखेगे, तो मजहबी भेदभाव आपको सीमा में नहीं बाँधेंगे। आग्रही और विरोधी नहीं बनायेंगे। किसी को आप छोटा-बड़ा नहीं समझेंगे। राग-द्वेष की जड़ कट सकती है कि भाई तुम अपना विधि-विधान पूरा करो, हम अपना विधि-विधान पूरा करेंगे। और वैज्ञानिक सत्य सबके लिये एक है, दार्शनिक सत्य सबके लिये एक है। और उस मौलिक बात पर दृष्टि रखकर, आगे बढ़ियें, तो सहज से राग-निवृत्ति हो जायेगी। राग-रहित हो जाने के बाद, वह नित्य विद्यमान

अपना परम-प्रेमास्पद जो आज बड़ा रहस्यमय मालूम होता है, उसको पाने के लिये, बाहर खोजोगे तो दूर हो जाओगे। जो हर समय तुम्हारी ओर देख रहा है, उसकी ओर न देखने का दोष ही है तुममें और क्या दोष है? महाराज जी के बड़े सुन्दर दो वाक्य दो-तीन दिन पहिले मुझे मिले। कहने लगे कि देखो भाई! विचार कर लो, जिसकी ओर तुम बड़ी आतुरता से देख रहे हो, वह संसार तुम्हारी ओर नहीं देखता है। ठीक है ना। गंगाजी की धारा बह चली जा रही है, बही चली जा रही है। हम आकर्षित होकर उसकी ओर देखते हैं। धारा उलट कर हम लोगों से समाचार पूछने आती है क्या? नहीं आती है, चली जाती है। साँस ले रहे हैं हम लोग, हर साँस के साथ आयु क्षीण हो रही है। आयु लौट कर आती है पूछने कि तुम्हारा समाचार क्या है? शरीर की अवस्थायें निरन्तर बदलती चली जा रही हैं। युवावस्था चली गई, वृद्धावस्था आ गई। आप युवावस्था के प्रति बड़े आसक्त है। उसने कभी आप से पूछा कि जाऊँ कि ना जाऊँ? आपसे बिना पूछे, बिना Permission लिये, आप से बिना राम-राम किये, शरीर से युवावस्था चली गई। उसके चले जाने के बाद भी आप बैठकर आज पछता रहे हैं कि क्या करें? तो सन्त की वाणी का देखो चमत्कार। कहते हैं कि जिसकी ओर तुम देख रहे हो वह तुम्हारी ओर नहीं देख रहा है। 'और मेरे प्यारे' - यह शब्द स्वामी जी महाराज के हैं - 'मेरे प्यारे! जो निरन्तर तुम्हारी ओर देख रहे हैं उनसे तुम विमुख रहते हो।' जिसकी दृष्टि निरन्तर तुम्हारी ओर लगी हुई है, हाय मेरा बच्चा दुःख पा रहा है। हाय मेरा बच्चा मेरे पथ से भटक गया, हाय मेरा बच्चा मेरे प्यार से वंचित हो गया है। ऐसा जो महाकरुणावान जगत् पिता है, ऐसी जो महाकरुणामयी जगत् जननी हैं, उनकी दृष्टि निरन्तर हमारे पर लगी हुई हैं, और हम हैं जो उनकी ओर नहीं देख रहे हैं। इतना ही तो है ना। इतना सँभाल लिया जाये तो काम बन जाये। अब शान्त हो जाओ।

प्रवचन 75

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

एक बड़े काम की बात आज ध्यान में आई। ऐसे यह वचन सुना हुआ बहुत बार का है, नया नहीं है। लगातार दस बरसों से मैं सुन भी रही हूँ, आपको सुना भी रही हूँ, लेकिन आज इस चवपदज पर मेरा विशेष रूप से ध्यान गया। स्वामी जी महाराज का कहना है कि आलसी नहीं रहोगे, अकर्मण्य नहीं रहोगे, विवेकी और प्रेमी बनोगे, तो व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा। व्यर्थ चिन्तन का नाश होता है तो सार्थक चिन्तन उदित होता है। सुना हुआ बहुत बार कहा होगा-व्यर्थ चिन्तन का नाश होता है तो सार्थक चिन्तन का उदय होता है। कभी-कभी किसी-किसी बात पर विशेष रूप से ध्यान चला जाता है। तो आज मुझे ऐसा लगा कि कितना सत्य है यह, कि व्यर्थ चिन्तन को पृष्ठभूमि में रखकर के सार्थक चिन्तन का प्रयास हम लोगों का कितना व्यर्थ जाता है।

सार्थक चिन्तन में नाम-रूप का चिन्तन स्वामी जी महाराज ने नहीं बताया है, जैसे कि और दूसरी-दूसरी प्रणालियों में है - कि अपने इष्ट का चित्र अपने सामने रख लो, उनके रूप के चिन्तन में लगे रहो। एक प्रणाली ऐसी है, जो भगवत्-लीला के चिन्तन में लगने की बात बताती है। ऐसे लोग भी हैं जो लीला का चिन्तन करते हैं। नाम, रूप, गुण, लीला, धाम - इन सबके चिन्तन की चर्चा साधना की प्रणालियों में है अथवा नित्य तत्व से एक होने का चिन्तन भी चलता है - 'मैं वही हूँ जो

तू है' जो इस प्रकार की प्रणालियाँ हैं, उनको सार्थक चिन्तन कहते हैं। स्वामी जी महाराज वैसा नहीं कहते हैं। वे कहते हैं कि व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा, तो सार्थक चिन्तन उदय होगा। करना पड़ेगा, सो नहीं। 'जो ब्रह्म है सो मैं हूँ, जो वो है सो मैं हूँ' - इस प्रकार का चिन्तन करना नहीं पड़ेगा, उदय होगा। कौन सा सार्थक चिन्तन उदय होगा? तत्व की जिज्ञासा तीव्र हो जाएगी। तीव्र जिज्ञासा उदित होगी अथवा प्यारे प्रभु के प्रेम की प्यास तीव्र हो जाएगी।

एक दिन मैं चर्चा कर रही थी कि हमारा नित्य सम्बन्ध उस अनन्त तत्व से है, जो उत्पत्ति-विनाश से रहित है। उस तत्व से हमारा नित्य सम्बन्ध है, अर्थात् हम उसी की जाति के हैं, उसका ओर हमारा स्वरूप एक है। हमारा उसका आत्मीय सम्बन्ध है - ऐसी चर्चा हम कर रहे थे। इसकी हम पुनरावृत्ति करते हैं, इसको धारण करने की चेष्टा करते हैं, इस बात को याद करने की कोशिश करते हैं - ये बातें चलती हैं। स्वामी जी महाराज कहते हैं कि व्यर्थ चिन्तन का नाश हो जाएगा तो सार्थक चिन्तन आप से उदित होगा और सार्थक चिन्तन भी किस रूप में? - प्यारे की प्रियता की लालसा के रूप में, अथवा तत्व की जिज्ञासा के रूप में - अपने आपसे प्रकट हो जाएगा कितनी बढ़िया बात है।

जिज्ञासा का जाग्रत होना और जिज्ञासा की पूर्ति युगपद है - ऐसा लिखा है स्वामी जी महाराज ने। प्रियता की प्यास की तीव्रता का बढ़ जाना और प्रिय मिलन का सरस अनुभव युगपद् है। जिज्ञासा की तीव्रता और जिज्ञासा की पूर्ति ऐसे ही एक साथ होती है जैसे कि सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति। ऐसा कहो कि सूर्य का उदय हो गया तो तुमको यह नहीं कहना पड़ेगा कि अन्धकार की निवृत्ति हो गई। क्योंकि दोनों में इतनी एकता है कि एक ही अर्थ निकलेगा, अथवा यह कहो कि अन्धकार की निवृत्ति हो गई तो यह नहीं कहना पड़ेगा कि सूर्य का उदय हो गया। क्योंकि निवृत्ति हो गई तो इसका मतलब है अन्धकार मिट गया।

साधक की ओर से सबसे बड़ा पुरुषार्थ इस बात में है कि वह व्यर्थ-चिन्तन के नाश का उपाय करें। व्यर्थ-चिन्तन का नाश हो गया तो अब फिर सार्थक चिन्तन के लिए कोई नया प्रयास नहीं करना पड़ेगा, इतना स्वभाविक है यह। अपने आप से होगा। क्या होगा? कि तत्व की जिज्ञासा जाग्रत हो जाएगी या प्रभु प्रेम की प्यास बढ़ जाएगी। प्रेम की लालसा तो हम सब भाई-बहिनों के भीतर है, वो जरूरी भी है। जब हम उस प्रेम-रस की प्यास को संसार की सहायता से तृप्त करना चाहते हैं तो हमारा ध्यान इधर-उधर जाता है और व्यर्थ चिन्तन उदित होते हैं। लेकिन जब हम उस परम-पवित्र प्रेम-रस को ही जीवन का लक्ष्य बनाएँगे कि उसी से हमारी तृप्ति होगी, वो ही हमको भर सकता है, इधर-उधर देखना बन्द कर देंगे, तो व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा और व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा तो सार्थक चिन्तन उदित हो जाएगा, अर्थात् वह प्यास अति तीव्र होकर के प्रेम के तत्त्व में बदल जाएगी। 'स्मृति' शब्द का प्रयोग भी किया है महाराज जी ने, स्मृति और प्रीति को एक बताया, उसी तरह से प्रेम की प्यास का अति तीव्र होना और उस रस की निष्पत्ति-उसको भी एक बताया।

अब अपने लोगों के स्तर पर क्या सोचना है? जहाँ हम बैठे हैं वहाँ कैसा लगता है? तो आज अपनी दशा में दोनों ही बातें मिल रही हैं। एक तो ऐसा लगता है कि सत्य की जिज्ञासा भी है, प्रभु प्रेम की प्यास भी है और संसार का सहारा भी है, और संसार के सहारे जो थोड़ा बहुत अच्छा लगता हैं, संकल्प पूरे होते रहते हैं, उसका भी कुछ ख्याल

है। यह मिश्रण है हम लोगों के जीवन में - थोड़े-थोड़े अंश में संसार भी अच्छा लगता है और उसके संयोग का सुख मिल जाए तो उसे भी हम छोड़ने को राजी नहीं हैं और चाहते हैं कि उसके साथ-साथ जिज्ञासा पूर्ति का आनन्द भी आ जाए।

सत्य क्या है? वास्तविकता क्या है? मैं क्या हूँ? - इन सब रहस्यों का उद्घाटन भी हो जाए अपने भीतर और परम प्रेमास्पद प्रभु के प्रेम का रस भी मिल जाए - तो इस असमंजस में अभी हम लोगों के दिन कट रहे हैं। इतना अन्धकार नहीं है कि सत्य की ओर से हम लोग बिल्कुल ही लापरवाही करें, इतना अन्धकार भी भीतर में नहीं है, ऐसी जड़ता भी नहीं है। परमात्मा की याद भी आती है, सत्य की याद भी आती है, इनकी आवश्यकता भी महसूस होती है, लेकिन चेतना भी नहीं है कि उसके रास्ते के सब रोड़े एक साथ हटा दें, सो भी नहीं है। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए कि अभी सत्य के बिना भी, परमात्मा के प्रेम के बिना भी संसार के संयोग की सहायता से दिन कट रहे हैं। हमको तो ऐसी दशा मालूम होती है, थोड़ा खाने-पीने में संयम हो गया, थोड़ा रहन-सहन में संयम हो गया, अपने पास सामान थोड़ा कम कर दिया, दूसरों की बुराई करते नहीं हैं, भले आदमी की तरह रहते हैं, समाज के लोग अच्छी दृष्टि से देखते हैं - इनते ही में सन्तोष हो गया।

सत्य की जिज्ञासा शिथिल है, प्रभु-प्रेम की प्यास शिथिल है, तीव्र होने ही नहीं पाती कि वह उपलब्धि का रूप धारण करें। जिज्ञासा की तीव्रता तीव्रतम हो जाती तो उपलब्धि में बदल जाती। प्यारे प्रभु के प्रेम की प्यास तीव्रतम हो जाती तो मिलन में बदल जाती। लेकिन उसको तीव्रतम होने नहीं दिया। क्या किया, कि उसके विपरीत वृत्तियों को अभी तक छोड़ा ही नहीं है। इतना ही मेरे लिए पर्याप्त है कि मैं जिस समाज में रहती हूँ, उस समाज में किसी को नुकसान न पहुँचा कर, थोड़ा अच्छे ढंग से रहन-सहन बना कर, आदर, सम्मानित होकर दिन काट लेती हूँ। इतने में अपने को सन्तोष हो गया, इसलिए जिज्ञासा भी तीव्र नहीं हुई ओर प्रियता की प्यास भी तीव्र नहीं हुई, यही कारण है।

स्वामी जी महाराज अपने जीवन का अनुभव ऐसे ही सामान्यीकरण करके कहते थे। भरी सभा में बातें सब कह जाते थे लेकिन ऐसा नहीं कहते थे कि यह मेरे साथ हुआ था। आप लोगों ने सुना होगा, लेकिन है यह उनकी अपनी घटना। बता रहे थे कि आप कि भाई देखो, सत्य की जिज्ञासा और प्रिय मिलन की लालसा इतनी जोरदार होती है, इतनी तीव्र होती है कि प्यास लगी हो, हाथ में ठण्डा-मीठा जल गिलास से भरा हुआ पकड़ा हो आदमी ने, और जल पिया नहीं जाता है। क्या लगता है? - कि किसी प्रकार से प्रभु मिलें पहले और जल पियें पीछे। क्यों, महाराज ऐसी क्या बात? तो ऐसी बात यह है कि प्रिय-मिलन की लालसा अति तीव्र जब हो जाती है तो दूसरी सारी जरूरतें उसके सामने नगण्य हो जाती है। अपने लिए महाराज जी ने बताया कि मुझको तो ऐसा लगता था कि कहीं पानी की घूँट पीने में लग गए और उसी बीच में प्राण पखेरू उड़ गए तो प्रिय-मिलन की बात बाकी रह जाएगी। इसलिए हाथ में जल का गिलास है और बहुत जोर की प्यास है, लेकिन पियेंगे नहीं। हाथ का गिलास हाथ ही में रह गया, सूखे होठों तक पहुँच ही नहीं पाया। क्यों? प्रिय-मिलन की तीव्र लालसा! पहले उनसे मिलो, पीछे पानी पियो-इतनी तीव्रता उसमें होती है, इतनी जागृति उसमें होती है और स्वयं इतना सरस होता है वह, कि जब जिज्ञासा का उदय हो गया, प्रिय लालसा का उदय हो गया तो उसमें भूखे-प्यासे रहने का कोई कष्ट नहीं मालूम होता, कोई

बैचेनी नहीं होती, दुःख नहीं होता, कुछ नहीं लगता। क्यों? क्योंकि भीतर में अपने वास्तविक जीवन से अभिन्न होने की लगन में ही इतना जीवन है, इतनी सरसता है कि उसके आगे शरीर का भूखे रहना और पेट भरना कोई अर्थ नहीं रखता। ऐसा होता है।

अब हम लोग क्या करें उस जिज्ञासा की जागृति के लिए और उस प्रिय लालसा की तीव्रता के लिए? महाराज जी ने उत्तर दिया कि व्यर्थ चिन्तन का नाश करो। अब इन दिनों में बड़ा अच्छा अवसर है हम सब भाई-बहिनों के लिए, कि प्रातःकाल साढ़े तीन से चार तक आप चुप रहते हैं, तो मान लीजिए कि पूरी शान्ति में आधा घण्टे का समय नहीं निकलता है, भीतर में हलचल रहती है, कभी कुछ ज्यादा, कभी कुछ कम, लेकिन रहती है, तो इसका अर्थ है कि शान्ति काल में व्यर्थ चिन्तन चल रहा है, तब उस व्यर्थ चिन्तन के नाश का उपाय करो। सार्थक चिन्तन करने का प्रश्न नहीं है। व्यर्थ चिन्तन के नाश का प्रश्न है। बड़ी भारी भूल होती है कि हम व्यर्थ चिन्तन के नाश का उपाय नहीं करते, उसकी जड़ नहीं काटते और सार्थक चिन्तन में बड़े जोर से लग जाते हैं।

एक साधक सज्जन हैं, वह एक बार कहने लगे कि दीदी! मैं तो गुरुजी के बताए हुए ईश्वर के नाम का जप करता हूँ अकेले कमरा बन्द करके और जब भीतर से ज्यादा उपद्रव होता है, तो मैं खूब जोर-जोर से पुकारता हूँ। ऐसा क्यों करते हो भाई? जोर-जोर से पुकारने लग जाओ तो व्यर्थ चिन्तन का कष्ट नहीं होता है, पता नहीं चलता है, होता तो है ही। सुनकर मुझे बड़ा दुःख लगा। खूब तीव्र बुद्धि वाला बालक, माँ-बाप के लिए एकमात्र सहारा। पढ़ने-लिखने में खूब आगे निकला, काम में भी बहुत अच्छा मिला, धन भी खूब कमाया, आजीवन ब्रह्मचारी रहा, ब्याह भी नहीं किया, मन्त्र-दीक्षा भी ली, खूब जोरदार साधना भी की और जीवन में सरसता अभी तक नहीं आई। भगवान उसको देंगे सहारा, आगे मिलेगा। महाराज जी से भी उसको कई बार मिलाया। लेकिन क्रिया के वेग वाली साधना का इतना प्रभाव रहता है व्यक्ति पर, कि मानव सेवा संघ का सिद्धान्त उसको भाता ही नहीं है।

महाराज जी के पास जाओ तो कहेंगे - 'कुछ मत करो।' अब बड़ा कठिन है कि कुछ मत करो। उसकी अपेक्षा यह आसान है कि भीतर-भीतर उद्गार, विकार सब उथल-पुथल मचा रहा है और ऊपर से जोर-जोर से खूब नाम लेते रहो, गुण गाते रहो, कीर्तन करते रहो, बाजा बजाते रहो, दस-बीस मिल कर। उसमें शक्ति भी लगती है, अच्छा भी लगता है, catharsis भी होता है, energy जो भीतर पैदा हो रही है, उसके निष्कासन का एक अच्छा रास्ता मिलता है। बुरा तो वह है नहीं, नुकसान किसी को पहुँचाएगा नहीं, समाज में अच्छी दृष्टि से देखा जाता है - ये सब तों तो उसमें है ही। लेकिन व्यक्ति के भीतर जिस भगवत्-स्मृति का उदय होना चाहिए था कि जिसके बाद ही सम्पूर्ण अहं रूपी परमात्मा से मिलकर अभिन्न होता, वह घड़ी ही पैदा नहीं होती है, समय आने ही नहीं पाता है।

क्रिया का वेग व्यक्ति को स्वभाव से पसन्द आता है ओर शान्त रहो तो शान्ति काल में अन्दर की जो हलचल है सो अपने को बहुत पीड़ा देती है। साधक के सामने एक चित्र आता है कि इतने दिन बीत गए, अभी दस मिनिट के लिए भी शान्त रहना नहीं आया, तो पीड़ा होगी न? यह पीड़ा उसके लिए हितकर है। लेकिन अपनी हार मनुष्य सह नहीं सकता। कुछ न करने वाली साधना बहुत कम लोगों के गले उतरती है और

कुछ करने वाली बात में लोग शामिल हो जाते हैं। सहज मालूम होता है।

जीवन का रहस्य है, उसको आप सामने रखकर देखिए। महाराज जी ने यह कहा कि जब व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा तो सार्थक चिन्तन स्वतः उदित हो जाएगा। साधन का करना साधन होने में बदल जाएगा, भगवान को याद करना, याद आने में बदल जाएगा। करना अखण्ड होगा या होना अखण्ड होगा? होना अखण्ड होगा। इसलिए करना हमारा खण्डित होता रहता है। आरम्भ करते हैं, अन्त होता है, लेकिन भीतर-भीतर अपने में जो जीवनी शक्ति है, वह भगवत्-स्मृति के रूप में एक बार उनसे जुट गई तो खाते-पीते, उठते-बैठते, चलते-फिरते सब समय वह आपके ध्यान को, आपके मन को, आपके चिन्तन को, आपके चित्त को, सबको खींच करके उसकी ओर लगाये रहती है। स्मृति उदित हो जाना बड़ा ही शुभ लक्षण है और मुझे ऐसा लगता है कि वह साधक के जीवन के पुरुषार्थ की परावधि है। पुरुषार्थ वहाँ खत्म हो गया। अब उसके आगे कुछ करना नहीं पड़ेगा, तो वह स्वतः ही हमारे को, मुझको, मेरे अहं को बदल कर नित्य तत्व से अभिन्न करा देगा।

महाराज जी ने कहा कि व्यर्थ चिन्तन का नाश कैसे करोगे, उसका उपाय कर लो! क्या-क्या करें? चार कदम बताए उन्होंने श्रमी, संयमी, विवेकी तथा प्रेमी। श्रमी बनो, संयमी बनो, विवेकी बनो और प्रेमी बनो तो विश्राम मिलेगा। विश्राम मिलेगा तो तत्व जिज्ञासा और प्रिय लालसा तीव्र होगी। यह फार्मूला ;वितउनसंक्ष है। श्रमी हो सकते हैं कि नहीं? हो सकते हैं। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से जिन धातुओं के संगठन से शरीर बना, उसमें एक प्रकार की क्रियाशक्ति का वेग पैदा होता है तो उसको खर्च किए बिना किसी से रहा नहीं जाता। लेकिन विवेकीजन जो होते हैं, वो सार्थक श्रम करते हैं जो कि विश्राम में बदल जाए और अविवेकीजन जो होते हैं, वो ऐसा श्रम करते हैं कि श्रम से श्रम ही पैदा होता है, विश्राम नहीं मिलता है। अविवेकी का श्रम कौनसा है? - जिन सुख भोगों ने तुम्हें जन्म-मरण की बाध्यता में बाँध दिया, उन्हीं सुख भोगों में श्रमित होते रहना - यह अविवेकी का श्रम है। खूब परिश्रम करो। कभी पहाड़ पर चढ़ाई का कौतूहल आ गया तो वह परिश्रम किया ओर कभी धन कमाने की धुन चढ़ी तो उसी में दिन-रात लगे हुए हैं, कभी कमाए हुए धन का सुख भोगने की धुन चढ़ी तो उसी में लगे हुए हैं। जिनके पास ज्यादा सुविधाएँ रहती हैं और विवेक का नियन्त्रण जीवन पर नहीं रहता है, वे ऐसे श्रमित हो जाते हैं तन-मन से कि बाद में वे गतियों को रोकना भी चाहते हैं तो रोक नहीं पाते हैं।

मानसिक रोगों के विश्लेषण, निदान और चिकित्सा वाले अध्ययन में इस प्रकार का बहुत प्रमाण मुझको मिला है। तो वो अविवेक का श्रम है। खूब श्रम किया, खूब श्रम किया, खूब शौक पूरा करने में, खेलने-कूदने में, मान-बड़ाई खरीदने में लगा दिया, खूब श्रमित हो गए। श्रमित होते-होते प्राण-वायु, प्राण-शक्ति शेष हो गई और सुख भोगने की लालसा-तृष्णा पहले से थोड़ी और गाढ़ी हो गई। यह अविवेकी का श्रम है।

विवेकीजन कैसा श्रम करते हैं? ऐसा श्रम करते हैं कि जिसके बाद अपने को विश्राम मिल जाए। वे सार्थक श्रम करते हैं, साधन रूप श्रम करते हैं, सेवा प्रवृति में श्रमित होते हैं। सेवा प्रवृति में श्रम करो तो अन्त में विश्राम मिलेगा, साधन रूप श्रम हो गया तो अन्त में विश्राम मिलेगा, सार्थक श्रम हो गया तो वह अपने आप से विश्राम में बदल जाएगा और प्रेमी होकर श्रम करो - यह प्यार प्रभु की सृष्टि है, यह प्यारे प्रभु का काम है, यह सब

प्रभुरूप ही है - ऐसा मान करके बड़े प्रेम के साथ प्रभु की पूजा के रूप में श्रमित हो तो श्रम के बाद बहुत विश्राम मिलता है।

अब आगे कहा है कि, संयमी रहो। संयमी किस बात में? हर क्रिया में सयम रखना है - खाने-पीने में, सोने-जागने में संयम रखना है। उतना ही खाओ-पीओ जो शरीर के लिए हितकर हो, आवश्यक हो, उतना ही रखो जितने में तुम्हारा कम से कम में काम चल जाए। हर बात में संयम रखो - वाणी में संयम, कर्म में संयम, हाथ-पाँव की क्रियाशीलता में संयम, खान-पान में संयम, निद्रा में संयम- सब में संयम। साधक के जीवन में सर्वेन्द्रिय-संयम का बड़ा महत्व है। तो विवेक-युक्त श्रम हो गया, विवेक-युक्त संयम हो गया, विवेक-युक्त त्याग हो गया ओर प्रेम-पूर्वक सब व्यवहार हो - भाव से, मन से, वचन से, कर्म से। इन चारों व्रतों के पालन करने से व्यर्थ चिन्तन मिट जाएगा, और सार्थक चिन्तन उदित हो जाएगा तो हम लोगों के पुरुषार्थ की पराकाष्ठा हो जाएगी, फिर और कुछ करना नहीं रहेगा, सब हो जाएगा।

प्रवचन 76

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

हम सब लोग मानव हैं। मानव होने के नाते साधक हैं और साधक होने से जीवन की सफलता पर विचार करने बैठे है, तो अपने संबंध में एक विशेष बात जो ध्यान में रखने के लिये है, वह यह है कि जब भौतिक तत्वों से रचे हुए शरीरों के अतिरिक्त अलौकिक तत्वों से रचे हुए 'मैं-पन' का भास व्यक्तित्व में है, तो शरीर दिखाई देता है, इस आकृति को देखकर, स्थूल दृष्टि से, इसी को बहुत अधिक महत्व दे देना अपनी भूल है। एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व ले लीजिए। मनुष्य के व्यक्तित्व में तीनों शरीर भी है और शरीरों के अतिरिक्त अशरीरी तत्व भी है - जिसको 'मैं' कहकर हम लोग सम्बोधित करते हैं। सब मिलाकर एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व बनता है। उसमें से केवल शरीरों को महत्व देना कि ठीक प्रकार से निर्वाह हो जाए और संसार के सम्पर्क से अधिक से अधिक सुख लिए जाए, ऐसा सोचना, यह अधूरी बात होती है।

अब आप सोचकर देखिए कि जन्म से लेकर अब तक जो समय हमने इस संसार में बिताया वह केवल शरीर और जगत् के अभियोजन में ही बिताया। किसी तरह से सुखपूर्वक, सम्मानपूर्वक रहना हो जाए - इसी पर पूरा ध्यान दिया, इसी पर सारी शक्ति लगाई है। और यह सब करते-करते अपने को निर्बलता, पराधीनता, नीरसता सता रही है। ऐसी दशा इसलिए हो गई कि हमने भूल की। हमने अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सामने नहीं रखा।

मनुष्य जन्म लेता है, शरीरधारी होकर जगत् में आता है तो ज्ञानात्मक, भावात्मक, क्रियात्मक - ये सारे पहलू उसके साथ होते हैं। जो सबसे पहली प्रतिक्रिया होती है मनुष्य के जन्म के बाद, बवहदपजपअम ंेचमबज उसको कहते हैं, वह ज्ञानात्मक प्रतिक्रिया होती है। 'मैं-पन' का भास, 'मैं हूँ' - यह पहले मालूम होता है, उसके बाद उसको अपने से भिन्न एक जगत् दिखाई देता है, धीरे-धीरे दूसरी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बहुत देर में काम करना शुरू करती हैं। सबसे पहली प्रतिक्रिया होती है 'मैं-पन' का भास - यहाँ तक तो वैज्ञानिक लोग अध्ययन के द्वारा जानते हैं।

अब दार्शनिक दृष्टिकोण अपने सामने रखिए। शरीरों का बन जाना, बदल जाना, बिगड़ जाना - यह तो एक प्राकृतिक प्रक्रिया है। उसके द्वारा यह सब बातें क्रमिक ढंग से स्वतः ही होती

रहती है। लेकिन 'मैं-पन' का भास, जो हम लोग को जन्म के समय से रहता है, वह शरीरों के नाश के समय भी रहता है और शरीरों के नाश होने के बाद भी रहता है ओर कुछ लोगों को फिर नए शरीर धारण करने के बाद भी उसकी याद रहती है। आज जीवन का यह सत्य हम सब लोग अपने सामने रखें और उसका आदर करें तो साधना के पथ में बड़ी सहायता मिलेगी। वो क्या है? कि शरीर बना है भौतिक तत्वों से, जिसमें निरन्त परिवर्तन हो रहा है, और 'मैं-पन' बना है अलौकिक तत्व से, जिसका कि नाश नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो अथवा न हो, लेकिन है यह सत्य! इसीलिए इस सत्य को स्वीकार कर हम लोग साधन में अधिक तत्पर हो सकते हैं।

अब दूसरी बात। अनुभवी सन्तों ने हम लोगों को बता दिया कि देखो, धरती में आकर्षण शक्ति है, उस आकर्षण शक्ति से सब भौतिक तत्व धरती की ओर आकर्षित रहते हैं। इतनी सी बात सामान्य ज्ञान ;ळमदमतंस ादवूसमकहमऋ की तो आप सबको मालूम ही होगी। जैसे - वृक्ष में फल पक गया, डण्ठल की पकड़ ढ़ीली हुई तो धरती के आकर्षण से खिंच करके वह जमीन पर आ गिरा। गोलाकार पृथ्वी, चलती हुई गतिशील पृथ्वी और उस पर हम लोग चलते-फिरते, उछलते-कूदते, अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। हमारे शरीर का सन्तुलन, जो सँभाल करके रखा जाता है इस धरती पर, वह धरती की आकर्षण शक्ति से सँभाला जाता है - यह भी आप लोगों ने सुना होगा, महाराज जी ने एक बार ऐसे बताया कि देखो, जैसे भौतिक तत्व भौतिक तत्वों के आकर्षण से धरती की ओर सब खिचें रहते हैं, उसी प्रकार से यह 'मैं-पन' जो है, उसका उद्गम- जो सर्वउत्पति का आधार, सर्वप्रतीति का प्रकाशक है, वह इस 'मैं-पन' को अपनी ओर खींचता है तो दोनों अपनी-अपनी सजातीयता में खिंच गए - भौतिक तत्वों का खिंचाव धरती की ओर हो गया और 'मैं-पन' का खिंचाव उस अनन्त तत्व की ओर हो गया। यह बात पकड़ में आती है न?

अब देखिए मनुष्य के व्यक्तित्व में दोनों ही बातें एक साथ होती है। शरीरिक और मानसिक सुखों को लेकर वह जगत् की ओर भी आकर्षित होता है और अपनी शान्ति, स्वाधीनता ओर प्रियता को लेकर परमात्मा की ओर भी आकर्षित होता रहता है। आप सबको अपने जीवन में ऐसा लगता होगा। यह किसी जाति की बात नहीं है, किसी वर्ग, सम्प्रदाय, मजहब की बात नहीं है, पढ़े-लिखे, बेपढ़े-लिखे होने की बात नहीं है। यह तो मानव-मात्र की, साधक-मात्र की अपनी बात है। शरीरों की जरूरत सामने आती है तो हम लोग जगत् की ओर खिंच जाते हैं। भूख लगी है तो भोजन के पास चलो, प्यास लगी है तो जल से सम्बन्ध जोड़ो, किसी प्रकार की मानसिक खुराक चाहिए, सुख-दुःख को बाँटने के लिए, तो समाज के साथ जुड़ जाओ। तन और मन की जरूरत को सामने रखकर हम संसार की ओर आकर्षित होते हैं और अपनी जरूरत, जो शान्ति, स्वाधीनता और परम-प्रेम है, उस आवश्यकता से प्रेरित होकर हम अभौतिक तत्व की ओर आकर्षित होते हैं, अलौकिक तत्व की ओर आकर्षित होते हैं, अनादि, अनन्त, अविनाशी सत्य की ओर आकर्षित होते हैं। बहुत ही स्वाभाविक बात है और इस दुविधा में पड़े हुए बहुत दिन बीत गए हम लोगों को। अनेकों जन्म बीते होंगे, तो जाने दें, जन्म की बात छोड़ दीजिए। इसी जन्म के अनेकों वर्ष हमने इस दुविधा में बिताए।

हमारे भीतर एक ही जीवनी शक्ति है, उसी को कभी शरीरों के साथ जुटाकर संसार के

सुख भोगों में झोंक दिया और उसी को लेकर कभी शान्ति-सम्पादन के द्वारा योग सिद्धि में, स्वाधीनता प्राप्ति में, परमात्मा की भक्ति में लगा दिया। एक ही जीवनी शक्ति है। एक ही सपमि वितबम है! उसको dynamic वितबम भी कहते हैं, जो कि व्यक्ति को गतिशील बनाता है - वह एक ही है। पूँजी एक ही है और प्रकृति के विधान से, सृष्टिकर्ता के विधान से, नाप-तौल के हम लोगों को, सब किसी को मिली हुई है। अब उसी शक्ति को लेकर जब शरीरों के माध्यम से संसार का सुख-भोग पसन्द करो तो यह शक्ति बाह्य जगत की ओर प्रवाहित हो जाती है, और अपनी आवश्यकता को लेकर योगवित् होना पसन्द करो तो यह शक्ति बाहर की ओर से खिंचकर अपने भीतर केन्द्रीभूत होकर उद्गम से जुट जाती है। दोनों ही बातें स्वभाव से होने वाली हैं। अन्तर क्या है? - कि बनने-बिगड़ने वाले शरीरों पर ज्यादा ध्यान देंगे, अधिक समय बिताएँगे, उसकी प्रवृतियों के लिए अधिक शक्ति खर्च करेंगे तो शक्ति खत्म हो जाएगी ओर वासना शेष रह जाएगी। यह एक क्षति हो जाएगी। बल खत्म हो जाएगा ओर सुख भोगने की इच्छा रह जाएगी। यह एक घाटा लग जाएगा। यह जिन्दगी की हार हो जाएगी। बहुत दुःख की बात हो जाएगी। उसके विपरीत जब मालूम हो गया कि शरीर तो नाशवान है ही, उसका तो नाश होगा ही, इसलिए जब तक यह काम के लायक है तब तक साधन-सामग्री के रूप में इससे काम ले लो। अगर ऐसा निश्चय किया अपने, तो बहुत आराम मिलेगा। यह केवल दृष्टिकोण परिवर्तन की बात है। आप केवल इतनी-सी बात को अपने द्वारा स्वीकार कर लें तो बहुत सहायता मिलेगी। अब तक हमने क्या सोचा था कि शरीर की सहायता से जितना सुख मिल सके संसार का, उतना ले लो। उसके परिणाम में दुःख-भोग मिला, असमर्थता मिली, अभाव मिला और मृत्यु मिली - यह अपनी जानी हुई बात हो गई।

जीवन के सत्य पर विचार करने से ऐसा लगता कि इस मिटने वाल शरीर के अलावा मेरा अपना अस्तित्व भी तो है। इस 'मैं' की आवश्यकता क्या-क्या है? इसमें तो योग, बोध और प्रेम की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति अगर हो गई तो जन्म-मरण का झंझट सदा के लिए मिट जाएगा। योग, बोध और प्रेम की बात अगर पूरी हो गई तो संयोग-वियोग और मान-अपमान-सम्मान की बात सदा के लिए खत्म हो जाएगी। इस 'मैं-पन' की जो असली जरूरत है, उसको जो लोग दृष्टि में रखते हैं उनके लिए सेवा-त्याग-प्रेम की साधना कठिन नहीं पड़ती है।

साधना तो सब भाई-बहिनों ने बहुत पहले ही आरम्भ कर ली होगी परतु अब तक उसमें अगर सफलता नहीं मिली तो इतनी-सी बात और सोच लीजिए कि क्यों नहीं मिली? साधन सजीव नहीं हुआ। साधन और जीवन में एकता नहीं हुई। क्यों नहीं हुई? कि नाशवासन को हमने अधिक महत्व दिया, उसको सँभालने में अधिक समय और शक्ति लगाई और जो अपना जीवन है, जो अपनी आवश्यकता है, जो कभी न मिटने वाली शान्ति, स्वाधीनता और प्रियता है, उस पर ध्यान नहीं दिया इसलिए काम नहीं बना। तो अब क्या करना चाहिए? बहुत पढ़ने से यह काम नहीं बनेगा, बहुत बोलने से यह बात नहीं बनेगी, बहुत सुनने से यह बात नहीं बनेगी। अभी इसी जगह बैठे-बैठे जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदल डालिए। कैसे बदलें, कि अब तक हम नाशवान पर विशेष ध्यान दे रहे थे, उसी को सँभाल रहे थे। अब हम अविनाशी जीवन को अधिक महत्व देंगे, सर्वाधिक महत्व देंगे-ऐसा मान लें।

दृष्टिकोण बदलना साधक का बहुत बड़ा पुरुषार्थ मैं जानती हूँ और अब तक लोगों ने यही किया है। आपने महात्मा शहंशाह जी का नाम सुना होगा। उनके जीवन की दो-चार घटनाओं को मैं सुनाती रहती हूँ। काश्मीर दरबार में जब उनको नौकरी नहीं मिली तो संसार की ओर से निराशा हुई। युवावस्था थी, असाधारण बुद्धि का स्तर था और उस समय ग्रेजुएट होना बहुत बड़ी बात थी, सो उच्च शिक्षा भी और काम करने की इच्छा भी- धन कमाने के लिए गए थे। घर में विधवा माता और उनको सुख आराम देने की इच्छा भी थी। इन सारी बातों को लेकर काश्मीर दरबार में गए। प्रधानमंत्री पिण्डीदास जी से भेंट करना चाहते थे तो एक दिन समाचार मिला कि आज फुर्सत नहीं है, नहीं मिलूँगा। दूसरे दिन समाचार मिला कि आज बीमार हूँ, नहीं मिलूँगा। कुछ भी हो 'नहीं मिलूँगा' - यह उत्तर उनको मिला। केवल इतनी-सी बात से एक महापुरुष में इतनी जागृति आ गई कि काश्मीर दरबार से उठकर के वे घर गए ही नहीं। सोच लिया कि अच्छा, इसका नाम संसार है! मैं मिलने के लिए हाजिर होऊँ, मिलने के लिए निवेदन करूँ और संसार इन्कार करें। ठीक है, उससे मिलकर क्या लेना, जो मिलने से इन्कार करता है। एकदम से दृष्टिकोण बदल गया। काश्मीर दरबार में नौकरी नहीं मिली तो दूसरी जगह मिल सकती थी और दो-चार जगह ठोकर खा सकते थे, लेकिन वे जाग्रत पुरुष थे! एक सचेत मानव थे! एक ही उदाहरण से सीख लिया उन्होंने, और ठान लिया कि अब तो मैं उसी से मिलूँगा जो मिलने से इन्कार नहीं करता। अब तो मैं उसी की सर्विस में रहूँगा जो बीमार नहीं पड़ता। एक ही उदाहरण से संसार को इन्कार कर दिया उस महापुरुष ने, तो उनका काम बन गया। यह केवल दृष्टिकोण का परिवर्तन ही तो था। अब मैं सत्य के ही संग में रहूँगा, उसी का होकर रहना पसन्द करूँगा, उसी से मिलूँगा, उसी की सर्विस में रहूँगा - इस निश्चय को करने के लिए इस बात की पुनरावृत्ति करनी पड़ी? माला जपनी पड़ी? सो तो कुछ नहीं!

इसी को सत्संग कहते हैं। जीवन की घटनाओं के प्रकाश में असत् के महत्व को इन्कार कर देना और सत्य के महत्व को स्वीकार कर लेना - यही तो हमारा पुरुषार्थ है। चमड़े का रंग काले से सफेद हो जाएगा कि नहीं, इसमें तो कोई भी हाँ नहीं भर सकता। प्रकृति की बहुत-सी बातें हैं कि जिनमें हम लोग परिवर्तन नहीं ला सकते। उसके विधान से जो परिवर्तन होता है, सो होता है। हमारे बस की बात नहीं। लेकिन वही मनुष्य अपने ज्ञान का, अपने विवेक का अनादर करके अपनी मिट्टी पलीद करता रहता है ओर वही मनुष्य अपनी जागृति से अपनी चेतना का आदर करके अनमोल जीवन को पाता है, तो मनुश्य ही तो ऐसा कर सकता है। और जो शरीर के सम्बन्ध से संसार की ओर आकर्षित था, वही तो उधर से अपने को हटा करके सत्य की ओर आकर्षित हो गया। इसमें कितना समय लगा? समय की बात तो नहीं है। इसमें कितना परिश्रम लगा? परिश्रम की बात भी नहीं है। सत्य का आदर करने में, निज विवेक के प्रकाश का आदर करने में समय और शक्ति खर्च करने की बात नहीं है। बहुत धीरज से, बहुत गम्भीरता से इस विषय पर विचार करिये। बड़ी भूल होती है अपने से। मैंने अपने को इस प्रकार की भूल से अनेकों बार पाया है और सावधान किया है। जब दोनों ही बातें सामने आ जाती है कि भाई, यह तो व्यावहारिक क्षेत्र है और इतना काम तो इस रूप में होना ही चाहिए, तो एक उल्टी उलझन में फँसना और एक केवल अपने कर्त्तव्य की दृष्टि से, केवल राग-निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति में

हाथ डालना और प्रवृत्ति की सामर्थ्य प्राप्त करना, फिर प्रवृत्ति से निवृत्त होकर निजस्वरूप में रहना, निज प्रभु की मधुर स्मृति में खोना-दोनों ही बातें सामने आती है। आप भाई-बहिनों के सामने भी आती हैं। आप भी उनको जानते हैं, देखते हैं, समझते हैं। अन्तर केवल इतना है कि अगर निज विवेक का आदर किया, अलौकिक, अविनाशी जीवन को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना, तो यह बाहरी बातें जो हैं, वे महत्वहीन हो जाती हैं तो कितनी निश्चिंतता आ जाती है।

अभी एक महिला मुझे मिली थी। वे एक साधक की चर्चा सुना रही थी कि बड़ा ही सुख का साम्राज्य उनके सामने था और सत्संग में जाने पर उन्हें बहुत अच्छा लगने लगा। ध्यान देकर सुना होगा ओर जैसे मैं निवेदन करती हूँ कि बैठे ही बैठे जीवन का दृष्टिकोण बदल जाता है - ऐसा उनका बदल गया। फिर पहले की तैयार भी रही होगी - बैठे ही बैठे उनके भीतर खूब शान्ति छा गई। कुछ घंटे यहाँ बैठने में ही निकल गए। उसके बाद जब आँखें खुलीं तो उन्होंने कहा कि अहा! अपने भीतर इतना आनन्द!! अपने भीतर इतनी शान्ति!!! अब मैं इस सुख का साम्राज्य लेकर क्या करूँगी? तो सब कुछ इन्कार कर दिया। नहीं, नहीं, यह सब कुछ नहीं। मेरा जीवन तो मेरे भीतर ही है, मेरी शान्ति तो मेरे अन्तर में ही है और इतना आरा है उसमें, कि उसके आगे यह बाहर का सुख क्या है? कुछ भी नहीं-कहकर उन्होंने सब कुछ इन्कार कर दिया और अपनी साधना में अधिकाधिक गहराई में उतरते चले गए। उनका काम बन गया तो यह दूसरी बात हो गई।

'मैं-पन' का नाश नहीं होता है, इसलिए मृत्यु के भय की कोई बात ही नहीं है। फिर मिले हुए शरीर का क्या तात्पर्य है? इसको साधन-सामग्री हम लोग बना लेंगे और संयम-नियम के साथ आरोग्य पर ध्यान रखकर, शरीर के लिए हितकारी पदार्थों को अर्पण करेंगे इसे। खुराक में, वस्त्र में, रहन-सहन में, जागने-सोने में - सब बातों में शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखना शरीर की सेवा है ओर साधकों के लिए अनिवार्य है। उसके बाद उसके आरोग्य को लेकर, उसके बल को लेकर क्या करेंगे? तो पहले जो इसके संयोग ने सुख भोगने में राग उत्पन्न कराया था, उसके नाश के लिए दुःखीजनों की सेवा करेंगे। इतनी-सी बात शरीरों के सम्बन्ध में ध्यान देने की है। संयमपूर्वक रहो, सदाचारपूर्वक रहो, उसकी सेवा के लिए हितकारी आहार, विहार, संयम - यह सब रखो। और बल भी उसमें मिलेगा, उसका क्या करेंगे? तो जो उसमें बल है उसके द्वारा दुःखीजनों की सेवा करेंगे? इससे क्या फल मिलेगा? कि शरीरों के साथ सुख भोगने की वासना खत्म हो जाएगी! तो नया राग बनेगा नहीं, पुराना राग मिट जाएगा और जब आप राग-रहित हो जाएँगे तो शरीर की आवश्यकता खत्म हो जाएगी। मृत्यु आपका स्पर्श नहीं कर सकेगी। जैसे दुनियाँ की बहुत-सी चीजें बन रही हैं, बदल रही हैं, मिट रही है, उसी तरह समय पाकर के इस शरीर का भी नाश हो जाएगा, लेकिन उसके प्रभाव से आपको न भय होगा, न चिन्ता होगी, न दुःख होगा। यह लौकिक पहलू का उपयोग हो गया।

सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर हम लोग विचार कर रहे हैं न, तो अब अपनी बात देखो। राग-रहित हो जाओ तो सब काम बन गया। क्या-क्या हो गया? कि जब अपने में राग नहीं रह जाता है तो शरीर और संसार से लगाव छूट जाता है। बहुत ही वैज्ञानिक आधार मुझे मिला इस सत्य को समझने के लिए और सन्त के पास बैठकर प्रमाण भी मिला कि सचमुच ऐसा होता है। कैसा? कि जो जो साधक - मैं अपनी चर्चा करती हूँ, आपकी चर्चा से

मतलब कि जो इस प्रकार के द्वन्द्व के बीच में चल रहे हैं कि थोड़ा खिंचाव संसार की ओर, तो थोड़ा खिंचाव परमात्मा की आरे - ऐसे जो व्यक्ति हैं उनकी बात मैं करती हूँ। उनके साथ क्या होता है, जब वे अपने लिए शरीर की आवश्यकता नहीं मानते हैं, तो उसे वे जगत् की सेवा में लगावेंगे। सेवा के फल से राग-रहित होने का बल मिलेगा, राग-रहित होने की ताकत आएगी। तो यह भी अपने उत्थान के लिए हो गया। जैसे-जैसे संसार की, शरीर की आवश्यकता खत्म होती है, वैसे-वैसे अपने में से राग मिट जाता है, वैसे ही शरीरों से अतीत का जो अपना अस्तित्व है उसका अनुभव होने लगता है। अब ईंट-पत्थर की बनाई हुई कुटिया के भीतर बैठकर होगा कि घास-फूँस की बनी हुई झोपड़ी के भीतर बैठकर होगा, पहाड़ की गुफा में बैठकर होगा कि खुले आसमान के नीचे बैठकर होगा, गंगा जी के तट पर बैठकर होगा कि मरुभूमि में बैठकर होगा? कोई भेद नहीं है। शरीर है, चाहे जहाँ रहे ओर जैसे रहे। अगर उसका राग अपने में से निकल गया तो वह कहीं न कहीं, किसी न किसी स्थान पर तो रहेगा ही। यदि आपके भीतर उसकी आवश्यकता नहीं रही, तो उससे परे जो आपका अपना जीवन है, उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है। लगाव छूट जाता है। तादात्म्य टूट जाता है और योग-बोध-प्रेम की अभिव्यक्ति से जीवन पूर्ण होता है। अब इसका प्रयोग अपने को करना पड़ेगा। एक बार जीवन की सत्य पर विचार करने के बाद अगर उसका प्रयोग आरम्भ कर दें, तो बहुत जल्दी अपने अनुभव में बात आ जाती है। प्रयोग को मैं बहुत आवश्यक मानती हूँ।

विविध प्रकार के साधकों की सेवा में, उनके कल्याणार्थ, स्वामीजी महाराज ने मूक-सत्संग को रखा। भाई! सब-कुछ करने के बाद 'कुछ न करने' वाली साधना आपके जीवन में रहनी चाहिए। 'कुछ न करना' - यह बात विचार-पन्थ के साधकों के काम आती है और विश्वास-पन्थ के साधकों के भी काम आती है; क्योंकि यह तो अहं-शून्य होने की बात है। जब तक कुछ-न-कुछ करते रहने की आवश्यकता रहेगी, तब तक अहंकृति में स्फुरण होता ही रहेगा - कि अब मुझे ऐसा-ऐसा अनुष्ठान करना है, अब मुझे यहाँ जाना है, अब मुझे इतना जप करना है, अब मुझे ऐसा तप करना है, अब मुझे इतना अध्ययन करना है, अब मुझे इस चिन्तन में लगाना है। अशुभ कर्मों को तो छोड़ दो। उनके लिए तो अपने जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जो साधन के रूप में कर्म और चिन्तन के अच्छे-अच्छे तत्व हैं, उसके लिए भी मैं कह रही हूँ कि उनको भी करने का संकल्प जब तक रहेगा तब तक शुक्र होने पर भी अहं रहेगा। कुछ न करना है तो, शरीरों की सहायता ही से ही करना सम्भव होता है और, शरीरों का तादात्म्य तोड़ने पर ही सत्य की अभीव्यक्ति अनुभव में आती है। तो कुछ-न-कुछ करने की बात रहेगी, तो शरीरों से लगाव रहेगा। इधर की ओर लगाव रहेगा, तो उधर की अनुभूति नहीं होगी। इसलिए सब-कुछ करने के बाद, कुछ न करने वाली साधना हर प्रकार के साधकों के लिए अनिवार्य है।

अब विश्वास-पथ की दृष्टि से बहुत सहज होता है। क्या होता है कि हम लोग भगवत्-विश्वासी होने के नाते उनके आश्रित होकर रहना पसन्द करते हैं, उनकी शरणागति ही अपना सम्बल है, तो अनुभवी सन्त ने ऐसी सलाह दी - कि बिना देखे, बिना जाने एक बार 'उनकी' सत्ता को स्वीकार करके उनसे अपनी आत्मीयता मान लो, आत्मीयता स्वीकार कर लो। 'हे प्रभु, मैं तेरा!' 'हे प्रभु, तू मेरा!' जिसमें जितनी रुचि हो, जिसमें

जितना साहस हो वैसा ही वह स्वीकार कर लें! 'हे प्रभु, तू मेरा!' यह भी मनुष्य ही कहता है और उसमें कितनी बहादुरी है! देखिए पल-पल में तिल-तिल गलने वाला, मिटने वाला शरीर लेकर हम धरती पर चलते-फिरते हैं, नाशवान् शरीर को लेकर नारश्वान् जगत् में रहते हुए कितनी बहादुरी से कहते हैं कि, 'हे प्रभु! तू मेरा', तो मुझ ससीम के लिए उस असीम से सम्बन्ध मानना सहज है, स्वाभाविक है! कितनी बहादुरी है कि स्थूल दृष्टि से जगत् को देखते हुए उस अलख, अगोचर को हम अपना बना लेते हैं! मनुष्य की इस स्वीकृति में बड़ा बल है। जब-जब नाशवान् से नाता जोड़ते हैं तो उसका परिणाम हमारे सामने आ जाता है। अविनाशी से जो सदा-सदा का नाता है, उसको अगर जीवन में प्रधानता हम देंगे, तो उसका प्रभाव अपने में नहीं आएगा? अरे भाई! मरने-जीने वाले सम्बन्धियों से अपना सम्बन्ध मान लेते हैं तो उनका संयोग-वियोग तुम्हारे सिर पर चढ़ जाता है और कभी न बिछुड़ने वाले को अपना मानोगे तो उसका अनन्त, अखण्ड आनन्द तुम्हारे पास नहीं आएगा? अवश्य आएगा। इतनी-सी बात है। इसलिए मीराजी ने कहा:

'ऐसे वर को क्या वरूँ रे, जो जन्मे अरू मरि जाए,
वर वरिये इस साँवरियो रे, चूड़लो अमर होइ जाए।'

कितनी बहादुरी है देखो! यह पुरुषार्थ हम सब भाई-बहनों को करना है। बड़ा अच्छा होता है उसका परिणाम।

प्रातःकाल सोकर जगते ही सबसे पहला प्रोग्राम व्यक्तिगत सत्संग है। उस व्यक्तिगत सत्संग में अपने उस जीवनाधार को, अपने उस सर्वेश्वर को, उस परम प्रियतम को याद करके और उनकी कृपा का आश्रय लेकर उनकी शरण में अपने को उाल दो और शान्त रहो। स्वयं को तो कुछ करना नहीं है और अपने को कुछ चाहिए भी नहीं। जगत् से कुछ चाहिए नहीं, ओर जगत्पति से कुछ माँगने की जरूरत नहीं है। क्यों नहीं है? कि वो जानते नहीं हैं क्या, कि मुझे क्या चाहिए और क्या नहीं चाहिए? और बहुत-सी बातों को हमारे बिना माँगे उन्होंने दे दिया तो अब जो सबसे जरूरी बात है कि उनकी प्रीति मुझमें उदित हो जाए, इसको भी कहना पड़ेगा? ऐसी बात नहीं है। मुझे क्या चाहिए? मेरे लिए क्या हितकर है? हमारे उनके बीच की जो दूरी भासित हो रही है वह कैसे मिटेगी? इस बात को मेरे परम हितचिन्तक, मेरे प्रेमास्पद मुझसे बहुत अच्छी तरह जानते हैं, इसलिए कुछ कहने की बात नहीं है और फिर तुम्हारी हिम्मत ही कितनी है! उतना तो तुम माँग ही नहीं सकते जितना देने में वे समर्थ हैं। इसलिए कुछ माँगने की बात ही नहीं है।

कोई-कोई साधक कहने लगते हैं कि तब क्या करें? उस शान्ति काल में नाम का जप करें? अरे भाई! कुछ करने की बात तो रखो मत! यदि कुछ किए बिना न रहा जाता हो तो अलग से उसका समय निकाल लेना और भी कोई बात हो तुम्हारे जीवन में करने वाली साधना हो, तो उसको भी कर लेना! लेकिन थोड़ी देर के लिए कुछ न करने की बात सब में समान रूप से फलदायक होती है। इसीलिए कुछ करो मत।

जब उनकी कृपाशक्ति का आश्रय लेकर छोड़ दिया जाए अपने को, तो उनकी कृपा का जो प्रभाव है, वह बहुत प्रत्यक्ष हो जाएगा अपने लिए! कृपा तो उनकी सदैव होती है, लेकिन जब हम अपने अहं का अभिमान लेकर दुनियाँ में रहते हैं, तो उस अहं के अभिमान से कठोरता आ जाती है। आँखों में जड़ता छा जाती है, तो परम कृपालु की कृपा का दर्शन नहीं होता।

अहं के अभिमान को छोड़कर बिल्कुल अबोध बालक की तरह करुणामयी जननी की गोद में अपने को छोड़ दो। जिस समय हम अहं-शून्य होते हैं, उसी समय तत्काल सत्य के संग में होने का अनुभव हो जाता है! यह एक ही दिन में हो सकता है! यह एक ही बैठक में हो सकता है। मनुष्य के जीवन में इस जगत् में रहते हुए अगर कोई प्रत्यक्ष सत्य है, तो वह सत्य के उपस्थित होने का अनुभव ही है। अगर कुछ प्राप्य है, तो प्रभु की समीपता का अनुभव ही प्राप्य है। अगर इस जीवन को कुछ भर सकता है, तो उस परम प्रेमास्पद के प्रेम का रस ही भर सकता है और नहीं तो जन्म-जन्मान्तर कंगाल बने दुनियाँ में फिरते रहो -

मैंने अपने कँगलेपन का दर्शन किया था। बाहर से सिर ऊँचा करके, डिग्री का एक आभास लेकर, Sense of Superiority लेकर समाज में विचरण करते हुए भीतर-भीतर मैं महाकंगाल थी। कुछ था ही नहीं अपने में। महाराज जी के सामने बैठकर के इस कँगलेपन का वर्णन किया करती थी तो महाराज जी कहते कि देवकीजी, मनुष्य के जीवन का सम्मान घटाओ मत। लेकिन मैं क्या करती? अपनी कंगालियता को मैंने अपने द्वारा अनुभव किया और उस अपमान को सह नहीं सकी। तो विश्व का भरण-पोषण करने वाले विश्वम्भर ने उस कंगालियत को मिटाने का रास्ता मुझे पकड़ा दिया। वह बड़ा कल्याणकारी मेरे लिए हो गया। इसीलिए प्रभु के ही प्रतिरूप मेरा बोलने का राग मिटाने के लिए आप जो श्रोता, मेरे आत्मीय, बैठे हैं, उनके सामने इस भाषा को दोहरा देती हूँ कभी-कभी। क्योंकि इससे जब अपने आत्म-सम्मान में ठेस लगती है, तो चेतना जगती है, जिससे जीवन भर सकता है। उसकी ओर आगे बढ़ने में तत्परता आती है।

मैंने सन्तों की वाणी में सुना, आनन्दमयी माँ से भी सुना, स्वामीजी महाराज से भी सुना और उच्च-कोटि के अनुभवी सन्त के पास बैठकर के अनुभव भी किया कि यह जो जीवन का परिवर्तन है, इधर से छूट करके उधर हो जाना, सारा का सारा बदल जाना, भ्रम का नाश होकर उसके दर्शन में कृत-कृत्य हो जाना - यह सब बातें पहले बार में हो जाती हैं। देर नहीं लगती। अब यह दूसरी बात है कि उस जीवन में हमारा कितना अनुराग है? उसमें हमारी कितनी निष्ठा है? पुराने सब रागों का प्रभाव मिट चुका है कि नहीं? मैं तो कहती हूँ कि उसमें से हटकर कब मेरा इन स्थूल आँखों से सम्बन्ध जुड़ गया और फिर कब मुझे संसार दिखाई देने लग गया - इस पर जब मैंने सोचा तो मुझे साफ दिखाई दिया कि नए राग तो पैदा होंगे नहीं, और पुराने जो रह गए होंगे, जिनका नाश नहीं हुआ है उन्हीं के प्रभाव से फिर शरीरों से तादात्म्य हो जाता है और संसार दिखाई देने लग जाता है। इससे कोई हानि नहीं होती। एक बार भी वास्तविक जीवन की झलक को जिसने पा लिया वह फिर से संसार में खोयेगा नहीं। साधन बुद्धि से रहेगा, साधन बुद्धि से सेवा करेगा, साधन बुद्धि से विचरण करेगा। रहे सहे राग की निवृत्ति हो जाएगी, अवधि पूरी हो जाएगी। वह भी इसके लिए उपयोगी हो जाएगा। वे परम करुणासागर, मंगलमय जीवन के मंगलमय विधायक सब करा के छुट्टी दिला देंगे। ऐसा होता है। ऐसा हो सकता है। चैबीस घण्टे में कई बार थोड़ी-थोड़ी देर के लिए न करने के जीवन में ठहरना पसन्द करो तो अनुभव में आ जाएगी बात।

प्रवचन 77

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

मानव जीवन की समस्याओं पर हम लोग विचार कर रहे हैं। अपने विचार-विमर्श से हम लोगों ने पाया कि मानव जीवन का सुन्दरतम चित्र जो है वह सत्संग के प्रभाव से ही अभिव्यक्त होता है। इस जीवन की विशेषताओं पर ध्यान दें, तो हम पाएँगे कि इस जीवन में एक ओर जहाँ संसार के प्रति आकर्षण मालूम होता है, दूसरी ओर इसी व्यक्तित्व में सत्य की खोज भी रहती है; और उसी में अनन्त अगाध प्रेम-रस की प्यास भी रहती है। निरन्तर परिवर्तनशील दृश्यों के प्रति आकर्षित होना - यह भी हमने अपने में पाया और निर्माण-विनाश के क्रम को देखकर, सत्य क्या है, जीवन क्या है, सदा के लिए रहने वाला क्या है, यानि सत्य की खोज यह भी मनुष्य के जीवन की स्वाभाविकता है; और ऐसा संयोग बने कि कभी वियोग न हो, ऐसी प्रियता जीवन में रहे कि जिसकी कभी क्षति न हो - यह माँग भी मनुष्य के जीवन में है। इसी से प्रेरित होकर हम सब भाई-बहन संसार के साथ भी सम्बन्ध बनाते हैं और अदृश्य परमात्मा की भी चर्चा करते हैं।

आप सोच करके देखिए कि परमात्मा की आवश्यकता परमात्मा को तो है नहीं, और जड़ जगत् को भी नहीं है। वनस्पति, धरती, आकाश, पत्थर - इनको परमात्मा की आवश्यकता नहीं है, वे महसूस नहीं करते हैं। तो जड़-जगत् को भी परमात्मा की आवश्यकता नहीं है और परमात्मा स्वयं अपने आप में पूर्ण है, सर्वज्ञ है, उसको तो जरूरत हो ही नहीं सकती। यह मनुष्य ही संसार के सम्बन्ध में विविध प्रकार की धारणाएँ बनाता है और विविध प्रकार का व्यवहार करता है, और मनुष्य ही परमात्मा के सम्बन्ध में भी विविध प्रकार की धारणाएँ बनाता है और उनकी चर्चा करता है। प्रधानता मनुष्य की है। देखिए - बड़े-बड़े सुन्दर प्राकृतिक दृश्य संसार में बनते हैं, सुन्दर-सुन्दर फूल खिलते हैं, बहुत अच्छे-अच्छे रंग दिखाई देते हैं, पंखुड़ियों की कोमलता देखने में आती है, बड़ी सुगन्ध फैलती है। जिस प्रकृति के इस अंश में इतनी सुन्दरता, इतनी सुगन्ध, इतनी कोमलता है वह प्रकृति स्वयं उसको नहीं पहचान पाती। फूल खिला है उसको देखकर मुग्ध होने वाला मनुष्य है। फूल को स्वयं पता नहीं कि मैं कितना सुन्दर हूँ। कितना आकर्षक हूँ! उसमें सौन्दर्य-उपासना की शक्ति नहीं है। उसकी सुन्दरता पर आकर्षित मनुष्य होता है और मनुष्य की ही यह हृदयशीलता है कि प्रकृति-जगत् की सुन्दरता को देखकर उसे इस बात का ध्यान आता है कि जिसने इस खिलाने और मुरझाने वाले फूल को इतनी सुन्दरता दी, वह स्वयं कितना सुन्दर होगा! जिसकी रचना इतनी सुन्दर है, जिसकी कलाकृति में इतना आकर्षण है, वह स्वयं कितना अच्छा होगा! कितना सुन्दर होगा! इस तरह से आप देखेंगे कि सारी सुष्टि में मनुष्य का जीवन ही वह सन्धिस्थल है जिसमें ईश्वरीय विभूतियाँ इस नाशवान संसार में प्रकट होकर मानव हृदय को शीतलता देती हैं, सरसता देती है और आनन्द की वृद्धि करती हैं।

शास्त्रों की बड़ी महिमा है, उसमें ब्रह्म का रूप-निरूपण किया गया है, माया के कार्य का विवरण दिया गया है, दुःख निवृत्ति के उपाय लिखे गए हैं, भगवद्-भक्ति के रस और आनन्द का वर्णन किया गया है। लेकिन जिन शास्त्रों में संसार का, जीवन का और परमात्मा का सत्य बताया गया है, जहाँ अन्य अनेक सरस बातें लिखी गई हैं वहाँ सरसता की चर्चा तो है, पर वहाँ रस की अनुभूति नहीं है। रस की निष्पत्ति कहाँ होती है? जो मनुष्य शास्त्रोक्त सिद्धान्तों को अपने द्वारा ग्रहण करता है, स्वीकार करता है, आचरण में

लाता है, रस की निष्पत्ति उस मनुष्य के हृदय में होती है। कागज के उन पृष्ठों में नहीं होती है। अतः सजीव, सचेत, विवेक के प्रकाश से प्रकाशित मनुष्य इस सृष्टि को अधिक से अधिक सेवा दे सकता है, सुन्दर बना सकता है और आनन्द फैला सकता है। जबकि सत्संग से वंचित ववेक का अनादर करने वाला, बल का दुरुपयोग करने वाला और सुख की वासना में लिप्त रहने वाला मनुष्य ही वह दोषकर्ता है कि जिससे सृष्टि का जो चित्र है, वह विकृत हो जाए। प्रेम की जगह पर द्वेष फैल जाए, शान्ति की जगह पर संघर्ष फैल जाए।

हम सब लोग मनुष्य हैं, मनुष्य होने के नाते कुछ विवेक का प्रकाश समय-समय पर हमें सत्य और असत्य का विवेचन कराता रहता है। क्या सही है, क्या गलत है - इस बात का परिचय देता रहता है। तो क्या सही है, क्या गलत है, क्या ग्राह्य है, क्या त्याज्य है, क्या ज्ञातव्य है क्या प्राप्तव्य है? इन बातों का पता बिना किसी स्कूल, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में गए ही भाई-बहनों को होता है। अगर मनुष्य निजज्ञान के प्रकाश में देखकर विचार करे कि मेरे सामने जो दृश्य जगत् दिखाई देता है उसके साथ मुझे क्या करना है? और जिस सृष्टिकर्ता के सम्बन्ध में सुनाई देता है - सृष्टिकर्ता दिखाई नहीं देता है, सुनाई देता है - उस सृष्टिकर्ता के साथ क्या करना है? तो मनुष्य ही वह माध्यम है, जो कि सृष्टि के स्वरूप पर विचार भी करें और उसके साथ जैसा चाहिए वैसा व्यवहार भी करें। परमात्मा के सम्बन्ध में विचार करें कि उनका हमारे जीवन के साथ इस वर्तमान क्षण में क्या सीधा सम्बन्ध हो सकता है। ईश्वर-विश्वास का क्या प्रभाव अपने जीवन पर हो सकता है। तो आप हैं, जो देखे हुए जगत् की सेवा करके सुन्दर समाज का निर्माण कर सकते हैंऋ ओर आप ही हैं, जो अदृश्य परमात्मा के साथ अपना नित्य सम्बन्ध स्वीकार करके उनके प्रेमरस से जीवन में जन्म-जन्मान्तर के अभाव को मिटा सकते हैं। ये दोनों बातें हो सकती हैं।

अब अपने लोगों से गलती क्या होती है? इसको भी जरा देख लीजिए। अनेक प्रकार के संकल्पों को लेकर हम पैदा हुए, अगर संकल्प रहित हो गए होते, इच्छाओं की निवृत्ति हो गई होती, शरीर धारण करके संसार के सम्पर्क से सुख भोगने की वासनाओं का अन्त कर दिया होता हमने, तो जन्म-मरण की बाध्यता मिट गई होती। हमने अब तक ऐसा नहीं किया। इसका प्रमाण यह है कि हमको शरीरधारी बनना पड़ा है, और जन्म लेकर इतनी आयु बीत जाने पर अभी भी हमारी अतृप्ति नहीं मिटी, कामनाएँ नहीं मिटी, निस्संकल्प हम हुए नहीं, अभी भी हमारी यह दशा है।

मृत्यु-रहित जीवन हम लोग पसन्द करते हैं तो उस पसन्दगी के अनुरूप कुछ अपने को पुरुषार्थ भी करना पड़ेगा। अब सोचकर देखो, कि हमने जो जीवन बिताया इस धरती पर - सूर्य का प्रकाश और प्राणवायु लेना और धरती पर आश्रय लेना, आकाश में अवकाश लेना, प्रकृति की सम्पत्ति से शरीर का पालन-पोषण करना - इतना जो सहयोग लिया प्रकृति से, समाज से, परिवार से, माता-पिता से, यह सब लेकर हमने अपना काम पूरा किया कि नहीं किया? जिन संकल्पों के कारण हमें जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा, उन्हीं संकल्पों को अभी तक अपने में रखा है तो मरने के लिए बाध्य होना पड़ेगा कि नहीं?

महाराज जी ने मानव-जीवन का यह सत्य हमारे सामने रखा कि मृत्यु स्वयं में दुःख देने वाली अथवा भय देने वाली नहीं है। मृत्यु से भयभीत कौन होता है? जो शरीर में आसक्त रहता है अन्यथा ओर सब प्रकृति के कार्य जिस प्रकार

से हो रहे हैं, वैसा ही यह भी एक स्वाभाविक कार्य है प्रकृति का! कुछ अणु-परमाणुओं के संगठन से शरीर बन गया है, प्राण शक्ति के द्वारा वह उंपदजंपद किया जा रहा है, चलाया जा रहा है और अणु-परमाणुओं के विघटन से मृत्यु हो जाती है। शरीर का बन जाना, बदल जाना, बिगड़ जाना और मिट जाना - ये बिल्कुल प्राकृतिक तथ्य हैं। लेकिन हमारे लिए यदि मृत्यु बहुत ही भयावह रूप धारण करती है, तो क्यों? इस कारण से कि हम शरीर को बनाए रखना पसन्द करते हैं।

महाराज जी ने कहा - क्योंकि हम जीना पसन्द करते हैं। इसलिए मरने में भय होता है। इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह नहीं कि आप जीना पसन्द न करें, सो नहीं है! अच्छी जिन्दगी जिएँ, जीना पसन्द करिए, अमर जीवन के आनन्द को पसन्द करिये, अविनाशी अस्तित्व में स्थित होने का पुरुषार्थ करिये। शरीर के निर्माण और विनाश को तो ऐसा ही मानना चाहिए, जैसा कि सूर्योदय हुआ तो उठ करके हम लोगों ने सूर्य के दिए हुए प्रकाश का उपयोग करना आरम्भ किया और सन्ध्या हो जाती है, सूर्यास्त हो जाता है तो हम लोग शिकायत थोड़े ही करते हैं कि क्यों शाम हो गई। जानते ही हैं कि सूर्योदय हुआ है तो सूर्यास्त होगा ही! जब तक प्रकाश है प्रकाश का उपयोग किया। ऐसे ही मनुष्य को जो शरीर मिला है, जब तक वो है तब तक उसका उपयोग करना चाहिए और उसके रहते-रहते अपने अविनाशी अस्तित्व में इतना आनन्दित हो जाना चाहिए कि शरीर का कब नाश हुआ इसका अपने को पता भी न चले।

महाराज जी ने अपना एक अनुभव सुनाया था हम लोगों को, कि वो बद्री-केदार सब जगह की यात्रा करके पैदल चलते-चलते नीचे आए, तो एक नगर में शरीर बहुत रोगी हो गया, करीब-करीब चालीस दिन बीत गए थे। हिल डायरिया हो गया और बहुत ज्वर रहने लगा था। जो मित्र उनकी सेवा कर रहे थे, उन्होंने चिकित्सकों को बुलाया, चिकित्सक लोग भी बहुत मित्र थे स्वामीजी महाराज के। चूंकि परमात्मा से उनका मित्रता का सम्बन्ध था, इसलिए वह सबको मित्र मानते थे। शिष्य किसी को बनाया ही नहीं। चिकित्सकों ने देखा और कहा कि नाड़ी की गति तो बहुत खराब हो रही है, लगता है कि अब शरीर रहेगा नहीं। तो साधु-सन्तों की जैसी सेवा होती है, उन लोगों ने की। जमीन को साफ कर, लीप कर, मृगछाला, कुशा इत्यादि बिछा दिया और स्वामीजी महाराज के शरीर को बिस्तर से उतारकर जमीन पर लिटा दिया। भजन हो रहा है, बातचीत हो रही है। महाराज ने कहा कि मेरे कान में आवाज पड़ी, एक मित्र ने कहा - 'बाबा जी चले, तो मैंने सोचा कि देखे जरा कि मृत्यु कैसे होती है, जब मैं मृत्यु को देखने लगा तो मुझे बड़ा आनन्द आया।

बहुत बार ज्ञाननिष्ठ सन्तों को भी शरीर का सहयोग लेकर संसार की सेवा के लिए उसके साथ तादात्म्य जोड़ना पड़ता है। सेवा का अवसर चले जाने पर जल्दी से जल्दी से उससे स्वयं अलग भी हो जाते हैं, अब यह जाने वाला है तो जाए, अब इसकी जरूरत खत्म हो गई। तो महाराज जी ने कहा - मैंने देखा, कि शरीर बिल्कुल शान्त स्थिर पड़ा हुआ है और मित्र लोग चारों ओर उदास खड़े हैं और मुझे बड़ा आनन्द आ रहा था, इतना हल्कापन जीवन में और उस शरीर से असंग हो जाने पर, उसके तादात्म्य को तोड़कर अलग हो जाने पर, इतना हल्कापन, इतना आनन्द था कि मैंने कहा - महाराज जी की वाणी है, कि मरना तो बहुत बढ़िया है, लोग दुःखी काहे को होते हैं, यह तो जीवन का बड़ा आनन्ददायक तथ्य है। कुछ काल ऐसे रहा और फिर थोड़ी देर में नाड़ी की गति ठीक होने लग गई और सब ठीक-ठाक हो

गया। शरीर को कुछ दिन रहना था। करीब चालीस बरस पहले की बात है। चालीस बरस बाद उन्होंने शरीर का त्याग किया। यह उन्होंने अपना अनुभव सुनाया।

मृत्युरहित जीवन, अमर जीवन हम सब लोगों को चाहिए। अब आप सोचकर देखिए, अपने ही सुख के लिए खानेवाला व्यक्ति शरीर के स्वास्थ्य की रक्षा नहीं कर सकता। अपने ही सुख के लोभ से प्रेरित रहने वाला व्यक्ति समाज का हित नहीं कर सकता, परिवार का हित नहीं कर सकता। जिसने शरीर को संसार की सम्पत्ति मान लिया वह धन का अर्जन करेगा तो पूरे समूह के लिए, भोजन करेगा तो शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा के लिए और जप, तप, ध्यान, व्रत तीर्थ-यात्रा और कोई भी पुण्य कर्म शरीर की सहायता से करेगा तो सारे समाज के हित के लिए, कल्याण के लिए करेगा। ऐसा जो शरीर और संसार के अविच्छिन्न सम्बन्ध का निर्वाह करता है, वह व्यक्ति शरीर धर्म से ऊपर उठ जाता है, शरीर की आसक्ति से मुक्त हो जाता है और शरीर के नाश से पहिले अपने अविनाशी अस्तित्व का अनुभव भी पा लेता है।

हम अमर है, हमारा नाश नहीं होगा - यह दार्शनिक सत्य हम लोगों के जीवन में अभिव्यक्त हो सकता है। कैसे? कि संसार का भाग जो शरीर है उसको किसी भी प्रकार से अपने काम में मत लगाओ, संसार के काम में आने दो, परिवार के काम में आने दो। उस शरीर के साथ सुख-भोग की वासना से प्रेरित होकर अत्याचार मत करो। जितना अधिक सुख-भोग में लिप्त होना पसन्द करोगे, उतनी जल्दी ही बुढ़ापा भी आएगा, मृत्यु भी आएगी ओर प्राण-शक्ति भी खत्म हो जाएगी। तो क्या करना चाहिए? भाई, इस पर भी दया रखो। यह प्रकृति की सम्पत्ति है, यह संसार की वस्तु है, यह मेरे काम आने वाली नहीं है, कैसे नहीं आने वाली है? कि अगर इसका सहारा लेकर सुख-भोग में लग जाएँ, तो इसका भी नाश हो जाएगा और हममें भी सुख-भोग की वासना इतनी बढ़ जाएगी कि हाय-हाय करते जीना, हाय-हाय करते मरना हो जाएगा। अमर आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ - यह केवल गाने में रह जाएगा, भजन में रह जायेगा और कभी किसी काम में नहीं आएगा। इसीलिए इसको बर्बाद मत करो, सचेत होकर रहो।

दूसरी बात यह है कि आपको जो दुःख-सुख से अतीत आनन्द चाहिए, जन्म-मरण से परे अविनाशी जीवन चाहिए, संयोग-वियोग से परे नित्य योग चाहिए, उसमें तो यह शरीर किसी भी प्रकार से सहायता दे नहीं सकता। नाशवान शरीर भला अविनाशी जीवन की प्राप्ति में क्या सहायता देगा? लेकिन आज कितना भ्रम हो गया साधक समाज में, कि यों आसन लगाओ, यों साधना करो, अरे भाई, कुछ भी करो, कहीं भी बैठो, उस अविनाशी जीवन में ैचंबम ंदक जपउम कहीं है क्या? स्थान और काल की कोई सीमा है क्या? अगर यह सीमा है, तो असीम से अभिन्न कैसे होगा? सोचकर देखो।

शरीर न भोग प्रवृत्ति के लिए है, न योग की साधना के लिए। योग तो होता है अविनाशी का अविनाशी से। नित्य योग-जो संयोग और वियोग दोनों से परे है - वह नित्य-योग जीवन में अभिव्यक्त कैसे होता है? इस व्यक्तित्व में जो अविनाशी आपका 'मैं-पन' है, उस 'मैं' का नित्य योग होता है उस अविनाशी से। अविनाशी को अविनाशी से मिलना है, उसमें नाशवान शरीर क्या मदद करेगा? हम सभी भाई-बहिनों को बहुत अच्छी तरह से जीवन के इस सत्य को स्वीकार करना चाहिए। स्वामी जी शरणानन्द जी महाराज का सत्य है, या सनातन धर्म का सत्य है, या

आर्यसमाज का सत्य है? यह हिन्दूइज्म है कि क्रिश्चियनिज्म है कि जैनिज्म है? यह इज्म नहीं है। मानव जीवन का वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य है कि शरीर को अगर अपने लिए मानोगे तो नाश्वान शरीर से तादात्म्य तुम्हारा नहीं टूटेगा। 'मैं अमृत पुत्र हूँ' कल्पना में तो रह सकता है, लेकिन जीवन का सत्य नहीं बनेगा। 'ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या' - यह सिद्धान्त आपके मस्तिष्क की खुराक बनकर रह जाएगा लेकिन उस ब्रह्म-स्वरूप से अभिन्न होकर सत्य का आनन्द आपको नहीं मिलेगा। इसीलिए क्या करना चाहिए?

महाराज जी ने शुक्र सत्य के आधार पर एक जीवन शैली प्रकट की। उन्होंने कहा कि देखो, शरीर त्रिकाल में भे तुम्हारा होकर रह नहीं सकता। भौतिक तत्वों से बना है, भौतिक विधान से बना है, उसी पर यह चल रहा है और उसी के अनुसार यह मिटेगा। तो शरी और संसार दोनों एक जाति के हैं। इसीलिए इस शरीर के द्वारा अगर तुमको कुछ करना ही है, तो संसार के हित को दृष्टि में रखकर करो। आप करेंगे कि इतना वृहद् संसार। इसकी मैं क्या सेवा करूँ? तो महाराज जी कहते हैं कि भइया! कम से कम इतना तो ध्यान रखो कि मेरे द्वारा इस संसार को कष्ट न पहुँचे। इतना तो कर सकते हो न? वृहद् संसार है, बहुत लोग भूखे हैं, तो सब भूखे लोगों को खिला दे, वो सामर्थ्य किसी में नहीं है। बहुत लोग बीमार हैं, सब बीमारों की आप चिकित्सा करा दें, सेवा करा दें, यह आपके बस की बात नहीं हे? तो निकटवर्ती जनसमुदाय की यथा-शक्ति क्रियात्मक सेवा करिए और इस व्रत को धारण करिये, आज से, अभी से कि - इस शरीर को लेकर हम संसार को किसी भी प्रकार से क्षति नहीं पहुँचाएँगे। अगर इतनी ही मनुष्यता हम लोगों ने अपने जीवन में जाग्रत कर ली, तो समाज से बहुत बड़ी-बड़ी बुराइयों का समूह मिट जाएगा।

सत्संग के प्रकाश में, विवेक के प्रकाश में, जीवन के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलेगा कि भाई, यह संसार मुझे जो चाहिए सो नहीं दे सकता। मुझे अमर जीवन चाहिए। नाशवान संसार आपको अमर जीवन नहीं देगा। आपको संयोग-वियोग से रहित नित्य मिलन वाला साथी चाहिए, जो कभी भी साथ न छोड़े, ऐसा साथी संसार नहीं देगा। आपको उस साथी की इतनी प्रिय संगति चाहिए कि जिसकी संगति से, जिसके साथ से जीवन का रस उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाए, कभी घटे नहीं, प्रियता में कभी क्षति न हो, ऐसी संगति संसार में कहीं नहीं मिलेगी। तो निश्चय हो गया कि जो हमें चाहिए वह संसार नहीं दे सकता।

संसार की पहुँच केवल शरीरों तक है। उसके आगे नहीं है। इसलिए यह शरीर अपने काम का नहीं है। अब अपने काम का नाहीं रहा तो फिर किस काम का है? अब तक इसके माध्यम से सुख-भोग किया था, उस भोग की वासना को मिटाने के लिए, पुराने रोगों से मुक्त होने के लिए शरीर के द्वारा संसार की सेवा करों अगर शरीर हमारे लिए कहीं उपयोगी हो सकता है, तो पीड़ितजनों के आँसू पोंछने में हो सकता है और कहीं इसका उपयोग नहीं है। फिर अब जिस परमात्मा के सम्बन्ध में हम लोगों ने सुना है उसके साथ अपने को क्या करना है।

दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं, कुछ लोग अपने को बहुत वैज्ञानिक कहते हैं, rational कहते हैं, चिन्तनशील और बुद्धिशील कहते हैं। वे लोग कहते हैं कि भाई, सुनी हुई बातों का हम विश्वास नहीं करते हैं। तो छोड़ दो, हटा दो अपने जीवन से परमात्मा को। महाराज जी कहते हैं कि भैया, तुम छोड़ दो परमात्मा को और बड़ा अच्छा

होगा कि सब लोग ईश्वर को इन्कार कर दें तो बड़ा मजा आएगा मुझको, मैं और वो ही रह जाएँगे, खूब आनन्द मनाएँगे। ईश्वर अपने अस्तित्व के लिए परम स्वाधीन है। दुनियाँ के लोग उसे मानेंगे तो उसकी विशेषता बढ़ेगी और नहीं मानेंगे तो उसकी विशेषता घटेगी। ऐसा घटिया परमात्मा नहीं है। जो न मानना पसन्द करें, उसके लिए यह चर्चा नहीं है, उसके लिए कौन सी चर्चा है? अगर आप परमात्मा को मानने के लिए तैयार नहीं है तो उसके अतिरिक्त आपके जीवन में कौन-सी बात है, जिसका मानना आपके लिए सत्य प्रमाणित होगा? अगर विचारक हैं तो विचार करिये। विचारकों ने क्या कहा? नहीं, नहीं। मैं क्या हूँ? मेरा अमुक नाम है तो नहीं, यह सत्य नहीं है। पहले नहीं था, बाद में नहीं रहेगा। मेरी यह जाति है - यह भी सत्य नहीं है, पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा। तो अगर परमात्मा को मानने के लिए आप तैयार नहीं हैं तो किसी भी मान्यता को स्वीकार करने में बुद्धिमता नहीं है। तो क्या करना चाहिए? शरीर के द्वारा संसार की सेवा करनी चाहिए और सब असत् प्रतीतियों, स्वीकृतियों को अस्वीकार कर देना चाहिए। 'नहीं' की निवृत्ति हो जाएगी, तो वो ही परमात्मा रह जाएगा, जिसको आपने मानना पसन्द नहीं किया था - वही रह जाएगा।

महाराज जी कहते हैं कि भाई, ईश्वर तो इतना जबरदस्त है कि वह मानने वालों पर भी जादू करता है, नहीं माननेवालों पर भी करता है। तो हम क्यों निहोरा करें, हम क्यों प्रार्थना करें कि तुम मानो। मत मानो। लेकिन असत् की निवृति के बिना शान्ति मिलेगी नहीं और असत् की निवृति तुम्हारे जीवन में से हो जाएगी तो सत्य के रूप में वही रह जाएगा जिसको मैंने परमात्मा कहा है। 'सोऽहम्' मैं वही हूँ, वो मुझमें मिल गया, मैं उसमें मिल गया, जो जी में आए कह लेना, लेकिन है तो एक अकेला ही। भक्तजन उसको परमात्मा कहते है। यह वेदान्त का दर्शन हो गया।

अब आस्तिकता ले लो। सुने हुए परमात्मा के प्रति मनुष्य को क्या करना चाहिए? रामकृष्ण मिशन के एक सन्त विदेश से घूमकर आए। उन्होंने बताया कि विदेश में, फ्रान्स में शायद, एक बहन उन्हें मिली तो कहने लगी, कि स्वामी जी! मैं भगवान को मानना चाहती हूँ, तो स्वामी जी ने कहा कि बड़ी अच्छी बात है बहन, मान लो। उन्होंने कहा कि महाराज! मुझसे माना नहीं जाता है। स्वामी जी ने कहा कि नहीं माना जाता है तो छोड़ दो। वह कहने लगी - महाराज मुझसे छोड़ा भी नहीं जाता। तो मान लो तो माना नहीं जाता, छोड़ दो तो छोड़ा नहीं जाता - अब हम लोग इस वर्तमान में सोचकर देखें कि ऐसी ही दशा हम सब भाई-बहनों की नहीं है क्या? उस ईमानदार महिला ने खुले शब्दों में अपने मन का हाल कह दिया। अब इस विषय पर थोड़ा गम्भीर होकर सोचिए। परमात्मा के सम्बन्ध में कभी हमारे जीवन में प्रश्न उठता है, जरूरत महसूस होती है तो हम लोग मान भी लेते हैं और जरूरत खत्म हो जाती है तो हम लोग भूल जाती हैं और यों ही इसी असमंजस में, इसी दुविधा में, इसी विकल्प सहित विश्वास में - एक लम्बी-सी अवधि जीवन की निकल जाती है और हम लोग आनन्द के अगाध सागर में रिक्त रह जाते हैं, वंचित रह जाते हैं।

यह एक बहुत ही विचारणयी विषय है कि क्या मनुष्य का परमात्मा से इस जीवन में, इस वर्तमान में जो सीधा सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध की मधुरता की अभिव्यक्ति अभी हो सकती है, शरीर के नाश होने से पहले, तो क्या यह आचरणीय नहीं है, क्या यह ग्राह्य नहीं है, क्या जीवन के उस उच्चतम विकास तक पहुँचने के लिए मृत्यु से पहले हम लोगों को तैयार नहीं होना चाहिए? अब

देखिए, कि जीवन में परमात्मा की चर्चा आती है, किए बिना तो हम रह ही नहीं सकते, तो इसका क्या कारण है? सोचने से मुझे मालूम हुआ कि नाशवान शरीर से तादात्म्य कर लेने पर, इस दृश्यमान आकृति के साथ अपने को जोड़ लेने पर, इतने प्रकार के अभावों में हम ग्रस्त हो जाते हैं कि हमसे रहा ही नहीं जाता। जितने अभाव हमारे भीतर पैदा हुए, समर्थ माता-पिता पूरा नहीं कर सके, समर्थ पति-पत्नी एक दूसरे के अभाव को नहीं मिटा सके, समर्थ सन्तान माता-पिता के अभाव को नहीं मिटा सकी। समर्थ सरकार प्रजा के अभावों को नहीं मिटा सकी - क्या यह आपकी जानी हुई बात नहीं है? सोचने पर मुझे ऐसा लगा कि चूँकि संसार के सम्पर्क से मेरे जीवन के अभाव नहीं मिटे और अभावों की पीड़ा सहन करना अपने को पसन्द नहीं है, इसलिए उस विश्वम्भर की कल्पना मेरे जीवन में आई। तो सन्तों ने जिसको कहा है - उसको पकड़ो। भक्तों ने जिसको कहा है, उसको पकड़ो। हमारे जीवन में जो वर्तमान दशा है, वह दशा ही ऐसी बढ़िया है कि ईश्वर की ओर प्रेरित किए बिना नहीं रह सकती। इसलिए तो उसकी जरूरत पड़ गई।

अब महाराज जी कहते हैं कि वह देखा नहीं गया, केवल सुना गया है। उस सुने हुए परमात्मा के साथ हम भाई-बहनों को क्या करना चाहिए? तो मैं पूछती हूँ कि अब तक हम क्या करते रहे? मैं क्या करती रही सो बताती हूँ। संसार जब-जब हमारी इच्छाओं की पूर्ति में असमर्थ प्रमाणित हो गया, तब-तब हम उस समर्थ परमात्मा से अनुनय-विनय करते रहे कि, ऐसा कर दो, ऐसा कर दो तो महाराज जी ने कहा कि गलत बात है, ऐसा नहीं करना चाहिए। अब मैं आपकी साधना पर आ रही हूँ। सुने हुए परमात्मा के साथ हम लोगों को क्या करना चाहिए? महाराज जी ने कहा कि मैं तो ईश्वरवादी हूँ कि मुझे जो कुछ चाहिए था, वह सब उन्होंने बिना मेरे माँगे दे दिया। बड़ी भारी बात है। तो उनसे माँगना क्या है? अगर धन माँगने की बात थी, तो वो तो बिना माँगे ही दे रहे है। आहार माँगने की बात थी, तो शरीर को पैदा करने से पहले आहार का इन्तजाम उन्होंने कर ही दिया था। तो माँगोगे क्या? परमात्मा इसलिए नहीं है, इस जीवन में, कि उससे नाशवान संसार, मांगो। परमात्मा की धारणा, परमात्मा की चर्चा मानव जीवन में किसलिए है? कि संसार जो कुछ दे नहीं सकता, वह सब उनसे ले लो। अमर जीवन संसार नहीं दे सकता, तो परमात्मा से अभिन्न होकर अमर हो जाओ। सदा-सदा का साथी संसार नहीं हो सकता, तो परमात्मा से मित्रता करके सदा-सदा के लिए सनाथ हो जाओ। कभी न मिटने वाला प्रीति का रस संसार नहीं दे सकता, तो सदा-सदा के लिए प्रीति-रस में सराबोर करने वाले परमात्मा को मान लो। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा ही माने जाने के योग्य है। और किसलिए मानने के योग्य है, कि हम उससे अभिन्न होकर ज्ञान-स्वरूप हो जाएँ, प्रेम-स्वरूप हो जाएँ, जन्म-मरण की बेबसी मिट जाए, नीरसता मिट जाए। और आप सच पूछिए, कि परमात्मा ने मनुष्य की रचना ही इसलिए की कि उनको प्रेम के आदान-प्रदान के लायक दूसरा कोई प्राणी मिला नहीं संसार में।

एक बार किसी ने महाराज जी से पूछा कि स्वामी जी, भगवान ने संसार को क्यों बनाया? पहले तो उसको डाँट दिया कि भगवान ने बनाया, तुमको कैसे मालूम है? कैसे कह सकते हो कि भगवान ने बताया, उन्होंने कहा है तुमसे? पहले तो उसकी इस धारणा को उड़ा दिया, फिर कहा कि भैया, प्रभु ने संसार बनाया मेरे लिए, और मुझको बनाया अपने लिए। क्यों? क्योंकि परमात्मा परम

प्रेम का भण्डार है। यह मनुष्य के सिवाय और कौन कहेगा? पेड़-पौधे कहेंगे? गाय, बैल, घोड़े, बिल्ली, कुत्ते कहेंगे? नहीं कहेंगे। तो मनुष्य के सिवाय उस अनन्त परमात्मा पर अपने को न्योछावर करने वाला दूसरा कोई सृष्टि में है नहीं। तो महाराज ने कहा कि उन्होंने मुझको बनाया अपने लिए। अर्थात् परमात्मा की चर्चा जब जीवन में आती है तो हम भाई-बहनों को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि हम भिखारी होकर उसके सामने झोली फैलाएँ। हम लोगों को उन्होंने माँगने के लिए नहीं बनाया। बड़ा स्वतन्त्र बनाया, बड़ा समर्थ बनाया, इसलिए शरीर के साथ जो कुछ लगा हुआ है सब संसार की सेवा में दे दो। और अपने में तुम्हारा जितना प्रेम का भाव है, वह सब परमात्मा को दे दो। और स्वयं सबसे स्वाधीन रहो, किसी के अधीन न रहो। न, दिखाई देने वाले दृश्य जगत् से कुछ माँगो और न अदृश्य परमात्मा से कुछ माँगो। आज के बड़े कर्मठ, ईश्वर-विश्वासी महापुरुष महात्मा गाँधी ने लिखा है, कि 'सत्य को स्वीकार करना, ईश्वर में विश्वास करना बुजदिलों का काम नहीं है, वीर लोगों का काम है।' ऐसी वीरता हम सब भाई-बहन कर सकते हैं। कौन-सी? कि दिखाई देने वाले सुहावने-लुभावने संसार को इन्कार कर देना कि नहीं, नहीं, मुझे यह नाशवान सुख नहीं चाहिए और बिनादेखे, बिना जाने परमात्मा पर एक वाक्य मैंने अपनी ओर से जोड़ लिया, बिना किसी शर्त के अपने को न्यौछावर कर देना! उनसे कोई शर्त भी नहीं करेंगे कि हम तुम्हारी शरण में आएँ तो हमें मुक्ति दे देना और हमने अपने को तुम्हारे समर्पित किया है, हमको भक्त शिरोमणि बना देना - यह माँग भी नहीं करनी है परमात्मा से! माँगे क्यों? जो माँगने के लिए हाजिर होगा वह प्रेमियों की श्रेणी में समा नहीं सकेगा ओर परमात्मा ने आपको बनाया है प्रेम के आदान-प्रदान के लिए।

महाराज कहते है कि एक बार, केवल एक बार तृषित हृदय की तृष्णा से पीड़ित होकर और प्रेम की प्यास से प्रेरित होकर उस अनन्त परमात्मा, परम प्रेमास्पद, परम प्रेम सिन्धु, को कह दो कि, 'हे प्रभु! मैं तेरा' अथवा ऐसा कह दो कि 'हे प्रभु! तू मेरा।' तो मानव-हृदय के इस आत्मीय भाव पर मुग्ध होकर, आनन्दित होकर वह अनन्त ऐश्वर्यवान अपने ब्रह्म होने के ऐश्वर्य को भुला देता है और आपके हृदय के भाव का आदर करने के लिए छोटा-सा, नन्हा-सा, दो हाथ, दो पाँव का बनकर आपके इशारे पर नृत्य करता है, गाता है, ताली बजाता है। रसखान ने लिखा है न 'ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भर छाछ पे नाच नचावें' उसको बड़ा पसन्द आता है।

मनुष्य हृदय खोलकर एक बार कह दे, 'हे प्रभु! तू मेरा' - ऐसा कहने में भी कोई संकोच नहीं है, अब मैं ऐसा कहती हूँ। प्रारम्भ में जब मुझे सन्त से सलाह मिली कि दोनों में से जो भी तुम्हें पसन्द आए कह दो तो मुझसे यह नहीं कहा गया कि 'तू मेरा।' कहने का साहस नहीं हुआ, डर लगा। कौन बल से मैं कहूँ? अपने जीवन की दुर्बलता, अपने भीतर का अन्धकार और जन्म-जन्मान्तर की कामनाओं से तृषित हृदय का सूखापन, जहाँ रस की एक बूँद का पता नहीं चलता था, तो मैंने कहा कि कौन बल पर मैं कहूँ कि 'तू मेरा।' मेरे भीतर से यह प्रेरणा मिली कि असमर्थ व्यक्ति उस प्रेम-स्वरूप को प्रेम प्रदान करने का साहस कैसे करें? तो यह तो नहीं कह सकी कि 'तू मेरा', लेकिन यह कहने में थोड़ा साहस मिल गया कि 'मैं तेरी।' अरे भाई, असमर्थ तो सामर्थ्यवान की शरण ले सकता है न? तो मैं क्या बताऊँ, इस जीवन का ऐसा ठोस सत्य है कि

चाहे अपने को कह दो कि, 'मैं तेरा हूँ' और चाहे उनको कह दो कि 'तू मेरा है', भक्तिमती मीराजी की तरह। इतना शुक्र हृदय था, इतनी कोमलता थी! जगत् की जड़ता से मुक्त वह जीवन था तो उन्होंने कह दिया 'मेरो तो गिरधर गोपाल'। 'तू मेरा है' - ऐसा कहने का साहस उनको हुआ।

विविध प्रकार की विकृतियों से भरा हुआ व्यक्तित्व अपनी ही भूल के परिणाम से पीड़ित जीवन। अपने ही को सँभाल नहीं पाते हैं तो कहाँ तक उनको कहेंगे कि 'तू मेरा'। मैंने कहा, अच्छी बात है, विकृत जीवन है तो क्या? और तृषित हृदय है तो क्या? उसकी शरण में जाकर यह पूर्ण हो सकता है। तो मैंने अपने लिए यह निश्चय किया कि हम तो यही रखेंगे। अगर इस प्रकार का भाव मनुष्य अपनी ओर से उस अनन्त परमात्मा को अर्पित करता है तो उसके उसी साधन काल में-मैं सिक्र जीवन की चर्चा नहीं करती हूँ - उसी साधन काल में उसके भीतर ईश्वरत्व अभिव्यक्ति होता है और परमात्मा के सम्बन्ध में सारे सन्देह पलभर में खत्म हो जाते हैं।

प्रवचन 78

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

मानव सेवा संघ की प्रणाली में एक विशेष बात हमें सुनने को मिलती है। वह यह कि साधन, भजन, ध्यान किया नहीं जाता, होता हे। प्रत्येक भाषा में हम लोग क्या सुनते हैं कि साधन करो, भजन करो, ध्यान करो। लेकिन मानव सेवा संघ की प्रणाली में, जो कि मानव जीवन की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता और आस्तिकता पर आधारित है, यह नहीं कहा जाता कि साधन करो, भजन करो, ध्यान करो। उसमें कहा जाता है कि जीवन पर विचार करो, आत्मनिरीक्षण करो, सत्-असत् का विवेचन करो, यानि करने वाली बात। अपनी जानी हुई भूल को करो मत, की हुई भूल को दोहराओ मत, अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करो, जिस सत्य की हम चर्चा करते हैं, जिस सत्य को अपने द्वारा अपने लिए सम्भव मानते हैं, उस सत्य को स्वीकार करो - तो करने में ये सब बातें आ गई और साधन, भजन, ध्यान - यह सब होने में आ गया।

साधन का अर्थ क्या है? एक बड़ा व्यापक अर्थ सुनेंगे आप मानव सेवा संघ की भाषा में। साधन का अर्थ है - बुराई रहित होना। आप साधक है इसकी पहचान क्या है? इसकी पहचान यह है कि आप अपने को बुराई रहित बनाने में लगे हुए हैं। आप साधन भजन करते हैं तो करने वाला भजन जो होगा वह थोड़ी देर का होगा, क्योंकि क्रिया जो है, उसका आरम्भ होता है और उसका अन्त भी होता है। यह तो सर्वमान्य बात है, किसी मत या सम्प्रदाय की बात नहीं है। जिस क्रिया का आरम्भ होगा उसका अन्त जरूर होगा। और हमारा भजन कैसा होना चाहिए? सन्तों ने, भक्तों ने क्या कहा? भगवत्-वाणी में क्या कहलवाया? 'भजहिं निरन्तर मोहि।' भगवान कृष्ण, भगवान राम जिन्होंने अवतारी भेष में हम लोगों का पथ-प्रदर्शन किया, उन्होंने कहा कि निरन्तर भजो। यह करने वाला भजन आप करियेगा तो वह निरन्तर होगा कि उसका अन्त हो जाएगा? अन्त हो जाएगा न? तो जिस भजन का आरम्भ होगा, जिस भजन का अन्त होगा, वह भजन अखण्ड नहीं होगा। वह भजन बुरा है - ऐसा नहीं कह रही हूँ मैं, वह नहीं करना चाहिए - यह भी नहीं कह रही हूँ। मैं तो भजन करने वाले साधक की आवश्यकता बता रही हूँ। हम लोगों की आवश्यकता कैसी है? कि जीवन में अखण्ड भजन रहे। कौन-सा भजन अखण्ड रह सकता है?

मानव सेवा संघ कहेगा कि करने वाला भजन तो अखण्ड नहीं होगा, अगर साधक के जीवन में सत्संग के फलस्वरूप भजन अपने आप से होने लगे तो वह अखण्ड भजन होगा।

ऐसा कौन-सा भजन है कि जो अपने आप होगा, आपने आप होने लगेगा? उसके उत्तर में सन्त की सलाह यह है कि देखो भाई, भक्त भजन करता है भगवान की प्रसन्नता के लिए। भगवान की प्रसन्नता जिसको अभीष्ट हे, वह क्या करेगा? सबसे पहली बात जो उसे करनी होगी - वह है प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव रखना और सृष्टि के मालिक भगवान को प्रसन्न करना। सृष्टि के किसी भी प्राणी के प्रति वैर-भाव है उसके जीवन में, किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचे और उसका ध्यान न जाए - दूसरे को दुःख देकर अपनी सुविधा करने वाला भक्त कैसे हो सकता है? कैसे उसके द्वारा भजन होगा कि परमात्मा प्रसन्न होंगे। अतः प्राणी मात्र के प्रति सद्भाव निरन्तर होने वाले भजन का एक स्रोत हुआ।

आप दुनियावी सम्बन्धों को देख लीजिए। किसी भी नाते से एक बार जिसको आपने अपना कहकर मान लिया, उसकी याद आती है कि करनी पड़ती है? आती है न? आप वृन्दावन आते हैं तो वृन्दावन के आस-पास मथुरा में, आगरा में, अधर-उधर किसी जगह पर दुनियाँ की दृष्टि से माना हुआ कोई भी सम्बन्धी हो, तो इधर आने का विचार मन में आते ही उस सम्बन्धी की याद आ जाती है या विधि-विधान से बैठकर करनी पड़ती है? आ जाती है न? मिलने जाने का संकल्प अपने आप उठ जाता है न? आप उस संकल्प की पूर्ति कर सकें अथवा न कर सकें, लेकिन निकट में रहने वाला कोई भी आपका माना हुआ सम्बन्धी हो तो उसकी याद आए बिना नहीं रह सकती। यह क्या है? याद आ गया कि विधि-विधान से आसन-मुद्रा साध करके याद करना पड़ा? अपने आप आ गया।

सन्तजन, भक्तजन सलाह देते हैं कि माने हुए सम्बन्ध मिथ्या हैं। मान लीजिए कि किसी को आपने अपना समधी मान लिया, लड़के-लड़की की शादी जब तक नहीं किए थे तो वह समधी था क्या? नहीं था। उसका या आपका शरीर नहीं रहा तो वह समधी रहा क्या? नहीं रहा। पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा तो मध्य में जो होने के समान भासित होता है, ज्ञानीजन उसको भी 'नहीं' करके मानते हैं, 'नहीं' करके जानते हैं। ऐसा मिथ्या सम्बन्ध यदि आप में स्वतः ही उसकी स्मृति को जगा देता है, तो जो नित्य सम्बन्धी है, जो मेरे भूल जाने पर भी मुझको नहीं भूलता है, जो मातृगर्भ में उल्टे टँगे हुए थे तब भी साथ था और जब यह साढ़े तीन हाथ का शरीर चिता पर जलता हुआ होगा तब भी वह साथ होगा - ऐसा जो नित्य सम्बन्धी है, उसे हम अपना सम्बन्धी कहकर स्वीकार करेंगे, तो उसकी याद आएगी कि ढोल-मंजीरा बजा करके याद करना पड़ेगा। याद आएगी।

जो अपने आप भगवत् स्मृति जगा दें, वह तो सत्संग हुआ और स्मृति का जग जाना - उसका नाम भजन हुआ। मानव सेवा संघ ऐसा भजन का अर्थ बताता है। जो भगवान को न माने, उनको कुछ नहीं कहता, न माने तो बड़ी अच्छी बात है। अगर विश्वास करना पसन्द नहीं है, तो मत करो विश्वास, लेकिन विश्वास करते ही हो, उनको रिझाना तुम्हारे जीवन का एक अनिवार्य व्रत बन गया है तो सच्चा भजन करो। ऐसा भजन क्या करना कि शुरू करने के थोड़ी देर बाद थकान आने लगी, कुछ देर बाद जम्भाइयाँ आने लगीं, कुछ देर के बाद गला बैठ गया, कुछ देर के बाद भूख-प्यास लग गई तो भजन खण्डित हो गया।

मैंने महात्मा गांधी की अत्यन्त निकट रहने वाले एक साधक से सुना कि एक बार प्रार्थना की सभा में सब लोग बैठे थे, प्रार्थना हो रही थी, आँख बन्द करके सब लोग भगवान का ध्यान कर रहे थे चुपचाप, कि जंगल में से एक सर्प निकला ओर बापू की गोदी में से होते हुए चला गया। प्रार्थना सभा में बैठे हुए किसी-किसी की नजर पड़ी और लोग घबड़ाने लगे। कोई उठकर खड़ा हो गया, कोई खुस-पुस करने लगा। इतनी तो किसी की हिम्मत नही हुई कि बापू को पकड़ कर हिला दे, जगा दे या चिल्ला दे। लोग आपस में खुस-पुस करके रह गए। प्रार्थना की सभा जब पूरी हो गई तो उत्सुकता के मारे, कौतुहल के मारे लोगों से रहा नहीं गया। दो-चार लोग उनसे कहने लगे कि अरे बापू! प्रार्थना के समय एक सर्प आपकी गोदी में से होकर निकल गया। बापू को तो पता नही चला था, वे शान्त रहे। उन्होंने पूछा कि, 'अच्छा, ऐसा हुआ?' तो यह बताओ कि प्रार्थना की घड़ी में सर्प को इधर से आते हुए, इधर से निकलते हुए देखा किसने? यह प्रार्थना कैसी कि तुमको अपने प्रार्थ्य से भिन्न का भी आभास हो रहा है? बात समझ में आ रही है? यह कैसी आराधना कि तुम्हारे हृदय का तार, तुम्हारा तन-मन, रोम-रोम जिसकी आराधना कर रहे हो, उस आराध्य में खो नहीं गया है? यह कैसी प्रार्थना? यह कैसा भजन कि तुमको बाहरी दृश्य का भास हो रहा है, भय और चिन्ता हो रही है, कौतुहल हो रहा है?

देखिए, मैं भी आप ही के समान बहुत ही सामान्य स्तर से साधक का जीवन आरम्भ करने वालों में से एक हूँ और मैं अपनी दुर्बलताओं को, विश्वास के अधूरेपन को, भजन की निर्जीवता को बहुत अच्छी तरह से जानती हूँ। सन्त के पास बैठकर साधन, भजन, ध्यान का अर्थ जो, जितना मेरी पकड़ में आया - जितना उन्होंने कहा, मैंने सब समझ लिया, ऐसा तो नहीं कह सकती - तो जितना समझ में आया, उसके आधार पर मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि हम सब लोग साधन, भजन, ध्यान करते ही हैं, तो जितना कर रहे हैं उसे छोड़ें नहीं, जैसा कर रहे हैं, उसे बुरा न समझें, लेकिन हर भाई-बहन अपनी-अपनी दृष्टि से अपने साधन, भजन, ध्यान की ओर देखें। एकान्त में बैठ कर उस पर विचार करें ओर उसमें अधिक से अधिक सजीवता कैसे लाई जा सकती है - इसका उपाय करते चलें तो विकास हो जाएगा, ऐसा मानव सेवा संघ का कहना है।

एक मुसलमान सन्त राबिया के जीवन को पढ़ा है मैंने। चैका-बर्तन करने का काम करती थी। भगवान को मालिक मानती थी। मालिक के घर में झाड़ू, चैका, बर्तन, रसोई का काम पूरा हो जाए, सफाई-धुलाई हो जाए, फिर एकान्त में अकेले बैठे तो ईश्वर की आराधना में अपने को भूल जाए। महात्मा गांधी के जीवन का उदाहरण दिया, प्रार्थना के समय वे अपने को, शरीर को, संसार को भूल जाते थे। आराध्य से भिन्न किसी और का आभास उन्हें नहीं रहता था। ऐसे अनेकों सन्त भक्तों के जवीन की कथाएँ हम लोग पढ़ते हैं, सुनते हैं, अच्छा लगता है हमें। इसके आधार पर और अपनी आवश्यकता को सामने रख कर मैं यही समझती हूँ कि हम सब भाई-बहनों में से यदि कोई ईश्वर-विश्वासी है-मेरा ऐसा अनुमान है कि हम लोगों में से निन्यानवे प्रतिशत ईश्वर में विश्वास करने वाले ही यहाँ बैठे हैं, निवृत्ति-परायण और ज्ञान की अग्नि में सब विकारों को भस्म करने वाला बिरला ही बहादुर यहाँ कोई होगा, हम सब लोग अपनी दुर्बलताओं में अपने को समेटे हुए किसी तरह प्रभु की महिमा के बल पर अपने को पार करना चाहते हैं, तो ईश्वर-विश्वासी हैं हम लोग। ईश्वर-विश्वासी भाई-बहनों से, अत्मीयजनों से, यह

नम्र निवेदन है मेरा, कि जीवन के सत्य को पकड़ने की चेष्टा करें।

सन्तजन सलाह देते हैं, कि जिसको हम अपना मानते हैं उसका ध्यान अपने आप बारम्बार आता रहता हैं परसों एक भाई यहाँ से पुरलिया गए तो मैंने पूछा कि भाई, जल्दी क्यों जा रहे हो? उन्होंने कहा कि माताजी को बीमार छोड़ कर आया था और उनका खाना-पीना छूट गया था। यहाँ बैठा रहता हूँ तो रह-रह कर भीतर से मन उचाट हो जाता है। तो क्या मतलब है, कि जिसको हमने अपना सम्बन्धी करके स्वीकार किया उसकी याद आती है और चूँकि संसार का सम्बन्ध मिथ्या है, इसलिए मिथ्या सम्बन्ध मानने पर जिसको मैंने सम्बन्धी माना उसकी याद आने पर जी उचट गया। कितना सत्य है?

देखिए, यहाँ न मैं सगुण स्वरूप की चर्चा कर रही हूँ, न निर्गुण स्वरूप की, न शैव की न वैष्णव की, न राम की उपासना, न कृष्ण की, न खुदा की उपासना, न God की प्रार्थना, यह मैं भेदभाव की बात नहीं कर रही हूँ। मैं बिल्कुल सर्वव्यापी चर्चा, जो मानव सेवा संघ ने मानव-मात्र के हित के लिए स्वीकार की है, आपके सामने रख रही हूँ। संसार के व्यक्ति के साथ माना हुआ सम्बन्ध मिथ्या है, इसलिए उस मिथ्या सम्बन्ध का परिणाम यह है कि उसकी याद आई तो जी उचट गया, अभाव सता गया, दूरी मालूम होने लगी। वहाँ पुरलिया में माँ पड़ी हुई हैं, मैं यहाँ बैठा हूँ, अगर उसका देहान्त हो गया तो बड़ा पछतावा होगा, तो जी उचट गया और जल्दी से वहाँ पहुँचने का संकल्प पैदा हो गया। काल - स्थान की दूरी का भास हो गया ओर याद आने से जी में उचाट भर गया। ठीक इसके विपरीत भक्तजन का यह अपना अनुभव है, कि जो मेरा नित्य सम्बन्धी है, और जो नित्य-निरन्तर मुझ में विद्यमान है, उसकी याद आती है तो उससे जी में उचाट नहीं आएगा। वह तो बड़ा स्वरूप है, अनन्त माधुर्यवान है, अत्यन्त निकट है। उसकी याद जब आती है तो भीतर का जो उचाट है, वह खत्म होने लगता है, भीतर की जो नीरसता है, वह मिटने लगती है। वह स्वयं रसरूप है, इसलिए उसके रस से जीवन में एक क्षण की तो कौन कहे, जन्म-जन्मान्तर की नीरसता का नाश होने लगता है। अपने आप हृदय प्रेम से उमड़ने लगता है। अपने आप भीतर का सूनापन भरने लगता है और जिसको मैंने अपने से दूर माना था, कहीं छिपा हुआ, कहीं बड़ा रहस्यमय, उसके लिए सन्त ने सलाह दी कि देखो भाई! तुम जानती नहीं हो उसको, तुमने देखा नहीं है उसको, लेकिन वह है तुम्हारे अत्यन्त निकट! केवल अपनी विस्मृति से तुमने अपने उस नित्य सम्बन्धी को भुला दिया था, इसलिए वह अत्यन्त रहस्यमय हो गया है। तुम अपने उस नित्य सम्बन्धी को याद करोगी तो तुम जहाँ हो वहीं पर, जैसे हो वैसे ही, उसी काल में, उसी स्थान में चूँकि वह स्वयंप्रकाश है, चूँकि वह घट-घट वासी है, चूँकि वह अन्तर्यामी है, चूँकि वह तुम्हारा अत्यन्त प्रेमी है, इसलिए तुमको उसकी स्मृति आई नहीं कि उसकी विद्यमानता से तुम्हारा हृदय भर जाएगा। कितना अन्तर है। मिथ्या की याद आ गई तो उचाट भर गया। सत्य की याद आ गई तो जन्म-जन्मान्तर की उचाट नष्ट हो गया, रस से जीवन भर गया। कितना अन्तर है।

प्रभु की स्मृति के लिए, आप देखिए, कि तीर्थ में जाना जरूरी है या गंगा तट पर बैठना जरूरी है, हिमालय की गुफा में बैठना जरूरी है या मन्दिर को बदल कर मस्जिद बनवाना जरूरी है, मस्जिद को बदल कर गिरिजाघर बनवाना जरूरी है? .....अब उस स्वीकृति के लिए आप में जितनी सामर्थ्य है उतनी लगाइए। यदि असमर्थ

हैं, चल-फिर नहीं सकते, मुँह-से बोल नहीं सकते, सन्त-महापुरुष के पास पहुँच नहीं सकते, संस्कृत के श्लोक का उच्चारण नहीं कर सकते, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। वे पढ़े-लिखे हैं या निम्न वर्ग में जन्मे हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं। एक क्षण पहले तक अनेकों अपराधों की अपराधी बन चुके हैं, तो भी कोई बात नहीं। अनित्य स्वीकृति को अस्वीकार करके, उस नित्य सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लेने में किसी प्रकार की कोई पराधीनता नहीं है।

महर्षि वाल्मीकि ने क्या किया था? हम लोगों ने ऐसा सुना है कि इतने ब्राह्मणों की हत्या करते थे कि एक दिन में सुबह से लेकर सन्ध्या तक नौ मन जनेऊ इकट्ठा हो जाता था - नौ मन जनेऊ! एक दिन कोई विलक्षण विप्र आ गया। उसने कहा कि भाई, यह जो दुष्कर्म तुम कर रहे हो, परिवार का भरण-पोषण करने के लिए, उसके लिए जाकर परिवार के लोगों से पूछो तो कि इसका जो फल मिलेगा तुमको, इसमें वे लोग तुम्हारे साथी होंगे? स्त्री-बच्चों से पूछा। उन्होंने कहा कि हमने थोड़े कहा था तुमको पाप करने के लिए! हमें तो खाने से मतलब। तुम कैसे भी लाकर देते हो, हम खाते हैं। हम क्या जानें? हम तुम्हारे साथ नहीं हैं। तो एक सैकिण्ड की बात थी न! सुना उन्होंने। कहा कि अच्छा, कोई मेरे साथ नहीं होगा तो ठीक है, आज से यह कर्म छोड़ा। तो उनको कुछ समय बिताना पड़ा? स्थान बदलना पड़ा या बाहर से भेष बदलना पड़ा, कि जितने दिन तक उन्होंने दुष्कर्म किए थे उतने दिन तक कोई शुभ कर्म का अनुष्ठान करना पड़ा? सो सब कुछ नहीं। उनको सूझ गया कि मेरा कोई साथ नहीं देगा, तो आज से इसको छोड़ो। एक सैकिण्ड में उनके अहं में परिवर्तन आ गया।

बहुत से लोग संस्कार का नाम लेते हैं। अब देखिए, भगवान की कैसी लीला है। उन्होंने हम लोगों को संस्कार का चमत्कार भी दिखला दिया। गोस्वामीजी ने कहा कि 'मरा-मरा जपत मुनीश पारब्रह्म भये, राम-राम जपत न जाने कौन.....' ऐसा कुछ लिखा है। संस्कार की बात हो गई। मारो-मारो करते-करते मारो-मारो कहने की आदत हो गई। उस विप्र ने सलाह दी कि भैया, राम-राम जपो, यह कर्म छोड़ो। तो राम-राम कहा नहीं जाता था, मरा-मरा कहते थे। लेकिन हृदय में राम था, मुख से अभ्यासवश राम नहीं कहा जाता था, तो मुख से निकलता था मरा-मरा और हृदय में रहता था राम। उल्टा नाम जपते-जपते मुनीश पारब्रह्म हो गए, मुनीश्वर हो गए। क्या हो गया? अहं में परिवर्तन हो गया - अब तक मैंने अनेक प्रकार की भूल की थी, आज मुझे मालूम हो गया कि यह मेरी भूल थी, तो अब नहीं करूँगा। हो गया परिवर्तन।

आपका, हमारा जो यह अहं रूपी अणु है, यह ऐसी विचित्र चीज भगवान ने बनाई है कि इसको संसार के साथ मिला दो तो मिलकर मिट्टी हो जाए, और कितने ही दिनों का किया हुआ अपराध-रोष क्यों न हो, वर्तमान में भगवान की शरणागति ले लो, तो तत्काल वे साधु के समान बना देते हैं। भगवान की वाणी है न 'करौं सद्य तेहि साधु समाना।' सद्य, तुरन्त ही, तत्काल ही, देर नहीं लगती है! ऐसी अद्‌भुत रचना हमारी आपकी है। अभी, इसी वर्तमान में, इस कलिकाल में इतना सुन्दर अवसर पाकर भी, की हुई भूलों को छोड़ने का साहस हम न करें और नित्य-निरन्तर जो हममें विद्यमान है, हमारी प्रत्येक गतिविधि को जो सँभाल रहा है; जीवन की प्रत्येक घटना से हमें सजगता दे रहा है और हर समय हमें अपनाने के लिए तैयार है, उससे मिलने का साहस न करें, तो यह अवसर

निकल जाएगा हाथ से, बाद में पता नहीं फिर कब क्या होगा। तो मनुष्य-जीवन बड़ा मुल्यवान है और सृष्टिकर्ता उसकी प्रतीक्षा में है। हम सब लोग अपनी सब दुर्बलताओं को लिए हुए, अपनी त्रुटियों के साथ ही अपनी असमर्थता की पीड़ा से पीड़ित होकर, उस महामहिम की महिमा में विश्वास करके उसके प्रेमी होना पसन्द करें, उसके सम्बन्ध को स्वीकार करें और अपने आप जब बारम्बार याद आने लग जाएगी तो जीवन में इतनी चमत्कारपूर्ण परिवर्तन होगा कि जिसकी कल्पना और अनुमान नहीं किया जा सकता। याद आने लग जाए, तब हम जानें कि भजन हो रहा है। जब तक याद करना पड़ रहा है तब तक बुराई नहीं है याद करने में, लेकिन हम लोगों को ऐसा समझना चाहिए कि यह तो भजन का एक प्रकार का रिहर्सल (Rehearsal) हैं, ट्रेनिंग (Training) हो रही है।

भगवान के भजन में आज हम क्रियात्मक रूप से लगे हैं और हमारी चेष्टा हो कि क्रिया गौण हो जाए, भाव प्रधान हो जाए। भावात्मक भजन कब आरम्भ होगा? जब हम सत्यता के साथ उस नित्य सम्बन्धी से सम्बध को स्वीकार कर लें। तो दुःख में, सुख में, प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक दृश्य में, जीवन की प्रत्येक घटना के द्वारा प्रत्येक कार्य के द्वारा बस उसी में रम जाएँ, जब नित्य भजन होगा। तब नित्य ध्यान होगा। और जो ध्यान और भजन अपने आप होने लगता है, वह कभी खण्डित नहीं होता।

प्रवचन 79

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

अनित्य जीवन में आकृति से भाव की उत्पत्ति होती है और दिव्य-जीवन में भाव से आकृति की उत्पत्ति होती है।

बहुत ही बढ़िया प्रसंग है। इसमें यह रहस्य है कि जब हम लोग शरीरों के साथ तादात्म्य जोड़कर रहते हैं - अर्थात् मैं और यह शरीर एक है, शरीर है तो मैं हूँ, शरीर है तो मैं बोल रही हूँ, शरीर है तो मैं जी रही हूँ, इस प्रकार शरीरों के साथ अपने को मिला कर जब हम लोग रहते हैं, तो अन्य आकृतियों को देखकर भाव पैदा होता है, यथा-यह मेरे पिता हैं, यह मेरी माता है, ये मेरे मित्र हैं। तो जिस आकृति को हमने माता-पिता माना, उस आकृति को देखकर अपने भीतर आदर का भाव पैदा हुआ। जिस आकृति को पुत्र माना, उसको देखकर हृदय में वात्सल्य भाव आया। जिस आकृति को दुश्मन माना, उसको देखकर भीतर आक्रोश पैदा हो गया। जिस आकृति को खतरनाक माना, उसको देखकर भीतर से भय पैदा हो गया। इस प्रकार अनित्य जीवन में आकृति से भाव की उत्पति होती है। आकृति के अनुरूप भाव बन जाते है।

दिव्य-जीवन में भाव से आकृति की उत्पत्ति होती है। जो दिव्य-जीवन है, जिसमें लौकिकता का लेश नहीं है, उसमें भौतिक तत्व का प्रवेश नहीं है! ऐसा जो दिव्य-जीवन है उसमें भाव से आकृति बनती है। ज्ञान-पन्थ के साधक ओर प्रेम-पंथ के साधक, जो कि देहभाव से असंग हो चुके हैं, देहभाव जिनका छूट गया है, उनका दिव्य-जीवन से सम्बन्ध हो गया है। उस दिव्य-जीवन में भाव से आकृति पैदा हो जाती है। जिस भक्त का जैसा भाव होता है उस भाव के अनुरूप भगवान की आकृति बन जाती है। वृन्दावन में एक सन्त रहते थे। अब तो बहुत दिनों से उनको देखा नहीं है। पागल बाबा कहलाते हैं यह। पहले कलकत्ता में वे जज थे। उनकी कथा ऐसी है कि उनकी कचहरी में एक मुकद्दमा आया। मुकद्दमा

एक भगवत्-विश्वासी गृहस्थ पर था। वे गृहस्थ बड़े भगवत् अनुरागी थे, सज्जन-व्यक्ति थे, भगतजी कहलाते थे। उन्होंने किसी महाजन से कभी रुपये कर्ज लिए होंगे और समय पर यह कर्ज उन्होंने चुका दिया, उनको रसीद भी मिल गई। इस बीच में उस सेठ के मन में बेईमानी आ गई। उसने कहा कि भगत जी, मुझको एक गिलास पानी पिला दीजिए। भगतजी जब पानी लेने गए, सेठ ने अपनी दी हुई रसीद चुरा ली। भगत जी बेचारे ने जल पिलाया और चले आए। रसीद की उनको याद भी नहीं रही। सेठ ने वह रसीद छिपा ली और कुछ समय जब बीता तो भगतजी पर उसने मुकद्दमा कर दिया कि तुम्हारे पास इतना रुपया मेरा बाकी है। भगतजी ने कहा कि सेठजी रुपया तो हम दे आए थे। सेठजी माने नहीं। उन्होंने कहा कि रुपये तुम दे गए थे, तो रसीद लाओ। रसीद उनके पास थी ही नहीं, उसकी उन्हें याद ही नहीं थी और कोई सबूत उनके पास था ही नहीं कि रुपया दे दिया है। मुकद्दमा चलने लगा, पेशी हुई। इसी मामले में जब जज साहिब को फैसला देना था तो उन्होंने भगतजी से पूछा कि भाई, मैं फैसला देने जा रहा हूँ, जो तुम कह रहे हो कि तुमने रुपये दे दिए हैं तो तुम्हारा कोई गवाह भी है? किसी को मालूम है जो कह सके कि हाँ, तुमने रुपया दे दिया है? तो उन्होंने कहा, हाँ, मेरा गवाह तो है। तो एक तारीख दे दी गई कि उस दिन तुम अपना गवाह को बुला लेना। उन्होंने नाम लिखा दिया 'रघुनाथ जी' और पता लिखवा दिया 'कनक भवन, अयोध्या।' निश्चित तारीख पर जब इनका नम्बर आया तो कोर्ट में उनके गवाह को बुलाया गया। भगतजी बेचारे चुपचाप बैठे थे, उनको तो कोई बात ही नहीं सोचनी थी। दूर से एक आदमी पगड़ी बाँधे, मामूली कपड़े पहने हाथ उठा करके पुकारता हुआ आ गया भीड़ में से - जी हाँ, मैं हाजिर हूँ। उनसे पूछा गया कि इन भगतजी का ऐसा-ऐसा केस है, इन्होंने आपको गवाह बनाया है, आप जानते हैं कि इन्होंने रुपये दे दिये थे? 'हाँ, मैं जानता हूँ।' 'सबूत दे सकते हैं?' 'हाँ दे सकता हूँ।' 'क्या सबूत है बताइये?' 'उन्होंने कहा कि आप इस सेठ को अपने पास रखिए और इसके घर पर आदमी भेज दीजिए, इसकी अमुक अलमारी में एक बही रखी है, अमुक नम्बर पन्ने में रसीद कटी रखी है, आप मँगवा लीजिए। अगर आपको मिल जाए तो यही सबूत मानिए।' - ऐसा कहकर रघुनाथ जी चले गये। गवाह का काम पूरा हो गया। उसके बाद सेठ के यहाँ जाकर तलाशी ली गई तो अलमारी में से उस नम्बर की बही भी निकाली और उस बही में से वह रसीद भी निकली। भगतजी छूट गए, उनका मामला खत्म हो गया। पर जज साहिब सोचने लगे कि यह कौन हो सकता है कि जो सेठ के घर में किस अलमारी में कौनसी बही में किस पन्ने में रसीद रखी है, ऐसी पक्की गवाही दे सकता है?

उन्होंने भगतजी को बुलाया और कहा, आपका मुकद्दमा खत्म हो गया, आप जीत गए, आपका गवाह पक्का निकला, सबूत हो गया कि आपने रुपये दे दिए थे। यह बात खत्म हो गई। लेकिन अब मेरी एक बात सुनिए और मुझे बताइए कि यह आपका गवाह कौन है? भगत जी हँसने लगे, कहने लगे, 'साहब! वह गवाह तो मेरा प्राणाधार है, मेरे जीवन का आधार है और मैं क्या बताऊँ? मैंने उनका नाम और पता लिखवाया था 'रघुनाथ जी, कनक भवन, अयोध्या।' फिर भी समझ में नहीं आया कि वह कौन है, और कौन हो सकता है? उनके अतिरिक्त इस संसार में मेरा और कौन है?' भगतजी अपने आनन्द में मस्त, अपने रघुनाथ जी के आनन्द में मस्त।

जज साहिब घर गए तो उसी समय से उनके सिर पर एक बात चक्कर काटने लगी कि अच्छा, भगवान मेरी कचहरी में आए और मैं कुर्सी पर बैठा रहा। यह तो बड़े दुःख की बात है कि भगवान मेरे कोर्ट में आए और मैं कुर्सी पर बैठा रहा, मैंने प्रणाम भी नहीं किया। अरे! मैंने उनको पकड़ क्यों नहीं लिया? प्रभु आए, इस बात से वे बड़े आल्हादित हो गए, मुग्ध हो गए। उन्होंने निश्चय किया कि जिस कुर्सी पर बैठकर भगवान छूट गए उस कुर्सी पर फिर नहीं बैठूँगा और वे नहीं बैठे, उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। वृन्दावन आ गए। स्वामी जी के साथ मैंने अनेक बार उनके दर्शन किए।

उनके ध्यान में क्या रहा होगा, इसका तो मुझे पता नहीं, लेकिन एक बात स्पष्ट मालूम होती थी कि वे सब समय इसी चिन्तन में रहते थे कि पता नहीं रघुनाथ जी किस वेष में आ जाएँ। श्री बांकेबिहारी जी के मन्दिर के दरवाजे पर खड़े हुए उनके कई बार दर्शन हुए। उनका भाव यही रहता था कि न जाने किस वेष में भगवान इस मन्दिर में जा रहे होंगे इसलिए जितने लोग उस दरवाजे से पार होते उन सब की चरण धूलि चैखट में से पोंछ-पोंछकर अपने सिर में, देह में लगाते रहते थे। भीतर नहीं जाते थे। भीतर जाने से उनको मतलब क्या? वे तो यही सोचते रहते थे कि मन्दिर में जा रहे हैं लोग, न जाने इन्हीं में से कौन से भगवान होंगे, तो उनकी चरणधूलि उनको प्रिय थी, लगाते रहते थे शरीर में।

स्वामीजी महाराज ने जो लिखा है कि दिव्य-जीवन में भाव से आकृति की उत्पत्ति हो जाती है, तो दिव्य-जीवन था उस भगत का जिसके गवाह बने भगवान। इस भगत के दिल में बड़ा जोरदार विश्वास था कि मेरे सब कुछ रघनाथ जी हैं, माता-पिता भी रघुनाथ जी हैं, भाई-बन्धु भी रघुनाथ जी हैं। सब विश्वास, सब सम्बन्ध सिमट करके रघुनाथ जी में समाहित हो गए थे। तो माता-पिता रघुनाथ जी हैं, भाई-बन्धु रघुनाथ जी हैं, अब दुनियाँ के गवाह की जरूरत हुई तो गवाह भी रघुनाथ जी को छोड़ करके और कौन होगा? वह भी एक सम्बन्ध ही है न। मेरे पक्ष का मेरा आत्मीय गवाह है। तो उसमें उसके भीतर में, जीवन की दिव्यता में, रघुनाथ जी के प्रति एक अपनेपन का भाव था और उसने कोर्ट में लिखवा दिया, मेरे गवाह का यह नाम है, यह पता है। यह सब तो उसके भीतर भाव ही था, उसी भाव के अनुरूप आकृति बन गई। उस आकृति को उसी अकेले भक्त ने देखा हो, सो तो नहीं, सब ने देखा। इस प्रकार भाव के अनुरूप आकृति बनती है।

दिव्य-जीवन में भाव से आकृति का निर्माण होता है और यह दोनों तरफ से होता है। भक्त के हृदय में भगवान के प्रति जो भाव है, भगवान उसी भाव के अनुसार अपनी आकृति बना लेते हैं। ऐसा भी है ओर भक्त के भीतर अपने सम्बन्ध में भगवान के प्रति जो भाव है, वह भाव भी शरीर बन जाता है। किसी ने भगवान को अपना बालक माना ओर अपने में भगवान की माता - यह हाड़-माँस का बना हुआ शरीर जो भौतिक तत्वों का है सो नहीं - तो जिन भक्तों ने अपने में भगवान की माता का भाव रखा, भौतिक शरीर से उनका सम्बन्ध छूट गया और भाव शरीर में मातृत्व लेकर के भगवान को लाड़-लड़ाते हैं और भगवान उस प्यार को, वात्सल्य से ओत-प्रोत प्यार को लेकर के खूब आनन्दित होते हैं।

भाव से आकृति बन जाती है - यह दोनों तरफ से होता है। भक्त के भाव के अनुसार भगवान बन जाते हैं और भक्त ने अपना जो भाव रखा परमात्मा के प्रति तो उसका स्थूल शरीर से संग छूट जाता है ओर प्रेमभाव से एक भाव शरीर उसका बन जाता है जोकि परमात्मा को लाड़-

लड़ाता है। आपने सुना होगा गोपी-चरित्र में, कि शरद पूर्णिमा की रात्रि में जब भगवान ने वंशी बजाई और वंशी की ध्वनि में सखियों का, गोपियों का नाम ले लेकर पुकारा तो सब दौड़ पड़ीं, कोई रसोई बनाते-बनाते छोड़कर भागी, कोई बच्चे को दूध पिलाते छोड़कर भागी, कोई उल्टा-सीधा शृंगार किए हुए भागी। इस तरह से बहुत-सी गोपियाँ चली गई और कुछ ऐसी भी थीं कि उनके शरीरधारी घरवालों ने जाने ही नहीं दिया। एक गोपिका के बारे में ऐसा लिखा है कि उसके पति ने बहुत डाँटा और कहा कि अब इस समय में तुम्हीं जाने नहीं दूँगा। अब वह नहीं मान रही थी, तो घर में रखकर बन्द कर दिया। उसका भौतिक शरीर तो वहीं रह गया और वह भाव शरीर से पहुँच गई रास मण्डली में। और ऐसा सुना जाता है कि शरद पूर्णिमा की वह रात्रि, जिस रात्रि को भगवान ने रास लीला की थी, वह रात्रि छः महीने की हुई। केवल दस-बारह घन्टे की रात नहीं थी वह, बहुत लम्बी रात्रि हुई थी वह और उतने दिनों तक प्रेम के आदान-प्रदान में वह गोपिका अपने उसी सखी रूप में भगवान के रास में सम्मिलित रही और नृत्य भी किया, रास भी किया, प्रेमास्पद को रस दिया भी और प्रेमास्पद से रस लिया भी। तो स्थूल शरीर जो था वह गोप वाले घर में बन्द रहा और भाव शरीर से वह भगवान के पास पहुँच गई। तो भाव से आकृति बन जाती है - यह दोनों ही तरफ से सत्य है। भक्त की भावना के अनुसार भगवान आकृति बना लेते हैं और भगवान के प्रति अपनी भावना के अनुसार अपना भाव शरीर बन जाता है।

ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग है। बिहार प्रान्त के छपरा जिले में एक सज्जन थे, शिक्षा विभाग में डिप्टी इन्सपैक्टर का काम करते थे। उनका नाम था भगवान प्रसाद ! एक बार उनके इन्सपैक्टर (Inspector General) इन्सपैक्शन में आ रहे थे स्कूल का निरीक्षण करने के लिए। Deputy Inspector भगवान प्रसाद भगवान के भक्त थे, अपने घर में प्रातःकाल पूजा में बैठे तो उनकी समाधि लग गई। उनको याद ही नहीं रहा कि समय पर ड्यूटी पर जाना है। शरीर से उनका सम्बन्ध टूट गया था, अब जाएँ कैसे? स्टेशन पहुँचें कैसे? इन्सपैक्टर जनरल को उन्होंने रिसीव नहीं किया। स्कूलत तक वे पहुँचाने नहीं गए। निरीक्षण नहीं करवाया। समाधि में बैठे रहे। लेकिन उनकी जगह पर एकदम उन्हीं के समान बनकर भगवान काम करने आ गए। किसी को पता नहीं चला। Inspector general का नाम था जगत नारायण लाल। वे और भगवान प्रसाद दोनों मित्र भी थे और दोनों भगवान के भक्त भी थे। वे जब आए तो Deputy Inspector को उन्होंने उपस्थित देखा और दोनों ने मिलकर सब काम किया। छपरा से ट्रेन में बैठकर माँझी आए। जब वे Head quarter में छपरा स्टेशन पर पहुँचे तो वहाँ पहुँचते ही डिप्टी साहब बने हुए भगवान अन्तर्धान हो गए।

इधर पूजा में लीन डिप्टी साहब की समाधि टूटी तो वे घबरा कर उठे। भागे-भागे स्टेशन आए और हाथ जोड़कर खड़े थे कि बड़े साहब से क्षमा माँगूगा, मैं तो भूल ही गया। बहुत तकलीफ हुई होगी। कैसे Inspection हुआ होगा, बड़े चिन्तित थे। टे^{a}न पर जगत नारयण लाल उतरे। इधर डिप्टी साहब खड़े हैं हाथ जोड़कर, कह रहे हैं कि सरकार बड़ी चूक हो गई। हम आपके साथ नहीं गए, हम आपके साथ काम नहीं करा सके, आपको बहुत तकलीफ हुई होगी। जगत नारायण लाल खड़े-खड़े इनको बड़े ध्यान से देख रहे हैं कि बात क्या है? उनका चपरासी भगवान प्रसाद से कहने लगा, हजूर, आप क्या कह रहे हैं। आप गए तो थे हमारे साहब के साथ,

आप अभी तो हम लोगों के साथ ट्रेन से आ रहे हैं तो किस लिए हाथ जोड़ रहे हैं? क्या चूक हुई है आपसे? आप अभी ततो हमारे साथ आए हैं, ट्रेन से। अब यह दोनों भगवत्-भक्त समझ गए कि मामला क्या है। फिर जगत नारायण लाल चले गए अपने दफ्तर और भगवान प्रसाद रोते-रोते घर चले आए ओर भगवान के पास बैठकर अपने ठाकुर जी से खूब दुःख सुनाया। 'हे सरकार!' - बिहार की भोजपुरी भाषा में सरकार कहने की पऋति है - तो बोले, 'हे सरकार, आपको बड़ा कष्ट हुआ। मैं चूक गया सरकार! आपको काम करना पड़ा, ऐसी नौकरी करके क्या करूँगा?' अत्यन्त अधीर होकर उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया! वे बड़े ऊँचे भक्त हुए। अयोध्या जी में वे रूपकला जी के नाम से प्रसिऋ हैं। उनका वहाँ पर स्टेच्यू भी बना हुआ है। बहुत उच्च-कोटि के भक्त माने जाते हैं वे। भगवान के साकेत के पार्षदों में से अष्ट सखियाँ जो अलग-अलग कार्य के लिए भगवान के साथ निरन्तर रहती हैं, किशोरी जी के साथ निरन्तर रहती हैं, उनमें से एक है रूपकला जी! और रूपकला जी की बहुत-सी रचनाएँ भी है और बड़ी महिमा है उनकी।

इस उदाहरण से मैं आपको क्या बताना चाहती हूँ कि भाव से आकृति का निर्माण हो गया दिव्य-जीवन में। चूँकि वह दिव्य है, इसलिए उसमें सातत्य है, नाश नहीं होता। उसका और भक्त की भावना के अनुरूप उसकी प्रीति का आदर करने में भगवान अपना रूप बना लेते हैं। चूँकि डिप्टी इन्सपेक्टर भगवान प्रसाद पूजा के समय प्रभु के प्रेम में समाधि में डूब गए अर्थात् अपने प्रेमास्पद से एक हो गए तो उनके प्रेमास्पद ने यह रूप बनाया और उसका लौकिक काम पूरा किया। इसका मतलब यह नहीं कि उस काम का बड़ा महत्व है। अपनी जगह पर वह ठीक है और हम लोगों को कर्त्तव्य-निष्ठ होने के लिए बहुत प्रेरणादायक है। लेकिन इसमें विशेष अर्थ यह है कि भक्त जब अहं शून्य होकर उस दिव्यता में डूब गया, भौतिकता उसकी खत्म हो गई, तब भगवान प्रसाद की संज्ञा जो थी वह प्रभु प्रेम के रूप में बदल गई। समझ में आता है न? वह संज्ञा जो थी, एक अलग यूनिट (Unit), वह प्रभु-प्रेम में बदल गई। जिस समय वह अहं शून्य होकर प्रभु के प्रेम में खो गये, उस सयम भगवान को बहुत अच्छा लगा, अपने भक्त की जगह उसका काम करने में बड़ा आनन्द आया। तो आकृति बन गई और ऐसी बन गई कि किसी ने पहचाना ही नहीं। चपरासी तो उनको समझाता ही रहा कि साहब आपको क्या हुआ है? आप साथ ही तो गए थे, साथ ही आए हैंऋ सब काम ही तो कराया है। ऐसा होता है। रूपकलाजी का शरीर अब नहीं है लेकिन उनकी भक्ति-भावना, प्रभु के प्रति उनका प्रेम विद्यमान है, उसका नाश कभी नहीं होगा।

अब दूसरा सूत्र मिला है व्याख्यान के लिए। प्रीति का समूह व्यक्ति का अस्तित्व है। व्यक्ति किसी न किसी की प्रीति है, व्यक्ति का अस्तित्व है किसी न किसी की प्रीति का समूह।

इसका अर्थ जैसा मेरी समझ में आता है वो यह है कि जिज्ञासु का अस्तित्व मात्र जिज्ञासा हो जाता है। ऐसे प्रेमीजन का अस्तित्व ही मात्र प्रेम रह जाता है और इसको थोड़ा उलट के भी कह दें, ऐसा कह दें कि जैसे कोई धन का लोभी लोभ से प्रेरित होकर धन के लिए जुटा हुआ हो, उसका अस्तित्व धन का लोभ रह जाता है। जैसे कोई विषयी किसी विषय से प्रेरित होकर विषयवस्तु के लिए व्यग्र हुआ हो तो उसका अस्तित्व ही विषयासक्ति बन गया। वैसे ही प्रभु का प्रेमी या सत्य का शोधक अथवा परम तत्वा के लिए योग की चेष्टा में जो लगा हुआ हो - तो जिसकी प्रीति

जिससे होती है, वह प्रीति का समूह ही उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व बन जाता है और उसमें दूसरा कुछ नहीं रहता है।

तीसरा सूत्र अविवेक के सम्बन्ध में है। अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। स्वतन्त्र अस्तित्व जिसका है, उसमें अविवेक नहीं है। यह तो हम जब विवेक का अनादर करते हैं तो विवेक का अनादर करने से अविवेकपूर्वक काम करने लग जाते हैं। जब तक हम अविवेकपूर्वक प्रवृत्ति को सुखद मानकर उसको अपने में रहने देते हैं तब तक अविवेक रहता है और जिस समय सचेत होकर विवेक का आदर करने लग जाते हैं तो हमारे त्याग करने मात्र से अविवेक का नाश हो जाता है। दूसरे शब्दों में ऐसे भी कहा महाराज जी ने, कहीं-कहीं लिखाया भी है इस तरह से कि बुराई का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; भलाई का स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसलिए व्यक्ति जब अविवेकपूर्वक बुराई करने में लग जाता है, उस समय भी उसके अहं में से भलाई का नाश नहीं होता। बहुत ही अनर्थकारी काम में जुटे हुए व्यक्तियों के मुख से भी आप बहुत अच्छे-अच्छे वचन सुनते होंगे। जो अविवेकपूर्वक बुराई करने में लग गया है वह भी जब आपस में बैठकर के बातचीत करने लग जाता है तो कहता है; अरे भइया, संसार नाशवान है। क्या लेकर आए हैं, क्या लेकर जाएँगे। ऐसी बातें लोग करते हैं, तो भलाई का नाश कभी नहीं होता है, सच्चाई का नाश कभी नहीं होता है, क्योंकि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। लेकिन मनुष्य एक ऐसा विलक्षण जीव है भगवान की धरती पर कि उस भलाई के मूलरूप से विद्यमान रहते हुए भी वो बुराई करने पर तुल जाता है। जान-बूझकर जब वह भलाई, जो बीज रूप से विद्यमान है, पर ध्यान नहीं देता है; विवेक का प्रकाश जो उसमें विद्यमान है उसका अनादर करता है। क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इस बात को जानते हुए भी किसी भय से भयभीत होकर, अथवा किसी लोभ से प्रेरित होकर न करने वाला काम भी करने लग जाता है, तो जिस काल में वह ऐसा करने लग जाता है उस काल में बुराई पैदा होती है और जिस काल में जो नहीं करना चाहिए उसे करना छोड़ देता है, तो उसी समय बुराई समूल नष्ट हो जाती है, क्योंकि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। भलाई को छोड़ कुछ देर के लिए हम बुराई में फँस जाते हैं तो भलाई का समूल नाश नहीं हो जाता। वह विद्यमान रहती है और दबी रहती है और बुराई का त्याग मनुष्य जब कर देता है उसका समूल नाश हो जाता है। इसी आधार पर महाराज जी ने ऐसा भी कहा कि आपने किसी मनुष्य को ऐसा नहीं देखा होगा जो सर्वांश में बुरा हो। लेकिन ऐसे मनुष्य आपने देखें होंगे जो सर्वांश में भले हों। ऐसा होता है। सब प्रकार की बुराइयों का त्याग करके सर्वांश में व्यक्ति निर्मल हो सकता है लेकिन जो सब प्रकार की भलाई का नाश कर डाले, ऐसा कोई मनुष्य नहीं होता है।

अब अगला सूत्र है - समस्त वस्तुएँ अमरत्व की ओर दौड़ रही हैं, क्योंकि परिवर्तन के ज्ञान में ही अपरिवर्तनीय की लालसा विद्यमान है।

यह बहुत बढ़िया बात है। समस्त वस्तुएँ अमरत्व की ओर दौड़ रही हैं। एक प्रत्यक्ष उदाहरण: नदियों का प्रवाह समुद्र की ओर है। जिसमें से उनकी उत्पत्ति हुई उसी में पुनः प्रवेश। समुद्र के ऊपर सूर्य की किरणें पड़ी, सूर्य की किरणों से उसमें जलवाष्प बना, वे बादल बनकर आकाश में गए, वर्षा होकर, जल होकर फिर वापस गिरे, वहीं से सिमट-सिमटकर, समुद्र से कितनी भी दूरी उनकी क्यों न रही हो उनकी दौड़ इसी ओर हैं। इसलिए इस परिवर्तनशील जगत् को, अगर कोई आँखों वाला है, जो देख सके, तो

इस परिवर्तनशील जगत् का संदेशा भी हम लोगों के लिए परमात्मा की ओर है। वस्तुओं की नश्वरता, वस्तुओं में परिवर्तनशीलता बहुतों को, बहुत से साधकों को अनन्द की ओर आगे बढ़ा देती है; क्योंकि इनसे हम लोगों को सन्देशा मिलता है। नाशवान की नश्वरता को देखकर के अविनाशी की ओर उन्मुख होने का सन्देशा मिलता है।

स्वामीजी महाराज एक बार किसी को कुछ कह रहे थे कि भैया, संसार कह रहा है कि मुझमें कुछ नहीं है। 'यह' माने दृश्य जगत् का दृश्य। 'यह' आपसे कह रहा है आप सुनते क्यों नहीं? आप उसकी बात समझते क्यों नहीं? वह कह रहा है - अरे भैया! मुझमें कुछ नहीं है, मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकता, मैं तुम्हारा होकर रह नहीं सकता, मेरा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। मेरे पीछे क्यों दौड़ रहे हो, मेरे भाई? मेरे पास क्यों चिपके हुए हो? तो हर नष्ट होने वाली वस्तु हर सचेत व्यक्ति को अपनी नश्वरता का सन्देश देकर अविनाशी को पकड़ने के लिए प्रोत्साहन देती रहती है।

एक समय ऐसी बातचीत हो रही थी कि वहाँ से कोई समाचार तो आता ही नहीं है कि कब क्या करना है, तो कैसे आदमी जाने, कैसे तैयार हो? इस पर एक सन्त ने कहा कि कितनी चिट्ठियाँ गई तुम्हारे पास, तुम पढ़ते ही नहीं हो, तो क्या किया जाए? वहाँ से कितनी चिट्ठियाँ आ गई, तुम पढ़ते कहाँ हो? प्रश्नकर्ता ने पूछा, कि महाराज, हमको तो पता ही नहीं चला, क्या चिट्ठी आई है? तो सन्त ने कहा, कि अरे भाई, ये दाँत जो गिर-गिरकर झड़ गए - एक दाँत टूट गया तो एक चिट्ठी आ गई कि नहीं? चिट्ठी आ गई कि मैं जा रहा हूँ इसलिए सब साथी हमारे चले जाएँगे। तो चिट्ठी तो आती है तुम पढ़ते ही नहीं हो। पढ़ो तो तुम्हें पता चल जाए। सन्देशा तो आया है वहाँ से, समाचार तो आता ही रहता है। अनेक प्रकार की घटनाएँ जो मंगलमय विधान से हम लोगों के जीवन में होती हैं, वो हर घटना उन लोगों को उस परम प्रेमास्पद का प्रेम निमन्त्रण ही तो है। उनसे रहा कहाँ जाता है? न खुद चैन से रहते हैं, न हमको रहने देते हैं। कभी कुछ, कभी कुछ, खटपट लगाए रहेंगे सब समय। सन्देशा भेजते ही रहते हैं। समाचार आता ही रहता है; बुलावा आता ही रहता है; हर भाई हर बहन को जगाया ही जाता है; चेतना दी जाती है; कहा जाता है कि भाई! यहाँ तो कुछ है नहींऋ यह तुम्हारा घर नहीं है।

सन्त कबीर ने कहा 'रहना नहीं देश बिराना है' यहाँ रहना नहीं है, अपने घर पहुँचना है। इस बात का सन्देशा अनेक रूपों में अनेक ढंग से आता ही रहता है। जो जिन्दादिल लोग हैं वे इन्हीं बातों में से सन्देशा अपना लेते हैं। खूब रहस्य है इस बात में! आँखें खोल कर देखने पर इस दृश्य जगत् की नश्वरता में भी अविनाशी का सन्देशा मिलता है और इस दृश्य जगत् की सुन्दरता में भी अविनाशी का सन्देशा मिलता है। स्वामी जी महाराज सुनाते थे कि कोई एक सज्जन थे जो किसी रूपवती स्त्री को बड़े गौर से देख रहे थे। वह महिला बहुत समझदार थी। उन्होंने कह दिया, 'जो गैरों की सूरत पर होते हैं शैदा, वो दुनिया में रंजोअलम देखते हैं।' वे सज्जन सत्य के शोधक थे तो उन्होंने भी लिख दिया, 'तुझ से न मतलब, न सूरत से तेरी, मुसव्वर की हम तो कलम देखते हैं।'

मुसव्वर की मैं तो कलम देखता हूँ। जगत् के सम्बन्ध में यह दार्शनिक विचार है कि वह अव्यक्ति ही व्यक्तिरूप में फैला है ओर उसी ने हम लोगों को बनाया, और अपने प्रेम के विस्तार के लिए बनाया। अकेले रहा नहीं गया तो हम लोगों को बनाया। इसलिए यह जगत् जो है यह हम लोगों को परमात्मा से बिछुड़ाने वाला नहीं है। इसकी

नश्वरता भी परमात्मा के पास पहुँचने का संदेशा देती है, और इसकी सुन्दरता भी उनकी ओर आकर्षित करती है। एक ग्रन्थ है The Himalayas; हिमालय पर्वत काऋ - उसके विविध चित्रों के संग्रह ओर उसका कुछ विवेचन इसमें दिया गया है फोटोग्राफी के साथ। उसमें मैंने पढ़ा था - आप लोगों को समय-समय पर सुनाया करती हूँ मैं - एक जापानी फोटोग्राफर युवक है। उसने प्राकृतिक सुन्दरता को देखकर के ऐसा अनुभव किया कि जो कुछ में देख रहा हूँ उन सब देखे हुए के भीतर एक अनदेखी शक्ति का आभास मुझे मिल रहा है और ऐसा लग रहा है कि वह जो अदृश्य सत्ता है वह मुझ में बड़े फोर्स वितबम के साथ भर रही है, उस सुन्दरता को देखकर मुझको ऐसा लग रहा है कि इस सुन्दरता के विस्तार में और इसकी विचित्रता और इसके आकर्षण में कौन प्रकट हो रहा है? वही प्रकट हो रहा है, जो सबकी सत्ता के रूप में है। अगर वह नहीं होता, तो यह सुन्दरता भी नहीं होती। जैसे यह प्राकृतिक सुन्दरता उस अदृश्य शक्ति की अभिव्यक्ति है। अगर यह प्रकृति न होती तो मनुष्य भी न होता, यह पर्वत नहीं होते। यह सुन्दरता नहीं होती तो यह मनुष्य भी नहीं होता। कहने का मतलब क्या है? कि वह एक ही परम सुन्दर अदृश्य सत्ता है जिसकी अभिव्यक्ति में प्रकृति भी है और हम भी हैं - ऐसा उस जापानी युवक को महसूस होता है। वह भगवान को खोजने के लिए ऋषि-मुनियों की तरह उत्तराखण्ड में वास करने नहीं गया था। न उसने ध्यान लगाया, न जप किया, न कुछ किया। लेकिन प्राकृतिक सुन्दरता में एक ऐसी भव्यता, एक ऐसी दिव्यता का दर्शन उसने किया कि वह मुग्ध हो गया। इसलिए मैं दोनों ही तरह से मानती हूँ। संसार की नश्वरता भी मनुष्य को आगे की ओर बढ़ने का संदेशा देती है, और संसार की सुन्दरता भी उस परम सुन्दर की ओर हमें आकर्षित होने की प्रेरणा देती है।

अब अगला प्रश्न है: प्रेमास्पद प्रेम-भाव से हम लोगों को बना करके सृष्टि में रखते हैं, तो ऐसा लगता है कि जैसे अत्यन्त निकट इस प्रतीक्षा में ही रहते हैं कि किस समय हमारे में से अनित्य का भाव मिटे और नित्य जीवन का भाव जगे। जरा भी देर नहीं लगती। नित्य जीवन का भाव जगा नहीं कि वे अपने को प्रकट करने के लिए बहुत लालायित रहते हैं। बहुत ही लालसा से भरे सब समय हमारे भीतर-बाहर, दाएँ-बाएँ ऊपर-नीचे सब तरफ विद्यमान और सब समय इस बात के लिए प्रस्तुत कि कब मेरा यह बच्चा नाशवान की ओर से मुख मोड़कर मुझ दिव्य से मिलने के लिए अभिलाषा करेगा। भाव आपके भीतर जगा नहीं कि उसको थोड़ा-सा भी बहाना दे दो, थोड़ा मौका दे दो तो जल्दी से अपनी दिव्यता का प्रकाश करके आपको अपनाने और अपने प्रेम का रस भरने के लिए तैयार रहते हैं। जरा-जरा सी देर में दृष्टि बदलती है, सृष्टि बदलती है, जरा-जरा सी देर में देह का भास छूटता है। पक्षियों को आकाश में उड़ते हुए देखकर किसी ने देहाभास छोड़ दिया, बादलों को आकाश में उड़ते हुए देखकर किसी ने देह का भास छोड़ दिया, समुद्र की उठती हुई लहरियों को देखकर किसी ने देह का भास छोड़ दिया, किसी बच्चे को माँ के साथ लाड़-दुलार करते हुए देखकर किसी ने देहाभास छोड़ दिया। ऐसा अद्‌भुत प्रसंग है कि मैं क्या बताऊँ? सचमुच इस जगत् रूप में वे जगत्पति ही व्याप्त हैं चारों ओर। केवल हमारे अपने अहं के परिवर्तन की देर है, उनके प्रकाशन में देर लगती ही नहीं है। स्नान किए हो या कि नहीं, रात के गन्दे कपड़े में पड़े हो या भोजन कर रहे थे तो मुँह धोया कि नहीं, हाथ में जूठन लगा है कि मुख में जूठन लगा है - इन

बातों का कुछ भी असर नहीं होता है। अनित्यता छूटी और नित्य जीवन का भाव आया नहीं कि सृष्टि भी बदली, आकृति भी बदली, जीवन भी बदला। क्या से क्या हो जाता है। जैसे-जैसे इस बात का परिचय मिलता है वैसे-वैसे लगता है कि हाय रे! हम ने कितने दिन बिछुड़ कर बिताए, कितने दिन तुम्हारी याद के बिना खोए। जीवन का रस जाना ही नहीं। खैर, कोई बात नहीं। अब तक खोए सो खोए, अब नहीं खायेंगे। भक्त शिरोमणि तुलसीदास जी की पंक्तियां हम लोग अपने लिए दुहरा लें -

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं,
राम-कृपा भव-निशा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं।

अब हम लोग नहीं चूकेंगे। जीवन की हर घटना में अपने परम प्रेमास्पद का सन्देशा पाकर सतत जाग्रत रहेंगे, दिव्य-चिन्मय प्रेमरस पाएँगे।

प्रवचन 80

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनों और भाइयों!

बुराई रहित होना - स्थूल शरीर को शुऋ करना है, अचाह होना - सूक्ष्म शरीर को शुऋ करना है और अप्रयत्न होना - कारण शरीर को शुऋ करना है। हम लोगों के सामने प्रश्न यह है कि मन को शान्ति नहीं मिलती और जो समय हम लोग लेते हैं चुप होने के लिए, शान्त रहने के लिए, विश्राम पाने के लिए तो उस समय स्थूल शरीर से काम छोड़ देने पर भी सूक्ष्यम शरीर में अर्थात् मन में इतने प्रकार के चिन्तन आते है कि शान्त रहने का आनन्द नहीं आता - यह दशा है! यह नहीं कह रहे कि कहाँ बैठोगे, कौन वन में कुटिया बनाओगे, कैसे आसन लगाओगे? आँख बन्द करोगे कि कान बन्द करोगे, सो सब कुछ नहीं। यह सब करने से सूक्ष्म शरीर न शान्त होगा न शुऋ होगा। सही उपाय क्या है - कि हमें कर्त्तव्यनिष्ठ होना है, धर्मात्मा होना अर्थात् बुराई रहित होना है। धर्मात्मा होने का अर्थ क्या है? किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई न करना।

अब यहाँ से साधना आरम्भ हो रही है - जीवन में से बुराई का अन्त करो। करने का जो हिस्सा है, वह स्थूल शरीर के द्वारा सम्पादित होता है इसलिए बुराई करना छोड़ दो तो स्थूल शरीर शुऋ हो जाएगा। फिर अचाह हो जाओ, किसी प्रकार की कोई कामना न करों अप्राप्त की कामना ही चाह कहलाती है। अब इतना धन हो जाए, इतना सम्मान मिल जाए, इतने सुख की सामग्री हो जाए, ऐसा पद मिल जाए, ऐसा मकान मिल जाए, ऐसे सगे-सम्बन्धी मिल जाएँ - इस प्रकार की जो इच्छाएँ है, वे इच्छाएँ हैं, वे इच्छाएँ ही व्यक्ति को चंचल बनाती है, उसी से व्यर्थ चिन्तन उत्पन्न होता है। व्यर्थ चिन्तन का नाश करना हो तो सूक्ष्म शरीर को शुऋ करना पड़ेगा। सूक्ष्म शरीर की शुद्धि अचाह होने से होती है चाह छोड़ दो तो सूक्ष्म शरीर शुऋ हो जाएगा। स्थूल शरीर की शुद्धि, सूक्ष्म शरीर की शुद्धि और फिर कारण शरीर की शुद्धि - इसी शुद्धि के आधार पर व्यक्ति को विश्राम मिलता है।

इस रहस्य को बहुत कम लोग जानते हैं। अनेको पंथ हैं, तरह-तरह के विधि-विधान से लोग सिखाते हैं। मानव सेवा संघ के प्रणेता संत ने जीवन की वैज्ञानिकता को सामने रखा और यह कहा कि भाई, जब तुम बुराई रहित हो जाओगे, तब तुम्हारा स्थूल शरीर शुऋ हो जाएगा और बुराई रहित होने से कर्त्तव्यनिष्ठ बनोगे, अर्थात् जो बुराई रहित भलाई करता है वह धर्मात्मा कहलाता है। धर्मात्मा की परिभाषा है - 'बुराई रहित होना।'

कपड़े कैसे पहनते हो? तिलक-चन्दन लगाते हो कि नहीं, कंठी-माला पहनते हो कि नहीं, विशेष प्रकार का रहन-सहन आरम्भ किया कि नहीं? - यह सब तो तुम्हारी मौज की बात है, जी में आए तो करना, नहीं तो मत करना। लेकिन किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई करोगे, तो धर्मात्मा नहीं हो सकते ओर धर्मात्मा होकर संसार में रहना सीख जाओ - यह बहुत बड़ी बात है। योगवित् होने के लिए, तत्त्ववित् होने के लिए, भगवत्-भक्त होने के लिए यह पहला कदम है।

दूसरी बात बता रहे हैं - अचाह होकर सूक्ष्म शरीर को शुऋ करो। हमारा आपका मन जो है, वह सूक्ष्म शरीर का कार्य है। सूक्ष्म शरीर की क्रिया मन की क्रिया कहलाती है। अब मन की शुद्धि चाहिए। शान्त होने के लिए साउण्ड प्रूफ कमरा ;ैवनदक च्तवव ित्वउऋ नहीं चाहिए कि जिसमें बाहर से किसी प्रकार की ध्वनि न आवे तो बड़ा घना ध्यान लग जाएगा, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि बाहर की ध्वनि जो है वह व्यक्ति को उतना ज्यादा परेशान नहीं करती, जितना भीतर की कामनाओं के कारण से उठने वाली क्रियाओं से उसे परेशानी होती है। मन के भीतर अनेक प्रकार की कल्पनाएँ हैं, चहल-पहल है, चिन्तन है। व्यर्थ-चिन्तन से व्यक्ति को जितनी तकलीफ होती है, उतनी तकलीफ बाहर की ध्वनि से और बाहर के दृश्यों से नहीं होती है। अब इस भीतर की तकलीफ को खत्म करना है, इसलिए स्वामी जी महाराज कह रहे हैं कि अचाह होकर सूक्ष्म शरीर को शुऋ कर लो। दो बातें हो गई - स्थूल शरीर की शुद्धि और सूक्ष्म शरीर की शुद्धि।

अब आगे बढ़ें। फिर थोड़ी-थोड़ी देर का जो विश्राम काल चलता है, मानव-सेवा-संघ की पऋति का साधन मूक-सत्संग है, उसके लिए स्वामी जी महाराज कहते हैं कि थोड़ी देर के लिए बिल्कुल शान्त हो जाओ। यह अप्रत्यन होना है। अपना कुछ नहीं है, अपने को कुछ नहीं चाहिए और वर्तमान क्षण में कुछ करना नहीं है। इस प्रकार अप्रयत्न होने से कारण शरीर की शुद्धि होती है।

तीनों शरीरों की शुद्धि का पुरुषार्थ जब आप कर लीजिएगा, तब देहातीत जीवन के अधिकारी बनेंगे। हम लोगों को जो शरीर मिला हुआ है, इससे अलग, बिल्कुल अलग, हमारा एक स्वतन्त्र अस्तित्व है, जिसमें दुःख नहीं है, मृत्यु नहीं है, कोई अभाव नहीं है। अभी उस अस्तित्व का हमें पता नहीं है, वह देहातीत जीवन कहलाता है, वस्तुतः वही जीवन है। शरीरों के साथ मिलकर हम रह रहे हैं तो भूख-प्यास, शीत-गर्मी और अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट, अनेक प्रकार की शारीरिक उत्तेजनाएँ - सबका असर हम पर हो रहा है और जो लोग देहातीत जीवन में रहना सीख जाते हैं उन पर इन सब बातों का कोई असर नहीं होता है, उन्हें कोई तकलीफ नहीं होती है, कुछ कष्ट नहीं होता है। उस देहातीत जीवन तक पहुँचने के लिए तीनों शरीरों की शुद्धि की चर्चा आई।

अब उसका परिणाम देखो! उसमें भी बड़ा भारी वैज्ञानिक सत्य है। वह क्या है? कि जैसे मान लीजिए हम लोग अपने खाने-पहनने का, खेलने-कूदने का सुख लेना चाहते हैं, तो जिसको बहुत ही बढ़िया-बढ़िया स्वादिष्ट भोजन करने का शौक है, जिसको शरीर के माध्यम से सुख लेने की इच्छा है, वह शरीरों का सहारा छोड़ नहीं सकता है। जिसे आँखों से बहुत ही सुन्दर मोहक रूप देखने का शौक हे, वह आँखों का सहारा छोड़ नहीं सकता। जब तक आँखें रहेंगी तब तक देखने का सुख लेगा और आँखें नहीं रहेंगी तो रोयेगा। दिखने और मिटने वाला, बनने और बिगड़ने वाला

शरीर जो है उससे अगर अपने सुख के लिए कुछ करना है तो सुख के भोगी में शरीरों से ऊपर उठने की सामर्थ्य नहीं आती है। वह मान भी नहीं सकता है कि शरीरों के अलवा ओर भी कोई जीवन होता है और भी कोई अस्तित्व होता है। तो समझेगा कहाँ से? और अनुभ्व करेगा कहाँ से? वो तो शरीर को ही सब कुछ मानता है। लेकिन जिन साधकों को विश्राम का चाव है, जो योगवित् होकर उसमें कैसा एक नित्यानन्द का अनुभव होता है - इस बात का शौक रखते हैं, वो शरीरों के सहारे मिलने वाले जगत् के सुखों का त्याग कर देते हैं, जिनको नित्य-योग का शौक है वे शरीरों के सहारे भोग में लगे हुए नहीं रहते हैं। इसलिए महाराज जी ने कहा कि पहले इसी को शुऋ कर लो। शुऋ कर लोगे तो उसका सहारा छोड़ सकोगे। यह पहली बात हो गई। योगवित् होने के लिए, तत्ववित् होने के लिए, भगवद्-भक्त होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति सबसे पहले बुराई रहित हो जाए।

दूसरी बात वे कहते हैं कि जो धर्मात्मा हो जाते हैं अर्थात् शरीरों से अपना कोई सुख नहीं लेते, दुःखीजनों की सेवा में शरीर को लगाते हैं, उनको अपने लिए शरीर की आवश्यकता नहीं रहती। बुराई-रहित हो जाने से शरीर की आवश्यकता ही खत्म हो जाती है।

अब सोचो, कामना की उत्पति का पता हमको कब चलता है? जब मन में अनका चित्र दिखाई देता है। किसी सुन्दर स्वास्थ्यप्रद स्थान में जाने की इच्छा हुई तो एक कामना उत्पन्न हो गई। कामना की उत्पत्ति से व्यक्ति गतिशील हो जाता है, उसकी शान्ति खत्म हो जाती है। जाने के लिए दोड़-धूप शुरू हो जाती है। प्रोग्राम बनाना, इन्तजाम करना - बहुत-सी बातें एक साथ उसके मन में उत्पन्न हो जाती है। उसी के चिन्तन में उसका मन लग जाता है। वहाँ पहुँचने का सुख भी कब सुखद लगता है? जब उसके भीतर कामना थी वहाँ पहुँचने की। और यदि आपका कोई संकल्प नहीं था, अपनी कोई कामना नहीं थी वहाँ जाने की, तो वहाँ पहुँचकर भी आपको कोई विशेष सुख नहीं मालूम होगा - कोई विशेष अन्तर नहीं आएगा आपमें।

कामना की उत्पत्ति मात्र से व्यक्ति के भीतर चिन्तन आरम्भ होता है तो जो सब प्रकार की कामनाओं को छोड़ देगा उसके मन में किसी प्रकार का चिन्तन आरम्भ नहीं होगा। चिन्तन आरम्भ नहीं होगा तो सूक्ष्म शरीर शुऋ हो जाएगा। ऐसे ही आप सोचकर देखिए, कि कामना की उत्पति से ही व्यक्ति के भीतर चिन्तन आरम्भ होता है। जो सब प्रकार की कामनाओं को छोड देगा उसके मन में किसी प्रकार का चिन्तन आरम्भ नहीं होगा। चिन्तन आरम्भ नहीं होगा तो सूक्ष्यम शरीर शुऋ हो गया। अपने लिए सुख लेना छोड दिया तो स्थूल शरीर की जरूरत ही खत्म हो गई। अपने जीवन में से कामनाओं का अन्त कर दिया तो सूक्ष्म शरीर की जरूरत पूरी हो गई ओर अपने द्वारा अप्रयत्न हो गए तो कारण शरीर की जरूरत खत्म हो गई। जिस व्यक्ति के जीवन में शरीरों के रहते-रहते शरीरों की आवश्यकता खत्म हो जाती है, वह योगवित् होने का अधिकारी होता है। यह स्वामीजी महाराज का अनुभूत सत्य है और हम लोगों को वे ऐसा परामर्श दे रहे हैं।

अब इसकी प्रक्रिया देखिए, जिसकी सब लोग चर्चा करते हैं। क्या कहते हैं? कि भाई, इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लो। मन को निर्वकल्प कर लो और बुद्धि को सम कर लो। इन्द्रियों को विषय-विमुख करने की सामर्थ्य किसमें आएगी? जो इन्द्रिय-लोलुप होगा उसमें आएगी या जो संयमी होगा उसमें आएगी? जब तक इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग अपने को

अच्छा लगता है, तब तक इन्द्रियों की शक्ति को मन में विलीन करना सम्भव नहीं है, क्योंकि वो तो बाहर ही बाहर रहें, भीतर से उद्रेक होता रहता है। अब सामने का दृश्य देखेंगे, अब मधुर-मधुर ध्वनि सुनेंगे, अब सुस्वादु वस्तु खाएँगे, अब खेलेंगे, अब मन बहलाएँगे, अब ऐसा करेंगे। इतनी इच्छाओं को लेकर इंद्रियों द्वारा विषयों का सुख लेने की कामना जिसके भीतर है, वह इन्द्रियों को विषय-विमुख नहीं कर सकता। इन्द्रियाँ यदि विषय-विमुख नहीं हुई तो मन शान्त हो ही नहीं सकता। मन की शान्ति इस बात पर निर्भर करती है कि भाई, इन्द्रियों की शक्ति को मन में विलीन कर दो। कर दो तो वो होता है अपने आप से? जो लोग इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सुख पसन्द नहीं करते हैं, उनकी इन्द्रियों की शक्तियां स्वतः ही मन में जाकर विलीन होती है। इन्द्रियों की शक्ति मन में विलीन हो जाए और मन के लिए कोई काम नहीं रहे, क्योंकि अपना कोई संकल्प ही नहीं है, अपनी कोई कामना ही नहीं है तो मन के लिए जब कोई काम नहीं रहा - तो आदमी के मन का पता भी नहीं चलता है कि मेरे पास मन है। यह जीवन का वैज्ञानिक सत्य है।

साधक लोग परेशान रहते हैं, जिससे सुनो वही शिकायत करता रहेगा - अरे! यह मन बड़ा चंचल है, सँभाल में नहीं रहता है, दमन नहीं कर पाते हैं, इसकी चंचालता रुकती ही नहीं - मन के बारे में ऐसी बातें करते हैं जैसे कि मन कोई बड़ा भारी दुश्मन हो लेकिन बात ऐसी नहीं है। साधक की अपनी भूल है और अपनी भूल यही है कि विविध प्रकार की कामनाओं को रखना पसन्द करो और कामना पूर्ति के सुख को पसन्द करो और कामना पूर्ति के प्रयास में लगे रहना पसन्द करो और चंचलता मिटाना चाहो तो नहीं मिटती है। इसलिए सन्त की सलाह है कि भाई। बुराई-रहित हो जाओ तो स्थूल शरीर की जरूरत नहीं रहेगी, यह शुक्र हो जाएगा। इन्द्रियों को विषय-विमुख कर लोगे तो इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रहेगी ओर जब बाहर हमको कुछ देखना ही नहीं है तो कैसा भी दृश्य क्यों न सामने आया हो, जब उसको देखने का सुख ही नहीं भोगना है, तो आँखें खोलने की आवश्यकता ही नहीं है। आँखों की शक्ति देखने में जो खर्च हो रहा है वो मन में जाकर शान्त हो जाएगी। जिसको दृश्य जगत् की आवश्यकता ही नहीं है उसकी इन्द्रियों की शक्ति मन में जाकर विलीन हो जाती है। जीवनी शक्ति जो बाह्य जगत् पर जाकर खर्च हो रही है वह बच जाएगी। आप जब उस शक्ति को बाहर प्रवाहित करने से रोक देंगे, तो वह स्वतः ही भीतर प्रवाहित हो जाएगी। मन में जाकर विलीन हो जाएगी। सर्वेन्द्रियों की शक्तियाँ, सब ज्ञानेन्द्रियाँ, सब कर्मेन्द्रियाँ, सबकी शक्तियाँ अन्तर की ओर, जहाँ से निकल करके आई थीं उधर की ओर प्रवाहित हो जाती है, उद्गम में जाकर लय हो जाती हैं तो बड़ा विश्राम मिलता है। यह योग का पहला कदम आरम्भ हो गया। वृत्ति बहिर्मुखी नहीं रह रही अन्तर्मुखी हो गई, तो एक बहुत बड़ा काम हो गया।

फिर उसके बाद अगर आप कामना रहित हो गए, सब प्रकार की कामनाओं का त्याग आपने कर दिया, अचाह हो गए, तो मन की गतिशीलता भी खत्म हो जाती है। अब मन की शक्ति बुद्धि में विलीन हो जाती है और बुद्धि के लिए भी कोई काम बाकी नहीं रहा। आदमी बैठा है, अब यहाँ से उठकर जाने की कामना पैदा हुई, इच्छा पैदा हुई, तो वो इच्छा पूरी कैसे होगी-इस पर बुद्धि विवेचन करती है - यह इन्तजाम करो, ऐसे करो, ऐसे करो ओर जब अपनी ओर से कोई कामना शेष नहीं रही तो बुद्धि की जरूरत नहीं

रहती। उसका काम खत्म हो जाता है, तो बुद्धि सम हो जाती है, शान्त हो जाती है - इसी को समाधि कहते हैं।

अब अप्रयत्न होने का अर्थ है, मनुष्य के जीवन में अशुभ कर्म का तो कोई स्थान ही नहीं है। शुभ कर्म की भी जब तक उत्पत्ति हो रही है तब तक कारण शरीर का सहारा चाहिए। स्फूर्ति हो रही है भीतर से शुभ कर्म के लिए, तो कारण शरीर से आरम्भ होता है, फिर सूक्ष्म शरीर पर आता है कामनाओं के रूप में, इच्छाओं के रूप में, संकल्पों के रूप में और फिर ज्ञानेन्द्रियों के रूप में, संकल्पों के रूप में और फिर ज्ञानेन्द्रियों के स्तर पर आता है क्रिया के रूप में। जैसे-जैसे हम अपनी ओर से अप्रयत्न होते जाते हैं फिर शरीरों की आवश्यकता नहीं रहती है। तीनों शरीरों के साथ छूट गया, अब अपने को चाहिए नहीं, ऐसे साधक को पूर्ण विश्राम मिलता है। बुराई रहित होना - पहला कदम, अचाह होना - दूसरा कदम, अप्रयत्न होना - तीसरी बात। अब ये तीनों जहाँ पूरे हो जाते हैं, वहाँ व्यक्ति योगवित् हो जाता है।

वृत्तियों को बलपूर्वक रोकने के अभ्यास में और वृत्तियाँ स्वयं ही जाकर अपने उद्गम में विलीन हो जाएँ - इस स्वाभाविकता में बहुत बड़ा अन्तर है। जो कारण शरीर की शान्ति की स्थिति में पहुँच गया, उसके पास मन है कि इन्द्रियाँ हैं - इसका कोई भास नहीं रहता, तादात्म्य-काल में व्यक्ति उसकी कल्पना नहीं कर सकता है। शान्त होते ही शरीर के रहने का भार अपने पर नहीं होता है। तो स्थूल शरीर का भार खत्म हो गया ओर मन में किसी प्रकार का चिन्तन नहीं रहा, कोई कामना ही नहीं रही, तो आदमी को यह पता भी नहीं चलता कि मेरेे पास मन है। मन का भार भी अपने पर नहीं रहता और यह सोचकर देखो, कैसी दुर्दशा है? - किसी काम को करना है आपको, ओर उसमें मन नहीं लगता है और जबरदस्ती आप करना चाहते हैं तो मन का बड़ा भार मालूम होता है, आपने कभी अनुभव किया है? अब क्या करें मन लगता ही नहीं लेकिन काम तो करना ही है। मन लगे नहीं ओर जबरदस्ती उस काम को करना चाहो तो बड़ा भार मालूम होता है।

ऐसे ही जिस समय आप योगवित् होना चाहते हैं, विश्राम के सम्पादन में हैं, तो आप चाहते हैं कि किसी प्रकार का चिन्तन न हो और जब भीतर से एकदम चिन्तन का तूफान उठता है, अभी कुछ, अभी कुछ, एक पर एक, भूत-भविष्य के चिन्तन से मस्तिष्क जब भरता है, तो चिन्तन वाले मन का भार अपने को ढोना पड़ता है, तो बहुत कठिन मालूम होता है। ऐसा लगता है कि मन नहीं होता तो अच्छा था। जिन लोगों में विश्राम-सम्पादन की बात सिऋ हो जाती है उनको पता ही नहीं चलता है कि मेरे पास शरीर है या नहीं, कि मेरे पास मन है या नहीं। तन और मन के आभास से वे छूट जाते है। कितनी बार ऐसा भी अनुभव हुआ है कि जिस समय ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की शक्तियाँ मन में जाकर विलीन हो जाती है और मन की शक्ति जाकर बुद्धि में विलीन होती है तो किसी स्पर्श-संवेदना का भास भी अपने को नहीं रहता है। तब क्या रह जाता है? एक परम शान्तिमय अस्तित्व रह जाता है, जिसमें न तन का भार है न मन का भार है। तन से छूट गए तो स्थूल शरीर से छूट गए और मन से छूट गए तो सूक्ष्म शरीर की मुक्ति मिल गई।

अब रह गयी केवल कारण शरीर की स्थिति की शान्ति! वहाँ एकदम शान्ति रहती है ओर वो शान्ति ही अपना अस्तित्व मालूम होती है। उसी को भौतिक विकास की चरम सीमा बताया गया है।यह समाधि जो है - बुद्धि का सम हो जाना

- इसको श्री महाराज जी ने भौतिक विकास की चरम सीमा बताया क्योंकि अभी कारण शरीर वहाँ बना हुआ है। जो साधक कारण शरीर की शान्ति की गाढ़ता में अलौकिक शक्ति की वृद्धि कर लेते हैं, उनका रस शरीर से भी तादात्म्य छूट जाता है और तब वे नित्य-योग का आनन्द लेते हैं। सब प्रकार के शरीरों से सम्बन्ध छूट जाए, तो नित्य-योग में तत्त्वबोध होता है ओर तत्त्वबोध में परमप्रेम होता है।

योग-बोध-प्रेम मानव के विकास की सबसे ऊँची बात है। यह जब पूरा हो जाता है तो सब प्रकार के दुःखों का अन्त हो जाता है, अभाव मिट जाता है, रसमय आनन्द से जीवन भर जाता है। मैंने भगवत-भक्त सन्तों को देखा है जिनकी इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो गई है और परमात्मा से मिलकर प्रेम के प्रभाव में जिनका मन बिल्कुल डूब गया है।

यह भी एक बड़ा रहस्य मुझको मालूम होता है कि तन, मन और इन्द्रियों की शक्तियाँ जो हम लोगों के व्यक्तित्व में काम करती हैं - ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ समष्टि शक्ति से निकली हैं Universal Energy जिसमें से निकल-निकल कर छोटे-छोटे रूपों में हमारे व्यक्तित्व में काम कर रही है। समष्टि शक्ति का भी स्रोत कहाँ है? अनन्त शक्तिमान परमात्मा है। अनन्त शक्तिमान परमात्मा में से शक्तियाँ निकल कर हम सब लोगों के व्यक्तित्व में काम कर रही हैं। इनको जब हम लोग बाहर की ओर से भीतर की ओर मोड देते हें, तो जैसे जल की धारा बह रही है और सामने से उसको रोक दीजिए तो किधर जाएगी? पीछे की ओर बह जाएगी। अगर आगे से उसको जाने का रास्ता नहीं दोगे और वहाँ जल बढ़ जाएगा तो धारा जिधर से आयी है उधर ही लौट जाएगी। ऐसे ही होता है। बाहर की ओर से उसको बहने ही नहीं दो, तो वो पीछे की तरफ लौट जाती है। पीछे की तरफ जाकर जब वह उसमें मिल जाती है, जिसमें से निकली थी तो वह नित्य-योग कहलाता है। उसके लिए यह पूरा इन्तजाम हम लोगों को करना है - ऐसा स्वामी जी महाराज का परामर्श है। अगर इतना हो गया तो आप मृत्यु ंजय हो गए। तब शरीर के नाश की घड़ी आएगी तो कैसा लगेगा? जैसे कि एक मशीन अभी बोल रही थी, काम कर रही थी और अब बन्द हो गई - ऐसा लगेगा। आप बिल्कुल निश्चिन्त और बिल्कुल आनन्द में अलग से देखते रहेंगे कि शरीर रूपी यह मशीन अभी बोल रही थी, इसमें से कण्ठध्वनि निकल रही थी, अभी कुछ हो गया, यह टूट गई, मशीन बन्द हो गई। अपने पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता, यदि आपने देहातीत जीवन के विश्राम में रहना सीख लिया है तो। कुछ नहीं, उसका कोई असर अपने पर बिल्कुल नहीं हो सकता। यह है योगवित् होने का अर्थ, और इसी को जीवन-मुक्ति कहते हैं।

जो जीवन होता है शरीरों से अतीत का, वो अविनाशी भी होता, आनन्दमय भी होता है और प्रेममय भी होता है। कहाँ से आरम्भ करेंगे हम लोग? कैसे हम इस जीवन में विश्राम का सम्पादन करेंगे? - यह सब साधकों की अपनी-अपनी तैयारी की बात होती है। जो लोग स्थूल शरीर में ही फँसे हुए हैं, उनके लिए बुराई रहित भलाई करना अनिवार्य है। बहुत परिश्रमपूर्वक खूब काम करना चाहिए। महर्षि दयानन्द जी से एक बार किसी ने प्रश्न किया, कि आपने काम को कैसे जीता? तो उन्होंने कहा-काम करके।' भीतर की जो वासना है उस पर कैसे विजय प्राप्त की आपने? तो महर्षि ने उत्तर दिया, 'परिश्रम के द्वारा।'

जो साधक अभी स्थूल शरीर पर विकारों में ही फँसे हुए हैं उनको चाहिए कि खूब

परिश्रमपूर्वक सेवा कार्य करें। फिर उससे ऊपर उठें। तब क्या करें? चैबीस घण्टे में से कुछ घन्टे शरीर से खूब काम कर लें और काम करने के बाद उसके आगे के जीवन में शान्तिपूर्वक रहे। परिश्रमपूर्वक शुऋभाव से सर्वहितकारी काम करना और काम करने के बाद शरीर और संसार से असंग होकर शान्त रहना, यह क्रम बनाया जाए प्रतिदिन का, तो अच्छा रहेगा, विकारों पर विजय प्राप्त की जा सकेगी, सेवा करके। सूक्ष्म शरीर को शुऋ किया जा सकेगा, अचाह होकर और कारण शरीर से छुट्टी ली जा सकती है अप्रयत्न हो करके। तो धर्मात्मा होना, अचाह होना और अप्रयत्न होना - ये मौलिक बातें हैं, कि जिनमें योगवित् होना, तत्ववित् होना और भगवद्-भक्त होना असम्भव होता है। ये ही चार वाक्य इतन गहन गम्भीर निकले कि इस पर विचार करते रहो, इस पर चलने की कोशिश करते रहो तो अपने आप ही भीतर से इतना विकास हो जाएगा कि फिर किसी से कुछ पूछना शेष नहीं रहेगा।

कभी-कभी साधक ऐसा अनुभव करते हैं कि जब बुराई-रहित होने के लिए कोई नियम ले लेते हैं जैसे - हमें यह नहीं करना है तो उसमें मन ज्यादा जाता है और तब तक उसको कर नहीं लेते हैं तब तक उससे छूट नहीं पाते हैं। यह एक प्रैक्टिकल प्रोबलम ;च्तंबजपबंस च्तवइसमउऋ आती है साधनकाल में। बात ऐसी है कि साधक उस बुराई में से अपनी निष्ठा को नहीं हटाता। देखिए-बुराई करने वाले को बुराई करने में केवल दुःख मिलता हो, ऐसा नहीं होता है। इन्द्रियों को बिल्कुल असंयमित छोड़ देना एक बुराई है। असंयमित छोड़ देने में केवल दुःख मिलता हो, ऐसा नहीं होता।

तत्काल पहले थोड़ा सुख होता है, बाद में दुःख होता है। जो लोग ऐसा अनुभव करते हैं, कि हमने सोचा था कि यह बुराई नहीं करेंगे और किए बिना रहा नहीं जाता है और अपने को रोकना चाहते हैं तो भीतर से ओर अधिक वेग पैदा होता है - तो इसका मतलब यह है कि उस सुख के प्रलोभन का त्याग आपने नहीं किया। केवल उस सुख की क्रिया को रोकना पसन्द किया है। क्रिया के पीछे सुख का प्रलोभन अगर जीवन में रहेगा तो क्रिया कैसे रुकेगी? जितना रोकोगे उतना ही भीतर से वेग बढ़ेगा। इसलिए प्रलोभन को छोड़ो। जहाँ-जहाँ व्यक्ति को ऐसी असमर्थता लगे कि अमुक बुराई को छोड़ने में मैं हार रहा हूँ - ऐसा पता चले तो सर्व सामर्थ्यवान से शक्ति माँगनी चाहिए। बुराई को मैं बुराई करके जानता हूँ और अपने द्वारा उसको छोड़ने में मैं हार रहा हूँ तो हे समर्थ! आप मेरी रक्षा करें। इस प्रकार अगर समर्थ स्वामी से शक्ति माँगोगे और आवश्यकता अनुभव करोगे तो उनके बल से तुम्हारी बुराई खत्म हो जाएगी।

अपने भीतर वृत्ति को शान्त रखने में और अन्तर्मुख होकर अपने उद्गम से मिलने में अलौकिक आनन्द है। जीवनी शक्ति को बाहर की ओर प्रवाहित करने में योगवित् सन्तों को बड़ा भार लगता है। एकदम पसन्द नहीं आता है। ऐसा ही कभी अवसर आ गया तब वे किसी तरह बहिर्मुख होते हैं। ऐसा है यह अलौकिक आनन्द! और मुझे बहुत स्वाभाविक लगता है, यह बिल्कुल सच्ची बात है। उद्गम से बिछुड़ जाने के कारण ही जीवन में इतनी नीरसता भर गई कि हम लोग बाहर-बाहर जगह-जगह रस खोजते फिर रहे हैं। नहीं तो बाहर से अन्दर जाने की प्रक्रिया एक बार आरम्भ हो जाए, तो फिर आप उस उद्गम से मिले बिना, उस नित्य-योग से सम्पन्न हुए बिना रास्ते में रुक ही नहीं सकते हैं। ऐसा आनन्दमय है वह जीवन!

प्रवचन 81

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

हम सब लोग मानव हैं। मानव होने का अर्थ है, कि हम सभी साधक हैं। साधक होने का अर्थ है कि हमें इसी वर्तमान में सफलता मिलनी चाहिए। सफलता का अर्थ क्या है, कि जन्म-मरण की बाध्यता मिट जाए, जीवन में से अभाव का अभाव हो जाए और जीवन को जैसा हम लोग देखना चाहते हैं वैसा हो जाए।

ईश्वर-विश्वासी साधकों के लिए एक बड़ी कठिनाई रहती है और विचारकों के लिए भी यह कठिनाई रहती है कि वे मन और चित्त को जहाँ से हटाना चाहते हैं, हटा नहीं पाते और जहाँ लगाना चाहते हैं लगा नहीं पाते। तो उनकी एक बड़ी समस्या रहती है कि मन को, चित्त को कैसे संसार से हटाएँ, कैसे शान्ति में स्थित करें और कैसे परमात्मा में लगाएँ? यह जो एक संघर्ष है साधक के जीवन का, उससे अनुभवी सन्त का हृदय बड़ा ही द्रवित होता रहता था और बहुत ही करुणित होकर वे कहा करते थे कि भैया, साधना भी ऐसी कोई बला है क्या कि तुम्हारे सिर पर एक और कठिनाई पैदा कर दे? संसार में तो कठिनाइयाँ थीं ही, तुम जो-जो चाहते थे सो सब संसार में नहीं कर सके। जितना सुख चाहते थे नहीं मिला, जैसी सन्तान चाहते थे नहीं मिली, जितनी मान-बड़ाई प्रतिष्ठा चाहते थे नहीं मिली। संसार में तो तुम्हारी असफलता थी। जितना-जितना तुमने चाहा, तुम्हारे भीतर का अभाव उतना ही उतना बढ़ता चला गया, घटा नहीं। शान्ति नहीं मिली। सारे जीवन का थका हुआ आदमी जब मेरे पास आता है तो मैं भी उससे कहूँ-ऐसा करो, ऐसा करो और फिर वह करने चले तो उससे हो नहीं। साधन भी कोई मुसीबत है क्या?

साधना का अर्थ है कि तुमको अशान्ति से शान्ति की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर, अभाव से अनुराग की ओर बढ़ने में मदद मिले। शान्ति, अमरत्व और परम-प्रेम की सरसता - यह तो ऐसे तत्व हैं जो सब भाई-बहिनों को बहुत पसन्द हैं। इनमें तो अभाव है नहीं। इनमें तो थकावट है नहीं। इनकी साधना ऐसे कैसे हो सकती है कि आप स्वाधीन होना चाहते हों और पराधीनता अनुभव करके दुःखी होते रहें। जब आप सोचकर मुझे बताइये, कि जब आप भगवान में मन लगाना चाहते हैं और नहीं लगता, उसको शान्त और स्थिर करना चाहते हैं पर वह स्थिर नहीं होता है, तो स्वाधीनता मालूम होती है कि पराधीनता? पराधीनता मालूम होती है न? तो यह साधन का तथ्य भी ऐसा है क्या? परम स्वाधीन जीवन से अभिन्न होने का अभियान आपने आरम्भ किया ओर उसमें भी एक घोर पराधीनता घुस गई आपके पास - कि क्या करें यह तो होता ही नहीं है। तो ऐसी बात नहीं है।

आज इस बैठक में ऐसी साधना की चर्चा भी हो जाए कि जो-जो भाई-बहन इस दिशा में आगे बढ़ने के इच्छुक हैं, वे ऐसा करने को सोच सकें। जीवनी शक्ति जो हम लोगों को भीतर-बाहर सब तरफ गतिशील रखती है, वह जीवनी-शक्ति जब तक विभिन्न भागों में बँटी हुई है और बाहर की ओर प्रवाहित हो रही है, तब तक हम धीरे-धीरे क्रमशः प्राणहीन होने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। अब संसार के सम्पर्क में, सुखों के भोग में जीवनी शक्ति को गँवा देने पर क्या होता है कि शान्ति, मुक्ति और भक्ति जो अमरत्व की ओर ले जाने वाली बातें हैं जो नित्य तत्व है, जिससे अभिन्न होकर जीवन पूर्ण होता है, वह प्रोग्राम अपना शेष रह जाता है और उसके पूरा होने से पहले प्राण-

शक्ति खत्म हो जाती है। तो उपाय क्या किया जाए? सहज शब्दावली में मैं कहूँ, तो ऐसा कहना पड़ेगा कि मनुष्य के जीवन में सत्य की अभिव्यक्ति के उपाय है: विश्राम और हरि आश्रय। कहने के लिए बहुत से शब्द कहे जा सकते हैं, लेकिन ऐसी बातें जो हर प्रकार के साधकों को और हर परिस्थिति के साधकों को मदद दे सकें, वो ही मानव-सेवा-संघ के सिद्धान्त हैं। वहीं मैं आपके सामने प्रस्तुत करूँगी।

हरि-आश्रय और विश्राम: ये दो ऐसे साधन हैं कि जिनके अनुसरण से सभी भाई-बहनों का कलयाण हो सकता हैं विश्राम का अर्थ क्या है? विश्राम का अर्थ यह है कि जहाँ पर आपको शरीर का भार भी अपने पर न रखना पड़े, किसी प्रकार की चिन्ता, भय अथवा प्रलोभन न रहे तो यह विश्राम कहलाता है। मानव के जीवन में विकास का एक मार्ग है: विश्राम का सम्पादन, शान्ति का सम्पादन। यह एक विशेष मार्ग है। तो विश्राम कैसे मिलेगा? आप कहेंगे कि भाई हम तो प्रतिदिन यही करते हैं, सोकर उठे तो दिनभर कुछ-कुछ काम किया और रात्रि हो गई, थकावट लग गई तो सो गए - विश्राम हो गया। सो नहीं! विश्राम उसे नहीं कहते।

वैज्ञानिक सत्य यह है कि प्रकृति के द्वारा विवश किए जाने पर, निद्रा की जड़ता में डूबकर भी मनुष्य सही विश्राम नहीं पाता है। क्यों? क्योंकि जाग्रत में जिस जगत् में वह लिप्त था, निद्रा में भी वह उसी जगत् का चित्र देखता रहता है! स्वप्न क्या है? उसी जगत् का चित्र है। जाग्रत अवस्था में जो कर्म के रूप में था, विकार के रूप में था, निद्रा की जड़ता में वह स्वप्न-चित्र बनता रहता है तो विश्राम नहीं मिलता, वहाँ भी गतिशीलता है। जिस विश्राम में अमरत्व का आनन्द आता है, जिस विश्राम में अविनाशी योग होता है, जिस विश्राम में वह परम प्रेमास्पद प्रभु अपना प्रेम अभिव्यक्त करते हैं, वह विश्राम इस निद्रा की जड़ता से भिन्न है। यह कैसा है? कि चेतना तो पूरी रहे, सचेत रहें आप, पूरी सजगता में रहते हुए भी मन से, तन से, बुद्धि से किसी प्रकार का काम न लें। तन को, मन को, बुद्धि को किसी प्रकार के काम में न लगाएँ। कर्म और चिन्तन से अलग होकर जाग्रत अवस्था में जो शान्त रह सकता है, उसे विश्राम मिलता है और उस विश्राम में अविनाशी तत्व अभिव्यक्त होते हैं।

सब भाई-बहनों को जागृत-सुषुप्ति, जाग्रत-विश्राम के लिए सजग रहना चाहिए और उसकी तैयार में लगना चाहिए। तैयारी में क्या-क्या बातें हो सकती है? सबसे पहले कि अगर पसन्द आवे तो आप जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलिए कि भाई, सुख भोगने के लिए तो कुत्ते, बिल्ली संसार में बहुत हैं। सुख भोगना और दुःख को निमन्त्रण देना, प्रवृत्तियों में रत रहना और थक करके मर जाना-यह मनुष्य के जीवन का उद्देश्य नहीं है। मनुष्य के जीवन का उद्देश्य क्या है? कि शरीरों के नाश होने से पहले अपने को अमरत्व का आनन्द आ जाना चाहिए, शरीरों के नाश होने से पहले अनन्त परमात्मा के लिए प्रेम में डूब जाना चाहिए। मेरा सम्पूर्ण अहम् प्रेम की धातु में परिवर्तित होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करे - यह तो भावुक भक्तों की धारणा है और मेरे जीवन के सब विकार नष्ट हो जाएँ और हम अपने निजस्वरूप में, अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाएँ यह विचारकों की धारणा है। सन्त कबीर ने कहा है -

'तन थिर, मन थिर, वचन थिर, सुरति निरति थिर होय,

कहे कबीर वा क्षणक को कल्प न पावे कोय।'

आज तक हम लोगों ने इस दिशा में सोचा ही नहीं कि श्रम में जो सुख हमें मालूम हो रहा है, उससे कहीं अधिक असंख्य गुणा आनन्द विश्राम में है। यह सोचा ही नहीं। क्रियाशीलता का वेग जब तक शरीर में रहता है, तब तक मनुष्य को कुछ करने में मजा आता है। क्रिया का वेग जो भीतर उत्पन्न हो रहा है, किसी साधन से उस वेग का निष्कासन होने से व्यक्ति को अच्छा लगता है। एक तो अच्छा लगना - यह हो गया और दूसरा - अच्छा क्यों लगता है? - कि जब हम कुछ करते हैं तो उसके बदले में हमको थोड़ा सा सुख सम्मान की परिस्थिति बनती है। घर के भीतर भी माताएँ, बहनें जहाँ अच्छी तरह से परिश्रमपूर्वक घर को सँभालने वाली हैं, उनको दोनों तरह का सुख मिलता है। तो जहाँ भी कहीं व्यक्ति परिश्रमपूर्वक काम करता हे, उसको भीतर से भी एक आराम मिलता है और बाहर से भी सुख सम्मान की परिस्थिति बनती है। इस आने-जाने वाली परिस्थिति के बीच अपने को डालकर हम लोग ऐसे मस्त हो जाते हैं और इस घोर पराधीनता काल में भी अपने को बड़ा सुख मालूम होता है, बड़ा मजा आने लगता है। फिर जब उसी प्रकृति के विधान से शरीर की शक्तियां घटने लग जाती हैं तो आदमी थकित होकर बैठने लगता है। मनुष्य होने के नाते विवेक के प्रकाश में क्यों नहीं देखते हो? यह शक्ति तो खर्च हो रही है, यह चली जाएगी तब जीवन का आधार क्या होगा? ऐसा सोचना चाहिए।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में काफी दिनों तक काम किया मैंने। एक रोग का विवरण आता है वहाँ, Involutional melancholia कहलाता है। साठ-पैंसठ बरस के बाद, retirement के कुछ काल बाद व्यक्ति के भीतर एक ऐसा depression एक ऐसी गहरी हीनता का भाव पैदा हो जाता है कि 'हाय! मैंने कुछ नहीं किया, कुछ नहीं पाया' - ऐसी एक फीलिंग (feeling) हो जाती है, यह Involutional melancholia कहलाता है। हमारे ऋषि-मनीषियों ने, जीवन के विज्ञान और दर्शन जानने वालों ने चंजजमतद व िसपमि जीने की जो जीवन-शैली हे, उसको इतना बढ़िया सैट किया कि शरीर की शक्ति घटने से पहले और कर्म की दृष्टि से असमर्थता आने से पहले आन्तरिक शक्ति के विकास में लगकर मनुष्य इतना आनन्दित हो जाता है कि उसको उमसंदबीवसपब होने की जरूरत नहीं पड़ती। बेटे-बेटी समर्थ हो गए तो माता-पिता वानप्रस्थी हो गए और समाज की सेवा की शक्ति घटने लगी तो सन्यासी हो गए। भीतर की आन्तरिक शक्ति और आन्तरिक आनन्द इतना बढ़ जाता है कि कमचतमेे मक होने का चवपदज आने की कोई जरूरत ही नहीं रहती। डिप्रैशन ;क्मचतमेेपवदक्ष तब न होगा, जबकि काम करने की शक्ति घट गई और विश्राम मिला नहीं, हाथ-पाँव ढीले हो गए, आँख से दिखाई देना बन्द हो गया और देखने-सुनने की वासना मिटी नहीं। तब तो आदमी क्मचतमेे मक होगा ही। 'हाय, मैंने कुछ नहीं किया, मैंने कुछ नहीं पाया' - यह तब कहेगा।

अब विचार करना है कि साधना की शैली कैसी हो? साधना की शैली ऐसी हो कि कर्म करो, परिश्रमपूर्वक करो ओर ऐसे ढंग से करो कि करने की क्षमता तुम्हारी बनी रहे, लेकिन कर्म करने की आवश्यकता खत्म हो जाए। यह शैली आप पसन्द करेंगे कि नहीं? यह हिन्दू की पसन्दगी है कि मुसलमान की? बुक्ष, जैन, ईसाई - किसी मजहब की बात यह नहीं है। यह मानव-मात्र का सत्य है कि काम करने की शक्ति सदा एक समान नहीं रहेगी। जब हम जन्में थे तो असमर्थ थे, आगे

बढ़ेगे तो असमर्थता आएगी। थोड़े ही दिन का तो मामला है भाई। जैसे ही अच्छे दिन आए शरीर में काम करने की शक्ति आई, स्फूर्ति और प्रकृति के विधान से विशेष प्रकार का क्षेत्र मिला, तो उसी में जल्दी-जल्दी ऐसे ढंग से क्यों न काम करो कि सन्ध्या आने से पहले उबार हो जाए।

Light of Asia एक ग्रन्थ है। उसमें एक जगह मैंने पढ़ा, राजकुमार सिद्धार्थ दुःख-निवृति का प्रश्न लेकर, युवावस्था में सन्यासी हो गए थे। एक नगर से होकर जा रहे थे। परम कारुणिक सन्त बहुत धीरे-धीरे जमीन पर पाँव रखते थे। बड़ा सुन्दर वर्णन है उनके जीवन का: How softly he walks, how sweetly he looks!

बहुत मधुर दृष्टि से सृष्टि को देखते हुए और बहुत कोमल-कोमल चरणों से धीरे-धीरे धरती पर पाँव रखते हुए - कि जिसमें किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचे-ऐसे सन्त एक नगर से होकर जा रहे हैं। युवावस्था, राजवंशी राजकुमार, अत्यन्त रूपवान, स्वस्थ शरीर, सन्यासी वेष है और मुखमण्डल पर परम-शान्ति। दृष्टि में अत्यन्त प्रीति, हृदय में करुणा और चलने की गति में कोमलता है जिसके - ऐसा एक सन्यासी नगर से होकर जा रहा है तो दूर से स्त्रियों ने देखा। उनको बड़ा कौतुहल हुआ कि ऐसा रूपवान, राजवंशी राजकुमार और युवावस्था! और यह कैसे सन्यासी हो गया? किसी ने व्यंग्य से प्रश्न किया - 'बाबा बड़े सवेरे?' बड़ी जल्दी निकले हो बाबा, क्या बात है? तो दृष्टि नीचे की ओर करके हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और सिर झुकाकर अत्यन्त कोमल वाणी में, बड़ी दृढ़ता के स्वर में उस युवक सन्यासी ने उत्तर दिया - 'देवी, न मालूम कब सन्ध्या हो जाए।'

सूर्योदय और सूर्यास्त की घड़ियाँ तो गिनी हुई हैं, अपनी घड़ियाँ तो गिनी हुई नहीं हैं। कब सवेरा हुआ और कब शाम हो जाएगी - कोई जानता ही नहीं है। ऐसे ही मैं अपने भाई-बहनों को याद दिला रही हूँ कि कर्म क्षेत्र में प्रवेश करने की सामर्थ्य जब मिले, तो अपने जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण बनाकर प्रवेश करो - कि हम इसमें प्रवेश तो कर रहे हैं, परिश्रमपूर्वक उपार्जन करेंगे, उदारतापूर्वक वितरण करेंगे, मर्यादापूर्वक शरीर को सँभालेंगे और इन सारी साधनाओं से परे, शरीर की शक्ति घटने से पहले, अविनाशी की परम-शान्ति में आनन्दित हो जाएँगे, नित्य-योग में अमर हो जाएँगे, परम प्रेम से सराबोर हो जाएँगे। तो साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिए यह पहला कदम है, अतः अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण को स्थिर करिये।

अब नियम पर आ जाइये। प्रातःकाल चार-पाँच बजे के बीच में उठकर थोड़ी देर शान्तिपूर्वक बिस्तर में ही अपनी जगह बैठे रहिए। निद्रा सताती हो तो आँख, मुँह धो लीजिए और रात्रि में सोने के समय अगर भारी भोजन हो, गरिष्ट भोजन हो तो आलस्य रहता है, उठ करके थोड़ी लम्बी गहरी साँस ले लीजिए और फिर बिस्तर में बैठ जाइए! थोड़ी देर के लिए शान्त होकर अपने से पूछिए कि जीवन के इतने क्षण जो बिता दिए संसार में, तो कौन-सी ऐसी उपलब्धि है जो शरीर के नाश के बाद मेरे संग जाएगी? पूछो अपने से। बहुत कुछ किया यहाँ आकर और बहुत कुछ पाया, लेकिन प्रातःकाल बैठ करके, शान्त वातावरण रहता है उस समय, सन्त लोग उसे ब्रह्म-मुहूर्त कहते हैं उस समय अकेले अपने से पूछो कि एक-एक क्षण में मृत्यु तो निकट आ रही है, हर साँस के साथ संचित प्राण-शक्ति खर्च हो रही है, तो अब तक जो कुछ मैंने संग्रह किया, प्राप्त किया, पढ़ना-लिखना किया, धन इकट्ठा किया, कुटुम्ब बनाया - जो भी कुछ किया संसार

में, उसमें से कौन-सा ऐसा भाग है जो कि शरीर के नाश के बाद भी मेरे जीवन को सहारा देगा, मुझको सन्तोष देगा, मेरा साथ देगा, मेरे संग रहेगा? ऐसा प्रश्न अपने से करिए ओर उत्तर में अगर यह मिले कि जब यह शरीर ही यहाँ रह जाएगा, तो इसके द्वारा जो भी कुछ मैंने किया, वह कुछ भी हमारा साथ नहीं देगा - अगर यह उत्तर आपको अपने में से मिलेगा तो चेतना आ जाएगी, जागृति आ जाएगी।

काम करते समय इस वैज्ञानिक सत्य को सामने रखो कि क्रिया-शक्ति के वेग को खर्च करने के लिए काम करना है। बचपन में समाज ने सहयोग दिया है तो आज समाज को सहयोग देने के लिए काम करना है। अन्त में फिर असमर्थता की घड़ी आ रही है, फिर समाज से सहयोग लेना पड़ेगा तो थोड़ा-सा जो समय मिला अपने को-कि संसार के लिए, परिवार के लिए कुछ करने के लायक हुए तो उस समय व्यक्तिगत सुख-भोग को न सोचकर परिवार और समाज के हित को सोचकर काम करो। इससे करने का राग भी मिट जाएगा ओर करने की शक्ति घटने से पहले, कर्म से ऊपर उठने की सामर्थ्य आ जाएगी। कामनाओं की शान्ति भंग होती है तो कामनाओं का संवरण करोऋ और कुछ करने से कुछ मिलेगा, तो जो मिलेगा उस पर मेरा निर्वाह होगा - इस भ्रम को दूर करो। कुछ करने से कुछ मिलता है और जो मिलता है वह शरीरों के ही काम आता है - इस बात को जानकर किए हुए कर्म और कर्म से उत्पन्न होने वाली सामग्री और उस सामग्री से की जाने वाली शरीर की सेवा, यह सब साधन रूप हो जाना चाहिए।

दूसरी बात है - हरि आश्रय! हरि आश्रय में भी परम विश्राम मिलता है। वह क्या है, कि आस्था, श्रद्धा, विश्वास की दृष्टि से अनन्त परमात्मा को परम आश्रय-सर्वउत्पत्ति का आधार, सर्वप्रतीति का प्रकाशक मानकर उसी को जब अपने जीवन का आधार बना लो तब विश्राम मिलता है। 'अखिल लोक विश्राम' कहा गया है उनके सम्बन्ध में। तो आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक परमात्मा को अपने जीवन का आधार बना लेना - यह भी एक मुख्य बात है मनुष्य के जीवन को शान्त करने के लिए। भावुक हृदय के लोग, श्रद्धालु प्रवृत्ति के लोग सहज से इस बात को स्वीकार कर लेते हैं। जो इस बात को सहज रूप से नहीं मानते हैं, उनको फिर सत्कर्म के द्वारा करने के राग से निवृत्त होना, सत्संग के द्वारा सत्-असत् का विवेचन करना, इन्द्रियों को विषय-विमुख करके, मन को निर्विकल्प करके, बुद्धि को सम करके तीनों शरीरों से असंग होकर देहातीत जीवन में परम विश्राम पाना - यह एक क्रम स्वीकार करना पड़ता है।

विश्वास की दृष्टि से और विचार की दृष्टि से - दोनों ही दृष्टियों से - हम लोग साधक होकर जीवन को साधनमय बना सकते हैं। जो प्रभु को अपना आधार मानकर उनका आश्रय लेते हैं और उनके होकर रहना पसन्द करते हैं उनको आराम मिलता है। एक आराम की बात तो मैं निवेदन कर दूँ आपको, जो सहज से पकड़ में आ जाएगी, वह क्या है; कि हम सब लोगों ने ईश्वर की सत्ता को तो माना है, और वे ही अपने नित्य सम्बन्धी हैं, ऐसा भी सन्तों के कहने से हमने माना है। क्यों? क्योंकि उनके अतिरिक्त सदा-सदा के लिए साथ देने वाला समबन्धी संसार में कहीं कोई नहीं मिलता, इसलिए उनको माना। जिन्होंने सत्ता को स्वीकार किया, जिन्होंने उनसे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया, उसका दैनिक क्रम कैसा बनता है? प्रातः सोकर जगते ही वे शान्त होकर बैठते हैं और अपने जीवन के आधार, परम प्रेमास्पद परमात्मा

को याद करते हैं और याद करके अपनी सम्पूर्णता में सब विकारों सहित, सब दुर्बलताओं सहित अपने को उनके समर्पित करते हैं। किस दृष्टि से? कि एक तो उनके जीवन का मन्त्र है कि 'मैं तुम्हारा ही होकर रहूँगा' और दूसरा यह है कि 'अपनी भूलों से मैंने तन को, मन को, सबको असमर्थ कर लिया। तो हे समर्थ स्वामी! आपकी शरण में यह जीवन समर्पित है, आप अपनी कृपा से इसको सँभालें' - ऐसी भावना दिल में लेकर आप अपने को छोड़ दीजिए।

सद्गुरुदेव ने मुझको यह सलाह दी और कहा कि जिस समय तुम अपनी ओर से सब प्रकार का प्रयास छोड़ दोगे, सर्व-समर्थ स्वामी की कृपामयी गोद में अपने को छोड़ दोगे, उस समय तुम्हारा अपना अहम् जो है वह नरम हो जाएगा, कोमल हो जाएगा और मुझे कुछ नहीं करना है, मेरे मालिक समर्थ हैं, मेरे रक्षक समर्थ हैं, मेरे कर्ता समर्थ हैं - ऐसा मानकर उनकी कृपा-शक्ति के आश्रित हो जाओगे, तो जितनी देर तुम अहम् शून्य होकर कृपाश्रित होकर रहोगे, उतनी ही देर में प्रभु की कृपा शक्ति तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरों के विकारों का नाश कर देगी।

सन्तजन कहते हैं कि अपनी ही भूल से संसार के संयोग-जनित सुख-भोग के लालच में हमने इतने प्रकार के मन में, तन में रोग पैदा कर लिए और भैया, अब तुम असमर्थ हो गए हो, अपने को सँभाल नहीं सकते हो, तो भी कोई बात नहीं। एक समर्थ पिता है तुम्हारा, तुम अनाथ नहीं हो। क्यों सोचते हो कि अपनी जिन्दगी को मैंने स्वयं बिगाड़ लिया, सुधरेगी नहीं। तुम अनाथ थोड़े हो। अपनी ओर की चेष्टाओं को छोड़ करके एक बार उसकी कृपामयी गोद में विश्राम ले लो - यह कहलाता है समर्पण योग।

अहं भाव के बने रहने से द्वैत का भास होता है, वेदान्त के उपदेश भी आपने सुने होंगे, पढ़ा भी होगा। अहं भाव जब तक बना रहता है, तब तक द्वैत का भास रहता है और जब तक 'मैं' और 'यह' दो का भास रहता है, तब तक वासनाओं के उदित होने का खतरा रहता है। ईश्वर-विश्वासियों के लिए ईश्वर-विश्वासी सन्त ने यह सलाह दी कि जब तुम अपने अस्तित्व को अपने हाथ पर नहीं रखोगे, अपने पर अपना अधिकार नहीं मानोगे, अपने में अपना संकल्प नहीं रखोगे और सब प्रकार से उस समर्थ स्वामी के हवाले अपने को कर दोगे तो उन्हीं के नाते उनकी सृष्टि की सेवा करना और उनकी कृपामयी गोद में लेट जाना। भगवान की सृष्टि है, भगवान की दी हुई शक्ति है, भगवान के दिए हुए बच्चे हैं, भगवान का दिया हुआ काम है - 'सब तुम्हारा है, सब तुम्हारा है, सब तुम्हारा है' - ऐसा सोचकर काम करो और काम करने की घड़ी खत्म हो जाए तो उस करुणामयी जगत्-जननी की गोद में विश्राम ले लो। काम करने के घण्टे भले चार हो जाएँ, छः हो जाएँ कोई बात नहीं। क्रियाशक्ति का वेग जितना-जितना शान्त होता जाएगा आपके विश्राम की अवधि उतनी-उतनी बढ़ती जाएगी और ज्यादा नहीं अगर ठीक पन्द्रह मिनट आप बिल्कुल अहं-शून्य रह सकेंगे, तो उतनी ही देर में आपके जीवन में एक अलौकिक शक्ति आ जाएगी, जो देहधर्म को मिटाकर आपके ज्ञानस्वरूप और प्रेमस्वरूप से भेंट करा देगी। यह कल्पना नहीं है। यह जीवन का सत्य है।

अहं शून्य होने से विश्राम मिलता है। शरीरों से तादात्म्य तोड़कर निजस्वरूप की स्थिति में विश्राम मिलता है और अपने सहित सर्वस्व उस सर्वसमर्थ प्रेमास्पद के समर्पित करके उनकी कृपामयी गोद में विश्राम मिलता है। यह विश्राम

व्यक्ति को अलौकिक जीवन देता है, वह विश्राम व्यक्ति को संयोग-वियोग से भिन्न नित्य-योग में मिलाता है। उस विश्राम का संपादन हम सब भाई-बहिनों को करना है। इसके बाद मिलने और बिछुड़ने का प्रश्न शेष नहीं रहता है, सदा-सदा के लिए मिट जाता है।

मीराजी के जीवन की एक घटना मुझे याद आ गई। वह ऐसी है कि जब राजा भोज के यहाँ जिस शरीरधारी पुरुष से माता-पिता ने सम्बन्ध जोड़ दिया था, उनका तो देहान्त हो गया था। मीराजी ने उनको पति कहकर स्वीकार नहीं किया था। लेकिन जो भगवद् भक्त होते हैं उनको किसी से द्वेष नहीं होता है, अभिमान नहीं होता है। जब मीराजी को मालूम हुआ कि महाराणा बीमार हैं तो सेवा करने गई, पत्नी जैसे सेवा करती है, लेकिन उनके साथ बड़ी विलक्षण बात थी। वो क्या थी, कि सेवा करती जा रही हैं, सिर सहलाती जा रही हैं और याद दिलाती जा रही है - 'महाराणा, नारायण मेरे कितने मधुर हैं। महाराणा, मेरे साथ नारायण का नाम लीजिए तो, आप भी गोविन्द-गोविन्द कहिए तो, आप भी गोपाल-गोपाल कहिए तो आपको बड़ा आराम मिलेगा।' उस शरीरधारी मरने वाली पुरुष को उन्होंने गिरधर गोपाल की याद दिलाकर, और नारायण के अलौकिक प्रेम से पूरित अपने कर-कमलों के द्वारा उनकी सेवा करके उनको तार दिया। वे शान्त हो गए। उसके बाद उनके भाई जब गद्दी पर बैठे तो उन्होंने बहुत तकलीफ दी, आप लोगों ने सुना ही है। कुछ दिनों बाद मीराजी चली गई देश छोड़कर। चली गई तो यहाँ पर बहुत उपद्रव होने लगा, भक्त का अनादर करने से क्षोभ पैदा हुआ प्रकृति में, तो अकाल पड़ने लगा, प्रजा दुःखी होने लगी। तो एक कमीशन गया वहाँ, पण्डितों की मण्डली में घर के लोग भी गए कि महाराणा जी बुला रहे हैं। भक्त को अभिमान तो होता नहीं है, मीराजी ने कहा - 'अच्छी बात है, बुला रहे हैं तो मैं चलती हूँ।' ऐसा कहकर उन्होंने कहा कि प्रतिदिन का जो हमारा नियम है उसके अनुसार मैं चलूँगी। द्वारिकाधीश के मन्दिर में अपने मालिक से आज्ञा ले लूँ, फिर आप लोगों के साथ चलती हूँ। वे मन्दिर में गई। क्योंकि समर्पिता हैं, शरणागता हैं, वे अपना संकल्प रख नहीं सकतीं, तो प्रभु ने कहा, 'सजन सुधि ज्यों जानो ज्यों लीजे।' अर्थात्, हे मेरे साजन जैसे आप ठीक समझें वैसा करें! और उसके बाद दिल की बात कह रही हैं -

'दिन नहीं भूख रैन नहीं निंदिया, यह तन पल-पल छीजे,

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, मिल बिछुड़न नहीं कीजे।'

यह केवल संगीत नहीं था। उनका जीवन था और इतिहास प्रसिध्द यह घटना है कि मीराजी का पाँच भौतिक तत्वों से बना हुआ सम्पूर्ण शरीर प्रेम की धातु में परिवर्तित हो गया ओर द्वारिकाधीश के विग्रह में प्रवेश कर गया। सुना होगा आप लोगों ने, तो सितार का जो तार था, उसमें से ध्वनि निकल रही थी, मन्दिरों की दीवारों में से, पूजा के पात्रों में से और प्रभु के विग्रह में से एक साथ ध्वनि की झंकार हो रही थी, 'मिल बिछुड़न नहीं कीजे, मिल बिछुड़न नहीं कीजे.....।' भक्त ने कहा, 'मिल बिछुड़न नहीं कीजे, अब भगवान व्याकुल होकर कह रहे हैं,' मिल बिछुड़न नहीं कीजे, मिल बिछुड़न नहीं कीजे।

भक्त और भगवान का मिलन ऐसा ही होता है कि एक क्षण में भक्त कहता है कि हे प्यारे, तुम मिल गए हो तो बिछुड़ना मत, तो दूसरे क्षण में भगवान कहते हैं कि हे प्यारे, मिल गए हो तो बिछुड़ना मत! मीराजी सदा-सदा के लिए द्वारिकाधीश के विग्रह में प्रेम होकर समा गई। यह

अनन्त मिलन है, यहाँ संयोग और वियोग नहीं है। यहाँ मिलन और बिछुड़ना नहीं होता! अनन्त काल तक प्रेम ओर प्रेमास्पद का प्रेम का आदान-प्रदान, अनन्त विहार चलता रहता है। वही परम विश्राम है। वही परम आश्रय है। वहीं जाकर के हम सदा-सदा के लिए जन्म-जन्मान्तर की थकान को मिटा पायेंगे। उस अनन्त परिणति का प्रोग्राम अपने सामने हम सब भाई-बहिनों को रखना चाहिए। घटनाएँ उस प्रकार की नहीं होंगी। घटनाएँ तो हर भाई-बहन के साथ नए ढंग की होंगी। लेकिन वह जीवन हम सब भाई-बहनों को मिलेगा कि जहाँ मिल-बिछुड़न नहीं होता, मिलने के बाद फिर बिछोह नहीं होता है। ऐसा हम सबका हो सकता है, और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह वर्तमान जीवन हम लोगों को मिला हुआ है।

विचारक भाई-बहन शरीरों के असंग होकर देहातीत जीवन में विश्राम पाएँ और विश्वासीजन परम-प्रेमास्पद की कृपामयी गोद में अपने को डालकर विश्राम पाएँ। भक्तों ने शरीर के रहते-रहते विविध रूप में उस विश्राम का वर्णन किया है। एक भक्त कहते हैं, हरि आश्रय लेने के बाद अन्तर में जब ईश्वर की विभूतियाँ प्रकट होने लगती हैं तो क्रियात्मक साधनाएँ खत्म हो जाती हैं तो वही उसकी सार्थकता है। एक भक्त कहते हैं कि -

'माला जपूँ न कर जपूँ, मुख से जपूँ न राम,
हरि मेरा सुमिरन करें, मैं पायो विश्राम।'

'हरि मेरा सुमिरन करें।' किसी स्मृति उधर आने लगी। कैसे भाई, क्या हो गया? तो हे मेरे भाई-बहनों, आपने अपनी ओर से सब चेष्टाएँ, सब चिन्तन, सब भय, सब कुछ छोड़कर अपने को उनके समर्पित कर दिया जो सर्वसमर्थ है। तो जब हमारी ओर से अहंकृति शून्यता आ गई तो उस ओर से कृपाशक्ति का कार्य आरम्भ हो गया। अब अपने को कुछ करना नहीं है! भक्त कहता है कि में तुम्हारी शरण हूँ और तुम जानों तुम्हारा काम जाने। तो भगवान कहते हैं कि मैं तुम्हारा रक्षक हूँ, अब तुम निश्चिन्त हो जाओ। तो वह निश्चिन्त हो जाता है। वह शान्त हो जाता है। वह परम विश्राम पाता है और प्रभु की कृपा-शक्ति उसे सँवारती रहती है।

ऐसा विश्राम मिलता है, साधनकाल में मिलता है, साधकों के जीवन में मिलता है और वही विश्राम उस अनन्त से हम लोगों को अभिन्न करता है। तो पहले जीवन का दृष्टिकोण बदलिए - मुझे चिर विश्राम चाहिए, मुझे अनन्त की शरणागति चाहिए, मुझे देहातीत जीवन का विश्राम चाहिए, चिर शान्ति चाहिए, निजस्वरूप का बोध चाहिए, ईश्वर का परम-प्रेम चाहिए। तो जीवन के उद्देश्य को आप निश्चित करिये। इसमें ज्यादा समय नहीं लगेगा। दो-चार दिन, एक सप्ताह का समय काफी है। सवेरे-सवेरे उठकर, बैठकर विचार करते रहे ओर न को न कर दिया ओर हाँ को स्वीकार कर लिया। इतना पुरुषार्थ हर भाई, हर बहन कर सकता है। यह आप कर लीजिए, और चाहे विचार की दृष्टि से, चाहे विश्वास की दृष्टि से, चैबीस घंटे के रुटीन (routine) में दो-तीन बार का समय विश्राम के सम्पादन में लगाइए। कहीं न कहीं आपकी वृत्ति जाकर के सत्य से जुट जाएगी। उसके बाद न सुनना शेष रहेगा, न समझना शेष रहेगा ओर न कुछ कहना शेष रहेगा। धीरे-धीरे विकास होता चला जाएगा, आन्तरिक शक्ति बढ़ती चली जाएगी और कब कैसे क्या हो गया, आप लोगों को पता भी नहीं चलेगा। काम पूरा हो जाएगा।

प्रवचन 82

सत्संग प्रेमी माताओं, बहिनों और भाइयों!

मानव जीवन में अध्यात्म का एक बड़ा भारी महत्व है। सन्तवाणी में मैंने ऐसा सुना कि बनने-बिगड़ने वाले संसार की सहायता से अपने को जो इच्छा-पूर्ति का सुख और इच्छाओं की आपूर्ति का दुःख मिलता है, वह सुख-दुःख का द्वन्द्व व्यक्ति का जीवन नहीं है। वह तो अपनी ही भूल का परिणाम है। वह एक अपना भ्रम है, एक अवस्था है, वह जीवन नहीं है। वस्तुतः जिस जीवन की माँग हम लोग अनुभव करते हैं, वही सत्य है, वही जीवन है, उसमें मृत्यु नहीं है, अभाव नहीं है, नीरसता नहीं है।

पहले मैं सोचा करती थी कि मुझमें माँग है इसीलिए मुझे उसे जीवन की खोज करनी चाहिए। सन्त के पास बैठकर जीवन की व्याख्या सुनकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि चूँकि वह सत्य है और अभी इसी वर्तमान क्षण में विद्यमान है। उसकी विद्यमानता का फल है कि हमें उसकी आवश्यकता महसूस होती है। उसी के तत्व से हम सब लोग बनाए गए हैं। उसी के संकल्प से हमारा आपका यह जीवन मिला हुआ-सा मालूम हो रहा है। इसमें सत्य की जिज्ञासा इसलिए है कि सत्य विद्यमान है। इसमें परम-प्रेम की प्यास इसलिए है कि उसी प्रेमतत्व से आप रचे गए हैं। इसमें सुख की आसक्ति से, दुःख-द्वन्द्व की दशा से छूटने का प्रश्न इसलिए है कि आपका अपना जो स्वरूप है वो दुःख-रहित ही है। दुःख-रहित धातु से आप रचे गए हैं और नित्य विद्यमान सत्य आपके जीवन के मूल में विद्यमान है। उसकी विद्यमानता का फल यह है कि खाते-पीते, सोते-जागते, जीते-मरते, सुख-दुःख भोगते उसकी आवश्यकता महसूस होती है। जो लोग उसकी आवश्यकता को महसूस करते हैं और उसकी पूर्ति का पुरुषार्थ करते हैं, वे उस दिशा में सब प्रकार से अपने को सन्तुष्ट पाते हैं।

जन्म-मरण के परे जो नित्य जीवन है, क्षति-वृद्धि से परे जो सदा-सदा के लिए रहने वाला नित्यानन्द है, परमानन्द है, ब्रह्मानन्द है, वही अध्यात्म जीवन कहलाता है और उसी के विकास के लिए हम सब लोग प्रयत्नशील हैं। तो इस दिशा में हमें अभी इसी वर्तमान क्षण में क्या करना है? कि किस प्रकार बनने-बिगड़ने वाले दृश्यों के जाल से हम मुक्त हो सकते हैं? - इस भ्रम का निवारण कर सकते हैं ओर किस प्रकार वह अध्यात्म जीवन, जिसमें मृत्यु, अभाव और नीरसता नहीं है, वह हमारे लिए प्रत्यक्ष हो सके - इसी का नाम सत्संग है। इसी का नाम साधन-निर्माण है। इसी का नाम साधन-तत्व की अभिव्यक्ति है और इसी का नाम साधक की साध्य से अभिन्नता है। अब इस दिशा में अभी वर्तमान की जो बात है, उस पर हम लोग थोड़ा विचार करें।

मैंने जीवन को देखा ओर अध्ययन की दृष्टि से देखा। ऐसा मालूम हुआ कि जो कुछ हो रहा है, उससे परे कुछ ऐसा भी है कि जिसके प्रकट हो जाने के बाद अपने को ओर कुछ करना शेष नहीं रहेगा ओर कुछ पाना शेष नहीं रहेगा। सन्त की शरण में बैठकर अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण किया मैंने, भीतर की जो आवश्यकताएँ हैं उनको सामने रखा। उनकी पूर्ति के विषय में जो कुछ उन्होंने बताया, सबका सब तो मैं मान नहीं सकी, लेकिन जो कुछ मैंने माना उसके परिणाम से मुझे बहुत जल्दी ही थोड़े ही समय में इस बात का पता चल गया कि वस्तुतः जो जीवन है उसके अनुभव में काल की अपेक्षा नहीं है। और अब कभी जब मैं बैठती हूँ अकेले और सोचती हूँ तो मुझे साफ दिखाई देता है कि कैसा एक विलक्षण जीवन है मनुष्य का! क्या है उसमें? कि

अगर शरीरों के साथ अपने को मिला लो और शरीरों के माध्यम से संसार को देखना आरम्भ करो, तो देखो क्या-क्या दिखता है? अगर शरीरों की सहायता से दृश्य जगत् का किसी प्रकार का सुख लेना पसन्द करो, तो देखो क्या-क्या सामने आता है? तो एक बड़ा भारी विस्तार दिखाई देता है। कहाँ तक जान सकेंगे - जानने का अन्त नहीं, कहाँ तक देख सकेंगे - दृश्यों का अन्त नहीं, कहाँ तक सुन सकेंगे - ध्वनि का अन्त नहीं, कहाँ तक सुख की इच्छाएँ रख सकेंगे। उसकी कल्पना का अन्त नहीं, कहाँ तक दुःख का भार ढो सकेंगे, उसका कोई अन्त नहीं। ऐसा यह होता है ओर सत्संग के प्रकाश में थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाइए, अकेले हो जाइए। मैंने बहुत कुछ देख लिया, अब मुझे कुछ नहीं देखनाऋ मैंने बहुत कुछ सुन लिया, अब मुझे कुछ सुनना नहीं है, मैंने बहुत कुछ कह लिया, अब मुझे कुछ कहना नहीं है, मैंने बहुत कुछ कह लिया, अब मुझे कुछ कहना नहीं है - इस प्रकार कर्म को छोड़ दिया तो स्थूल शरीर से साथ छूट गया, चिन्तन को छोड़ दिया तो सूक्ष्म शरीर के साथ छूट गया और कारण शरीर की स्थिति की शान्ति जो है, उसको भी पकड़ कर न रहें, तो उसका भी साथ टूट जाता है। तो इतना विचित्र लगता है कि केवल शरीरों के माध्यम से संसार के संयोग में करने वाली क्रियाओं को अपनी ओर से छोड़ दिया जाए, केवल इतनी-सी बहादुरी हम लोग कर सकें, तो जीवन का दृश्य ऐसा पलट जाता है कि उसमें फिर प्रकाश ही प्रकाश है, शान्ति ही शान्ति है, रस ही रस है, प्रियता ही प्रियता है, इनके अतिरिक्त और कुछ वहाँ है नहीं।

जैसे ही हम शरीर और संसार के संयोग-जनित क्रियाओं को छोड़ते हैं अथवा उन क्रियाओं में जीवन-बुद्धि अस्वीकार करते हैं तो इतने मात्र से ज्यों ही हमारी जीवनी शक्ति बाहर से पलटकर भीतर की ओर जाती है ओर वहाँ जाकर अपने उद्गम से जुटती है, तो तत्काल ही हम लोगों का दृश्य बदल जाता है। हमें स्पष्ट दिख जाता है कि जो सत्य है वही प्रकट है, जो सनातन है वही विद्यमान है और जो परम प्रिय है, प्रेम का अनन्त सागर है उसकी मधुरता में सीमित अहं भाव की सीमा भी गलकर, घुलकर, मिटकर समाप्त हो जाती है। तो सचमुच जो जीवन है वो कितना सुन्दर है, कितना प्रिय है, कितना मधुर है। जिसमें दुःख का लेश नहीं, मृत्यु का स्पर्श नहीं, जिसको हम इतने दिनों से सोच रहे थे कि ऐसा चाहिए, वह तो नित्य निरन्तर विद्यमान ही है। प्रभु का विधान इतना मंगलकारी है कि तुम जिस एक भ्रम को लेकर बैठे हो केवल उसको छोड़ दो। छोड़ने में तो कोई प्रयास नहीं है, वह कोई गाँठ नहीं है जो कोई मेहनत और बुद्धिमानी लगाकर खोलना पड़े।

हमारे आपके अहं की रचना ऐसी विलक्षण है कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता। मैंने स्वीकार कर लिया था असत् के संग को, शरीर और संसार के संयोग को, तो मेरी ही स्वीकृति से शरीर और संसार का सब प्रभाव मुझ पर लद गया था - बस, उस स्वीकृति को बदल डालने की बात है! अब स्वीकृति को तो बदलो नहीं, और आँखों को साफ करने की कोशिश करो, मन को, बुद्धि को साफ करने की कोशिश करो, तो जिस असत् में जीवन-बुद्धि स्वीकार करने मात्र से इन सब पर असत् का रंग चढ़ गया था, उस असत् में जीवन-बुद्धि अस्वीकार न करो तो दूसरे किसी उपाय से रंग उतरता नहीं है।

बहुत दुःखी होते रहते हैं हम लोग। भीतरी बात यह है कि अहं रूपी अणु है, जिसको हम लोग 'मैं' कहकर सम्बोधित करते हैं, यह मैं

हूँ, ये मेरे विचार हैं, ये मेरी अवस्थाएँ हैं, यह मेरे दुःख हैं, यह मेरे सुख हैं - इस प्रकार यह सिलसिला आरम्भ हो जाता है। बड़ा लम्बा-चैड़ा विस्तार है, जिसका कोई अन्त नहीं है। शरीर का नाश हो जाएगा पर सुख-दुःख के अनुभवों का नाश नहीं होता है, सूक्ष्म शरीर का भाव रह जाता है ओर उसमें अंकित हुए प्रभाव, इच्छाओं की पूर्ति के सुख का राग और इच्छाओं की आपूर्ति के दुःख का पूछने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उस अविनाशी जीवन में कितनी मधुरता है, कितना रस है, कितनी सामर्थ्य है, यह नाप-तौल करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। बहुत प्रत्यक्ष है ओर सभी के लिए समान रूप से सत्य है, सर्वकाल में, सर्व-देश में और सब प्रकार के साधकों के लिए एक ही विधान है। पूर्ण समता है उसमें! सभी का समान रूप से प्रवेश है उसमें। क्यों? क्योंकि उसके लिए कोई नई योग्यता, कोई नया बल नहीं चाहिए। तो एकदम ऐसा लगता है मुझे कि असत् में जीवन बुद्धि स्वीकार करो, तो दिखता है - कि सुख है, दुःख है, दृश्य है, यह है, वो है, और सत्संग के प्रभाव से उस भूल को अपने द्वारा अस्वीकार कर दो तो बिल्कुल ऐसे पलक मारते जीवन बदलता है कि जिसमें प्रकाश ही प्रकाश है, रस ही रस है, दुःख का नाम नहीं है, मृत्यु का स्पर्श नहीं है। वो ही तो है - 'है' कहकर जिसको सम्बोधित कर सकते हैं। सचमुच वो ही है, ओर तो कुछ नहीं है। अब उसको आप अपनी भाषा में ब्रह्म कहना चाहें, तो ब्रह्म कह लीजए, सत्य कहना चाहें सत्य कह लीजिए, परम तत्व कह लीजिए, निर्वाण कह लीजिए, भगवान कह लीजिए - जैसी भी आपकी रुचि हो। जिन-जिन महापुरुषों ने जीवन में सत्य को पाया, उन्होंने अपने-अपने ढंग से उसको अलग-अलग नाम देकर सम्बोधित किया, लेकिन है वो ही। वो एक ही है और सदा-सदा से वो ही विद्यमान है और सदा-सदा तक वो ही रहने वाला है।

जब साधक किसी सन्त के पास बैठकर साधना पूछता है और वे बता देते हैं, तो दो ही बातें होती है - या तो शरीर और संसार से असंग होकर शान्त हो जाओ या फिर अगर तुम श्रद्धावान् व्यक्ति हो, प्रभु की सत्ता में श्रद्धा है तुम्हारी, तो उन सर्व-समर्थ परम-पवित्र, अत्यन्त मधुर रसमय अस्तित्व, जिसको हम भगवान कहकर सम्बोधित करते हैं उन सर्व समर्थ की शरणागति स्वीकार करे, अपने को उनकी शरण में समर्पित करके शान्त हो जाओ। असली उपाय तो यह है - ऐसा बता दिया जाता है। तो क्या होता है, कि विचार-पथ के साधक शरीरों की असंगता को प्रधानता देते हैं और विश्वास-पथ के साधक प्रभु की शरणागति को महत्व देते हैं। किसी भी प्रकार से चुप हो जाए तो थके हुए व्यक्ति को आराम का बहुत बढ़िया अनुभव होता है। जिनकी परिस्थितियाँ अनुकूल हैं वे भी थकते हैं, लेकिन उस थकावट को महसूस कम करते हैं, और जिनकी परिस्थितियाँ प्रतिकूल होती हैं, वे थकावट को ज्यादा महसूस करते है। ऐसे थके हुए लोगों में से मैं भी एक हूँ जिसने प्रतिकूलता के साथ खूब संघर्ष करके अपनी थकी हुई दशा को अच्छी तरह से अनुभव किया था।

मुझे याद है, स्वामी जी महाराज ने जब मुझे विश्राम का मार्ग दिखाया, तो मुझे कितना आराम मालूम होता था। अब उसके बाद क्या हुआ, कि मेरी पुरानी भूलों के प्रभाव से तन में, मन में, बुद्धि में, इन्द्रियों में सब जगह जो विकृतियाँ पैदा हो गई थीं वे दिखाई देने लगीं। जब असत् के संग को अस्वीकार करो तो मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ - सब के संग को अस्वीकार करना चाहिए। यह बात पकड़ में आती है न? अगर अपने

को सर्वसमर्थ के समर्पित किया तो अपने को तो उनके समर्पित कर दें और मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियों को पकड़ कर अपनी मुट्ठी में रखें कि यह हमारे हैं, तो यह समर्पण है? नहीं है। समर्पित किया तो सब कुछ किया। अब साधक से भूल क्या हो जाती है? समर्पण-काल में, असंगता काल में जब वह शान्त होकर बैठता है, तो उस समय उसको मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियों के वर्तमान हाल को देखने की विशेष सामर्थ्य मिल जाती है और जब साफ-साफ दिखने लगता है तो समर्पित साधक उनको फिर से पकड़ लेता है। क्या बताएं - हमने अपने को भगवत् समर्पित कर दिया, लेकिन यह सब तो गन्दे दिख रहे हैं। तो क्या है कि एक बार जब सर्वसमर्थ के समर्पित कर दिया तो सब वस्तुएँ उनकी हो गई। तन, मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब कुछ उनकी हो गई, तो उनको अब काम करने दो। उनकी कृपा-शक्ति को सफाई करने दो, शान्त करने दो। फिर से उनको पकड़ कर आप परेशान क्यों हो रहे हैं? अगर आप परेशान हो रहे हैं तो इसका मतलब यह है कि आपने कुछ तो परमात्मा को दिया और कुछ अपने पास रख लिया, आपने कुछ से असंगता स्वीकार कर ली और कुछ से संग रख लिया। अधिकांश साधक बेचारी इसी बिन्दु ;चवपदजऋ पर अटके रह जाते हैं।

अध्यात्म जीवन कोई ऐसा जीवन नहीं है कि जिसके लिए हम प्रयास करते चले जाएँ, मरते चले जाएँ और वह मिलेगा नहीं? ऐसी बात नहीं। वही नित्य जीवन है, जो सर्वदा विद्यमान है, वही अकेला एक सत्य है और बाकी सब कुछ उसका विस्तार है। अब इस विस्तार को देख-देखकर हैरान होते रहो और चिरन्तन सत्य में आस्था न करो, तो बीमारी का कोई इलाज है? कहीं नहीं है। जो एक-एक क्षण में अपनी आँखों के सामने से निकलता चला जा रहा है, ओझल होता जा रहा है, मिटता जा रहा है, उस मिटने वाले में इतना विश्वास है कि जीवन काल में भी हम लोग उसको सँभाल कर रखना चाहते हैं और कुछ ऐसा करके जाना चाहते हैं कि मेरे मरने के बाद भी बर्बाद न हो। इस दिशा में तो हमारी चेष्टा है और जो स्वतः विद्यमान है, जहाँ प्रकाश ही प्रकाश है, आनन्द ही आनन्द है, रस ही रस है, जहाँ दुःख नहीं है, अप्रियता नहीं है, नाश का लेश नहीं है, तो उसमें क्या जाने क्या होगा? अब कैसे होगा? यही हमारा भ्रम हमको उस सत्य से अभिन्न नहीं होने देता।

सन्त की सलाह से शरीर को लेकर हम संसार की बहुत बढ़िया सेवा कर सकते हैं। हम चाहें तो उपार्जित की हुई सम्पत्ति को लेकर बहुत से दुःखीजनों के आँसू पोंछ सकते हैं, चाहे तो शरीर का बल लेकर, बहुत से निर्बलों को सहारा देकर गिरे हुओं को उठा सकते हैं। फिर जब चाहें तब उस शरीर की संगति को छोड़कर, उसमें जीवन बुद्धि अस्वीकार करके, अकेले होकर, शान्त होकर, सब साथियों से सम्बन्ध-विच्छेद कर उस सत्य नित्य जीवन के समर्पित होकर वास्तविकता का आनन्द ले सकते हैं। उस आनन्द के अनुभव में जन्म-जन्मान्तर की थकान मिटा सकते हैं। उस शरणागत-वत्सल की कृपालुता का स्वाद लेकर उनके मधुर रस की मिठास में जन्म-जन्मान्तर की अतृप्ति का नाश कर सकते हैं।

साधन काल का अनुभव बताती हूँ मैं, कि जैसे ही आप उस अजर-अमर, अविनाशी का आश्रय अपने लिए स्वीकार करते हैं कि भय मिट जाता है, चिन्ता मिट जाती है, शक्ति बढ़ जाती है, सरसता बढ़ जाती है और भीतर से इन तत्वों की वृद्धि जब होने लग जाती है, तो इतना अच्छा लगने लगता है कि कभी-कभी तो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक रोग को भूल ही जाता है, कष्ट का पता

ही नहीं चलता। ऐसा प्रयोग मैंने अनेक बार किया है और महाराज जी को भी करते हुए देखा है। तो मैं यह निवेदन कर रही थी कि सचमुच जो जीवन है वह इतना आनन्दमय है, जितने की आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं, अनुमान भी नहीं लगा सकते हैं। सुख-दुःख के द्वन्द्व में झूलता हुआ व्यक्ति, जिसकी कुछ शक्ति सुखभोग में जा रही है, कुछ शक्ति दुःख से बचने के लिए खर्च हो रही है और कुछ शक्ति मिथ्या-अभिमान की रक्षा में खर्च हो रही है - इस प्रकार से शक्तियों का अपव्यय करने वाले दुर्बल-निर्बल व्यक्ति को तो कुछ पता ही नहीं चलता है। लेकिन जिसके भीतर चेतना जग जाती है, सत्संग का चाव लग जाता है, सन्तों के सम्पर्क का आनन्द आ जाता है, वे जब इस साधना में प्रवेश करते हैं तो उनको अपने आनन्द के उस आध्यात्मिक विकास का अनुभव करने में देर नहीं लगती है। सिक्र-जीवन की चर्चा मैं नहीं करती हूँ, उसकी चर्चा की तो आवश्यकता ही नहीं है। क्या कहेंगे? क्या सुनेंगे? उस समय कहना-सुनना कुछ रहता नहीं है। सन्त कबीर कहते हैं, 'मन मस्त हुआ तब क्यों बोले, हंसा पायो मानसरोवर, ताल-तलैया क्यों डोले?' डोलना-बोलना सब खत्म हो गया। उसकी चर्चा मैं नहीं करती हूँ। जिस दशा में हम सब लोग इस समय फँसे हुए हैं, उसमें से निकलने की बात मैं कह रही हूँ। यहाँ से हमें अपने को देखना है और कदम उठाना है।

सबसे आवश्यक बात यह है कि इस समय से लेकर के कल प्रातःकाल पुनः हम मिलेंगे - इस चैबीस घण्टे के भीतर हम सबको जो थोड़ा-थोड़ा समय मिले उसमें अकेले बैठकर अपनी ओर देखना और सोचना चाहिए। अपने अहं की जो बनावट है, उसमें इतनी सामर्थ्य परमात्मा ने दे दी है कि हम जब चाहें तब भ्रम का निवारण कर सकते है, और भ्रम की निवृति ओर सत्य की अभिव्यक्ति युगपद् है - साथ-साथ हो जाती है - इसका अनुभव कर कसते हैं। तो जिसको जब मौका मिले तब शान्त रहिए और मेरा विश्वास बन गया है कि सचमुच अगर अपनी ही महिमा आपकी समझ में आ जाए, अपनी ही विलक्षणता आपकी दृष्टि में स्पष्ट हो करके उभर आए, कि सचमुच मुझमें यह सामर्थ्य है, कि मैं जब चाहूँ तब अपने असत् के संग जनित भ्रम का निवारण कर सकता हूँ - तो केवल इतना ही हिस्सा हमारे करने का है। भ्रम का निवारण हुआ नहीं कि सत्य की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है। उसमें कोई प्रयास अपेक्षित नहीं है ओर उसमें कोई देर नहीं लगती है।

महाराज जी ने कहा कि सूर्य का उदय होना और अन्धकार का नाश होना एक साथ होता है। ऐसा नहीं है कि अब सूर्य का उदय हो गया तो धीरे-धीरे अन्धकार को मिटाने की चेष्टा की जाएगी। ऐसा कभी सुना है? ऐसा तो नहीं होता है। सूर्य का प्रकाश आया तो अन्धकार का नाश हो गया तत्काल। ऐसे ही अपनी भूलजनित रूढ़ियों को अस्वीकार करना अपना पुरुषार्थ है ओर हमने उनको अपनी ओर से अस्वीकार किया नहीं कि सत्य के प्रकाश की अभिव्यक्ति और उसका अनुभव तत्काल इसी समय, इसी जीवन में आरम्भ हो जाता है। भले किसी का रोगी शरीर हो, भले किसी के पास धन की कमी हो, भले किसी के कुटुम्बियों के प्रेम और विश्वास की कमी हो गई हो, कोई चिन्ता की बात नहीं है। इन बाहरी परिस्थितियों के अनुकूल और प्रतिकूल होने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उसमें कुछ घटाना, बढ़ाना, जोड़ना, काटना कुछ नहीं है, जैसे का तैसा, ज्यों का त्यों सदैव और सर्वत्र विद्यमान है।

जो भ्रम हमने कर लिया है, उसको मिटाने का प्रश्न अपने लोगों के सामने है।

इसी सम्बन्ध में आध्यात्मिक चेतना, आध्यात्मिक विकास, आध्यात्मिक विकास के कार्य, उसकी साधना, बाधाएँ, उसकी चर्चा हम लोग करते रहेंगे। बाधाओं के निवारण का उपाय हमारे सामने आ जाएगा तो विवेचन का काम पूरा हो जाएगा। उन उपायों को धारण करके हम आगे बढ़ चलेंगे तो जीवन की सब समस्याएँ हल हो जाएँगी।